A4

A5

द्रव्यगुण-विज्ञान

आचार्य प्रियव्रत शर्मा
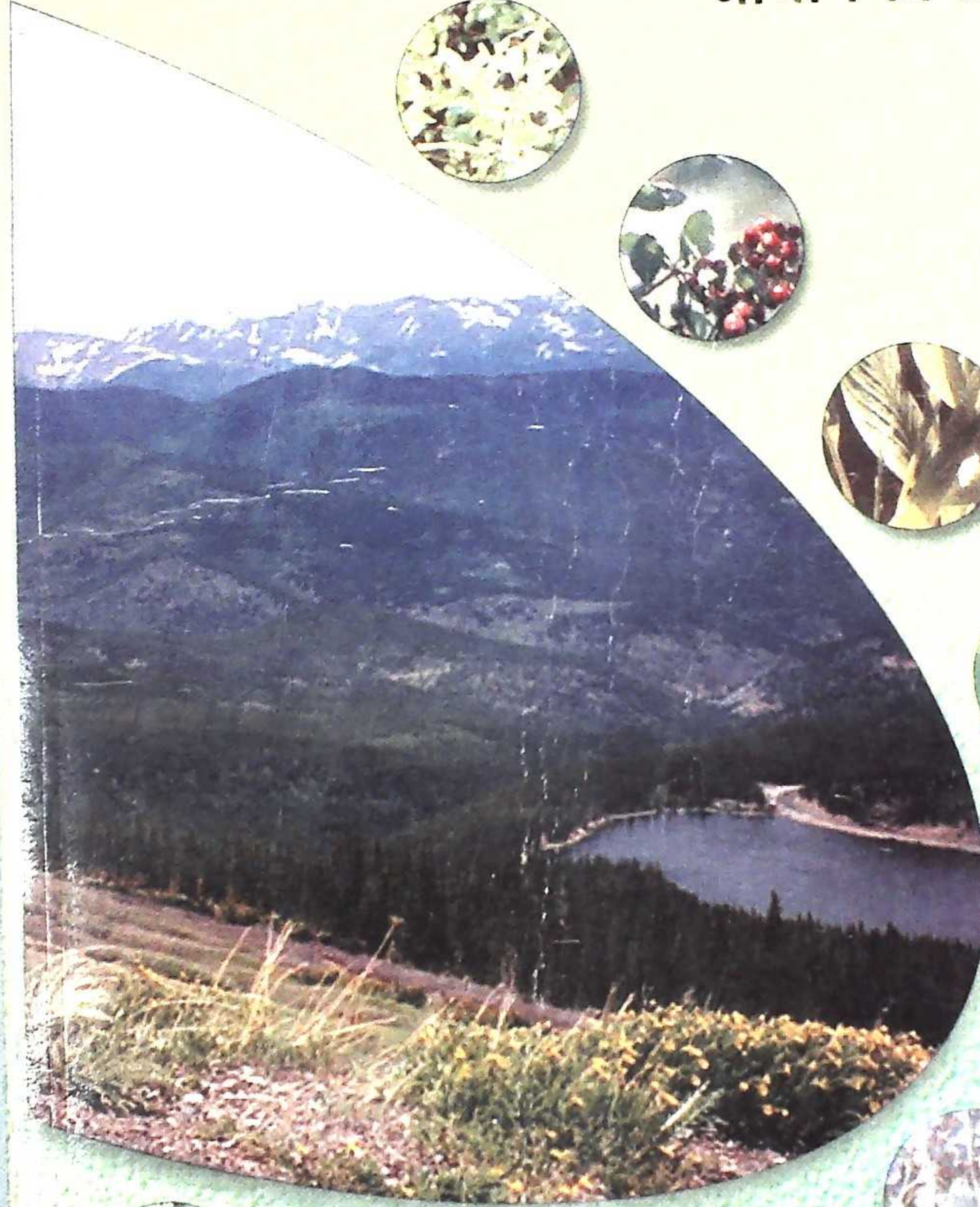
आलसी लेखकों से जबर्दस्ती लिखवाने की इस कला को जीवित रख कर वे तथा उनके परिवार आयुर्वेद-वाङ्मय की समृद्धि में सदा समर्थ होंगे।

परमादरणीय डॉ० प्राणजीवन मा० मेहता जी का भी आभारी हूँ कि उन्होंने इतना समय निकाल कर ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण प्राक्कथन लिखने का कष्ट उठाया।

त्रुटियाँ तो स्वाभाविक हैं, विद्वज्जन उन्हें परिमार्जित करेंगे और सूचित करने की कृपा करेंगे जिससे उनका संशोधन भावी संस्करण में कर लिया जाय।

'द्रव्याणां गुणकर्मयोगकथनं स्वल्पं यदा दुष्करम्,
याथार्थ्येन तु सर्वतो विवरणं तेषां कुतः सम्भवम्।
यद् यत्नः क्रियते मयाऽत्र विदुषामग्रे परं लीलया,
तद्दोषानवलोकनप्रमुदितस्वान्तान्तराशावशात्॥

काशी
वसन्त-२०१२

विनीत
प्रियव्रत शर्मा

विषय-सूची

प्रथम अध्याय-मेध्यादि वर्ग

चित्र-सूची

संक्षेप-निर्देश

अं.	अंग्रेजी
अ.	अरबी
अ. सं.	अष्टाङ्गसंग्रह
अ. सं. उ.	अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तरस्थान
अ. हृ.	अष्टाङ्गहृदय
आ.	आसामी (असमिया)
आ. वि.	आयुर्वेदविज्ञान
उ.	उड़िया
क.	कश्मीरी
कन्न.	कन्नड़
कै., कै. नि.	कैयदेवनिघण्टु
ग. नि.	गदनिग्रह
गु.	गुजराती
ग्रा.	ग्राम
च.	चरकसंहिता
च. क.	चरकसंहिता, कल्पस्थान
चक्र., च. द.	चक्रदत्त
च. वि.	चरकसंहिता, विमानस्थान
चि.	चिकित्सास्थान
ता.	तामिल
ते.	तेलुगु
ध. नि.	धन्वन्तरिनिघण्टु
नि. आ.	निघण्टु आदर्श
नि. र.	निघण्टुरत्नाकर
ने.	नेपाली
पं.	पंजाबी
फा.	फारसी
बं.	बङ्गला
भा. प्र.	भावप्रकाश
भू.	भूटानी

भै. र.	भैषज्यरत्नावली
म.	मराठी
म. नि.	मदनपालनिघण्टु
मल.	मलयालम
मा. ग्रा.	माइक्रोग्राम
मि. ग्रा.	मिलिग्राम
मि. लि., मिलि.	मिलिलिटर
यो. र.	योगरत्नाकर
र. त.	रसतरङ्गिणी
र. र.	रसरत्नाकर
र. र. स.	रसरत्नसमुच्चय
रा. नि.	राजनिघण्टु
रा. मा.	राजमार्त्तण्ड
रा.व., रा.व. नि.	राजवल्लभनिघण्टु
लै.	लैटिन
वा. उ.	वाग्भट (अष्टाङ्गहृदय) उत्तरस्थान
वृन्द., वृ. मा.	वृन्दमाधव
वै. जी.	वैद्यजीवन
शा.	शार्ङ्गधरसंहिता
शा. नि.	शालिग्रामनिघण्टु
शा. म.	शार्ङ्गधरसंहिता, मध्यखण्ड
शि., शि. द.	शिवदत्तनिघण्टु (निघण्टु आदर्श में उद्धृत
शो.	शोढल
सं.	संस्कृत
सि. भे. म.	सिद्धभेषजमणिमाला
सु.	सुश्रुतसंहिता
सु. उ.	सुश्रुतसंहिता, उत्तरतन्त्र
सु. शा.	सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान
सू.	सूत्रस्थान
सो. नि.	सोढलनिघण्टु
स्व.	स्वकीय (प्रियव्रतशर्मकृत)
हा.	हारीतसंहिता
हि.	हिन्दी

B. B. O.	Haine's Botany of Bihar and Orissa Vol. I–III, Botanical Survey of India, Calcutta, (1961)
Bull. Cal. Sch. Tro. Med.	Bulletin, Calcutta School of Tropical Medicine.
F. B. I.; F. I.	Hooker's Flora of British India, Vol. I–III, Dehradun, (Repint 1973).
G. I. M.	Chopra's Glossary of Indian Medicinal Plants, C. S. I. R., New Delhi, 1956.
I. D. I.	Chopra's Indigenous Drugs of India. Calcutta, 2nd. ed. (1958).
I. J. M. R.	Indian Journal of Medical Research.
I. J. P.; Ind. J. Ph.	Indian Journal of Pharmacy.
I. M. M.	Indian Medicinal Plants by Kirtikar and Basu, Allahabad, 2nd. ed. (1933).
I. P.	Pharmacopoea of India, 2nd. ed. (1966).
J. R. I. M.	Journal of Research in Indian Medicine.
J. Sc. Ind. Res.	Journal of Scientific and Industrial Research.
M. P. I.	Medicinal Plants of India, Vol. I, I. C. M. R., New Delhi, (1976).
W. I.	Wealth of India (Raw Materials), C. S. I. R., Vol. I–XI, New Delhi, (1948–76).

द्रव्यगुण-विज्ञान

द्वितीय भाग

औद्भिद औषध-द्रव्य

प्रथम अध्याय

मेध्यादि वर्ग

(नाड़ीसंस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

इस वर्ग में निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं :—

१. मेध्य (Intellect-promoting)—यथा मण्डूकपर्णी, शंखपुष्पी आदि।

२. मदकारी (Narcotic)—यथा अहिफेन, भंगा आदि।

३. संज्ञास्थापन (Resuscitative)—यथा वचा, जटामांसी आदि।

४. निद्राजनन (Hypnotic)—यथा सर्पगन्धा आदि।

५. निद्राहर (Anti-hypnotic)—यथा तीक्ष्ण संशोधन आदि।

६. वेदनास्थापन (Analgesics or anodynes)—यथा पारसीक यवानी, निर्गुण्डी आदि।

७. आक्षेपजनन (Convulsant)—यथा कुपीलु आदि।

८. आक्षेपहर (Anti-convulsant)—यथा भूर्ज आदि।

मेध्य

१. मण्डूकपर्णी

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, प्रजास्थापन, वयःस्थापन (च०), तिक्तवर्ग (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०-सेण्टेला एशियाटिका (Centella asiatica (Linn.) Urban) सं०–मण्डूकपर्णी (मण्डूक–मेढक के समान पत्रवाली), माण्डूकी (सम्भवतः मण्डूकवत् जलासन्न स्थानों में होने के कारण या मण्डूक ऋषि के द्वारा प्रचारित होने के कारण या मण्डूकवत् भूमि पर इतस्ततः फैलने के कारण इसे माण्डूकी कहा गया है)। ब्राह्मी (बुद्धिवर्धक होने के कारण), सरस्वती (मेध्य तथा जलासन्न भूमि में होने के कारण)।

हि०–बेंगसाग, ब्राह्मी; बं०–थुलकुडी, म०–करिवणा, गु०–खण्डब्राह्मी, ता०–वाल्लरीकिरि, ते०–मण्डूकब्राह्मी।

स्वरूप—इसका क्षुप वर्षायु होता है जो कभी-कभी दो-तीन वर्षों तक भी रहता है। इसका लम्बा काण्ड जमीन पर फैला रहता है जिसके प्रत्येक पर्व से मूल, पत्र, पुष्प तथा फलों का उद्‌गम होता है। **पत्र**–गोल, वृक्काकृति, ½–२½ इं०

लम्बे-चौड़े, सात सिराओं से युक्त, स्वाद में तिक्त होते हैं। **पुष्प**–छोटे रक्तवर्ण, वसन्त ऋतु में होते हैं। **फल**–छोटे ⅙–⅕ इञ्च के, ग्रीष्मऋतु में होते हैं जिनमें चपटे बीज रहते हैं। **मूल**–सूक्ष्म और सूत्रवत् होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत और लंका में सर्वत्र २००० फीट की ऊँचाई तक मिलती है और प्रायः जलाशयों और नदी-नालों के किनारे होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें हाइड्रोकोटिलिन (Hydrocotyline, $C_{22}H_{32}O_8N$) नामक क्षाराभ पाया जाता है। इसकी ताजी पत्तियों में प्रति किलो ०·७ मे ०·१२ ग्रेन तक एशियाटिकोसाइड (Asiaticoside) नामक ग्लाइकोसाइड निकाला गया है। इनके अतिरिक्त, इसमें वेलेरिन (Vallerine), राल, तिक्त पदार्थ, पेक्टिक अम्ल, स्टेरॉल, वसाम्ल, टैनिन, उड़नशील तैल तथा ऐसकोर्विक अम्ल पाये जाते हैं। थानकुनिसाइड नामक अन्य ग्लाइकोसाइड तथा थानकुनिक अम्ल का भी पता चला है। एशियाटिक अम्ल की भी उपस्थिति पाई गई है। इनके अतिरिक्त, ब्राह्मोसाइड, ब्राह्मिनोसाइड, ब्राह्मिक एसिड, आइजोब्राह्मिक एसिड, वेटुलिक एसिड तथा स्टिग्मास्टेरोल ये छः तत्व भी इससे निकाले गये हैं।

गुण

गुण—लघु **रस**—तिक्त **अनुरस**- कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत **प्रभाव**—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—मण्डूकपर्णी तिक्त होने के कारण कफ और पित्त का शमन करती है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—त्वचा पर लेप करने से रक्तसंवहन शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मेध्य है और स्मरणशक्ति को बढ़ाती है। विशेष कर इससे मस्तिष्क की धारणा शक्ति बढ़ती है। मस्तिष्क शामक भी है।

पाचनसंस्थान—तिक्तरस होने के कारण यह अग्नि को दीप्त करती है। अमीवा का भी नाशक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है और शोथ को दूर करती है तथा रक्तपित्त शामक है।

श्वसनसंस्थान—तिक्तरस होने के कारण इससे कफ का निःसरण सुविधा से होता है और स्वर साफ होता है।

मूत्रवहसंस्थान—तिक्त होने से यह प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—मधुरविपाक और शीतवीर्य होने से यह स्तन्यजनन तथा तिक्त होने से स्तन्यशोधन है।

त्वचा—इससे त्वचा की रक्तवाहिनियाँ प्रसारित हो जाती है, अतः त्वचागत रक्तसंवहन उत्तम होने से इसकी क्रिया विविध चर्मरोगों पर लाभकर होती है। इससे व्रणों का शोधन एवं रोपण होता है।

तापक्रम—तिक्तरस होने के कारण यह आमपाचन एवं ज्वरहर है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक तथा शीतवीर्य होने के कारण यह बल्य एवं वयःस्थापन है। इससे शरीर के सभी अंगों की क्रिया उत्तेजित होती है जिससे आरोग्य होता है और बल तथा आयु की वृद्धि होनी है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा एवं वृक्कों से होता है और उत्सर्गकाल में इन अवयवों को उत्तेजित करती है।

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से कभी-कभी शीतजन्य वातवृद्धि के कारण मद, शिरःशूल, भ्रम और अवसाद उत्पन्न होते हैं। त्वचा में लालिमा और कण्डू होती है। ऐसी अवस्था में मात्रा कम कर दे या प्रयोग बन्द कर दे।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मण्डूकपर्णी कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होती है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा अन्य चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मेध्य और स्मृतिशक्तिवर्धक होने के कारण इसका प्रयोग मस्तिष्कदौर्बल्य एवं तज्जनित उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में करते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन होने के कारण इसका प्रयोग अग्निमांद्य, ग्रहणी आदि रोगों में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदय की दुर्बलता तथा तज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, रक्तपित्त में भी प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक होने के कारण कास, श्वास तथा स्वरभेद में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन तथा स्तन्यशोधन होने से प्रसव के बाद स्तन्य की कमी एवं विकृति होने पर प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने के कारण कुष्ठ, विशेषतः ग्रन्थिक कुष्ठ, जीर्ण व्रण तथा क्षयज व्रण में प्रयुक्त होती है। फिरंग की द्वितीयावस्था में जब विकार त्वचा एवं कला में अधिष्ठित होता है तब इसके प्रयोग से लाभ होता है। गंडमाला, श्लीपद आदि में भी उपयोगी है।

तापक्रम—आमपाचन तथा ज्वरघ्न होने के कारण आमदोष एवं तज्जन्य ज्वर आदि विकारों में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—वयः स्थापन और बल्य होने से सामान्य दौर्बल्य में रसायन के रूप में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—ब्राह्मीपानक, ब्राह्मीतैल, सारस्वतारिष्ट, सारस्वत घृत ।

निवारण—इसके अहितकर प्रभाव के निवारण के लिए विरेचन तथा अन्य वातशामक औषध विशेषतः सूखी धनियाँ उपयुक्त होती है ।

वक्तव्य—मण्डूकपर्णी को यदि सुखाने की आवश्यकता हो तो छाया में ही सुखाना चाहिए क्योंकि धूप में सुखाने से इसका उडनशील तैल उड़ जाता है जिससे उसकी शक्ति कम हो जाती है । इसी कारण इसका क्वाथ या फाण्ट भी नहीं बनाया जाता ।

आजकल प्रायः मण्डूकपर्णी और ब्राह्मी को पृथक् मानकर इनसे क्रमशः C. asiatica और Bacopa monnieri का ग्रहण करते हैं किन्तु मेरे विचार से मण्डूकपर्णी और ब्राह्मी दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही द्रव्य (C. asiatica) के बोधक है । B. monnieri (जलनीम) संहितोक्त ऐन्द्री है जिसका वर्णन आगे किया गया है ।

× × × ×

'मण्डूकपर्णी·········प्रभृतीनि । रक्तपित्तहराण्याहुर्हृद्यानि सुलघूनि च कुष्ठमेहज्वरश्वासकासारुचिहराणि च ॥ कषाया तु हिता पित्ते स्वादुपाकरसा हिमा । लध्वी मण्डूकपर्णी तु·········।' (सु. सू. ४६)

'ब्राह्मी हिमा सरा तिक्ता लघुः मेध्या च शीतला ।
कषाया मधुरा स्वादुपाकायुष्या रसायनी ॥
स्वर्या स्मृतिप्रदा कुष्ठपाण्डुमेहास्रकासजित् ।
विषशोथज्वरहरी तद्वन्मण्डूकपर्णिनी ॥' (भा. प्र.)

मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः·········। आयुःप्रदान्यामयनाशनानि बलाग्निवर्णस्वरवर्धनानि । मेध्यानि चैतानि रसायनानि·········।' (च. चि. १)

'हृतदोष एव प्रतिसंसृष्टभक्तः यथाक्रममागारं प्रविश्य मण्डूकपर्णीस्वरसमादाय सहस्रसंपाताभिहुतं कृत्वा यथाबलं पयसा पिबेत् । एवं दशरात्रमुपयुज्य मेधावी वर्षशतायुः भवति ।' (सु. चि. २८)

'रसो मण्डूकपर्ण्यास्तु प्रलेपात् पिटिकामयम् ।·········प्रणाशयेत् ॥ (सोढल)

M. P. I., I, 216-220.

२. ऐन्द्री

गण—बल्य, प्रजास्थापन (च०) ।

कुल—कटुका-कुल (स्क्रोफुलेरिएसी–Scrophulariaceae)

नाम—लै०-बैकोपा मोनिएरी (Bacopa monnieri (Linn.) Pennell सं०-ऐन्द्री (शक्तिदायक तथा जलासन्न भूमि में होने के कारण) हि०-बरमी, जलनीम, बं०-बिरमी; ता०-नीरब्राह्मी; ते०-शाम्ब्रानी चेट्टु; क०-ओंदिगल; फा०-जरनव; अं०-Indian Pennywort.

स्वरूप—इसका प्रसरी एवं उपमांसल क्षुप होता है । **काण्ड**-अतिकोमल, सरस, सूक्ष्मरोमश और ग्रन्थियुक्त होता है । ग्रन्थियों से मूल निकल कर भूमि में लग जाते हैं जिसके कारण काण्ड २-३ फीट ऊँचा होने पर भी छोटा और झुका हुआ दिखाई पड़ता है । शाखायें ४–१० इञ्च लम्बी होती हैं । **पत्र**–मांसल, ½–¾ इञ्च लम्बे, अभिलट्वाकार, आयताकार या स्त्रुवाकार, अवृन्त तथा काण्ड एवं शाखाओं पर विपरीत क्रम में व्यवस्थित रहते हैं । **पुष्प**–नीलाभ श्वेत या हलके गुलाबी रंग के होते हैं जो पत्रकोण से निकलते हैं । पुष्पवृन्त पुष्पबहिर्दल तथा पत्तियों से लम्बा होता है । पुष्पबहिर्दल ¼–⅓ इञ्च लम्बे तथा दो वृन्तपत्रकों से युक्त होते हैं । अन्तर्दल बहिर्दल से लगभग दूना लम्बा होता है और उसके खण्ड किञ्चित् विषम होते हैं । पुंकेशर ४ (२ छोटे और २ बड़े) होते हैं । **फल**–अण्डाकार एवं तीक्ष्णाग्र होता है । बीजकोष दो कोष्ठों में विभक्त होता है जिसमें अनेक अनियमित आकार के पाण्डुवर्ण बीज होते हैं । ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और उसके बाद फल लगते है । समस्त क्षुप तिक्त होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र ४ हजार फीट की ऊँचाई तक आर्द्र और जलासन्न भूमि में होता है । विशेषकर गाँवों में कुँओं के आसपास जहाँ पानी बराबर गिरता रहता है तथा तालाब या नदी के किनारे यह क्षुप अधिक देखने में आता है । श्रीलंका, सिंगापुर तथा अन्य उष्ण देशों में भी पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें ब्राह्मीन तथा हर्पेस्टिन नामक दो क्षाराभ तथा हरसैपोनिन नामक एक सैपोनिन पाया जाता है । इनके अतिरिक्त बेटुलिक अम्ल तथा स्टिग्मास्टेरॉल पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—लघु **विपाक**—कटु
रस—तिक्त **वीर्य**—उष्ण **प्रभाव**—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं विषघ्न है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, शामक और आक्षेपहर है ।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन एवं अनुलोमन है ।

रक्तवहसंस्थान—तिक्त होने के कारण रक्तशोधक है तथा शोथ को दूर करता है । हृद्य है तथा उष्णवीर्य होने से यह हृदय को उत्तेजित करता है ।

श्वसनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह कफघ्न एवं कण्ठ्य है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण होने से मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है तथा आर्त्तव के विकारों को दूर कर गर्भधारण में सहायक होता है।

त्वचा—उष्ण होने से स्वेदजनन, कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम—तिक्त होने से यह आमपाचन तथा उष्ण होने से स्वेदजनन है। अतः ज्वर को शान्त करता है।

सात्मीकरण—यह विष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त रोगों में तथा विष में इसका प्रलेप करते है। बच्चों के कास तथा फुफ्फुस के रोगों में इसका गरम लेप वक्ष पर किया जाता है। वातकफ-ज्वर में जलनीम का कल्क, प्याज और वालू को पोटली वनाकर स्वेदन भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार आदि मानस रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष और विबन्ध में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार, शोथ एवं हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न होने के कारण कास एवं स्वरभेद में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह कष्टार्त्तव तथा वन्ध्यात्व में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—विभिन्न विषों में इसका प्रयोग होता है। सामान्य दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोग अंग—पञ्चाङ्ग। **मात्रा**—स्वरस-१०-२० मि० लि०।

× × ×

ऐन्द्री तु जलनिम्बाख्या तिक्तोष्णा दीपनी सरा।
मेध्या हृद्या च कुष्ठघ्नी ज्वरघ्नी कफवातजित्॥
उन्मादवह्निमान्द्यामविबन्धासृग्रुजापहा।
ज्वरे कासे विषे शोथे दौर्बल्ये चाथ शस्यते॥ (स्व.)
ब्राह्मी तिक्तरसोष्णा च सरा वातामशोफजित्। (रा० नि०)

M. P. I., I, 118–122,
प्रियव्रत शर्मा : ब्राह्मी, मण्डूकपर्णी और ऐन्द्री, सचित्र आयुर्वेद, फरवरी, १९७७
P. K. Dey et al : J. R. I. M., III, 1, 1968.
Singh et al : J. R. I. M., X, 2, 1975.

३. शंखपुष्पी

कुल—त्रिवृत्कुल (कनवाल्वुलेसी—Convolvulaceae)

नाम—लै०-कनवॉल्वुलस प्लुरिकालिस (Convolvulus pluricaulis Chois) सं०-शंखपुष्पी (शंख के समान श्वेत या शंखाकृति पुष्प वाली), क्षीरपुष्पी (दूध के समान श्वेत फूल वाली), मांगल्यकुसुमा (जिसके पुष्पों के दर्शन से मंगल हो क्योंकि श्वेतवर्ण तथा शंख शकुन कहे गये हैं)।

हि०-शंखाहुली, म०-सांखवेल, गु०-शंखावली।

स्वरूप—इसका बहुवर्षीय प्रसरी क्षुप होता है जिसके काष्ठीय मूलस्तम्भ से अनेक अवनत एवं रोमश ४-१२ इन्च लम्बे काण्ड निकले होते हैं। **पत्र**-½-१·५ इन्च लम्बे, रेखाकार या निचले भाग में अभिप्रासवत् होते हैं। **पुष्प**—शंखसदृश श्वेतवर्ण या हलके गुलाबी, १–३ भागों में विभक्त पत्रकोणीय पुष्पदंड पर होते हैं। वहिर्दल रेखाकार-प्रासवत् और रोमश तथा अन्तर्दल फनेल के आकार के बाहर रोमश होते हैं। **फल**-अण्डाकार, ·१७–·२ इन्च लम्बा होता है। मई से दिसम्बर तक इसमें पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः पथरीले और परती मैदानों में उत्पन्न होती है।

रासायनिक संघटन—रासायनिक विश्लेषण से इसमें दो प्रकार के स्फटिकीय द्रव्य पाये गये हैं। शंखपुष्पीन नामक एक क्षाराभ भी पाया गया है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—तिक्त **विपाक**—मधुर
वीर्य—शीत **प्रभाव**—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध, पिच्छिल, एवं मधुरविपाक होने के कारण वात तथा शीतवीर्य होने से पित्त का शमन करती है। तिक्त रस के कारण कफ का भी शमन इससे होता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और केशवर्धन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य तथा मस्तिष्क और नाडियों के लिए बलप्रद है। मस्तिष्क का शामक एवं निद्राजनन भी है।

पाचनसंस्थान—तिक्त होने से यह दीपन और पाचन तथा पिच्छिल एवं मधुरविपाक होने से अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए बल्य एवं शीतवीर्य होने से रक्तस्तम्भन है। रक्तगत वात का शामक होने से रक्तभार को कम करती है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त एवं स्निग्ध होने से कफनिःसारक और इसके कारण स्वर को ठीक करती है।

मूत्रवहसंस्थान—शीतवीर्य होने से यह मूत्रविरेचनीय है।

प्रजननसंस्थान—स्निग्ध-पिच्छिल गुण एवं मधुरविपाक होने के कारण यह वृष्य और प्रजास्थापन है।

त्वचा—तिक्त एवं पित्तशामक होने से कुष्ठघ्न है और चर्म-विकारों में लाभकर होती है।

तापक्रम—शीतवीर्य होने से यह दाह एवं दाह-प्रधान ज्वर को शान्त करती है।

सात्मीकरण—इससे शरीर एवं मन के दोषों की शान्ति, धातुओं की वृद्धि एवं मलों का संशोधन होता है, अतः यह रसायन और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है तथा केश-वृद्धि के लिए इससे सिद्ध तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मेध्य होने के कारण इसे मस्तिष्क-दौर्बल्य एवं तज्जनित रोगों में प्रयोग करते हैं। उन्माद, अपस्मार, अनिद्रा एवं भ्रम रोगों में इसका प्रयोग बहुलता से होता है। शामक प्रभाव के कारण उन्माद की उग्रावस्था में देने से उसकी तीव्रता शान्त हो जाती है और धीरे-धीरे विकार शान्त हो जाता है। अनिद्रा में भी इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—दीपन और पाचन होने से यह अग्निमांद्य को दूर करती है तथा वातशामक होने से उदर के आनाह, गुल्म, अर्श आदि वातप्रधान विकारों में लाभकर होती है। यह अनुलोमन भी है जिससे अन्त्रगत विष बाहर निकलता है और विबन्ध दूर होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य होने से हृद्रोगों में प्रयोग होता है और रक्तस्तम्भन होने से रक्तपित्त में लाभ करती है। ऐन्सली का कथन है कि यह रक्तवमन (Haemetemesis) के लिये अद्वितीय औषध है। रक्तभाराधिक्य में भी यह उपयोगी पाया गया है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक एवं स्वर्य होने से वातपैत्तिक कास एवं स्वर-भेद में प्रयुक्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल होने के कारण मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि विकारों में दी जाती है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य होने के कारण यह शुक्रदौर्बल्य एवं अन्य शुक्रदोषों में लाभकर है। गर्भाशय-दौर्बल्य के कारण जिनको गर्भधारण नहीं होता या गर्भ नष्ट हो जाता है उनके लिए यह अतीव प्रशस्त मानी गई है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से कुष्ठ तथा अन्य रक्तविकारों में लाभकर होती है। फिरंग में भी इसका प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम—दाहप्रशमन एवं ज्वरघ्न होने के कारण यह दाह एवं दाहप्रधान ज्वर में प्रयुक्त होती है। विशेषतः त्रिदोषज्वर में जब अनिद्रा, प्रलाप आदि उपद्रव हों तथा सन्ताप अधिक हो तब इसका प्रयोग करते हैं। गर्मियों में दाह की शान्ति के लिए लोग इसका पानक बनाकर पीते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में बलवृद्धि एवं रसायन-कर्म के लिए इसका सेवन करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—कल्क–१०-२० ग्रा०।

वक्तव्य—इसका प्रयोग विशेषतः कल्क या पानक के रूप में करते हैं।

विशिष्ट योग—शंखपुष्पी-पानक, मेध्य कषाय।

× × ×

'शंखपुष्पी हिमा तिक्ता मेधाकृत् स्वरकारिणी। ग्रहभूतादिदोषघ्नी वशीकरणसिद्धिदा॥' (रा. नि.)

'शंखपुष्पी सरा स्वर्या कटुस्तिक्ता रसायनी। अनुष्णा वर्णमेधाग्निबलायुःकान्तिदा हरेत्॥
अपस्मारमथोन्मादमनिद्रां च तथा भ्रमम्॥' (कै०)

'कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः...... । मेध्या विशेषेण च शंखपुष्पी॥' (च.चि.१)

'तत्सेव्यं शंखपुष्पी च यश्च सेव्यं रसायनम्।' (च. चि. १५)

'शंखपुष्पिकास्वरसाः। उन्मादहृतो दृष्टाः पृथगेते कुष्ठमधुमिश्राः॥' (चक्र.)

४. ज्योतिष्मती

परिचय

गण—शिरोविरेचन (च०), अधोभागहर, शिरोविरेचन (सु०)

कुल—ज्योतिष्मती-कुल (सिलैस्ट्रैसी–Celastraceae)

नाम—लैं०–सिलैस्ट्रस पैनिकुलेटस (Celastrus panniculatus Willd.); सं०–ज्योतिष्मती (मेध्य, उष्ण या काण्ड पर शुभ्र बिन्दुओं से युक्त); पारावतपदी (कबूतर के समान लतावाली), काकाण्डकी (कौवे के अण्डे के समान फलवाली), कंगुणिका (कंगुनी धान्य के समान बीजों वाली), पीततैला (पीतवर्ण के तैल सेयुक्त), कटवीका (कटुरसवाली), वेगा (वेग से बढ़नेवाली या उत्साह को बढ़ानेवाली),

हि०—माककांगनी। म०—मालकांगोणी; गु०—मालकांगणी; ता०—वालुलवै; मल०—पालुरुवम् ; अ०—तैलान, तैलाफयून; अं०—स्टाफ ट्री (Staff tree).

हिन्दी का 'मालकांगनी' शब्द 'काकमर्दनिका' से वर्णव्यत्यय द्वारा निष्पन्न प्रतीत होता है।

स्वरूप—इसकी अरोहिणी विस्तृत लता होती है। शाखायें झुकी हुई जिन पर श्वेत बिन्दु होते हैं। **पत्र**—अंडाकार या अभिलट्वाकार, नुकीले एवं दन्तुरधार २·५-५ इञ्च लंबे तथा १·२५–२·५० इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**—पीताभ, हरित, मधुगंधि, गुच्छों में ग्रीष्म ऋतु में लगते हैं। पुष्पदण्ड—३-४ अंगुल लम्बा होता है। **फल**—मटर के समान गोल, पीले, त्रिखण्ड होते हैं। प्रत्येक खण्ड में ⅙ इञ्च के एक-दो बीज केशरी रङ्ग के आवरण से ढँके होते हैं। पुष्प—नई पत्तियों के साथ अप्रैल-जून में निकलते हैं तथा फल अक्टूबर-जनवरी में पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत, विशेषतः पञ्जाब, कश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेशों में ३००० फीट की ऊँचाई तक होता है। श्रीलंका, मलयद्वीप तथा फिलिपाइन में भी पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ५२·२% गाढा, रक्तपीत, तिक्त एवं गन्धयुक्त तैल; एक तिक्त रालयुक्त तत्त्व, कषायद्रव्य तथा ५% क्षार होता है। बीजों से तैल दो प्रकार से निकालते हैं—(१) कोल्हू में दबाकर और (२) पातालयन्त्र से। प्रथम विधि से प्राप्त तैल पीतवर्ण तथा द्वितीय विधि से प्राप्त तैल कृष्णवर्ण (Black oil-oleum nigrum) होता है। इसके निर्माण में इन बीजों के साथ जायफल, जावित्री, लवंग और लोहबान भी मिला देते हैं। द्वितीय विधि से निष्कासित तैल में 'क्रिओजोट' नामक द्रव्य प्राप्त होता है। बीजों से जो क्षाराभ प्राप्त किये गये हैं उनमें एक सिलैस्ट्रीन और दूसरा पैनिकुलेटीन है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध और उष्ण होने से वात का तथा कटुतिक्त एवं उष्ण होने से कफ का शमन करती है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके तैल का अभ्यंग वातहर, वेदनास्थापन एवं उत्तेजक होता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मेध्य है। उष्ण होने के कारण इससे विशेषकर ग्रहणशक्ति तीव्र होती है। इससे नाडियों को भी बल प्राप्त होता है। मस्तिष्क-शामक भी है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त एवं उष्ण होने के कारण यह दीपन है। स्निग्धता एवं उष्णता से यह वात का अनुलोमन करती है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णता के कारण इससे हृदय उत्तेजित होता है तथा रक्त-संवहन बढ़ जाता है। इससे शोथ भी दूर होता है।

श्वसनसंस्थान—कटु एवं उष्ण होने से यह शिरोविरेचन तथा कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्णता के कारण यह वृक्कों को उत्तेजित करती है जिससे मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—यह नाडीबलदायक होने के कारण वाजीकरण है। यह आर्त्तवजनन भी है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं स्वेदजनन है।

तापक्रम—कटु तिक्त होने से यह आमपाचन तथा स्वेदजनन होने के कारण ज्वरघ्न है।

अहित प्रभाव—२–३ माशे की मात्रा खा लेने पर इससे वमन और विरेचन होने लगते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशामक होने के कारण इसका प्रयोग कफवात-विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातहर एवं वेदनास्थापन होने से पक्षाघात, अर्दित, सन्धिवात, गृध्रसी, कटिशूल आदि वातविकारों में इसके तैल का अभ्यंग करते हैं। उत्तेजक होने से ध्वजभंग में इसका तिला बनाकर शिश्न पर लगाते हैं या इसका तैल पान के पत्तों के साथ शिश्न पर बाँधते हैं। उष्ण होने के कारण गण्डमाला आदि पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मेध्य होने के कारण इसका प्रयोग स्मरणशक्ति बढ़ाने के लिए किया जाता है। इसके लिए इसका तैल गोघृत में मिलाकर प्रयोग करते हैं। मस्तिष्क-नाड़ीबलदायक होने से अन्य मस्तिष्क-रोगों तथा नाड़ी-दौर्बल्य के विकारों में लाभकर होता है। इसके पत्र का स्वरस ४० मि० लि० की मात्रा में देने से अहिफेन का अतिसेवनजन्य अभ्यास दूर होता है।

पाचनसंस्थान—दीपन होने के कारण अग्निमांद्य में तथा अनुलोमन होने के कारण विबन्ध एवं गुल्म में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने के कारण हृदयमन्दता में इसका प्रयोग करते हैं। शोथहर होने से विभिन्न प्रकार के शोथों में उपयोगी होता है। विशेष कर इसका कृष्णवर्ण तैल बेरी बेरी में लाभकर प्रमाणित हुआ है।

श्वसनसंस्थान—शिरोविरेचन के लिए इसके बीज नस्य के रूप में प्रयुक्त होते हैं। वातकफनाशन होने से इसका प्रयोग कास-श्वास में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण मूत्रल होने से जब शीताधिक्य के कारण मूत्रकृच्छ्र हो तब इसका प्रयोग करना चाहिए।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण होने में क्लैब्य रोग में इसका बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रयोग करते हैं। इस कार्य के लिए कृष्ण तैल का प्रयोग दुग्ध के साथ करते हैं। कष्टार्त्तव में इसका पत्रशाक घी में बनाकर दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से यह कुष्ठ, कण्डू आदि अनेक चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—इसका तैल सेवन करने के २-३ घण्टे के बाद जोर से पसीना आता है जिससे ज्वर कम हो जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज और तैल।

मात्रा—बीज १-२ ग्रा०, तैल—५-१५ बूंद।

विशिष्ट योग—ज्योतिष्मती तैल।

निवारण—इसके अहितकर प्रभावों के निवारण के लिए गोदुग्ध और गोघृत का सेवन कराते हैं।

प्रतिनिधि—लवंग का तैल।

× × +

'पक्वरक्तफला गुच्छा पीततैला च वर्त्तुला।
पंक्तिपत्रा रक्तबीजाऽणुपुष्पा वनजा स्मृता॥' (शि.)
'ज्योतिष्मती कटुस्तिक्ता सरा कफसमीरजित्।
अत्युष्णा वामनी तीक्ष्णा वह्निबुद्धिमतिप्रदा॥' (भा. प्र.)
'कटु ज्योतिष्मतीतैलं तिक्तोष्णं वातनाशनम्।
पित्तसंतापनं मेधाप्रज्ञाबुद्धिविवर्धनम्॥' (रा. नि.)
'सकाञ्जिकं···सृष्टं ज्योतिष्मतीदलम्। प्राश्य वनिता त्वार्तवं लभेत्॥' (च. द.)

Jogleker G. V. et al : J. R. I. M., I, 2, 190-195, 1966.
Singh et al : J. R. I. M. IV, 1 1974.

५. कूष्माण्ड

परिचय

वर्ग—वल्लीफल

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)

नाम—लै०–बेनिनकासा हिस्पिडा (Benincasa hispida (Thunb.) Cogn.) : सं०—कूष्माण्ड (कु नास्ति ऊष्मा अण्डेषु बीजेषु यस्य स—जिसके बीजों में उष्णता न हो), पुष्पफल (पुष्प के साथ फल लगते हैं), बृहत्फल (फल बृहदाकार होने से), वल्लीफल (लताजाति का फल होता है)।

हि०—पेठा, रकसा, भतुआ: पं०—पेठा; बं०—कुमड़ा; म० कोहला; मा०—कोहला, कोला; गु०—भुरुं कोहलुं, ते०—गुम्मडि; मल०—कुम्पलम्; सिं०—पेठो साओ; फा०—वदुब; अ०— महदब; अं०—ह्वाइट गोर्ड मेलन (white gourd melon).

स्वरूप—इसकी बड़ी आरोहिणी लता वर्षायु होती है। इसके समस्त भाग मृदु रोगों से व्याप्त होते हैं। सूत्र द्विविभक्त होते हैं। **पत्र**–४-६ इञ्च व्यास के, गहरे हृदयाकृति और कभी-कभी कोणीय खण्डों से युक्त होते हैं। पत्रधार दन्तुर या कटे होते हैं। पत्रवृन्त रोमश, १-३ इञ्च लंबा और नीचे की ओर क्रमशः चौड़ा होता है। **पुष्प**–लगभग २ इञ्च व्यास का, पीतवर्ण, एकल और अक्षीय निकलता है। पुष्प एकलिंगी होते हैं। पुंपुष्पदण्ड स्त्रीपुष्पदण्ड की अपेक्षा लंबा होता है। **फल**–बृहदाकार, गोलाई लिये लंबा, १-१½ फीट का श्वेत रज से आवृत होता है। फलमज्जा सफेद होती है। **बीज**—चिपटे, श्वेतवर्ण होते हैं। शीत ऋतु में इसमें फूल-फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें श्वेतसार, कुकुर्बिटीन (Cucurbitine) नामक क्षाराभ, एक तिक्त राल, प्रोटीन, मायोसिन, वाइटेलिन, शर्करा तथा क्षार होते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध **रस**—मधुर **विपाक**—मधुर
वीर्य—शीत **प्रभाव**—मेध्य

पक्व कूष्माण्ड क्षारीय और लघु होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वातशामक तथा मधुर-शीत होने से पित्तशामक है। पक्व कूष्माण्ड सर्वदोषहर कहा गया है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रलेप सन्तापहर तथा दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए शामक एवं बलदायक है। इससे मेधाशक्ति बढ़ती है। यह निद्राजनन भी है।

पाचनसंस्थान—मधुर-स्निग्ध होने से यह अनुलोमन एवं तृष्णानिग्रहण है। इसके बीज कृमिघ्न हैं विशेषतः स्फीतकृमियों (Tapeworms) पर इनका प्रभाव होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह मधुर और स्निग्ध-शीत होने से हृद्य और रक्तपित्तशामक है। यह शोणितस्थापन भी है जिससे बहता हुआ रक्त रुक जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह मधुरस्निग्ध होने से फुफ्फुस के लिए बल्य तथा क्षयनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—शीतवीर्य तथा क्षारीय होने से यह मूत्रजनन है। पक्व कूष्माण्ड विशेषतः बस्तिशोधन है।

प्रजननसंस्थान—मधुरस्निग्ध होने से यह शुक्रधातु को बढ़ाता है।

त्वचा और तापक्रम—यह शीत होने से दाह एवं सन्ताप को दूर करता है।

सात्मीकरण—मधुर-स्निग्ध होने से यह बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तशामक होने से वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में फलमज्जा का लेप करते हैं। अग्निदग्ध में फलमज्जा तथा पत्र-स्वरस लगाने से लाभ होता है। वातपैत्तिक शिरोरोग में इसके बीजों का तैल शिर में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मस्तिष्क के लिए बलदायक होने से इसका प्रयोग उन्माद आदि मानस विकारों तथा सामान्य मस्तिष्कदौर्बल्य, स्मृतिह्रास आदि में किया जाता है। मानस रोगों में पक्व कूष्माण्ड विशेष लाभकर होता है।

पाचनसंस्थान—अनुलोमन होने से इसका प्रयोग विबन्ध में तथा तज्जन्य उदरविकारों में करते हैं। तृष्णानिग्रहण होने से तृष्णारोग में यह लाभकर होता है। स्फीतकृमि को मारने के लिए यह मेल फर्न (Male fern) के समान गुणकारी होता है। उसके लिए २०–४० ग्रा० बीजकल्क देकर ऊपर से विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं। बीजतैल का भी १०–२० ग्रा० की मात्रा में प्रयोग करते है। अनुलोमन एवं रक्त-स्तम्भन होने से रक्तार्श में इसका प्रयोग लाभकर है। इसका क्षार उदरशूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्दौर्बल्य में करते हैं। रक्तस्तम्भन एवं संधानीय होने से रक्तपित्त एवं उरःक्षत के लिए यह प्रसिद्ध औषधि है।

श्वसनसंस्थान—बल्य होने के कारण इसका प्रयोग क्षय, राजयक्ष्मा आदि में करते हैं। इससे फुफ्फुस तथा सारे शरीर को बल मिलता है और खाँसी, ज्वर, दाह आदि शान्त होते हैं। यदि मुँह से खुन आता हो तो वह भी बन्द हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसकी फलमज्जा एवं बीज मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी आदि में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

त्वचा और तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए बीजों को पीसकर ठंढई के रूप में देते हैं। इसी कारण गर्मियों में फल का अवलेह तथा पेठे का मुरब्बा खाया जाता है। जीर्णज्वर में देने से दाह और ज्वर शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण होने से सामान्य दौर्बल्य एवं कृशता में पौष्टिक के रूप में दिया जाता है। इसका फलस्वरस पारदविष को दूर करने में लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, बीज, बीजतैल।

मात्रा—फल १०–२० ग्रा०, बीजचूर्ण ३–६ ग्रा०, बीजतैल ५–१० मि० लि०।

विशिष्ट योग—कूष्माण्डखण्ड, कूष्माण्डगुडकल्याणक, कूष्माण्डघृत।

× × ×

'मूत्राघातहरं प्रमेहशमनं कृच्छ्राश्मरीच्छेदनं,
विण्मूत्रग्लपनं तृषार्तिशमनं जीर्णाङ्गपुष्टिप्रदम्।
वृष्यं स्वादुतरं त्वरोचकहरं बल्यं च पित्तापहं
कूष्माण्डं प्रवरं वदन्ति भिषजो वल्लीफलानां पुनः॥ (रा. नि.)

'कूष्माण्डं बृंहणं वृष्यं गुरु पित्तास्रवातनुत्। बालं पित्तापहं शीतं मध्यमं कफकारकम्॥
वृद्धं नातिहिमं स्वादु सक्षारं दीपनं लघु। बस्तिशुद्धिकरं चेतोरोगहृत् सर्वदोषजित्॥'
(भा. प्र.)

'सक्षारं पक्वकूष्माण्डं मधुराम्लं तथा लघु। सृष्टमूत्रपुरीषं च सर्वदोषनिबर्हणम्॥'
(च. सू. २७)

'पित्तघ्नं तेषु कूष्माण्डं बालं, मध्यं कफावहम्। शुक्लं लघूष्णं सक्षारं दीपनं बस्तिशोधनम्॥
सर्वदोषहरं हृद्यं पथ्यं चेतोविकारिणाम्।' (सु. सू. ४६)

'कूष्माण्डप्रभृतीनां तैलानि मधुराणि मधुरविपाकानि वातपित्तप्रशमनानि शीतवीर्याण्यभिष्यन्दीनि सृष्टमूत्राण्यग्निसादनानि च।' (सु. सू. ४५)

६. उस्तूखुदूस

परिचय

कुल—तुलसी—कुल (लैबिएटी—Labiatae)

नाम—लै०–लैवेण्डुला स्टीकस (Lavandula stoechas Linn.) हि०–धारू, उस्तूखूदूस; अल्फाजन, अ०–आनिसुल् अखाह, मुम्सिकुल् अखाह, हाफिजुल् अखाह; अं०–अरबियन ऑर फ्रेञ्च लैवेण्डर (Arabian or French Lavender)

स्वरूप—इसका क्षुप दो-तीन फीट ऊँचा तीव्रकर्पूरगन्धि होता है। **पत्र**—वृन्त-रहित, आयताकार—रेखाकार होते हैं। **पुष्प**—बैंगनी रंग के, सघन मंजरियों में सूक्ष्मरोमयुक्त और कर्पूरगन्धि होते हैं। इसके सूंघने से छींकें आती हैं। **बीज**—ज्योतिष्मती के बीज के समान छोटे, चपटे और श्यामपीत वर्ण के होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भूमध्यसागर के क्षेत्र में होता है। पश्चिमी भारत के कुछ उद्यानों में लगाया जाता है। सुखाया क्षुप तथा पुष्प फारस की खाड़ी से बम्बई में आयातित होते हैं। भारत में इसकी दो भिन्न प्रजातियाँ होती हैं।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्पों से एक रक्ताभ पीतवर्ण का सुगन्धित तैल प्राप्त होता है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, रूक्ष **रस**—कटु तिक्त **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण **प्रभाव**—मेध्य

कर्म

दोषकर्म—तीक्ष्ण, रूक्ष, कटु, तिक्त एवं उष्ण होने से यह कफ का तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-इसका लेप शोथहर है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह तमोदोष के आवरण को नष्ट करता है जिससे मेधाशक्ति बढ़ती है और नाड़ियों को बल मिलता है। वेदनास्थापन तथा आक्षेपहर भी है।

पाचन संस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण यह दीपन, अनुलोमन एवं यकृदुत्तेजक हैं।

रक्तवह संस्थान—उष्णता के कारण यह हृदय एवं रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है और शोथ को नष्ट करता है।

श्वसन संस्थान—यह शिरोविरेचन होने से कफ का संशोधन करता है। कफवातशमन होने से कासहर और श्वासहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशमन होने से कफवातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

सांस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य होने के कारण मानसिक दौर्बल्य तथा तज्जन्य उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में इसका प्रयोग होता है। नाड़ियों के लिए बल्य होने से पक्षाघात, अर्दित, नाडीशूल आदि में इसका उपयोग लाभकर होता है।

पाचन संस्थान—दीपन होने के कारण अग्निमान्द्य, अनुलोमन होने से आध्मान, उदरशूल आदि तथा यकृदुत्तेजक होने से यकृच्छोथ, जलोदर आदि रोगों में इसका प्रयोग किया जाता है।

रक्तवह संस्थान—हृद्दौर्बल्य में इसके प्रयोग से हृदय में शक्ति और उत्तेजना आती है। अतः हृद्रोग और तज्जन्य शोथ में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

श्वसन संस्थान—कफवात-शमन होने से यह प्रतिश्याय, कास और श्वास में प्रयुक्त होता है। जूफा, सौंफ और मुलेठी के साथ इसका क्वाथ बनाकर श्वास में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प और पत्र। **मात्रा**—चूर्ण ३-६ ग्रा०।

योग—शर्बत, अर्क।

निवारण—इसके अधिक सेवन से तृष्णा आदि पैत्तिक विकार होते हैं। इस अहितकर प्रभाव को शान्त करने के लिए पित्तशामक द्रव्यों तथा नींबू का शर्बत आदि का प्रयोग किया जाता है।

मदकारी

७. अहिफेन

वर्ग—उपविष।

कुल—अहिफेन—कुल (पापावरेसी—Papaveraceae.)

नाम—लै० पापावर सॉम्निफेरम (Papaver somnifrum Liun.)

सं—आफूक, अहिफेन, हि०—अफीम; क०-आफीन; बं०-आफिम; मा०-अफीम, अमल; म०-अफू; गु०-अफीण, अ०-अफयून; अं०-ओपियम (Opium).

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप ३-४ फीट ऊँचा होता है, इसे 'पोश्ता' कहते हैं। इसका **काण्ड**-क्षोदयुक्त, सरल, प्रायः निःशाख और स्निग्ध होता है। **पत्र**-लट्वाकार-आयताकार या रेखाकार-आयताकार होते हैं। पत्र का प्रान्तभाग खण्डित होता है। **पुष्प**-बड़े, श्वेत, बैंगनी या रक्तवर्ण होते हैं। **फल**-छोटे अनार के समान, १ इंच व्यास के, सवृन्त, विषमकोषीय तथा स्वतःस्फोटी होते हैं। इसे 'डोडा' कहते हैं। फल के छिलके को 'पोश्त' कहते हैं। **बीज**-श्वेत या कृष्ण मधुर-स्निग्ध होते हैं। ये 'पोश्तदाना' या 'खशखश' कहलाते हैं।

कच्चे फल के चारों ओर सायंकाल गहरे चीरे लगा कर छोड़ देते हैं और उनसे जो दूध के समान निर्यास निकल कर जम जाता है उसे प्रातःकाल उन पर से खुरच कर सुखा लेते हैं। यही निर्यास 'अफीम' कहलाता है।

जाति—निघण्टुओं में पुष्पभेद से श्वेत, पीत, कृष्ण और चित्र तथा कर्मानुसार क्रमशः जारण, मारण, धारण और सारण इन चार जातियों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक विद्वानों ने देशभेद से तुर्की, यूरोपीय, फारसी और भारतीय ये चार जातियाँ मानीं हैं।

अरबी विद्वान् पुष्पभेद से इसकी तीन जातियाँ मानते हैं :—

(१) खशखश सफेद-इसका पुष्प पीताभ श्वेत होता है। (२) खशखश मन्सूर-इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं। (३) खशखश स्याह-इसके पुष्प कृष्ण या नील वर्ण के होते हैं।

खशखश सफेद के बीज श्वेतवर्ण तथा खशखश मन्सूर और स्याह के बीज कृष्णवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—अहिफेन उत्तरी समशीतोष्ण कटिबन्ध के देशों-यूरोप, एशिया तथा उत्तरी अफीका में होता है। भारत में विशेषतः उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल और मालवा में इसकी उपज की जातो है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक मीठा, स्थिर, पीताभ और निर्गन्ध तैल होता है। अफीम में कार्बनिक अम्ल, अनेक क्षाराभ तथा कुछ अन्य पदार्थ होते हैं। अफीम का रासायनिक संघटन इस प्रकार है :—

(१) **प्राथमिक क्षारत्त्व** (Primary alkaloids)

मॉर्फीन (Morphine) ५–२१%
कोडीन (Codeine) ०·३–४%
थीबेन (Thebaine) ०·३%
नार्कोटीन (Narcotine) २–७%
नार्सीन (Narceine)
पापावरीन (Papaverine)
सिउडोमार्फीन (Pseudomorphine)
क्रिप्टोपीन (Cryptopine)
प्रोटोपीन (Protopine)
हाइड्रोकेटार्निन (Hydrocatarnine)
लॉडेनिन (Laudanine)
लॉडेनोसिन (Laudanosine)
मेकोनिडिन (Meconidine)
रियेडिन (Rhoeadine)
कोडेमिन (Codamine)
नॉस्कोपिन (Nascopine)
लैन्थोपीन (Lanthopine)
जैन्थेलिन (Xanthaline)

(२) **द्वितीयक क्षारतत्त्व** (Secondary alkaloids)

एपोमार्फीन (Apomorphine)
(Oxydimorphine)
एपोकोडीन (Apocodeine)
डेसोक्सीकोडीन (Desoxycodeine)
थिवेमीन (Thebamine)
पॉर्फिराक्सिन (Porphyroxine)
केटार्निन (Catarnine)
रियेडेनिन (Rhoeadenine)

(३) **उदासीन तत्त्व**

ऑपिओनिन (Opionin)
मेकोनॉयडिन (Meconoidin)
मेकोनिन (Meconin)

(४) **कार्बनिक अम्ल**

दुग्धाम्ल (Lactic acid)
मेकोनिक एसिड (Meconic acid)

(५) जल—१६%

(६) राल, ग्लुकोज, वसा, उड़नशील तैल, गन्धद्रव्य, अमोनिया, खटिक तथा मैग्नीशियम के लवण।

मॉर्फीन में वेदनास्थापन तथा नार्कोटीन में विषमज्वरघ्न कर्म अधिक है। भारतीय अफीम में विषमज्वरघ्न शक्ति तथा तुर्की अफीम में वेदनास्थापन शक्ति अधिक देखी जाती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, सूक्ष्म, व्यवायी, विकासी
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—मादक

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवात का शामक एवं पित्त का प्रकोपक है। अधिक मात्रा में लेने पर ओजःक्षय होने से वायु की वृद्धि हो जाती है जिससे प्रलाप आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—उष्ण होने से इसका प्रयोग वेदनास्थापन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मादक, वेदनास्थापन, निद्राजनन एवं आक्षेपहर है। वमन, प्राणदा नाड़ी तथा तारकासंकोचक केन्द्रों को उत्तेजित करता है।

पाचन संस्थान—रूक्ष और कषाय होने के कारण यह लालाप्रसेक को कम करता है, अग्नि को मन्द करता है और स्तम्भन होने के कारण यह शरीर के सभी स्रावों (मूत्र, स्तन्य और स्वेद इन तीन के अतिरिक्त) को कम करता है। इसी कारण यह पित्त के स्राव को भी कम करता है और इसके सेवन से रक्त में शर्करा की मात्रा कम हो जाती है। वातशमन होने से यह प्रसिद्ध शूलप्रशमन है। आमाशय तथा अंत्र कीं पेशियों को संकुचित करता है जिससे विबन्ध उत्पन्न होता है।

रक्तवह संस्थान—इससे हृदय की गति मन्द किन्तु शक्ति तीव्र होती है। कषाय होने से रक्तस्तम्भन भी होता है।

श्वसन संस्थान—यह श्वसन केन्द्र का अवसादक है। उष्ण होने से यह कफनाशक और श्वासहर है।

मूत्रवह संस्थान—यद्यपि सामान्यतः मूत्रस्राव पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता तथापि कभी कभी इससे मूत्राघात की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह माधुर्यशमन भी है।

प्रजनन संस्थान—रूक्ष, कषाय, व्यवायी और विकासी होने के कारण यह धातुओं को क्षीण करता है अतः पुंस्त्वोपघाती है। इससे शुक्र का स्तम्भन भी होता है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—व्यवायी और विकासी होने के कारण धातुओं का शोषण होने से यह शरीर को कृश और दुर्बल बनाता है।

तापक्रम—यह तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न, विशेषकर विषमज्वरघ्न है।

नेत्र—इससे नेत्र की तारकायें संकुचित हो जाती हैं और नेत्रगत दबाव भी बढ़ जाता है।

फलत्वक् का गुणकर्म अहिफेन के समान ही है। अहिफेन-बीज (खसखस) मधुर, वृष्य और बल्य है।

शोषण एवं उत्सर्ग—मुख तथा आमाशय से इसका शोषण मन्द किन्तु अन्त्र से शीघ्र होता है। यह मुख्यतः (लगभग ९०%) मूत्र द्वारा बाहर निकलता है। इसका कुछ अंश (प्रायः १०%) पुरीष, स्तन्य, आमाशयिक रस और स्वेद से भी निकलता है। स्तन्य के द्वारा निकलने के कारण यह स्तनपायी शिशुओं को भी प्रभावित करता है। अपरा द्वारा भी यह निःस्यन्दित होता है और रक्तसंवहन में मिलकर गर्भस्थ शिशु को प्रभावित करता है। अधिकांश उत्सर्ग प्रथम छः घण्टों में हो जाता है तथा ७५% द्रव मूत्र के द्वारा २४ घंटों में बाहर निकल जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशमन होने से यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ तथा शरीर के अन्य अंगों में शोथ और पीड़ा होने पर इसका अकेले या अन्य द्रव्यों के साथ मिलाकर लेप करते हैं। नेत्र तथा कर्ण के शोथ-वेदनाप्रधान रोगों में इसका आश्च्योतन या लेप किया जाता है। इसकी वर्त्ति और मलहर का प्रयोग अर्श तथा गुदाविदार में करते हैं। मूत्राशय तथा मलाशय के प्रदेश में पीड़ा होने पर गुदा द्वारा इसका अन्तःक्षेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने के कारण इसका प्रयोग वेदना की सभी अवस्थाओं तथा उदरशूल, अश्मरी, गृध्रसी, पार्श्वशूल आदि में लाभकर होता है। वेदनाशामक होने के साथ साथ यह निद्राजनन भी है, अतः निद्रानाश, विशेषतः वेदनाजन्य में, विशेष उपयोगी होता है। आक्षेपहर होने के कारण इसका प्रयोग अपस्मार, अपतन्त्रक, कम्पवात, धनुस्तम्भ, कुपीलुविष आदि आक्षेप की अवस्थाओं में किया जाता है।

पाचन संस्थान—शूलप्रशमन और स्तम्भन होने से उदरशूल, आमाशयशोथ, और अतीसार में यह उपयुक्त होता है। प्रलापशमन, निद्राजनन तथा पुरीष एवं रक्त का स्तम्भन होने के कारण इसका प्रयोग आन्त्रिक ज्वर में विशेष लाभकर होता है। विसूचिका की प्रारंभिक अवस्था में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवह संस्थान—हृच्छक्तिवर्धक होने के कारण यह हृद्विकारजन्य श्वासकष्ट एवं हृदयशूल में उपयोगी होता है। स्तम्भन होने से यह रक्तस्राव, विशेषतः भीतरी अंगों में होने वाले रक्तस्राव को बन्द करता है।

श्वसन संस्थान—वातकफशामक होने के कारण यह वातश्लैष्मिक कास, कुकुरकास, तीव्र फुफ्फुसावरणशोथ, प्रतिश्याय एवं श्वासरोग में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवह संस्थान—माधुर्यशमन होने के कारण यह इक्षुमेह में लाभकर है।

प्रजनन संस्थान—शुक्र का स्तम्भन करने के कारण यह शीघ्रपतन रोग में दिया जाता है। गर्भपात एवं प्रसवोत्तर वेदना को शान्त करने के लिए भी इसका उपयोग किया जाता है।

त्वचा—उष्ण होने से यह शीतजन्य उपद्रवों में लाभकर होता है।

तापक्रम—इसके सेवन से विषमज्वर के विष का प्रभाव कम होता है और कभी कभी तो अन्य अचूक औषधों से भी लाभ न होने पर इससे कार्य हो जाता है। श्लीपदज्वर में भी इससे लाभ होता है।

प्रयोज्य अंग—फलनिर्यास (अफीम)।

मात्रा—३०-१२५ मि. ग्रा.।

विशिष्ट योग—अहिफेनासव, निद्रोदय वटी, कर्पूररस, महावातराज रस, दुग्धवटी, आकारकरभादि वटी।

प्रयोगनिषेध—अहिफेन का प्रयोग निम्नांकित अवस्थाओं में निषिद्ध है :—

(१) फुफ्फुसशोथ, छिन्नश्वास, (२) केन्द्रीय नाडीमण्डल के व्रणशोथ एवं रक्तसंचय से उत्पन्न विकार यथा मस्तिष्कावरणशोथ, ज्वर, अतिश्रम तथा मस्तिष्कगत रक्तस्राव। (३) अन्त्र तथा आमाशय का प्रसार और अशक्तता। (४) गंभीर वृक्कविकार विशेषतः मूत्रविषमयता की स्थिति में (५) शिशुओं और वृद्ध पुरुषों में (६) सभी जीर्ण रोगों में क्योंकि निरन्तर सेवन से इसका व्यसन हो जाता है।

आवश्यक विचार :—अहिफेन का प्रयोग करते समय निम्नांकित बातों पर अवश्य ध्यान देना चाहिए :—

१. **आयु**—शिशुओं में इसके विषाक्त लक्षण शीघ्र उत्पन्न होते हैं अतः उनमें इसका प्रयोग यथाशक्य नहीं करना चाहिए और यदि करे भी तो अत्यल्प मात्रा में।

२. **लिंग**—स्त्रियों में हानिकर प्रभाव शीघ्र और अधिक होता है, विशेषतः गर्भिणी और प्रसूता स्त्रियों में इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

३. **प्रकृति**—वातप्रकृति के व्यक्ति इसका सहन नहीं कर पाते अतः उनमें इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए। इनमें अधिक प्रयोग करने पर अनिद्रा, प्रलाप, भ्रम, छर्दि, अवसाद आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

४. **अभ्यास**—निरन्तर अधिक काल तक प्रयोग करने से अभ्यास हो जाता है और फिर अभीष्ट कर्म के लिए अधिक मात्रा की आवश्यकता होने लगती है।

५. **रोग**—तीव्र वेदना-प्रधान रोगों में अधिक मात्रा आवश्यक होती है। फुफ्फुस, हृदय, वृक्क और मस्तिष्क के रोगों में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

६. **योग**—इसका योग ऐसे द्रव्यों के साथ होना चाहिए जो इसके धातुशोषण, मलशोषण आदि दोषों का निराकरण कर सके।

अहिफेन-विष के लक्षण—अधिक मात्रा में अफीम लेने पर निम्नांकित विषाक्त लक्षण क्रमशः उत्पन्न होते हैं :—

१. तन्द्रा	३. संन्यास	५. श्वासावरोध
२. निद्रा	४. अवसाद	६. मृत्यु

नेत्रतारकायें संकुचित हो जाती हैं जो मृत्यु के कुछ मिनट पूर्व प्रसारित हो जाती हैं। प्रायः ४–६ घंटों में अवसाद की अवस्था और ६–१२ घंटों में मृत्यु होती है।

अहिफेन-विष की चिकित्सा :—

१. शोधन—रीठे के जल या सरसों या राई मिले गरम जल से वमन कराना तथा आमाशय नलिका से आमाशय का प्रक्षालन।

२. प्रतिविषों का प्रयोग—रीठा, हींग, अखरोट, अरहर, आँवला, एरण्ड, कार्पासबीज, कलमीशाक, नाडीशाक, केले का पानी, द्रोणपुष्पी, जिंगिनी, घृत, तम्बाकू, तूतिया, तेजपात, धामन, नीम, पातालगरुड़ी, और मकोय ये द्रव्य अहिफेन-विषनाशक हैं। अतः इनके जल का पान रोगी को बराबर कराना चाहिए।

३. उत्तेजक और हृद्य योग—हृदय को उत्तेजित करने के लिए कॉफी का गरम क्वाथ पिलाना चाहिए। इसके अतिरिक्त, मकरध्वज, कस्तूरी, जुन्दबेदस्तर, जद्वार, जहर-मोहरा आदि हृद्य औषधें मधु के साथ देनी चाहिए।

४. रोगी को सोने भी न दे जब तक विष न उतर जाय।

अहिफेनशोधन—अफीम को पानी में घोल, कपड़े से छानकर आग पर गाढ़ा कर ले। तदनन्तर अदरख के स्वरस की इक्कीस भावना देने से वह शुद्ध हो जाता है।

संग्रह—माघ और फाल्गुन मास में अफीम का संग्रह किया जाता है।

× × ×

'तिलभेदः खसतिलः खाखसश्चापि संस्मृतः।
स्यात् खाखसफलोद्भूतं वल्कलं शीतलं लघु॥
ग्राहि तिक्तं कषायं च वातकृत् कफकासहृत्।
धातूनां शोषकं रुक्षं मदकृद्वाग्विवर्धनम्॥
मुहुर्मोहकरं रुच्यं सेवनात् पुंस्त्वनाशनम्।'
'उक्तं खसफलक्षीरमाफूकमहिफेनकम्।
आफूकं शोषणं ग्राहि श्लेष्मघ्नं वातपित्तलम्॥' (भा. प्र.)
'खसखसः सूक्ष्मबीजः स्यात्सुबीजः सूक्ष्मतंडुलः।
खसखसो मधुरः पाके कान्तिवीर्यबलप्रदः॥' (रा. नि.)

I. P., 501-504.
Krantz & Carr : Pharmacologic Principles of Medical Practice, 128-148, 1969.

८. भंगा

परिचय

कुल—भंगाकुल (कैनाबिनेसी–Cannabinaceae)

नाम—लै०–कनाबिस सटाइवा (Cannabis sativa Linn.)—सं०–भंगा (भज्यते बुद्धिरनया–जिससे बुद्धिभ्रंश (मद) उत्पन्न हो), मादनी (मदकारिणी), मातुलानी (मदकारिणी)। हि०–भांग, बं–भांग, सिद्धि; म० गु०–भाग; अ० फा०–किन्नब; अं०–इंडियन हेम्प (Indian Hemp.)

स्वरूप—इसके वर्षायु, गंधयुक्त, रोमश क्षुप ३-८ फीट ऊँचे होते हैं। **पत्र**—एकान्तर (या निचले अभिमुख) क्रम से व्यवस्थित होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ १-३ खंडों तथा निचली पत्तियाँ ३-८ खंडों से युक्त होती हैं। निचली पत्तियों में पत्रवृन्त लंबे होते हैं। **पुष्प**–छोटे, हरितवर्ण, कोणोद्भूत तथा एकलिंगी होते हैं। पुंपुष्प छोटी नम्र मंजरियों में होते हैं तथा स्त्रीपुष्प उपपत्रों के सहित समूहबद्ध रहते हैं। **फल**–छोटे दानेदार होते हैं जिनके भीतर एक-एक चपटा बीज होता है। पुष्प और फल शरद् ऋतु में लगते हैं।

पत्र ओर पुष्प-फलयुक्त कोमल शाखाओं को 'भाँग', स्त्री-जाति के क्षुप की रालयुक्त पुष्पमंजरी को 'गाँजा' तथा पत्रों एवं शाखाओं पर जमे हुये रालीय निर्यास को 'चरस' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत, ईरान, ईराक, मिस्र तथा मध्य एशिया में विशेष होता है। भारतवर्ष में बंगलोर से आसाम तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल, कैनेबिनोल (Cannabinol), टेट्राहाइड्रो-कैनाबिनाल (Tetrahydrocannabinol), कैनाबिडिआलिक एसिड (Cannabidiolic acid) नामक पदार्थ, उड़नशील तैल, वसा, शर्करा, मोम तथा पोटाशियम नाइट्रेट पाये जाते हैं। चरस, पत्रों तथा शाखाओं में राल की मात्रा क्रमशः २२-२३, ७.२५ और ३.२५ प्रतिशत होती है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त	**विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण	**प्रभाव**—मादक	

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने के कारण यह वातश्लेष्महर तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—उष्णता के कारण इसका लेप और स्वेदन वेदना-स्थापन होता है। इसके पत्रस्वरस से बाह्य कृमि भी नष्ट होते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह एक प्रसिद्ध मदकारी द्रव्य है। प्रारम्भिक अवस्था में सौमनस्यजनन किन्तु बाद में प्रलापजनन होता है। वातशामक होने से मात्रापूर्वक प्रयोग करने पर यह वेदनास्थापन, निद्राजनन एवं आक्षेपहर हैं।

पाचन संस्थान—उष्णता के कारण यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही एवं पित्तसारक है। यह अन्त्रों के आक्षेप को भी दूर करती है अतः शूलप्रशमन है।

रक्तवह संस्थान—मद की प्रारम्भिक अवस्थाओं में हृदय उत्तेजित और नाड़ी तीव्र हो जाती है किन्तु बाद में नाड़ी मन्द हो जाती है। कषाय होने के कारण यह शोणितस्थापन भी है।

श्वसन संस्थान—प्रारम्भिक अवस्था में श्वसन तीव्र हो जाता है। यह श्वास-नलिकाओं के आक्षेप को दूर करता है, अतः श्वासहर है।

मूत्रवह संस्थान—इससे मूत्र का परिमाण बढ़ जाता है।

प्रजनन संस्थान—इससे शुक्र का स्तम्भन होता है और गर्भाशय का संकोच तीव्र होने लगता है।

त्वचा—इससे त्वचा की संज्ञावह नाड़ियों में शून्यता आती है जिससे झुनझुनी और संज्ञाराहित्य उत्पन्न हो जाता है।

तापक्रम—इसके प्रयोग से शरीर का तापक्रम कम होता है।

सात्मीकरण—व्यवायी और विकासी होने के कारण यह शरीर के समस्त धातुओं एवं ओज का शोषण करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य—अर्श एवं गुदविदार में लेप करते हैं। तथा इसकी धूनी देते हैं। इससे पीड़ा एवं क्षोभ कम हो जाता है। कफवातविकारों में इसका स्वेदन एवं उपनाह भी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वेदनास्थापन होने के कारण शिरःशूल, अर्धावभेदक आदि वेदनाप्रधान विकारों में दिया जाता है। निद्राजनन होने से अनिद्रा में तथा आक्षेपहर होने से शूल, अपतानक, धनुःस्तम्भ आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचन संस्थान—दीपन-पाचन होने से अग्निमांद्य में, ग्राही होने से अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में; पित्तसारक एवं शूलप्रशमन होने से यकृच्छूल, उदरशूल, अर्श आदि में दिया जाता है।

रक्तवह संस्थान—शोणितस्थापन होने से शरीर के किसी अंग से रक्तस्राव होने पर उसे रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसन संस्थान—आक्षेपहर एवं कफवातहर होने से यह कुक्कुरखाँसी एवं श्वासरोग में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवह संस्थान—इसका उपयोग वृक्कशूल एवं मूत्राशयस्तम्भ-जन्य मूत्राघात में करते हैं।

प्रजनन संस्थान—स्तम्भन होने से क्लैब्य और शीघ्रपतन में तथा गर्भाशय-संकोचक होने से रजःकृच्छ्र एवं कष्टप्रसव में उपयोगी होता है।

प्रयोज्य अंग—भाँग, गाँजा और चरस।

मात्रा—भांग १२५-२५० मि० ग्रा०; गाँजा ६०-१२५ मि० ग्रा०; चरस ३० मि० ग्रा०।

विशिष्ट योग—जातीफलादि चूर्ण, मदनानन्द मोदक।

शोधन—गोदुग्ध में दोलायन्त्र से एक प्रहर तक स्वेदन करने के बाद जल से धोकर सुखा ले और फिर हलकी आँच पर गोघृत में भून ले।

विष-लक्षण—अत्यधिक मात्रा में सेवन करने पर इसका विषप्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। गाँजा पीने पर शीघ्र ही तथा भांग खाने पर आधा घण्टे के बाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इन लक्षणों को दो अवस्थाओं में विभक्त किया गया है। प्रथम अवस्था में भ्रम, हास, असम्बद्ध वचन, प्रलाप, झुनझुनी, त्वचा में शून्यता, पेशीदौर्बल्य तथा तन्द्रा; ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। कभी कभी रोगी उग्र होकर परहत्या का भी प्रयत्न करता है। तन्द्रा के बाद रोगी द्वितीय अवस्था में प्रविष्ट होता है जब मद का गम्भीर आक्रमण होता है और वह गम्भीर निद्रा से आक्रान्त हो जाता है। मृत्यु बहुत कम प्रायः श्वासावरोध से होती है।

इसके निरन्तर अभ्यास से व्यसन हो जाता है जिसके कारण अग्निमान्द्य, अनिद्रा, कृशता, कामावसाद, स्मृतिह्रास, कम्प, उन्माद आदि जीर्ण विष के लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अहित प्रभाव—इसका अहित प्रभाव विशेषकर दृष्टि और मस्तिष्क पर होता है।

निवारण—विषलक्षणों को शान्त करने के लिए आमाशय-प्रक्षालन के बाद स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए। कुपीलु—सत्त्व का भी अन्तःक्षेप किया जाता है।

× × × ×

'भंगा गंजा मातुलानी मादनी विजया जया।
भंगा कफहरी तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुः॥
तीक्ष्णोष्णा पित्तला मोहमदवाग्वह्निवर्धनी।' (भा० प्र०)
'भंगा तु दीपनी रुच्या ग्राहिणी पाचनी लघुः।
निद्रापित्तप्रदोष्णा च कामदा कफवातजित्॥' (शो०)
'भंगा भंगकरी मतेः रतिपतेरत्यादरं कारिणी,
प्रौढस्वान्न समासमेषु विभवप्रद्योतहृत् संगमे।

तीक्ष्णोष्णा मदमोहपित्तशमनी वाग्वर्द्धनी ग्राहिणी,
तिक्ता श्लेष्महरा लघुश्च कथिता सन्दीपनी पाचनी ॥'
(निघण्टु आदर्श, उत्तरार्ध, प्र० सं०, पृ० ४०६)

'विजया रञ्जिका भंगी तन्द्राकृद् बहुवादिनी ।
मादिनी मादिका मादुः प्रोक्ता गञ्जाकिनिस्तथा ॥
भंगी कफहरी तिक्ता ग्राहिणी पाचनी लघुः ।
तीक्ष्णोष्णा पित्तला मोहमदवाग्विवर्धनी ॥ (ध० नि०)

M. P. I., I, 170–175,

९. वचा

परिचय

गण—विरेचन, लेखनीय, अर्शोघ्न, तृसिघ्न, आस्थापनोपग, शीतप्रशमन, संज्ञास्थापन, तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०); पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तादि, ऊर्ध्वभागहर (सु०) ।

कुल—सूरण-कुल (एरेसी–Araceae) ।

नाम—लै०–एकोरस कैलेमस (Acorus calamus Linn.) सं०–वचा (वचनशक्तिवर्धक), उग्रगन्धा (तीक्ष्णगन्धयुक्त), षड्ग्रन्था (छः गांठों वाली), गोलोमी (गौ के समान रोमयुक्त), म०–वेखण्ड; गु०–वज, घोड़ावज; प०–वर्च, वरज; सि०–किनी काठी; क०–वय; ते०–वस; ता०–वसम्बु, कन्न०–बजे गिडा, मल०–ववम्बु, अ०–वज्ज; ऊदुल्वज्ज; फा०–अगरे तुर्की, कारूनक; अं०–स्वीट फ्लैग (Sweet flag) ।

स्वरूप—इसका सदाहरित **क्षुप** जलप्राय भूमि में ३–५ फीट ऊँचा होता है। इसका **कन्द** भूमि में अदरख के समान फैलता है और मध्यमाङ्गुलि के समान स्थूल, ५–६ पर्ववाला, खुरदुरा, झुर्रीदार, रोमश, बेलनाकार या कुछ दबा हुआ और सुगन्धि होता है। बाहर से यह हलका भूरा या बैंगनी-भूरा होता है तोड़ने पर भीतर सफेद और स्पंजमय निकलता है। **पत्र**–३–६ इंच लम्बे और $\frac{3}{4}$–$1\frac{1}{4}$ इंच चौड़े, हरितवर्ण होते हैं, पत्तियों के किनारे लहरदार होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**—२–४. इंच लम्बी, $\frac{1}{2}$–$\frac{3}{4}$ इंच व्यासवाली, किंचित् वक्र और ६–३० इंच लम्बे पत्रकोशों से आवृत रहती है।

जाति—भावप्रकाश ने वचा के प्रसंग में चार द्रव्यों का वर्णन किया है—१. वचा (घोड़वच), जिसका वर्णन ऊपर किया गया। २. पारसीकवचा (बालवच)–यह ईरान और कश्मीर में विशेषतः होता है। हिमालय प्रदेश में होने से हैमवती भी कहते हैं। यह बहुधा मुसलमानों की कब्र पर लगाई हुई मिलती है अतः इसे मजारपोश (कब्र का फूल) 'या मजारमुण्ड (कब्र का मूल) भी कहते हैं। पुष्पभेद से यह तीन प्रकार की होती है—श्वेत, रक्त और नील। हकीम लोग श्वेत जाति को सोसन और नील जाति को इरसा कहते हैं। बालवच बाजार में बेखसोन के नाम से मिलती है। इसके गुणकर्म घोड़बच के समान होते हैं। चरक ने इसका उल्लेख षोडश मूलिनी और लेखनीय गण में तथा सुश्रुत ने मुस्तादि गण में किया है। इसका लै० नाम आइरिस जर्मनिका (Iris germanica Linn.) है। ३. महाभरीवचा (कुलंजन) ४. द्वीपान्तरवचा (चोपचीनी)—इनका वर्णन आगे किया जायगा।

उत्पत्तिस्थान—यह जलासन्न भूमि में विशेषतः तालाबों और झरनों के किनारे होता है। समस्त भारत तथा श्रीलंका में ६००० फीट की ऊँचाई तक वन्य रूप में या उपजाई हुई मिलती है। कश्मीर, मणिपुर तथा नागालैण्ड में अधिक होती है। मैसूर के कोरतगीर तालुका में इसकी खेती प्रचुर परिमाण में की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वचा में १·५ से ३·५ प्रतिशत उड़नशील तैल होता है जिसमें प्रधानतः एसारिल ऐल्डीहाइड (Asaryl aldehyde) होता है। इसमें दो क्रियाशील तत्त्वों (A–Asarone and B–Asarone) का निरूपण किया गया है। इससे अतिरिक्त, एकोरिन (Acorin) नामक एक तिक्त ग्लुकोसाइड, युजिनौल (Eugenol), कैफीन (Caffeine), श्वेतसार तथा किञ्चित् कषाय द्रव्य भी पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त	**विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण	**प्रभाव**—मेध्य	

कर्म

दोषकर्म—यह कटु और उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, शामक, संज्ञास्थापन, आक्षेपशमन एवं वेदनास्थापन है। तीक्ष्ण होने के कारण यह तमोदोष के आवरण को हटाकर चेतना को उद्बुद्ध करता है और संज्ञानाश को दूर करता है।

पाचन संस्थान—कटु और उष्ण होने के कारण यह दीपन, तृसिघ्न, अर्शोघ्न, कृमिघ्न और शूलप्रशमन है। तीक्ष्ण होने से यह वमन और अनुलोमन है। वातहर होने से आस्थापन में भी उपयोगी है।

रक्तवह संस्थान—यह हृदय की गति को मन्द करता है तथा रक्तभार को भी कुछ कम करता है।

श्वसन संस्थान—कफवातहर होने से यह कास-श्वासहर और कण्ठ्य है।

मूत्रवह संस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजनन संस्थान—गर्भाशय पर इसकी संकोचक क्रिया होती है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—यह लेखन है और धातुओं को क्षीण करता है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने के कारण यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफ-वातविकारों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य—सन्धिवात, आमवात, पक्षाघात आदि में इसका लेप किया जाता है। कर्णनाद तथा कर्णशूल में इसका स्वरस कानों में देते हैं। शूलयुक्त अर्श में इसकी धूनी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मानसदोषहर होने से उन्माद, अपस्मार आदि मानस रोगों में इसका भूरिशः प्रयोग किया जाता है। शामक होने से चिन्ता, शोक आदि में इसका प्रयोग लाभकर होता है। वातहर, आक्षेपशमन और वेदनास्थापन होने से पक्षाघात, अपतन्त्रक आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचन संस्थान—इसका प्रयोग अग्निमान्द्य, अरुचि, विबन्ध, आध्मान, उदरशूल, अर्श और कृमि में करते हैं। आमाजीर्ण में इससे वमन कराते हैं।

श्वसन संस्थान—वातश्लैष्मिक कास, प्रतिश्याय, कण्ठशोथ, स्वरभेद में इसका प्रयोग करते हैं। इन रोगों में वच का टुकड़ा मुंह मे रखकर चूसते भी हैं। श्वासरोग में १-२ ग्रा० वच का चूर्ण ५–१० ग्रा० सेंधानमक और ४०० मि० लि० पानी मिलाकर पीने से वमन होता है और श्वास का वेग कम हो जाता है।

मूत्रवह संस्थान—अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र में इसके प्रयोग से लाभ होता है।

प्रजनन संस्थान—कष्टप्रसव में केशर और पिप्पलीमूल के साथ इसका प्रयोग करते हैं। कष्टार्तव में भी इसका प्रयोग लाभकर है।

त्वचा—स्वेदजनन और उत्तेजक होने से विविध त्वग्रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में कर्शन के लिए इसका प्रयोग होता है। बुद्धिवर्धनार्थ कुमाररसायन में इसका प्रयोग किया जाता है। जो बच्चे जन्म के बाद जल्दी नहीं बोलते या हकलाते हैं उनमें वाक्शक्ति को बढ़ाने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—सन्निपातज्वर में देने से ज्वर शान्त होता है और मस्तिष्क भी ठिकाने रहता है। बालकों के दाँत निकलते समय जो ज्वर, दौर्बल्य आदि उपद्रव होते हैं उनको यह दूर करता है।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल एवं भौमिक काण्ड।

मात्रा—१२५–५०० मि० ग्रा०; वमनार्थ १-२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—सारस्वत चूर्ण, मेध्य रसायन।

अहित प्रभाव—यह पित्तप्रकृति के लिए हानिकर होता है।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिये सौंफ और नींबू का शर्बत देना चाहिए।

'वामनी कटुतिक्तोष्णा वातश्लेष्मरुजापहा।
कण्ठ्या मेध्या च कृमिहृद्विबन्धाध्मानशूलनुत् ॥ (ध० नि०)
'वचोग्रगन्धा षड्ग्रन्था गोलोमी शतपर्विका।
विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधनी ॥
'अपस्मारकफोन्मादभूतजन्त्वनिलान् हरेत्।' (भा० प्र०)
'सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
·········कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनः॥' (सु० शा० १०)
'यः खादेत् क्षीरभक्ताशी माक्षिकेण वचारजः।
अपस्मारं महाघोरं सुचिरोत्थं जयेद् ध्रुवम् ॥' (चक्र०)
'दिवारात्रिं वचाग्रन्थिं मुखे संधारयेत् भिषक्।
तेन सौख्यं भवेत्तस्य मुखरोगाद्विमुच्यते ॥' (हा०)
'वचालवणतोयेन वान्तिरामे प्रशस्यते'—(वृ० मा०)

M.P.I., I, 18–22.

१०. जटामांसी

परिचय

गुण—संज्ञास्थापन (च०)।

कुल—मांसी-कुल (वेलिरियनेसी–Valerianaceae)।

नाम—लै०-नार्डोस्टैकिस जटामांसी (Nordostachys jatamansi DC); सं०–जटामांसी (जटायुक्त मांसलकन्द वाली, भूतजटा (भूतों के समान जटा वाली), तपस्विनी (जटायुक्त होने से), सुलोमशा (अधिक रोमों वाली), नलदा (नलं गन्धं ददाति–सुगन्धित); म० गु०—जटामांसी, ता० ते० कन्न० मल०–जटामांसी, क०—भूतिजट्ट, कुकिलिपोट, ने०–हसवा, नसवा, जटामाड़ासी, भू०–पम्पे, जटामाँसी ; अ०—संबुलुतिब, संबुले हिन्दी; फा०–नारदे हिन्दी ; अं०–स्पाइकनार्ड (Spikenard)

स्वरूप—यह सरल बहुवर्षायु क्षुप है। इसका **काण्ड** ४-२४ इञ्च लम्बा होता है। **मूलीय पत्र** ६-८ इञ्च लम्बे और १ इञ्च चौड़े होते हैं जो पत्रवृन्त की ओर संकुचित रहते हैं तथा जिन पर अनुलम्ब नाड़ियाँ होती हैं। **काण्डीय पत्र** १-२ जोड़े होते हैं जो १-३ इञ्च लंबे, अवृन्त, आयताकार या उपलट्वाकार होते हैं। **पुष्पमुण्डक**-१, ३ या ५ जिन पर गुलाबी या नीले फूलों के गुच्छे होते हैं। **फल**-$\frac{1}{6}$ इंच

लम्बे, ऊर्ध्वगामी सफेद रोमों से आवृत होते हैं तथा जिन पर अंडाकार, तीक्ष्णाग्र, दन्तुर बहिर्दल लगे होते हैं। **मूल** काष्ठीय, लम्बे, दृढ गहरे-भूरे और शीर्ण पत्रवृन्तों के रक्तिम भूरे सूत्रगुच्छों से आच्छन्न रहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ११-१७ हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय में पञ्जाब से सिक्किम और भूटान तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्य सत्त्व के रूप में एक उड़नशील तैल १.६ प्रतिशत होता है। यह तैल हलके पीतवर्ण का, जल से हलका, हवा में जमने वाला, कर्पूरगन्धि और कटु—तिक्त होता है। इसके अतिरिक्त, जटामांसिक और जटामांसोन नामक कार्यकारी तत्त्व पाये गये हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध। **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर।
विपाक—कटु। **वीर्य**—शीत।
प्रभाव—भूतघ्न (मानसदोषहर)

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध होने से वात, शीत और तिक्त—कषाय मधुर होने से पित्त एवं तिक्त-कषाय होने से कफ का शामक है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका प्रलेप दाहप्रशमन, वर्ण्य एवं वेदनास्थापन है। यह स्वेदाधिक्य को रोकता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह संज्ञास्थापन, मेध्य, बल्य, आक्षेपशमन, वेदनास्थापन निद्राजनन एवं शामक है।

पाचन संस्थान—तिक्त होने के कारण यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृत्तेजक और पित्तसारक है। अनुलोमन और वातप्रशमन होने से यह शूलप्रशमन भी है।

रक्तवह संस्थान—यह हृदयनियामक है तथा रक्तभार को कम करता है।

श्वसन संस्थान—तिक्त होने से यह कफनिःसारक है।

मूत्रवह संस्थान—यह वृक्कों को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र अधिक निकलता है।

प्रजनन संस्थान—यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, कुष्ठघ्न और केशवर्धन है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक है।

तापक्रम—तिक्त होने से ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

अहित प्रभाव—बड़ी मात्रा में देने से इससे वमन, पेट में मरोड़ और विरेचन होता है। वृक्कों में भी क्षोभ होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषहर होने से सान्निपातिक विकारों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, शूल एवं दाह में इसका प्रलेप करते हैं। व्रणशोथ पर लेप करने से लाभ होता है। वर्णविकार में इसका लेप करते हैं। स्वेदाधिक्य एवं स्वेददौर्गन्ध्य में इसका अवचूर्णन किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—अपस्मार, अपतन्त्रक, मूर्च्छा आदि रोगों में जिनमें भूतावेश जैसी चेष्टा हो जाती है इसके प्रयोग से लाभ होता है। अत एव यह भूतघ्न और रक्षोघ्न कहा गया है। मेध्य होने से स्मृतिह्रास आदि मस्तिकदौर्बल्य-जनित लक्षणों में इसका प्रयोग होता है। शिरःशूल की यह प्रसिद्ध औषध है। शामक होने से चित्तोद्वेग आदि में लाभकर है। अनिद्रा में भी यह अच्छा कार्य करती है।

पाचन संस्थान—दीपन, पाचन, और अनुलोमन होने से इसका प्रयोग अग्निमांद्य, आनाह, उदरशूल और आमाशयशोथ में करते हैं। पित्तसारक होने से यकृच्छोथ और कामला में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवह संस्थान—हृदय की अनियमितता के कारण उत्पन्न हृद्द्रव में यह उपयोगी है। इसका क्रियाशील तत्व जटामांसोन की क्रिया क्विनिडीन से भी अच्छी होती है। १० ग्राम जटामांसी ५० मि० लि० गरम जल में ४-५ घण्टे भिगोकर देने से हृद्द्रव शान्त होता है। रक्तभाराधिक्य की भी यह एक उत्तम औषध है।

श्वसन संस्थान—कफघ्न होने से कास-श्वास में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवह संस्थान—मूत्रकृच्छ्र और बस्तिशोथ में इसका उपयोग करते हैं।

प्रजनन संस्थान—वाजीकरण होने से यह क्लैब्य में उपयोगी है। आर्त्तवजनन होने से रजःकृच्छ्र और गर्भाशयशोथ में लाभकर होता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से विभिन्न चर्मरोगों और विसर्प आदि में प्रयुक्त होता है। केशवृद्धि के लिए इसका तैल लगाते हैं। दक्षिण में इस तैल का प्रचार अधिक है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—सन्निपात ज्वर में यह विशेष उपयोगी है। इसके प्रयोग से ज्वर कम होता है, नाडी को शक्ति मिलती है, मस्तिष्क शान्त रहता है और दाह आदि उपद्रव भी दूर होते है।

प्रयोज्य अंग—मूल। **मात्रा**—२-४ ग्रा०।

विशिष्ट योग—मांस्यादि क्वाथ, रक्षोघ्न घृत, सर्वौषधि स्नान।

× × × ×

'जटामांसी भूतजटा जटिला च तपस्विनी। मांसी तिक्ता कषाया च मेध्या कान्तिबलप्रदा॥
स्वाद्वी हिमा त्रिदोषास्रदाहवीसर्पकुष्ठनुत्॥' (भा. प्र.)

'सुरभिस्तु जटामांसी कषाया कटुशीतला। कफहृद् भूतदाहघ्नी पित्तघ्नी मोदकान्तिकृत्॥'
(रा. नि.)

जटामांसी तु तुवरा शीतला कान्तिकारिका।
बल्या कट्वी स्वादुतिक्ता कफान्तर्दाहपित्तहा॥
विसर्पकुष्ठत्वग्दोषभूतबाधाज्वरापहा। दाहं त्रिदोषं वातं च रक्तदोषं विषं हरेत्॥'
(नि. स.)

R. B. Arora : Nardostachys jatamansi–a chemical, pharmacological and clinical appraisal, I.C.M.R., 1975 (Special report series No. 51)

११. चोरक

गण—संज्ञास्थापन (च०)

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)

नाम—लै०–ऐञ्जलिका ग्लोका (Angelica glauca Edgew), सं०–क्षेमक, तस्कर; हि०, पं०–चोरा।

स्वरूप—इसका पौधा ४-१२ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**–द्विधा या त्रिधा त्रिखण्डित या द्विपक्षीय, पत्रक १-३ इञ्च, लट्वाकार, दन्तुर, अधस्तल में क्षोदयुक्त। **पुष्प**–सफेद या बैंगनी, पुष्पछत्रक संयुक्त, दीर्घवृन्त, रश्मियाँ २०-३०, १–३ इञ्च लम्बी; **फल**–१/२ × १/४ इञ्च, उपचतुष्कोण, **बीज**–१/१६ इञ्च से कम चौड़े, मोटाई से चौड़ाई लगभग दूनी, भीतर की ओर परिखायुक्त।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी हिमालय में कश्मीर से शिमला तक ८ से १० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में १.३ प्रतिशत सुगन्धित तैल होता है। इसके कारण इसके काण्ड, मूल और फलों का व्यवहार पश्चिमोत्तर प्रदेशों में मद्य और मिष्टान्न आदि को सुगंधित बनाने के लिए करते हैं। भोजन में मसाले के रूप में भी इसका प्रयोग होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण   **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने के कारण यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक-बाह्य—यह शीतप्रशमन तथा रक्षोघ्न है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान–यह मेध्य तथा संज्ञास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर तथा श्वासहर है।

त्वचा—स्वेदजनन एवं कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह बल्य एवं विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शीतज्वर में इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। अपस्मार में इसके चूर्ण का उत्सादन करते हैं। प्रतिश्याय तथा पीनस में इससे सिद्ध तैल का नस्य लेते हैं। क्रिमिघ्न तथा सुगन्धित होने के कारण कुमारागार में कुमार के वस्त्रों के धूपन के लिए गुग्गुल आदि के साथ इसका प्रयोग विहित है।

आभ्यन्तर—नाड़ीसंस्थान–मेध्य और संज्ञास्थापन होने के कारण उन्माद और अपस्मार में इससे सिद्ध घृत का प्रयोग होता है। मनोविकारों में विहित वामक योगों के साथ इसका मिश्रण करते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन–अनुलोमन होने के कारण अग्निमांद्य, आध्मान, उदरशूल में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में हितकर है।

श्वसनसंस्थान—वातिक कास और श्वास के लिए यह उत्तम औषध है। इससे वेग का शमन होता है और कफवात का भी निवारण होता है।

त्वचा—स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न होने के कारण बच्चों के रोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—वाग्भट ने कुमारपुष्टिकृत् घृत में इसका प्रयोग किया है। सुश्रुत के विषघ्न एकसर गण में इसका पाठ है। यह सर्प, मूषक आदि विषों में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल; **मात्रा**–१–३ ग्रा०

विशिष्ट योग—महापैशाचिक घृत, रास्नादि चूर्ण।

वक्तव्य—इसकी एक और जाति A. archangelica Linn. भी पाई जाती है। यह संहितोक्त 'चण्डा' है। इसके गुणधर्म चोरक के समान ही हैं।

\+ \+ \+ \+

चोरकोऽशिशिरोऽत्यन्तं विषरक्तान्तकारकः।
कुष्ठकण्डूव्रणान् हन्ति व्रणाद् दोषान् प्रयोगतः॥
चोरकश्चोग्रगन्धश्च तिक्तः कृमिसमीरजित्। (ध. नि.)

चोरको मधुरस्तिक्तः कटुः पाके कटुर्लघुः ।
तीक्ष्णो हृद्योऽहिमो हन्ति कुष्ठकण्डूकफानिलान् ॥
रक्षोऽश्रीस्वेदमेदोऽसृग्ज्वरगन्धविषव्रणान् । (भा. प्र.)
जात्याः सौमनसायिन्याः रजन्याश्चोरकस्य वा ।...
पूतं मनोविकारेषु पिबेद् वमनमुत्तमम् ॥ (च. क. ४।१६–१८)

हिंगुकैटर्यारिमेदावचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलंकषाशोकरोहिण्य इति दशेमानि संज्ञास्थापनानि भवन्ति । (च. सू. ४।४८)

निद्राजनन

१२. सर्पगन्धा

गण—अपराजित (मू०) ।

कुल—कुटज कुल (एपोसाइनेसी–Apocynaceae)

नाम—लै०–राव्रोल्फिया सर्पेण्टिना (Rauwolfia serpentina Benth ex. Kurz.), सं–सर्पगन्धा (सर्पान् गन्धयति अर्दयति इति—जो सर्पों को पीड़ित करे, दूर भगावे); धवलविटप (धावति शोधयति मनो देहञ्च इति धवलः–जो वनस्पति मन और शरीर को शुद्ध करे); चन्द्रमारः (चन्द्रमाह्लादं मारयति–जो मन की तीव्रता को शान्त करता है); हि०–धवलबरुआ; विहार–धनमरवा, चँदमरवा, इसरगज; बं०–चाँदर, छोटा चाँद; म०–अडकई, सायसन; गु०–अमेलपोदी; ते०–पाटलागानि; ता०–चिवनअमेलपोडी; मल०–चिवन अवलपोरी; क०–सूत्रनवी ।

स्वरूप—इसका सरल, सदाहरित क्षुप १ से ३ फीट तक ऊँचा होता है । **पत्र**—३–७ इञ्च लम्बे, २–२½ इञ्च चौड़े, अण्डाकार–भालाकार या अभिलट्वाकार, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र होते हैं । नीचे की ओर इनका रंग हलका हरा और ऊपर की ओर गहरा हरा होता है । पत्रसिरायें—८–१२ तथा पत्रवृन्त ¼–½ इञ्च लंबा होता है । प्रत्येक काण्डपर्व से ३–४ पत्र निकलते हैं । **पुष्प**—श्वेत या गुलाबी, गुच्छों में होते हैं । **फल**—मटर के समान चिकने हरे और पकने पर काले, व्यास में ¼–⅓ इञ्च होते हैं । ग्रीष्मकाल में पुष्प और वर्षाकाल में फल निकलते हैं । **मूल**–दृढ़, ४० से. मी. लम्बे और २ से. मी. व्यास के होते हैं । यह टेढ़े-मेढ़े, जगह-जगह गाँठदार, शाखायुक्त, तथा अनियमित अनुलम्ब धारियों से युक्त होते हैं । तोड़ने पर इसके टुकड़े छोटे और अनियमित निकलते हैं । मूलत्वक् कपिश पीत से भूरे रंग की तथा काष्ठ पाण्डुर पीत वर्ण का होता है । मूल गन्धहीन एवं अतितिक्त होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विकीर्ण रूप से होता है, कहीं भी एकत्र अधिक परिमाण में नहीं मिलता । इसके अतिरिक्त बर्मा, लंका, जावा, थाइलैण्ड

आदि में भी मिलता है । यह समुद्रतल से ४ हजार फीट की ऊँचाई तक आर्द्र जंगलों में तथा छायादार स्थानों में होता है । इसके मूलों की आपूर्ति विशेषतः उत्तरप्रदेश बिहार, उत्कल, पश्चिम बंगाल, आसाम, आन्ध्र, मद्रास, केरल, मैसूर तथा महाराष्ट्र से होती है । देहरादून, लखनऊ, जम्मू- इन्दौर आदि केन्द्रों में इसकी उपज की जाती है ।

रासायनिक संगठन—उत्पत्तिस्थान के अनुसार इसमें १.७ से ३ प्रतिशत तक क्षाराभ होते हैं । राबुल्फिया की विभिन्न जातियों में लगभग ८० क्षाराभ पाये गये हैं जिनमें रेसर्पिन प्रमुख है । इसके अतिरिक्त, डेसर्पिडिन, रेसर्पिनिन, सर्पेण्टिन, सर्पेण्टिनिन, सर्पाजिन, अजमलीन, आइसोअजमलीन, राबुल्फिनिन, योहिम्बिन (राबुल्सिन) आदि क्षाराभ पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—रूक्ष **रस**—तिक्त **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण **प्रभाव**—निद्राजनन

कर्म

दोषकर्म—उष्णता के कारण यह कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म—नाडीसंस्थान–यह शामक एवं निद्राजनन है । वातशामक होने से यह मस्तिष्कगत उत्तेजना को शान्त करता है ।

पाचन संस्थान—उष्ण होने से यह पित्तवर्धक, स्रंसन तथा तिक्त होने से कृमिघ्न है ।

रक्तवह संस्थान—यह हृदयावसादक और रक्तभारशामक है ।

प्रजनन संस्थान—यह कामावसादक तथा गर्भाशयसंकोचक एवं आर्त्तवजनन है ।

तापक्रम—तिक्तरस के कारण यह आमपाचन और ज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफजवात विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग—नाडीसंस्थान–उन्माद और अपस्मार में जब रोगी बहुत उत्तेजित रहता है तब इसे देते हैं । इससे मन शान्त रहता है और धीरे-धीरे मस्तिष्क का विकार दूर हो जाता है । अनिद्रा में नींद लाने के लिए रात में सोते समय घी के साथ इसका प्रयोग करते हैं । लोक में इसी कारण यह 'पागलपन की जड़ी' के नाम से प्रसिद्ध है ।

पाचन संस्थान—इसका प्रयोग क्रिमिरोग में करते हैं। आमज विबन्धशूल में १ भाग सर्पगन्धामूल, २ भाग कुटजत्वक् और ३ भाग व्याघ्रैरण्डमूल मिलाकर दुग्ध के साथ सेवन कराते हैं।

रक्तवह संस्थान—रक्तभाराधिक्य (High blood pressure) में इसका भूरिशः प्रयोग आजकल हो रहा है और विश्व भर में इस रोग की यह सर्वोत्तम औषध मानी जाती है। इससे रक्तभार में पर्याप्त कमी आ जाती है, नींद भी आती है, भ्रम आदि मानसिक विकार भी शान्त रहते हैं और अन्य कोई उपद्रव भी नहीं होने पाता।

प्रजनन संस्थान—कामावसादक होने से अकारण ध्वजोच्छ्राय एवं कामातिशय की अवस्था में इसका प्रयोग करते हैं। कष्टार्त्तव तथा कष्टप्रसव में भी देते हैं।

तापक्रम—तीव्रज्वर में इसका प्रयोग करने से ज्वर भी कम हो जाता है और प्रलाप, उद्वेग, आदि उपद्रव भी शान्त हो जाते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

सर्पगन्धा के छायाशुष्क मूल औषध में प्रयुक्त होते हैं।

इसके कार्यकारी तत्त्व मूलत्वचा में लगभग ९०% पाये जाते हैं। अतः इसके मूल का संग्रह त्वचासहित, शरद् ऋतु में तथा ३-४ साल के पौधों से करना चाहिए।

मात्रा—रक्तभार कम करने के लिए—१-२ ग्रा०

निद्राजनन के लिए—३-६ ग्रा०

उन्माद में—३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—सर्पगन्धादि चूर्ण, [1]सर्पगन्धा योग, [2]सर्पगन्धा वटी। सत्व तथा सुरासार का भी प्रयोग होता है।

वक्तव्य—उत्तेजित और बलवान् रोगियों पर ही इसका प्रयोग करना चाहिये। दुर्बल और मनोवसादयुक्त रोगियों पर सावधानी से प्रयोग करना चाहिये।

× × ×

कुक्कुटी सर्पगन्धा च तथा काणविषाणिके।···नैपाली हरितालश्च रक्तोघ्ना ये च कीर्तिताः॥

(सु. उ. ६०)

'वर्षासु छत्राकारा' (डल्हण)

ईषन्नीलारुणसुमदला पुष्पिता ग्रीष्मकाले। वर्षाकाले फलपरिचितिं नीलरक्तां दधाति॥
मूलं यस्या हरिणधवलं स्थूलमन्तःस्थचक्रम्। चन्द्राख्या सा धवलविटपा सर्पगंधा प्रसिद्धा॥

सर्पगन्धाऽतितिक्तोष्णा रूक्षा कटुविपाकिनी। पित्तवृद्धिकरी रुच्या शूलप्रशमनी सरा॥
कफवातहरा निद्राप्रदा हृदवसादिनी। कामावसादिनी चैव हन्ति शूलज्वरक्रिमीन्॥
अनिद्रां भूतमुन्मादमपस्मारं भ्रमं तथा। अग्निमान्द्यं विषं रक्त-वाताधिक्यं व्यपोहति॥'

(स्व०)

I. P., 631-637.
W. I., viii, 376-390.

वेदनास्थापन

१३. रास्ना

गण—अनुवासनोपग, वयःस्थापन (च.)। अर्कादि गण, श्लेष्मसंशमन वर्ग (सु.)

कुल—भृंगराज कुल—(कम्पोजिटी—Compositae.)

नाम—लै०-प्लुचिया लैन्सिओलेटा (Pluchea lanceolata C.B.Clarke) सं०-रास्ना (जिसके पत्र जिह्वासदृश हों, जो रसादि धातुओं को बढ़ावे या वातरोगी जिसमें रस ले-जिसका सेवन करे); युक्ता (जो अनेक रोगों में प्रयुक्त हो); सुरभि, सुगन्धा (जिसके गन्ध हो), एलापर्णी (जिसके पत्र इलायची के सदृश हो). हि०-रायसन, वायसुरई, पं०-सरमई, रेशभी; मा०-छोटीकलिया; दिल्ली-रखड़ी; सिन्ध-कोरसन।

स्वरूप-इसका **क्षुप**-१-४ फीट ऊँचा झाड़ीदार होता है। काण्ड रोमश; **पत्र**-एकान्तर, २-६ से० मी० लम्बे, अवृन्त, अभिभालाकार या आयताकार; **पुष्प**-श्वेत, पीत या बैंगनी रंग के, संयुक्त समस्थ-काण्डज व्यूहों में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ऊपरी गंगा के मैदानों, पंजाब, राजस्थान, गुजरात के बलुई या नमकीन मिट्टी में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में क्वर्सिटीन तथा आइजोरैमनेटिन नामक तत्त्व पाये जाते हैं। इसके पंचांग से प्लुचिन नामक पदार्थ निकाला गया है।

गुण

गुण—गुरु **रस**—तिक्त **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण **प्रभाव**—विषघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवात-शामक है। वातशामक द्रव्यों में रास्ना सर्वोत्तम मानी गई है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य-यह लेप के रूप में प्रयोग करने पर शोथहर, शीतहर तथा वेदनाशामक है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह उत्तम वेदनास्थापन है।

पाचन संस्थान—यह आमपाचन, शूलप्रशमन तथा रेचन है।

रक्तवह संस्थान—यह तिक्त होने के कारण रक्तशोधक हैं।

श्वसन संस्थान—यह कासहर तथा श्वासहर है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न, वृष्य एवं रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफज तथा वातिक विकारों में होता है। विशेषतः वातव्याधि के लिए यह एक उत्तम औषध है।

संस्थानिक प्रयोग—बाह्य-शरीर में ठंढक को दूर करने तथा गर्मी लाने के लिए इसका लेप किया जाता है। रास्ना और अगुरु का लेप सर्वोत्तम शीतहर कहा गया है। शोथ और वेदनायुक्त विकारों में भी रास्ना का लेप या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग कराते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वेदनायुक्त वातिक विकारों में अकेले रास्ना का या रास्नादि क्वाथ का सेवन कराते हैं।

पाचन संस्थान—यह आमदोष, गुल्म, उदरशूल तथा विबन्ध में दिया जाता है। इससे आम का पाचन होकर शूल शान्त हो जाता है तथा आमजन्य विष का भी निराकरण हो जाता है। रेचन होने से मल का भी संशोधन हो जाता है।

रक्तवह संस्थान—यह वातरक्त आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसन संस्थान—यह कास, श्वास तथा राजयक्ष्मा में लाभकर है।

तापक्रम—यह आमपाचन कर ज्वर को शान्त कर देता है अतः यह आमवात में बहुशः प्रयुक्त होता है। इससे सन्धियों का शोथ, पीड़ा आदि दूर होकर ज्वर भी उतर जाता है।

सात्मीकरण—यह विषाक्त स्थितियों में देने से लाभ करता है। बलवर्धक के रूप में भी इसका अनेक रूपों में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—रास्नादि क्वाथ, रास्नादि तैल, रास्नादि घृत।

× × × ×

'रास्ना वातहराणाम्'—(च० सू० २५)

'रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्'—(च० सू० २५)

'रास्नाऽऽमपाचनी तिक्ता गुरूष्णा कफवातजित्।

शोथश्वाससमीरामवातशूलोदरापहा ॥

कासज्वरविषाशीतिवातिकामयसिध्महृत्।'—(भा० प्र०)

D. N. Prasad et. ai : I. J. M. R., 54, 6, 582–589, 1966.

१४. कदम्ब

गण—वेदनास्थापन, शुक्रशोधन, वमनोपग (च०) न्यग्रोधादि, रोध्रादि (सु.)

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी–Rubiaceae)

नाम—लै०–ऐन्थोकिफेलस इण्डिकस (Anthocephalus indicus Miq.) सं०–कदम्ब, नीप, प्रियक, वृत्तपुष्प (गोलपुष्प वाला), हलिप्रिय (वर्षाकाल में पुष्पित होने से किसानों का प्रिय); हि०–कदम; बं०–कदमगाछ; मं०–राजकदम्ब; गु०–कदम्ब।

स्वरूप—इसके वृक्ष लगभग ३० फीट ऊँचे और ५–७ फीट मोटे होते हैं। काण्ड सीधा होता है। **पत्र**–५–१० इंच लम्बे, आयताकार या लट्वाकार, महुए के पत्र के समान, स्निग्ध होते हैं और इस पर सिरायें बड़ी स्पष्ट होती हैं। **पुष्प**–छोटे-छोटे, नारंगी रंग के होते हैं। बाह्यदल उठे हुए अभिभालाकार, ·१२ इञ्च लम्बे; अन्तर्दल ·३ इञ्च लंबे और बाहर निकली हुई सफेद कुक्षि होती है। **फल**–गोल, कठिन, मांसल, नारंगी रंग के, २–२.५ इंच व्यास के होते हैं।

जातियाँ—निघंटुओं में इसकी अनेक जातियों का उल्लेख मिलता हैं। यथा १. धाराकदम्ब–जिसके पुष्प बरसात में आते हैं। २. धूलिकदम्ब–इसके पुष्प बरसात के पहले बसन्त या ग्रीष्म में आते हैं। ३. भूमिकदम्ब इसका वृक्ष छोटा होता है और पुष्प भी छोटे होते हैं। धाराकदम्ब का यहाँ वर्णन किया गया है। धूलिकदम्ब Mitragyna parviflora (Roxb.) korth तथा भूमिकदम्ब इसकी छोटी जाति M. rotundifolia (Roxb.) kuntze हो सकता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई में नेपाल से वर्मा तक तथा दक्षिण में मैसूर और पश्चिमी घाट में बहुतायत से पाया जाता है। आसाम और अण्डमन द्वीप से इसकी आपूर्त्ति विशेष रूप से होती है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में cinchotannic acid के समान एक कार्यकारी द्रव्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें क्षाराभ, स्टिरायड, वसा तथा reducing sugars पाये जाते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय **विपाक**—कटु
वीर्य—शीत **प्रभाव**—वेदनास्थापन

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह बाह्य प्रयोग करने पर वेदनास्थापन, शोथहर और व्रण का शोधन एवं रोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—इसकी छाल तिक्त होने से दीपन-पाचन तथा कषाय होने से ग्राही, तृष्णानिग्रहण एवं छर्दिनिग्रहण है। इसका फल गुरु एवं विष्टम्भकारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रजनन, मूत्रविरजनीय एवं अश्मरीशर्करा-नाशन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रशोधन, स्तन्यशोधन तथा योनिदोषहर है।

त्वचा—यह वर्ण्य है अतः वर्णविकारों को दूर करता है।

तापक्रम—तिक्त होने से आमपाचन एवं ज्वरघ्न है और इसका कार्य कुनैन के समान होता है अतः इसे वन्य कुनैन (Wild cinchona) कहते भी हैं। शीत होने से यह दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह शरीर में धातुओं की वृद्धि करता है तथा विषनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों के आच्छादनार्थ इसके पत्र का प्रयोग करते हैं। व्रणशोथ एवं वेदना में इसके पत्रों को गरम कर बाँधते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसकी छाल का लेप नेत्र के चारों ओर करते हैं। कदम्बपत्र-क्वाथ से व्रण धोते हैं तथा मुख रोगों में गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदना की शान्ति के लिए कदम्बत्वक् का क्वाथ उपयोगी होता है।

पाचनसंस्थान—अतिसार और ग्रहणी में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं। इसकी त्वक् का चूर्ण या रस जीरा का चूर्ण और चीनी के साथ देने से वमन रुक जाता है। इसके फल का रस ज्वरजन्य पिपासा को शान्त करने के लिए देते हैं। रक्तातिसार में भी इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्त और शोथ रोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग किया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का क्वाथ अश्मरी, शर्करा एवं मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह एवं योनिव्यापद् में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं। प्रदर में इसके पत्रस्वरस एवं क्वाथ का प्रयोग करते हैं। स्तन्यवृद्धि के लिए इसके फलस्वरस का उपयोग होता है।

त्वचा—व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में कदम्बत्वक् का लेप करते हैं।

तापक्रम—इसकी छाल ज्वरघ्न है अतः इसका प्रयोग ज्वर, दाह में करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विषों में इसका छाल एवं फल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—त्वक्चूर्ण ३-६ ग्रा०, फलस्वरस १०-२० मि. लि.।

'सुगन्धिपुष्पः स्वाद्वम्लपक्वसस्यो महोन्नतः। मधूकपत्रसदृशपत्रो राजकदम्बकः॥'
(शि. द.)

'कदम्बस्तिक्तकटुकः कषायो वातनाशनः। शीतलः कफपित्तार्तिनाशनः शुक्रवर्धनः।
त्रिकदम्बाः कटुवर्ण्या विषशोफहरा हिमाः। कषायास्तिक्तपित्तघ्ना वीर्यवृद्धिकराः पराः॥'
(रा. नि.)

'कदम्बस्तु कषायः स्याद्रसे शीतो गुणेऽपि च। व्रणसंरोहणश्चापि कासदाहविषापहः॥'
(ध. नि.)

'तत्फलं मधुरं शीतं गुरु पित्तास्रवातजित्।' (कै० नि०)

१५. पद्मक

परिचय

गुण—वेदनास्थापन, वर्ण्य, कषायस्कन्ध (च०), सारिवादि, चन्दनादि (सु०)।

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी-Rosaceae)

नाम—लै०—प्रुनस सिरेसॉयडिस (Prunus cerasoides D. Don.); सं०-पद्मगन्धि (कमल के समान गन्धयुक्त), पद्मक (कमल के समान); हि०-पद्माख, पद्मकाठ; कुमायूँ-पइयाँ, म० गु०-पद्मकाष्ठ; अं०-बर्ड चेरी (Bird cherry)

स्वरूप—इसके मध्यम प्रमाण या बड़े वृक्ष होते हैं जो पुष्प निकलने पर बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। **काण्ड**-गोलाकार, लोहिताभ, ग्रन्थियुक्त होता है तथा इसमें कमल के समान गन्ध होती है। इसकी त्वचा स्निग्ध भूरे रंग की होती है। छाल के अनुपस्थ टुकड़े छूटते रहते हैं जिससे चमकीला ताम्रवर्ण पृष्ठ भाग उभरता

है। **पत्र**–३–५ इञ्च लम्बे, दन्तुर, चिकने होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या गुलाबी, पद्मगन्धि गुच्छों में होते हैं। पुष्पदंड ½–१ इञ्च लंबा होता है। **फल**–आयताकार या अंडाकार, चिकना, १·२५ से० मी० लंबा पीला या लाल होता है। इसमें मज्जाभाग कम तथा बीज कठिन होता है। फलमज्जा पीताभ या रक्ताभ, अम्ल होती है। पौष मास में पुष्प एवं फाल्गुन मास में फल आते हैं।

जाति–दार्जिलिंग की पहाड़ियों में इसकी दो उपजातियाँ पाई जाती हैं। पहली (Var. rubeus ingram) का वृक्ष बहुत बड़ा लगभग ६० फीट तक ऊँचा होता है जिसमें फूल मार्च महीने में आते हैं। दूसरी (Var. majestica ingram) का वृक्ष उससे छोटा लगभग ३०–३५ फीट ऊँचा होता है जिसमें पुष्प बरसात के बाद अक्टूबर-नवम्बर मास में निकलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेश-कश्मीर, गढ़वाल से सिक्किम और भूटान तक ५–८ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में सकुरानेटिन, जेंक्वानिन, प्रुनेटिन, पद्मकाष्टीन, सकुरानिन, पद्मकाष्ठिन, टैक्सिफोलिन, पद्मेटिन प्रभृति कार्यकारी द्रव्य पाये जाते हैं। छाल से पर्याप्त गोंद निकलती है।

गुण

गुण—लघु **रस**—कषाय, तिक्त **विपाक**—कटु
वीर्य—शीत **प्रभाव**—वेदनास्थापन

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म—**बाह्य**—इसका प्रलेप वर्ण्य, कण्डूघ्न, कुष्ठघ्न एवं दाह-प्रशमन है।

आभ्यन्तर—**नाडीसंस्थान**-इसकी छाल में स्थित तत्त्व की क्रिया इस संस्थान पर विशेष रूप से होती है, जिसके कारण इसका वेदनास्थापन प्रभाव है।

पाचनसंस्थान—कषाय होने से स्तम्भन तथा छर्दिनिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय एवं पित्तशामक होने से यह रक्तस्तम्भन तथा रक्तपित्तहर है।

मूत्रवहस्थान—इसका बीज मूत्रल है।

प्रजनन संस्थान—यह शीत तथा कषाय होने के कारण गर्भस्थापन है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

त्वचा—शीत कषाय होने से स्वेदापनयन एवं तिक्त होने से कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त होने के कारण यह आमपाचन और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—**बाह्य**–वर्णविकार, कण्डू, कुष्ठ, विसर्प एवं दाह में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर—**नाडीसंस्थान**–वेदनास्थापन होने से नाडीशूल आदि वेदना-प्रधान रोगों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से आमाशयशैथिल्य, वमन और तृष्णा में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—कफपित्तशामक और स्तम्भन होने से कफपैत्तिक हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—इसकी बीजमज्जा का प्रयोग अश्मरी और शर्करा में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्राव आदि गर्भाशय-दौर्बल्यजनित विकारों में इसका प्रयोग होता है। गर्भावस्था में बराबर इसका सेवन करने में गर्भपात आदि का भय नहीं रहता।

सात्मीकरण—विष में यह उपयोगी।

त्वचा—अतिस्वेद एवं कुष्ठ में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक् और बीजमज्जा।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०।

× × ×

'पद्मकं शिशिरं स्निग्धं कषायं रक्तपित्तनुत्। गर्भस्थैर्यकरं प्रोक्तं ज्वरच्छर्दिविषापहम् ॥
मोहदाहज्वरभ्रान्तिकुष्ठविस्फोटशान्तिकृत्।' (ध० नि०)
'पद्मकं शीतलं तिक्तं रक्तपित्तविनाशनम्।' (रा० नि०)
'पद्मकं तुवरं तिक्तं शीतलं वातहल्लघु। विसर्पदाहविस्फोटकुष्ठश्लेष्मास्रपित्तनुत् ॥
गर्भसंस्थापनं वृष्यं वमिव्रणतृषाप्रणुत्।' (भा० प्र०)

W. I., viii, 264–266

१६. वेतस

गुण—वेदनास्थापन, हृद्य, श्वासहर (च०), न्यग्रोधादि (सु०)

कुल—वेतस-कुल (सैलिकेसी–Salicaceae)।

वर्ग—पञ्चवल्कल।

नाम—लै०-सैलिक्स कैप्रिआ (Salix caprea Linn); सं०-वेतस, वानीर, विदुल, हि०-पं-बेदमुश्क; अं०-गोट विलो (Goat willow)।

स्वरूप—इसका वृक्ष १५-३० फीट ऊँचा और ३-४ फीट मोटा होता है। **पत्र**-एकान्तर, चौड़े, दन्तुर अंडाकार या आयताकार होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण और पुंपुष्प सुगन्धित होते हैं। **बीज**-लंबे, रेशमी बालों से युक्त होते हैं। जाड़ों में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त में नई निकलती हैं। लगभग इसी के साथ पुष्प आते हैं और इसके २-३ मास बाद फल पकते है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालम क्षेत्र में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ८-१३ प्रतिशत कषायाम्ल होता है। इसके अतिरिक्त, छाल में डेल्फिडिनिन, सायनिडिन, पाइपकोलिक अम्ल, फ्रैजिलिन, पाइसीन, सैलिसिन, सैलिकार्टिन, सैलिरेप्रोसाइड, डाइएंड्रिन, विमलिन तथा सैलिकेज नामक इञ्जाइम पाया जाता है। पुंपुष्प में ग्लाइकोसाइड और सैपोनिन के अतिरिक्त क्षाराभ भी होते हैं। इनके अतिरिक्त डायोस्मेटिन, आइजोरेमनेटिन, कैप्रियोसाइड, सैलिकैप्रिओसाइड नामक तत्त्व पाये जाते हैं। सुगन्धित पुष्पों से ऊर्ध्वपातन द्वारा उड़नशील तैल प्राप्त होता है। पत्तियों से भी इस प्रकार एक तैल निकलता है।

पत्तियों पर एक मधुर निर्यास जम कर सूख जाता है जिसे वेद-अंजबीन कहते हैं।

गुण

गुण—लघु   **रस**—कषाय, तिक्त   **विपाक**—कटु

वीर्य—शीत   **प्रभाव**—वेदनास्थापन

कर्म

दोषकर्म—यह कषायतिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और मेध्य है। इससे मस्तिष्क को शान्ति एवं नाडियों को बल मिलता है।

पाचनसंस्थान—तिक्त होने से दीपन और कषाय होने से ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को बल देने वाला तथा रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कषाय होने से सन्धानीय और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—कषाय होने से योनिदोषहर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त एवं शीत होने के कारण यह ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तहर होने के कारण इसका प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द और शिरःशूल में अर्क बेदमुश्क का परिषेक करते हैं। इसकी छाल के क्वाथ से अर्श का परिषेक करते हैं। इससे वेदना और दाह की शान्ति होती है और रक्तस्राव बन्द होता है।

आभ्यन्तर नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, शिरःशूल एवं सन्धिवात आदि वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन होने से अग्निमांद्य तथा ग्राही होने से ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य होने के कारण हृद्दौर्बल्य में यह अतिशय उपयोगी है। इससे हृदय को शक्ति मिलती है। रक्तस्तम्भन होने से रक्तपित्त की सभी अवस्थाओं में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—इसका प्रयोग क्षय रक्तनिष्ठीवन, उरःक्षत और श्वास रोग में करते है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल होने के कारण मूत्रकृच्छ्र एवं अश्मरी में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा तज्जनित क्लैब्य में यह उपयोगी है। स्वप्नदोष की भी यह अच्छी औषध है। सोने के आध घण्टा पहले रात्रि में २० बूंद इसके तरल सत्त्व को ३० मि. लि. जल के साथ लेने से स्वप्नदोष रुक जाता है। योनिशैथिल्य में इसका क्वाथ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठघ्न होने से इसका प्रयोग रक्तविकार, विसर्प एवं कुष्ठ में करते हैं।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन होने से ज्वर विशेषतः पित्तज्वर, विषमज्वर और दाहज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल और पुष्प। छाल का स्वरस और क्वाथ तथा पुष्प का अर्क प्रयुक्त होता है। इनके अतिरिक्त वेतसशर्करा (बेद-अंजबीन) भी प्रयुक्त होती है।

मात्रा—स्वरस–२५–५० मि. लि., क्वाथ–२५–५० मि.लि., अर्क–२५–५० मि. लि.।

विशिष्ट योग—अर्क बेदमुश्क।

+ + + +

'वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत्।
हन्ति वीसर्पकृच्छ्रास्रपित्ताश्मरिकफानिलान्॥' (भा० प्र०)
'वेतसस्य द्वयं शीतं रक्षोघ्नं व्रणशोधनम्।
रक्तपित्तहरं तिक्तं सकषायं कफापहम्॥' (ध० नि०)

१७. जलवेतस

परिचय

गण—वेदनास्थापन, आसवयोनिसार (च०)।

कुल—वेतस–कुल (सैलिकेसी–Salicaeae)

नाम—लै०–सैलिक्स टेट्रास्पर्मा (Salix tetrasperma Roxb.); सं०–जलवेतस (जलासन्न प्रदेश में होने से) नादेय (नदी के किनारे होने के कारण), वञ्जुल, हि०–वेत, पं०–बिस, म०–वालुञ्ज, फा०–बेद, बेदसादा, अ०–खिलाफ़, सफसाफ, क०–यिर; बिंस।

स्वरूप—इसका वृक्ष वेतस से बड़ा लगभग ७५ फीट तक ऊँचा और १० फीट तक मोटा होता है। त्वचा भूरे या काले रंग की होती है जिसमें रूखी लम्बी दरारें होती हैं। **पत्र**–३–६ इञ्च लम्बा, सूक्ष्मरोमश, अण्डाकार या आयताकार दन्तुर होते हैं। पत्रपृष्ठ श्वेत एवं पत्रोदर हरा होता है। **पुष्प**–पाण्डुवर्ण, कोमल, एकलिंगी, मखमली, और कुछ सुगन्धि होते हैं। **फल**–कठिन और ७ मि. मी. लम्बा होता हैं, प्रत्येक फल में भूरे काले ४–६ बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा वर्षा में फल लगते हैं। इसकी टहनियों से टोकरे बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसके वृक्ष समूहबद्ध नदीनालों के किनारे तथा दलदल जमीन में होते हैं। हिमालय प्रदेश में ६००० फीट तथा नीलगिरि पहाड़ियों में ७००० फीट की ऊँचाई तक होते हैं। विशेषतः पश्चिमोत्तर भारत, कश्मीर आदि प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ६.५ प्रतिशत टैनिन पाया जाता है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म, प्रयोग वेतस के समान ही हैं। **विशेषकर विषों और जलसंत्रास** के लिए यह उत्तम औषधि बतलाई गई है।

+ + + +

'गुणे वेतसवद्वेद्यो जलजो वेतसोऽपि च।' (स्व०)
जलवेतसपत्रत्वङ्मूलं क्षुण्णं पचेज्जले।
स क्वाथः शीतलः पीतः परं श्वविषभेषजम्॥
तत्सिद्धं च घृतं पाननस्यभ्याञ्जनलेपनम्।
जलत्रासे समस्ते च विषे तद् गरुडोपमम्॥ (अ० सं० उ० ४६।६०)

१८. सूची

परिचय

कुल—कण्टकारी–कुल (सोलेनेसी–Solanaceae)।

नाम—लै०–ऐट्रोपा बेलाडोना (Atropa belladonna Linn.), हि०–साग-अंगूर, अंगूरशफा, पं०–सूची, बं०–येबरुज, बम्बई–गिरबूटी, क०–झलाकफल।

स्वरूप—इसका क्षुप ४–५ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**–३-८ इञ्च लम्बे, तीक्ष्णाग्र तथा नीचे की ओर पतले होते हैं। **फल**–करौंदे के समान काले, चमकीले होते हैं। **मूल**–१ फुट तक लम्बा, १-२ इञ्च मोटा और मांसल होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह मूलतः मध्य एवं दक्षिणी यूरोप में होता है किन्तु भारत में हिमालयवर्ती कुछ स्थानों में इसकी उपज की जाती है। भारत में होने वाला पौधा A. acuminata Royle है जो कश्मीर में बहुतायत से मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल और पत्र में ऐट्रोपिन (Atropine), हायोसाइमिन (Hyoscymine) तथा हायोसिन नामक क्षाराभ पाये जाते हैं। विदेशी जाति की अपेक्षा भारतीय जाति के क्षुप में क्षाराभ का परिमाण अधिक होता है। भारतीय जाति के मूल और पत्र में हायोसाइमिन क्रमशः ०·८१ तथा ०·५ प्रतिशत होता हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष   **रस**—तिक्त, कटु   **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण   **प्रभाव**—मादक

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से कफवातहर एवं पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—सुरा और स्नेह के साथ मिला कर प्रयोग करने से इसके क्षाराभ का शोषण त्वचा से होता है। यह त्वचा में स्थित संज्ञावह नाडियों के अग्रभाग को शून्य कर देता है और इस प्रकार स्थानिक संज्ञाहर तथा वेदनास्थापन का कार्य करता है। चेष्टावह तथा स्रावक नाडियों पर भी इसका कुछ आघातक प्रभाव पड़ता है। इसके सम्पर्क से स्थानिक रक्तवाहिनियाँ पहले संकुचित होती हैं और बाद में प्रसारित। नेत्र में प्रयोग करने से तारकायें विस्फारित होती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मादक, उत्तेजक, प्रलापजनन एवं वेदना-स्थापन है।

पाचनसंस्थान—रूक्ष-उष्ण होने के कारण यह लालाप्रसेकशमन एवं शूल-प्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—अल्पमात्रा में यह हृदय का अवसादक है किन्तु अधिक मात्रा में देने पर उत्तेजक होता है।

श्वसनसंस्थान—कफवातहर होने से यह कासहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—इससे मूत्र की मात्रा में कोई अन्तर नहीं आता किन्तु मूत्रमार्ग पर शामक प्रभाव पड़ता है।

प्रजननसंस्थान—रूक्ष और उष्ण होने से यह स्तम्भन, शुक्रशोषण एवं स्तन्य-नाशक है।

त्वचा—उष्ण और रूक्ष होने से यह कण्डूघ्न और स्वेदापनयन है।

तापक्रम—स्वेदापनयन कर्म के कारण तापक्रम ३-४ डिग्री बढ़ा देता है।

सात्मीकरण—कटु और रूक्ष होने से यह धातु-शोषण है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा १०-२० घण्टों में होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, ग्रन्थिशोथ, आमवात, गृध्रसी आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप या अभ्यंग किया जाता है। नेत्राभिष्यन्द में इसका आश्च्योतन करते हैं। नेत्रगत दबाव बढ़ने पर इसका प्रयोग नहीं किया जाता।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने से कम्पशूलप्रधान वातव्याधि में यह उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—शूलप्रशमन होने से उदरशूल में इसका प्रयोग होता है। लालाप्रसेक में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, हृदयशूल, हृद्द्रव, हृदय का अनियमित स्पन्दन आदि हृद्विकारों में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—वातश्लैष्मिक कास, श्वास, कुकुरखाँसी में इसका उपयोग लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रमार्गशूल, शय्यामूत्र, बस्तिशोथ एवं वृक्काश्मरी में इसका उपयोग किया जाता है। इसकी पत्तियाँ मधुमेह में भी लाभकर होती हैं।

त्वचा—अतिस्वेद को रोकने के लिए विशेषतः क्षयजन्य रात्रिस्वेद में लाभकर है।

सात्मीकरण- यह अहिफेन, वत्सनाभ तथा वाताादाम्ल विषों का प्रतिविष है।

प्रयोज्य अंग—पत्र और मूल।

मात्रा—चूर्ण ३०-६० मि. ग्रा., टिंक्चर वेलाडोना ५-३० बूंद, ऐट्रोपीन $\frac{1}{4}$-१ मि. ग्रा.।

विषलक्षण—मुखशोष, तारकाविस्फार, दृष्टिमांद्य, त्वचाशोष, मूत्रकृच्छ्र, निगलने में कष्ट, उदर्द ये विषलक्षण होते हैं। मृत्यु श्वासावरोध से होती है। उपर्युक्त लक्षण होते ही इसका प्रयोग बन्द कर देना चाहिए। विशेषतः जब नेत्र-तारका विस्फारित हो जाय तो प्रयोग बन्द कर दे।

चिकित्सा—विषलक्षण प्रारम्भ होने पर निम्नांकित उपाय करना चाहिए:—

(१) वामक औषध या नलिका द्वारा आमाशय-प्रक्षालन।

(२) बस्तिशोधन।

(३) प्रतिविष यथा अहिफेन, वत्सनाभ, वाताादाम्ल आदि।

(४) इसके अतिरिक्त, टैनिन, चाय, कॉफी, उत्तेजक योग और स्वेदन आदि।

(५) कृत्रिम श्वसन।

सहिष्णुता—शिशु इसकी अधिक मात्रा का सहन करते हैं, वृद्धों में यह सहन-शक्ति अत्यल्प होती है। इसके सम्बन्ध में वैयक्तिक असहिष्णुता भी देखी जाती है और यह प्रायः वंशगत होती है। ऐसे व्यक्तियों में इसके सेवन से मुख में लालिमा, मुखशोष तथा रक्तविकार आदि विकार उत्पन्न होते हैं। अतः वातिक तथा पित्त-प्रकृति पुरुषों में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

अत्रपाह्वा बलादाना मादनी गिरिसंभवा। करमर्दफला दीर्घमूला सूची प्रकीर्त्तिता॥
सूची तिक्ता कटुर्लघ्वी रूक्षोष्णा मदकारिणी। कफवातहरा पित्तकरा धातुप्रशोषणी॥
लालाप्रसेकशमनी शूलप्रशमनी भृशम्। प्रलापजननी हृद्या वेदनास्थापनी तथा॥
कासे श्वासे व्रणे शोथे वातव्याधौ हृदामये। अग्निमांद्ये विषे शूले प्रस्वेदे च प्रशस्यते॥
(स्व.)

W. I. I, 136–137.
M. P. I. 110–112.

१९. पारसीक यवानी

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी–Solanaceae)।

नाम—लै०-हायोसॉयमस नाइगर (Hyoscyamus niger Linn.) सं०-पारसीक यवानी (पारस देश में होने वाली), यावनी (यवन देश में होने वाली), तुरुष्का (तुर्क देश में उत्पन्न होने वाली), मदकारिणी (मादक), हि०-खुरासानी अजवायन; पं०-खुरासानी अजवैन; म०-खुरासानी ओवा; गु०-खुरासानी अजमा; का०-बगरभांग; ता०-कुरासानी मोमाम; ते०-कुरासानी यमानी; अ०-बजुलबज्ज; फा०-तुख्मबज्ज; अं०-हेनबेन (Henbane)।

स्वरूप—यह ५ फीट तक ऊँचा, सीधा, चिपचिपे रोमों से युक्त, दुर्गन्धयुक्त वर्षायु या द्विवर्षायु पौधा है। **पत्र**-मूलोद्भव और कांडोद्भव, स्थूलदन्तुर या पक्षवत् खण्डित होते हैं। **पुष्प**-पीताभ हरित, अवृन्त या अनु-अवृन्त, शाखाग्रीय उभयोद्भव मञ्जरियों में होते हैं। **फल**-½ इञ्च व्यास के होते हैं। **बीज**—छोटे, अनेक, अण्डाकार या वृक्काकार एवं भूरे या कृष्णवर्ण होते हैं। पुष्प और फल जुलाई-अगस्त मास में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ५ से १२ हजार फीट की ऊँचाई पर पश्चिमी हिमालय में कश्मीर से कुमाऊँ तक पाया जाता है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, अजमेर, बम्बई तथा नीलगिरि में इसकी खेती के प्रयास किये गये हैं।

रासायनिक संघटन—बीजों में २५–३० प्रतिशत स्थिर तैल होता है। पत्र और पुष्प में हायोसायमिन (Hyoscyamine) तथा हायोसिन (Hyoscine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं। ऐट्रोपिन तथा स्कोपोलिन भी अल्प मात्रा में पाये जाते हैं। ऐट्रोपिन द्विवर्षायु पौधों की जड़ में मिलता है। मूल, पत्र, पुष्प तथा बीजों में कुल क्षाराभों का परिमाण क्रमशः ०.१६, ०.०४५–०.०८, ०.०७–०.१० तथा ०.०६–०.१० प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—रूक्ष **रस**—तिक्त, कटु **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण **प्रभाव**—मादक, वेदनास्थापन

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक एवं पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—उष्णता के कारण इसका लेप शोथहर और वेदना-स्थापन है।

आभ्यन्तर—नाडीसंस्थान-यह मादक है तथा वातशामक होने से निद्राजनन, वेदनास्थापन तथा आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त होने के कारण क्रिमिनाशक है। उष्ण होने से शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—अल्प मात्रा में यह हृदयावसादक है तथा हृदय के विश्राम-काल को बढ़ाने से हृदयबलकारक है। यह रक्तस्तम्भन भी है।

श्वसनसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—वातहर होने से मूत्रवहसंस्थान पर भी इसका शामक प्रभाव होता है।

प्रजननसंस्थान—जननेन्द्रिय पर भी इसकी शामक क्रिया होती है अतः यह कामावसादक है।

सात्मीकरण—उष्ण और मादक होने से व्यवायी, विकासी तथा धातुशोषण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथहर और वेदनास्थापन होने से स्तनशोथ, अंडशोथ, अर्श, सन्धिशूल आदि शोथ-वेदनाप्रधान विकारों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडी संस्थान—शामक और वेदनास्थापन होने से इसका प्रयोग उन्माद, मस्तिष्कावरणशोथ, अनिद्रा, शूल एवं प्रलाप में करते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरशूल, आनाह, गुल्म आदि वातप्रधान उदरविकारों में इसका प्रयोग करते हैं तथा कृमिरोग में भी इसका प्रयोग लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य एवं रक्तस्राव में इसका प्रयोग किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास में तथा श्वासहर होने से श्वास रोग में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—शामक होने से वस्तिशोथ, अश्मरी, हस्तिमेह आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शामक होने से शीघ्रपतन, स्वप्नदोष, रजःकृच्छ्र, प्रदर तथा अनियमितार्त्तव में यह लाभकर है। अतिकामवासना को शान्त करने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प, बीज। **मात्रा**—चूर्ण-.२५–१ ग्रा०

विशिष्ट योग—पाराशीयादि चूर्ण।

विषलक्षण—इसका अतिमात्रा में सेवन करने से भ्रम, कंठशोथ, उन्माद, संन्यास आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। शरीर पाण्डुर एवं शिथिल हो जाता है।

चिकित्सा—विषाक्त लक्षणों के निवारण के लिए आमाशय का प्रक्षालन करके गाय या बकरी का दूध पिलाना चाहिए।

× × × ×

'यवानी यावनी रूक्षा ग्राहिणी मोहिनी कटुः।' (रा० नि०)
'पारसीकयवानी तु यवानीसदृशा गुणैः।
विशेषात् पाचनी रुच्या ग्राहिणी मादिनी गुरुः॥' (भा० प्र०)
'पारसीकयवानिका पीता पर्युषितवारिणा प्रातः।
गुडपूर्वा कृमिजालं कोष्ठगतं पातयत्याशु॥' (च० द०)

I. P., 340–344
M. P. I., V, 151–154.

२०. गुग्गुलु

परिचय

गण—एलादि (सु०) ।

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सरेसी-Burseraceae) ।

नाम—लै०-कौमिफोरा मुकुल (Commiphora Mukul (Hook ex Stocks) Engl.; सं०-गुग्गुलु (गुजो व्याधेर्गुडति रक्षति-जो व्याधि से रक्षा करे); देवधूप (देवताओं के धूप में प्रयुक्त होने वाला); कौशिक (वृक्ष के कोश मे होने वाला); पुर (औषधों में श्रेष्ठ); महिषाक्ष (भैंस की आँख के समान कृष्णवर्ण); पलंकष (पलं मांसं कषति हिनस्ति-स्थूलता को कम करनेवाला लेखन होने के कारण); कुम्भ (वृक्ष के कुम्भाकार कोश से निकलने वाला); उलूखल (वृक्ष के उलूखलाकार कोश से निःसृत); हि०-गूगल, गुग्गुल; गु०-गुगल; सिं०-गुगरु, क०-काण्ठगण; ता०-गुक्कुलु, गुक्कल, मैसाच्चि कुंगिलियम; ते०-मैषाक्षी, गुग्गुलु; अ०-मुक्लूल् यहूद; फा०-बूए जहूदान; अं०-गम गुग्गुल (Gum-guggul), इण्डियन बेडिलियम (Indian bedellium) ।

रूप—इसका छोटा वृक्ष या गुल्म ४-६ फीट उँचा होता है, इसकी शाखायें काँटेदार होती हैं । **पत्र**-नीम के समान संयुक्त, एकान्तर तथा पत्रकोणोद्भूत होते हैं । **पुष्प**-रक्तवर्ण और पञ्चदल होते हैं । **फल**-मांसल, लंब-गोल और रक्तवर्ण होते हैं । इसका निर्यास-गाढ़ा, सुगन्धि तथा अनेक वर्ण का होता है । यह अग्नि में जलता है, धूप में पिघल जाता है तथा गरम जल में डालने पर दूध के समान हो जाता है ।

जातियाँ—भावमिश्र, कैयदेव आदि ने गुग्गुलु की वर्णभेद से महिषाक्ष, महानील, कुमुद, पद्म और कनक ये पांच जातियाँ बतलाई हैं जो क्रमशः कृष्ण, नील, कपिश, रक्त और पीतवर्ण होते हैं । इनमें प्रथम और अन्तिम मनुष्य में उपयोगी है तथा शेष तीन पशुचिकित्सा में उपयुक्त होती हैं । व्यवहार में दो प्रकार का गुग्गुलु मिलता है-१. कणगूगल, २. भैंसा गूगल । कणगूगल मारवाड़ में होता है और इसके रक्ताभ पीत कण होते है, यह कोमल भी होता है । भैंसा गूगल सिन्ध और कच्छ आदि में होता है और इसका वर्ण हरिताभ पीत होता है । कणगूगल और भैंसा गूगल शास्त्रोक्त कनक और महिषाक्ष गुग्गुलु की जातियाँ प्रतीत होती हैं । कण और भैंसा क्रमशः कनक और महिषाक्ष के अपभ्रंश रूप हैं । यूनानी विद्वानों ने देश और वर्ण के भेद से इसकी अनेक जातियाँ मानी हैं जिनमें निम्नांकित मुख्य हैं :—

१. **मुक्ले अर्जक**—रक्ताभ २. **मुक्ले यहूद**—पीताभ
३. **मुक्ले सकलावी**—कपिश ४. **मुक्ले अरबी**—रक्तकपिश
५. **मुक्ले हिन्दी**—श्यामवर्ण

प्रथम दो जातियाँ क्रमशः आयुर्वेदोक्त पद्म और कनक प्रतीत होती हैं ।

प्रशस्त गुग्गुलु का लक्षण—स्निग्ध, कोमल, पिच्छिल, मधुरगन्धि, तिक्त, पीताभ, पानी में शीघ्र घुलने वाला तथा मिट्टी, बालू आदि से रहित गुग्गुलु प्रशस्त माना जाता है । इसके विपरीत शुष्क, दुर्गन्धि, विवर्ण तथा निर्वीर्य गुग्गुलु नहीं लेना चाहिये ।

उत्पत्तिस्थान—इसके पौधे सूखे पथरीले मैदान में होते हैं । अरब, अफ्रीका बलूचिस्तान तथा भारतवर्ष के सिन्ध, राजस्थान, बरार, खानदेश, मैसूर प्रदेशों में होता है ।

बंगला देश, आसाम तथा मध्यप्रदेश में एक अन्य प्रगति C. roxburghii (Arn.) Engl. होती है । इसका वृक्ष छोटा होता है तथा पत्तियाँ बड़ी और पतली होती हैं ।

भारत में इन्हीं दो पौधों से मुख्यतया गुग्गुलु की उपलब्धि होती है ।

संग्रहकाल—सूर्य की किरणों से पिघल कर ग्रीष्म ऋतु में इसके वृक्षों से निर्यास प्रचुर मात्रा से निकलता है । शिशिर और हेमन्त ऋतुओं में जब वह जम जाय तब संग्रह करना चाहिए । एक पौधे से लगभग ७०० ग्रा० से १ किलो तक गुग्गुलु प्राप्त होता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें आर्द्रता ६.१, उड़नशील तैल ०.६, राल ६१, गोंद २९.३, विजातीय द्रव्य ३.२ प्रतिशत पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, विशद, सूक्ष्म, सर, [illegible]
स्निग्ध-पिच्छिल (नवीन गुग्गुल)

रस—तिक्त, कटु

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—गुग्गुलु उष्ण होने से वात का शमन [illegible] द्रव्यों में प्रमुख है । रूक्ष-विशद होने के कारण यह [illegible] आवृत वात में विशेष लाभकर होता है । तीक्ष्णता और [illegible] का भी शामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थ[illegible] एवं जन्तुघ्न है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक होने के कारण वेदनास्थापन एवं नाडियों के लिए बलकर है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त और सूक्ष्म होने से दीपन, स्निग्ध-सर होने से अनुलोमन तथा पित्तसारक, तिक्त और उष्ण होने से यकृदुत्तेजक, अर्शोघ्न और कृमिघ्न होता है। सुगन्धि होने से कोष्ठगत दुर्गन्धि को नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तकणवर्धक, श्वेतकणवर्धक तथा रक्तप्रसादन है। यह शोथहर तथा गंडमालानाशक भी है।

श्वसनसंस्थान—उष्ण-तीक्ष्ण होने से यह कफघ्न तथा सुगन्धि और कृमिघ्न होने के कारण कफदुर्गन्धहर है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण–तीक्ष्ण होने से कामोत्तेजक और आर्त्तवजनन, स्निग्ध-पिच्छिल होने से वृष्य एवं वन्ध्यात्वदोष का निवारक है किन्तु पुराना गुग्गुलु शुक्रनाश करता है।

सात्मीकरण—इससे शरीर के सभी संस्थानों को उत्तेजना एवं शक्ति मिलती है अतः यह रसायन और बल्य है। नया गुग्गुलु स्निग्ध होने के कारण बल्य तथा पुराण गुग्गुलु रूक्ष होने के कारण लेखन होता है और मेदोधातु को कम करता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं वर्ण्य है।

तापक्रम—उष्ण होने से यह शीतप्रशमन है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात, गण्डमाला, अपची, चर्मरोग प्लेग, अर्श आदि पर इसका लेप करते हैं। दुर्गन्ध और कृमि को नष्ट करने के लिए निवासस्थान एवं व्रणों का धूपन इससे करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गुग्गुलु नाडीशूल, सन्धिवात, आमवात, गृध्रसी, अर्दित, पक्षाघात आदि समस्त वातव्याधि के लिए सर्वप्रसिद्ध महौषध है। वातरक्त में भी इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमाद्य, विबन्ध, यकृद्रोग, अर्श, कृमि में इसका प्रयोग लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग विशेषतः हृदयावरोध (Coronary thrombosis) तथा पाण्डु आदि में इसका उपयोग करते हैं। उपदंशजनित रक्तविकार में भी इसका प्रयोग होता है। शोथ, गंडमाला, अपची, ग्रन्थि, श्लीपद आदि में भी इससे पर्याप्त लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से जीर्णकास, श्वासकास एवं क्षय की अवस्थाओं में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि मूत्रगत विकारों में इसका प्रयोग होता है। इससे अश्मरी टूट कर निकल जाती है और मूत्र भी स्वच्छ होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, क्लैब्य, कष्टार्त्तव तथा अन्य योनिव्यापत् में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—पुराने गुग्गुलु का प्रयोग प्रमेह और मेदोरोग में करते हैं। गुग्गुलु का प्रयोग रसायन के रूप में भी है।

त्वचा—कुष्ठ और वर्णविकार में यह उपयोगी है।

तापक्रम—शीतजन्य विकार एवं शीतज्वर आदि में शीतजन्य उपद्रवों की शान्ति के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—२–४ ग्राम

रसायन के लिए इसकी अधिकतम एक मात्रा एक पल (४० ग्राम) तथा कुल मात्रा एक तुला (१०० पल = ४ कि०) बतलाई गई है (अ० सं० ४६।१६२)

विशिष्ट योग—योगराजगुग्गुलु, कैशोरगुग्गुलु, चन्द्रप्रभा वटी।

शोधन—गोदुग्ध में स्वेदन करने से गुग्गुलु शुद्ध हो जाता है।

गुग्गुलुसेवनकाल में परिहार—गुग्गुलु का सेवन करते समय अम्ल, तीक्ष्ण, मद्य, अजीर्णभोजन, मैथुन, व्यायाम, आतपसेवन तथा क्रोध का सेवन निषिद्ध है।

अहित प्रभाव—इसके मिथ्यायोग से यकृत् और फुफ्फुस को हानि पहुँचती है तथा अतियोग से तिमिर, मुखशोष, क्लैब्य, कृशता, मूर्च्छा, शैथिल्य तथा रौक्ष्य उत्पन्न होते हैं अतः इन रोगों में गुग्गुलु का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

× × × ×

'सुगंधिः सुलघुः सूक्ष्मस्तीक्ष्णोष्णः कटुको रसः।
कटुपाकः सरो हृद्यो गुग्गुलुः स्निग्धपिच्छिलः॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः। तैक्ष्ण्यौष्ण्यात् कफवातघ्नः सरत्वान्मलपित्तनुत्॥
सौगन्ध्यात् पूतिकोष्ठघ्नः सौक्ष्म्याच्चानलदीपनः।' (सु.)

'गुग्गुलुर्देवधूपश्च जटायुः कौशिकः पुरः। कुम्भोलूखलकं क्लीबे महिषाक्षः पलंकषः॥
महिषाक्षो महानीलः कुमुदः पद्म इत्यपि। हिरण्यः पञ्चमो ज्ञेयो गुग्गुलोः पञ्च जातयः॥
भृङ्गाञ्जनसवर्णस्तु महिषाक्ष इति स्मृतः। महानीलस्तु विज्ञेयः स्वनामसमलक्षणः॥
कुमुदः कुमुदाभः स्यात् पद्मो माणिक्यसंनिभः। हिरण्याख्यस्तु हेमाभः पञ्चानां लिंगमीरितम्॥
महिषाक्षो महानीलो गजेन्द्राणां हिताबुभौ। हयानां कुमुदः पद्मः स्वस्त्यारोग्यकरौ परौ॥

विशेषेण मनुष्याणां कनकः परिकीर्त्तितः । कदाचिन्महिषाक्षश्च मतः कैश्चिन्नृणामपि ॥
गुग्गुलुर्विशदस्तिक्तो वीर्योष्णः पित्तलः सरः । कषायः कटुकः पाके कटूरूक्षो लघुः परः ॥
भग्नसन्धानकृद् वृष्यः सूक्ष्मः स्वर्यो रसायनः । दीपनः पिच्छिलो बल्यः कफवातव्रणापचीः ॥
मेदोमेहाश्मवातांश्च क्लेदकुष्ठाश्ममारुतान् । पिडकाग्रन्थिशोफार्शोगंडमालाकृमीञ्जयेत् ॥
स नवो बृंहणो वृष्यः पुराणस्त्वतिलेखनः । स्निग्धः काञ्चनसंकाशः पक्वजम्बूफलोपमः ॥
नूतनो गुग्गुलुः प्रोक्तः सुगन्धिर्यस्तु पिच्छिलः । शुष्को दुर्गन्धिकश्चैव त्यक्तप्रकृतिवर्णकः ॥
पुराणः स तु विज्ञेयो गुग्गुलुर्वीर्यवर्जितः ।
अम्लं तीक्ष्णमजीर्णं च व्यवायं श्रममातपम् । मद्यं रोषं त्यजेत् सम्यग् गुणार्थी पुरसेवकः ॥
(भा० प्र०)

'मरुभूमिषु जायन्ते प्रायशः पुरपादपाः । भानोर्मयूखैः सन्तप्ता ग्रीष्मे मुञ्चन्ति गुग्गुलुम् ॥
हिमान्विते हेमन्ते च विधिना तं समाहरेत् ।
'आतपैस्ते विलीयन्ते क्षिप्ताश्चाग्नौ ज्वलन्ति हि ।
स्वभावविशदाः स्निग्धाः स्वमोदाः कण्ठशोधनाः ॥
सर्वे समानवीर्यास्ते सर्वे रसगुणैः समाः । आस्वादे तिक्तकटुकाः कषायाः स्वादवः परम् ॥'
'कृष्णः शोणितपित्ते च श्लेष्मपित्ते च पिंगलः । वातपित्ते तथा श्वेतो गुग्गुलुः शस्यते परम् ॥'
(कै० नि०)

वह्नौ ज्वलन्ति तपने विलयं प्रयान्ति, क्लिद्यन्ति कोष्णसलिले पयसा समानाः ।
ग्राह्याः शुभाः परिहरेच्चिरकालजातानङ्गारवर्णसमपूयविगन्धवर्णान् ॥' (प्रयोगामृत)
गुग्गुलुर्मेदोऽनिलहराणाम् (च. सू. २५)
गुणनिधिरपि कुर्यात् सोऽतिमात्रोपयुक्त-
स्तिमिरवदनशोषक्लीबताकार्श्यमोहान् ।
श्लथशिथिलभावं देहरौक्ष्यं च तस्मा-
द्जनिचरनिषेवी स्यान्न रोगेष्वमीषु ॥ (अ० सं० उ० ४९।१७८)

M. P. I. I, 269–276

२१. एरण्ड

परिचय

गण—भेदनीय, स्वेदोपग, अंगमर्दप्रशमन, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि अधोभागहर, वातसंशमन (सु०) ।

कुल—एरण्ड-कुल (युफॉबिएसी–Euphorbiaceae) ।

नाम—लै०–रिसिनस कॉम्युनिस (Ricinus communis Linn.), सं०–एरण्ड (आसमन्तात् ईरयति अंगानि–वायु का शमन करने से स्तब्धता को दूर कर अंगों को गतिशील बनाने वाला); गन्धर्वहस्त (गन्धर्वों के हाथ के समान पत्र वाला); पञ्चांगुल (पाँच अंगुलियों से युक्त पत्र वाला); वर्धमान (शीघ्र बढ़ने

वाला गुल्म); उत्तानपत्रक (फैले हुये पत्र होने के कारण); व्याघ्रपुच्छ (व्याघ्रपुच्छ के समान पुष्पमञ्जरी होने से); उरुबूक (उरुं महान्तं वायुं वायति शोषयति–प्रकुपित वात को शान्त करने वाला); व्यडम्बक (व्यडं मलमम्बयति स्रंसयति–जो मल का शोधन करे); हि०–रेंड़ी, अंडी; बं०–भेरेंडा; म०–एरंडी; गु०–एरंडो, दिवेलिगो; ता०–अमनवक्कु, कोट्टइमुथु; ते०–अमुडमुचेट्टु; कल०–हरलु, मल०–अवनक्कु; अ०–खिर्वअ; फा०–बेद अञ्जीर

स्वरूप—इसका वर्षायु या बहुवर्षायु गुल्म या वृक्षक १८ फीट तक या कभी-कभी अधिक भी ऊँचा होता है। **पत्र**–हरित या रक्ताभ, ३०-६० से० मी० व्यास के, खण्डित तथा अङ्गुलिवत् ५-११ खण्डों से युक्त होते हैं। ये पत्रखण्ड दन्तुर होते हैं। पत्रवृन्त ४–१२ इञ्च लम्बा ग्रन्थियुक्त होता है। पुष्पदण्ड ३०–६० से० मी० लम्बा होता है। **पुष्प**–एकलिंगी होते हैं। पुष्पदण्ड में ऊपर की ओर स्त्रीपुष्प तथा नीचे की ओर पुंपुष्प होते हैं। पुंपुष्प में पुंकेशर अनेक होते हैं। स्त्रीपुष्प कुछ बड़े होते हैं। स्त्रीकेशर फैले हुए, बहुत बड़े तथा रंगीन होते हैं। गर्भाशय त्रिकोष्ठीय होता हैं जिसके प्रत्येक कोष्ठ में एक-एक बीजीभव होता है। **फल**–कंटकवत् प्रवर्धनयुक्त होता है, **बीज**–आयताकार, श्लक्ष्ण, अनेकवर्ण तथा चित्रित होते हैं। बीजावरण कठिन होता है।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं–श्वेत और रक्त। रक्तजाति के एरण्ड का काण्ड और पत्र रक्ताभ होते हैं। आयु की दृष्टि से भी यह दो प्रकार का होता है–(१) बहुवर्षायु और (२) वर्षायु। बहुवर्षायु के फल और बीज बड़े होते हैं तथा उनमें तैल की मात्रा भी अधिक होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष में ७ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। अधिकतर इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्थिर तैल ३७–६१%, मांससार १२-१६%, सूत्र २३-२८% होते हैं। इनके अतिरिक्त एमाइलेज, इनवर्टेज आदि अनेक किण्वतत्त्व होते हैं। बीजों में एक अलब्युमिनजातीय राइसिन (Ricin) नामक विषाक्त तत्त्व होता है। इसके प्रभाव से वमन, उदरशूल, महास्रोत में विक्षोभ एवं रक्तस्राव, तन्द्रा, आक्षेप, शोथ तथा हृदयावसाद ये लक्षण होते हैं। इसकी चिकित्सा के लिए आमाशयप्रक्षालन, लवणरेचन, द्रवनिक्षेप तथा अन्य लाक्षणिक उपचार किये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, राइसिनिन (Ricinine) नामक एक मन्द विषाक्त द्रव्य भी पाया जाता है जो जल-विलेय होता है तथा बीजावरण, पत्र तथा काण्ड में अवस्थित होता है। यह किंचित् तिक्त तथा कण्ठ के लिए क्षोभक होता है। तैल

ऐबसोलुट अलकोहल तथा ग्लेसियल एसिटिक अम्ल में विलेय होता है। इसमें मुख्यतः राइसिन ओलिक अम्ल होता है।

वक्तव्य—इसका तैल मुख्यतः दो प्रकार से प्राप्त किया जाता है:—१. शीतविधि—इसमें बिना ताप दिये बीजों को दबाकर तैल निकाल लिया जाता है। यह तैल वर्ण-रहित या हल्का पीला गन्धरहित तथा किंचित् कटुरस होता है। २. उष्णविधि—इसमें बीजों को जल में उबालकर या दबाने के समय कुछ ताप देकर तैल प्राप्त किया जाता है। ताप से शीघ्र द्रवीभूत होने से इस विधि के द्वारा तैल अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, तीक्ष्ण, सूक्ष्म　　**रस**—मधुर, अनुरस-कटु, कषाय
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन है। साम वात के लिए एरण्ड तैल प्रसिद्ध है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वातहर होने से यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक और बल्य होने से यह वेदनास्थापन, मेध्य और अंगमर्दप्रशमन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, तीक्ष्ण होने से भेदन, कृमिघ्न और कृमिनिःसारक तथा स्निग्ध होने से स्नेहन है। यह प्रसिद्ध आमशोधन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने के कारण यह मूत्रविशोधन है।

प्रजननसंस्थान—मधुरस्निग्ध होने से वृष्य, स्तन्यजन्य और तीक्ष्ण होने से शुक्रशोधन तथा गर्भाशयशोधन है।

सात्मीकरण—मधुरस्निग्ध होने से यह बल्य, वयःस्थापन और विषघ्न भी है।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदोपग और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—स्वेदजनन और आमपाचन होने से ज्वरघ्न है।

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। आमवात के लिए यह अत्यन्त लाभकर है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात, सन्धिशोथ, नाडीदौर्बल्य, चर्मरोग, वातरक्त, स्तनशोथ, कण्ठशोथ आदि शोथवेदना-युक्त रोगों में पत्र गरम कर बांधते हैं या एरण्ड तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन और बल्य होने से इसका प्रयोग नाडीशूल, पक्षाघात, अर्दित, कम्पवात, आमवात, गृध्रसी आदि वातविकारों तथा शिरःशूल, अंगमर्द आदि रोगों में किया जाता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग उदररोग, शूल, गुल्म, प्लीहा, यकृत्, अर्श, ब्रध्न और कृमिरोग में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशूल तथा शोथरोग में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास और श्वासकष्ट में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और बस्तिशूल में देने से वेदना शान्त होती है और मूत्र भी साफ होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका प्रयोग शुक्रमेह, शुक्रविकार, स्तन्यदोष, योनिव्यापत् तथा वृद्धिरोग में करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। एरण्ड के पत्रांकुर को जल में पीस छानकर सर्पदष्ट रोगी को पिलाते हैं। इससे वमन और विरेचन के द्वारा विष निकल जाता है। कल्क को दंशस्थान पर बाँधते भी हैं। यह योग वत्सनाभ और अहिफेन के विष में भी लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि रक्तविकारों में इसका उपयोग किया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, बीज, तैल।

मात्रा—मूलकल्क १०–२० ग्रा०, बीज २–६ दाने; तैल ४–१६ मि. लि.।

विशिष्ट योग—एरण्डपाक, एरण्डमूलादि क्वाथ, एरण्डसप्तक क्वाथ।

× × × ×

'एरण्डमूलं वृष्यवातहराणाम्।' (च. सू. २५)

'लघु भिन्नशकृत्तिक्तं लांगलक्युरुबूकयोः (शाकम्)।' (च. सू. २७)

'एरण्डतैलं मधुरमुष्णं तीक्ष्णं कटु कषायानुरसं सूक्ष्मं स्रोतोविशोधनं त्वच्यं वृष्यं मधुरविपाकं वयःस्थापनं योनिशुक्रविशोधनमारोग्यमेधाकान्तिस्मृतिबलकरं वातकफहरमधोभागदोषहरं च। (सु. सू. ४५)

'शुक्ल एरण्ड आमण्डश्चित्रो गन्धर्वहस्तकः। पञ्चांगुलो वर्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः॥
रक्तोऽपरो रुबूकः स्यादुरुबूको रुवुस्तथा। व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः॥
एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत्। शूलशोथकटीवस्तिशिरःपीडोदरज्वरान्॥
ब्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठाममारुतान्। एरण्डपत्रं वातघ्नं कफक्रिमिविनाशनम्॥
मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम्। वातार्यग्रदलं गुल्मबस्तिशूलहरं परम्॥

कफवातक्रिमीन् हन्ति वृद्धिं सप्तविधामपि । एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम् ॥
यकृत्प्लीहोदरार्शोघ्नं कटुकं दीपनं परम् । तद्वन्मज्जा च विड्भेदी वातश्लेष्मोदरापहा ॥'
(भा. प्र.)

'निष्कुष्यैरण्डबीजानि पिष्ट्वा क्षीरं विपाचयेत् ।
तत्पानं तु कटीशूले गृध्रस्यां परमौषधम् ॥ (भा. प्र.)
'दशमूलकषायेण पिबेद्वा नागराम्भसा । कटिशूलेषु सर्वेषु तैलमेरण्डसंभवम् ॥'(च. द.)
'श्वेतैरण्डः सकटुकरसस्तिक्त उष्णः कफार्त्तिध्वंसं धत्ते ज्वरहरमरुत्कासहारी रसार्हः ।
रक्तैरण्डः श्वयथुपवनभ्रान्तिरक्तार्त्तिपाण्डु-भ्रान्तिश्वासज्वरकफहरोऽरोचकघ्नो लघुश्च ॥'
(रा. नि.)

'एरण्डो हन्ति वृष्यो गुरुमधुरतरः शोधनः श्वासवर्ध्मान्
गुल्मानाहोदरार्शःकसनकफमरुत्पित्तमेहामवातान् ।
हन्यात् पक्त्याख्यशूलक्रिमिपवनरजान् रक्तपित्तप्रकोपी
पुष्पं तस्यापि वर्ध्मानिलकफगुदजान् गुल्मशूलोर्ध्ववातान् ॥' (शोढल, नि.आ. से उद्धृत)
'आमवातगजेन्द्रस्य शरीरवनचारिणः । एक एव निहन्तायमेरण्डस्नेहकेशरी ॥'(भा.प्र.)
'क्षीरेणैरण्डतैलं वा प्रयोगेण पिबेन्नरः । बहुदोषो विरेकार्थं जीर्णे क्षीररसौदनः ॥'
(च. चि. २६)

I. P., 158.
W. I. IX, 26-47.

२२. गन्धप्रसारिणी

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा—कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)

नाम—लैं०-पिडेरिया फिटिडा, (Paederia foetida Linn.), सं०-गन्ध-प्रसारिणी (प्रसार्यतेऽङ्गमनया-स्तब्ध और संकुचित अंगों को फैलाने वाली या शाखा-प्रशाखाओं से फैलने वाला और गन्धयुक्त), हि०-पसरन, गन्धप्रसारनी; बं०-गन्धभादुलिया; म०-हिरन-वेल, गु०-गन्धानः, ता०-पिनरीसंगाई; ते०-सविरेल ।

स्वरूप—इसकी विशाल आरोहिणी तथा दुर्गन्धयुक्त रोमश लता होता है। **पत्र**—काण्ड पर दूर दूर दो की संख्या में अभिमुख लगते हैं । ये भालाकार, लट्वाकार या आयताकार, २-६ इञ्च लम्बे और ¾-२ इञ्च चौड़े, लंबे पत्रवृन्तों पर होते हैं । नीचे के पत्ते बड़े, चौड़े और ऊपर के कुछ छोटे और पतले होते हैं । इन्हें मसल कर सूँघने से बड़ी दुर्गन्ध आती है । उबालने से यह दुर्गन्ध नष्ट हो जाता है । **पुष्प**—बैंगनी, पीकाकार, ⅓ इञ्च लंबे अक्षीय या शाखाग्रीय होते हैं । **फल**-अंडाकार-लट्वाकार या आयताकार, चमकीले, चपटे, प्रायः लाल या काले ४ इञ्च लम्बे होते हैं।

बीज-दानेदार और छोटे होते हैं। वर्षा के अन्त और शरत्काल (अगस्त-अक्टूबर) में पुष्प एवं शीतकाल (दिसंबर) में फल लगते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश में देहरादून से बंगाल-आसाम तक ६ हजार फीट की ऊँचाई तक पायी जाती है ।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में प्रोटीन तथा एक उड़नशील द्रव्य (methyl mercaptan) होता है जिसके कारण दुर्गन्ध रहती है । उबालने पर यह प्रायः नष्ट हो जाता है ।

गुण

गुण—गुरु **रस**—तिक्त **विपाक**—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशमन है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से वेदनास्थापन, शोथहर तथा स्तब्धतानाशक है ।

आभ्यान्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापक तथा नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन है ।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्तरस होने से रक्तप्रसादन है तथा उष्ण होने से रक्तगत वात को शान्त करता है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल एवं अश्मरीभेदन है ।

प्रजननसंस्थान—गुरु होने के कारण यह वृष्य है ।

सात्मीकरण—गुरु होने से बल्य और सन्धानीय है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात, सन्धिजाड्य आदि आम, कफ तथा वात के विकारों में इसका लेप तथा इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह समस्त वातव्याधि तथा सन्धिजाड्य की प्रशस्त महौषध है ।

पाचनसंस्थान—अनुलोमन तथा वातहर होने के कारण उदरशूल, आनाह, विबन्ध और गुल्म में प्रयुक्त होता है । पत्रकल्क उष्ण करके उदरशूल में देते हैं और पत्र का शाक भी देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—यह वातरक्त में भी परम उपयोगी है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में पत्तियों का क्वाथ देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में यह लाभकर है ।

सात्मीकरण—ज्वर के बाद या सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करने से बलवृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—मूल और पत्र।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि. लि., क्वाथ ५०–१०० मि. लि.

विशिष्ट योग—प्रसारिणी तैल, प्रसारिणीलेह।

× × × ×

'गन्धप्रसारिणी तिक्ता सरोष्णा वातनाशिनी।
अर्शःश्वयथुहन्त्री च मलविष्टम्भहारिणी॥' (स्व.)

W. I., VII, 210–211.

२३. तगर

परिचय

गण—शीतप्रशमन, तिक्तस्कन्ध (च०); एलादि गण (सु०)

कुल—मांसी-कुल (वेलिरियनेसी–Valerianaceae)

नाम—लै०–वेलिरियाना वालिचिआई (Valeriana wallichii DC.), सं०–तगर, नत (झुका हुआ), वक्र (टेढ़ा), कुटिल (टेढ़ा) नहुष, हिं०–तगर, म०–तगरमूल, गु०–तगरगंठोडा, पं०–सुगन्धबाला, क०–मुश्कबाला, फा०–असारून, अं०–इण्डियन वेलिरियन (Indian valerian)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु किंचित् रोमश क्षुप होता है। **कांड**–१५–४५ से.मी. ऊँचा गुच्छेदार होता है। **मूलीय पत्र**–२.५–७.५ से. मी. व्यास के, हृदयाकृति-लट्वाकार, खंडित या दन्तुर, तीक्ष्णाग्र होते हैं। **कांडीय पत्र**–थोड़े, छोटे, अखण्ड या सपक्ष होते हैं। **पुष्पमंजरी**–१-३ ह्रस्व व्यास की, शाखाग्रीय, **पुष्प**–श्वेत या गुलाबी, प्राय; एकलिंगी; पुंपुष्प तथा स्त्रीपुष्प पृथक् पौधों पर होते हैं। वृन्तपत्रक आयताकार-रेखाकार, फल के बराबर होते हैं। **फल**–प्रायः बालयुक्त होता है। **फूल**–जून-जुलाई मास में तथा फल सितम्बर-अक्टूबर में लगते है। **मूल**–मोटा, अनुप्रस्थ, बालयुक्त, गांठदार तथा सुगंधि होता है।

जाति—निघण्टुओं में 'तगर' और 'पिण्डतगर' दो जातियों का उल्लेख मिलता है। पिण्डतगर कुछ गोलाकार और कम गन्धवाला माना जाता है :

उत्पत्तिस्थान—कश्मीर से भूटान तक १० हजार फीट की ऊँचाई तक होती है। खासिया पर्वत पर ४–६ हजार फीट तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में वेलिरियनिक अम्ल (Valrianic acid) होता है।

गुण

गुण–लघु, स्निग्ध
रस–तिक्त, कटु, कषाय
विपाक–कटु
वीर्य–उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन, आक्षेपहर, मेध्य एवं मस्तिष्कशामक है।

पाचनसंस्थान—तिक्त-उष्ण होने के कारण यह दीपन, शूलप्रशमन, सारक और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कटु-उष्ण होने से यह कफघ्न और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न और बल्य है।

त्वचा—यह कुष्ठ को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप अस्थिभग्न, आमवात आदि में करते हैं। व्रणों में इसके फांट का प्रयोग करने से पीड़ा कम होती है और रोपण शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका प्रयोग अर्दित, पक्षाघात, उन्माद, अपस्मार, संधिवात, आमवात और वातरक्त में करते है।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, उदरशूल, आनाह, यकृच्छोथ, कामला, जलोदर और प्लीहवृद्धि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं किन्तु अधिक मात्रा में देने पर रक्तभार कम हो जाता है।

श्वसनसंस्थान—कुकुरखांसी और श्वासरोग में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयोग करने से मूत्रनिःसरण सुविधा से होता है।

प्रजननसंस्थान—उत्तेजक होने से क्लैब्य और कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और विष की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प तथा अन्य रक्तविकारों में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में प्रयोग करने से ज्वर शान्त होता है तथा शरीर को शक्ति मिलती है।

प्रयोज्य अंग—मूल। **मात्रा**—१–३ ग्रा०

अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से भ्रम, हिक्का और वमन होते हैं।

निवारण—मुनक्का।

वक्तव्य—Valeriana hardwickii Wall नामक पौधे का भी तगर के नाम से प्रयोग होता है। इसमें मूलीय पत्र थोड़े तथा मूल अधोगामी होता है।

\+ + + +

**'तगरं कटुकं तिक्तं कटुपाकरसं लघु। स्निग्धोष्णं तुवरं भूतमदापस्मारनाशनम्॥
विषचक्षुःशिरोरोगरक्तदोषामयापहम्।'** (कै. नि.)

1. M. P., II. 1311–1313.
   F. B. I., III, 213.

२४. निर्गुण्डी

परिचय

गण—विषघ्न, क्रिमिघ्न (च०), सुरसादि गण (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–Verbenaceae)

नाम—लै०–वाइटेक्स निगण्डो (Vitex negundo Linn.); सं०–निर्गुण्डी (निर्गुडति शरीरं रक्षति रोगेभ्यः—जो रोगों से शरीर की रक्षा करे); हि०–सम्हालू, मेउड़ी; म०–निगड, निर्गुण्डी; गु०–नगद, नगोड़; बं०–निशिन्दा; ते०–तेल्लावाविली, ता०–नौची; मल०–इन्द्राणी; क०–बाइलनेक्की; अ०–अस्लक; फा०–पंजंगुस्त; अं०–फाइव-लीव्ड चेस्ट (Five-leaved chaste)।

स्वरूप—यह उग्रगन्धि गुल्मजातीय वनस्पति है। इसका पौधा झाड़ीदार ६–१२ फीट ऊँचा, सूक्ष्म रोमों से आवृत होता है। **पत्र**–अरहर के समान खंडित या अखंडित मसृणरोमयुक्त होते हैं। एक वृन्त पर तीन से पाँच पत्रक २–६ इञ्च लम्बे और $\frac{1}{2}$–$1\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े, प्रायः भालाकार, लंबाग्र होते हैं। पत्रक सवृन्तक होते हैं। पत्तियों के मसलने से विशिष्ट गन्ध आती है। **पुष्प**–छोटे, गुच्छेदार, श्वेत या नीलाभ, २–८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में होते हैं। पुंकेशर–४ तथा गर्भाशय २–४ कोष्ठयुक्त होता है। **फल**–गोलाकार, ·१२ इञ्च व्यास के, पकने पर कृष्णवर्ण होते हैं।

जाति—निघंटुओं में इसकी नीलपुष्पी और श्वेतपुष्पी दो जातियाँ बतलाई गई हैं। नीलपुष्पी का नाम निर्गुण्डी तथा श्वेतपुष्पी का नाम सिन्दुबार दिया है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष में होता है तथा विशेषकर उष्ण प्रदेशों में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्र में सुगंधित उड़नशील तैल और राल होती है। फल में अम्ल राल, कषाय, कार्बनिक अम्ल, सेवाम्ल, एक क्षारतत्त्व और रंग होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **विपाक**—कटु
रस—कटु, तिक्त **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन, व्रणरोपण, केश्य तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातनाशक होने से यह वेदनास्थापन एवं मेध्य है।

पाचनसंस्थान—कटु-तिक्त और उष्ण होने के कारण यह दीपन, आमपाचन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—कफवातशामक होने से यह शोथहर है (सिन्दु शोथं वारयति इति सिन्दुवारः)।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने के कारण यह कफघ्न और कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम—आमपाचन होने से यह ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह बल्य और रसायन है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है तथा दृष्टिशक्ति को बढ़ाता है।

कर्ण—कर्णस्राव को दूर करता है।

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, अण्डशोथ, सन्धिशोथ, आमवात आदि शोथवेदनाप्रधान रोगों में इसके पत्र को गरम कर बाँधते हैं या उसका उपनाह देते हैं। गर्भाशयशोथ, पक्वाशयशूल, वृषणशोथ, गुदशोथ आदि में इसके क्वाथ से कटि-स्नान कराते हैं। कंठशूल और मुखपाक में इसके क्वाथ का गंडूष देते हैं। शुष्क पत्रों के धूपन से शिरः शूल तथा प्रतिश्याय शान्त होता है। इससे सिद्ध तैल का व्रणों में प्रयोग होता है। इसके तैल का प्रयोग पालित्य रोग में भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शिरःशूल; गृध्रसी, आमवात, सन्धिशोथ आदि वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग होता है। मस्तिष्क-दौर्बल्य में भी इसका उपयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, अरुचि, आमदोष, यकृच्छोथ, कृमि आदि रोगों में प्रयुक्त होता है। इसके पत्रस्वरस का गोमूत्र के साथ प्रयोग करने से प्लीहोदर में लाभ होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथ रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और कासहर होने से कासरोग, फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरणशोथ में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में यह लाभकर होता है।

प्रजननसंस्थान—रजःकृच्छ्र और सूतिकारोग में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू, विस्फोट आदि त्वचा के विभिन्न रोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न होने से विविध ज्वरों में अनुपान के रूप में इसका पत्रस्वरस देते हैं। विषमज्वर के आक्रमण को रोकने में भी यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—यह रसायन होने के कारण सामान्य दौर्बल्य में उपयुक्त है।

नेत्र—नेत्ररोगों में इसके पत्रस्वरस का आश्चोतन तथा बीजों का अंजन करते हैं।

कर्ण—इसके पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का कर्णरोगों में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१०-२० मि० लि०; मूलत्वक् चूर्ण-३-६ ग्रा०; बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—निर्गुण्डीकल्प, निर्गुण्डीतैल।

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से दाह आदि पैत्तिक विकार उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके अहितकर प्रभावों के निवारण के लिए बबूल गोंद और कतीरा का प्रयोग करते हैं।

वक्तव्य—निर्गुण्डी के बीज रेणुका या हरेणुका के नाम से व्यवहृत होते आ रहे हैं।

इसकी एक अन्य प्रजाति V. Trifolia Linn. F. भी निर्गुण्डी के नाम से चलती है। इसमें पत्र त्रिपत्रक तथा पत्रक अवृन्त होते हैं।

× × × ×

'सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः।
नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुबहा च सा॥
सिन्दुकः स्मृतिदस्तिक्तः कषायः कटुको लघुः।
चक्षुष्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममारुतान्॥
कृमिकुष्ठारुचिश्लेष्मव्रणान्नीला हि तद्विधा। सिन्दुवारदलं जन्तुवातश्लेष्महरं लघु॥'
(भा. प्र.)

'निर्गुण्डी कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठरुजापहा। वातश्लेष्मप्रशमनी प्लीहगुल्मारुचीर्जयेत्॥'
(ध. नि.)

'सिन्दुवारः कटुस्तिक्तः कफवातक्षयापहः। कुष्ठकण्डूतिशमनः शूलहृत् काससिद्धिदः॥
कट्वुष्णा नीलनिर्गुण्डी तिक्ता रूक्षा च कासजित्।
श्लेष्मशोफसमीरार्त्तिप्रदराध्मानहारिणी॥' (रा. नि.)

'समूलफलपत्रायाः निर्गुण्ड्याः स्वरसैः घृतम्।
सिद्धं पीत्वा क्षयक्षीणो निर्व्याधिः भाति देववत्॥ (चक्र.)

'समूलपत्रां निर्गुण्डीं पीडयित्वा रसेन तु। तेन सिद्धं समं तैलं नाडीदुष्टव्रणापहम्॥
हितं पामापचीनान्तु पानाभ्यञ्जननावनैः। विविधेषु च स्फोटेषु तथा सर्वव्रणेषु च॥'
(चक्र.)

'एरण्डतैलं निर्गुण्डीस्वरसे च पृथक् पृथक्।
पीत्वा कटिप्रदेशस्थं वातं जित्वा सुखी भवेत्॥' (वैद्यमनोरमा)

F. B. I., iv, 583-584.
I. M. P., iii, 1936-1940.

२५. पलाण्डु

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी—Liliaceae)।

नाम—लै०-ऐलियम सिपा (Allium cepa Linn.), सं०-पलाण्डु (पलति रक्षति शरीरं रोगेभ्य इति-जो रोगों से शरीर की रक्षा करे); दुर्गन्ध (खराब गन्ध वाला; हि०-प्याज, पं०-गंडा; म०-कोंदा; गु०-डुंगली, डुंगरी, कांदो; सि०-बसर; क०-प्राण; ते०-निरुली; ता०-ईरुल्लि; अ०-वस्ल; फा०-पियाज; अं०-बल्ब ओनियन (Bulb onion)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध आहारोपयोगी कन्द है। इसका द्विवर्षायु **क्षुप**-२-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-लम्बे, मांसल, पोले तथा रंभाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**-हरे रंग का लम्बा होता है जिसके अग्रभाग में सवृन्तमूर्धज छोटे श्वेत पुष्प होते हैं। कभी-कभी इनके साथ कलिकाकन्द (Bulbil) भी दिखलाई पड़ते हैं। **फल**-सामान्य स्फोटी, त्रिकोष्ठीय होता है जिसमें छोटे, काले बीज होते हैं।

जाति—इसका कन्द रक्त और श्वेत दो प्रकार का होता है। बड़ा और श्वेत क्षीरपलांडु कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—पलाण्डुकन्द में प्रोटीन १.२%, कार्बोहाइड्रेट ११.६%, कैलशियम, लौह, विटामिन ए, बी १ तथा सी होते हैं। कन्द और ताजे क्षुप में

एक कटु, दुर्गन्धि उड़नशील तैल होता है। स्थिर तैल में Allyl-Propyl disulphide नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—गुरु, तीक्ष्ण; स्निग्ध
रस—मधुर, कटु
विपाक—मधुर
वीर्य—ईषत् उष्ण

कर्म

दोषकर्म—गुरु, स्निग्ध, मधुर और उष्ण होने से यह प्रमुख वातशामक है। गुरु, स्निग्ध और मधुर होने से यह कफ को तथा उष्ण, तीक्ष्ण और कटु होने से पित्त को बढ़ाता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन, शोथहर, लेखन, व्रणशोथपाचन एवं त्वग्दोषहर है। इसका स्वरस दृष्टिशक्तिवर्धक तथा कर्णशूलहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है तथा मन के रज और तम दोषों को बढ़ाने के कारण अमेध्य है।

पाचनसंस्थान—उष्ण होने से यह दीपन, रोचन, अनुलोमन एवं यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णता और तीक्ष्णता के कारण यह रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है। यह शोथ भी दूर करता है। क्षीरपलाण्डु रक्त का स्तम्भन करता है।

श्वसनसंस्थान—तीक्ष्ण और स्निग्ध होने से यह छेदन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध-मधुर होने से शुक्रजनन, उष्ण और तीक्ष्ण होने से वाजीकरण तथा आर्त्तवजनन है

सात्मीकरण—मधुर, स्निग्ध और गुरु होने से यह बल्य और ओजोवर्धक है।

त्वचा—इसमें गन्धक का अंश होने से यह कण्डूघ्न और त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि के लिए यह प्रसिद्ध औषध है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नाडीशूल, व्रणशोथ में इसका कल्क गरम कर बाँधते हैं। किलास, व्यङ्ग, न्यच्छ आदि मुखरोगों में इसके स्वरस या कल्क का लेप या उद्वर्त्तन करते हैं। दृष्टिमांद्य में इसके रस का मधु के साथ अञ्जन करते हैं। कर्णशूल में इसका स्वरस गरम कर कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका प्रयोग नाडीशूल, गृध्रसी, सन्धिवात, आक्षेपक, योषापस्मार, जलसंत्रास आदि विभिन्न वातरोगों में करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, अर्श, कामला तथा गुदभ्रंश में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और शोथरोग में इसका उपयोग लाभकर है। रक्तस्राव (नासारक्तस्राव, रक्तार्श) को रोकने के लिए क्षीरपलाण्डु का प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में देने से कफ आसानी से निकलता है और रोगी को बल मिलता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन होने से वातिक मूत्रकृच्छ्र में यह प्रशस्त है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, क्लैब्य एवं रजःकृच्छ्र में इससे लाभ होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं तथा ओजोवर्धक होने से विसूचिका, प्लेग आदि मरक रोगों से बचने के लिए इसका उपयोग करते हैं।

त्वचा—कण्डू आदि विभिन्न चर्मरोगों में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द और बीज।

मात्रा—कन्दस्वरस-१०-३० मि० लि०; बीजचूर्ण १-३ ग्रा०

अहित प्रभाव—मेधा के लिए यह हानिकारक है।

निवारण—इसके दोषों के निवारण के लिए अनार का रस देना चाहिए।

वक्तव्य—बीजों का प्रयोग वाजीकरण और लेखन कर्मों में विशेष होता है।

× × × ×

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः। पलाण्डुस्तु गुणैर्ज्ञेयो रसोनसदृशो बुधैः॥
स्वादुः पाके रसेऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तलः। हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः॥'
(भा० प्र०)

श्लेष्मलो मारुतघ्नश्च पलाण्डुर्न च पित्तहृत्। आहारयोगी बल्यश्च गुरुर्वृष्योऽथ रोचनः॥
(च० सू० २७)

'नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च।
बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित् पलाण्डुरग्निं परिवर्धयेत्तु॥
स्निग्धो रुचिष्यः स्थिरधातुकारी बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः सपिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः॥ (सु० सू० ४६)
'बीजं पलाण्डोः वृष्यः स्यात् दंतकीटप्रमेहजित्।' (नि० र०)
'रसखडयूषयवागूसंयुक्तः केवलोऽथवा जयति।
रक्तमतिवर्त्तमानं वातञ्च पलाण्डुरुपयुक्तः॥' (च० चि० ९)
'लशुनानन्तरं वायोः पलाण्डुः परमौषधम्।
साक्षादवस्थितं यत्र शकाधिपतिजीवितम्॥
यस्योपयोगेन शकाङ्गनानां लावण्यसारादिविनिर्मितानाम्।
कपोलकान्त्या विजितःशशाङ्को रसातलं गच्छति निर्विषण्णः॥' (अ० सं० उ० ४९)

स्निग्धाङ्गत्वं गौरता कान्तिमत्ता वह्नेर्दीप्तिश्चमंशुद्धिर्वृषत्वम् ।
सम्प्राप्यन्ते यन्त्रणोद्वेगयुक्तैर्यस्याभ्यासाद्दीर्घमायुः सुखं च ॥
लभते बलवर्णौजःस्वरसौमनस्यतेजांसि ।
क्षीणशक्रुत् बधिरोऽपि च रसोनवत्तद्रसं पीत्वा ॥' (गदनिग्रह)
M. P. I., I, 40–43.
W. I., I., 56–58.

२६. रसोन

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी–Liliaceae)

नाम—लैं०-एलियम् सेटाइवम् ; (Allium sativum Linn) सं०–रसोन (रसेन ऊनः-अम्लरस से रहित)[1], लशुन, उग्रगन्ध (तीक्ष्णगन्धयुक्त), यवनष्ट (यवनजाति का प्रिय), हि०–लहसुन; बं०–रशुन; म०–लसूण; गु०–लसण; मा०–लहसण; पं० सिं०–थूम; अं०–सूम, फूम; फा०–सीर, अं०–गार्लिक (Garlic)।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु वनस्पति है। इसका क्षुप १–२ फुट ऊँचा होता है। इसका कांड कोमल और आवरण तथा कोषयुक्त होता है। **पत्र**—चपटे, पतले और लम्बे होते हैं। इसका पुष्पदण्ड काण्ड के ठीक बीच से निकलता है जिसके शीर्षभाग पर गुच्छेदार श्वेत पुष्प तथा कलिकाकन्द (Bulbil) होते हैं। **कन्द**–श्वेत या रक्ताभ आवरण से आवृत तथा ५–१२ यवाकार खण्डों से युक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें उड़नशील तैल, ०.०६–०.१% होता है जिसमें Allyl-propyl sulphide 6%, Diallyl disulphide 6% तथा दो और गन्धक के यौगिक होते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, तीक्ष्ण, पिच्छिल, गुरु, सर

रस—इसमें अम्ल को छोड़कर शेष पाँच (मधुर, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) रसों की स्थिति होती है जिनमें कटु मुख्य होता है। अवयवभेद से रसों का अधिष्ठान इस प्रकार बतलाया गया है :—मूल–कटु; पत्र–तिक्त:; नाल–कषाय; नालाग्र-लवण; बीज–मधुर[2]।

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

---

१. पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः। तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः॥

२. कटुकश्चापि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः। नाले कषायः उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः (भा. प्र.)

कर्म

दोषकर्म—यह कटु और तीक्ष्ण होने से कफ का तथा स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है। उष्ण होने से रक्तपित्त को बढ़ाता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, शोथहर और वेदनास्थापन है। यह विष को भी नष्ट करता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उष्ण होने से उत्तेजक, वेदनास्थापन तथा मेध्य है। इसके सेवन से इन्द्रियों की शक्ति बढ़ती है विशेषतः दृष्टिशक्ति का विकास होता है।

पाचनसंस्थान—कटु और उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न तथा यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह हृदय को उत्तेजित करता है। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध और तीक्ष्ण होने से यह कफनिःसारक और कण्ठ्य है। उग्रगन्ध के कारण यह कफ की दुर्गन्ध को नष्ट करता है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—पिच्छिल और स्निग्ध होने से शुक्रजनन तथा उष्ण और तीक्ष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—सभी संस्थानों पर उत्तेजक क्रिया होने से यह रसायन है तथा शरीर और मन का बल बढ़ाता है। सन्धानीय भी है।

त्वचा—इसमें गन्धक का अंश होने के कारण यह कुष्ठघ्न और कोथप्रशमन है।

तापक्रम—आमपाचन और स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क से होता है और उत्सर्गकाल में इन तीनों अंगों को उत्तेजित करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, गृध्रसी, अर्दित, पक्षाघात, ऊरुस्तम्भ आदि शोथ-वेदनाप्रधान रोगों में इसका लेप करते हैं। पार्श्वशूल में भी इसके कल्क का लेप या स्वरस का मर्दन करते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों पर घर्षण करने से लाभ होता है। विषाक्त प्राणियों के दंश पर भी लगाते हैं। इसका रस या पक्व तैल कर्णशूल में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातघ्न होने के कारण पक्षाघात, गृध्रसी, सन्धिवात आदि समस्त वातविकारों तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। दृष्टिमान्द्य में इसके स्वरस का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमान्द्य, अरुचि, अजीर्ण, विबन्ध, शूल, गुल्म, कृमि और अर्श रोगों में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने के कारण हृद्रोगों में तथा हृज्जन्य शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास, यक्ष्मा और स्वरभेद में इसका प्रयोग होता है। उड़नशील तैल के कारण यह क्षय के कीटाणुओं को नष्ट करता है और सन्धानीय होने से फुफ्फुस के तन्तुओं का सन्धान करता है।

मूत्रवहसंस्थान—वातिक मूत्रकृच्छ्र में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन होने से शुक्रदौर्बल्य तथा आर्तवजनन होने से कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—रसायन होने से यह सामान्य दौर्बल्य तथा सन्धानीय होने से अस्थिभग्न में प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ और कोथ आदि त्वचा के विविध रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न होने के कारण यह जीर्णज्वर में उपयोगी है। टायफायड, डिप्थीरिया आदि रोगों में प्रतिषेधक रूप में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द, तैल।

मात्रा—कन्दकल्क–३–६ ग्रा०, तैल–१–२ बूंद।

विशिष्ट योग—रसोनवटी, रसोनपिण्ड, रसोनाष्टक, लशुनाद्य घृत, रसोनसुरा

अहित प्रभाव—तीक्ष्ण-उष्ण होने के कारण यह पैत्तिक प्रकृति तथा गर्भिणी स्त्रियों के लिए अहितकर है।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिए धनिया का प्रयोग करना चाहिए।

सेवन-विधि—रसोन का प्रयोग पैत्तिक विकारों में शर्करा, कफज में मधु तथा वातज में घृत के साथ करना चाहिए। इसके सेवनकाल में मद्य, अम्ल, मांस का सेवन हित तथा व्यायाम, आतप, क्रोध, अति-जलपान, दूध, गुड़ का सेवन अहित होता है।

वक्तव्य—काश्यपसंहिता के कल्पस्थान में 'लशुनकल्प' नामक अध्याय में लशुन का गुणकर्म तथा प्रयोग विस्तार से वर्णित है। जिज्ञासुओं के लिए वह प्रकरण अवलोकनीय है। राजनिघण्टु में महाकन्द रसोन को गृञ्जन कहा है जिसके पत्ते भी

चौड़े होते हैं। यह Allium ascalonium Linn हो सकता है। लोक में यह गन्दन के नाम से प्रसिद्ध है।

\+ + + +

'कृमिकुष्ठकिलासघ्नो वातघ्नो गुल्मनाशनः। स्निग्धश्चोष्णश्च वृष्यश्च लशुनः कटुको गुरुः॥'
(च. सू. २७)

'स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूलविबन्धगुल्मारुचिकासशोषान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तुसमीरणश्वासकफांश्च हन्ति॥' (सु. सू. ४६)
'रसोनोऽम्लरसोनः स्याद्गुरुरुष्णः कफवातनुत्।
अरुचिकृमिहृद्रोगशोफघ्नश्च रसायनः॥
रसोनोऽन्यो महाकन्दो गृञ्जनो दीर्घपत्रकः।
पृथुपत्रः स्थूलकन्दो यवनेष्टो बले हितः॥' (रा. नि.)
रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः।
रसे पाके च कटुकस्तीक्ष्णो मधुरको मतः॥
भग्नसंधानकृत् कण्ठ्यो गुरुः पित्तास्रवृद्धिदः।
बलवर्णकरो मेधाहितो नेत्र्यो रसायनः॥'
'मद्यं मांसं तथाम्लं च हित लशुनसेविनाम्।
व्यायाममातपं रोषमतिनीरं पयोगुडम्॥
रसोनमश्नन् पुरुषस्त्यजेदेतान्निरन्तरम्।' (भा. प्र.)

× × ×

W. I., I, 58–59.
M. P. I., I, 40–43.
K. Ramanujam : Leprosy in India, 34 : 174–76, April, 1963.
Chakaravarti et al : J. R. I. M., III, I, 1968.
Singh et al : J. R. I. M., IX, 4, 1974.

२७. देवदारु

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, अनुवासनोपग, कटुकस्कन्ध (च०); वातसंशमन (सु०)।

कुल—सरल-कुल (पाइनेसी–Pinaceae)।

नाम—लै०–सेड्रस देवदारु (Cedrus deodara (Roxb.) Loud.), सं०–देवदारु (देवताओं के प्रदेश–हिमालय–में होने वाली लकड़ी), भद्रदारु (श्रेष्ठ वृक्ष), सुरभूरुह (देवभूमि में होने वाला वृक्ष), हि०–देवदार, म० गु०–देवदार;

पं०–दियार; क०–दीवदार; बं०–देवदारु; ता०–देवदारु; ते०–देवदारी; अं०–देवदार (Deodar)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बहुत बड़ा प्रायः २५० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**–सीधा और मोटा प्रायः ३६ फीट परिधि का होता है। शाखायें नीचे की ओर झुकी हुई होती हैं। ऊपर की ओर शाखायें क्रमशः छोटी हो जाती हैं जिससे वृक्ष दूर से देखने पर कोणाकृति मालूम होता है। **छाल**–मोटी तथा अनुलंब परिखाओं और अनुप्रस्थ दरारों से युक्त होती है। **पत्र**–क्षोदयुक्त हरितवर्ण, लंबे, सूच्याकार और नुकीले होते हैं। ये लगभग ३–५ वर्षों तक स्थायी रहते हैं। **पुष्प**–प्रायः द्विधैकलिंगक होते हैं। **फल**–४-५ इंच लंबे तथा ३–४ इञ्च चौड़े, उत्थित होते हैं। इनका शीर्ष-भाग गोलाकार होता है तथा इनमें अनेक शल्क होते हैं। इनका किनारा पतला होता है। बीज ½ इञ्च लम्बे हलके भूरे होते हैं तथा इनका पक्ष बीज से लंबा, प्रायः त्रिकोणाकृति एवं गोलाकार पार्श्वों से युक्त होता है। अक्टूबर मास में फल निकलते हैं और एक वर्ष के बाद फल पकते हैं। देवदारु का वृक्ष प्रायः ६०० वर्षों तक जीवित रहता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर हिमालयप्रदेश में ३५०० से १२ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—देवदार की लकड़ी से एक रक्ताभ भूरे रंग का गन्ध-युक्त तेल निकलता है जिसका मुख्य घटक एक सेस्क्वीटर्पीन (Sesquiterpene) होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त एवं उष्ण वीर्य होने से कफ का तथा स्निग्ध एव उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप शोथहर, वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, कृमिघ्न, व्रणशोधन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातशामक होने से यह प्रमुख वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त होने से दीपन-पाचन तथा कृमिघ्न एवं स्निग्ध होने से अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—उष्णवीर्य होने से यह हृदयोत्तेजक एवं तिक्त होने से रक्त-प्रसादन है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध और तिक्त होने से कफनिःसारक तथा सुगन्धि होने से श्लेष्मपूतिहर है। कफवातशमन होने से हिक्कानिग्रहण भी है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण-स्निग्ध होने से मूत्रजनन तथा तिक्त होने से प्रमेहघ्न है। इसके सेवन से मूत्रगत अनेक दोष नष्ट होते हैं।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से गर्भाशय-शोधन तथा तिक्त होने से स्तन्य-शोधन है।

सात्मीकरण—कटुविपाक होने से यह लेखन है और शरीर के स्थौल्य को दूर करता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—स्वेदजनन तथा पाचन होने के कारण यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों से प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में तथा विविध चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं या तैल लगाते हैं। इसका तैल उत्तम व्रण-शोधन और व्रणरोपण है। अतः व्रणों और क्षतों में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—प्रमुख वातशामक एवं वेदनास्थापन होने के कारण इसका प्रयोग जीर्ण सन्धिवात, आमवात, गृध्रसी, शिरःशूल आदि वात-विकारों में किया जाता है।

पाचनसंस्थान—आमदोष के पाचन के लिए इसका प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त, आध्मान, विबन्ध और क्रिमिरोगों में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक एवं रक्तशोधक होने के कारण हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार में इसका प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त, शोथ, गलगण्ड तथा श्लीपद में भी यह लाभकर है। उपदंश में इसका तैल प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास और पीनस में इसका प्रयोग करते हैं। इससे दूषित कफ बाहर निकल जाता है और कफ की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है। हिक्का में भी इससे लाभ होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यदोष तथा सूतिकारोग में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—लेखन होने के कारण मेदोरोग में यह उपयोगी है।

त्वचा—यह विविध चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग अधिक होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार और तैल।

मात्रा—चूर्ण-३–६ ग्रा०; तैल २०–४० बूंद।

विशिष्ट योग—देवदार्वादि क्वाथ, देवदार्वादि चूर्ण।

× × ×

'देवदारु लघु स्निग्धं तिक्तोष्णं कटुपाकि च। विबन्धाध्मानशोथामतन्द्राहिक्काज्वरास्रजित्॥
प्रमेहपीनसश्लेष्मकासकण्डूसमीरनुत्॥' (भा. प्र.)
'देवदार्वनिलं हन्ति स्निग्धोष्णं श्लेष्मपाकतः।' (ध. नि.)
'देवदारुस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु.सू. ४५)
'दशमूलस्य वा क्वाथमथवा देवदारुणः। तृषितो मदिरां वापि हिक्काश्वासी पिबेन्नरः॥'
(च. चि. १७)

W. I., II, 106–110.
M. P. I., I, 214–215.

२८. मेदासक

परिचय

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी–Lauraceae)।

नाम—लै०—लिट्सिया ग्लुटिनोजा (Litsea glutinosa (Lour.) C. B. Robins), हि०—मैदा लकड़ी; पं०—मेदासक; मा०—कर्कमेदा; मैदा लकड़ी; म० गु०—मेदा लकड़ी; बं०—कुकुरचिते; ता०—मेदालाकवि; ते०—मेदा; अ०—मगासे हिन्दी; फा०—किल्ज।

स्वरूप—इसका सदाहरित वृक्ष ८० फीट तक ऊँचा तथा ५ फीट तक मोटा होता है। **छाल**-१ इञ्च मोटी, ऊपर से धूसरवर्ण और भीतर से रक्ताभ होती है जो जल में डालने पर पिच्छिल हो जाती है। शाखाओं, पत्रों और पुष्पदण्ड पर सूक्ष्म कोमल रोम होते हैं। **पत्र**-३-६ इंच लम्बे और सुगंधि अंडाकार-लट्वाकार या आयताकार-भालाकार होते हैं जिनमें १०–१२ जोड़ी सिरायें होती हैं। **पुष्प**-छोटे-छोटे ⅐ इंच के, सवृन्त मूर्धज पीताभ होते हैं। **फल**-मटर के समान गोलाकार काले या बैंगनी होते हैं। जून-जुलाई में पुष्प एवं सितम्बर-अक्टूबर में फल का उद्गम होता है। फल खाये जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ४५०० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संगठन—छाल में लॉरोटिटैनीन नामक क्षाराभ तथा टैनिन होता है। बीजों से एक तैल निकलता है जो उग्रगंधि तथा अस्वादु होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—कटु-तिक्त-कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—कटु और उष्ण होने से कफ का तथा स्निग्ध और उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल और तैल शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह वेदनास्थापन और आक्षेपहर है। इससे नाडियों का बल भी बढ़ता है।

पाचनसंस्थान—कटुतिक्त और उष्ण होने से यह दीपन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर तथा किंचित् रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध और कटुतिक्त होने से यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह कामोत्तेजक है।

त्वचा—इसका तैल मार्दवकर एवं वातशामक है।

प्रयोग

दोषकर्म—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में किया जाता हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, अस्थिभग्न, अभिघात, सन्धिजाड्य आदि रोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—प्रमुख वातशामक होने से गृध्रसी, वातरक्त, कटिशूल, आक्षेपक, आमवात आदि वातविकारों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—दीपन और ग्राही होने से अग्निमांद्य, अतिसार आदि उदर रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग एवं रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य रोग में देने से शैथिल्य दूर होता है।

त्वचा—रूक्षताप्रधान चर्मविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्। **मात्रा**—चूर्ण १–३ ग्रा०

वक्तव्य—मेदासक का वर्णन प्राचीन निघण्टुओं में उपलब्ध नहीं होता तथापि लोक में अत्यन्त उपयोगी औषध के रूप में यह प्रचलित है। डाक्टर श्री कालीपद विश्वास ने अपने 'भारतीय वनौषधि' में लिखा है कि इसके नाम के अनुसार अष्टवर्गोक्त मेदा के स्थान पर इसका प्रयोग किया जा सकता है किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि मेदा कन्दजातीय द्रव्य है और मेदासक वृक्ष है। गुणकर्म भी दोनों के नितान्त भिन्न हैं।

× × ×

'मेदासकः सदापर्णः गन्धपर्णश्च स स्मृतः। मध्यमाकृतिवृक्षश्च वन्यदेशोद्भवोऽपि च॥
मेदासको लघुः स्निग्धः कटुस्तिक्तः कषायकः। उष्णो वातकफौ हन्ति शोथशूलविनाशनः॥
दीपनः स्तम्भनश्चैव सर्ववातविकारनुत्। अग्निमांद्येऽतिसारे च रक्तस्रावे च युज्यते॥
(स्व०)

W. I., VI. 153–154.

२९. मुचकुन्द

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी–Sterculiaceae) ।

नाम—लै०-टेरोस्पर्मम एसिरिफोलियम (Pterospermum acerifolium Willd.), सं०-मुचकुन्द, क्षत्रवृक्ष (ढाल के समान पत्र वाला), हि० म० गु० क०-मुचकुन्द; फा०-गुले मुचकुनः बं०-मुचकुन्द चोंपा ।

स्वरूप—इसका सदाहरित वृक्ष ७५ फीट तक ऊँचा और ८-९ फीट तक मोटा होता है। **छाल**—लंबाई में फटी हुई धूसर, भूरे रंग की होती है। काण्डसार गुलाबी लाल होता है। **पत्र**—छत्राकार, सूक्ष्मरोमश, २५–३५ से० मी० लंबे, १५–३० से० मी० चौड़े, अखण्ड दन्तुर या खण्डित, आयताकार, हृदयाकृति या कभी-कभी वृत्ताकार होते हैं। नाडीविन्यास पाणिवत् होता है। उनका ऊपरी भाग हरित तथा निचला भाग श्वेतरोमश होता है। **पुष्प**—१२–१५ से० मी० व्यास के, श्वेत पीताभ, सुगन्धित, एकाकी या युग्म होते हैं। **फल**—लंबगोल, पञ्चकोणीय, गहरे भूरे तथा काष्ठीय होते हैं। **बीज**—भूरे रंग के होते हैं। मार्च-जुलाई में पुष्पोद्गम होता है। फल एक साल बाद पुष्प काल में परिपक्व होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत के पूर्वी तथा दक्षिण-पश्चिमी भाग विशेषतः पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आसाम, कोकण तथा उत्तरी कनारा में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्प में एक उड़नशील तैल होता है जिसके कारण इसमें सुगन्ध होती है। बीजों से २२.६% एक हलका पीला तैल निकलता है।

गुण

गुण—पिच्छिल **रस**—कषाय, कटु, तिक्त

विपाक—कटु **वीर्य**—किंचित् उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय रस के कारण पित्त और कफ तथा उष्ण होने के कारण वात का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग वेदनास्थापन तथा रक्त-स्तम्भन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातहर होने से यह वेदनास्थापन है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय होने के कारण यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

सात्मीकरण—यह विषों को नष्ट करता है।

त्वचा—त्वचा में उत्पन्न होनेवाले विविध कुष्ठ इससे नष्ट होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—विशेषतः वातपित्तजन्य विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका प्रलेप शिरःशूल और रक्तार्श आदि रक्तपित्त की अवस्थाओं में लाभकर है। मसूरिका में भी दाह की शान्ति के लिए इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—विविध वेदनाप्रधान वातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त के सभी प्रकारों में इसका प्रयोग करते हैं। वात-पित्तशामक तथा रक्तस्तम्भन होने के कारण रक्तार्श में इसका प्रयोग अत्यन्त उपयोगी है। इसके पुष्पों के चूर्ण का घी और चीनी में हलुआ बनाकर देने से रक्तार्श में अतिशय लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और स्वरभेद में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विभिन्न विषों में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—त्वचागत अनेक रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प।

मात्रा—३–६ ग्रा०। **विशिष्ट योग**—हिमांशु तैल।

वक्तव्य—इसकी अन्य जाति P. canescens Roxb. को भी कुछ लोग मुचकुन्द और कुछ कर्णिकार मानते हैं। उसके गुणधर्म इसीके सदृश हैं।

\+ \+ \+

'मुचकुन्दः क्षत्रवृक्षश्चित्रकः प्रतिविष्णुकः। मुचकुन्दः शिरःपीडापित्तास्रविषनाशनः॥'

(भा० प्र०)

'मुचकुन्दो बहुपत्रः सुदलो हरिवल्लभः सुपुष्पश्च।
अर्घ्यार्हो लक्ष्मणको रक्तप्रसवश्च वसुनामा॥
मुचकुन्दः कटुतिक्तः कफकासविनाशनश्च कण्ठकरः।
त्वग्दोषशोफशमनो व्रणपामाविनाशनश्चैव॥' (रा. नि.)

W. I., Vol. VIII, 308–310

३०. गोरक्ष

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी—Leguminosae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलीओनेटी—Papilionatae)

नाम—लै०-डैलबर्जिया लैंसिओलेरिया (Dalbergia lanceolaria Linn) सं०-गोरक्ष (गवां इन्द्रियाणां रक्षा येन स—जिससे इन्द्रियों की रक्षा हो) हि०-गोरख, तकोली, बिठुका; बं०-चाकेमदिया; मार०-डंडूस, कौरबी; उ०-सुजनिपति; ते०-एर्रपच्चरि; ता०-एरिगड; कन्न०-बेलग; मल०-पुलरि।

स्वरूप—इसका वृक्ष लम्बा, सीधा ७ फीट तक मोटा होता है। २५ फीट के बाद काण्ड से पहली शाखा निकलती है। **पत्र**-लगभग १ फुट लम्बा, ९-१२ पत्रकों से युक्त; पत्रक-२.५ इञ्च लम्बे, १.५ इञ्च चौड़े, आयताकार, अण्डाकार या अभिलट्वाकार—आयताकार होते हैं। पत्रकों में १२ सूक्ष्म नाड़ियाँ होती हैं तथा उनके अधस्तल पर छोटे रोम बिखरे होते हैं। नये पत्रकों में ऐसे रोम दोनों तलों पर होते हैं। **पुष्प**-गुलाबी या नीलाभ, .३-.५ इञ्च के, २-४ इञ्च की अनेक पार्श्विक या अन्त्य मञ्जरियों में होते हैं। **फली**-२-४ इञ्च लम्बी, .५-.७५ इञ्च चौड़ी, दोनों सिरों पर पतली होती है। **बीज**-१-३ होते हैं। **छाल**-चिकनी, सफेद या भूरी होती है। छाल में सारभाग नहीं होता तथापि लकड़ी मजबूत होती है।

पुष्पकाल—एप्रिल, मई; **फलकाल**-सितम्बर, जनवरी।

उत्पत्तिस्थान—यह कहीं पर अधिक संख्या में नहीं मिलता किन्तु भारत में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है। विशेषतः घाटियों, पहाड़ियों के छायादार ढलावों तथा नदी-नालों के किनारे होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में १४ प्रतिशत टैनिन होता है। इसकी मूलत्वक् में लैंसिओलेरिन (Lanciolarin) नामक ग्लाइकोसाइड पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु	**रस**—कषाय, तिक्त, कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने के कारण यह कफवातशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके बीजों का तैल तथा पत्र शोथहर तथा वेदनाहर हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने के कारण दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह व्रणशोथहर है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके बीजों का तैल आमवात, सन्धिवात आदि शोथपीड़ायुक्त रोगों में लगाते हैं। पत्तियों को भी गरम कर बाँधते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आमवात आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे वेदना शान्त हो जाती है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और विबन्ध में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—व्रणशोथ में देने से शोथ शान्त हो जाता है। सन्धिशोथ के लिए अत्युपयोगी है।

सात्मीकरण—इससे बल की भी वृद्धि होती है। अतः दौर्बल्य में भी उपयोगी है विशेषतः आमदोषजन्य दौर्बल्य में लाभकर है। आमदोष का पाचन कर यह धातुनिर्माण को ठीक करता है जिससे शरीर में बल की वृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, बीजतैल।

मात्रा—२०-३० ग्रा० (क्वाथ या अवलेह के रूप में)।

विशिष्ट योग—गोरख-अवलेह।

वक्तव्य—इसकी एक जाति D. volubilis Roxb. गौरखी के नाम से प्रचलित है। इसके गुणकर्म प्रायः इसके समान हैं।

× × × ×

शिरीषपत्रो गोरखः कषायकटुतिक्तकः।
लघुरुष्णः कटुः पाके कफवातविनाशनः॥
वेदनास्थापनः शोथहरस्त्वामविपाचनः।
आमवातेऽग्निमांद्ये च सदौर्बल्ये प्रशस्यते॥ (स्व०)

B. B. O., II, 309.
W. I. III, 2–4.
M. P. I., I, 327–330.

(च) आक्षेपजनन

३१. कुपीलु

परिचय

कुल—कारस्कर-कुल (लोगेनिएसी–Loganiaceae)।

नाम—लैं०-स्ट्रिकनस नक्सवोमिका (Strychnos nuxvomica Linn. f.)। सं०-कुपीलु (कुत्सितः पीलुः-पीलु के समान किन्तु विषाक्त होने से अग्राह्य), विषतिन्दुक (तिन्दुक के समान किन्तु विषाक्त); काकतिन्दुक (वन्य-प्रदेश में होने के कारण पक्षियों का प्रिय तिन्दुकवत् फल); काकपीलुक (कौओं के द्वारा खाये जानेवाले पीलुसदृश फलों का वृक्ष), हि०-कुचला; बं०-कुँचिला; म०-काजरा; गु०-झेरकोचला; ता०-येट्टिकोट्टाई; ते०-मुष्टिविट्टुलु; मल०-काज्जील; अ०-अजराकि, हब्बुल गुराब्; फा०-कुचूला, फुलूसेमाही; अं०-नक्सवोमिका (Nuxvomica)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बड़ा लगभग ४०-५० फीट ऊँचा होता है। **शाखाएँ**-पतली और दृढ़ होती हैं। **छाल**-पतली, चिकनी और धूसरवर्ण होती है। काण्डसार

काटने पर श्वेत किन्तु कुछ देर बाद पीताभ धूसर हो जाता है। **पत्र**–चिकने, अभिमुख, किंचित् दुर्गन्धि, लट्वाकार या गोलाकार, २–४ इंच लंबे, ·३–·५ इंच लंबे पत्रवृन्त से युक्त होते हैं। पत्तियों पर तीन मजबूत तथा दो कमजोर सिरायें ऊपर से नीचे तक होती हैं। **पुष्पदंड**–·३–१ इंच लंबा होता है जिस पर लगभग १/२ इंच लंबे सफेद या हरिताभ श्वेत, नलिकाकार पुष्प अधिकांश छोटी प्रशाखाओं के अग्रभाग पर लगते हैं। पुंकेशर पांच और गर्भाशय दो भागों में विभक्त होता है। **फल**–गोलाकार, पकने पर चमकीले नारंगी रंग का हो जाता है। फलावरण कठिन तथा फलमज्जा कोमल श्वेतवर्ण तथा अतितिक्त होती है। **बीज**–प्रत्येक फल में २ से ५ तक, १/२ इंच व्यास के और १/८ इंच मोटे, बटन के समान गोल और कठिन, श्वेतधूसरवर्ण होते हैं। वसन्त ऋतु (मार्च–अप्रिल) में फूल आते हैं और हेमन्त (दिसम्बर–जनवरी) में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्णदेशीय जंगलों में, विशेषतः मानभूम, मद्रास, ट्रावनकोर–कोचीन, कोंकण–मालाबार, उड़ीसा और लंका में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—भारत में होने वाले कुपीलु में लगभग २·६ से ३ प्रतिशत तक कुल क्षाराभ होते हैं जिनमें १·२५ से १·५ प्रतिशत स्ट्रिकनीन होता है। इसके अतिरिक्त, ब्रुसीन १·७%, वोमिसिन, स्ट्रिकनिक अम्ल से संयुक्त आइगास्युरीन; लोगानिन (एक ग्लुकोसाइड), प्रोटीड ११%, पीत रञ्जक पदार्थ, स्नेह, गोंद, श्वेतसार, शर्करा ६%, मोम, पार्थिव फास्फेट और भस्म २% होते हैं। स्ट्रिकनीन केवल बीज में तथा ब्रुसीन ताजी छाल में सबसे अधिक (३·१ प्रतिशत) और काष्ठ एवं पत्तियों में कुछ कम होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त–कटु रस एवं रूक्ष–लघु गुण के कारण कफ का तथा उष्ण होने के कारण वात का शमन करता है। अतिमात्रा में तथा अशोधित अवस्था में देने पर यह ओजःक्षय के द्वारा वायु को प्रकुपित करता है जिससे आक्षेप उत्पन्न होते हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप शोथहर, पूतिहर एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातशामक होने से यह वेदनास्थापन तथा तीक्ष्ण होने से उत्तेजक और नाडीबल्य है। अधिक मात्रा में आक्षेपजनन है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त होने के कारण दीपन, पाचन तथा ग्राही अधिक है। वातशामक होने से शूलप्रशमन भी है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से हृदयोत्तेजक और रक्तभारवर्धक है। कफनाशक होने से शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से कफघ्न और कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—उत्तेजक होने से यह बस्तिशैथिल्य को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक तथा बल्य है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न एवं स्वेदापनयन है।

तापक्रम—विषमज्वर को रोकने के लिए यह अतिप्रशस्त है।

शोषण और उत्सर्ग—स्ट्रिकनीन का शोषण आंतों से शीघ्र होता है। उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र द्वारा होता है। कुछ अंश यकृत् में भी चला जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, आमवात आदि में इसके बीजों का लेप करने से वेदना शान्त हो जाती है। व्रणों और क्षतों में पत्तियों की पुल्टिस दी जाती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से नाडीशूल, अर्दित, पक्षाघात, अनिद्रा आदि वातविकारों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—कफवातशामक एवं दीपन-पाचन और ग्राही होने से यह अग्निमांद्य, आमाशयशोथ, आमदोष, ग्रहणी, उदरशूल और अर्श में लाभकर है। क्रिमिरोग में भी लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक और शोथहर होने से हृदयशैथिल्य, हृत्कपाटविकृति हृदयोदर आदि विकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और फुफ्फुसशोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्ति की शिथिलता के कारण जब मूत्र बूंद बूंद कर बराबर आया करता है या बच्चों को शय्यामूत्र होता है तब यह लाभ करता है।

प्रजननसंस्थान—शीघ्रपतन, ध्वजभंग आदि दौर्बल्यजनित रोगों में दिया जाता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन करते हैं। विशेषतः वृद्धावस्थाजन्य दौर्बल्य में यह अतिशय प्रयुक्त होता है जब नाड़ियाँ शिथिल हो जाती हैं, नींद कम आती है तथा भूख भी कम हो जाती है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू, अतिस्वेद में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—शीतप्रधान विषमज्वर में देने से शीतजन्य उपद्रव दूर होते हैं और ज्वर का वेग रुक जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीजमज्जा।

मात्रा—६०–२५० मि० ग्रा०

विशिष्ट योग—अग्नितुण्डी, विषमुष्टि, नवजीवन, लक्ष्मीविलास, किमिमुद्गर, कुपीलुहिंग्वादि।

विष-लक्षण—अतिमात्रा में तथा अशोधित रूप में सेवन करने से समस्त शरीर की पेशियों में आक्षेप आने लगते हैं और धनुःस्तम्भ के समान लक्षण उत्पन्न होते हैं। १०–३० मिनट में ही ये लक्षण प्रकट होते हैं और थोड़ी देर में ही श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—विषलक्षण प्रारम्भ होते ही आमाशय का प्रक्षालन करे और वात-पित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करे यथा गोदुग्ध में घी मिलाकर पिलावे या बिहीदाने का लुआब पिलावे। अफीम, बेलाडोना, कपूर, गांजा, तम्बाकू आदि प्रतिविषों का भी प्रयोग करे।

शोधन—सात दिन तक गोमूत्र में रखने के बाद छिलका निकाल कर गोदुग्ध में उबाल ले। तत्पश्चात् गोघृत में भून ले। इस प्रकार शुद्ध कुचले का प्रयोग निरापद होता है।

वक्तव्य—(१) कुछ व्यक्ति अभ्यास से इसकी अधिक मात्रा का सेवन करने लगते हैं। अतः इसके प्रयोग-काल में सहिष्णुता पर भी विचार कर लेना आवश्यक है।

× × × ×

'कारस्करः कटूष्णश्च तिक्तः कुष्ठविनाशनः। वातामयास्रकण्डूतिकफामार्शोव्रणापहः॥'

(रा. नि.)

I. P., 492–495

(छ) आक्षेपशमन

३२. ऊदसलीब

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी—Ranunculaceae).

नाम—लै०-पिओनिआ एमोडी (Peonia emodi Wall.) हि०-ऊदसालप; बं०-ऊदसालाम; पं०-मामेख; चन्द्रा क०-मिद, महामेद; अ०-ऊदुल-सलीव, उदसलीब; अं०-हिमालयन पिओनी (Himalayan peoni).

स्वरूप—इसका क्षुप या झाड़ीदार बहुवर्षायु पौधा १–२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**–६–१२ इञ्च लम्बे, २–३ आयताकार या भालाकार खंडों में विभक्त होते हैं। **पुष्पदंड**–लम्बा, टेढ़ा और बैंगनी रंग का होता है। पुष्प एकलिंगी होते हैं। **पुष्प**–६–१० से० मी० व्यास के, सफेद या लाल, प्रायः एकाकी, कभी-कभी एक साथ दो या तीन होते हैं। पुष्पदल–५–१० श्वेतवर्ण होते हैं और उनका अग्रभाग कुछ कटा हुआ होता है। पुंकेशर–अनेक, पीतवर्ण होते हैं। **फल**–१–३ इञ्च लम्बे, ½–¾ इञ्च मोटे, लंबगोल, बाहर की ओर धूसरवर्ण रेखायुक्त और भीतर की ओर श्वेत पिच्छमय भाग से युक्त होते हैं। **मूल**–मांसल गुच्छों में होते हैं। मई मास में फूल आते हैं। इसकी कोमल शाखाओं को सब्जी बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह ५–१० हजार फीट की ऊँचाई पर कश्मीर से कुमायू तक होता है। पहलगाम (कश्मीर) की लिदर घाटी में प्रचुर मात्रा में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, एक स्थिर तैल, बेन्जोइक अम्ल तथा टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त-कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष-लघु और तिक्त-कटु होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य, नाडीबल्य, आक्षेपशमन और वेदना-स्थापन है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल शूलप्रशमन, पित्तसारक और यकृदुत्तेजक है। बीज वामक और रेचक है तथा पुष्प स्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन तथा गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य रोगों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका मूल निम्बपत्र के साथ पीसकर अभिघात और भग्नस्थान पर लेप करने से शोथ और वेदना नष्ट हो जाती है। लेखन होने से व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में लगाते हैं। इसका मूल बालकों के गले में पहना देने से बालापस्मार नहीं होता।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक और विशेषतः आक्षेपशमन होने से आक्षेपक, अपस्मार, अपतन्त्रक, कम्पवात, अर्दित, पक्षाघात, उन्माद, मस्तिष्कशोथ आदि रोगों में फलप्रद है।

पाचनसंस्थान—उदरशूल, जलोदर, यकृच्छोथ और कामला में इसका मूल देते हैं। पुष्पों का फाण्ट अतिसार में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशूल, वृक्कशूल और अश्मरी में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन होने से कष्टार्तव और अन्य गर्भाशयविकारों में शोधनार्थ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ तथा अन्य रक्तविकारों में इसके मूल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग— मूल।

मात्रा—चूर्ण १-३ ग्रा०।

अहित प्रभाव—इसके अधिक मात्रा में सेवन से शिरःशूल, भ्रम, कर्णनाद, वमन आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिए गुलकन्द, मुलेठी आदि वातपित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × × ×

'बृहत्खण्डितपर्णः रम्यपुष्पस्तूदसालपः। बहिर्धूसरवच्चान्तःश्वेतमूलः प्रकीर्त्तितः॥
कफस्तीक्ष्णो लघुस्तिक्तः कटुरुष्णो विनाशयेत्। आक्षेपकार्दितोन्मादशूलोदरयकृद्रुजः॥
बस्तिवृक्काश्मरीशूलं कष्टार्त्तवमसृग्व्यथाम्। पुष्पं स्तम्भनमत्रातिप्रशस्तमतिसारिणाम्॥'

(स्व०)

W. I., VII, 211

३३. भूर्जपत्र

परिचय

कुल—भूर्ज-कुल (बेटुलेसी–Betulaceae)

नाम—लै०-बेटुला युटिलिस (Betula utilis D. Don.). सं०-भूर्जपत्र, भूर्ज, चर्मी (प्रशस्त मृदु छाल वाला) बहुलवल्कल (प्रचुर छाल वाला), बहुपुट (छालों की पर्त वाला) लेख्यपत्रक (त्वचा कागज के समान लिखने योग्य), हिं०-भोजपत्र; म०-भूर्जपत्र; गु०-भोजपत्र; बं०-भूर्ज्जपत्र; अं०-जैक्वीमन ट्री (Jacquemon tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का ६५ फीट तक ऊँचा होता है। **छाल**—कोमल, चमकीली, रक्ताभ श्वेत और कागज की तरह पतली होती है। छाल अनुप्रस्थ दिशा में छूटती रहती है। **काष्ठ**—श्वेतवर्ण रक्ताभ होता है। **पत्र**—२-३ इञ्च लम्बे, १½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, लम्बाग्र, बिन्दुयुक्त और दन्तुर होते हैं। पत्रसिरायें ८-१२ जोड़ी होती हैं। **बीज**—पक्षयुक्त होता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प निकलते हैं एवं शरद् ऋतु में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में ५ हजार फीट से ऊपर १४ हजार फीट तक सिक्किम और भूटान से लेकर पश्चिम तक होता है। तिब्बत और चीन तक मिलता है।

रासायनिक संघटन—बाह्य त्वचा में Betulin, lupeol, oleanolic acid, acetyl oleanolic acid तथा Leucocyanidin मिलते हैं। अन्तस्त्वक् में Leucoanthocyanidin रहते हैं।

गुण

गुण—लघु	**रस**—कषाय	**विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण	**प्रभाव**—त्रिदोषघ्न	

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय होने से कफ और पित्त का एवं उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह प्रभाव से तीनों दोषों को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग कीटाणुओं को नष्ट करता है एवं पूतिहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह मेध्य और आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—कषाय होने से यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—कषाय होने के कारण रक्तपित्तशामक एवं रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

सात्मीकरण—लघु और कषाय होने से यह मेदोधातु को कम करता है और विषनाशक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं जिससे कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और उनका रोपण शीघ्र होता है। कर्णशूल, कर्णस्राव में भी इससे प्रक्षालन करते हैं और इसका तैल डालते हैं। भूतबाधा एवं ग्रहदोष में इसका धूप देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार, आक्षेपक, अपतंत्रक आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से अतिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देने से पित्त शान्त हो जाता है और रक्तस्राव बन्द होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग और विष की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा०, क्वाथ—५-१० मि० लि०

× × ×

'भूर्जपत्रः स्मृतो भूर्जश्चर्मी बहुलवल्कलः। भूर्जो भूतग्रहश्लेष्मकर्णरुक्पित्तरक्तजित्॥
कषायो राक्षसघ्नश्च मेदोविषहरः परः।' (भा. प्र.)

'भूर्जो वल्कद्रुमो भूर्जः सुचर्मा भूर्जपत्रकः। चित्रत्वग्बिन्दुपत्रश्च रक्षापत्रो विचित्रकः॥
भूतघ्नो मृदुपत्रश्च शैलेन्द्रस्थोऽद्रिभूमिजः। भूर्जः कटुकषायोष्णो भूतरक्षाकरः परः।
त्रिदोषशमनः पथ्यो दुष्टकौटिल्यनाशनः॥' (रा. नि.)

V. M. Chari et al : Ind. Jour. chem. 6, 5, 1968, 231–234.

—⊶⊷—

द्वितीय अध्याय

चक्षुष्यादि वर्ग

इस अध्याय में नेत्र, कर्ण, नासा, जिह्वा और त्वचा इन इन्द्रियाधिष्ठानों पर विशेष रूप से कर्म करने वाले द्रव्यों का वर्णन किया जायगा।

(क) नेत्र

नेत्र पर कर्म करने वाले द्रव्यों के निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं, यथा—

१. **चक्षुष्य**—ममीरा, पियारांगा, चक्षुष्या, कतक आदि।
२. **तारकाविकासी**—सूची, धतूर आदि।
३. **तारकासंकोचक**—अहिफेन आदि।

३४. ममीरा

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी–Ranunculaceae)

नाम—लै०—कॉप्टिस तीता (Coptis teeta wall.); सं०–तिक्तमूला; हि०–म०–ममीरा, ममीरी, हलदिया बछनाग; गु०–ममीरो, ममीरी; आ०–मिश्मी तीता; अ०–मम्मीरान; अं०–गोल्डेन थ्रेड रूट (Golden Thread root)।

स्वरूप—इसका काण्डरहित छोटा क्षुप होता है। मूल बहुवर्षायु, अनुप्रस्थ, बाहर से पीला भूरा और भीतर की ओर सुनहला पीला, गाँठदार, काष्ठीय, सघन सूत्रमय तथा अत्यन्त तिक्त होता है। **पत्र**–चिकने, पत्रवृन्त ६-१२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पत्रक**–२-३ इञ्च लम्बे, लट्वाकार-भालाकार, खण्डित (अन्तिम खण्ड सबसे बड़ा) होते हैं। पत्तियों के बराबर निष्पत्र कोमल पुष्पदण्ड पर १-३, छोटे, सफेद सवृन्त पुष्प होते हैं। बहिर्दल–५-६, आयताकार-भालाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। अन्तर्दल–५-६, पतले, गोलाग्र, बहिर्दल से ⅓ छोटे होते हैं। **बीज**–अनेक काले रङ्ग के होते हैं। **मूल**–पीले रङ्ग का होता है अतः रङ्ग के आधार पर 'हलदिया बछनाग' एवं 'गोल्डेन थ्रेड रूट' संज्ञायें हैं। इसे आसामी लोग 'मिश्मी तीता' कहते हैं कारण कि यह आसाम की मिश्मी पहाड़ियों में होता है और स्वाद में तिक्त होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में १८.६ प्रतिशत बर्बेरिन (Berberine) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—आसाम की ऊपरी सीमापर मिश्मी पहाड़ियों में होता है अतएव यह 'मिश्मी तीता' के नाम से प्रसिद्ध है। चीन में भी होता है। चीनी ममीरा उत्तम माना जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से वात तथा रूक्ष और तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है और विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, शोथहर एवं दृष्टिशक्तिवर्धक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ को नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—रूक्षतिक्त होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने के कारण कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

त्वचा—तिक्त होने के कारण यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह आमपाचन होने के कारण ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में विशेषतः कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द में आँख पर इसका लेप करते हैं। अन्य औषधों के साथ इसका द्रव बना कर नेत्ररोगों में भी डालते हैं। इसका सुरमा भी बनाते हैं जिसका उपयोग दृष्टिदौर्बल्य, अव्रणशुक्ल, तिमिर आदि नेत्ररोगों में करते हैं। श्वित्र तथा क्षुद्ररोगों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य और विबन्ध में लाभ करता है। यकृदुत्तेजक होने से पित्त का स्राव बढ़ाता है जिसके कारण अवरोधज कामला में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास-श्वास में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में दिया जाता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य विशेषतः ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ और श्वित्र में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः विषमज्वर में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण—१-३ ग्रा०, १½-२ ग्रा० (विषमज्वरप्रतिबन्ध के लिए ज्वर के पूर्व तीन मात्रा)।

वक्तव्य—इसकी जड़ का कुटकी तथा पियारांगा में अपमिश्रण किया जाता है।

× × × ×

'ममीरा तिक्तमूला स्यात् कामरूपसमुद्भवा। स्निग्धखण्डितपत्रा च सितपुष्पाऽतितिक्तका।
तिक्तमूला कटुस्तिक्ता रूक्षोष्णा दीपनी सरा। चक्षुष्या पाचनी रुच्या कफपित्तहरा मता॥
यकृदुत्तेजनी चैव विषमज्वरनाशिनी। नेत्रामये यकृद्रोगे कुष्ठे शोथे कफामये॥
कासे श्वासे तथा मूत्रकृच्छ्रे मेहे च पूयजे। ज्वरौत्तरिकदौर्बल्ये ज्वरे चापि प्रशस्यते॥(स्व.)

३५. पियाराँगा

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी–Ranunculaceae)

नाम—लै०–थैलिक्ट्रम फॉलिओलोजम (Thalictrum foliolosum DC.); सं०–पीतरंगा; हि०–पियाराँगा, पीली जड़ी।

स्वरूप—इसका ४–८ फीट ऊँचा बहुवर्षायु क्षुप होता है। **पत्र**–अतिशय खण्डित, पक्षाकार; पत्रक ⅙–¼ इंच के गोलाकार, गोलदन्तुर होते हैं। पत्राधार कोषमय होता है। मञ्जरी अनेक शाखाओं में विभक्त, कोणापुष्पक छोटे। **पुष्प**–हलके हरे या बैंगनी होते हैं। परागकोश चंचुवत् होता है। **फल**–छोटे, गोलाकार, दोनों सिरों पर नुकीले तथा तीक्ष्ण धारियों से युक्त होते हैं। इसके **मूल**–रक्ताभ पीत ६–८ इञ्च लम्बे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ५ से ८ हजार फीट तथा खासिया पहाड़ियों पर ४–६ हजार फीट की ऊँचाई पर मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बर्बेरिन नामक क्षाराभ होता है।

गुण-कर्म

इसके गुण-कर्म ममीरा के समान हैं किन्तु यह उष्ण अधिक होता है तथा इसमें वेदनास्थापन, कफनिःसारक, विसूचिकाहर तथा सर्पविषनाशक कर्म विशिष्ट होते हैं।

प्रयोग

बाह्य—शोथ और वेदना में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विसूचिका के लिए यह उत्तम औषध है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने के कारण कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ आदि विकारों में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में बाह्य और आभ्यन्तर दोनों रूपों में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-३ ग्रा०

× × ×

पीतरंगा ममीरायास्तुल्या किन्तु विशेषतः। वातश्लेष्महरा सर्पविषघ्नी सूचिकाहरा॥(स्व.)

३६. चक्षुष्या

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae).

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिआयडी–Caesalpinioideae).

नाम—लै०–कैसिया ऐबसस (Cassia absus Linn.); सं०–चक्षुष्या (नेत्रों के लिए हितकर), अरण्यकुलत्थिका (वन में होने वाली कुलथी के समान); हि०, पं०–चाकसू, बनकुलथी; म०–चिनोल; गु०–चिमेड़, चमेड़; सिं०–चवर; क०–कीड, निन्द्रताद; ता०–करुम; ते०–चनुपलविट्टुलु; अ०–जश्मीजज; फा०–चश्मीजज।

स्वरूप—इसका चिपचिपा रोमश क्षुप एकवर्षायु १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-संयुक्त; पत्रक चार, ½-¾ इञ्च लम्बे, लट्वाकार प्रायः कुण्ठिताग्र होते हैं। पत्रकद्वय के बीच में एक ग्रन्थि होती है। पत्तियाँ तिक्त-कषाय होती हैं। **पुष्प**-१-२ इञ्च लम्बी शाखाग्रीय मंजरियों में, छोटे, रक्त या पीत होते हैं। पुंकेशर चार होते हैं। **फल**-१-१½ इञ्च लम्बा, चपटा और रोमश होता है। **बीज**-संख्या में पाँच, चिपटे, आयताकार, चमकीले काले होते हैं। **बीजमज्जा**-पाण्डुवर्ण होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी हिमालयप्रदेश से लेकर लंका तक सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—बीजमज्जा में १.५% Chaksine तथा isochaksine नामक दो जलविलेय सक्रिय द्रव्य पाये जाते हैं। बीज से एक तैल भी प्राप्त होता है।

गुण

गुण—रूक्ष	**रस**—तिक्त, कषाय	**विपाक**—कटु
वीर्य—शीत	**प्रभाव**—चक्षुष्य	

कर्म

दोषकर्म—यह कषायतिक्त होने के कारण विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग लेखन, शोथविलयन और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कषाय होने के कारण यह ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—काषायरस के कारण यह रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न और लेखन होने से मेदोनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्रशोथ में पलकों पर लेप करते हैं तथा दृष्टिमांद्य, नेत्राभिष्यन्द, पोथकी, नेत्रस्राव आदि नेत्ररोगों में सुरमा के रूप में प्रयोग करते हैं। पूययुक्त नेत्राभिष्यन्द में इसका अवचूर्णन नेत्र में करते हैं। इसका प्लास्टर बना कर क्षतों में तथा व्रणों में विशेषतः जननेन्द्रिय के व्रणों में लगाते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों में भी लाभकर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—ग्राही होने से ग्रहणी, प्रवाहिका और रक्तातिसार में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव को रोकने के लिए विशेषतः अधोग रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—छिलके सहित बीजों का चूर्ण मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी आदि में देते हैं।

सात्मीकरण—स्थावर-जंगम विषों में तथा मेदोरोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—चूर्ण–१–३ ग्रा०।

वक्तव्य—चाकसू के बीजों को साने हुए आँटे में रख आग पर गरम करते हैं। तत्पश्चात् छिलका निकालकर बीजमज्जा का नेत्ररोगों में प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'चक्षुष्या दृक्प्रसादा च सैव प्रोक्ता कुलत्थिका। कुलाली लोचनहिता कुम्भकारी मलापहा॥
हिमा प्रोक्ता कषाया च विषं स्थावरजंगमम्। छिनत्ति योजिता सम्यक् नेत्रस्रावाननेकशः॥
सा च विस्फोटकण्ड्वर्तिव्रणदोषनिबर्हणी। (ध. नि.)
'कुलत्थिका तु चक्षुष्या कषाया कटुका हिमा। विषविस्फोटकण्डूतिव्रणदोषनिबर्हिणी॥'
(रा. नि.)

कुलत्था दृक्प्रसादा च ज्ञेयाऽरण्यकुलत्थिका।
कुलाली लोचनहिता चक्षुष्या कुम्भकारिका॥
कुलत्थिका कटुस्तिक्ता स्यादर्शःशूलनाशनी।
विबन्धाध्मानशमनी चक्षुष्या व्रणरोपणी॥ (रा. नि.)

'आरन्याशङ्कगणरसे पटावबद्धाः
सुस्विन्ना नखवितुषीकृताः कुलत्थाः ।
तच्चूर्णं सकृदवचूर्णनाद्विशीथे
नेत्राणां विधमति सद्य एव कोपम् ॥' (अ. सं. उ. १६।९)

Pradhan et al : J. Sc. Ind. Res. 12 B, 358, 1953.
M. L., Chatterjee et al : Bull. Cal. Sch. Trop. Med.,
9 : 51–52, April, 1961; 122–123; July, 1961;
10 : 13–14, Jan. 1962.

३७. कतक

परिचय

कुल—कारस्कर-कुल (लोगॅनिएसी–Loganiaceae).

नाम—लॅ०–स्ट्रिकनस पौटॅटोरम (Strychnos potatorum Linn.); सं०–कतक, पयःप्रसादी (जल को स्वच्छ करने वाला), चक्षुष्य (नेत्रों के लिए हितकर); हि०–निर्मली; बं०–पं०–निर्मली; ता०–टेटन–कोट्टई; ते०–चिल्लचेट्टु; अं०–क्लियरिंग नट (Clearing nut)।

स्वरूप—इसका छोटा सघन शाखायुक्त वृक्ष होता है जिसकी छाल कृष्णाभ, फटी हुई होती है। **पत्र**–अण्डाकार या लट्वाकार, १·५–५ इञ्च लंबे, अत्यन्त छोटे पत्रवृन्तों से लगे होते हैं। **पुष्प**–सुगंधित, श्वेत, सघन मञ्जरियों में निकलते हैं जो गिरी हुई पत्तियों के अक्ष में होती हैं। **अन्तर्दल**–घंटिकाकार, ·१२–·१८ इञ्च लंबे, भीतर की ओर श्वेत रोमगुच्छों से युक्त होते हैं। अन्तर्दल के खंड नलिका से बड़े होते हैं। **फल**–गोलाकार, ·५–·७ इंच व्यास के, कठिन आवरण एवं मज्जायुक्त होते हैं जिसके भीतर प्रायः १ या कभी-कभी २, ·४–·५ इंच लंबे बीज होते हैं। **बीज**–कुचले के सदृश किन्तु छोटे, उन्नतोदर और श्वेत होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण भारत, बंगाल तथा बर्मा में विशेषतः होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में स्ट्रिकनीन नहीं होता किन्तु कुछ ब्रुसीन होता है।

गुण

गुण—लघु, विशद　　**रस**—मधुर, कषाय, तिक्त　　**विपाक**—मधुर
वीर्य—शीत　　**प्रभाव**—चक्षुष्य

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय और तिक्त होने से कफ का तथा मधुर होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लोक में अति प्राचीन काल से जलशोधन के कार्य में व्यवहृत होता है। जलपूर्ण पात्र में इसे घिस कर देने से सारी गन्दगी नीचे बैठ जाती है और ऊपर का जल स्वच्छ हो जाता है। यह लेखन है अतः मधु में घिस कर अञ्जन करने से नेत्र के जीर्ण अभिष्यन्द, शुक्र आदि कफवातप्रधान विकार नष्ट हो जाते हैं। इसके बीजों का चूर्ण मधु में मिलाकर विद्रधि पर लगाने से पाचन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, दीपन, स्तम्भन और छेदन है। अधिक मात्रा में वामक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन एवं अश्मरीभेदन है।

त्वचा—इसका मूल कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह जीर्ण अभिष्यन्द, शुक्र आदि नेत्ररोगों में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—बीजों का प्रयोग अग्निमान्द्य, अरुचि, अतिसार एवं गुल्म होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—मूल का प्रयोग कुष्ठ रोग में होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१–३ ग्रा०; वमनार्थ–६ ग्रा०।

× × × ×

'कतं कतफलं कास्यं श्लक्ष्णं वारिप्रसादनम् । तोयप्रसादनफलं चक्षुष्यं लेखनात्मकम् ॥
कतकं तु वरं तिक्तं विशदं शीतलं लघु । बिकासि मधुरं छेदि चक्षुष्यं कफवातनुत् ॥
तृष्णां दाहं विषं गुल्मं हन्ति तोयमलापहम् ।'
'तस्यैव च फलं पक्वं वातकृन्मेहनाशनम् । सुपिच्छिलं छर्दिकरं श्लेष्मपित्तप्रसेककृत् ॥
शोफपाण्डुप्रतिश्यायकामलागरनाशनम् । कतकस्य च मूलं तु सर्वकुष्ठप्रणाशनम् ॥'
(कै. नि.)

'कतकं शीतलं प्राहुस्तृष्णाविषविनाशनम् । नेत्रोत्थरोगविध्वंसि विधिनाऽञ्जनयोगतः ॥
कतकस्य फलं तिक्तं चक्षुष्यं शीतलं मृदु । वारिप्रसादनं कृच्छ्रं शर्करामश्मरीं जयेत् ॥'
(ध. नि.)

'पयःप्रसादी कतकः कतकं तत्फलं च तत् । कतकस्य फलं नेत्र्यं जलनिर्मलताकरम् ॥
वातश्लेष्महरं शीतं मधुरं तुवरं गुरु ।' (भा. प्र.)

(ख) कर्ण्य

सुदर्शन, पारिभद्र आदि द्रव्य कर्ण्य हैं। इनका कर्ण पर विशेष कर्म होता है।

३८. सुदर्शन

परिचय

कुल—तालमूली-कुल (एमेरिलिडेसी-Amaryllidaceae)

नाम—लै०—क्राइनम लैटिफोलियम (Crinum latifolium Linn.); सं०-सुदर्शन (देखने में सुन्दर); चक्रांगी (गोल कन्द वाली), दध्याली; हि०-सुदर्शन; बं०-सुखदर्शन; ता०-विषपुंगिल।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु **क्षुप**-२-३ हाथ ऊँचा होता है। **पत्र**-अनेक, २-४ फीट लम्बे और ३-४ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्र हरितवर्ण और भूमि से निकलते प्रतीत होते हैं। **पुष्प**-क्षुप के मध्य से निकलते हैं और १ फुट लंबे, १ इञ्च चौड़े पुष्पदंड पर ८-१०, बड़े, श्वेतवर्ण, गुलाबी धब्बों से युक्त, नीचे की ओर झुके हुए होते हैं। **फल**-गोलाकार, २-२½ इञ्च व्यास के, त्वचा पर प्रायः २५ अनुलम्ब रेखाओं से युक्त होता है। **बीज**-लगभग १२, बड़े, कोणयुक्त होते हैं।

पत्तियाँ जून में निकलती है और फूल इसके पूर्व ही मई-जून में निकल जाते हैं। जाड़े में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

फल गोलाकार, ५-५½ इञ्च व्यास का, लम्बी, मजबूत ग्रीवा से युक्त अतिकटु होता है।

उत्पत्तिस्थान—उड़ीसा, छोटानागपुर, बंगाल आदि में विशेषरूप से उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लाइकोरिन (Lycorin) नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण　　**रस**—मधुर, तिक्त

विपाक—मधुर　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, तिक्त एवं उष्ण होने से कफ का तथा मधुर और उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, वेदनास्थापन, विद्रधिपाचन एवं जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से वामक और रेचक है।

रसवहसंस्थान—शोथ को दूर करता है।

त्वचा—स्वेदजनन एवं कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस कर्णशूल, कर्णस्राव आदि कर्णरोगों में उपयोगी है। सन्धिवात आदि शोथवेदनाप्रधान रोगों में इसकी पत्तियों से स्वेदन करते हैं या गरम करके उनका लेप करते हैं। इसका कन्द पीस कर गरम लेप देने से अर्श की पीड़ा शान्त होती है तथा विद्रधि पर देने से वह पक कर फूट जाती है। इसका पत्र प्रबल जन्तुघ्न है। इसकी पत्तियाँ घरों में रखने से कीड़े मर जाते हैं। सूखी पत्तियों के धूपन से मच्छड़ नष्ट हो जाते हैं। चर्मरोगों में इसके पत्रस्वरस से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उभयतोभागहर होने से विष आदि की अवस्थाओं में संशोधनार्थ उपयोग करते हैं।

रसवहसंस्थान—शोथरोग में भी यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ और अन्य रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर के लिए प्रसिद्ध औषध है।

प्रयोज्य अंग—पत्र और कन्द।

मात्रा—पत्रस्वरस-५-१० मि. लि., कन्दचूर्ण-१-२ ग्रा.।

वक्तव्य—इस जाति की दो अन्य वनस्पतियाँ C. asiaticum Linn और C. defixum Ker-Gawl क्रमशः नागदमनी (बृहत् कन्दली) तथा कन्दली के नाम से प्रसिद्ध है। कन्दली को लोकभाषा में बिसकुनरी भी कहते हैं। इसका कन्द विषाक्त होता है। इसकी न्यूनतम घातक मात्रा प्रायः १·७५ ग्रा० प्रति कि० ग्रा० शरीरभार है।

× × ×

'सुदर्शना सोमवल्ली चक्रांगी मधुपर्णिका। वत्सादनी च दध्याली मेचका मेचका तथा॥
दध्याली स्वादुतिक्तोष्णा कफशोफास्रवातजित्।' (कै० नि०)

३९. पारिभद्र

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-एरिथ्रिना वेरीगेटा (Erythrina variegata Linn. Var. orientalis (Linn) Merrill); सं०-पारिभद्र (सर्वथा कल्याणकारक); कंटकीपलाश (पलाश के समान वृक्ष किन्तु कंटकयुक्त); रक्तपुष्प (रक्तवर्ण पुष्प वाला), हि०-फरहद; बं०-पाल्ते मादार; म०-पांगारा; गु०-परारू; ता०-कालियान; ते०-बादाचिपा चेट्टु; अ०-इण्डियन कोरल ट्री (Indian coral tree)।

स्वरूप—इसका मध्यमाकार शीघ्र बढ़नेवाला **वृक्ष**–६० फीट तक ऊँचा होता है। **छाल**–पीताभ या धूसर और चमकीली होती है जिससे कागज की तरह पतली पर्त छूटती रहती है। प्रशाखाओं पर छोटे, गहरे रंग के कोणीय कांटे होते हैं। **पत्र**–पलाश के समान त्रिपत्रक होते हैं जिनमें दो पत्रक पत्रदंड के दोनों ओर और एक पत्रक आगे की ओर होता है। **पत्रक**–४–६ इञ्च लम्बे और लगभग इतने ही चौड़े, विषम चतुर्भुज के समान होते हैं। **पुष्प**–बड़े, रक्तवर्ण होते हैं। पुष्पमूल में एक मधुर द्रव होता है जिसे उलट कर चूसा जा सकता है। **फल**–सेम के समान ½–१ फुट लंबा होता है जिसमें १२ तक बीज, आयताकार, चिकने, लाल या भूरे रंग के होते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के जंगलों में तथा उद्यानों में लगाया हुआ पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में राल, स्थिर तैल तथा वसाम्ल के अतिरिक्त, एरिसोडिन, एरिसोविन, एरिसोनिन, हाइपेफोरिन तथा एरिसोट्रिन नामक क्षाराभ पाये गये हैं। पत्तियों में एरिसोट्रिन, एरिसोडिन, तथा एरिथ्रोलिन पाये गये हैं। बीजों में हाइपेफोरिन, एरिसोपिन तथा एरिसोटिन पाये जाते हैं। छाल, पत्र तथा बीज में क्षाराभ का प्रतिशत क्रमशः ०·११, ०·०३५ तथा ०·०८२ होता है। बीजों में एक स्थिर तैल ११–१३% होता है।

गुण

गुण—लघु	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त और उष्ण होने के कारण यह कफ एवं वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग शोथहर, व्रणशोधन और कर्णरोगघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातशामक होने से यह मस्तिष्कशामक, आक्षेपहर और निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त और उष्ण होने से यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, शूलहर और कृमिघ्न है। यह पित्तस्राव को बढ़ाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्तवजनन एवं वाजीकरण है।

सात्मीकरण—मेदोनाशक है। कुपीलुविष का यह प्रतिरोधी है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—पत्रस्वरस कर्णरोगों में डालते हैं। ग्रन्थिशोथ, सन्धिशोथ, व्रणशोथ एवं नेत्राभिष्यन्द में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आक्षेपक, अनिद्रा आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, शूल, कृमि और विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—अनेक रक्तविकारों फिरंग–उपदंश आदि में तथा शोथ में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्तव एवं ध्वजभंग में इसका प्रयोग लाभकर है।

सात्मीकरण—यह मेदोरोग में दिया जाता है। कुपीलुविष में भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र।

मात्रा—त्वक्क्वाथ–५० से १०० मि० लि०; पत्रस्वरस–५–१० मि० लि०।

विशिष्ट योग—पारिभद्रावलेह।

पारिभद्रोऽनिलश्लेष्मशोफमेदः कृमिप्रणत्। तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम्॥

(भा० प्र०)

पारिभद्रः कटूष्णः स्यात्कफवातनिकृन्तनः। अरोचकहरः पथ्यो दीपनश्चापि कीर्तितः॥

(रा. नि.)

Ghoshal S. et al : Phytochemistry 9, 2397.

Bhattacharya S. K. et al : J. R. I. M., 6 : 3 (1971)

(ग) नासा

नासा पर कर्म करने वाले (नस्य) द्रव्यों के निम्नाङ्कित विभाग किये जा सकते हैं :—

१. **शोधन**—यथा क्षवक, मरिच आदि।

२. **शमन**—यथा दूर्वा आदि।

३. **तर्पण**—यथा घृत आदि।

वे क्रमशः कफ, पित्त और वात से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होते हैं।

४०. क्षवक

परिचय

गण—शिरोविरेचनोपग (च०), मुस्तादिगण (सु०)

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०-सेण्टीपीडा मिनिमा (Centipeda minima (Linn.) A. Br. & Aschers); सं०-क्षवक (छींक लाने वाला); छिक्कनी; छिक्किका, तीक्ष्णा, घ्राणदुःखदा (तीक्ष्णता के कारण नासा में क्षोभ उत्पन्न करने वाली); हि०-नकछिकनी; बं०-मेचेता, हाचुति; म०-नाकशिकणी; गु०-नाकछींकणी; अ०-स्नीज-वर्ट (Sneeze-wort)।

स्वरूप—यह एक बहुवर्षायु छोटा **क्षुप** होता है जिसके मूलोद्भूत काण्ड अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, रोमश और भूमि पर फैले होते हैं। **पत्र**-$\frac{1}{3}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च लंबे, अभिप्रासवत् या अभिलट्वाकार-आयताकार, हलके दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-छोटे प्रायः अवृन्त, गोलाकार, ·१-·१२ इञ्च व्यास के होते हैं। चतुष्कोणीय फलों के गिरने पर पुष्पासन पर छोटे उभार रह जाते हैं। मार्च से जनवरी तक इसमें पुष्प-फल लगते हैं। आर्द्र वातावरण में यह सालों तक फूलता-फलता रहता है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत और लंका में विशेषतः आर्द्र स्थानों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल और तिक्तसत्व होता है। दो वर्णरहित, स्फटिकीय पदार्थ भी पाये गये हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण	**रस**—कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तीक्ष्ण, कटुरस एवं उष्णवीर्य होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप कुष्ठघ्न, वेदनास्थापन एवं नस्य से शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—कटु और उष्ण होने से यह रोचन, दीपन और कृमिघ्न है।

प्लीहा—यह प्लीहा के काठिन्य को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह वाजीकरण है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्रतिश्याय और शिरःशूल में इसका नस्य देते हैं। दन्तशूल होने पर इसका लेप गण्डस्थल पर करते हैं। दद्रु आदि चर्मरोगों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उत्तेजक होने से इसका प्रयोग नाडीदौर्बल्य, वातरक्त, पक्षाघात आदि में करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य और कृमि में प्रयुक्त होता है।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य रोग में यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ ग्राम।

× × ×

'छिक्कनी क्षवकृत्तीक्ष्णा छिक्किका घ्राणदुःखदा।
छिक्कनी कटुका रुच्या तीक्ष्णोष्णा वह्निपित्तकृत्॥
वातरक्तहरी कुष्ठकृमिवातकफापहा॥ (भा. प्र.)

'छिक्किका छिक्कपत्रा च नासासंवेदनस्तथा। क्षवकः क्षुरकस्तीक्ष्णः क्रूर उद्वेजनस्तथा॥
क्षुधातिजननो राजक्षवको बुद्धिबोधनः। क्षवकः कटुकः पाके रसे रुच्योऽग्निपित्तकृत्॥
तीक्ष्णोष्णः कफवातास्रहृत्कुष्ठकृमिजिल्लघुः॥' (कै. नि.)

(घ) जिह्वा

कुछ द्रव्यों का जिह्वा पर विशेष रूप से कर्म दृष्टिगोचर होता है यथा मेषशृंगी आदि।

४१. मेषशृंगी

परिचय

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लिपिएडेसी-Asclepiadaceae),

नाम—लै०- जिमनेमा सिलवेस्टर (Gymnema sylvestre R. Br.)

सं०-मेषशृंगी (मेषशृंगाकार फल), मधुनाशिनी (माधुर्य को नष्ट करनेवाली), हि०-गुड़मार; बं०-मेढ़ासिंगी; म०-गु०-कावली, ता०-शिरुकुरुंज, ते०-वोडापर्त्त।

स्वरूप—इसकी पतली काष्ठीय लता सघन-रोमश शाखा-प्रशाखाओं से युक्त होती है। **पत्र**-रोमश, अभिमुख, १-२ इंच लंबे (कभी ३ इंच तक)- अण्डाकार, आयताकार या लट्वाकार होते हैं। पत्राधार बृहत् होता है। **पुष्प**-छोटे, पीताभ, घंटिकाकार, ·४-·५ इंच लम्बी उत्छत्रवत् मंजरियों में होते हैं। **फल**-प्रायः एकाकी, भालाकार, २-३ इंच लंबे, ·२-·३ इंच चौड़े, अग्रभाग की ओर क्रमशः पतले होते हैं। **बीज**-·३-·५ इंच लंबे, अंडाकार-आयताकार, चपटे; पतले, चौड़े, हलके भूरे पंख से युक्त होते हैं। **पुष्पकाल**-अगस्त-सितम्बर। **फलकाल**-जनवरी-मार्च।

उत्पत्तिस्थान—यह कोंकण से त्रावनकोर तक दक्षिण भारत में तथा उत्तरी एवं पश्चिमी भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में राल, जिम्नेमिक अम्ल (Gymnemic acid) क्वर्सिटाल (Quercitol), कैलशियम ऑक्जलेट, रंजक द्रव्य और कुछ कार्बनिक अम्ल ऐन्थ्राक्विनोन-पदार्थ आदि पाये जाते हैं। इसकी भस्म में क्षार, फास्फरिक अम्ल, फैरिक ऑक्साइड, मैंगनीज आदि पाये जाते हैं। इसके अल्कोहलिक सत्त्व में सैपोनिन पाये गये हैं। पत्तियों से एक तिक्त लालास्रावजनक पदार्थ भी पृथक् किया गया है।

इसकी पत्तियों का चूर्ण स्वादरहित किंचित् सुगंधित होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष   **रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र शोथहर और मूल वेदनाहर और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पत्तियों को चबाने पर कुछ घंटों के लिए रसना की रसग्रहणशक्ति विशेषतः मधुर रस के लिए निरुद्ध हो जाती है। तिक्त और लवण रस पर इसका प्रभाव अल्प होता है, अम्ल पर बिल्कुल नहीं होता। यह दीपन और यकृदुत्तेजक है। इसके मूल की क्रिया इपीकाक के तुल्य होती है और इससे वमन होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।
श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है। मूषक आदि जन्तुओं में देने पर यह इन्सुलीन के स्राव को बढ़ाकर रक्तगत शर्करा को कम करता है किन्तु मनुष्यों में यह प्रभाव नहीं पाया गया यद्यपि परम्परागत प्रयोग उसके लिए होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्तियों का लेप एरंडतैल मिलाकर ग्रंथिशोथ, यकृच्छोथ, प्लीहावृद्धि आदि में लगाते हैं। मूल का लेप सर्पविष में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबंध, कामला तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं। इन रोगों में मूलत्वक् का धूम्रपान भी करते हैं। इससे कफ शान्त होता है और शिर का भारीपन आदि उपद्रव दूर होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में उपयोगी है।

तापक्रम—विषमज्वर में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक के लिए यह प्रयुक्त होता है। मूल का क्वाथ सर्पविष में पिलाते हैं। पत्रचूर्ण मधुमेह और इक्षुमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल।

मात्रा—पत्रचूर्ण-३-६ ग्रा०, मूलक्वाथ-५०-१०० मि० मि०।

× × × ×

मेषशृंगीदलं तिक्तं कुष्ठमेहकफप्रणुत्।
दीपनं स्रंसनं कासक्रिमिव्रणविषापहम्॥

—भा० प्र० (किंचित् परिवर्तित)

M. P. I., I, 449-451.
W. I., IV., 276-277.

(च) त्वचा

त्वचा पर कर्म करने वाले द्रव्यों के निम्नांकित विभाग किये जा सकते हैं :—

१. **स्वेदजनन**—वत्सनाभ आदि।
२. **स्वेदोपग**—शोभाञ्जन आदि।
३. **स्वेदापनयन**—उशीर आदि।

४. **रोमसञ्जनन**—हस्तिदन्त आदि ।

५. **रोमशातन**—क्षार आदि ।

६. **केश्य**—नारिकेल, तिल, भृङ्गराज, नीलिनी आदि ।

७. **विदाही**—राजिका, अजगन्धा आदि ।

८. **स्नेहन**—घृत आदि ।

९. **स्नेहोपग**—मृद्वीका, श्लेष्मातक. इसबगोल आदि ।

१०. **रूक्षण**—यव आदि ।

११. **वर्ण्य**—केशर, केतकी आदि ।

१२. **कण्डूघ्न**—करञ्ज, निम्ब, सर्षप, जयन्ती, अरण्यजीरक, जलनिम्ब आदि ।

१३. **कुष्ठघ्न**—खदिर, हरिद्रा, भल्लातक, आरग्वध, जाती, तुवरक, वाकुची, मदयन्तिका, काकोदुम्बर, सैरेयक, चक्रमर्द, यूथिकपर्णी आदि ।

१४. **उदर्दप्रशमन**—तिन्दुक, प्रियाल आदि ।

स्वेदजनन

४२. वत्सनाभ

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी–Ranunculaceae) ।

नाम—लै०–एकोनाइटम फैरोक्स (Aconitum ferox Wall ex Seringe); सं०–वत्सनाभ (बछड़े की नाभि के समान); विष (विषाक्त); अमृत (युक्तिपूर्वक प्रयोग करने पर हितकर), हि०–बछनाग, मीठा विष, मीठा तेलिया, बं०–काठविष, मीठाविष; म०–वचनाग; गु०–वछनाग; बिहार–डकरा; ता०–वसनवि; ते०–वसनूभि; अं०–एकोनाइट (Aconite), मौंक्स हुड (Monk's hood) ।

स्वरूप—यह ३–६ फुट ऊँचा क्षुप होता है । **पत्र**—तरबूज की तरह, ३–६ इञ्च लम्बे, खण्डित होते हैं । खण्ड अंडाकार, दन्तुर एवं कटे होते हैं । पुष्पमञ्जरी ६–१२ इञ्च लम्बी; सरल या नीचे शाखाओं में विभक्त, रोमश होती है । पुष्पदंड—१–२ इञ्च लम्बा, शीर्षभाग पर स्थूल होता है । **पुष्प**-बड़े, हलके मलिनाभ नीले रंग के होते हैं । पुष्पछत्र (Helmet) ऊंचाई से दूना लम्बा होता है । **फल**-पाँच, सीधे प्रायः सघन रोमश होते हैं । **बीज**—कृष्णवर्ण और पक्षयुक्त होते हैं । **मूल**—१–३ इञ्च लम्बे, ¼–१ इंच मोटे, बाहर धूसरवर्ण तथा भीतर की ओर किंचित् श्वेत, स्निग्ध और चमकीले होते हैं ।

प्राचीन ग्रन्थकारों ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—जिसके पत्र सिन्दुवार के सदृश हों, जिसकी आकृति बछड़े की नाभि के समान हो और जिसके आस-प पौधे न हों उसे वत्सनाभ समझना चाहिए ।'[1]

---

१. 'सिन्दुवारसदृक्पत्रो वत्सनाभ्याकृतिस्तथा ।
यत्पार्श्वे न तरोर्वृद्धिः वत्सनाभः स च्यते ॥' (भा० प्र०)

'जिसका कन्द गोस्तनाकार और पाँच अंगुल से बड़ा न हो गोस्तन से अधिक स्थूल भी न हो तथा वर्ण में पाण्डुर हो वही वत्सनाभ है ।'[1]

उत्पत्तिस्थान—हिमालय प्रदेश में सिक्किम से गढ़वाल तक १० से १४ हजार फुट की ऊँचाई पर उत्पन्न होता है । विशेषतः दार्जिलिंग के पहाड़ों पर होता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें एकोनाइटिन के सदृश स्यूडो-एकोनाइटिन (Pseudo-Aconitine) नामक एक विषाक्त तत्त्व पाया जाता है । यह आधा सेर मूल में लगभग ४ ग्राम निकलता है । इसके अतिरिक्त एकोनाइटिन (Aconitine) ०.९७–१.२३ प्रतिशत, पिक्रो-एकोनिन, बेञ्जोइल एकोनिन और होमोनेपेलिन नामक तत्त्व भी अल्प मात्रा में होते हैं ।

मिश्रण—व्यापारिक दृष्टि से बाजारों में जो द्रव्य वत्सनाभ के नाम से मिलता है उसमें एकोनाइट की अनेक प्रजातियाँ मिश्रित रहती हैं क्योंकि इसका यह असली प्रकार बहुत कम और कठिनाई से प्राप्त होता है । A. chasmanthum Stapf ex Holmes, A. balfourii Stapf., A. deinorrhizum Stapf, A. falconeri Stapf. आदि प्रजातियाँ प्रायः इसमें मिश्रित की जाती हैं । भारत में एकोनाइट की २८ प्रजातियाँ हिमालय के दक्षिणी ढलान पर पाई जाती हैं । A. nepallus Linn. ब्रिटिश फार्माकोपिया में निर्धारित है । यह प्रजाति भारत में नहीं होती । वर्णभेद से आजकल बाजारों में बछनाग दो प्रकार का मिलता है :— (१) सफेद और (२) काला । वास्तव में वत्सनाभ का प्राकृतिक वर्ण धूसर पांडुर होता है । इसीको सफेद बछनाग कहते हैं । इसीको कृत्रिम विधि से काला रंग देकर काला बछनाग बना लेते हैं । इस प्रकार के कृत्रिम संस्कार से लाभ इतना ही होता है कि इसमें कीड़े नहीं लगने पाते ।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण, लघु, व्यवायि, विकाशि	**रस**—मधुर
विपाक—मधुर	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, तीक्ष्ण और लघु होने से कफ का, मधुर होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है । विशेषकर वात और कफ का शामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप वेदनास्थापन और शोथहर है । किसी स्नेहपदार्थ के साथ त्वचा पर मालिश करने से यह संज्ञावह नाड़ियों के

---

१. 'यः कन्दो गोस्तनाकारो न दीर्घः पंचमांगुलात् । न स्थूलो गोस्तदूर्ध्वं'—
'वत्सनाभं तु पाण्डुरम् ।' (र. र. स.)

प्रान्तभागों को पहले उत्तेजित करता है और बाद में शून्य करता है जिससे झुनझुनी और शून्यता मालूम होती है। सभी श्लेष्मल कलाओं से इसका शीघ्र शोषण होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—व्यवायि और विकाशि होने के कारण यह संज्ञावह नाडियों के प्रान्तभागों को पहले उत्तेजित और बाद में अवसादित करता है। चेष्टावह नाडियों पर भी बहुत कुछ ऐसी ही क्रिया होती है। प्राणदा, रक्तवाहिनीसंकोचक और श्वसन-केन्द्रों पर भी ऐसा ही होता है। तारकायें पहले संकुचित और बाद में प्रसारित होती हैं। मस्तिष्क पर कोई प्रभाव नहीं होता।

पाचनसंस्थान—जिह्वा पर रखने से झुनझुनी और शून्यता उत्पन्न होती है तथा नाड़ियों के क्षोभ के कारण लालाप्रसेक और बाद में हृल्लास उत्पन्न होता है। औषधीय मात्रा में यह रुचिवर्धक, दीपन, पाचन और शूलप्रशमन है। इसमें आमाशय के संज्ञावह नाड़ीतन्तु शून्य हो जाते हैं और आमाशयिक रस एवं कफ कम होता है। यकृदुत्तेजक भी है।

रक्तवहसंस्थान—अशुद्ध वत्सनाभ हृदयावसादक है किन्तु शोधित वत्सनाभ हृदयोत्तेजक है। विशेषतः यदि गोदुग्ध में शोधन किया जाय तो यह हृदय को बल देता है एवं रक्तभार को बढ़ाता है। शरीर में कहीं भी शोथ हो उसको दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है और अल्प मात्रा में श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है और मूत्र में शर्करा की मात्रा को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—वह शुक्र का स्तम्भन करता है तथा आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में यह बल्य और बृंहण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है तथा स्वेदजनन है।

तापक्रम—इससे ज्वर नष्ट होता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मुख्यतः मूत्र से तथा अंशतः लाला, आमाशयरस, पित्त एवं स्वेद से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषकर कफवातजन्य रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथ-वेदनायुक्त विकारों यथा गृध्रसी, आमवात, सन्धिवात, शिरःशूल आदि में लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात तथा अन्य नाड़ीदौर्बल्य की अवस्थाओं में यह उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, उदरविकार, शूल एवं यकृत्प्लीहा के विकार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। गला, श्वासनलिका, फुफ्फुस, हृदय आदि के शोथ में देने से विकार रुक जाता है और व्याधि शान्त हो जाती है।

श्वसनसंस्थान—यह कास-श्वास में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—नाड़ीदौर्बल्य के कारण उत्पन्न बहुमूत्र, शय्यामूत्र आदि विकारों को यह दूर करता है। मूत्रगत शर्करा को कम करने से इक्षुमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह और नष्टार्त्तव में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। एक वर्ष तक सेवन करने से शरीर बिलकुल नीरोग हो जाता है।

त्वचा—तीन मास तक इसके नियमित सेवन से कुष्ठरोग समूल नष्ट हो जाता है।[1]

तापक्रम—ज्वर की यह प्रसिद्ध औषध है। विशेषकर शोथवेदनायुक्त ज्वर (Inflammatory fevers) में उपयुक्त होता है। इससे पसीना आता है, मूत्र आता है, नाड़ी की गति कम होती है तथा शोथ, पीड़ा और ज्वर कम होते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—$\frac{1}{8}$ रत्ती।

विशिष्ट योग—मृत्युञ्जय रस, हिंगुलेश्वर रस, आनन्दभैरव, ज्वरमुरारि, पञ्चवक्त्र, सौभाग्यवटी, रामबाण, कफकेतु।

विषलक्षण—वत्सनाभ की अधिक मात्रा लेने पर कुछ मिनटों के बाद ही मुख और अन्नमार्ग में तीव्र झुनझुनी और दाह उत्पन्न होता है। आमाशय में भी तीव्र दाह होता है। वमन आता है। अत्यधिक स्वेद आने से त्वचा आर्द्र-शीत, झुनझुनीयुक्त और शून्य हो जाती है। नाडी मन्द और अनियमित हो जाती है। तारकायें विस्फारित हो जाती हैं और नेत्र स्तब्ध हो जाते हैं। श्वासकष्ट होने लगता है। अवसाद और मूर्च्छा होने लगती है। कभी-कभी आक्षेप भी आते हैं और अन्त में श्वास या हृदय की गति रुकने से मृत्यु हो जाती है।

---

१. मासत्रयप्रयोगेण कुष्ठान्यष्ट हरेद्विषम्। षण्मासस्य प्रयोगेण कामरूपो भवेन्नरः॥ संवत्सरप्रयोगेण सर्वरोगान् व्यपोहति। (र. र. स. २९ अ.)

चिकित्सा—आमाशय का प्रक्षालन और वमन कराने के बाद गो के घी में सुहागा मिलाकर पिलावे या अर्जुन की छाल का चूर्ण गोघृत और मधु से दे। इसके अतिरिक्त कस्तूरी या जद्वार पानी में घिस कर चटावे।

प्रतिनिधि—जद्वार।

शोधन—वत्सनाभ के छोटे-छोटे टुकड़े कर गोमूत्र में डुबोकर तीन-चार दिनों तक रक्खे। फिर जल से धोकर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करे। इस प्रकार यह शुद्ध हो जाता है।

सेवनविधि—रसरत्नसमुच्चय के २९वें अध्याय (विषकल्प) में इसकी सेवन-विधि विस्तार में बतलाई गई है। वत्सनाभ का सेवन विशेषकर शीत और वसन्त ऋतुओं में करना चाहिए। ग्रीष्म ऋतु में, गम्भीर व्याधि में, वर्षा में, पैत्तिक प्रकृति में, क्रोधी में, क्लीब में, राजपुरुष में, भूख, प्यास, श्रम, आतप, मार्गसेवन तथा अन्य विकारों से पीड़ित व्यक्तियों में, गर्भिणी में, बाल, वृद्ध, रूक्ष पुरुषों में तथा मर्मस्थान में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। विष-सेवनकाल में कटु, अम्ल, लवण, तैल, दिवास्वप्न, अग्नि और धूप का सेवन वर्जित है। इस काल में गो के दूध-घी का तथा चावल, गेहूँ, शीतल जल और मधुर पदार्थों का सेवन करना चाहिए।

\+ \+ \+ \+

'विषं प्राणहरं प्रोक्तं व्यवायि च विकाशि च। आग्नेयं वातकफहृद्योगवाहि मदावहम्॥
तदेव युक्तियुक्तं तु प्राणदायि रसायनम्। योगवाहि त्रिदोषघ्नं बृंहणं वीर्यवर्धनम्॥'
(भा. प्र.)

'वत्सनाभोऽतिमधुरः सोष्णो वातकफापहः। कण्ठरुक्सन्निपातघ्नः पित्तसंशोधनोऽपि च॥'
(रा. नि.)

'विषं रसायनं बल्यं वातश्लेष्मविकारनुत्। व्यवायि शीतनुद्दाहि कुष्ठशोथविनाशनम्॥
अग्निमान्द्यश्वासकासप्लीहोदरज्वरापहम्। कण्ठरुक्सन्निपातघ्नं मधुमेहहरं तथा॥
प्रलेपाच्छ्वयथुं पीडामपचीं च विनाशयेत्।'

'विषं युञ्जीत नित्यं हि रसायनगुणैषिणः। घृतोपस्कृतदेहस्य विशुद्धस्य हिताशिनः॥
सात्त्विकस्योदिते भानौ योज्यं शीतवसन्तयोः। ग्रीष्मे चात्ययिके व्याधौ न वर्षासु न दुर्दिने॥
न क्रोधिनि न पित्तार्त्ते न क्लीबे राजवेश्मनि। क्षुत्तृष्णश्रमघर्माध्वव्याध्यन्तरनिपीडिते॥
गर्भिण्यां बालवृद्धेषु न रूक्षेषु न मर्मसु। अभ्यस्तेऽपि विषे यत्नाद् वर्जनीयान् विवर्जयेत्॥
कट्वम्ललवणं तैलं दिवास्वप्नानलातपान्। ब्रह्मचर्यं वरारोहे विषकाले समाचरेत्॥
गव्ये क्षीरघृते पेये शाल्यन्नं गोधुमं तथा। शीतलं च पिबेत्तोयं मधुराणि च सेवयेत्॥'
(र. र. स. २९ अ०)

'अतिमात्रं यदा भुक्तं तदाज्यं टंकणं पिबेत्। लिह्याद्वा मधुसर्पिर्भ्यां संपिष्टामर्जुनत्वचम्॥

F. B. I., 27–29.
W. I., I., 25–28.

H. S. Puri : Distribution of Aconites in India, J. R. I. M., 9 : 4 (1974)
R. C. Guha : Indian Aconite, Ind. J. Ph. 21 : 163–5, June. 1959.

स्वेदोपग

४३. शोभाञ्जन

परिचय

गुण—स्वेदोपग, कृमिघ्न, शिरोविरोचनोपग, कटुकस्कन्ध, हरितकवर्ग (च.); वरुणादि, शिरोविरेचन (सु.)।

कुल—शोभाञ्जन-कुल (मॉरिङ्गेसी—Moringaceae)।

नाम—लै०-मॉरिङ्गा ओलिफरा (Moringa oleifera Lam.), सं०-शोभाञ्जन (शोभायुक्त वृक्ष), शिग्रु (तीक्ष्ण-गुणयुक्त), तीक्ष्णगन्धा (तीक्ष्ण-गन्धयुक्त), अक्षीव (मद को नष्ट करने वाला), मोचक (रोगों से मुक्त करने वाला या गोंदयुक्त)। हि०-सहिजन, मुनगा; बं०-शजिना, पं०-सोहांजना; म०-शेवगा, शेगटा, गु०-सरगवो, सेकटो, सिं०-सुहाँजिडो; मा०-सहजणो, ता०-मुरुंगई, ते०-मुनगा, अं०-हार्स रेडिश ट्री (Horse-radish tree), ड्रमस्टिक प्लाण्ट (Drum-stick plant)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का २०-२५ फीट ऊँचा होता है। छाल और काष्ठ मृदु होता है। **पत्र**-संयुक्त, पक्षाकार, १-२ फुट लंबा होता है जिसमें पत्रक ६-९ जोड़े, चौथाई इञ्च से पौन इञ्च लम्बे, अंडाकार, अभिमुख क्रम में लगे रहते हैं। **पुष्प**-नीलाभ श्वेतवर्ण गुच्छों में निकलते हैं। **फल**-६-१८ इञ्च लम्बे, ६ सिराओं से युक्त और धूसर होते हैं। **बीज**-त्रिकोणाकार, पक्षसहित और कटु होते हैं। श्वेतवर्ण और मरिच के समान होने के कारण इन्हें श्वेत मरिच कहते हैं। जनवरी से मार्च तक पुष्प और अप्रेल-जून मास में फल लगते हैं। इसकी फलियों का शाक बनाते हैं। मूल कटु होता है।

जाति—पुष्प-भेद से शास्त्रकारों ने शोभाञ्जन के श्वेत और रक्त दो भेद किये हैं। श्वेतजाति कटु होती है इसलिए उसे कटुशिग्रु और रक्तजाति मधुर होती है इसलिए इसे मधुशिग्रु भी कहते हैं। कटुशिग्रु सर्वत्र सुलभ है, इसी का वर्णन इस प्रसंग में किया गया है। मधुशिग्रु कम मिलता है और बंगाल के मालदह जिले में तथा राजपूताना और सिन्ध में देखा जाता है। इसका लैटिन नाम मॉरिङ्गा कॉन्कानेन्सिस (Moringa concanensis Nimmo) है। इसके पुष्प गुलाबी पीले होते हैं। राजनिघण्टु ने नीलशिग्रु का भी उल्लेख किया है। हूकर ने दो ही प्रजातियों का वर्णन किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारतवर्ष में प्रायः सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—मूलत्वक् में मोरिंगिन (Moringine) नामक दो क्षाराभ होते हैं जिनकी क्रिया का वर्णन नाड़ीसंस्थान के अन्तर्गत किया गया है। मूल में एक सक्रिय प्रतिजीव (Antibiotic) तत्त्व टेरिगोस्पर्मिन (Pterygospermin) नामक होता है जो अनेक जीवाणुओं और फफूंदों की वृद्धि को रोकता है। पत्रस्वरस में भी जीवाणुनाशक क्षमता पाई जाती है। काण्ड से एक गोंद भी निकलती है जो प्रारंभ में सफेद और बाद में लाल भूरे रंग की हो जाती है। मूल में एक अत्यन्त कटु और दुर्गन्धि उड़नशील तैल होता है। बीजों के दबाने से एक स्थिर तैल (३६·६ प्रतिशत) निकलता है जो स्वच्छ, वर्णरहित और गाढ़ा होता है। व्यापार में यह बेन या बेहन तेल के नाम से प्रसिद्ध है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु (क्षारीय), तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और कटु होने से कफ को तथा उष्ण होने से वात को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी त्वचा और पत्र का लेप विदाही, शोथहर और विद्रधिपाचन होता है। बीजों के चूर्ण का नस्य शिरोविरेचन है। बीजों का तैल वेदनास्थापन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह नाड़ियों को उत्तेजित करता है। रासायनिक दृष्टि से त्वचागत कार्यकारी तत्त्व का दो अंशों में विश्लेषण किया गया है। प्रयोगों द्वारा यह देखा गया है कि स्फटिकीय तत्त्व का कोई विशेष कर्म नहीं होता बल्कि अस्फटिकीय अंश का तीव्र प्रभाव अड्रिनिलीन और इफेड्रिन के समान होता है। इसका कर्म सांवेदनिक नाडीसंस्थान के द्वारा शरीर के समस्त अंगों पर होता है यथा रक्तभार की वृद्धि, हृदयगति की तीव्रता, रक्तवाहिनियों का संकोच आदि। पाचनयंत्र तथा श्वासप्रणालियों की स्वतन्त्र पेशियों की गति कम होती है और नेत्र की तारकायें विस्फारित होती हैं।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से रोचन, दीपन, पाचन, विदाही, ग्राही, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है। मधुशिग्रु पिच्छिलता और मधुरता के कारण सारक होता है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से यह हृदयोत्तेजक है और इससे रक्तभार बढ़ता है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है और उसकी क्षारीयता भी बढ़ती है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह शुक्र और मेद को नष्ट करता है तथा विषघ्न है।

त्वचा—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

नेत्र—इसके बीजों का प्रयोग लेखन और चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—उदर, व्रणशोथ और विद्रधि पर इसकी त्वचा का लेप करते हैं। बीजों के चूर्ण का नस्य शिरःशूल में देते हैं। सन्धिवात, आमवात आदि शोथवेदनाप्रधान विकारों में इसके बीजों के तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात, अर्दित आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, अरुचि, शूल, उदररोग, गुल्म तथा क्रिमिरोग में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में तथा मूत्रगत अम्लाधिक्य में करते हैं। वृक्कविकार में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे वृक्कों में क्षोभ होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में इसका प्रयोग लाभकर होता है।

सात्मीकरण—यह मेदोरोग एवं विष की अवस्थाओं में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों तथा विद्रधि आदि में इसका फाण्ट पिलाते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में इसका प्रयोग होता है और इसकी फलियों का शाक ज्वरोत्तर पथ्य में देते हैं।

नेत्र—इसके बीजों का अञ्जन नेत्ररोगों में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, बीज।

मात्रा—मूलत्वक्स्वरस—१०-२० मि० लि०।
बीजचूर्ण—१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—शोभाञ्जनादि लेप, श्यामादि चूर्ण।

अहित प्रभाव—यह रक्तपित्तकर और विदाही होता है अतः पित्तप्रकृति वालों के लिए अहितकर है। इसके अतिसेवन से दाह आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इन दोषों के निवारण के लिए इसके साथ दुग्ध आदि पित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

'शोभाञ्जनः शिग्रुतीक्ष्णगन्धकाक्षीवमोचकाः। तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिग्रुस्तु लोहितः॥
शिग्रुः सरः कटुः पाके तीक्ष्णोष्णो मधुरो लघुः।
दीपनः रोचनो रूक्षः क्षारस्तिक्तो विदाहकृत्॥
संग्राह्यशुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः। चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्वयथुक्रिमीन्॥
मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मकण्डूव्रणान् हरेत्। श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दीपनः सरः॥
प्लीहानं विद्रधिं हन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तकृत्। शिग्रुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्तिहृत्॥
चक्षुष्यं शिग्रुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्।
अवृष्यं कफवातघ्नं तन्नस्येन शिरोऽर्तिहृत्॥' (भा. प्र.)

'शिग्रुतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफक्रिमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि चेति।' (सू. सु. ४५)

'शिग्रुस्तिक्तः कटुश्चोष्णः कफशोफसमीरजित्। कृष्यामविषमेदोघ्नो विद्रधिप्लीहगुल्मनुत्॥'
(ध. नि.)

'सोंठ, सुहागा, सेंधा, गाँधी। सहिजन के रस में बरिया बाँधी॥
सत्तर शूल और अस्सी बाई। कहे धनन्तर छन में जाई॥' (लोकोक्ति)

W. I., VI, 426–29.

स्वेदापनयन

४४. उशीर

परिचय

गण—वर्ण्य, स्तन्यजनन, छर्दिनिग्रह, दाहप्रशमन, तिक्तस्कन्ध (च०), सारिवादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी–Graminae)।

नाम—लै०–वेटिवेरिया जिजेनिआॅयडिस (Vetiveria zizanioidis (Linn.) Nash.) सं०–उशीर (कान्तिवर्धक), नलद (गन्ध देने वाला) सेव्य (सेवन करने योग्य), अमृणाल (कमलनाल के समान), समगन्धक (प्रशस्त गन्धयुक्त), जलवास (जलप्राय स्थान में होने वाला); हि०–खस; म०–वाला; गु०–वालो; बं०–खसखस, वेनाघास; ता०–वेट्टिवेर; ते०–वेट्टिवेल्लु, अं०–खसखस ग्रास (Khaskhas grass)।

स्वरूप—उशीर वीरण (गांडर) नामक तृण की जड़ है। यह वहुवर्षीय तृण कुश के समान होता है। इसका काण्ड २–५ फुट ऊंचा, सुगन्धयुक्त होता है। **पत्र**–१–२ फुट लंबे, ·३ इंच तक चौड़े, भीतर की ओर रोमश तथा ऊपर की ओर चिकने, प्रायः सीधे होते हैं। **पुष्पदण्ड**—४–१२ इञ्च लम्बा गोलाकार या पिरामिड के आकार का होता है। वर्षाकाल में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं। इसकी जड़ों में सुगन्ध होती है जो सूखने पर बढ़ जाती है। सूखी जड़ की टट्टियाँ गर्मियों में लगाते हैं। इसे जल से भिगोने पर सुगन्ध निकलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण भारत, बंगाल, राजस्थान एवं छोटा नागपुर में विशेषतः नदियों के उपकूल और जलप्राय स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, राल, रंगद्रव्य, स्वतन्त्र अम्ल, चूने का एक लवण, लौह का आॅक्साइड और काष्ठभाग होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु	**रस**—तिक्त-मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, रूक्ष, लघु, होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर वर्ण्य एवं स्वेदापनयन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क और नाडीसंस्थान का शामक एवं बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, पाचन और शीत होने से तृष्णा-निग्रहण, छर्दिनिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तप्रसादन और शीत होने से हृदय-शामक, बल्य एवं रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने से कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, स्वेददौर्गन्ध्यहर और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाह, चर्मरोग और अतिस्वेद में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मद-मूर्च्छा आदि पित्तप्रधान तथा मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित विकारों में लाभकर है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अजीर्ण; तृष्णा, वमन और अतिसार में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों, हृदय की अतितीव्रता एवं दुर्बलता में इसका उपयोग किया जाता है। रक्तपित्त में भी अत्यन्त प्रशस्त है।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का एवं श्वास में इसका प्रयोग धूम एवं चूर्णरूप में किया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—स्वेददौर्गन्ध्य एवं कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—विशेषतः दाहतृष्णायुक्त ज्वर में देने से ज्वर भी शान्त होता है और दाह आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—शोषरोग, सामान्य दौर्बल्य, तथा विष की अवस्थाओं में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०। अर्क तथा हिम-२५-५० मि० लि०।
फाण्ट-५०-१०० मि० लि०।

इसका प्रयोग अर्क, हिम, फाण्ट या शर्बत के रूप में विशेष हितकर होता है।

विशिष्ट योग—उशीरासव, उशीरादि क्वाथ, उशीरादि चूर्ण, उशीराद्य तैल, षडंग पानीय।

× × ×

'वीरणस्य तु मूलं स्यादुशीरं नलदं च तत्। अमृणालं च सेव्यं च समगन्धकमित्यपि॥
उशीरं पाचनं शीतं स्तम्भनं लघु तिक्तकम्। मधुरं ज्वरहृद्वान्तिमदजित् कफपित्तनुत्॥
तृष्णास्रविषवीसर्पदाहकृच्छ्रव्रणापहम्।' (भा. प्र.)

'उशीरं शीतलं रूक्षं स्वादु तिक्तं हिमं लघु। पाचनं स्तम्भनं हन्ति शोषदाहमदज्वरान्॥
तृष्णास्रविषदौर्गन्ध्यमूत्रकृच्छ्रकुष्ठवमिव्रणान्।' (कै. नि.)

'लामज्जकोशीरं दाहत्वग्दोषस्वेदापनयनप्रलेपनानाम्।' (च. सू. २५)

'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः। श्रृतशीतं जलं देयं पिपासाज्वरशान्तये॥
(च. चि. ३)

'उशीरकालीयकलोध्रपद्मकप्रियंगुकाकट्फलशंखगैरिकाः।
पृथक् पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः॥
रक्तं सपित्तं तमकं पिपासां दाहं च पीताः शमयन्ति सद्यः।' (च. चि. ४)

केश्य

४५. नारिकेल

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी–Palmae)।

नाम—लै०-कोकस् न्युसिफेरा (Cocos nucifera Linn.); सं०-नारिकेल, नालिकेर, दृढफल (कठिन फलवाला), लांगली (कूर्चयुक्त), कूर्चशीर्षक (शिरोभाग में कूची के समान), तुंग (अत्युच्च वृक्ष), स्कन्धफल (स्कन्धदेश में लगने वाला फल), तृणराज (तृणजाति का सर्वोच्च वृक्ष), सदाफल (सदा फल लगे रहने से), दाक्षिणात्यक (दक्षिण देश में विशेष उत्पन्न होने वाला); हि०-नारियल; बं०-नारिकेल; पं०-नरेल, खोपा; म०-माड (वृक्ष), नारल (फल); गु०-नालियर; ता०-तेन्नामारम्; ते०-नारिकेलमु; कन्न०-टेंगु, मल०-तेंगा; अ०-नारजील; फा०-नारगील; अं०-कोकोनट पाम (Coconut palm)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**-लगभग ६०-९० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-स्थूल (व्यास १-२ फुट) कृष्ण या धूसरवर्ण होता है और उसके बाहरी भाग में गोलाकार चिह्न होते हैं। **पत्र**-संयुक्त, ८-२० फुट लम्बे होते हैं। **पत्रक**-२-३ फुट लम्बे, रेखाकार या रेखाकार-भालाकार होते हैं। पुष्पबन्ध (spadix) अनेक झुकी मञ्जरियों मे विभक्त रहता है जिनके निचले भाग में स्त्री-पुरुष तथा ऊपरी भाग में पुंपुष्प लगे रहते हैं। **पुंपुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-अण्डाकृति, त्रिकोणीय १०-१५ इञ्च लम्बा होता है जिसका ऊपरी आवरण अत्यन्त कठिन और भीतर जल भरा होता है। इसमें फूल मई-जुलाई में लगते हैं तथा फल लगभग एक वर्ष बाद तैयार होता है, अत एव यह सदाफल कहा गया है। निघण्टुओं में इसके फल की तीन अवस्थायें बतलाई गई हैं—(१) बाल, (२) मध्यम और (३) पक्व। बाल्यावस्था में केवल जल रहता है, मध्यमावस्था में जल कम और गिरी मृदु दुग्धवत् होती है और पक्वावस्था में मज्जा अत्यन्त कठोर, स्वादरहित और प्रायः निर्जल हो जाती है।

उत्पत्तिस्थान—समुद्रतटवर्ती प्रदेशों यथा दक्षिणभारत (विशेषतः केरल), पूर्वी बंगाल, उड़ीसा, लंका, वर्मा आदि में प्रचुर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके ताजे फल में मांसजातीय पदार्थ, वसा, लिग्निन क्षार, तालशर्करा और अकार्बनिक पदार्थ होते हैं। नारियल फल के पीसने से जो दूध निकलता है इसमें शर्करा, गोंद, अलब्युमिन, टार्टरिक अम्ल, खनिज और जल होते हैं। पत्र की भस्म में पोटाश अधिक परिमाण में होता है। तैल में लॉरिक, मिरिस्टिक, पामिटिक और स्टियरिक अम्लों के ग्लिसरायडों के अतिरिक्त स्वतन्त्र

कैप्रिलिक अम्ल होता है। पक्व फल से लगभग ६० से ७१ प्रतिशत तैल निकलता है।

कोमल डाभ के जल का रासायनिक संघटन निम्नाङ्कित है :—

प्रोटीन	०·६२ प्रतिशत	फास्फेट	लेशमात्र
ग्लुकोज़	५·५ ,,	कुल ठोस भाग	७·६८ प्रतिशत
इक्षुशर्करा	लेशमात्र	जल	९२·३२ ,,
क्लोराइड्स	·५५ ,,	कुल अम्ल	०·५ ,,

मध्यावस्था के नारिकेल फल के जल का रासायनिक विश्लेषण निम्नलिखित है :—

ग्लुकोज	४·८२ प्रतिशत	कुल ठोस भाग	८·७२ प्रतिशत
इक्षुशर्करा	१·११ ,,	जल	९१·२८ ,,
प्रोटीन	·५९ ,,	कुल अम्ल	०·८४ ,,
क्लोराइड	·८६ ,,		

इसके अतिरिक्त इसमें ए और बी विटामिन होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध   **रस**—मधुर
विपाक—मधुर   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—गुरु-स्निग्ध होने से वात तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका जल वर्ण्य और दाहशामक है। तैल केश्य, कुष्ठघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर पाचनसंस्थान—यह पित्तशामक, अनुलोमन और शूलप्रशमन है। इसका क्षार भेदन है। पुष्प स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका जल, पुष्प एवं कोमल फल रक्तपित्त को शान्त करता है।

श्वसनसंस्थान—इसका जल हिक्कानिग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—डाभ का पानी और कोमल फल मूत्रजनन, मूत्रविरेचन है किन्तु पुष्प मूत्रस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—पक्व फल उष्ण होने से वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—ताजा फल बृंहण और बल्य है किन्तु इसका तैल कर्शन है।

तापक्रम—यह ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके जल से मसूरिका के दानों को धोते हैं जिससे दाह शान्त होता है और उसका दाग भी मिट जाता है। इसका तैल केश बढ़ाने के लिए प्रसिद्ध है। चर्मरोगों और व्रणों में इसका तैल कपूर, सफेदा और कबीला मिला कर लगाते हैं। कवच को जलाकर निकाला हुआ तैल कुष्ठघ्न है और इसका बाह्य प्रयोग कुष्ठ और व्रणों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—डाभ का पानी तृष्णा, दाह आदि पैत्तिक विकारों को शान्त करता है। कोमल फल महास्रोत के पैत्तिक विकार-अम्लाधिक्य आदि-में अत्यन्त लाभकर है। अनुलोमन होने से आध्मान आदि वातविकारों को नष्ट करता है और पुरीषोत्सर्ग में सहायक होने से पित्तसंशोधन भी करता रहता है। अम्लपित्त रोग की यह अत्यन्त प्रसिद्ध औषध है। पैत्तिक शूल तथा परिणामशूल में इसी कारण दिया जाता है। मधुर-स्निग्ध होने से यह आमाशय के क्षोभ को दूर कर उसके क्षत का सन्धान करता है। नारिकेलक्षार भेदन होने से गुल्म, श्लैष्मिक शूल आदि में देते हैं। पुष्प अतिसार-विशेषतः रक्तातिसार-में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—जल, पुष्प एवं कोमल फल रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जल हिक्कारोग में लाभ करता है।

मूत्रवहसंस्थान—डाभ का पानी मूत्रकृच्छ्र और मूत्रगत वर्णविकारों में दिया जाता है। पुष्प बहुमूत्रता में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—पकी गिरी कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होती है। वाजीकरण योगों में भी डालते हैं।

सात्मीकरण—ताजे फल का प्रयोग सामान्य दौर्बल्य एवं कृशता में करते हैं। इससे निकाला हुआ तैल क्षयरोग में प्रयुक्त होता है। गवेषकों का कथन है कि यह क्षय में कॉड लिवर आयल के समान लाभ करता है केवल थोड़ा पचने में गुरु होता है। पके फल के तैल का प्रयोग मेदोरोग में करते हैं।

तापक्रम—नारियल के जल का प्रयोग विषमज्वर आदि में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, तैल, मूल, क्षार आदि।

मात्रा—फल-१०-२० ग्राम, तैल,-१०-२० बूंद, क्षार-१-२ ग्राम।

विशिष्ट योग—नारिकेलखण्ड, नारिकेललवण, नारिकेलामृत।

× × ×

'नारिकेलफलानि च। बृंहणस्निग्धशीतानि बल्यानि मधुराणि च॥' (च. सू. २७)

'नालिकेरं गुरु स्निग्धं पित्तघ्नं स्वादु शीतलम्। बलमांसप्रदं हृद्यं बृंहणं बस्तिशोधनम्॥'

(सु. सू. ४६)

'नारिकेलो दृढफलो लांगली कूर्चशीर्षकः । तुंगः स्कन्धफलश्चैव तृणराजः सदाफलः ॥
नारिकेलफलं शीतं दुर्जरं बस्तिशोधनम् । विष्टम्भि बृंहणं बल्यं वातपित्तास्रदाहनुत् ॥
विशेषतः कोमलनारिकेलं निहन्ति पित्तज्वरपित्तदोषान् ।
तदेव जीर्णं गुरुपित्तकारि विदाहि विष्टम्भि मतं भिषग्भिः ॥
तस्याम्भः शीतलं हृद्यं दीपनं शुक्रलं लघु । पिपासापित्तजित् स्वादु बस्तिशुद्धिकरं परम् ॥'
(भा. प्र.)

'नारिकेलो गुरुः स्निग्धः शीतः पित्तविनाशनः । अर्धपक्वस्तृषाशोषशमनो दुर्जरः परः ॥'
(रा. नि.)

× × × ×

नारिकेलोद्भवं तैलं बृंहणं बलवर्धनम् । केश्यं पित्तानिलहरं दन्त्यं मधुरमेव च ॥

× × × ×

'नारिकेलप्रसूनं तु रक्तपित्तप्रमेहनुत् । रक्तातिसारं हरति महालोहितनाशनम् ॥
शीतलं सोमरोगघ्नं विबन्धं कुरुते भृशम् ।' (कै. नि.)

४६. तिल

कुल—तिल-कुल (पिडैलिएसी–Pedaliaceae)

नाम—लै०-सिसेमम इण्डिकम (Sesamum indicum Linn.); सं०-तिल, हि०-तिल; बं०-तिल; म०-तिल; गु०-तल; सिं०-तिर; ता०-एल्लु; ते०-गुब्बुलु; अ०-सिमसिम, समसम, हल; फा०-कुंजद; अं०-सिसेमम (Sesamum)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १–३ फुट ऊँचा किञ्चित् दुर्गन्धयुक्त तथा ग्रन्थिल होता है। इसका **काण्ड**-मृदुरोमश होता है। **पत्र**–३–५ इञ्च लम्बे, छोटे-बड़े अनेक प्रकार की पत्तियाँ रेखाकार, भालाकार या आयताकार, एकान्तर; बीच की पंक्तियाँ प्रायः लट्वाकार और दन्तुर तथा नीचे की पत्तियाँ अभिमुख क्रम में प्रायः खण्डित या चीरित होती हैं। **पुष्प**-कोमल, लोमयुक्त; पत्तियों के अक्षभाग से झुकी मञ्जरियों में बैंगनी या श्वेताभ बैंगनी या पीत चिह्नों से युक्त होते हैं। **फल**-१ इञ्च लंबा, आयताकार-चतुष्कोणीय, कुछ दबा हुआ, गहरी चार परिखाओं से युक्त होता है। **बीज**-छोटे, चिकने, वर्ण में श्वेत, रक्त या कृष्ण होते हैं। **पुष्प**-अक्टूबर-दिसम्बर; **फल**-दिसम्बर-जनवरी।

जाति—बीजों के वर्णभेद से यह तीन प्रकार का होता है—१. श्वेत २. रक्त और ३. कृष्ण। श्वेत जाति में तैल अधिक निकलता है। रक्तजाति को 'रामतिल' भी कहते हैं। इसका क्षुप कृष्णतिल के समान ही होता है किन्तु इसके पुष्प चित्र-विचित्र और पत्र कुछ बड़े होते हैं। कृष्णतिल गुणकर्म की दृष्टि से प्रशस्त माना जाता है और औषध-कार्य में इसीका प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—तिल के बीजों का रासायनिक संघटन निम्नांकित है :—

आर्द्रता	४.१–६.५	प्रतिशत
स्नेहद्रव्य	४३.०–५६.८	,,
प्रोटीन	१६.६–२६.४	,,
सूत्र	२.९–८.६	,,
कार्बोहाइड्रेट	९.१–२५.२	,,
खनिज द्रव्य	४.१–७.४	,,
कैल्शियम	१.०६–१.४५	,,
फास्फोरस	०.४७–०.६२	,,

इसमें अनेक जीवनीय द्रव्य (ए, बी और सी) पर्याप्त मात्रा में होते हैं।

तिलतैल में सिसेमिन तथा सिसेमालिन नामक दो घटक तत्त्व पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त, सिसेमाल नामक एक फैनाल यौगिक भी पाया जाता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर **अनुरस**—कषाय-तिक्त
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध, मधुर एवं उष्ण होने से वात का शमन करता है तथा कफ और पित्त का प्रकोप करता है। योगवाही होने के कारण द्रव्यान्तर के संयोग और संस्कार से त्रिदोषशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्नेहन, वेदनास्थापन, सन्धानीय, व्रणशोधन, व्रणरोपण और केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य है।

पाचनसंस्थान—स्निग्ध होने से दन्त्य, उष्ण होने से दीपन, ग्राही और शूल-प्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—मधुर-कषाय होने के कारण यह रक्तस्राव को रोकता है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध होने से यह श्वासनलिकागत रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण होने से मूत्र को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से यह वाजीकरण, आर्त्तवजनन और स्निग्ध होने से स्तन्यजनन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध-मधुर होने से यह बल्य और वृष्य है।

त्वचा—त्वचा के लिए स्नेहन और हितकर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में इसका प्रचुर प्रयोग होता है। विशिष्ट द्रव्यों से सिद्ध होने पर तैल त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—त्वचा में रूक्षता अधिक होने से इसके तैल का अभ्यंग करते हैं। पक्षाघात, अर्दित आदि वात-विकारों में विशिष्ट द्रव्यों से संस्कृत कर अभ्यंग करते हैं। शिर आदि अंगों में पीड़ा होने पर इसकी मालिश करते हैं। पीड़ा की शान्ति के लिए अर्श में इसका कल्क गरम कर बाँधते हैं। छिन्न-भिन्न, भग्न-क्षत आदि में इसका परिषेक, अवगाह, अभ्यंग आदि के रूप में प्रयोग होता है। व्रणों के शोधन एवं रोपण के लिए इसका लेप और इसके तैल का अश्चोतन भी करते हैं। केशों को बढ़ाने तथा काला करने के लिए तिल के पत्र एवं जड़ के क्वाथ से बाल धोते हैं और उसके तैल का शिर में अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क-दौर्बल्य एवं तज्जनित विकारों में तिल का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—दाँतों की दुर्बलता में तिल के बीज चबाते हैं जिससे दाँत मजबूत होते हैं। अग्निमांद्य एवं ग्रहणी आदि रोगों में भी यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—अर्शरोग में रक्तस्राव को रोकने के लिए मक्खन के साथ खाने को देते हैं। तिल स्वतः कषाय होने से स्तम्भन है और फिर उष्णता के कारण उसमें जो दोष होते हैं उन्हें मक्खन का संयोग दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का, श्वास आदि वातप्रधान विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह के लिए यह उत्कृष्ट औषध है। इससे मूत्र कम होता है और बल भी बढ़ता है। तैल का प्रयोग पूयमेह में करते हैं। इससे स्नेहन होता है और पूय नष्ट होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टार्त्तव, स्तन्याल्पता एवं कामशक्ति-ह्रास में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में तिल के मोदक प्रसिद्ध हैं।

त्वचा—त्वचागत विकारों में तिल खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०; तैल-१०-२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—तिलादि गुडिका, तिलादिलेप, तिलाष्टक।

× × ×

'स्निग्धोष्णो मधुरस्तिक्तः कषायः कटुकस्तिलः।
त्वच्यः केश्यश्च बल्यश्च वातघ्नः कफपित्तकृत् ॥' (च. सू. २७)

'ईषत् कषायो मधुरः सतिक्तः सांग्राहिकः पित्तकरस्तथोष्णः।
तिलो विपाके मधुरो बलिष्ठः स्निग्धो व्रणालेपन एव पथ्यः ॥
दन्त्योऽग्निमेधाजननोऽल्पमूत्रस्त्वच्योऽथ केश्योऽनिलहा गुरुश्च।
तिलेषु सर्वेष्वसितः प्रधानो मध्यः सितो हीनतरास्तथाऽन्ये ॥
(सु. सू. ४६)

'तिलः कृष्णः सितो रक्तः स वन्योऽल्पतिलः स्मृतः।
तिलो रसे कटुस्तिक्तो मधुरस्तुवरो गुरुः ॥
विपाके चापि मधुरः स्निग्धोष्णः कफपित्तकृत्।
बल्यः केश्यो हिमस्पर्शस्त्वच्यः स्तन्यो व्रणे हितः ॥
दन्त्योऽल्पमूत्रकृद् ग्राही वातघ्नोऽग्निमतिप्रदः।
कृष्णः श्रेष्ठतमस्तेषु शुक्लो मध्यमः सितः ॥
अन्ये हीनतराः प्रोक्तास्तज्ज्ञैः रक्तादयस्तिलाः ॥ (भा. प्र.)
'कषायानुरसं स्वादु सूक्ष्ममुष्णं व्यवायि च।
पित्तलं बद्धविण्मूत्रं न च श्लेष्माभिवर्धनम् ॥
वातघ्नेषूत्तमं बल्यं त्वच्यं मेधाग्निवर्धनम्।
तैलं संयोगसंस्कारात् सर्वरोगापहं स्मृतम् ॥' (च. सू. २७)
नवनीततिलाभ्यासात् केशरनवनीतशर्कराभ्यासात्।
दधिसरमथिताभ्यासादर्शांस्यपयान्ति रक्तानि ॥ (च. चि. १४)
'तिलकुसुमलवणगोजलकटुतैलं लौहभाजने कृत्वा।
शोषितमर्कमयूखैः पादस्फुटनं निहन्ति लेपेन ॥' (भै. र.)
'तिलैश्च गुटिकां कृत्वा लेपयेज्जठरोपरि। गुडिका शमयत्येषा शूलं चैवातिदुस्तरम् ॥'
(भै. र.)

'तिलकल्कः सलवणः द्वे हरिद्रे त्रिवृद् घृतम्।
मधुकं निम्बपत्रं च लेपः स्याद् व्रणशोधनः ॥' (भै. र.)
'तिलैरण्डातसीबीजसर्षपैः परिलिप्य च।
श्लेष्मगुल्मं पयःपात्रैः सुखोष्णैः स्वेदयेद्भिषक् ॥' (भै. र.)

W. I., IX, 278–293.

४७. भृङ्गराज

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०–एक्लिप्टा ऐल्बा (*Eclipta alba* Hassk.) सं०—भृङ्गराज (जिससे केश भौंरे के समान शोभायमान हों); मार्कव (जो बालों की सफेदी को दूर करे); केशरञ्जन (केश को रंगने वाला); केशराज, हि०—भाँगरा, भंगरैया;

पं०-भंगरा; म०-माका; गु०-भांगरो; मा०-जलभांगरो; बं०-केसुरिया; ता०-काइकेशी; ते०-गलगरा; अ०-कदीमुलबिंत।

स्वरूप—इस क्षुप छोटा १०-१२ अंगुल ऊचा होता है और उत्थित या भूमि पर फैला रहता है। **काण्ड**-कृष्णाभ अनेकशाखायुक्त, रोमश, प्रायः ग्रन्थियों (निचली) पर मूलयुक्त होता है। **पत्र**-१-४ इञ्च लंबे, ½ से १ इञ्च चौड़े, अभिमुख, अवृन्त, आयताकार-भालाकार, किंचित् दन्तुर होते हैं। **पुष्पदण्ड**-छोटा होता है जिसके शिरोभाग में श्वेतवर्ण पुष्प निकलते हैं। पुष्पमुण्डक-प्रायः गोलाकार ·१७-·३५ इञ्च व्यास के होते हैं जिनके बाहरी पुष्प पतली सफेद जिह्वा से युक्त और भीतरी पुष्प घंटिकाकार होते हैं। **फल**-·१ इञ्च लंबे, द्विधारयुक्त, पृष्ठभाग पर सिकुड़े, अग्रभाग पर रोमश होते हैं। रूपान्तरित बाह्यकोश (Pappus) पर प्रायः दो शूक या दाँत होते हैं। **बीज**-लंबे, छोटे, काली जीरी के समान अनेक होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और हेमन्त तक फल लगते हैं।

जाति—पुष्पभेद से निघण्टुओं में इसकी तीन जातियों का उल्लेख मिलता है—(१) श्वेत, (२) पीत, (३) नील। श्वेत जाति का यहाँ वर्णन किया गया है। पीत भृङ्गराज का पुष्प पीतवर्ण होता है। बंगला में इसे केशराज कहते हैं। इसका लैटिन नाम Wedella chinensis Merrill है। इसका १-२ फुट लंबा प्रसरी क्षुप होता है। **पत्र**-२-३ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**-चमकीले पीले, ऊपरी पत्रकोणों से निकले लंबे पुष्पदण्ड के अग्रभाग पर लगे होते हैं। पुष्प और फल मार्च से सितम्बर तक लगते हैं। नील भृङ्गराज सन्दिग्ध हैं। कुछ लोग श्वेत भृङ्गराज को ही फलावस्था में नील कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारतवर्ष के जलप्राय स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें प्रचुर मात्रा में राल और एक्लिप्टिन (Ecliptine) नामक क्षाराभ होता है। Wedelolactone नामक तत्त्व भी पाया गया है। पीत भृङ्गराज में भी यह तत्त्व होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, लघु, कटु-तिक्त और उष्ण होने से यह कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण, सवर्णीकरण और चक्षुष्य है। सर्वोपरि यह केशवर्धन और रञ्जन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

नेत्र—इससे दृष्टिशक्ति बढ़ती है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन और यकृदुत्तेजक है। इसकी मुख्य क्रिया यकृत् पर होती है जिससे पित्तस्राव ठीक होता है और आमदोष का पाचन ठीक होता है। यह पित्तरेचक है और इससे उदरस्थ क्रिमि नष्ट होते हैं। यह शूलप्रशमन भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक तथा रक्तभारशामक है। इससे शोथ भी नष्ट होता है।

श्वसनसंस्थान—कटुतिक्त होने से कफनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज वाजीकरण हैं।

सात्मीकरण—बलवर्धक और रसायन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के कुष्ट आदि विविध विकारों को नष्ट करता है।

तापक्रम—स्वेदजनन और आमपाचन होने से ज्वर को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्लीपद, ग्रन्थि आदि शोथों में इसका लेप करते हैं। व्रणों और क्षतों पर लेप करने से पीड़ा कम होती है और रोपण शीघ्र होता है तथा त्वचा का रंग ठीक होता है। इसके रस का आश्चोतन नेत्ररोगों में तथा कर्णशूल में करते हैं। शिरःशूल में इसका स्वरस शिर में मलते हैं। इसके स्वरस को बकरी के दूध में मिला कर नस्य लेने से सूर्यावर्त रोग दूर होता है। पालित्य आदि केश के रोगों में भृङ्गराजस्वरस बालों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शिर-शूल, भ्रम आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

नेत्र—नक्तान्ध्य एवं दृष्टिमांद्य में इसका सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्वृद्धि, प्लीहावृद्धि, कामला, अर्श और उदरशूल में लाभ करता है। एरंडतैल के साथ इसका स्वरस पिलाने से उदरस्थ क्रिमि बाहर निकल आते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह अनेक रक्तविकारों और पांडु तथा शोथ में प्रयुक्त होता है। रक्तभाराधिक्य में भी लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रदाह में यह लाभ करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीजों का प्रयोग कामशक्ति को बढ़ाने के लिए करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है विशेषतः रसायनकर्म के लिए भृङ्गराज के सेवन का विधान है।

त्वचा—यह अनेक चर्मरोगों में यथा कुष्ठ, किलास, शीतपित्त, क्षुद्ररोग आदि में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में भी दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, बीज।

मात्रा—स्वरस ५-१० मि. लि.

उबालने से इसका गुण नष्ट हो जाता है अतः स्वरस का ही प्रयोग करना चाहिये।

विशिष्ट योग—भृङ्गराज तैल, षड्बिन्दु तैल, भृङ्गराजादि चूर्ण, भृङ्गराजघृत।

\+ \+ \+

'भृङ्गराजो भृङ्गरजो मार्कवो भृङ्ग एव च। अंगारकः केशराजो भृङ्गारः केशरञ्जनः॥
भृङ्गारः कटुकस्तिक्तो रूक्षोष्णः कफवातनुत्।
केश्यस्त्वच्यः कृमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्॥
दन्त्यो रसायनो बल्यः कुष्ठनेत्रशिरोर्तिनुत्।' (भा. प्र.)

'ये मासमेकं स्वरसं पिबन्ति दिने दिने भृङ्गरजःसमुत्थम्।
क्षीराशिनस्ते बलवीर्ययुक्ताः समाः शतं जीवितमाप्नुवन्ति॥' (भा. उ. ३९)

'धात्रीतिलान् भृङ्गरजोविमिश्रान् ये भक्षयेयुर्मनुजाः क्रमेण।
ते कृष्णकेशा विमलेन्द्रियाश्च निर्व्याधयो वर्षशतं भवेयुः॥' (भै. र.)

'भृङ्गराजास्तु चक्षुष्यास्तिक्तोष्णाः केशरञ्जनाः।
कफशोफविषघ्नाश्च तत्र नीलो रसायनः॥' (रा. नि.)

M. P. I., I, 368-370.

४८. नीलिनी

परिचय

गुण—विरेचन (च०); अधोभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०–इण्डिगोफेरा टिंक्टोरिया (Indigofera tinctoria Linn.), सं०–नीलिनी (नीलवर्णयुक्त), नीली, रञ्जनी (केश को रंगनेवाली); तुत्था (तुत्थ के समान नीलवर्ण), ग्रामीणा (ग्रामीण क्षेत्रों में होनेवाली), नीलपुष्पा (नीलपुष्पवाली), शारदी (शरदृऋतु में पकनेवाली), हि०–नील; बं०–नील; म०–नीली, गु०–गली; मा०–लील; ता०–नीलम्, अवरि; ते०–अविरि, नीलचेट्टु; अ०–नीलज; फा०–दरख्ते-नील; अं०–इण्डिगो (Indigo)।

स्वरूप—इसका गुल्म ४-५ फुट ऊँचा होता है जिसकी शाखायें दुर्बल, कोणीय और रोमश होती हैं। **पत्र**-श्यामाभ हरितवर्ण, शरपुंखा के समान, **पत्रक**-अण्डाकार या लट्वाकार, ·५-·९ इंच लंबे, २-६ जोड़े, असमपक्षवत् होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय कोमल मंजरियों में लाल रंग के छोटे पुष्प लगते हैं। **पुष्पदण्ड**-२-४ इञ्च लंबा होता है। **फली**-१-२ अंगुल लंबी, सीधी या जरा टेढ़ी, नुकीली होती है। एक फली में ९-१२, **बीज** बेलनाकार, दानों छोरों पर कटे हुये होते हैं। सितम्बर में पुष्प और दिसम्बर में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—विशेषतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, सिन्ध, अवध और महाराष्ट्र में पहले इसकी खेती बड़े पैमाने पर की जाती थी किन्तु अब कृत्रिम नील बनने के कारण इसकी खेती प्रायः बन्द हो गई।

रासायनिक संघटन—इसका रञ्जक द्रव्य इण्डिगोटिन (Indigotin) नामक ग्लाइकोसाइड के रूप में होता है। इसके अतिरिक्त, इण्डिकन (Indican) नामक तत्त्व रहता है।

गुण

गण—लघु, रूक्ष   **रस**—तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तिक्त एवं उष्ण होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेखन, वेदनास्थापन, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न, विषघ्न, कृमिघ्न, केशवर्धन और केशरञ्जन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—रेचन, यकृदुत्तेजक, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तप्रसादन एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

सात्मीकरण—यह अनेक विषों विशेषतः जांगम विषों को नष्ट करता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

प्रयोग

दोष प्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—लेखन होने के कारण इसके बीजों का चूर्ण बनाकर मोतियाबिन्द और फूली में सुरमा के रूप में प्रयोग करते हैं। वेदनास्थापन होने से

अर्श, आमवात आदि में लेप करते हैं। व्रणों पर लेप करने से रोपण शीघ्र होता है। कुष्ठ, किलास, दद्रु आदि त्वचा के विविध रोगों में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। पागल कुत्ता के काटने पर दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं। बीजों को मद्य में सात दिन रखने के बाद वह मद्य बालों के जूँ मारने के लिए प्रयुक्त होता है। विसर्प का प्रसार रोकने के लिए इसका लेप करते हैं। केशवर्धन एवं रञ्जन के लिए पत्तियों का उपयोग किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मद, मूर्च्छा, भ्रम आदि मस्तिष्क-दौर्बल्य-जनित विकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, आमवात, उदावर्त्त, जलोदर, यकृत्-प्लीहावृद्धि, शूल और कृमि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्द्रव, वातरक्त आदि विविध रक्तविकारों एवं शोथ-रोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं फुफ्फुसशोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीरोग, मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

सात्मीकरण—पागल कुत्ता के काटने पर ५० मि० लि० पत्रस्वरस समान गोदुग्ध के साथ प्रतिदिन सबेरे देते हैं इससे जलसन्त्रास होने का भय नहीं रहता और विष शान्त हो जाता है। मूल का क्वाथ शंखिया विष के निवारण के लिए देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में काली मिर्च के साथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

× × ×

'नीली तु नीलिनी तूली काला दोला च नीलिका।
रञ्जनी श्रीफली तुत्था ग्रामोणा मधुपर्णिका॥
क्लीतिका कालकेशी च नीलपुष्पा च सा स्मृता।
नीलिनी रेचनी तिक्ता केश्या मोहभ्रमापहा॥
उष्णा हन्त्युदरप्लीहवातरक्तकफानिलान्। आमवातमुदावर्त्तं मदं च विषमुद्धतम्॥'
(भा. प्र.)

'नीली तिक्ता रसे पाके सरोष्णा भ्रममोहकृत्। कफानिलहरा केश्या प्लीहोदरविषापहा॥
वातरक्तमुदावर्त्तमामवातगदं हरेत्॥ (कै. नि.)

'नीली तिक्ता रसे चोष्णा कटिवातकफापहा।
केश्या विषोदरं हन्ति वातासृक्कृमिनाशिनी॥' (ध. नि.)

'नीली तु कटुतिक्तोष्णा केश्या कासकफामनुत्।
मरुद्विषोदरव्याधिगुल्मजन्तुज्वरापहा॥ (रा. नि.)

विदाही

४९. राजिका

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी–Cruciferae)।

नाम—लै०-ब्रासिका जन्सिया (Brassica juncea Czern & Coss); सं०-राजिका; आसुरी (तीक्ष्ण होने के कारण), तीक्ष्णगन्धा (गन्ध तीक्ष्ण होने के कारण), क्षुज्जनिका (भूख बढ़ानेवाली); हिं०-राई; बं०-राई सरिषा; पं०-ओहर; म०-मोहरी; गु०-राई; ता०-कडुगु; ते०-अवलु; अ०-खदरल; फा०-सिपंदाँ, अं०-इण्डियन मस्टर्ड (Indian Mustard)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप** सरसों के समान २-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-दीर्घवृन्तयुक्त; गहरे कटे हुए, ऊपरी खण्डित या अखण्ड, कभी-कभी १ फुट तक लम्बे होते हैं। पत्रवृन्त पर छोटे पत्रक या कर्णक होते हैं। **पुष्प**-चमकीले पीले होते हैं। **फली**-१-२ इंच लंबी, ऊपर से नीचे की ओर कुछ दबी हुई, अग्रचञ्चु बहुत छोटा और लम्बाग्र होता है। **बीज**-रक्ताभ भूरे, सिकुड़नयुक्त और सरसों से कुछ छोटे होते हैं। रबी की फसलों के साथ बोई जाती है।

जाति—बनारसी राई (Brassica nigra Koch) इससे भिन्न है। इसके बीज गहरे रंग के, जालीदार तथा पिच्छिल होते हैं। इनकी बाह्य त्वचा के ऊपर एक पतला आवरण होता है।

उत्पत्तिस्थान—बिहार, यू० पी० और बंगाल में इसकी विशेष रूप से खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३०-३८ प्रतिशत स्थिर तैल होता है। इसके अतिरिक्त, नत्रजनयुक्त द्रव्य २४·६ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, तीक्ष्ण और कटु-तिक्त होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजों का लेप शोथहर, लेखन, विदाही, स्फोटजनक एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उष्ण और कटु होने से दीपन-पाचन, शूलहर, कृमिघ्न और प्लीहावृद्धिहर है और बड़ी मात्रा में देने से तीक्ष्णता के कारण वामक भी होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक एवं रक्तपित्तकोपक है।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शीतप्रधान वातव्याधि में इसके बीजों का लेप करते हैं। पक्षाघात, सन्धिवात, कटिशूल, फुफ्फुसावरणशोथ, फुफ्फुसशोथ, यकृच्छोथ, आमाशयशूल आदि रोगों में इसका लेप करते हैं। हृदय को उत्तेजित करने के लिए हृद्दौर्बल्य की अवस्था में हृत्प्रदेश में लेप लगाते हैं। कण्डू, किलास आदि चर्मरोगों में भी लेप करते हैं। शीतजन्य रजोरोध हो तो रोगिणी को कमर तक राई के क्वाथ में बैठाते हैं। गलशोथ और दन्तशूल में इसके काढ़े से कुल्ला कराते हैं। राई का तेल वातव्याधि में मालिश करते हैं।

राई का लेप ठंडे जल से महीन पीसकर कपड़े पर लगाकर देना चाहिए। १० मिनट से अधिक यह लेप किसी अवस्था में न रखना चाहिए। दाह का अनुभव हो तो उसके पूर्व ही हटा ले।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, अरुचि और अजीर्ण रोगों में इससे बड़ा लाभ होता है। उदरशूल, गुल्म, क्रिमिरोग तथा प्लीहावृद्धि में भी यह उपयोगी है। कफाधिक्य या विष की स्थिति में थोड़ी राई (लगभग ५ ग्रा०) और सेंधानमक गरम जल से मिलाकर थोड़ी-थोड़ी देर पर देते हैं जब तक पूरा वमन न हो जाय।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने से अल्पमात्रा में मह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—स्वेदजनन होने से त्वचा के विकारों में लाभप्रद है।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीजचूर्ण-१-३ ग्रा०।

अहित प्रभाव—अधिक सेवन से तृष्णा, दाह आदि पैत्तिक लक्षण उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके निवारण के लिए पित्तशामक मधुर-स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

'राजी तु राजिका तीक्ष्णगन्धा क्षुजनिकासुरी।
राजिका कफवातघ्नी तीक्ष्णोष्णा रक्तपित्तकृत्॥
किंचिद्रूक्षाग्निदा कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमीन् हरेत्॥' (भा. प्र.)
'तीक्ष्णं तु राजिकातैलं ज्ञेयं वातादिदोषनुत्।
शिशिरं कटु पुंस्त्वघ्नं केश्यं त्वग्दोषनाशनम्॥' (रा. नि.)

'आसुरी कटुतिक्तोष्णा वातप्लीहार्त्तिशूलनुत्।
दाहपित्तप्रदा हन्ति कफगुल्मकृमिव्रणात्॥' (रा. नि.)

५०. तिलपर्णी

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैपरिडेसी-(Capparidaceae)।

नाम—लै०-श्वेतपुष्पा-गाइनेण्ड्रोप्सिस गाइनैण्ड्रा (Gynandropsis gynandra (Linn.) Briquet) पीतपुष्पा-क्लिओम आइकोसैण्ड्रा (Cleome icosandra Linn), सं०-तिलपर्णी (तिल के सदृश पत्रवाली), पूतिगंधा (दुर्गन्धयुक्त), उग्रगन्धा (तीक्ष्णगन्धयुक्त), बर्बरक, हि०-हुलहुल; हुरहुर; बं०-हुड़हुड़िया; म०-तिलवण; गु०-तलवणी; पं०-बोगरा; मा०-बगरो; ता०-नाइवेलै; ते०-कुक्कवामिन्त; अं०-डॉग मस्टर्ड (Dog mustard)।

स्वरूप—(१) **श्वेतपुष्पा**—यह उग्रगन्धि किञ्चित् दुर्गन्धियुक्त क्षुप १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-पञ्चांगुलिवत्, दीर्घवृन्तयुक्त पत्र जिनमें पाँच, अवृन्त, विषमाकार, अभिलट्वाकार, रोमश पत्रक होते हैं। **पुष्प**-मञ्जरियों में श्वेतवर्ण के छोटे पुष्प आते हैं जिनमें बैंगनी रंग के पराग होते हैं। कोणपुष्पक-त्रिपत्रक होते। **फली**-गोल, लम्बी, दीर्घवृन्त होती हैं। **बीज**-राई के समान कुछ छोटे होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प आते हैं।

(२) **पीतपुष्पा**—इसका क्षुप रोमश और ग्रन्थियुक्त, त्रिपतिया १-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-५ पत्रकवाले होते हैं। **पत्रक**-लट्वाकार या अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्प**-लम्बी मञ्जरियों में पीले रंग के आते हैं। **फली**-२-३ इञ्च लम्बी, धारीदार, ग्रन्थियुक्त और रोमश अग्र भाग पर पतली होती है। **बीज**-छोटे दानेदार, भूरे या काले होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारतवर्ष के उष्ण प्रदेशों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—श्वेतपुष्पा के बीजों में हलके रंग का, सर्षपगन्धि स्थिर तैल २२% होता है। इनमें क्लियोमिन (Cleomine) नामक एक तत्त्व भी होता है जिसके कारण इनके औषधीय कर्म होते हैं।

पीतपुष्पा के बीजों में स्थिर तैल ३६.६% तथा विस्कोसिन (Viscosin) नामक तत्त्व होता है।

दोनों जातियों के गुणधर्म प्रायः समान हैं।

गुण

गुण—तीक्ष्ण
रस—कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह गुण, रस एवं वीर्य के द्वारा कफ का तथा वीर्य के द्वारा वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग विदाही, वेदनास्थापन, पूतिहर और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातहर होने से आक्षेपशामक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन-पाचन, अनुलोमन, शूलहर और कृमिघ्न हैं।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदजनन है। इसके (श्वेतपुष्पा) पञ्चांग के अलकोहलसत्व में कैंसरविरोधी क्रिया पाई गई है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वर को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग बाह्य—इसका पत्रस्वरस अकेले या तैल में मिलाकर कर्णशूल में देते हैं। पत्तियों या बीजों का लेप सन्धिवात आदि में करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसके बीजों के क्वाथ से प्रक्षालन करते हैं जिससे कृमि मर जाते हैं। विद्रधि पर पत्तियों का लेप करते हैं। जीर्ण श्लीपद आदि में पत्तियों का लेप करते हैं जिससे स्फोट निकलते हैं और फोड़ा फूटने पर पानी निकलने से शोथ कम हो जाता है। सर्पविष और बिच्छू के दंश में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह बच्चों के आक्षेपक रोग में विशेषतः प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, गुल्म एवं कृमि-रोगों में करते हैं। १½–३ ग्रा० बीजों का चूर्ण चीनी मिला कर दिन में दो बार दो दिनों तक देते हैं और तीसरे दिन एरण्ड तैल का विरेचन देते हैं। इसे विशेषतः गण्डूपद कृमि निकल आते हैं।

त्वचा—स्वेदजनन होने से त्वचा के विकारों में उपयुक्त है।

तापक्रम—ज्वरों में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र, मूल।

मात्रा—बीजचूर्ण–१–३ ग्रा०। पत्रस्वरस–५–१० मि० लि०। मूल–१–३ ग्रा०।

अहित प्रभाव—इसके अतिसेवन से पित्त प्रकुपित होता है और तज्जन्य उपद्रव उत्पन्न होते हैं।

निवारण—इसके शमन के लिए पित्तशामक उपचार करना चाहिए।

× × ×

तिलपर्णी पूतिगन्धाऽत्युग्रगन्धा च रोमशा।
तिलपर्णी कटूष्णा स्यात्तीक्ष्णा विस्फोटकारिणी॥
विदाहिकृमिशूलघ्नी स्वेदला कफवातनुत्।—(स्व.)

तिलपर्णी वर्बरकः—हृदयदीपक

W. I., II, 231; IV, 279.

M. P. I., I, 453.

स्नेहोपग

५१. द्राक्षा

परिचय

गण—स्नेहोपग, विरेचनोपग, कासहर, ज्वरहर (च.); काकोल्यादि, परूषकादि (सु.)

कुल—द्राक्षा-कुल (वाइटेसी–(Vitaceae) ।

नाम—लै०–वाइटिस विनिफेरा (Vitis vinifera Linn.), सं०–द्राक्षा, (जो मन को प्रिय हो), मृद्वीका, (जो शरीर को मृदु-स्निग्ध करे); गोस्तनी (गोस्तन के आकार की), हि०–दाख, मुनक्का, अंगूर; बं०–द्राक्षा, आंगुर; पं०–दाख, अंगूर; म०–द्राक्ष; गु०–दराख; मा०–दाख, मिनका; ते०–द्राक्षापाण्डु; ता०–कड़िमण्डि; फा०–अंगूर (हरा); मवेज़ (सूखा), मवेज़ मुनक्की (सूखा और बीज निकाला हुआ); अं०–ग्रेप (Grape) ।

स्वरूप—इसकी आरोही लता होती है। **पत्र**–६–८ इञ्च लंबे-चौड़े, प्रायः हृद्वत्, ३–७ कोणीय या खण्डित, रोमश होते हैं। **पुष्पदण्ड**–छोटे होते हैं जिन पर तन्तुसूत्र (Tendril) नहीं होते हैं। **पुष्प**–हरितवर्ण, गुच्छों में लगते हैं। **अन्तर्दल**–अग्रभाग पर संयुक्त होते हैं। योनिसूत्र बहुत छोटा तथा स्थूल होता है। **फल**–गोस्तनाकार गुच्छों में लगते हैं जिनमें ३–५ बीज होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेष रूप से उत्तर पश्चिम भारत, पंजाब, काश्मीर तथा बलूचिस्तान और अफगानिस्तान में होता है।

रासायनिक संघटन—ताजे द्राक्षाफल का संघटन निम्नांकित है'—

आर्द्रता—७२·८ से ७७·२ प्रतिशत
भस्म—०·३६ से ०·६४ प्रतिशत
अम्लता—०·२३ से ०·५३ प्रतिशत
शर्करा—१५·६६ से १८·६० प्रतिशत

फलों में द्राक्षशर्करा (ग्लुकोज), गोंद, कषायद्रव्य, टार्टरिक, साइट्रिक, रैसेमिक और मैलिक अम्ल; सोडियम और पोटाशियम क्लोराइड, पोटाशियम

सल्फेट; टार्टरेट ऑफ लाइम, मैग्नीशियम, फिटकिरी, लौह, कुछ अल्युमिन और एसिड टार्टरेट ऑफ पोटाशियम रहते हैं। टार्टरिक एसिड फलों में मुख्यतः होता है किन्तु कच्चे फलों में ऑक्जलिक एसिड भी होता है। मुनक्के में कैल्शियम, मैग्नीशियम, पोटाशियम, फॉस्फोरस और लौह होते हैं। इसके अतिरिक्त, गोंद और शर्करा भी होती है। बीजों में स्थिर तैल तथा कषायाम्ल ५ प्रतिशत होता है। ऊपर के छिलके में टैनिन तथा लता और पल्लव में टंकणाम्ल होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, मृदु　　**रस**—मधुर
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—स्निग्ध, गुरु, मृदु, मधुर होने से वात का तथा मधुर और शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म—

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—यह स्निग्ध एवं शीतमधुर होने से तृष्णानिग्रहण, स्नेहन, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को बल देने वाला, रक्तप्रसादन और रक्तपित्त-शामक है।

श्वसनसंस्थान—यह फुफ्फुसबलदायक, सन्धानकारक, कफनिःसारक और उष्ण है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत-मधुर होने से यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और गर्भस्थापन है।

सात्मीकरण—मधुर होने से यह जीवनीय, बल्य और बृंहण है।

त्वचा—यह दाह आदि पैत्तिक विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह तापक्रम को कम करता है और ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग—

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य, मदात्यय आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, विबन्ध, उदावर्त्त और कामला में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, वातरक्त आदि रक्तविकार एवं रक्तपित्त में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—फुफ्फुसरोग, उरःक्षत, क्षय, स्वरभेद, कास और श्वास में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह आदि में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्र-दौर्बल्य एवं गर्भाशय की कमजोरी में इसका सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य, कृशता, शोष आदि में प्रयोग होता है।

त्वचा—दाह तथा सामान्य त्वचारोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे सन्ताप भी कम होता है और तृष्णा, दाह आदि उपद्रव भी शान्त होते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—पाचन-शक्ति के अनुसार।

विशिष्ट-योग—द्राक्षारिष्ट; द्राक्षादिक्वाथ; द्राक्षादिलेह, द्राक्षाद्य घृत।

वक्तव्य—द्राक्षा देश, अवस्था एवं आकृति के भेद से अनेक प्रकार की होती है।

× × ×

'तृष्णादाहज्वरश्वासरक्तपित्तक्षतक्षयान्। वातपित्तमुदावर्त्तं स्वरभेदं मदात्ययम्॥
तिक्तास्यतामास्यशोषं कासं चाशु व्यपोहति।
मृद्वीका बृंहणी वृष्या मधुरा स्निग्धशीतला॥ (च. सू. २७)
'तेषां द्राक्षा सरा स्वर्या मधुरा स्निग्धशीतला। रक्तपित्तज्वरश्वासतृष्णादाहक्षयापहा॥
(च. सू. ४७)

'द्राक्षा पक्वा सरा शीता चक्षुष्या बृंहणी गुरुः।
स्वादुपाकरसा स्वर्या तुवरा सृष्टमूत्रविट्॥
कोष्ठमारुतहृद् वृष्या कफपुष्टिरुचिप्रदा। हन्ति तृष्णाज्वरश्वासवातवातास्रकामलाः॥
कृच्छ्रास्रपित्तसम्मोहदाहशोषमदात्ययान्।' (भा. प्रा.)
'द्राक्षा तु मधुराऽम्ला च शीता पित्तार्त्तिदाहजित्।
मूत्रदोषहरा रुच्या वृष्या सन्तर्पणी परा॥' (रा. नि.)

F. I., I, 652.

५२. श्लेष्मातक

परिचय

गण—विषघ्न (च०)।

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी–Boraginaceae)

नाम—लै० कॉर्डिया डाइकोटोमा (Cordia dichotoma Forst. f.); सं०-श्लेष्मातक (श्लेष्मा को बराबर बाहर निकालने वाला); बहुवार (अनेक

रोगों का निवारण करने वाला), उद्दालक (रोगों को उखाड़ने वाला); शेलु (पुरुष को जीवनदान देने वाला); हि०—लसोड़ा; बं०—बहनारी; पं०—लसूड़ा; म०—भोंकर; गु०—वडगुंदा; मा०—वडगूंद; ता०—विदि; अ०—दिल्क; फा०—सपिस्ताँ; (कुती के चूचुक के सदृश) अं०—सेबेस्टन (sebesten)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ३०–४० फुट ऊँचा होता है। काण्ड छोटा, प्रायः कुटिल, घेरे में ३–४ फीट होता है। त्वक् धूसरवर्ण होती है। **पत्र**—एकान्तर, लट्वाकार या गोलाकार, १–५ इञ्च व्यास के होते हैं। इसमें ३ सिरायें होती हैं। नई पत्तियाँ पृष्ठ पर रोमश किन्तु प्रौढ पत्र चिकने होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**—द्विविभक्त, चिकनी होती है जिस पर छोटे श्वेतवर्ण के पुष्प लगते हैं। **फल**—अंडाकार, ½ से–१ इञ्च, कच्ची अवस्था में हरित तथा पक्वावस्था में पाण्डुवर्ण होते हैं। फलमज्जा पिच्छिल, पारदर्शक, मधुर होती है जिसके भीतर एक बीज होता है। वसन्तऋतु में पुष्प तथा ग्रीष्म के अन्त में फल पकते हैं।

जाति—इसकी एक छोटी जाति होती है जिसे गोंदी या गोंदनी कहते हैं। यह पंजाब, राजस्थान, गुजरात और दक्षिण भारत में अधिक होता है। इसका लैटिन नाम कॉर्डिया राँथी (Cordia rothii Roem Schult) है। इसकी बड़ी जाति कॉर्डिया वालिचिआइ (C. wallichii G. Don.) है जिसे बड़ा लसोड़ा कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारतवर्ष में ५ हजार फुट की ऊँचाई तक होता है। विशेषतः उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल

रस—मधुर होता है

छाल कषाय और तिक्त होती है।

विपाक—फल का विपाक मधुर और छाल का कटु होता है।

वीर्य—शीत

प्रभाव—विषघ्न

कर्म

दोषकर्म—फल स्निग्ध-मधुर-पिच्छिल होने से वातपित्तशामक और कफवर्धक है किन्तु छाल कषाय और तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, व्रणशोधन, रोपण एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल ग्राही और कृमिघ्न है। फल स्नेहन और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—यह शीत होने से रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से कफनिःसारक है और गले एवं श्वासनलिकाओं की रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत-स्निग्ध होने से मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल वृष्य है।

सात्मीकरण—इसकी छाल विष को नष्ट करती है तथा कटुपौष्टिक है।

त्वचा—इसकी छाल कुष्ठ आदि त्वग्दोषों को दूर करती है।

तापक्रम—फल एवं छाल ज्वरघ्न है।

दोषप्रयोग—इसका फल वातपित्तजन्य विकारों में एवं छाल का कफपित्तजन्य रोगों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विषों, व्रणों एवं कर्णरोगों में छाल का लेप करते हैं और उसके क्वाथ से प्रक्षालन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल का प्रयोग ग्रहणी, प्रवाहिका और कृमिरोग में करते हैं। फल कोष्ठगत रूक्षता को दूर करने के लिए तथा तृष्णा में दिया जाता है। विरेचन की तीक्ष्णता को दूर करने के लिए उसमें मिलाकर देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—वातिक कास और प्रतिश्याय में इसके फल का शर्बत देते हैं। इससे कफ आसानी से निकल आता है और श्वासमार्ग स्निग्ध होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र एवं मूत्रदाह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

सात्मीकरण—इसकी छाल का क्वाथ विषों को दूर करने के लिए प्रयुक्त होता है और सामान्य दौर्बल्य में भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वचा के रोगों में लाभ करता है।

तापक्रम—ज्वर में सन्ताप कम करता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ–५०-१०० मि०लि०। फलपानक (शर्बत) १०-२० मि०लि०।

विशिष्ट योग—श्लेष्मातक-पानक (शर्बत लसोड़ा)।

× × ×

'बहुवारस्तु शीतः स्यादुद्दालो बहुवारकः। शेलुः श्लेष्मातकश्चापि पिच्छिलो भूतवृक्षकः॥
बहुवारो विषस्फोटव्रणवीसर्पकुष्ठनुत्। मधुरस्तुवरस्तिक्तः केश्यश्च कफपित्तहृत्॥
फलमामं तु विष्टम्भि रूक्षं पित्तकफास्रजित्। तत्पक्वं मधुरं स्निग्धं श्लेष्मलं शीतलं गुरु॥
(भा. प्र.)

श्लेष्मातकः कटुहिमो मधुरः कषायः, स्वादुश्च पाचनकरः कृमिशूलहारी।
आमास्रदोषमलरोधबहुव्रणार्त्ति–विस्फोटशान्तिकरणः कफकारकश्च॥' (रा. नि.)

वर्ण्य

५३. कुङ्कुम

गण—शोणितस्थापन (च०), एलादि (सु०) ।

कुल—केशर-कुल (इरिडेसी-Iridaceae) ।

नाम—लैं०-क्राकस सेटाइवस (Crocus sativus Linn); सं० कुङ्कुम, घुसृण, रक्त (रक्ताभ होने के कारण), काश्मीर (में उत्पन्न होने से), बाह्लीक (बलख देश में उत्पन्न होने वाला); हि०-केसर; म० गु०-केसर; बं०-जाफरन, कुमकुम् ; ता०-कुङ्कुमाप्पु; ते०-कुङ्कुम-पुब्बा; अ०-ज़ाफ़रान; फा०-करकीमास; अं-सैफ़न (Saffron) ।

स्वरूप—केशर का **क्षुप** छोटा, ६-१० इञ्च ऊँचा, बहुवर्षायु होता है। इसका मूल कोषावृत कन्दरूप (Corm) होता है। काण्ड नहीं होता। मूलीय **पत्र**-रेखाकार, नालीदार तथा मुड़े हुए किनारों वाले होते हैं और ये द्विकोष्ठीय पुष्पध्वज को लपेटे रहते हैं। **पुष्प**-एकाकी या २-३ एक साथ, बड़े, सुगन्धित तथा बैंगनी रंग के होते हैं। परिपुष्प फनेल के आकार का होता है और उसके कण्ठभाग पर बाल होते है। वहीं पुंकेशर होते हैं जिनमें परागाशय पीतवर्ग होता है। स्त्रीकेशर के कुक्षिवृन्त की भुजायें बाहर निकली हुई, नारङ्गी रङ्ग की होती हैं जिनके अग्रभाग खण्डित या अखण्ड होते हैं। कुक्षि ३, प्रायः १ इञ्च लम्बी, सूत्राकार, रक्तवर्ण होती हैं। कुक्षिभाग ही कुङ्कुम है। इस प्रकार एक पुष्प से तीन केशरतन्तु प्राप्त होते हैं। **फल**-आयताकार होता है। गर्भाशय त्रिकोष्ठीय होता है जिसमें प्रायः गोलाकार बीज होते हैं।

केशर के कन्द लगाये जाते हैं। एक बार कन्द लगा देने पर १०-१५ वर्षों तक पौधा रहता है। प्रतिवर्ष पुराने कन्द की जगह नया कन्द निकलता है। इस प्रकार यह क्रम चलता रहता है। इसका पुष्प शरद्काल में पत्तियों के साथ निकलता है।

उत्पत्तिस्थान—केशर मूलतः दक्षिणी युरोप का निवासी है और स्पेन, फ्रांस, इटली, ग्रीस, तुर्की, फारस, भारत और चीन में इसकी खेती होती है। भारत में यह कश्मीर के पाम्पुर क्षेत्र में तथा जम्मू के किश्तवार क्षेत्र में होती है। भारत में इसका आयात मुख्यतः स्पेन और फ्रांस से होता है।

संग्रहविधि—केशर के पुष्पों को प्रतिदिन प्रातःकाल ओस हटने के बाद तोड़ कर इकट्ठा करते हैं। कुक्षिभाग को पृथक् कर धूप में या मन्द आँच पर चलनियों में रखकर सुखाते हैं। ताजे पुष्पों से एकत्रित तथा धूप में सुखाये कुक्षिभाग से बना केशर सर्वोत्तम होता [illegible] सामान्यतः पूरे पुष्प को ३-५ दिनों तक धूप में सुखाने के बाद छड़ियों से [illegible] जिससे सारा [illegible] छोटी चलनियों से होकर नीचे गिरता है। [illegible] पानी में डा[illegible] पानी

में तैरते हैं फेंक दिये जाते हैं और जो भाग नीचे बैठ जाता है उसे इकट्ठा कर सुखा लेते हैं। यह नं० १ या मोगरा केशर कहलाता है। अब चलनी के ऊपर जो भाग रह गया उसे फिर उसी तरह पीट कर सारी क्रिया को दुहराते हैं। इस प्रकार दो-तीन बार करके सारा केशर निकाल लेते हैं। किन्तु बाद के निकले केशर क्रमशः नं० २ और ३ होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन रङ्गद्रव्य, एक उड़नशील तैल १.३७%, स्थिर तैल १३.४ प्रतिशत, क्रोसीन (Crocin) नामक एक ग्लुकोसाइड, पिक्रोक्रोसीन (Picrocrocin) नामक तिक्तसत्त्व, शर्करा होती हैं। भस्म में पोटाशियम और फास्फोरस होते हैं।

प्रशस्त लक्षण—भावप्रकाश ने तीन प्रकार का केशर बतलाया है। (१) काश्मीरज-काश्मीर देश में उत्पन्न केशर रक्ताभ, सूक्ष्म और कमल के समान गन्ध वाला होता है, यह उत्तम माना गया है। उत्तम केशर का वर्ण उदीयमान सूर्य के समान अरुण होता है। (२) बाह्लीकज-बाह्लीकदेश में उत्पन्न केशर सूक्ष्म, पाण्डुवर्ण और केवड़े के समान गन्धयुक्त होता है। यह मध्यम माना जाता है। (३) पारसीक-पारसदेश में उत्पन्न केशर स्थूल, ईषत् पाण्डुवर्ण और मधु के समान गन्ध वाला होता है। यह निकृष्ट माना गया है।

अपमिश्रण और परीक्षण—केशर में प्रायः पुष्प के कुक्षिवृन्त, परागकोष तथा अन्तर्दल का मिश्रण किया जाता है। गेंदा, कुसुम्भ आदि के पुष्पों का भी मिश्रण करते हैं। अन्य पदार्थों को भी रङ्ग कर मिला देते हैं। वजन बढ़ाने के लिए जल, तैल या ग्लिसरीन मिला दिया जाता है।

ब्रिटिश फार्माकोपिया के अनुसार केशर में ८% से अधिक कुक्षिवृन्त और परागकोष तथा २% से अधिक अन्य बाह्य कार्बनिक पदार्थ नहीं होना चाहिए।

(१) शुद्ध केशर ईथर या पेट्रोलियम स्पिरिट में डालने पर बहुत कम रङ्ग होना चाहिए।

(२) इसका ०.१ ग्राम ५० मि० लि० जल में डालने पर वही रङ्ग होना चाहिए जो क्रौमिक एनहाइड्राइड ०.२७५ ग्रा० उतने ही जल में डालने पर होता है।

(३) केशर में आर्द्रता ६-१४%, जलीय सत्त्व ५०%, नेत्रजन २.२२-२.४३% तथा भस्म ५-७ % होना चाहिए।

गुण

गुण—स्निग्ध
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से पित्त एवं उष्ण और कटु होने से वात और कफ का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, शोथहर, जन्तुघ्न, सौमनस्यजनन एवं चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है तथा अधिक मात्रा में मादक है। मस्तिष्क को बल देता है तथा वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही, छर्दिनिग्रहण और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, वर्ण्य और दौर्गन्ध्यहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में हितकर है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह व्यङ्ग, न्यच्छ आदि वर्णविकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। शिरःशूल और व्रणों में लेप करते हैं। दृष्टिदौर्बल्य में गुलाबजल के साथ घिसकर नेत्र में डालते हैं। यकृच्छोथ में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्यजनित विकारों में केसर खिलाते हैं। अधकपारी में चीनी और घी मिलाकर खिलाते हैं। आमवात और नाडीशूल में भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण। अरुचि, अतिसार, वमन और यकृद्विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य एवं रक्तविकारों में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देने से मूत्र आसानी से आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग, रजोरोध, कष्टार्त्तव एवं कष्टप्रसव में इसका सेवन कराते हैं। प्रसव के बाद भी गर्भाशय-शोधन के लिए केशर की गोली खिलाई जाती है।

त्वचा—वर्णविकारों एवं अन्य चर्मरोगों में केशर हितकर है। मसूरिका आदि में देने से दाने ठीक निकल आते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में भी रसायन के रूप में इसका प्रयोग चिरकाल से होता आ रहा है।

प्रयोज्य अंग—केशर (कुक्षिभाग) **मात्रा**—½-१ ग्रा०।

विशिष्टयोग—कुङ्कुमादि घृत, कुङ्कुमाद्य तैल।

× × ×

'कुङ्कुमं घुसृणं रक्तं काश्मीरं पीतकं वरम्।
संकोचं पिशुनं धीरं बाह्लीकं शोणिताभिधम्॥
काश्मीरदेशजे क्षेत्रे कुङ्कुमं यद्भवेद्धि तत्।
सूक्ष्मकेसरमारक्तं पद्मगन्धि तदुत्तमम्॥
बाह्लीकदेशसंजातं कुंकुमं पाण्डुरं मतम्।
केतकीगन्धयुक्तं तन्मध्यमं सूक्ष्मकेशरम्॥
कुंकुमं पारसीकं यन्मधुगन्धि तदीरितम्।
ईषत्पाण्डुरवर्णं तत् ह्यधमं स्थूलकेशरम्॥
कुंकुमं कटुकं स्निग्धं शिरोरुग्व्रणजन्तुजित्।
तिक्तं वमिहरं वर्ण्यं व्यङ्गदोषत्रयापहम्॥' (भा. प्र.)
'कुंकुमं कटुकं तिक्तमुष्णं श्लेष्मसमीरजित्।
व्रणदृष्टिशिरोरोगविषहृत् कायकान्तिदम्॥' (ध. नि.)

W. I., II. 370–372.

F. B. I., VI. 276.

५४. केतक

परिचय

कुल—केतक-कुल (पैण्डेनेसी-Pandanaceae)।

नाम—लै०-पैण्डेनस ओडोरोटिसिमस (Pandanus odorotissimus Linn. f.)। सं०-केतक, सूचीपुष्प (सूई की तरह नुकीला पुष्प वाला), क्रकचच्छद (आरे की तरह दन्तुर और कण्टकित पत्र वाला), तृणशून्य, हि०-केवड़ा; बं०-केया, म०-केवड़ा; गु०-केवड़ो; ता०-जवनान चेदी; ते०-मोगालि चेट्टु; अं०-काजी; फा०-कादी; अं०-स्क्रू पाइन (Screw Pine)।

स्वरूप—इसका गुल्म या वृक्ष १०-१२ फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-टेढ़ा अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त और निःसार होता है तथा उससे अनेक प्ररोह निकल कर बरोहर की तरह जमीन में घुसे रहते हैं। **पत्र**-३-५ फीट लम्बे, सीधे फिर झुके हुए, स्निग्ध और हरितवर्ण होते हैं। इनका अग्रभाग नुकीला और किनारे के भाग तथा मध्य सिरा कण्टकित होती हैं। **पुष्प**-अवृन्तकाण्डज, पत्रावृत होते हैं तथा पत्रकोष श्वेतवर्ण का सुगन्धित होता है। पुष्प एकलिंगी भिन्न-भिन्न वृक्षों पर होते हैं।

पुंपुष्पव्यूह अति सुगन्धित २५–५० से० मी० लम्बा, पुष्पगुच्छीय शाखाओं में विभक्त होता है। स्त्रीपुष्पव्यूह दृढ, अविभक्त ५ से० मी० व्यास का होता है। **फल**—आयताकार या गोलाकार, ४–१० इञ्च लम्बा, ४–८ इञ्च व्यास का, गहरे नारंगी रंग का, ५–६ इञ्च लम्बे वृन्त में लगा रहता है। वर्षाऋतु में पुष्प और ग्रीष्मऋतु में फल आते है।

जाति—भावप्रकाश के अनुसार इसकी दो जातियाँ निर्दिष्ट की गई हैं:—(१) 'केतक' (२) 'स्वर्णकेतकी'।

उत्पत्ति स्थान—यह समुद्रतटवर्त्ती इलाकों में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त नदियों, तालाबों के किनारे भी पाया जाता है। भारतवर्ष में उड़ीसा, आन्ध्र तथा मद्रास में इसकी विशेष उपज होती है। अकेले उड़ीसा के गंजाम जिले में ही लगभग ३०–४० लाख पेड़ होंगे जिसके फूलों से केवडा इतर, केवड़ा जल और केवड़ा तैल तैयार किया जाता है।

पेड़ लगाने के बाद ३–४ वर्षों में फूल देने लगता है। पुष्पध्वज परिपक्व होने में लगभग एक पक्ष का समय लगता है और एक प्रौढ़ वृक्ष में प्रतिवर्ष ३०–४० पुष्पध्वज लगते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्पों में एक सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध **रस**—तिक्त, मधुर, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-उष्ण होने से वात का, तिक्त-मधुर होने से कफ तथा पित्त का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषशामक है किन्तु विशेषतः तिक्त-मधुर होने से कफ और पित्त को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, वेदनास्थापन, सौमनस्यजनन, आक्षेपहर, केश्य, दौर्गन्ध्यहर एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क एवं ज्ञानेन्द्रियों को बल प्रदान करता है।

पाचनसंस्थान—यह कटु-तिक्त होने से दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह वृष्य और रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रसंग्रहणीय और स्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल प्रजास्थापन है। पुष्प वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटु पौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों विशेषतः कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका तैल कटिशूल, आमवात एवं शिरःशूल में लगाते हैं। इसके पराग का नस्य अपस्मार में देते हैं, इससे रोग का वेग शान्त होता है। कानों में डालने से कर्णशूल शान्त होता है और व्रणों पर लगाने से उनका रोपण शीघ्र होता है। केश के रोगों में एवं शरीरदौर्गन्ध्य में भी उनका प्रयोग होता है। इसके सूंघने से श्रम, क्लम दूर होता और मन प्रसन्न होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित रोगों में दिया जाता हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमान्द्य, अजीर्ण एवं विबन्धरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृदय की धड़कन को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। रक्तविकारों में भी इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का प्रमेह में प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके मूल का क्षीरपाक करके वन्ध्यारोग में एवं गर्भपात को रोकने के लिए दिया जाता है। पुष्प का प्रयोग कामशक्तिवर्धन के लिए करते हैं।

त्वचा—यह त्वचागत वर्णविकारों एवं कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—यह ज्वर में विशेषतः विस्फोटयुक्त ज्वरों में प्रयुक्त होता है। मसूरिका में इसका प्रयोग करने से दाने कम निकलते हैं और उपद्रव भी कम होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पुष्प, मूल।

मात्रा—केतकार्क (अर्क केवड़ा)–४०–६० मि. लि.। केतकपानक (शर्बत केवड़ा)–२०–४० मि. लि.।

× × ×

'केतकः सूचिकापुष्पो जम्बुकः क्रकचच्छदः। सुवर्णकेतकी त्वन्या लघुपुष्पा सुगन्धिनी॥
केतकः कटुकः स्वादुर्लघुस्तिक्तः कफापहः। उष्णस्तिक्तरसो ज्ञेयः चक्षुष्या हेमकेतकी॥
(भा. प्र.)

'पुष्पाणां प्रवरं हेमकेतकीपुष्पमुच्यते। ईषदुष्णं सुगन्धं च सुतिक्तं दृष्टिदायकम्॥'
(कै. नि.)

'केतकी कटुका पाके लघुतिक्ता कफापहा।' (ध. नि.)
'केतकीकुसुमं वर्ण्यं केशदौर्गन्ध्यनाशनम्। हेमाभं मदनोन्मादवर्धनं सौख्यकारि च॥
तस्य स्तनोऽतिशिशिरः कटुः पित्तकफापहः। रसायनकरो बल्यो देहदार्ढ्यकरः परः॥
(रा. नि.)

कण्डूघ्न

५५. करञ्ज

परिचय

गण—कण्डूघ्न, विरेचन, कटुकस्कन्ध, तिक्तस्कन्ध (च०), आरग्वधादि, वरुणादि, अर्कादि, श्यामादि, शिरोविरेचन, कफसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-पोंगेमिया पिनेटा (Pongamia pinnata Pierre); सं०-करञ्ज, (जल को रंगने वाला); नक्तमाल (रात्रि में शोभमान) गुच्छपुष्पक (गुच्छेदार फूलों से युक्त), घृतपूर (बीजों में घृत के समान गाढ़ा तैल होने के कारण); स्निग्धपत्र (चिकने पत्तों वाला); हि०-डिठौरी, करुअइनी; म०-करञ्ज; गु०-करंज, कणझी; बं०-डहर करञ्ज; ते०-पुनगु, कनक; ता०-पोंगुम्; म०-पोन्नम्; का०-होंगे; अं०-इण्डियन बीच (Indian beech)।

स्वरूप—इसके वृक्ष मध्यम आकार के २५-५० फीट ऊँचे होते हैं। **पत्र**-८-१४ इञ्च लंबे विषमपत्रक होते हैं जिनमें ५-७, चमकीले, आयताकार, लट्वाकार, १-५ इञ्च लंबे पत्रक लगे रहते हैं। **पुष्प**-नीलाभ श्वेत, कक्षीय मंजरियों में लगते हैं। बहिर्दल-भूरे रंग का तथा अन्तर्दल ½ इञ्च का होता है जिसके ध्वज का पृष्ठभाग रेशमी होता है। पुंकेशर १७ होते हैं जिनमें दसवाँ केशर पुष्प के ठीक बीच में होता है। **फल**-१½-२ इञ्च लम्बा, चपटा, चिकना, काष्ठीय तथा पीछे की ओर कुछ मुड़ा होता है। अग्रभाग भी चंचुवत् नुकीला और मुड़ा होता है। **बीज**-प्रत्येक फल में एक, अण्डाकार या वृक्काकार, १.७-२ से०मी० लम्बा, १.२-१.८ से० मी० चौड़ा, सिकुड़नयुक्त, रक्ताभ भूरे चर्मवत् आवरण से युक्त, तेल से भरा होता है। मई-जून में इसमें फूल तथा दिसम्बर-जनवरी में फल लगते हैं।

जाति—संहिताओं में करञ्जद्वय का उल्लेख है जिससे पूतीक और नक्तमाल का ग्रहण किया गया है। पूतीक चिरबिल्व है तथा नक्तमाल करञ्ज हैं। बाद में कण्टकी करञ्ज के मिलने से करञ्जत्रय बना। चिरबिल्व और कण्टकीकरञ्ज का वर्णन आगे किया जायगा।

उत्पत्तिस्थान—यह वृक्ष मध्य और पूर्वी हिमालय प्रदेश (४००० फीट तक), दक्षिण भारत एवं लंका में विशेषतः तटवर्ती इलाकों में मिलता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में तिक्त और गाढ़े रङ्ग का तैल (करञ्जतैल-(Pongamia oil) २७-३९ प्रतिशत होता है। इसमें करञ्जीन (Karanjin) नामक सक्रिय तत्त्व होता है जिसकी मुख्यतः जन्तुघ्न क्रिया होती है। पोंगैमाल (Pongamol) भी इसमें मिलता है।

मूलत्वक् में कनुगिन (Kanugin) तथा डिमेथोक्सि कुनुगिन (Demethoxy-Kanugin) नामक दो तत्त्व होते हैं। पुष्प में पोंगेमिन (Pongamin), क्वर्सिटिन (Quercitin) आदि तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण — **रस**—तिक्त, कटु, कषाय

विपाक—कटु — **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफ और वात का शमन करता है तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल और पत्र जन्तुघ्न, कण्डूघ्न एवं शोथहर है। बीजों का तैल कृमिनाशक, व्रणरोपण एवं वेदनास्थापन है। इसका चूर्ण शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु और तिक्त होने से दीपन, पाचन है। उष्ण और तीक्ष्ण होने से भेदन, कृमिघ्न तथा यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने के कारण रक्तप्रसादन तथा उष्ण होने से शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न एवं कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—किञ्चित् कषाय और उष्ण होने से मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से गर्भाशय-विशोधन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातशामक होने से कफवातजन्य रोगों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके बीजों का तैल चर्मरोगों और व्रणों में लगाते हैं। वातव्याधि में इसका अभ्यंग भी करते हैं और पत्तियों को गरम कर बाँधते हैं। व्रणशोथ में पत्तियों का लेप करते हैं। शिरोरोगों में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, पाचनविकार, विबन्ध, उदावर्त्त, गुल्म, कृमि और अर्श में इसकी छाल एवं पत्तियों का रस देते हैं। कृमिरोग में बीज-तैल का भी प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधन होने से यह रक्तविकारों तथा शोथ में प्रयुक्त होता है। आमवात में भी लाभकर होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, विशेषतः कुक्कुरखांसी (Whooping Cough) में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं या बीज पानी में घिस कर देते हैं। इस रोग से बचने के लिए इसके बीजों की माला बच्चों को पहनाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग करते हैं। इक्षुमेह में इसके पुष्पों का प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि रोगों में इसका सेवन कराया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पत्र और बीज।

मात्रा—त्वक् तथा पत्रस्वरस १०–२० मि० लि०, बीजचूर्ण १–३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—करञ्जादि चूर्ण, करञ्जाद्य घृत, करञ्जादि तैल।

× × ×

'करञ्जो नक्तमालः स्यात्करञ्जो गुच्छपुष्पकः। घृतपूरः स्निग्धपत्रः प्रकीर्या पुष्पमञ्जरी ॥
करञ्जः कटुकः पाके रसे तिक्तकषायकः। कटुको गुणतस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो विनियच्छति ॥
बलासपित्तकुष्ठार्शोमेहोदरव्रणक्रिमीन्। तत्पत्रं कटुकं पाके रसे दीपनपाचनम् ॥
कफवातापहं शोफविषार्शःक्रिमिकुष्ठजित्।' (कै. नि.)

'करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत्। कुष्ठोदावर्त्तगुल्मार्शोव्रणक्रिमिकफापहा ॥
तत्पत्रं कफवातार्शःक्रिमिशोथहरं परम्। भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःक्रिमिकुष्ठजित्।' (भा. प्र.)

'करञ्जोष्णतिक्तः स्यात् कफपित्तास्रदोषजित्।
व्रणप्लीहकृमीन् हन्ति भूतघ्नो योनिरोगहा ॥' (ध. नि.)

'करञ्ज...फलं जन्तुप्रमेहजित्। रूक्षोष्णं कटुकं पाके लघु वातकफापहम् ॥ (सु. सू. ४६)'

'करञ्ज···तैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफक्रिमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगहराणि च।' (सु. सू. ४५)

५६. कोशाम्र

परिचय

गण—अम्लस्कन्ध (च.) अम्लवर्ग, न्यग्रोधादि (सु.)

कुल—अरिष्टक-कुल (सैपिण्डेसी—Sapindaceae)

नाम—लै०-श्लीकेरा ओलियोजा (Schleichera oleosa (Lour) oken) सं०-कोशाम्र, क्षुद्राम्र (आम्रवत् फल), लाक्षावृक्ष (इसके पेड़ों पर लाह जमती है), घनस्कन्ध (सघन वृक्ष); हि० बं०-कुसुम; गु०-कोसुंब; म०-कोसिंब; ता०-पुमरत; मल०-पुषम्; ते०-पोसुकु; कन्न०-जेन्दल चकोत; अं०-सीलोन ओक (Ceylon oak).

स्वरूप—इसका वृक्ष ३२ मीटर तक ऊँचा, लगभग ३ इञ्च घेरे का होता है। इसकी छाल धूसर या भूरी, भीतर की ओर लाल, छोटे, गोल, अनियमित टुकड़ों में

छूटती रहती है। **पत्र**-समपक्षवत्, ८-१६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पत्रक**-अण्डाकार या आयताकार, २-४ जोड़ों में, ३-१० इञ्च लम्बे तथा १½-४ चौड़े होते हैं, निचले पत्रक छोटे होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय मञ्जरियों में, पीताभ हरित, सूक्ष्म होते हैं। **फल**-लगभग १-१½ इञ्च लम्बे, चिकने या किंचित् कण्टकित, गोले या अण्डाकार, कठिन त्वचा वाले, १-२ बीजों से युक्त होते हैं। **बीज**-भूरे, लम्बे गोल, कुछ चिपटे तथा तैलयुक्त होते हैं। बीजों के ऊपर सरस बाह्यवृद्धि (Aril) होती है जो खाई जाती है। स्वाभाविक रूप में यह बीज पर सूख जाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर से पश्चिम बंगाल तक, छोटानागपुर, मध्य भारत, दक्षिण भारत में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। विशेषतः आर्द्र क्षेत्रों में होता है।

लाख तथा तेल के लिए यह उगाया भी जाता है। कुसुमी लाख सर्वोत्तम मानी जाती है जो छोटानागपुर, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, मैसूर और तमिलनाडु में उगाई जाती है।

रासायनिक संघटन—बीजों से एक तेल निकाला जाता है जिसे मकासर तेल (Macassar oil) कहते हैं। बीज में यह ३५-४५% (बीजमज्जा में ६०-६५%) होता है। मई-जुलाई में फल इकट्ठे कर उनसे बीज निकाले जाते हैं।

बीज और तैल में हाइड्रोसायनिक एसिड होता है जिसके कारण विषाक्त लक्षण (चक्कर, तारकाविस्फार, मूर्च्छा आदि) उत्पन्न होते हैं। छाल में ९.४% टैनिन होता है।

कोशाम्रतैल का पर्याप्त वर्णन आयुर्वेदीय ग्रन्थों में मिलता है।

गुण

गुण—गुरु **रस**—अम्ल (तैल-कटु, तिक्त, कषाय)
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—इसकी छाल कफपित्तशामक होती है।

कच्चा फल—वातशामक तथा कफपित्तवर्धक है और पका फल कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल कण्डूघ्न, क्रिमिघ्न, कुष्ठघ्न तथा व्रणशोधन है। तैल केश्य तथा वेदनास्थापन भी है। छाल में भी ये गुण हैं।

पाचनसंस्थान—इसका फल ग्राही है। पका फल दीपन और रुचिवर्धक है। बीजतैल विरेचन और क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक तथा शोथहर है। छाल कषाय होने से रक्तस्तम्भन है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—छाल ज्वरघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इसकी छाल स्तम्भन है और योनिस्राव को रोकती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसकी छाल का प्रयोग कफपित्तजन्य रोगों में करते हैं। पके फल का प्रयोग कफ-वातज विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके तैल का प्रयोग कण्डू, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में तथा दुष्ट व्रण में करते हैं। बालों में लगाने के लिए तथा सन्धिवात आदि में मालिश के लिए भी इसका उपयोग होता है। दुष्ट व्रण में क्रिमियों को मारने के लिए बीजचूर्ण भी डालते हैं। छाल का भी प्रयोग इन रोगों में होता है।

पाचनसंस्थान—इसके बीजतैल का प्रयोग विरेचनार्थ होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में विहित क्षारागद (सु. कल्प. ६) में इसके क्षार का प्रयोग है।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसके तैल का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज, तैल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ—५०-१०० मि० लि०।
बीजतैल—५-१० ग्रा०।

× × ×

क्षुद्राम्रः स्यात् कृमितरुर्लाक्षावृक्षो जतद्रुमः। सुकोशको घनस्कन्धः कोशाम्रश्च सुरक्तकः॥
कोशाम्रोऽम्लः कटुः पाके वीर्योष्णोऽथानिलापहः। कफपित्तकरो रुच्यः कुष्ठघ्नो रक्तशोधनः॥
(ध. नि.)

कोशाम्र उक्तः क्षुद्राम्रः कृमिवृक्षः सुकोशकः। कोशाम्रः कुष्ठशोथास्रपित्तव्रणकफापहः॥
तत्फलं ग्राहि वातघ्नमम्लोष्णं गुरु पित्तलम्। पक्वं तु दीपनं रुच्यं लघूष्णं कफवातनुत्॥
(भा. प्र.)

तुन्वीकोशाम्र···स्नेहास्तिककटुकषायाः अधोभागदोषहराः कृमिकुष्ठानिलहराः कुष्ठव्रणशोधनाश्च। (सु. सू. ४५)

W. I., IX, 250–254.

५७. निम्ब

परिचय

गण—कण्डूघ्न, तिक्तस्कन्ध (च०); आरग्वधादि, गुडूच्यादि, लाक्षादि (सु०)।

कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliaceae)।

नाम—लै०-एजाडिरेक्टा इण्डिका (Azadirachta indica A. Juss); सं० निम्ब (निम्बति सिञ्चति स्वास्थ्यम्—जो स्वास्थ्य को बढ़ावे); पिचुमर्द (पिचुं कुष्ठं मर्दयति नाशयति—कुष्ठ को नष्ट करने वाला); अरिष्ट (न रिष्टमशुभमस्मात्—जिससे शरीर को कोई हानि न हो); हिंगुनिर्यास (हींग के समान गोंद जिससे निकले); हि०-नीम; बं०-निम; म०-कडूनिंब, गु०-लीमडो; ता०-वेंबु, वेंपु; पं०-निंब:; मल०-वेप्पु; सिं०-निमु; फा०-आज़ाद दरख्ते हिन्दी; अ०-आजादरख्तुल हिन्द; अं०- मार्गोसा ट्री (Margosa tree)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ४०-५० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सरल होता है जिससे चारों ओर शाखा-प्रशाखायें निकली रहती हैं। **त्वक्**-स्थूल और खुरदरी तिरछी या लम्बी परिखाओं से युक्त होती हैं। बाहर की ओर यह गहरी भूरी तथा भीतर की ओर लाल रङ्ग की होती है। इससे एक प्रकार का रस (नीरा-जिसे नीम की ताड़ी कहते हैं) तथा निर्यास निकलता है। **पत्र**-विषमपक्षवत्, ८-१५ इञ्च लम्बे होते हैं। **पत्रक**-१-३ इञ्च लम्बे, ½-१½ इञ्च चौड़े, भालाकार, दन्तुर, विषमपार्श्व, ५-९ जोड़ों में होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय मञ्जरियों में, छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**-लम्बगोल, ½-¾ इञ्च लम्बे, कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर पीले होते हैं। इनका आकार खिरनी से बहुत मिलता-जुलता है। इन्हें 'निमौली' कहते हैं। प्रत्येक फल में एक बीज होता है जिससे तैल निकलता है। पतझड़ में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त में ताम्रलोहित पल्लव निकलते हैं। पुष्पोद्‌गम वसन्त में होता है और फल ग्रीष्म ऋतु के अन्त एवं वर्षा के प्रारम्भ में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। पश्चिमोत्तर भारत के शुष्क प्रदेश में यह विशेष रूप से मिलता है।

रासायनिक संघटन—छाल में Nimbin (०.०४%), Nimbinin (०.००१%), Nimbidin (०.४%), Nimbosterol (०.०३%), उड़नशील तैल (०.०२%), टैनिन (६%) और मार्गोसिन नामक एक तिक्त घटक होता है। बीजतैल में गन्धक के अतिरिक्त एक क्षाराभ, राल, ग्लाइकोसाइड तथा वसाम्ल होते हैं। निम्बनीरा में स्वतन्त्र एमिनोएसिड होते हैं। निम्ब के सारभाग में टैनिन, कैलशियम, पोटाशियम तथा लौह के लवण पाये जाते हैं। बीजों में ४५% स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र एवं त्वक् जन्तुघ्न, व्रणपाचन, व्रणशोधन, पूतिहर, दाहप्रशमन एवं कण्डूघ्न है। बीजों का तैल-व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं वेदना-स्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त-कषाय होने से रोचन, ग्राही (बीज-भेदन), कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है। तिक्त होने के कारण यह पित्त के द्रवत्व का शोषण करता है जिससे अम्लपित्त में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—तिक्तरस होने के कारण यह रक्त को शुद्ध करता है तथा रक्त-विकारजन्य शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने से कारण यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तिक्त होने से मूत्रगत कफपैत्तिक विकारों (प्रमेहों) को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—तिक्त होने से कुष्ठघ्न एवं शीत होने ने दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह मधुमेह को नष्ट करता है। इसका नीरा बल्य है।

तापक्रम—तिक्त होने से यह आमपाचन, ज्वरघ्न और विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

नेत्र—इसकी कोमल पत्तियाँ और पुष्प चक्षुष्य हैं तथा अनेक नेत्ररोगों को दूर करते हैं।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होता है अतः उस पर इसकी उत्तेजक क्रिया होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विद्रधि, ग्रन्थि और व्रण में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। कण्डू आदि त्वग्दोषों में पत्रक्वाथ से स्नान कराते हैं तथा इसका तैल लगाते हैं। अपची और नाडीव्रण में इसके तैल की वर्ति देते हैं और सन्धिशोथ, आमवात आदि वातिक रोगों में इसका अभ्यङ्ग करते हैं। सिर के कृमियों को मारने के लिए बीजों को पीस कर लगाते हैं। पालित्य और खालित्य रोग में तैल का नस्य देते हैं। दाह में पत्रस्वरस का फेन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, ग्रहणी, कृमि तथा यकृद्विकारों में इसकी छाल का स्वरस मधु के साथ देते हैं। ऊर्ध्वग अम्लपित्त तथा कफपैत्तिक छर्दि के लिए यह उत्तम औषध है। अर्श एवं विबन्ध में इसके बीज का प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—विविध रक्तविकारों, फिरंग, उपदंश आदि में इसका प्रयोग करते हैं। शोथ में भी लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कासरोग में भी इसकी छाल का रस या क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्रता रोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव एवं सूतिकारोग में बीजों का चूर्ण देते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग तथा दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—निम्बतैल मधुमेह में प्रयुक्त होता है। इसका नीरा धातुक्षय, यक्ष्मा आदि को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वर विशेषतः विषमज्वरों एवं जीर्णज्वरों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—अभिष्यन्द आदि नेत्ररोगों में पुष्प तथा पत्र का स्वरस डालते हैं। इसका अन्तःप्रयोग भी करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पत्र, त्वक्, बीज, तैल।

मात्रा—त्वक् चूर्ण–२–४ ग्रा०; पत्रस्वरस–१०–२० मिलि०; तैल–५–१० बूंद।

विशिष्टयोग—निम्बादिचूर्ण, निम्बारिष्ट, निम्बहरिद्राखण्ड।

× × × ×

'निम्बः स्यात् पिचुमर्दश्च पिचुमन्दश्च तिक्तकः। अरिष्टः पारिभद्रश्च हिंगुनिर्यास इत्यपि ॥
निम्बः शीतो लघुर्ग्राही कटुस्तिक्तोऽग्निवातकृत्। अहृद्यः श्रमतृट्कासज्वरारुचिकृमिप्रणुत् ॥
व्रणपित्तकफच्छर्दिकुष्ठहृल्लासमेहनुत्। निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं कृमिपित्तविषप्रणुत् ॥
वातलं कटुपाकं च सर्वारोचककुष्ठनुत्। नैम्बं फलं रसे तिक्तं पाके तु कटु भेदनम् ॥
स्निग्धं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःकृमिमेहनुत्।' (भा. प्र.)

'निम्बस्तिक्तरसः शीतो लघुः श्लेष्मास्रपित्तनुत्।
कण्डूकुष्ठव्रणान् हन्ति लेपाहारादिशीलितः ॥
अपक्वं पाचयेच्छोथं व्रणं पक्वं विशोधयेत्।' (ध. नि.)
'निम्बस्तिक्तः कटुः पाके लघुः शीतोऽग्निवातकृत्।
ग्राही हृद्यो जयेत्पित्तकफमेहज्वरक्रिमीन् ॥
कुष्ठकासारुचिच्छर्दिहृल्लासश्वयथुव्रणान्। ग्राहि प्रवालं निम्बस्य रक्तपित्तकफक्रिमीन् ॥
कुष्ठघ्नं वातजननं नेत्ररोगान् विनाशयेत्। तद्वत्पत्राणि निम्बस्य व्रणघ्नानि विशेषतः ॥
शलाका निम्बपत्रस्य कासश्वासविनाशिनी।
कृमिघ्ना तु वरिष्ठा स्यात् कुष्ठज्वरविनाशिनी ॥

चक्षुष्यं निम्बपुष्पं च कृमिपित्तविषप्रणुत्। वातलं कटुपाकं स्यात् सर्वारोचकनाशनम्।
फलं तिक्तरसं पाके कटुकं भेदनं लघु। अरूक्षमुष्णं कुष्ठघ्नं गुल्मार्शःकृमिमेहनुत्॥
निम्बस्य पक्वं मधुरं सतिक्तं स्निग्धं फलं शोणितपित्तरोगे।
कफे प्रशस्तं नयनामयघ्नं क्षतक्षयघ्नं गुरु पिच्छिलं च॥'
निम्बबीजस्य मज्जा च कृमिकुष्ठविशोधनः।' (कै. नि.)

'निम्ब······फलतैलानि तीक्ष्णानि लघून्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठशिरोरोगापहराणि चेति।' (सु. स. ४५)

'निम्बस्य तैलं प्रकृतिस्थमेव नस्तो निषिक्तं विधिना यथावत्।
मासेन गोक्षीरभुजो नरस्य ययाग्रभूतं पलितं निहन्ति॥' (भै. र.)

W. I., I, 140–142.
M. P. I., I, 112–116.

५८. सर्षप

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै० ब्रासिका कैम्पेष्ट्रिस (Brassica campestris Linn. Var. Sarson Prain); सं०-सर्षप (सरति स्नेहोऽस्मात्–जिससे तैल निकाला जाय); कटुस्नेह (जिसका स्नेह कटु हो); तन्तुभ (पीले पुष्पकेशरों से जो शोभित हो); हि०-सरसों; म०-शिरसी; गु०-सरसव, बं०-सरिषा; मा०-सरसुं, पं०-सरेयाँ, क०-तिलगुगुल; ते०-आवालु; अ०-हुर्फ अबयज्; फा०-सर्षफ; अं०-मस्टर्ड (Mustard)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप**-३–५ फुट ऊँचा होता है। पत्तियाँ लगभग १० इंच तक लम्बी अत्यधिक कटी होती हैं। ऊपर की पत्तियाँ ५ इञ्च तक, कर्णकयुक्त होती हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फलियाँ**-२ इञ्च लंबी, १/६ इञ्च चौड़ी होती है जिनमें पीले रंग के अनेक बीज होते हैं। फलियों का अग्रभाग चंचुवत्, चपटा होता है जिसमें १–२ बीज होते हैं।

जाति—भावप्रकाश में इसकी दो जातियाँ कही गई हैं :—(१) श्वेत या गौरसर्षप–इसे 'सिद्धार्थ' भी कहते हैं। लोकभाषा में इसे 'पीली सरसों' कहते हैं। (२) रक्तसर्षप–इसके बीज भूरे रंग के राई के दानों से कुछ बड़े होते हैं। औषधीय कर्मों में गौरसर्षप श्रेष्ठ माना गया है।

वानस्पतिक दृष्टि से बीजों के रंग के अतिरिक्त, फलियों में कपाटों या कोष्ठों की संख्या (२, ३ या ४) तथा फलियों की अर्धमुखी या अधोमुखी स्थिति के अनुसार इसकी अनेक जातियाँ होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में होता है। इसकी खेती विशेष रूप से विहार, बंगाल, उ० प्र०, पंजाब में की जाती है। यह अक्टूबर के प्रारंभ में बोई जाती है और फरवरी–मार्च में काट ली जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में ३५ से ४५ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसे 'कटुतैल' कहते हैं। इसके अतिरिक्त सिनाल्बिन (Sinalbin) नामक स्फटिकीय द्रव्य, सिनापिन, सल्फोसायनाइड, लेसिथिन, पिच्छिल द्रव्य, माइरोसिन, प्रोटीन और क्षार जिसमें पोटाशियम, मैगनीशियम और खटिक के फास्फेट होते हैं।

गुण

गुण –तीक्ष्ण, रूक्ष (शाक); स्निग्ध (तैल और बीज)

रस—कटु, तिक्त **विपाक**—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातनाशक और पित्तवर्धक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके बीज लेखन, कुष्ठघ्न, वर्ण्य और शोणितोत्क्लेशक होते हैं। इसका तैल जन्तुघ्न, वेदनास्थापन और स्नेहन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण और उष्ण होने से दीपन, विदाही एवं कृमिघ्न है।

प्लीहा—इसका तैल प्लीहनाशन है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से हृदय को उत्तेजित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—तीक्ष्ण होने से वाजीकरण एवं गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका प्रयोग राई के समान होता है। कुष्ठ में इसके बीजों का लेप या तैल का मर्दन किया जाता है। किसी अंग में पीड़ा होने पर इसके बीजों का लेप या तैल का अभ्यंग किया जाता है। वलवृद्धि के लिए भी इसके तैल से दैनिक अभ्यंग का विधान है। जन्तुघ्न होने से व्रणों में लगाते हैं और दन्तपूय (पायरिया) में गण्डूषधारण करते हैं या सेंधानमक मिलाकर दाँतों में लगाते हैं। शरीर के वर्ण एवं कान्ति को बढ़ाने के लिए इसके बीजों का प्रयोग उद्वर्त्तन (उबटन) में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य एवं कृमिरोग में इसके बीजों का चूर्ण देते हैं।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में इसका तैल बहुत उत्तम माना गया है। काश्यपसंहिता ने प्लीहावृद्धि में इसे सर्वश्रेष्ठ औषध बतलाया है।

रक्तवहसंस्थान—सामान्य अवसाद एवं शैथिल्य में इसका प्रयोग करते हैं जिससे उत्तेजना आती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में इसके बीजों का चूर्ण खिलाते हैं और पेडू पर उसका लेप भी करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना की कमी होने पर तथा रजोरोध में उसके प्रयोग से लाभ होता है।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल।

मात्रा—बीजचूर्ण-२-४ ग्रा०।

विशिष्ट योग—सर्षपादि प्रलेप।

× × × ×

सर्षपः कटुकस्नेहस्तन्तुभश्च कदम्बकः। गौरस्तु सर्षपः प्राज्ञैः सिद्धार्थ इति कथ्यते॥
सर्षपस्तु रसे पाके कटुः स्निग्धः सतिक्तकः। तीक्ष्णोष्णः कफवातघ्नो रक्तपित्ताभिवर्धनः।
रक्षोहरो जयेत् कण्डूकुष्ठकोष्ठक्रिमिग्रहान्। यथा रक्तस्तथा गौरः किन्तु गौरो वरो मतः॥
(भा. प्र.)

'विदाहि बद्धविण्मूत्रं रूक्षं तीक्ष्णोष्णमेव च। त्रिदोषं सार्षपं शाकम्। (सु. सू. ६४)

'सर्षपशाकं शाकानाम् (अहिततमम्)' (च. सू. २५)

'कटूष्णं तैलं रक्तपित्तप्रदूषणम्। कफशुक्रानिलहरं कण्डूकोठविनाशनम्॥'
(च. सू. २७)

'कटुपाकमचक्षुष्यं स्निग्धोष्णं बहुपित्तलम्। क्रिमिघ्नं सार्षपं तैलं कण्डूकुष्ठापहं लघु॥'
(सु. सू. ४५)

'कटुतैलोपदेशं तु वक्ष्यामि प्लीहनाशनम्। नातः परतरं किञ्चिदौषधं प्लीहशान्तये॥'
(काश्यपसंहिता)

५९. जयन्ती

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०–सिसबेनिया सेसबन (Sesbania sesban Merrill), सं०–जयन्ती, जया (रोगों को जीतनेवाली); सूक्ष्ममूला (पतली जड़ वाली), सूक्ष्म पत्रा (छोटे पत्रवाली), केशों को बढ़ानेवाली); बलामोटा, हि०–जैंत; म०–शेवरी; गु०–रायशींगणी; बं०–जयन्ती; ता०–चम्पाई; ते०–सोमीन्त। मल०–सेम्पा; कन्न०–अरिनिन्तजिनंगि।

स्वरूप—इसका छोटा सरल वृक्ष प्रायः १५ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्र**–समपक्षवत्, ४–६ इञ्च लम्बे होते हैं जिनमें ८–२० जोड़े सघन, रेखाकार आयताकार; ·७५–१·२ इञ्च लम्बे पत्रक होते हैं। **पुष्प**–छोटे, पीतवर्ण या नारंगी, लाल

या बैंगनी धब्बों से युक्त, १–६ इञ्च लम्बी अक्षीय मञ्जरियों में ८–१० एक साथ लगते हैं। **फली**–५–९ इञ्च लम्बी, पतली, मुड़ी हुई चंचुयुक्त लटकती रहती है जिसमें २०–३० बीज होते हैं। अक्टूबर-दिसम्बर में पुष्प तथा नवम्बर-जनवरी में फल लगते हैं। जयन्ती का वृक्ष बहुत शीघ्र बढ़ता है किन्तु अल्पायु होता है।

जाति—पुष्पवर्ण के अनुसार इसकी तीन जातियाँ (Varieties) मानी गई हैं। (१) Var. Typica Prain–पीतपुष्प (२) Var. Picta Prain–ध्वजक अन्तर्दल पर बाहर की ओर बैंगनी धब्बे (३) Var. Bicolor W. & A.–ध्वजक अन्तर्दल बाहर से गहरे भूरे या बैंगनी रंग का।

उत्पत्तिस्थान—यह मूलतः अफ्रिका देश का है। संप्रति समस्त भारत में होता है। दक्षिणभारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में स्नेह ४.८ प्रतिशत, अलब्युमिनायड ३३·७ प्रतिशत, कार्बोहाइड्रेट १८·२ प्रतिशत, सेल्युलोज २८·३ प्रतिशत और क्षार ४·२ प्रतिशत होते हैं। विटामिन सी ८९·४ मि० ग्रा०।१०० ग्रा० होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र का कल्क केश्य, शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणपाचन, कुष्ठघ्न एवं स्वरस जन्तुघ्न है। इसके बीज और मूल विषघ्न हैं। इसके पुष्प ज्वर को दूर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह दीपन, ग्राही और क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधन और गलगंडनाशक है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु-रूक्ष होने के कारण कण्ठ्य एवं कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका पत्र मूत्र की मात्रा एवं उसमें वर्तमान शर्करा की मात्रा को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्पों को काञ्जी में पीस कर पुराने गुड़ के साथ आर्त्तव के बाद तीन दिन तक सेवन करने से गर्भधारण नहीं होता। इसके बीज आर्त्तवजनन और उत्तेजक हैं।

त्वचा—इसका मूल और छाल कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह स्वेदजनन और ज्वरघ्न है। विस्फोट-ज्वरों का प्रतिषेधक भी है।

सात्मीकरण—जयन्ती का कर्म रसायन होता है। इसका मूल विषघ्न है।

प्लीहा—इसके बीज प्लीहा के काठिन्य को दूर करते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य रोगों में करते हैं। वातिक विकारों में प्रायः बाह्य प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों का गरम कल्क विद्रधि, अण्डवृद्धि, सन्धिशोथ आदि में बाँधते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। खालित्य और पालित्य रोग में इसकी पत्तियों का लेप लगाते हैं या उसके क्वाथ से शिर धोते हैं। जांगम विषों, विशेषतः वृश्चिकदंश में दंशस्थान पर मूल या बीजों का लेप करने से कष्ट दूर हो जाता है। इसके ताजे मूल को हाथ में रखने से वृश्चिकविष उतर जाता है ऐसा वैद्यों का अनुभव है। सहदेवी के समान इसके मूल या पुष्प को मस्तक पर धारण करने से ज्वर उतर जाता है। गलगंड में इसके पत्र का लेप करते हैं। कण्डू, कुष्ठ आदि में भी इसके पत्र का लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और अतिसार में बीजों का चूर्ण और छाल का स्वरस देते हैं। कृमिरोग में पत्रस्वरस देते हैं।

रसवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा गलगंड आदि में छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, प्रतिश्याय आदि श्लैष्मिक विकारों में जयन्ती-पत्र-क्वाथ देते हैं। जिन्हें बराबर जुकाम हो जाया करता है उन्हें इसके पत्र का शाक सेवन कराते हैं, बड़ा लाभ होता है।

मूत्रवहसंस्थान—इक्षुमेह और बहुमूत्र में पत्र का क्वाथ देते हैं। पत्र का कल्क आंटे में मिलाकर उसकी रोटी भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—पुष्पों का प्रयोग गर्भनिवारण के लिए करते हैं। बीजों का प्रयोग कष्टार्त्तव, रजोरोध आदि में करते हैं।

त्वचा—इसके मूल का दुग्ध के साथ सेवन करने से कुष्ठ तथा श्वित्र दूर हो जाते हैं।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग होता है। २०-२५ बीजों को पीस कर गाय के घी के साथ सेवन करने से मसूरिका रोग का आक्रमण नहीं होता।

सात्मीकरण—जयन्ती के मूल का सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग होता है। विषों में छाल या मूल का क्वाथ या स्वरस पिलाते हैं।

प्लीहा—इसके बीज प्लीहावृद्धि में प्रयुक्त होते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल, त्वक्, पत्र, पुष्प, बीज।

मात्रा—चूर्ण २-६ ग्रा०; स्वरस १०-२० मि०लि०; क्वाथ ५०-१०० मि०लि०।

विशिष्ट योग—जयावटी

वक्तव्य—जयन्तीपत्रस्वरस रसशास्त्र में द्रव्यों के शोधन में बहुशः प्रयुक्त होता है।

× × × +

'बलामोटा सूक्ष्ममूला जयन्ती विजया जया। हरिता चैव विज्ञेया सूक्ष्मपत्रापराजिता ॥
बलामोटा कटुस्तिक्ता लघुः पित्तकफापहा। मूत्रकृच्छ्रं विषं हन्ति विवादे कुरुते जयम् ॥'
(कै. नि)

'श्वेतजयन्तीमूलं पीतं पिष्टञ्च पयसैव। श्वित्रं निहन्ति नियतं रविवारे वैद्यनाथाज्ञा ॥'
(भै. र.)

W. I., IX, 298-300.

६८. अरण्यजीरक

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०-सेण्ट्राथीरम ऐन्थेलमिण्टिकम् (Centratherum anthelminticum Kuntze); सं०-अरण्यजीरक, वनजीरक, सोमराजी; हि०-कालीजीरी, सोहराई; बं०-सोमराज; म०-कडुजिरें; गु०-कालीजीरी, कड़वी जीरी; तां०-आदावी जिलाकारा; ते०-कट्टू शिरागाम्; अ०-कमूनबर्री; फा०-जीरए बर्री (सोहराई) अं०-पर्पल फ्लीबेन (purple Flebane)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप २-६ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-८ इञ्च लंबे, (ऊपरी पत्ते क्रमशः छोटे और भालाकार), अण्डाकार या अभिलट्वाकार, दन्तुर होते हैं। **पुष्पमुण्डक**-½-¾ इञ्च व्यास के, जिसमें लगभग ४० **पुष्प**-बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-⅙ इञ्च लंबे, रोमश, भूरे काले रंग के होते हैं जिनके पृष्ठभाग पर लंबाई में दस उभरी रेखायें होती हैं। फलों से तीक्ष्ण गन्ध आती है। **पुष्प**-वर्षाकाल एवं फल वसन्त में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः हिमालय प्रदेश में ५५०० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल १८%, एक उड़नशील तैल लगभग ०२ प्रतिशत तथा एक तिक्त पीतवर्ण घटक (Resin acid) प्रायः १% पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेप करने से यह शोथहर, वेदनास्थापन, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, एवं कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, वमनकारक एवं कृमिघ्न हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह मूत्रस्राव को उत्तेजित करता है।'

प्रजननसंस्थान - यह गर्भाशयशोधक एवं स्तन्यजनन है।

त्वचा—यह कण्डूघ्न एवं कुष्टघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों से प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों; फोड़े-फुन्सियों तथा चर्म विकारों में इसका लेप करते हैं। जूँ आदि बाह्यकृमियों को मारने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। ४ भाग कालीजीरी और १ भाग हरताल गोमूत्र में पीसकर श्वित्र में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य और कृमिरोग से इसका प्रयोग करते हैं। गण्डूपद (Round worm) तथा तन्तुकृमियों (Thread worm) में विशेष उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्राघात में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूतिरोग एवं स्तन्यविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—१ ग्राम कालीजीरी और १ ग्राम काला तिल का चूर्ण गरम जल के साथ सेवन करने से समस्त कुष्ठरोग नष्ट हो जाते हैं।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और कटुपौष्टिक होने से जीर्णज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं। जांगम विषों में इनका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज। **मात्रा**—१–३ ग्रा०।

वक्तव्य—निघण्टुकारों ने 'सोमराजी' को 'बाकुची' का पर्याय दिया है, अतः अनेक ग्रन्थकारों ने 'सोमराजी' शब्द से कहीं कालीजीरी और कहीं बाकुचीबीज का ग्रहण किया है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। सोमराजी अरण्यजीरक का वाचक हो सकता है।

× × × ×

सोमराजी कटुस्तिक्ता कृमिकुष्ठकफापहा। तीक्ष्णोष्णा विषकण्डूतिज्वरप्रशमनी च सा॥ (स्व.)

तीव्रेण कुष्ठेन परीतदेहो यः सोमराजीं नियमेन खादेत्।
संवत्सरं कृष्णतिलद्वितीयां स सोमराजीं वपुषातिशेते॥ (भै० र०)

W. I., II, 118.

F. I., III, 236.

कुष्ठघ्न

६१. खदिर

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, कषायस्कन्ध (च०) सालसारादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी Leguminosae);

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसायडी–Minosoideae)।

नाम—लै०-एकेशिया कैटेचु (Acacia catechu Willd); सं-खदिर (रोगों को नष्ट करने तथा शरीर में स्थिरता लाने वाला); रक्तसार (सारभाग जिसका रक्तवर्ण हो), दन्तधावन (दाँतों को साफ करने वाला), कण्टकी (कण्टक-युक्त) बालपत्र (छोटे पत्तों वाला), यज्ञिय (इसकी लकड़ी यज्ञ में उपयोगी होने के कारण)। हि०-म०-खैर; ते०-सन्द्रा; ता०-करनगलि; कन्न०-कग्गलि; अं० कच्छ ट्री (Cutch tree)

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। **छाल**-कृष्णाभ भूरे रंग की, ½ इंच मोटी, लम्बी पतली पत्तों में छूटती हुई, भीतर से भूरे रंग की होती है। **शाखायें**-पतली; उपपत्रों के स्थान पर जोड़े, टेढ़े काँटों से युक्त होती हैं। **पत्र**-१०–१५ से. मी. लंबे होते हैं। पक्ष-४०–८० तथा प्रत्येक पक्ष पर ६०–१००, अवृन्त, रोमश, रेखाकार, ·१–·२ इञ्च लंबे पत्रक होते हैं। मुख्य पत्रदण्डक पर एक नीचे और एक ऊपर ग्रन्थि होती है। **पुष्प**-छोटे, श्वेत या हलके पीले, २–३½ इंच लंबी, अक्षीय मंजरियों में समूहबद्ध होते हैं। **अन्तर्दल**-सघन रोमश, हरिताभ, बहिर्दल से दूना या तिगुना होता है। **पुंकेशर**-अन्तर्दल के मूल में पाँच गुच्छों में होते हैं। **फली**-२–५ इंच लंबी, पतली, धूसर, चमकीली, प्रायः अनियमित रूप से सिकुड़ी, अग्रभाग गोल या चंचुवत् जिनमें ५–८ बीज होते हैं। वर्षा में पुष्प, हेमन्त में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में पंजाब से सिक्किम तक ५ हजार फीट की ऊँचाई तक रूक्ष वायुमंडल में होता है।

रासायनिक संघटन—खदिर के सारभाग से लगभग ३–१० प्रतिशत कत्था प्राप्त होता है। खदिर के सारभाग में कैटेचिन (Catechin) तथा कैटेचुटैनिक एसिड (Catechu tannic acid) क्रमशः ४–७ प्रतिशत (कभी-कभी १७

प्रतिशत तक) और ५० प्रतिशत होते हैं। पुराने वृक्षों के कोटरों में एक स्वतः निर्मित निर्यास सफेद चूर्ण या स्फटिक के रूप में कभी-कभी प्राप्त होता है इसे खीर-साल (खदिरसार ?) सामान्यतः सारभाग को जल में उबाल कर कत्था प्राप्त करते हैं।

जाति—पण्य द्रव्य (Market Drug) की दृष्टि से कत्था के निम्नांकित प्रकार दृष्टिगत होते हैं—१. हल्के रंग का २. गहरे रंग का रक्ताभ या कृष्णाभ ३. पूग से प्रस्तुत (प्रायः बम्बई में प्राप्त) ४. मलाया में उत्पन्न अंकेरिया गैम्बियर (Uncaria gambier Roxb) नामक आरोही लता से निर्मित।

ब्रिटिश फार्माकोपिया में Catechu के नाम पर अन्तिम द्रव्य निर्धारित है।

वानस्पतिक दृष्टि से इसकी तीन जातियाँ निर्धारित की गई हैं:—

1. Var. Catechu proper–इसमें बहिर्दल, अन्तर्दल, पत्रदण्णक रोमों से आवृत होते हैं। यह प्रायः उत्तर भारत में पाया जाता है। इससे हलके रंग का कत्था तैयार किया जाता है।

2. Var. catechuoides–इसमें बहिर्दल तथा अन्तर्दल चिकने किन्तु पत्र-दण्डक रोमश होता है। यह मुख्यतः पूर्वी भाग में पाया जाता है।

3. Var. sundra.–इसे एक पृथक् प्रजाति (Species) भी मानते हैं। इसमें बहिर्दल, अन्तर्दल तथा पत्रदण्डक सभी चिकने होते हैं। यह मुख्यतः दक्षिण भारत में पाया जाता है जहाँ इससे लाल कत्था बनाया जाता है।

आयुर्वेद के निघण्टुओं में खदिर के अतिरिक्त, कदर (श्वेतखदिर) तथा इरिमेद (विट्खदिर) का भी वर्णन है।

कदर का पर्याय सोमवल्क है। इसका लै. नाम Acacia suma Buch. Ham. है। इसकी छाल सफेद होती है। यह बंगाल, बिहार और पश्चिम भारत में पाया जाता है।

इरिमेद या अरिमेद का लै० नाम Acacia farnisiana Willd है। इसके पुष्प सुगन्धित होते हैं जिससे Cassie perfume नामक सुगन्धद्रव्य प्राप्त किया जाता है। इसकी जड़ में दुर्गन्ध होने के कारण इसकी संज्ञा विट्खदिर (गुहिया बबूल) सार्थक है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय **विपाक**—कटु
वीर्य—शीत **प्रभाव**—कुष्ठघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय होने से कफ और पित्त का शमन करता है। शीतवीर्य से भी पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—तिक्तकषाय होने से यह रुचिवर्धक, स्तम्भन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्तकषाय और शीत होने से शोणितस्थापन (रक्त-प्रसादन, रक्तस्तम्भन और रक्तवर्धक) है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—तिक्तकषाय होने से कफनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—कषाय होने से मूत्रसंग्रहणीय हैं।

प्रजननसंस्थान—कषाय होने के कारण शुक्रशोषण एवं गर्भाशयशैथिल्यहर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न एवं कण्डूघ्न है।

तापक्रम—यह तिक्त और शीत होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुशोषण, विशेषतः मेदोधातु का शोषण करता है।

प्लीहा—यह प्लीहा के शोथ दूर करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह उत्तम रक्तस्तम्भन एवं श्लेष्मलकला-संकोचक है, अतः रक्तस्राव को बन्द करने के लिए इसका अवचूर्णन करते हैं। दन्तरोगों में मञ्जन के रूप में तथा व्रणों में भी प्रयुक्त होता है। स्वरभेद तथा कास में इसके क्वाथ का गण्डूष धारण करते हैं। श्वित्र में भी इसका लेप करते हैं। कुष्ठ के रोगियों को इसके क्वाथ से स्नान कराते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अरुचि, अतिसार एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितस्थापन होने से इसका प्रयोग रक्तस्राव (रक्तपित्त), रक्तविकार एवं पाण्डु में करते हैं। शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास में प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—कफनाशक एवं मूत्रसंग्रहणीय होने से प्रमेहरोग में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कामातिशय, प्रदर एवं योनिशैथिल्य में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि समस्त चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में यह प्रयुक्त होता है।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, खदिरसार (कत्था)।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०; क्वाथ-५०-१०० मि०लि०; खदिरसार-½-१ ग्रा०।

विशिष्ट योग—खदिरारिष्ट, खदिरादि क्वाथ, खदिराष्टक, खदिरादि वटी।

वक्तव्य—खदिर की लकड़ी से कत्था तैयार किया जाता है उसे भी 'खदिरसार' कहते हैं।

× × ×

'खदिरो रक्तसारश्च गायत्री दन्तधावनः। कण्टकी बालपत्रश्च बहुशल्यश्च यज्ञियः॥
खदिरः शीतलो दन्त्यः कण्डूकासारुचिप्रणुत्।
तिक्तः कषायो मेदोघ्नः कृमिमेहज्वरव्रणान्॥
श्वित्रशोथामपित्तास्रपाण्डुकुष्ठकफान् हरेत्।' (भा. प्र.)

'खदिरस्तु रसे तिक्तः शीतः पित्तकफापहः। पाचनः कुष्ठकासास्रशोथकण्डूव्रणापहः॥'
(रा. नि.)

'खदिरः कुष्ठघ्नानाम्।' (च. सू. २५)
'हन्तिमेहिनं खदिरकषायम्।' (सु. चि. ११)
'दिहक्षुरन्तं कुष्ठस्य खदिरं कुष्ठपीडितः। सर्वथैव प्रयुञ्जीत स्नानपानाशनादिषु॥'
(सु. चि. ६)
'यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ। तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः॥'
(सु. चि. ६)

W. I., I, 9–20.
F. I., II, 295.

६२. हरिद्रा

परिचय

गुण—कुष्ठघ्न, लेखनीय, कण्डूघ्न, विषघ्न, तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०), हरिद्रादि, मुस्तादि, श्लेष्मसंशमन (सु०)।

कुल—आर्द्रक-कुल (जिञ्जिबरेसी–Zingiberacae)।

नाम—लैं०–कर्कुमा लौंगा (Curcuma longa Linn.); सं०–हरिद्रा (हरिं वर्णं द्राति संशोधयति–जो शरीर के वर्ण को ठीक करे), काञ्चनी (सुवर्ण के समान पीतवर्ण होने के कारण), निशा (चाँदनी रात की तरह सुन्दर), वरवर्णिनी (सुन्दर वर्णवाली), गौरी (पीतवर्ण होने से), कृमिघ्ना (कृमिनाशक होने के कारण), योषित्प्रिया (उबटन इत्यादि तथा स्त्रीरोगों में उपयोगी होने के कारण), हट्टविलासिनी (बाजारों की शोभा बढ़ाने वाली); हि०–हलदी, हरदी; पं०–हरदल; बं०–हलुद; गु०–हलदर; क०–आभिनिन; ता०–मञ्जल; ते०–पसुपु; म०–हलद; अ०–कुंकुम; फा०–जर्दचोब; अं०–टर्मेरिक (Turmeric)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप २–३ फीट ऊँचा ह्रस्वकाण्ड होता है। **पत्र**-आयताकार, १½–२ फीट लंबे, लगभग ६ इञ्च चौड़े, उतने ही लंबे (१½–२ फीट) पत्रवृन्त से लगे रहते हैं। पत्र की मुख्य पार्श्वसिरायें २०–३० उठी होती हैं। पत्तियाँ दोनों पृष्ठ पर चिकनी होती हैं किन्तु उन पर सूक्ष्म सफेद बिन्दु होते हैं। पत्राधार संकीर्ण होता है। आम की तरह गन्ध आती है। **पुष्पदण्ड**–६ इञ्च लंबा पत्रकोष से आवृत होता है जिसमें पीतवर्ण लगभग १½ इञ्च लंबे पुष्प निकलते हैं। पुष्पदण्ड के पत्र हलके हरे रंग के होते हैं। इसके कन्द अदरख के सदृश किन्तु उससे बड़े, भीतर की ओर चमकीले पीले होते हैं। शरदऋतु में पुष्प निकलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बंगाल, बम्बई और तमिलनाडु में इसकी खेती होती है।

हलदी के कन्दों को बाजार में लाने से पहले उबाल दिया जाता है जिससे वे मुलायम हो जाते हैं। फिर सुखा कर रगड़ते हैं जिससे ऊपरी आवरण हट कर रंग में निखार आ जाता है। इस रूप में यह मूल द्रव्य का १७–२५% प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें उड़नशील तैल ५–८ प्रतिशत, कर्कुमीन (Curcumin) नामक पीतरञ्जक द्रव्य, होते हैं। इनके अतिरिक्त, विटामिन ए, प्रोटीन ६·३ प्रतिशत, स्नेहद्रव्य ५·१ प्रतिशत, खनिज द्रव्य ३·५ प्रतिशत तथा कार्बोहाइड्रेट ६९·४ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक, पित्तरेचक और तिक्त होने से पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप, शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, लेखन है। इसका धूम हिक्कानिग्रहण, श्वासहर और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उष्ण होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, अनुलोमन, पित्तरेचक एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—तिक्त होने से यह रक्तप्रसादन, रक्तवर्धक एवं रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त होने से यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय एवं मूत्रविरजनीय है। प्रमेह के लिए यह श्रेष्ठ है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से गर्भाशयशोधन तथा तिक्त होने से स्तन्य-शोधन एवं शुक्रशोधन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पित्तशामक एवं आमपाचन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक एवं विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वात, पित्त, कफ तीनों दोषों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में विशेषतः आघात लगने पर इसका लेप करते हैं। कुष्ठ, कण्डू आदि त्वग्दोषों में इसे लगाते हैं। वर्ण को सुधारने के लिए उबटन में भी प्रयुक्त होता है। व्रणों के पाचनार्थ इसकी पुल्टिस लगाते हैं तथा शोधन एवं रोपण के लिए इसका चूर्ण या मलहम लगाते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका आश्च्योतन (१ भाग हल्दी १० भाग जल में पका कर छान लेते हैं) तथा विडालक देते हैं। यकृत्प्लीहा की वृद्धि होने पर इसका लेप यकृत्प्लीहा के प्रदेश में करते हैं। अर्श में भी इसका लेप लगाते हैं। हल्दी के टुकड़े या चूर्ण को अंगारों पर रखने से जो धूम निकलता है वह मूर्च्छा, श्वास एवं हिक्का रोगों में प्रयुक्त होता है। इस धूम से वृश्चिकदंश की वेदना भी शान्त होती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अभिघातज वेदना तथा नाडीशूल में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, कामला, जलोदर एवं कृमि में प्रयोग किया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार, शीतपित्त, पाण्डु तथा रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है। शीतपित्त (अलर्जी) की यह उत्तम औषध है।

श्वसनसंस्थान—यह कास एवं श्वासकष्ट में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में इसका स्वरस या चूर्ण देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के बाद एवं स्तन्यविकारों में हलदी का सेवन कराते हैं। शुक्रमेह में भी यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, कंडू, उदर्द आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा विष की अवस्थाओं में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि० लि०, चूर्ण १-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—हरिद्राखण्ड।

× × ×

'हरिद्रा काञ्चनी पीता निशाख्या वरवर्णिनी।
कृमिघ्ना हलदी योषित्प्रिया हट्टविलासिनी॥
हरिद्रा कटुका तिक्ता रूक्षोष्णा कफपित्तनुत्। वर्ण्या त्वग्दोषमेहास्रशोषपाण्डुव्रणापहा॥'
(भा. प्र.)

'हरिद्रा तु रसे तिक्ता रूक्षोष्णा विषकुष्ठनुत्। मेहकण्डूव्रणान् हन्ति देहवर्णविधायिनी॥
विशोधनी कृमिहरा पीनसारुचिनाशिनी।' (ध. नि.)

हरिद्रा प्रमेहहराणाम्। (अ. सं. सू.)

W. I., II, 401-5.

भावप्रकाश में हरिद्रा-प्रकरण में कर्पूरहरिद्रा तथा वनहरिद्रा का वर्णन किया है। ये हलदी की ही जातियाँ हैं। पहली आमाहलदी तथा दूसरी जंगली हलदी के नाम से प्रसिद्ध है।

(क) वनहरिद्रा

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिञ्जिबरेसी-Zingiberaceae)।

नाम—लै०-कर्क्युमा एरोमेटिका (Curcuma aromatica Salisb.) अं०-वाइल्ड टर्मेरिक (Wild Turmeric)

स्वरूप—इसके कन्द में कपूर के समान गन्ध आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः मैसूर और मलाबार प्रदेश के जंगलों में होता है। इसकी खेती बंगाल और केरल में की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें हरे भूरे रंग का कर्पूरगन्धि उड़नशील तैल ६% तथा कर्कुमिन नामक रंजक द्रव्य पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, स्टार्च तथा अलब्युमिनायड पाये जाते हैं।

× × × ×

'अरण्यरजनीकन्दः कुष्ठवातास्रनाशनः। सर्वदोषविषघ्नश्च हिध्माश्वसनकासजित्॥'
(कै. नि.)

(ख) आम्रगन्धि हरिद्रा

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिञ्जिबरेसी-Zingiberaceae)।

नाम—लै०-कर्क्युमा आमादा (Curcuma amada Roxb.), सं०-आम्रगन्धिहरिद्रा (आम के समान गन्ध आने से), कर्पूरा[1] (कर्पूरवत् गन्ध से युक्त), हि०-आमा हलदी; अं०-मैंगो जिञ्जर (Mango ginger)।

---

१. वस्तुतः यह पर्याय वनहरिद्रा का होना चाहिए क्योंकि उसमें कर्पूरवत् गन्ध होती है।

स्वरूप—इसके कन्द में कच्चे आम की तरह गन्ध आती है।

उत्पत्तिस्थान—बंगाल, कोंकण और तमिलनाडु में उत्पन्न होता है। इन स्थानों में इसका अचार, चटनी आदि बनायी जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में १·१% उड़शील तैल होता है।

× × × ×

'आम्रगन्धिहरिद्रा या सा शीता वातला मता।
पित्तहन्मधुरा तिक्ता सर्वकण्डूविनाशिनी ॥' (भा. प्र.)

६३. भल्लातक

परिचय

गुण—कुष्ठघ्न, दीपनीय, मूत्रसंग्रहणीय (च०), न्यग्रोधादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी—Anacardiaceae)।

नाम—लै०-सेमीकार्पस एनाकार्डियम (Semecarpus anacardium Linn), सं०-भल्लातक (भाले के समान तीक्ष्णगुणयुक्त); अरुष्कर (स्पर्श से व्रण उत्पन्न करने वाला); अग्निक (अग्नि के समान उष्णवीर्य), शोफकृत् (स्पर्श या धूम से शोथ उत्पन्न करने वाला), अग्निमुख (फल का भाग आग के समान लाल रंग का होने से), हि०-भिलावा; बं०-भेला; म०-बिम्बा; गु०-मा०-भिलामो; पं०-भिलांवा; क०-बिलावा; ता०-सेनकोट्टुई; पे०-फिदिविट्टुलु; अ०-हब्बुलकल्ब (हृदयाकृति फल); फा०-बलादुर; अं०-मार्किंग नट (Marking nut)। धोबी लोग इसके फल से कपड़ों में निशान लगाते हैं इसलिए अंग्रेजी में इसे मार्किंग नट (निशान लगाने वाली गुठली) कहते हैं।

स्वरूप—इसका वृक्ष लगभग २५-४० फुट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर-वर्ण होती है किन्तु उसके काटने पर काला दाहजनक रस निकलता है। **पत्र**-शाखाओं के अग्रभाग में समूहबद्ध, आयताकार या अभिलट्वाकार, गोलाग्र, मध्य-भाग के नीचे कुछ संकुचित, ९-३० इञ्च लंबे तथा ५-१२ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्र-वृन्त १-२ इञ्च लंबा, गोला तथा पत्रसिरायें १६-२५ जोड़ी, दृढ तथा किंचित् मुड़ी होती हैं। **पुष्पमञ्जरी**-पत्तियों के बराबर लंबी, दृढ, शाखायुक्त, रोमश होती हैं जिन पर हरिताभ पीत पुष्प लगते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी होते हैं। स्त्रीपुष्प और पुंपुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर होते हैं। **अन्तर्दल**-बहिर्दल से बहुत बड़े, आयताकार होते हैं। **फल**-१ इञ्च लंबे, हृदयाकृति, चिकने चमकीले होते हैं। अपक्वावस्था में ये हरितवर्ण तथा पकने पर कृष्णवर्ण हो जाते हैं। कच्चे फल के भीतर का रस दूध की तरह सफेद होता है जो हवा लगने पर काले रंग का हो जाता है। फल का

आधारभाग (Cup) नारंगी लाल रंग का मांसल होता है जो पकने पर खाया जाता है। यह स्थूल स्तम्भक तथा बहिर्दल के मूल भाग से बनता है। फलत्वक् में विस्फोटजनक गाढ़ा रस होता है। फल के भीतर बादाम की तरह मीठा एक बीज होता है। इससे तैल भी निकाला जाता है। वसन्त में इसके पत्ते झड़ कर नये पत्ते निकलते हैं। इसीके बाद पुष्प और फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में, हिमालय के निचले भाग में ३५ सौ फुट की ऊँचाई तक बिहार, बंगाल, उड़ीसा, आसाम आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में एक स्फोटजनक तैल ३२ प्रतिशत रहता है जो ईथर में विलेय है तथा वायु के संपर्क से कृष्णवर्ण हो जाता है। फल की मज्जा में एक मधुर तैल अल्पमात्रा में रहता है। भल्लातक के विस्फोटजनक स्वरस (तैल) में फेनोल के यौगिक पाये जाते हैं। इनमें भिलावनोल (Bhilawanol) तथा सेमिकार्पोल (Semecarpol) मुख्य हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण कफवातशामक और पित्त-वर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्फोटजनक, शोथप्रशमन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और नाडियों के लिए बलप्रद होता है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से दीपन, पाचन, भेदन, यकृदुत्ते-जक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को उत्तेजित करता है और शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह छेदन (कफनिःसारक) है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रारम्भ में इससे मूत्र की मात्रा बढ़ती है किन्तु शीघ्र ही वृक्कों के थक जाने से मात्रा कम हो जाती है और इसके बाद भी यदि इसका प्रयोग जारी रक्खा जाय तो मूत्र में रक्त आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—यह मधुर होने से वृष्य है तथा शिश्नगत नाडियों को उत्तेजित करने से कामोत्तेजना भी उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह शुक्रस्राववृद्धिकर (देहमनोबलकर) वाजीकरण है। उष्ण और तीक्ष्ण होने से गर्भाशयोत्तेजक भी है।

त्वचा—इसका उत्सर्ग त्वचा के मार्ग से होता है, अतः यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। प्रारंभ में इससे त्वचा में लाली और खुजली मालूम होती है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह मधुरविपाक होने से तथा धात्वग्नि को बढ़ा कर रसायन कर्म करता है। तीक्ष्णता के कारण छेदन होने से बढ़े हुए मांस आदि अर्बुदों (कैंसर प्रभृति) को भी नष्ट करता है।

प्लीहा—यह प्लीहा के शोथ को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग विशेषतः कफवातज रोगों में होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—सर्पदंश में चीरे लगाकर इसका लेप करते हैं। अर्शरोग में इसकी धूनी देने से अंकुर सूखकर गिर जाते हैं। योनि पर लेप करने से यह गर्भस्रावक होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य, नाडीदौर्बल्य, अपस्मार, गृध्रसी, आमवात, पक्षाघात आदि रोगों में प्रयुक्त होता है। गृध्रसी में इसका क्षीरपाक देते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अग्निमांद्य, पाचनविकार, विबन्ध, आनाह, गुल्म, उदर, ग्रहणी, अर्श एवं क्रमि में होता है। अंकुशमुख क्रिमि (Hook worm) में यह विशेष लाभकर है। क्रिमिरोग में भल्लातक तैल की १ ग्रा० की एक मात्रा कैप्सुल में रख कर प्रातः खाली पेट देते हैं तथा उसके दो घंटे बाद मैगसल्फ १ औंस का विरेचन दे देते हैं। यह अर्शरोग की श्रेष्ठ औषध मानी गई है कारण कि इससे यकृत् का रक्तसंवहन ठीक होने से प्रतीहारिणी सिरा में रक्त का दबाव कम होता है, फलतः गुदा की सिराओं में संचित रक्त हट जाता है और अंकुर सूख जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय-दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। रसग्रन्थियों पर इसका उत्तेजक प्रभाव होने के कारण यह ग्रंथिशोथ एवं अन्य शोथों में लाभकर होता है।

श्वसनसंस्थान—कफवातशामक एवं छेदन होने से कास, श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय होने से यह प्रमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदौर्बल्य, ध्वजभंग तथा कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र, वातरक्त आदि त्वचा के विकारों में यह अतिशय उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर में इसका प्रयोग किया जाता है। इससे ज्वर भी शान्त होता है, यकृत्प्लीहा भी दूर होती है और बल भी बढ़ता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में रसायन के रूप में प्रयुक्त होता है।

संहिताओं में इसके लिये वर्धमान भल्लातक का विधान है।

प्लीहा—भल्लातक, हीरतकी और कृष्णजीरक इन तीनों का गुड़ में मोदक बनाकर सेवन कराने से प्लीहावृद्धि नष्ट हो जाती है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—कल्क ३–६ ग्रा०; तैल—१०–२० बूंद।

विशिष्ट योग—अमृतभल्लातक, भल्लातकतैल, तिलारुष्कर योग।

पातालयन्त्र से भल्लातकतैल निकालते हैं।

निवारण—इसके हानिकर प्रभावों को दूर करने के लिए नारियल और तिल का प्रयोग करना चाहिए।

प्रशस्त भल्लातक—जो जल में डूब जाय वही भल्लातक औषध में लेना चाहिए।

शोधन—भल्लातक का वृन्तमुख काट कर एक सप्ताह तक ईंट के चूर्ण (सुरखी) में गाड़ कर रखना चाहिए। तत्पश्चात् खूब रगड़ कर जल से धो दे और फिर दूध में उबाले। इस प्रकार भल्लातक शुद्ध हो जाता है। अशुद्ध भल्लातक का प्रयोग न करे क्योंकि यह अति तीक्ष्ण है।

भल्लातक-सेवन के अयोग्य व्यक्ति—शिशु, सगर्भा स्त्रियों, वृद्ध एवं पित्त-प्रकृति वाले पुरुषों को इसका सेवन नहीं कराना चाहिए।

पथ्य—भल्लातक-सेवन करते समय पित्तवर्धक द्रव्यों यथा उष्णवीर्य, कटु-अम्ल लवण रसों का परित्याग कर दे। आग के पास या धूप में न बैठे। ककाराष्टक भी वर्ज्य है। पित्तशामक द्रव्यों यथा-दूध, घी, चीनी और भात का सेवन लाभकर है। तिल और नारियल का सेवन भी उत्तम है।

विषाक्त लक्षण—अशुद्ध भल्लातक का या अतिमात्रा में सेवन करने से सर्वप्रथम गुदा और शिश्न के अग्रभाग पर कण्डू या दाह मालूम होता है। पसीना बहुत आता और प्यास अधिक लगती है। मूत्र की मात्रा कम हो जाती है और उसका रंग धूम्र या रक्तवर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में, उसकी मात्रा कम कर दे या प्रयोग ही बन्द कर दे तथा दोषों के निवारक और शामक द्रव्यों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में प्रारंभ कर दे। त्वचा में खुजली, जलन या कभी-कभी शोथ भी हो जाता है। ऐसी अवस्था में, तिल का तेल, नारियल तेल, घी या राल का मलहम उस स्थान में लगाना चाहिए। इससे ये उपद्रव ३–४ दिनों में शान्त हो जाते हैं।

× × × ×

भल्लातः कटुतिक्तोष्णो मधुरः क्रमिनाशनः।
गुल्मार्शोग्रहणीकुष्ठान् हन्ति वातकफामयान्॥ (ध. नि.)

भल्लातकः कटुस्तिक्तः कषायोष्णः क्रमीञ्जयेत्।
कफवातोदरानाहमेहदुर्नामनाशनः॥ (रा. नि.)

तन्मज्जा मधुरा वृष्या बृंहणी वातपित्तहा। वृन्तमारुष्करं स्वादु पित्तघ्नं केश्यमग्निकृत्॥
भल्लातकः कषायोष्णः शुक्रलो मधुरो लघुः। वातश्लेष्मोदरानाहकुष्ठार्शोग्रहणीगदान् ॥
हन्ति गुल्मज्वरश्वित्रवह्निमान्द्यकृमिव्रणान्'। (भा. प्र.)

'भल्लातकानि तीक्ष्णानि पाकीन्यग्निसमानि च।
भवन्त्यमृतकल्पानि प्रयुक्तानि यथाविधि॥
कफजो न स रोगोऽस्ति न विबन्धोऽस्ति कश्चन।
यं न भल्लातकं हन्याच्छीघ्रं मेधाग्निवर्धनम्॥' (च. चि. १)

'यथा कुष्ठानि सर्वाणि हतः खदिरबीजकौ। तथैवार्शांसि सर्वाणि वृक्षकारुष्करौ हतः॥
(सु. चि. ६)

W. I., IX, 271–274.

P. V. Sharma & C. Chaturvedi : Clinical observations on the effects of Semecarpus anacardium Linn in ankylostomiasis, Antiseptic, october, 1965 and April, 1968.

,, Indian Medical Gazette, Vol. IV, No 5, January, 1965.

,, J. R. I. M., Vol. I, No. 1, July. 1966

N. G. Bandyopadhyaya : Ph. D. thesis, (B. H. U.), 1976.

६४. आरग्वध

परिचय

गण—कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, विरेचन, तिक्तस्कन्ध (च०) आरग्वधादि, श्यामादि, अधोभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज–उपकुल (सीजलपिनिआयडी–Caesalpinioidae)।

नाम—लै०-कैसिया फिस्टुला (Cassia fistula Linn.) सं०–आरग्वध (रोगों को नष्ट करने वाला); राजवृक्ष (सुन्दर वृक्ष), शम्पाक (कल्याणकारी फल देने वाला); चतुरंगुल (पर्वों का प्रमाण चार अंगुल होने से), आरेवत (मलों को निकालने वाला); व्याधिघात (रोगों को दूर करने वाला); कृतमाल (पुष्पों की माला धारण करने वाला); सुवर्णक (सुन्दर वर्ण वाला); दीर्घफल (लम्बे फल वाला); स्वर्णभूषण (पीतवर्ण के सुवर्णसदृश पुष्पों से युक्त)। हि०–अमलतास, सियरलाठी; म०–बाहवा; गु०–गरमालो; पं० गिर्दनली; मा०–गिरमालो, किरमाल; सिं०–छिमकणी; बं०–सोंदाल; ता०–कोंड्रैं, इराधविरुट्टम्, ते०–आरग्वधमु रेल; मल०–कणिकोन्ना; क०–फलूस, अ०–खियारशंबर, फा०–खियार चंवर; अं०–पर्जिङ्ग कासिया (purging cassia)।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का २५–३० फीट ऊँचा होता है। काण्ड-त्वक् धूसरवर्ण या किंचित् रक्ताभ होती है। **पत्र**–संयुक्त, लगभग १ फुट लंबा होता है जिसमें ८–१६ लट्वाकार–भालाकार या लट्वाकार–आयताकार, स्पष्टसिरायुक्त, लंबाग्र या तीक्ष्णाग्र, २–७ इञ्च लंबे पत्रक लगे रहते हैं। **पुष्पमंजरी**–पत्ती जितनी लंबी होती है और नीचे लटकती रहती है जिस पर चमकीले पीले रंग के, १·५–२·५ इञ्च व्यास के पुष्प लगे रहते हैं। **अन्तर्दल**–संख्या में ५ और पुंकेसर १० होते हैं जिसमें ३–५ अविकसित या अनुपस्थित होते हैं। **फली**–१–२ फुट लंबी, १ इञ्च व्यास की, कठिन, नुकीली, बेलनाकार, कच्ची अवस्था में हरे रंग की और पकने पर कृष्णवर्ण होती है। इसमें २५–१०० तक चपटे, पीताभ धूसर बीज होते हैं जो कृष्ण फलमज्जा से आवेष्टित होते है। बीच-बीच में अनुप्रस्थ आवरणों के होने से फली का आभ्यन्तर भाग अनेक कोष्ठों में विभक्त रहता है।

मार्च-अप्रैल में वृक्ष की पत्तियाँ झड़ जाती है। उसके बाद नई पत्तियाँ और पुष्प प्रायः साथ ही निकलते हैं। उसके बाद फली लगती है। जो प्रायः वर्षभर लटकती रहती है।

इसकी छाल 'सुमारी' नाम से चमड़ा रंगने के काम आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी फलमज्जा में ऐन्थ्राक्विनोन, शर्करा ६०%, पिच्छिलद्रव्य, ग्लूटीन, पेक्टिन, रंजक द्रव्य, कैलशियम ऑक्जलेट, क्षार, निर्यास एवं जल होते हैं। काण्डत्वक् में १०–२०% टैनिन होता है। मूलत्वक् में, इसके अतिरिक्त, फ्लोबेफिन तथा ऐन्थ्राक्विनोन होते हैं। पत्र और पुष्प में ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, मृदु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर और स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। रेचन होने से कोष्ठगत पित्त और कफ का संशोधन भी करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से अनुलोमन और स्रंसन है। यह मृदुविरेचन द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह मधुरस्निग्ध होने से कफनिःसारक है तथा मृदु होने से संस्थान के अवयवों में मृदुता उत्पन्न करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह शीत होने से मूत्रजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और दाहप्रशमन है।

तापक्रम—यह आमशोधन एवं पित्तशामक है तथा स्रंसन होने से कोष्ठगत मलों को दूर करता है। इस कारण से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में संशमनार्थ प्रयुक्त होता है तथा पित्त और कफ विकारों में संशोधन के लिए देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, ग्रन्थिशोथ, वातरक्त, आमवात, संधिवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में फलमज्जा और पत्र का लेप करते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला कराते हैं। कुष्ठ एवं कण्डू में इसके पत्र का लेप एवं उद्वर्त्तन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, उदावर्त्त, शूल, यकृच्छोथ और कामला में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, वातरक्त एवं शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—शुष्ककास एवं श्वासकष्ट में इसके पुष्पों का अवलेह बना कर देते हैं। इससे कफ निकलता है और श्वासमार्ग का स्नेहन होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र अधिक आता है और मूत्रमार्ग का स्नेहन होता है।

त्वचा—कुष्ठ एव दाह में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह अतीव उपयोगी है। मूलत्वक् का भी प्रयोग ज्वर में करते हैं। ब्लैक वाटर फीवर में यह विशेष आधार माना गया है।

प्रयोज्य अंग—फलमज्जा, मूलत्वक्, पुष्प, पत्र।

मात्रा—फलमज्जा ५–१० ग्रा०, विरेचनार्थ १०–२० ग्रा०, मूलत्वक्क्वाथ ५०–१०० मि० लि०, पुष्प ५–१० ग्रा०। पत्र का बाह्य प्रयोग होता है।

विशिष्ट योग—आरग्वधादि तैल, आरग्वधादि लेह, आरग्वधारिष्ट।

संग्रहविधि—इसके पके फलों को सात दिनों तक बालू के भीतर रख दें उसके बाद निकाल कर धूप में सुखा दे। खूब सूख जाने पर फलमज्जा निकाल कर शुद्ध पात्र में रख लें।

वक्तव्य—क्वाथ करने से फलमज्जा की शक्ति कम हो जाती है, अतः इसका प्रयोग हिम या फाण्ट के रूप में करना अच्छा है।

× × ×

आरग्वधो राजवृक्षः शम्पाकश्चतुरंगुलः। आरेवतो व्याधिघातः कृतमालः सुवर्णकः॥
कर्णिकारो दीर्घफलः स्वर्णाङ्गः स्वर्णभूषणः। आरग्वधो गुरुः स्वादुः शीतलः स्रंसनो मृदुः॥
ज्वरहृद्रोगपित्तास्रवातोदावर्त्तशूलनुत्। तत्फलं स्रंसनं रुच्यं कोष्ठपित्तकफापहम्॥
ज्वरे तु सततं पथ्यं कोष्ठशुद्धिकरं परम्।' (भा. प्र.)
'चतुरंगुलो मृदुविरेचनानां (श्रेष्ठः)—(च. सू. २५)
'ज्वरहृद्रोगवातासृगुदावर्त्तादिरोगिषु। राजवृक्षोऽधिकं पथ्यो मृदुर्मधुरशीतलः॥
बाले वृद्धे क्षते क्षीणे सुकुमारे च मानवे। योज्यो मृद्वनपायित्वाद्विशेषाच्चतुरंगुलः॥
(च. क. ८)

M. P. I., I, 201–7.
L. Lilly kutty : M. D. thesis, Kerala university, 1968

६५. तुवरक

परिचय

कुल—तुवरक-कुल (फ्लैकोर्टिएसी–Flacourtiaceae)।

नाम—लै०—हिडनोकार्पस लॉरिफोलिया (Hydnocarpus laurifolia (Dennst.) Sleumer), सं०—तुवरक (रोगों को नष्ट करने वाला–तवीति हिनस्ति रोगान्), कटुकपित्थ (कटुरसयुक्त कपित्थ के सदृश आकृति वाला फल), कुष्ठवैरी (कुष्ठरोग का नाशक); हि०—चालमोगरा, पपीता; म०—कडुकवीठ, कडुकवठी; क०—गरुड़फल; बं०—चौलमुगरा; ता०—मरवत्तायि; ते०—अडविबादामु; मल०—कोडि; फा०—बिरंजमोगरा।

स्वरूप—इसका वृक्ष ५० फुट तक या अधिक ऊँचा होता है। **पत्र**–४–९ इञ्च लम्बा, १½–४ इञ्च चौड़ा, लट्वाकार या आयताकार होते हैं। **पुष्प**–छोटे, श्वेत, गुच्छों में लगते हैं। पुंपुष्प तथा स्त्रीपुष्प पृथक् वृक्षों पर होते हैं। पुंकेशर ५ होते हैं। पांच बहिर्दलों में तीन बड़े होते हैं। **फल**–२–४ इञ्च व्यास के, सेव के सदृश, रोमश होते हैं। **बीज**–धूसरवर्ण अनेक, कोणीय होते हैं।

उत्पत्ति स्थान—यह पश्चिमी घाट के पर्वतों पर कोंकण के दक्षिणी भाग में होता है। लंका में भी प्रचुर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ६३·२५ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसमें चालमोगरिक एसिड (Chaulmugric acid), हिडनोकार्पिक एसिड (Hydnocarpic acid), पामिटिक एसिड (Palmitic acid) आदि होते हैं। तुवरक तैल पीताभ या भूरा पीला, तथा स्वाद में कटु होता है। इसमें एक विशिष्ट गंध भी होती है। यह Hydnocarpus oil के नाम से I. P. में निर्धारित है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, स्निग्ध
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बाह्य प्रयोग से यह कुष्ठघ्न, कण्डूघ्न, जन्तुघ्न, व्रण-शोधन, व्रणरोपण, रक्तोत्क्लेशक और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उष्ण होने से यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण-उष्ण होने से यह वामक, रेचक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह कटुतिक्त होने से प्रमेहनाशक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों की यह रामबाण औषध मानी जाती है। इन रोगों में इसका तैल लगाते हैं। व्रणों में विशेषतः क्षय-जन्तुओं से उत्पन्न गंडमाला, नाडीव्रण, अस्थिव्रण आदि में यह तैल लगाया जाता है। आमवात, वातरक्त आदि वेदनायुक्त रोगों में भी यह लगाते हैं। फलमज्जा की अन्तर्धूम भस्म का अञ्जन नेत्ररोगों में लेखन कर्म के लिए लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीशूल, आमवात, वातरक्त आदि विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे वेदना शान्त हो जाती है।

पाचनसंस्थान—उदररोग और कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ, कंडू आदि चर्मविकारों में इसके तैल और चूर्ण का सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—बीजचूर्ण १-३ ग्रा०; तैल वमन-विरेचन के लिए १० मि० लि०; संशमन के लिए ५-१० बूंद तक क्रमशः बढ़ाकर ३०-६० बूंद तक। मक्खन, घी या मलाई के साथ मिलाकर देते हैं।

विशिष्ट योग—तुवरकादि तैल।

संग्रह-विधि—वर्षाऋतु के आरंभ में तुवरक के पके फलों को एकत्रित कर उनके भीतर का बीज निकाल कर सुखा ले और पूरा सूख जाने पर चूर्ण कर ले। इस चूर्ण को कोल्हू में पीस कर या जल के साथ पका कर तैल निकाल ले। घड़े में इस तैल को बन्द कर १५ दिनों तक कंडों के चूर्ण में रखे, फिर निकाल, कपड़े से छानकर काचपात्र में रख ले। इस तैल को त्रिगुण खदिरक्वाथ से सिद्ध कर ले तो विशेष गुणकारी होता है।

सेवनविधि—प्रारंभ में कुष्ठरोगी को स्नेहन-स्वेदन के अनन्तर इसकी १० मि० लि० की मात्रा पिलावे। इससे वमन और विरेचन होंगे जिनके द्वारा दोष बाहर निकल जायेंगे। इसके बाद अल्पमात्रा में नियमित रूप से कुछ काल तक सेवन करना चाहिए। इस काल में कटु, अम्ल, लवण एवं उष्ण पदार्थों का सेवन न करे। दूध, घी तथा मधुर फलों का विशेष व्यवहार करे। औषध बन्द करने के बाद भी लगभग १५ दिनों तक रोगी मूंग का यूष और भात सेवन करे।

वक्तव्य—इस कुल का अन्य वृक्ष हिडनोकार्पस कुर्जाई (Hydnocarpus kurzii (King) Warb) जो आसाम और त्रिपुरा में होता है आकृति एवं गुणकर्म में तुवरक के समान हैं और उसका प्रयोग चालमोगरा के नाम से किया जाता है। इसका तैल चालमोगरा ऑयल के नाम से I. P. में निर्धारित है।

+ + +

पञ्चकर्मगुणातीतं श्रद्धावन्तं जिजीविषुम्। योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्॥
वृक्षास्तुवरका ये: स्यु पश्चिमार्णवभूमिषु।......
भिन्नस्वरं रक्तनेत्रं विशीर्णं कृमिभक्षितम्। अनेनाशु प्रयोगेण साधयेत् कुष्ठिनं नरम्॥
शोधयन्ति नरं पीता मज्जानस्तस्य मात्रया। महावीर्यस्तुवरकः कुष्ठमेहापहः परः॥
सान्तर्धूमस्तस्य मज्जा तु दग्धः क्षिप्तस्तैले सैन्धवं चाञ्जनं च।
पैल्लं हन्यादर्मनक्तान्ध्यकाचान्नीलीरोगं तैमिरं चाञ्जनेन।
(सु. चि. १४)

६६. बाकुची

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-Papilionatae)।

नाम—लै०-सोरेलिया कौरिलीफोलिया (Psoralia corylifolia Linn.) सं०-वाकुची (वायु का शमन करने वाली); अवल्गुज, कृष्णफला (काले फलों वाली), पूतिफली (फल मे दुर्गन्ध आने के कारण); कुष्ठघ्नी (कुष्ठनाशक होने से), हि०-बाकची; बावची; बं०-हावुच; पं० म० गु०-बावची; ता०-कर्पोकरिशी; ते०-भावञ्चि; अं०-सोरेलिया सीड (Psoralea Seed)।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप २–४ फुट ऊंचा होता है। **काण्ड**—उत्थित और शाखायें रोमश, ग्रन्थिल धब्बों से युक्त और धारीदार होती हैं। **पत्र**—२½ इञ्च लंबे और २½ इंच चौड़े, दीर्घवृन्त प्रायः लट्वाकार, दन्तुर होते हैं। इन पर सिरायें उभरी होती हैं और दोनों पृष्ठों पर काले धब्बे होते हैं। **पुष्प**—बैंगनी होते हैं। पुष्पदंड पत्र जितना या अधिक लंबा होता है जिस पर गुच्छों में १०–३० पुष्प लगे रहते हैं। **फल**—लगभग ४ मि० मी० लंबे और ·२½ मि० मी० चौड़े, अंडाकार-आयताकार, कुछ दबे हुए, रोमश, गहरे भूरे रंग के, कृष्णवर्ण होते हैं। प्रत्येक फल के भीतर एक चिकना बीज होता है जो फलभित्ति से चिपका होता है। मसलने पर इनसे गंध निकलती है। वर्षा में पुष्प तथा नवम्बर-दिसम्बर में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत विशेषतः राजस्थान और पंजाब में उगाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल ०·०५%, एक भूरा स्थिर तैल (१०%) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, Bakuchiol नामक एक फेनोल, कुमारिन यौगिक–Psoralen, isopsoralen, Psorelidin, isopsoralidin और corylifolin पाये जाते हैं। बीजों का स्थिर तैल गाढ़ा तथा तीता होता है और रखने पर सोरेलिन जम जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष — **रस**—कटु, तिक्त

विपाक—कटु — **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण एवं केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय और रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है। शोथ को भी नष्ट करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। बीजों में स्थित उड़नशील तैल की क्षोभक और विशिष्ट क्रिया त्वचा और श्लेष्मल कला पर होती है। श्वेत कुष्ठ पर

लगाने से लाली हो जाती है और कभी-कभी फोड़े भी निकल आते हैं। यह त्वचा के ऊपरी आवरण के भीतर घुसकर कार्य करता है और त्वचा के वर्ण में भी विकार नहीं लाता। उसकी विशिष्ट क्रिया त्वचा के रंगोत्पादक कोषाणुओं पर होती है जो उत्तेजित होकर रंगकण अधिक उत्पन्न करते हैं जिससे श्वित्र धीरे-धीरे दूर हो जाता है। बीजों में स्थित सोरेलिन और आइसोसोरेलिन घटकों के द्वारा मुख्यतः यह क्रिया मानी जाती है। आभ्यन्तर प्रयोग के साथ इसका बाह्य प्रयोग भी किया जाता है। बीज के सत्वों तथा उड़नशील तैल की जीवाणुनाशक क्रिया भी होती है।

तापक्रम—ज्वर को भी दूर करता है।

सात्मीकरण—कटुरस होने के कारण कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—महाकुष्ठ, क्षुद्रकुष्ठ, श्वित्र तथा खालित्य में इसका लेप किया जाता है और इसका तैल भी लगाया जाता है। व्रणों में इसके चूर्ण या तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध में लाभकर है। कृमि, विशेषतः गण्डूपद कृमि, में सेवन किया जाता है। यकृदुत्तेजक होने से अर्श में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक होने से हृदय की शिथिलता तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में सेवन किया जाता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह कुष्ठ, श्वित्र तथा सभी चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है। तैल का इतना ही प्रयोग हो जिससे उस क्षेत्र में लालिमा हो जाय किन्तु फोड़े न निकलें।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से ज्वरांतर दौर्बल्य तथा पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०।

शोधन—तैल इस मात्रा में लगाना चाहिए जिससे केवल श्वित्र में लाली आ जाय, फफोले न पड़ें। बाकुची के बीज गोमूत्र या अदरख के रस में एक सप्ताह तक रखने से शुद्ध हो जाते हैं।

अहित प्रभाव—बीजचूर्ण के अति प्रयोग से कभी-कभी हृल्लास, छर्दि अवसाद, शिरः शूल और विरेचन ये उपद्रव होते हैं।

× × × ×

'बाकुची कटुतिक्तोष्णा कृमिकुष्ठकफापहा। त्वग्दोषविषकण्डूतिखर्जूप्रशमनी च सा॥'

(रा. नि.)

'वल्कलं पित्तलं कुष्ठकफानिलहरं कटु। केश्यं त्वच्यं वमिश्वासकासशोथामपाण्डुनुत्॥'

(भा. प्र.)

W. I., Viii, 216–218

६७. जाती

परिचय

गण—कुष्ठघ्न (च०)।

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी–Oleaceae)।

नाम—लै०-जैस्मिनम ऑफिसिनेल फॉर्मा ग्रैण्डिफ्लोरम (Jasminum officinale Linn. forma. grandiflorum. (Linn.) Kobuski.) सं०–जाती, सौमनस्यायनी, सुमना (मन को प्रसन्न करने वाली), चेतिका (चेतना को प्रफुल्लित करने वाली); हृद्यगन्धा (सुन्दर गन्ध वाली) हि०–चमेली; बं०–चामेली; म० गु०–चबेली; ता०–मल्लिगाई; ते०–मल्लि; अ०–यासमीन; फा०–समन; अं०–स्पेनिश जैसमीन (Spanish or common Jasmine)।

स्वरूप—इसका गुल्म प्रतानिनी या वल्ली के रूप में होता है। **शाखाएँ**-धारीयुक्त होती हैं। **पत्र**–अभिमुख, असमपक्षवत्, पत्रक–७-११ होते हैं, शीर्षपत्रक सबसे बड़ा होता है। **पुष्पधारक दण्ड**–अक्षीय या अन्त्य, पत्तियों से बड़े होते हैं जिनमें श्वेतवर्ण सुगन्धित पुष्प लम्बे होते हैं। कोणपुष्पक–लट्टाकार या स्रुवाकार होते हैं। बहिर्दल और अन्तर्दल–संख्या में पाँच होते हैं। वर्षाऋतु में इसके पुष्प निकलते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ पुष्पभेद से होती हैं—(१) श्वेत और (२) पीत। पीत जाति को 'स्वर्णजाती' कहते हैं। यह J. humile Linn. है; इसके पुष्प पीले सुगन्धित होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के बागों में लगाई जाती है विशेषतः उत्तर प्रदेश के जौनपुर, गाजीपुर, फर्रुखाबाद में बड़े पैमाने पर उगाई जाती है। वहाँ इससे अतर और तेल बनाते हैं। एक पौधा लगाने पर ८–१५ वर्षों तक फूल देता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में राल, वेतसाम्ल (Salicylic acid); जैस्मिनीन (Jasminine) नामक क्षाराभ और कुछ कषायद्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध मृदु **रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कषाय होने से कफपित्तशामक तथा उष्ण होने से वातशामक होता है। अतः यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र मुख रोगों को नाश करता है तथा दाँतों को मजबूत बनाता है। पुष्प–सौमनस्यजनन, मेध्य एवं वाजीकरण है। इसके पत्र और मूल का क्वाथ व्रणशोधन और व्रणरोपण है। इसका मूल-वर्ण्य, वाजीकरण और वेदनास्थापन है। पत्र–कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न भी है। पत्र और पुष्प–आर्तवजनन हैं। इसका तैल–वातशामक और सौमनस्यजनन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्निग्धता के कारण अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

मूत्रवहसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका त्रिदोषज विकारों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चमेली का मूल उबटन में मिला कर या अकेले लगाते हैं, इससे वर्ण सुधरता है। दन्तशूल और दन्तदौर्बल्य में चमेली की पत्तियाँ चबाते हैं। मुखरोगों में पत्र का क्वाथ बना कर कुल्ला करते हैं। शिरःशूल तथा अन्य शूलों में मूल के क्वाथ का परिषेक या लेप किया जाता है। पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में इसके मूल का लेप करते हैं या तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। शिरःशूल तथा मानसिक दौर्बल्य, भ्रम, मूर्च्छा आदि में शिर पर इसका तैल मलते हैं। ध्वजभंग में इसकी जड़ का लेप शिश्न पर किया जाता है। कंडू, कुष्ठ आदि त्वग्दोषों में पुष्प एवं पत्र का लेप त्वचा पर करते हैं। कर्णशूल, कर्णपूय आदि में पत्र से सिद्ध तैल कान में डालते हैं। नेत्ररोगों में पुष्पों का लेप करते हैं और उसका स्वरस नेत्रों में डालते हैं। मूत्राघात एवं रजोरोध में पत्र और पुष्प का लेप बस्तिप्रदेश में करते हैं। व्रणों के शोधन एवं रोपण के लिए इसके पत्र का क्वाथ तथा तत्सिद्ध तैल लगाते हैं।

पाचनसंस्थान—उदावर्त्त, आनाह में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका क्वाथ पिलाते हैं।
प्रजननसंस्थान—रजोरोध और नपुंसकता में इसका प्रयोग होता है।
त्वचा—कुष्ठ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।
सात्मीकरण—अनेक प्रकार के विषों में भी इसका सेवन कराते हैं।
प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, पुष्प।
मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; चूर्ण-१-३ ग्रा०।
विशिष्ट योग—जात्यादि तैल, जात्याद्य घृत, जात्यादि वर्त्ति।

× × ×

'जातिर्जाती च सुमना मालती राजपुत्रिका।
चेतिका हृद्यगंधा च सा पीता स्वर्णजातिका॥
जातीयुगं तिक्तमुष्णं तुवरं लघु दोषजित्।
शिरोऽक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठव्रणास्रजित्॥' (भा. प्र.)
'मालती तु वरा तिक्ता कटूष्णा दोषनाशिनी।
शिरोक्षिमुखदन्तार्त्तिविषकुष्ठव्रणास्रजित्॥' (कै. नि.)
'मुखपाके सिरावेधः शिरःकायविरेचनम्।
कार्यश्च बहुधा नित्यं जातीपत्रस्य चर्वणम्॥' (भा. प्र.)
'जातीपत्ररसैस्तैलं विपक्वं पूतिकर्णजित्।' (च. द.)

W. I., V, 284-288.
Deshpande & Pathak : Surgical Journal of Delhi, I, 4, 1965.

६८. मदयन्तिका

परिचय

कुल—मदयन्तिका-कुल (लिथरेसी-(Lythraceae) ।

नाम—लै०-लॉसोनिया इनर्मिस (Lawsonia inermis Linn.)। सं०-मदयन्तिका; हि०-मेहँदी; म० गु०-मेंदी; मा०-मेंहदी; क०-माञ्ज, मोञ्ज; बं०-मेहेदी; ता०-ऐवणम्; ते०-कोम्मि; मल०-मैलाञ्चि; अ०-हिन्ना; फा०-हिना; अं०-हिन्ना (Henna)।

स्वरूप—यह एक प्रसिद्ध गुल्मजातीय पौधा है जिसकी शाखाओं का अन्त एक कण्टक में होता है। कभी-कभी इसका वृक्ष २० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्र**-¾-१½ इंच लंबे, ह्रस्ववृन्त, भालाकार या अंडाकार, अभिमुख सनाय के सदृश होते हैं जो पीसने पर लाल रंग के हो जाते हैं। **पुष्प**-सुगन्धित, श्वेतवर्ण या क्रीम के रंग के, शीर्षस्थ पिरामिड सदृश बड़ी मञ्जरियों में होते हैं। **फल**-मटर के समान, गोलाकार होते हैं जिनके भीतर छोटे-छोटे पिरामिड की आकृति के, चिकने अनेक बीज रहते हैं। अक्टूबर-नवम्बर में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में बाड़े के रूप में लगाई जाती है। व्यावसायिक रूप से इसकी उपज मुख्यतः पंजाब, गुजरात और कुछ मध्यप्रदेश और राजस्थान में की जाती है।

रासायनिक संघटन—मेंहदी की पत्तियों में टैनिन १०.२१% तथा लॉसोन (Lawsone) नामक मुख्य रञ्जक द्रव्य होता है। इनके अतिरिक्त, गैलिक एसिड, ग्लुकोज, मैनिटोल, वसा, राल, म्युसिलेज तथा एक क्षाराभ होता है। इससे एक सुगन्धित तैल भी गाढ़े भूरे रंग का प्राप्त किया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष और तिक्तकषाय होने से कफ का तथा तिक्तकषाय और शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, स्तम्भन, केश्य, वर्ण्य, दाहप्रशमन, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—पुष्प मेध्य और निद्राजनन हैं।

पाचनसंस्थान—इसके बीज स्तम्भन और पत्र यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प हृद्य तथा पत्र रक्तप्रसादन और रक्तस्तम्भन है। शोथहर भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—पुष्पों का प्रयोग ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, संधिशोथ तथा हाथ पैर की जलन में पत्तियों का लेप करते हैं। वर्ण को सुन्दर बनाने के लिए तथा रंगने के लिए स्त्रियाँ इसका प्रयोग करती हैं। शोथ, क्षत एवं व्रणों में इसका प्रयोग करते हैं इससे शोथ उतरता, रक्तबन्द होता, वेदना शान्त होती तथा व्रण का शोधन और रोपण होता है। कुष्ठ आदि चर्मविकारों में पत्तियों का प्रलेप लाभकर है। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। बालों को काला करने के लिए नीलिका के साथ इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य और अनिद्रा में पुष्पों का फाण्ट देते हैं।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका और रक्तातिसार में बीजों का कल्क तथा कामला में पत्रस्वरस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में फूलों का फाण्ट तथा रक्तविकार और रक्तपित्त में पत्र का क्वाथ या स्वरस देते हैं। शोथ में भी पत्रस्वरस देते है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में पत्रस्वरस के साथ चीनी या मिश्री मिला कर देते हैं। इससे पेशाब साफ होता है, उसकी जलन कम होती है और मूत्रमार्ग का स्नेहन होता है।

त्वचा—कुष्ठ, उपदंश आदि में पत्तियों का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में पुष्पों का फाण्ट देते हैं। इससे शिरःशूल और दाह शान्त होते हैं तथा ज्वर कम होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प, बीज।

मात्रा—स्वरस-५-१० मि० मि०; बीजचूर्ण-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—मदयन्त्यादि चूर्ण।

× × × ×

'मदयन्ती लघू रूक्षा कषाया तिक्तशीतला। कफपित्तप्रशमनी कुष्ठघ्नी सा प्रकीर्त्तिता॥
निहन्ति ज्वरकण्डूतिदाहासृक्पित्तकामलाः। रक्तातीसारहृद्रोगमूत्रकृच्छ्रभ्रमव्रणान्॥'
(स्व०)

हरीतकीचूर्णमरिष्टपत्रं चूतत्वचं दाडिमपुष्पवृन्तम्।
पत्रं च दद्यान्मदयन्तिकाया लेपोऽङ्गरागो नरदेवयोग्यः।'
(सु० चि० २५)

६९. काकोदुम्बर

परिचय

कुल—वट-कुल (अर्टिकेसी-Urticaceae)

नाम—लै०-फाइकस हिस्पिडा (Ficus hispida Linn. f.) सं०-काकोदुम्बर (कौवों का भक्ष्य जंगली उदुम्बर), फल्गु (छोटे फल वाला), मलयू (मलों को दूर करने वाला), जघनेफला (वृक्ष के निम्नभाग में फल लगने से), मूलककंटी[1] (जड़ के पास ककड़ी के समान फल होने से), श्वित्रभेषज्य (श्वित्ररोग में उपयोगी), काष्ठोदुम्बर (काठ के समान कठिन फल होने से) हि०-कठूमर; बं०-काकडुम्बर; म०-भुई डंबर, बोखाड़ा; गु०-ढेडडंबरो; ता०-कट्टु-अठ्ठि; तें०-अदावि-अठ्ठि; अ०-तीन बर्री; फा०-अंजीरदस्ती।

१. यह पर्याय एक अन्य वृक्ष F. cunia Buch. Ham. के लिए अधिक उपयुक्त है जिसके फल वृक्ष के मूल भाग में प्रायः भूमि के अन्दर लगते हैं (Geocarpic Fruits)।

स्वरूप—इसका गुल्म या छोटा वृक्ष होता है। इसकी शाखामें रोमश होती हैं। दो पर्वों के बीच का भाग खोखला होता है। **पत्र**—अभिमुख, लट्वाकार-आयताकार या अभिलट्वाकार, ४-९ इंच लंबे, ४ इंच तक चौड़े, ऊपरी पृष्ठ पर खुरदरे तथा निचले पृष्ठ पर रोमश होते हैं। **पत्राधार**—पाँच सिरायुक्त, हृदयाकृति या गोलाकार होता है। **फल**—गूलर के समान, गोल, रोमश, काण्ड और पत्रहीन शाखाओं पर स्थित मञ्जरियो में गुच्छों में लगते हैं। ये पकने पर पीले हो जाते हैं। इसका वृक्ष बहुत शीघ्र बढ़ता है और २-३ वर्षों में फल देने लगता है। ग्रीष्म से शरद् ऋतु तक पुष्प आते हैं। जनवरी-फरवरी में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेष रूप से पञ्जाब, बंगाल, मध्य-प्रदेश, दक्षिण भारत और राजस्थान में होता है। छायादार स्थानों तथा नदी-नालों के किनारे अधिक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन, ग्लुकोसाइड, मोम तथा सैपोनिन होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय और रूक्ष होने से कफ का तथा तिक्त-कषाय एवं शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप कुष्ठघ्न, व्रणशोधन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल एवं छाल वामक, रेचक और पित्त-सारक होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन तथा शोथहर है। पका फल रक्त-स्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इसका पका फल स्तन्यजनन है।

त्वचा—इसका मूल एवं फल कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—छाल नियतकालिक-ज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—इसका पका फल मधुर, बल्य, वृष्य और बृंहण है। मूलत्वक् कटु पौष्टिक एवं विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, श्वित्र, किलास आदि विविध चर्मरोगों में मूलत्वक् एवं दुग्ध का लेप करते हैं। इसका दूध स्फोटजनन एवं लेखन होने से दद्रु

आदि में लगाते हैं। व्रण में इसके चूर्ण या क्वाथ का प्रयोग करते हैं। गंडमाला में पका फल पीस कर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आनाह, उदर, अर्श और कामला रोगों में फलों का क्वाथ या त्वक्चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में तथा शोथ में छाल का क्वाथ देते हैं। रक्तपित्त में पक्व फल का स्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रसूता स्त्रियों में स्तन्यवृद्धि के लिए इसका पका फल सेवन कराते हैं।

त्वचा—मूल एवं कच्चे फल का कुष्ठ में प्रयोग करते हैं। सु० चि० ९ अ० में इसकी सेवनविधि इस प्रकार बतलाई गई है :—श्वित्ररोगी को गूलर और कठगूलर का गरम काढ़ा पिलाकर धूप में बैठावें। इससे श्वित्र में फोड़े उठेंगे। उनको फोड़ कर वहाँ चीते या हाथी का चमड़ा जला तैल में मिला कर लेप करे। इस विधि से सेवन करने पर श्वित्र अच्छा होता है।

तापक्रम—छाल का क्वाथ विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका पका फल देते हैं। अग्नि मन्द रहने पर ज्वरोत्तर दुर्बलता में मूलत्वक् का चूर्ण अल्प मात्रा में देते हैं। कुक्कुरविष में ३ ग्रा० मूलत्वक् और लगभग एक ग्राम धतूर बीज को पीस कर तण्डुलोदक के साथ पान कराया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, फल, क्षीर।

मात्रा—त्वक्चूर्ण—१–३ ग्रा०।

× × ×

काकोदुम्बरिका फल्गुर्मलयूर्जघनेफला। मलयूः स्तम्भकृत्तिक्ता शीतला तुवरा जयेत्॥
कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्ड्वर्शकामलाः। (भा. प्र.)

फल्गुस्तु तुवरा तिक्ता शीतला स्तम्भनी जयेत्। कफपित्तव्रणश्वित्रकुष्ठपाण्डवस्रकामलाः॥
फलं तु शीतलं स्वादु कषायं गुरु तर्पणम्। शुक्लं मधुरं पाके स्निग्धं विष्टम्भि बृंहणम्॥
ग्राहि वातकफपित्तक्षतदाहविपास्रजित्।' (कै. नि.)

'भद्रासंज्ञोदुम्बरीमूलतुल्यं दत्वा मूलं चोदयित्वा मलय्वाः।
सिद्धं तोयं पीतमुष्णे सुखोष्णं स्फोटाच्छ्वित्रे पुण्डरीके च कुर्यात्॥
द्वैपं दग्धं चर्म मातंगजं वा भिन्ने स्फोटे तैलयुक्तं प्रलेपः।' (सु. चि. ९)

काकोदुम्बरमूलन्तु धुस्तूरफलकान्वितम्। पिबेत्तण्डुलतोयेन सारमेयविषापहम्॥'
(बंगसेन)

B. B. O., III, 878.

७०. सैरेयक

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी—Acanthaceae)।

नाम—लै०—पीत-बार्लेरिया प्रायोनाइटिस (Barleria prionitis Linn.)।

सं०—सैरेयक, सहचर, (पौधे एक साथ समूह में होने के कारण) झिण्टी, (गुल्म होने से) हि०—कटसरैया, पियाबासा; बं०—झाँटि; म०—कोरण्टा; गु०—कांटासेरियों; ता०—शेम्मुलि; ते०—मुल्लुगोरण्ट।

स्वरूप—घनी शाखा-प्रशाखाओं से युक्त यह कंटकित गुल्म २–५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**—वासा के समान; १½–४ इञ्च लम्बे कण्टाग्र होते हैं। **पुष्प**—पीतवर्ण, संख्या में १-२, कक्षीय या शीर्षस्थ मञ्जरियों में लगते हैं। कोणपुष्पक अण्डाकार या रेखाकार-आयताकार, ½–१ इञ्च लम्बे, कण्टाग्र होते हैं। बहिर्दल—भी कण्टाग्र होते हैं। **फल**—.५-.७ इञ्च, ठोस, चंचु से युक्त होते हैं जिनमें प्रत्येक कोष्ठ के मूल में एक बीज होता है।

जाति—पुष्पभेद में सैरेयक चार प्रकार का होता है—श्वेत, पीत, रक्त और नील। पीत जाति का लैटिन नाम ऊपर दिया गया है। श्वेत और रक्त का लैटिन नाम Barleria cristata Linn. तथा नील जाति का B. strigosa Willd है। नील जाति के विशिष्ट पर्याय बाण, दासी, आर्तगल; रक्त का कुरबक तथा पीत का कुरण्टक है।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण प्रदेशों में होता है तथा बागों में लगाया जाता है।

गुण

गुण—लघु
रस—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म—बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणपाचन, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न एवं केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बलप्रद होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—तिक्त एवं उष्ण होने से यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह स्वेदजनन, कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

तापक्रम—तिक्त तथा स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ और कंडु में इसके पत्र का लेप करते हैं । शोथ, विद्रधि, गंडमाला आदि में भी पत्र का लेप करते हैं । इससे सिद्ध तैल व्रणों में लगाते हैं । पत्रस्वरस दाँतों में लगाने से दन्तशूल दूर होता है । पत्रस्वरस से सिद्ध तैल पालित्य रोग में लगाते हैं ।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह नाडीदौर्बल्य की अवस्था में प्रयुक्त होता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों, वातरक्त, उपदंश आदि में प्रयुक्त होता है । सर्वांगशोथ में भी लाभकर है ।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, श्लैष्मिक कास आदि में विशेषतः बच्चों में दिया जाता है ।

प्रजननसंस्थान—श्वेत सैरेयक का पत्रस्वरस जीरकचूर्ण के साथ शुक्रमेह में प्रयुक्त होता है ।

मूत्रवहसंस्थान—इसका मूल मूत्रकृच्छ्र में देते हैं ।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में यह अतीव लाभकर है ।

तापक्रम—विशेषतः वातश्लैष्मिक ज्वर में इसका पत्रस्वरस प्रयुक्त होता है ।

सात्मीकरण—विष की अवस्थाओं में भी इसका प्रयोग करते हैं ।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, विशेषतः पत्र ।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि. लि.; क्वाथ ५०–१०० मि. लि. ।

× × ×

'सैरेयकः श्वेतपुष्पः सैरेयः कटसारिका । सहाचरः सहचरः स च झिण्टयपि कथ्यते ॥
कुरण्टकोऽत्र पीते स्याद्रक्ते कुरबकः स्मृतः । नीले बाणा द्वयोरुक्तो दासी चार्त्तगलश्च सः ॥
सैरेयः कुष्ठवातास्रकफकण्डुविषापहः । तिक्तोष्णो मधुरोऽनम्लः सुस्निग्धः केशरंजनः ॥'

(भा. प्र.)

७१. चक्रमर्द

परिचय

गण—ऊर्ध्वभागहर (सु०) ।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae) ।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिआयडी–Caesalpinioidae) ।

नाम—लै०–कैसिआ टोरा (Cassia tora Linn.); सं०–चक्रमर्द (दद्रु को नष्ट करने वाला); दद्रुघ्न (दद्रुनाशक), एडगज (आकार में छोटा होने से–एडो

मेष एव गजो यस्य); मेषलोचन (मेष के नेत्र की आकृति के पत्र वाला); प्रपुन्नाड (लेखन होने के कारण पुरुष को दुर्बल बनाने वाला–प्रकर्षेण पुमांसं नाडयति भ्रंशयति) पद्माट (कमल के समान जलप्रिय–वर्षाऋतु में उत्पन्न होने के कारण), चक्री (चक्र–दद्रु–से संबद्ध होने के कारण से); हि०–चकवड़, पवांड़, बं०–चाकुन्दा; म०–टाकला; गु०–कुवाडियो; ता०–तघरै; ते०–तगिरिसे; मल०–तघर; अ०–कुल्व; फा०–संगेसबूया, अं०–रिंगवर्म प्लाण्ट (Ring-worm plant) ।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप १–५ फुट ऊँचा दुर्गन्धयुक्त होता है । **पत्र**–संयुक्त, पत्रक तीन जोड़े, १–१½ इञ्च लम्बे, अभिलट्टाकार, भेड़ की आँख की तरह, गोलाग्र होते हैं । ऊपर के पत्रक क्रमशः बड़े होते हैं । निचले पत्रकों के बीच में एक रेखाकर ग्रन्थि होती है । **पुष्प**–कक्षीय, पीतवर्ण, एकाकी या युग्म, ½ इञ्च व्यास के होते हैं । प्रायः दो पुष्प बहुत छोटे पुष्पदंड पर निकलते हैं जिनमें एक नष्ट हो जाता है । **फली**–पतली ६–१२ इञ्च लम्बी, कुछ मुड़ी, चतुष्कोण होती है । **बीज**–आयताकार, भूरे रंग के होते हैं । वर्षाकाल में पुष्प और शीतकाल में फल लगते हैं ।

इसका एक भेद (Variety) C. obtusifolia हैं जिसके पत्र में दुर्गन्ध नहीं होती, पौधा बड़ा होता है और फूल भी कुछ बड़े होते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है ।

रासायनिक संघटन—बीजों में rhein, aloe-emodin और chrysophanol तथा ७.६५% गोंद पाई जाती है । पत्र में कैथार्टीन के समान एक रेचक तत्त्व, लाल रंजक द्रव्य और कुछ खनिज द्रव्य होते हैं । इसके पंचांग की भस्म में सलफेट, फास्फेट, कैल्शियम, लौह, मैगनीशियम, सोडियम और पोटाशियम पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—कटु

विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन, कुष्ठघ्न और विषघ्न है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाड़ियों के लिए यह बलप्रद है ।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से अनुलोमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है । इसका पत्र सनाय की तरह रेचन है ।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र हृद्य और रक्तप्रसादन है ।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है ।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है ।

सात्मीकरण—यह विषघ्न, और मेदोहर (लेखन) है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। पत्र का प्रयोग वातपैत्तिक रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ आदि त्वचा के समस्त विकारों तथा वर्ण के विकारों में बीजों का लेप करते हैं। विषों में भी इसे लेप किया जाता है। अर्श में भी लगाते हैं। बीजों को दही या कांजी में सड़ा कर नींबू के रस में घिस कर कुष्ठ में लेप करते हैं। विशेषतः यह दद्रु में लाभकर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, गुल्म, कृमि और अर्श रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और हृद्रोग में सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में इसकी पत्तियों का साग खिलाते हैं और उसका स्वरस देते हैं। बीजचूर्ण का भी प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—अनेक विषों में, मेदोरोग में तथा औपसर्गिक रोगों के प्रतिषेधार्थ प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र।

मात्रा—बीजचूर्ण १-३ ग्रा०; पत्रस्वरस ५-१० मि० लि०।

विशिष्ट योग—दद्रुघ्नी वटी)

इसके बीजों का कॉफी के प्रतिनिधि के रूप में भी प्रयोग होता है।

'चक्रमर्दः कटूष्णः स्यात् मेदोवातकफापहः। दद्रुकण्डूहरः कान्तिसौकुमार्यकरो मतः॥'

(ध० नि०)

'चक्रमर्दः प्रपुन्नाडो दद्रुघ्नो मेषलोचनः। पद्माटः स्यादेडगजः चक्री पुन्नाट इत्यपि॥
हन्त्युष्णः तत्फलं कुष्ठकण्डूदद्रुविषानिलान्। गुल्मकासकृमिश्वासनाशनं कटुकं स्मृतम्॥

(भा. प्र.)

B. B. O., II, 318.
M. P. I., I, 204.

७२. यूथिपर्णी

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकेन्थेसी–Acanthaceae)

नाम—लै०–राइनाकैन्थस नेसुटा (Rhinacanthus Nasuta Kurz) सं०–यूथिपर्णी; हि०–पालकजुही; बं०–जोईपाक; म०–गजकर्णी; गु०–गजकरण; ता०–नागमल्लि; ते०–नेगामुलि; फा०–गुलबगला।

स्वरूप—इसका गुल्म ४-५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-अंडाकार-भालाकार, अभिलट्वाकार या लट्ठाकार-आयताकार, ३-६½ इञ्च लंबे तथा ¾-३½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त १½-२ इञ्च लंबा होता है। **पुष्प**-श्वेत, १-१.३ इञ्च लम्बे, त्रिधाविभक्त मंजरियों के अग्रभाग में समूहबद्ध होते हैं। **फल**-मुद्गरवत् होते हैं जिनमें चार ग्रन्थिल काले बीज होते हैं। दिसम्बर से अप्रिल तक पुष्प-फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः दक्षिण भारत, उड़ीसा, बंगाल, छोटा नागपुर में होता है। लंका में भी पर्याप्त मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राइनाकैन्थीन (Rhinacanthine) नामक एक रालयुक्त कार्यकारी तत्त्व होता है जिसकी क्रिया क्राइसोफेनिक एसिड (Chrysophanic acid) के समान होती है। इसमें पोटाशियम अधिक होता है तथा oxymethyl anthraquinone भी होता है। पत्तियों को चबाने से कड़ुवा स्वाद मिलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष तथा कटुतिक्त होने से कफ का एवं उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मूल लेखन, स्फोटजनन और कुष्ठघ्न (विशेषतः दद्रुघ्न) होता है।

पाचनसंस्थान—यह कृमिघ्न है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से उत्तेजक एवं वाजीकरण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न तथा अर्बुदनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके मूल को जल, नींबू के रस या चूने के पानी में पीसकर बाद में लेप करते हैं। इसके पत्र का लेप व्यङ्ग, न्यच्छ आदि क्षुद्र रोगों में किया जाता है। कुष्ठ में इसके मूल एवं पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका मूल एवं पत्र का कल्क चूर्णोदक के साथ कृमिरोग में लेते हैं। बीजों का भी सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके मूल का क्षीरपाक करके कामोत्तेजना बढ़ाने के लिए देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

सात्मीकरण—इसके मूल का प्रयोग सर्पविष में किया जाता है। थाइलैंड में इसका प्रयोग कैंसर की चिकित्सा में होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस ५–१० मि०लि०; मूलचूर्ण १–३ ग्रा०; बीजचूर्ण, १–३ ग्रा०।

W. I., IX, 6.
B. B. O., II, 729.

उदर्दप्रशमन

७३. तिन्दुक

परिचय

गण—उदर्दप्रशमन (च०) न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—तिन्दुक-कुल (एबिनेसी–Ebenaceae)।

नाम—लै०-डायोस्पाइरस पिरेग्रिना (Diospyros Peregrina (Gaertn) Gurke; सं०–तिन्दुक, स्फूर्जक, कालस्कन्ध (काले तने वाला), असितकारक (कृष्णवर्ण उत्पन्न करने वाला), हि०–गाभ; तेंदू; बं०–गाव; म०–टेंबुरणी; गु०–टींबरवो; ता०–पानिचिका; ते०–तुमिक; अ०–फा०–आबनूसे हिन्दी; अं०–इण्डियन ऑर गॉव पसिमन (Indian or Gaub Persimon)।

स्वरूप—यह मध्यमप्रमाण का सदाहरित वृक्ष अनेक मुड़ी हुई, फैली शाखा प्रशाखाओं से युक्त, सघन पत्रों से आच्छादित होता है जिसके कारण इसकी छाया बड़ी घनी होती है। काण्डत्वक्–गाढ़े धूसरवर्ण की या कृष्णवर्ण होती है। **पत्र**–एकान्तर, चमकीले, हरे, आयताकार; चिकने ५–६ इञ्च या अधिक लम्बे, १½–२ इञ्च चौड़े; पत्राधार गोल होता है। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, सुगन्धित होते हैं। पुंपुष्प गुच्छबद्ध मञ्जरियों में तथा स्त्रीपुष्प एकाकी होते हैं। **फल**–गोल, २½–३ इञ्च व्यास के, कठिन, कच्चे में सुरमई रङ्ग के तथा पकने पर पीले रङ्ग के हो जाते हैं। फलमज्जा अत्यन्त लसदार होती है। फलों में क्षत करने पर यह गोंद की तरह बाहर निकलती है। फलों के ऊपर एक लाल धूलिवत् आवरण होता है जो आसानी से छूट जाता है। प्रत्येक फल में ४–८ बड़े बीज होते हैं। **पुष्प**–अप्रिल-मई में आते हैं, फल एक वर्ष बाद पकता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में छायादार नम स्थानों में तथा नदी-नालों के किनारे होता है।

रासायनिक संघटन—फलों में पेक्टीन (Pectin) ५०% होता है। कच्चे फल और छाल में प्रचुर परिमाण में कषाय द्रव्य होता है (क्रमशः १५ और १२%) उसके खाते ही गला घुटने सा लगता है। इसके बीजों से तैल निकलता है। इधर जो कार्य हुए हैं उनसे फलमज्जा में Hexacosane, Hexacosanol, B. sitasterol, Monohydroxy Ketone, betulin, Lupeol, sallic acid की उपस्थिति का पता चला है। बीजों में बेटुलिनिक अम्ल होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु	**रस**—कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

इसका पका फल मधुर और गुरु होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष एवं कषाय होने से कफ तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कषाय होने से स्तम्भन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन एवं रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन है।

त्वचा—यह उदर्द, कुष्ठ आदि चर्मविकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह सर्पविषनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तजन्य रोगों में करते हैं।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—इसकी त्वचा का लेप विस्फोटों और ग्रन्थियों पर करते हैं। सद्योव्रण पर फल का लेप करने से रक्त बन्द हो जाता है और उसका रोपण शीघ्र होता है। फल के क्वाथ का गंडूषधारण मुखपाक, उपजिह्विकाशोथ आदि में करते हैं। इसके क्वाथ की योनिबस्ति श्वेतप्रदर में देते हैं। इससे स्राव और गर्भाशय की श्लेष्मल कला का शोथ दूर हो जाता है। किसी अङ्ग से रक्तस्राव होने पर छाल का चूर्ण छिड़कते हैं इससे रक्त शीघ्र बन्द हो जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल या फल का क्वाथ प्रवाहिका और अतिसार में उपयोगी है। इन रोगों में बीज तथा बीजतैल का भी प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त में इसका क्वाथ देते हैं और पके फल का सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में इसकी छाल का घनसत्त्व लेते हैं या उसकी वटी बनाकर मुंह में चूसते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रमेह, शीघ्रपतन में उपयोगी है। स्त्रियों के रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में भी लाभकर है।

त्वचा—यह कुष्ठ और उदर्द में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में छाल का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—इसकी छाल का क्वाथ मधु मिला कर विषमज्वरों में देते हैं।

सात्मीकरण—अनेक वैद्य इसका सर्पविष में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, बीज, बीजतैल।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि० लि०; बीजचूर्ण १–३ ग्रा०; तैल १०–२० बूंद।

वक्तव्य—इसकी त्वचा व्यापार में चमडा रंगने के काम में भी आती है।

× × ×

'तिन्दुक स्फूर्जकः कालस्कन्धश्चासितकारकः।
स्यादामं तिन्दुकं ग्राहि वातलं शीतलं लघु॥
पक्वं पित्तप्रमेहास्रश्लेष्मघ्नं मधुरं गुरु।' (भा. प्र.)

W. I., III, 85

P. S. Mishra et al : Constituents of D. Peregrina fruit and seed, Phytochemistry 10, 904, 1971.

७४. प्रियाल

परिचय

गण—उदर्दप्रशमन, श्रमहर (च०), न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी–Anacardiaceae)

नाम—लै०–बुकनानिआ लैञ्जन (Buchanania lanzan Spreng); स०–प्रियाल, खरस्कन्ध (खुरदरे काण्डवाला); बहुलवल्कल (मोटी छाल वाला); तापसेष्ट (वन में होने के कारण तपस्वियों का प्रिय), सन्नकद्रु (झुका हुआ वृक्ष), धनुष्पट (इसकी छाल से धनुष का कपड़ा बनाते हैं), चार; हि०–पियार, चिरौंजी; बं०–चिरौंजी; म०, गु०–चारोली; ता०–करका; ते०–सारड; कन्न०–नुरकल।

स्वरूप—इसका वृक्ष ४०–५० फीट ऊंचा और ४ इञ्च तक के घेरे का होता है। **त्वक्**–१ इञ्च मोटी, गाढ़े भूरे रंग की, छोटे चौकोर पटलों में विभक्त होती है। **पत्र**–६–१० इञ्च लम्बे, ४–५ इञ्च चौड़े, कड़े, आयताकार, लट्वाकार–आयताकार, स्पष्ट सिरायुक्त होते हैं। पुष्पमञ्जरी मन्दिरशिखर के सदृश होती है जिसमें छोटे, श्वेत **पुष्प**–लगे होते हैं। **फल**–गोल, कृष्णवर्ण, ½ इञ्च व्यास के, मांसल और स्वाद में मधुराम्ल होते हैं। फल के भीतर की गिरी छोटी, पाण्डुवर्ण और स्निग्ध होती है। फल और फल की गिरी खाई जाती है। जनवरी-मार्च मास में पुष्प और अप्रैल-मई में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह शुष्क पार्वत्य प्रदेशों में होता है। हिमालय, मध्यभारत, दक्षिणभारत, उड़ीसा और छोटा नागपुर की निचली पहाड़ियों पर ३००० फीट की ऊंचाई तक मिलता है।

रासायनिक संघटन—बीजमज्जा में मांसतत्त्व २१.६ प्रतिशत, स्टार्च १२.१ प्रतिशत, और शर्करा ५ प्रतिशत होती हैं। ५१.८ प्रतिशत स्थिर तैल होता है जिसे 'चिरौंजी का तेल' कहते हैं। छाल में १३.४% टैनिन होता है। तने में क्षत करने से एक गोंद निकलती है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, सर **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध, गुरु और मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह कुष्ठघ्न, वर्ण्य, शोथहर और केशरञ्जन है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह शीत होने से तृष्णाशामक तथा स्निग्ध और गुरु होने से दुर्जर, विष्टम्भी, सारक और आमदोष को बढाने वाला होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन और हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल एवं मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और वाजीकर है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न, दाहप्रशमन और उदर्दप्रशमन है।

सात्मीकरण—स्निग्ध–मधुर होने से बल्य और बृंहण है।

तापक्रम—ज्वरघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में इसका उद्वर्त्तन करते हैं। झाँई वगैरह को दूर करने के लिए मुख पर इसका लेप करते हैं। चिरौंजी का तैल रसग्रन्थियों की वृद्धि होने पर लगाते हैं। पालित्य रोग में भी चिरौंजी का तैल सिर में लगाते है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि, शिरःशूल, मूर्च्छा आदि रोगों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णा और विबन्ध में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—खाँसी में चिरौंजी की पेया बना कर सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, उष्णवात आदि में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य और क्लैब्य में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ, दाह, उदर्द आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक् और बीजमज्जा।

मात्रा—त्वक्क्वाथ–५०–१०० मि० लि०; बीजमज्जा–१०–२० ग्रा०।

× × ×

प्रियालस्तु खरस्कन्धश्चारो बहुलवल्कलः। राजादनस्तापसेष्टः सन्नकद्रुर्धनुष्पटः॥
चारः पित्तकफास्रघ्नस्तत्फलं मधुरं गुरु। स्निग्धं सरं मरुत्पित्तदाहज्वरतृषापहम्॥
प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः। हृद्योऽतिदुर्जरः स्निग्धो विष्टम्भी चामवर्धनः॥
(भा. प्र.)

'वातपित्तहरं वृष्यं प्रियालं गुरु शीतलम्। प्रियालमज्जा मधुरो वृष्यः पित्तानिलापहः॥
(सु. सू. ४६)

गुरूष्णस्निग्धमधुराः······बलप्रदाः। वातघ्नाः बृंहणाः वृष्याः कफपित्ताभिवर्धनाः।
प्रियालमेषां सदृशं विद्यादौष्ण्यं विना गुणैः'।' (च. सू. २७)

प्रियालतैलं मधुरं गुरु श्लेष्माभिवर्धनम्।
हितमिच्छन्ति नात्यौष्ण्यात् संयोगे कफपित्तयोः॥ (च. सू. २७)

W. I., I., 233–4.

—:o:—

तृतीय अध्याय

हृद्यादि वर्ग

(रक्तवह संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

हृद्य

७५. अर्जुन

गुण—कषायस्कन्ध, उदर्दप्रशमन (च०); न्यग्रोधादि; सालसारादि (सु०)।

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी–combretaceae)

नाम—लै०–टर्मिनेलिया अर्जुन (Terminalia arjuna (Roxb.) W. & A.); सं०–अर्जुन, धवल (बाह्यत्वक् श्वेत होने के कारण), ककुभ (विस्तृत होने के कारण); इन्द्रद्रु (बड़ा वृक्ष होने से); वीरवृक्ष (काण्ड दृढ़ होने से); नदीसर्ज (नदी-नालों के किनारे अधिक और साजवृक्ष के सदृश होने के कारण), हि०–अर्जुन, काहू, कहुआ; म०–सदरू, गु०–सादडो; ता०–बेलम; ते०–तेल्लमद्दि; कन्न०–मद्दि; उ०–सहजो; अं०–अर्जुन (Arjuna)।

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष लगभग ६०–८० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**–सरल और काण्डत्वक् बाहर से सफेद और चिकनी तथा भीतर से कोमल, स्थूल और रक्तवर्ण होती है। **पत्र**–अमरूद के सदृश, आयताकार, ४–६ इञ्च लम्बे और उससे आधा या $\frac{3}{4}$ चौड़े होते हैं। पत्राधार के पास या पत्रवृन्त पर दो ग्रन्थियाँ होती हैं। **पुष्प**–श्वेत या पीताभ मञ्जरियों में लगे रहते हैं। **फल**–कमरख के सदृश किन्तु आकार में छोटे, १–१$\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास के और ५–७ पक्षवाले होते हैं। पत्तों की चौड़ाई $\frac{1}{2}$ इञ्च से कम होती है तथा इनमें ऊपर की ओर मुड़ी धारियाँ होती हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं और शीत या वसन्त में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई, बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश में विशेषतः देखा जाता है। शुष्क पहाड़ी क्षेत्रों में नदी-नालों के किनारे इसकी कतारे देखी जाती हैं।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में बी–सिटोस्टिरॉल, इलेगिक एसिड, अर्जुनिक अम्ल, एक ग्लुकोसाइड अर्जुनेटिन (Arjunetin) और फ्राइडेलिन (Fridelin) पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त, टैनिन २०–२५%, कैलशियम ०·३३%, मैगनिशियम ०·०७८% और अल्युमिनियम ०·०७६% होते हैं। फलों में ७–२०% टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत
प्रभाव—हृद्य

कर्म

दोषकर्म—कषाय, लघु, रूक्ष होने से यह कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कषाय होने से रक्तस्तम्भन, सन्धानीय और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—इससे हृदय की पोषण क्रिया अच्छी होती है, हृत्पेशी को शक्ति प्राप्त होती है जिससे हृदय का स्पन्दन ठीक और सबल होता है तथा स्पन्दन की संख्या भी कम हो जाती है। इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोच भी होता है जिससे रक्तभार बढ़ता है। इस प्रकार इससे हृदय सशक्त और उत्तेजित होता है। यह रक्तप्रसादन तथा रक्तस्तम्भन भी है। इसमें स्थित कषाय रस तथा खटिक के लवण रक्तस्तम्भन में सहायक होते हैं। इससे रक्तवाहिनियों (केशिकाओं) के द्वारा होने वाले रस का स्राव भी कम होता है जिससे वह शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कषाय होने से कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—कषाय होने से यह मूत्रसंग्रहणीय और शामक है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन है।

त्वचा—त्वचा के विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न भी है।

सात्मीकरण—यह कषाय होने से सन्धानीय, मेदोहर, विषघ्न और हृदय को पुष्ट करने के कारण बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव रोकने के लिए तथा व्रणों में इसके स्वरस या चूर्ण का प्रयोग करते हैं। अस्थिभग्न में इसकी छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन और रक्तरोधक होने से रक्तातिसार, रक्तार्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में इसका सेवन कराते हैं। शोथरोग में भी प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह क्षयज कास और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। इससे रक्त आना बन्द होता है, वक्ष का दाह शान्त होता है और खाँसी भी बन्द होती है।

इसकी छाल के चूर्ण को वासापत्र-स्वरस से भावित कर मिश्री, गोघृत और मधु के साथ सेवन करने से क्षयज कास दूर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेह में उपयोगी है। पूयमेह में भी इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र का दाह शान्त होता है और मूत्र निकलने में कष्ट नहीं होता।

प्रजननसंस्थान—अर्जुन की छाल और श्वेत चन्दन का क्वाथ शुक्रमेह में देते हैं। स्त्रियों के रक्तप्रदर और श्वेतप्रदर में भी लाभकर है।

त्वचा—कंडू आदि चर्मरोगों में भी उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में सेवन कराने से ज्वर शान्त होता है और बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—यह कषाय, रूक्ष होने से मेदोरोग में व्यवहृत होता है। सन्धानीय होने से अस्थिभग्न में इसकी छाल का सेवन दूध के साथ कराते हैं। विषों में तथा सामान्य दौर्बल्य (विशेषतः रक्तभार की कमी से उत्पन्न) में भी प्रयुक्त होता है।

प्रयोगविधि—विशेषतः इसकी त्वचा से सिद्ध दुग्ध का प्रयोग भी लाभकर होता है। इसके अतिरिक्त स्वरस, क्वाथ, घृत और चूर्ण का भी प्रयोग करते हैं। क्षीरपाक करने से अर्जुन की रूक्षता दूर हो जाती है तथा दुग्ध का कफकारित्व कम हो जाता है।

प्रयोज्य अङ्ग—त्वक्।

मात्रा—क्षीरपाक में ५–१० ग्रा०; स्वरस–१०–२० मि० लि०; क्वाथ–५०–१०० मि० लि०; चूर्ण–३–६ ग्राम।

विशिष्ट-योग—ककुभादि चूर्ण, अर्जुनारिष्ट, अर्जुनघृत।

वक्तव्य—अर्जुन के कर्मों के सम्बन्ध में प्राचीन और नवीन आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है। हाल में कुछ अनुसन्धानकर्त्ताओं ने अर्जुन में प्रति-रक्तस्तम्भन (Anti-coagulant) कर्म दिखलाया है। इस दिशा में अभी अनुसन्धान शेष है।

× × ×

'ककुभोऽर्जुननामाख्यो नदीसर्जश्च कीर्त्तितः। इन्द्रद्रुर्वीरवृक्षश्च वीरश्च धवलः स्मृतः॥
ककुभः शीतलो हृद्यः क्षतक्षयविषास्रजित्। मेदोमेहव्रणान् हन्ति तुवरः कफपित्तकृत्॥
(भा. प्र.)

'अर्जुनस्य त्वचा सिद्धं क्षीरं योज्यं हृदामये।
सितया पञ्चमूल्या वा बलया मधुकेन वा॥
घृतेन दुग्धेन गुडाम्भसा वा पिबन्ति चूर्णं ककुभत्वचो ये।
हृद्रोगजीर्णज्वररक्तपित्तं हत्वा भवेयुश्चिरजीविनस्ते॥' (च. द.)
'भग्नः पिबेत्त्वक् पयसाऽर्जुनस्य गोधूमचूर्णं सघृतेन वाऽथ।' (च. द.)

1. D. I., 421–424.
W. I., X, 161–64.

७६. कर्पूर

परिचय

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी–Lauraceae)।

नाम—लै०–सिनेमोमम् कैम्फरा (Cinnamomum camphora Nees & Eberm); सं–कर्पूर (कर् चासौ पूरश्च–जो रोगों को नष्ट कर शरीर स्वस्थ रक्खे); घनसार (ठोस सारभाग); चन्द्र (चन्द्रमा के समान श्वेत और शीत होने से); हिमाह्व (बर्फ के समान श्वेत और शीत होने से); हि०, म०, गु०–कपूर; बं०–कर्पूर; ता०, ते०–कर्पूरम्; अ०–काफ़ूर; फ़ा०–कपूर; अं०–कैम्फर (Camphor)।

स्वरूप—इसके वृक्ष १०० फीट तक ऊँचे तथा ६–८ फीट परिधि के, सदाहरित होते हैं। **त्वचा**–ऊपर से खुरदरी और भीतर चिकनी होती है। **पत्र**–एकान्तर २–४ इञ्च लम्बे, पीताभ हरितवर्ण, चर्मवत्, सुगन्धित, तेजपत्र के सदृश होते हैं। **पुष्प**–पीताभ श्वेत, छोटे, मञ्जरियों में होते हैं। **फल**–गहरे हरे, मटर के समान गोल, गुच्छों में होते हैं जो अक्टूबर मास में पक कर काले पड़ जाते हैं। **बीज**–छोटे, कर्पूरगन्धि होते हैं। फरवरी-मार्च में पुरानी पत्तियाँ झड़ जाती हैं और साथ ही नई पत्तियाँ निकलती हैं। वृक्ष के सभी अङ्गों में कपूर की गन्ध रहती है।

जाति—कर्पूर देशभेद, निर्माणभेद तथा वर्णभेद से अनेक प्रकार का होता है।

(क) **देशभेद से**—उत्पत्तिस्थान के भेद से कर्पूर तीन प्रकार का होता है :—

(१) **भीमसेनी या बरास कपूर**—इसे बोर्निओ कैम्फर या बैरस कैम्फर (Borneo or Barus camphor) कहते हैं क्योंकि यह बोर्नियो से सुमात्रा तक द्वीपों में मिलता है। इसका वृक्ष शाल–कुल (डिप्टेरोकार्पेसी–Diptero-carpaceae) का है और इसका लैटिन नाम ड्रायोबैलेनाप्स एरोमेटिका (Dryo-balanops aromatica Gaertn. f.) है। इसके वृक्ष बड़े होते हैं जिनके काण्ड के कोटरों में श्वेत पारभासक कपूर एकत्रित हो जाता है। यह चीनी कपूर से भारी होता है, (यह पानी में डूब जाता है, चीनी कपूर नहीं डूबता), मामूली ताप पर यह नहीं उड़ता तथा इसमें एक विशिष्ट उग्र गन्ध तथा दाहक स्वाद होता है।

(२) **चीनी कपूर**—इसका लैटिन नाम सिनेमोमोमम कैम्फोरा है जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। यह चीन, जापान और फार्मोसा का आदिवासी है किन्तु अब अनेक देशों में लगाया गया है। भारत में देहरादून, कलकत्ता, सहारनपुर, नीलगिरी और मैसूर में लगाया गया है।

(३) **भारतीय कपूर**—अब यह भारत के देहरादून, महाराष्ट्र, मैसूर, जम्मू आदि स्थानों में होता है, यद्यपि यह मूलतः केनिया (पूर्वी अफ्रीका) का निवासी है। इसका क्षुप तुलसी के समान होता है तथा इसकी पत्तियों से तीक्ष्ण सुगन्ध आती

है। इसे 'कपूरी तुलसी' कहते हैं। यह तुलसी–कुल (लैबिएटी–Labiatae) का है तथा इसका लैटिन नाम ऑसिमम किलिमैण्ड्सकैरिकम (Ocimum kilimandscharicum Guerke) है। इसकी पत्तियों से ६१–८०·५% कर्पूर प्राप्त होता है। बीजों से १२·५% हलके पीले रङ्ग का तैल प्राप्त होता है।

इसके अतिरिक्त कुकरौंधा जाति (Blumea sp.) के पौधों तथा अन्य कर्पूर-गन्धि ओषधियों से कर्पूर प्राप्त किया जाता है। इसे पत्री या नागी कपूर कहते हैं।

(ख) **निर्माणभेद से**—निघण्टुकारों ने कपूर दो प्रकार का बतलाया है—१. पक्व, २. अपक्व। पक्व कर्पूर वह है जो कृत्रिम रूप से पाकविधि द्वारा निर्मित किया जाता है। इसमें वृक्ष के मूल, कांड तथा शाखाओं के द्वारा ऊर्ध्वपातन विधि से तैल एवं कर्पूर प्राप्त करते हैं। यह स्वच्छ स्फटिकीय या चूर्णरूप में मिलता है। गन्ध तीक्ष्ण होती है। इसका सापेक्ष गुरुत्व ०·९९५ है। ताप से यह ज्वलनशील एवं उड़नशील है। यह जल में तैरता है।

अपक्व कर्पूर वह है जो पाकक्रिया के बिना ही वृक्ष के कोटरों में प्राकृतिक रूप से सञ्चित होता है। यह जल में डूब जाता है। पक्व कर्पूर की अपेक्षा अपक्व कर्पूर उत्कृष्ट माना जाता है। मूल भाग से सर्वाधिक (२%) कर्पूर प्राप्त होता है। पत्तियों से १% मिलता है। कपूर निकालने के बाद जो तैल बचता है वह कर्पूर तैल (Camphor oil) के नाम से बेचा जाता है। कर्पूर के बीजों से ४२% पीताभ श्वेत, स्फटिकीय, सुगन्धित स्नेह प्राप्त होता है।

आजकल रासायनिक प्रक्रिया से कृत्रिम कपूर बनता है।

(ग) **वर्णभेद से**—यूनानी वैद्यों ने वर्णभेद से कपूर तीन प्रकार का माना है—

१. **रियाही**—यह रक्ताभ श्वेत और प्राकृतिक होता है। यह आयुर्वेदीय निघण्टुकारों का अपक्व कर्पूर है जिसे भीमसेनी कपूर कहते हैं।

२. **कैसूरी**—यह श्वेत, उज्ज्वल और स्तरयुक्त होता है। इसे 'फार्मोसा कैम्फर' भी कहते हैं। यह सम्भवतः पक्व कर्पूर है।

३. **काफ़ूर मोती**—यह मृत्तिकावर्ण होता है तथा पाकविधि के द्वारा कृत्रिम रूप से प्राप्त होता है। इसे 'ब्लूमिया कैम्फर' (Blumea Camphor) भी कहते हैं।

भौतिक गुणधर्म—कर्पूर श्वेतवर्ण, पारदर्शक स्फटिकाकार या कणों के रूप में मिलता है। इसकी गन्ध तीक्ष्ण और विशिष्ट होती है। १ भाग कपूर ७०० भाग जल, १ भाग सुरासार (९०% अलकोहल), ४ भाग जैतून का तेल, डेढ़ भाग तारपीन का तेल और ¼ भाग क्लोरोफार्म में घुल जाता है। ईथर में यह अतिशीघ्रता से घुलता है। ३ भाग कपूर, १ भाग कार्बोलिक अम्ल; तथा ३ भाग कपूर, १ भाग क्लोरल हाइड्रेट के साथ मिलाकर रगड़ने से द्रव बन जाता है। इसके

अतिरिक्त, कपूर को पिपरमिण्ट (मेन्थोल), यवानीसत्त्व (थायमल), फेनोल, नेफ्थोल या सैलिसिलिक एसिड में से किसी एक के साथ मिलाने से द्रव बन जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कटु, मधुर
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म—तिक्त होने से कफ का, मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है। इस प्रकार यह त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप तीक्ष्ण होने से कोथप्रशमन, रक्तोत्क्लेशक, वेदनास्थापन और चक्षुष्य है। स्थानीय नाड़ियों को यह पहले उत्तेजित और बाद में अवसादित करता है जिससे शैत्य का अनुभव होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अल्प मात्रा में मेध्य और वेदनास्थापन है। मद्य के समान यह प्रत्यावर्तित क्रियाओं को पहले उत्तेजित और बाद में अवसादित करता है इसलिए आक्षेपहर भी है। इससे श्वसन और रक्तसंचालन केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं।

पाचनसंस्थान—सुगन्धित होने से यह मुखदौर्गन्ध्यनाशक और तिक्त होने से मुखशोधक है। मुख में रखने पर पहले ठंढक और बाद में उष्णता का अनुभव होता है। यह मुखगत रक्तसंवहन, लालास्राव एवं कफनिःसारण को बढ़ा देता है। अत एव रुचिवर्धक है। कफपित्तशामक होने से तृष्णा को शान्त करता है। यह आमाशयगत रक्तसंवहन को बढ़ाने तथा आमाशयिक पाचक रस के स्राव की वृद्धि करने के कारण दीपन-पाचन है। यह परिसरण गति को बढ़ाता है, अतः अनुलोमन है। अन्त्र में इसकी जन्तुघ्न एवं आक्षेपहर क्रिया होती है। अतिमात्रा में यह तीक्ष्ण होने के कारण आमाशय पर लेखनकर्म करता है जिस कारण अरुचि, हृल्लास एवं वमन होने लगते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, हृदयसंरक्षक एवं रक्तवाहिनीसंकोचक अतः रक्तभारवर्द्धक है। हृदय तथा रक्तसंवहन पर इसकी क्रिया किस प्रकार होती है इसका अभी ठीक-ठीक निर्णय नहीं हो सका है। फिर भी ऐसा समझा जाता है कि यह हृत्पेशी को उत्तेजित करता है तथा अवसादित या अनियमित अवस्था में हृदय की रक्षा करता है। इससे त्वचा की रक्तवाहिनियों का प्रसार भी होता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासप्रणालियों की श्लेष्मल कला का संवहन बढ़ा देता है जिसके कारण यह कफ का स्राव बढ़ा देता है और कफ ढीला होकर आसानी से निकल जाता है। अतः यह कफनिःसारक, कासहर, श्वासहर तथा कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कों के द्वारा उत्सर्ग होने के कारण यह उन्हें उत्तेजित करता है और मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—यह अल्पमात्रा में देने पर वाजीकरण (कामोत्तेजक) किन्तु अधिक मात्रा में कामावसादक होता है। यह स्तन्यशमन भी है।

त्वचा—यह त्वचा की रक्तवाहिनियों को प्रसारित करता है तथा स्वेदग्रन्थियों को उत्तेजित करता है। इस कारण स्वेदजनन और दाहप्रशमन है।

तापक्रम—यह स्वेदजनन होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लघु और तीक्ष्ण होने से लेखन है। विषघ्न भी है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क के द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वात, पित्त एवं कफ तीनों दोषों से उत्पन्न रोगों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह मलहर के रूप में व्रणों में प्रयुक्त होता है। अनेक तैलों में मिला कर आमवात, संधिशूल तथा कास, पार्श्वशूल, न्यूमोनिया आदि में अभ्यंग करते हैं। विचर्चिका आदि चर्मरोगों में विविध औषधों के साथ मिला कर अवचूर्णन करते हैं। पिपरमिण्ट आदि के संयोग से द्रावित कर्पूर नाडीशूल में स्थानिक वेदनाहर के रूप में लगाते हैं। नेत्ररोगों में प्रयुक्त होता है। दन्तमंजन और द्रव के रूप में दन्तपूय और दन्तशूल में देते हैं। जीर्ण प्रतिश्याय में नस्य भी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य, वातव्याधि, अपतन्त्रक, कम्प आदि आक्षेप-प्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह मुखरोगों में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त, अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, अतिसार, विसूचिका और कृमिरोग में यह प्रशस्त औषध है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशैथिल्य में इसका प्रयोग करते हैं। सन्निपातज्वरों में हृदय की रक्षा के लिए यह उपयुक्त है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं कंठरोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और जन्तुघ्न होने से मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—क्लैब्यरोग में यह दिया जाता है। अधिक मात्रा में अति कामोत्तेजना को शान्त करने के लिए दिया जाता है। स्तन्य का स्राव कम करने के लिए स्तनों पर इसका लेप करते हैं और खिलाते भी हैं।

त्वचा—यह दाह और चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—दाहरोग में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—लेखन होने से मेदोरोग में दिया जाता है। अनेक आभ्यन्तर एवं बाह्य विषों में यह लाभकर होता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास (सत्त्व)।

मात्रा—१२५-३७५ मि० ग्रा०।

विशिष्टयोग—कर्पूररस, कर्पूरासव, अर्क कपूर, अमृतबिन्दु।

प्रयोगविधि—यह चीनी के साथ या दूध में मिलाकर दिया जाता है। इससे इसका तिक्तरस आवृत हो जाने से खाने में सुविधा हो जाती है और माधुर्य से कुछ तीक्ष्णता भी कम हो जाती है।

तीव्र विषलक्षण—अधिक मात्रा में कर्पूर लेने पर कभी-कभी विष के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं। इसके कारण उदरशूल, हृल्लास, छर्दि, भ्रम, दृष्टिमांद्य, प्रलाप, आक्षेप, नीलिमा, पक्षाघात, अवसाद, मूत्राघात, संन्यास और अन्त में मृत्यु हो जाती है।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक सेवन करते रहने से तन्द्रा, दौर्बल्य, रक्ताल्पता आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—विषलक्षणों के उत्पन्न होते ही वमन, आमाशय-प्रक्षालन तथा विरेचन के द्वारा संशोधन करना चाहिए। उसके बाद उष्ण एवं उत्तेजक द्रव्यों यथा कुपीलु, कस्तूरी, अंबर, जुन्दबदेस्तर आदि का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

'पुंसि क्लीबे च कर्पूरो हिमाह्वो हिमबालुकः। घनसारश्चन्द्रसंज्ञो हिमनामापि स स्मृतः॥
कर्पूरः शीतलो वृष्यः चक्षुष्यो लेखनो लघुः। सुरभिर्मधुरस्तिक्तः कफपित्तविषापहः॥
दाहतृष्णास्यवैरस्यमेदोदौर्गन्ध्यनाशनः। कर्पूरो द्विविधः प्रोक्तः पक्वापक्वप्रभेदतः॥
पक्वात् कर्पूरतः प्राहुरपक्वं गुणवत्तरम्।
चीनसंज्ञस्तु कर्पूरः कफक्षयकरः स्मृतः। कुष्ठकण्डूवमिहरस्तथा तिक्तरसश्च सः॥'
(भा. प्र.)

'कर्पूरं कटुतिक्तं च मधुरं शिशिरं विदुः। तृण्मेदोविषदोषघ्नं चक्षुष्यं मदकारकम्॥'
(ध. नि.)

'चीनकः कटुकस्तिक्तो हृद्यः शीतः कफापहः। कण्ठदोषहरो मेध्यः पाचनः कृमिनाशनः॥'
(रा. नि.)

'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।......कर्पूरनिर्यास......। (च. सू. ५)

'स्वच्छं भृङ्गारपत्रं लघुतरविशदं तोलने तिक्तकं चेत्,
स्वादे शैत्यं सुहृद्यं बहलपरिमलामोदसौरभ्यदायि।
निःस्नेहं दार्ढ्यपत्रं शुभतरमिति चेद्राजयोग्यं प्रशस्तं,
कर्पूरं चान्यथा चेद्बहुतरमशने स्फोटदायि व्रणाय॥' (रा. नि.)

W. I., I., 197–198. II, 173–177; III, 114.

७७. हृत्पत्री

परिचय

कुल—कटुका-कुल (स्क्रोफुलोरियेसी–Scrophulariaceae)।

नाम—लै०–डिजिटैलिस पर्प्युरिया (Digitalis purpurea Linn.)। सं०–हृत्पत्री (हृद्रोगों में इसके पत्र का विशिष्ट उपयोग होने से), तिलपुष्पी (तिल के सदृश पुष्प होने से)। हि०–डिजिटेलिस; अं०–डिजिटेलिस (Digitalis)।

स्वरूप—इसका पौधा २–६ फुट ऊँचा द्विवर्षायु या बहुवर्षायु होता है। नीचे की पत्तियाँ ऊपर की अपेक्षा बड़ी और सघन होती हैं। **पत्र**–लट्वाकार, लट्वाकार-भालाकार, तमाखू जैसे, ४–१२ इंच लंबे और २–६ इंच चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ फीके हरे रंग का और निचला पृष्ठ पाण्डु और धूसरवर्ण होता है। इन पर मृदु रोम होते हैं और किनारा गोल-दन्तुर होता है। पत्रवृन्त–लम्बे सपक्ष होते हैं। पत्तियों के बीच से, दूसरे वर्ष में, एकाकी, सीधा, लगभग १ फुट लम्बा पुष्पध्वज निकलता है जिसमें नीचे से ऊपर तक तिल के समान किन्तु उससे कुछ बड़े पुष्प लगे होते हैं जो २–३ इंच लंबे, नीचे की ओर झुके हुए, नलिका-घंटिकाकार, बैंगनी, पीले या सफेद रंग के होते हैं। **बीज**–छोटे, हलके, अनेक होते हैं। पौधा दूसरे वर्ष अप्रिल या शुरु मई में फूलता है। उसके बाद बीज बनने के बाद सूख जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह बालुकामय, छायादार भूमि में ५–८½ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। भारत में मुख्यतः कश्मीर (टनवर्ग और किश्तवार) में इसकी खेती की जाती है। दार्जिलिंग और नीलगिरि पहाड़ियों पर भी पाया जाता है।

संग्रहविधि—औषध में पत्र का प्रयोग होता है। पहले वर्ष में अगस्त-सितम्बर मास में अपराह्न में तथा दूसरे वर्ष में ⅔ फूल फूलने के बाद पत्तियों को तोड़ते हैं। प्रतिदिन इन्हें तुरन्त धूप में सुखाकर हवाबन्द टिनों में भरकर रख देते हैं। सूखी पत्तियों का चूर्ण हरे रंग का, किंचित् गन्धयुक्त तथा स्वाद में तिक्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन सक्रिय ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं:—डिजिटॉक्सिन (Digitoxin), जिटॉक्सिन (Gitoxin) और जिटेलिन (Gitalin)। इसकी एक और प्रजाति डिजिटेलिस लेनाटा (D. lanata Ehrb.) कश्मीर में उगाई जाती है। इसमें डिगॉक्सिन (digoxin), जिटॉक्सिन (gitoxin) तथा डिजिटॉक्सिन (digitoxin) ये तीन सक्रिय घटक पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत
प्रभाव—हृद्य

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—त्वचा पर इसका लेप करने से अतितीव्र क्षोभ, व्रणशोथ एवं पीड़ा होती है। श्लेष्मल कला पर भी ऐसी ही क्रिया होती है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पाचनयंत्र पर इसकी कोई विशेष क्रिया नहीं होती। अधिक दिनों तक या अतिमात्रा में सेवन करने पर इसका विषाक्त प्रभाव होता है और उससे हृल्लास और वमन होते हैं। यह संस्थानिक क्षोभ के कारण नहीं बल्कि वमनकेन्द्र के उत्तेजित होने से होती है। अन्न से इसका शोषण शनैः-शनैः होता है और सिरागत रक्तसंचय में और भी मन्द हो जाता है। शोषण अति मन्द होने से इससे कुछ कार्यकारी तत्त्व नष्ट हो जाते हैं। सुरासत्त्व का प्रभाव शीघ्र (लगभग ४–६ घंटों में) हो जाता है। पाचकरसों का भी इस पर प्रभाव नहीं पड़ता। गुदा द्वारा प्रविष्ट करने पर इसका शोषण शीघ्र होता है।

रक्तवहसंस्थान—इससे हृदय की गति कम होती है, हृदय की संकोचशक्ति बढ़ती है, विश्रान्तिकाल बढ़ता है तथा हृदय की पेशी का बल बढ़ता है। इसकी क्रिया हृत्पेशी, सिराग्रन्थि, अलिन्दनिलयगुच्छ तथा हार्दिकी धमनी पर विशेष रूप से होता है। हृत्पेशी तथा शरीर की अन्य धमनियों का संकोच होने से रक्तभार बढ़ता है। औषधीय मात्रा में देने पर हृदय को शक्ति मिलने के कारण धमनियों में रक्त-संवहन समुचित होता है और उससे हृदय एवं अंत्रों को पोषण पर्याप्त प्राप्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्त होने से कफघ्न है।

नाड़ीसंस्थान—औषधीय मात्रा में आक्षेपशामक होता है किन्तु बड़ी मात्रा में देने पर मस्तिष्कगत रक्तसंवहन में विकृति होने के कारण भ्रम, शिरःशूल, दृष्टिमांद्य, श्रवणविकार आदि लक्षण होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह हृद्विकारजन्य मूत्राल्पता को दूर करता है और इसके सेवन से ४८ घंटों के बाद मूत्रल प्रभाव होता है। वृक्कों पर इसकी कोई क्रिया नहीं होती, केवल वृक्कगत रक्तसंवहन को ठीक करने से मूत्र आता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण एवं गर्भाशयसंकोचक है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

कर्म का प्रारम्भ और अवधि—मुख द्वारा देने पर इसका कर्म बहुत शनै-शनै और विलम्ब से प्रारम्भ होता है। अल्प मात्रा में देने पर हृदय पर क्रिया २४–३६ घंटों में तथा मूत्र पर क्रिया ७२ घंटों में प्रारम्भ होती है। पूर्ण मात्रा में देने पर २–४ घंटों में ही प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है। हृत्पेशी पर इसका प्रभाव इस प्रकार स्थिर हो जाता है कि औषध बन्द कर देने पर भी कुछ काल तक बना रहता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग मुख्यतः वृक्कों से और अंशतः पाचनसंस्थान की श्लेष्मल कला से होता है। किन्तु इसका उत्सर्ग शोषण की अपेक्षा भी मन्द होता है जिससे संचयजन्य विषाक्त लक्षणों के उत्पन्न होने का भय रहता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह त्वचा के विकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के अनेक रोगों यथा रक्तप्रत्यावर्त्तन, हृदय की अनियमितता, अलिन्दसूत्रता, हृत्कार्यावरोध, हृदन्तःशोथ, हृदय की धड़कन आदि में लाभकर होता है। हृदय के प्रसार में देने से लाभ होता है। हृदय के मेदस अपकर्ष में इसका प्रयोग नहीं किया जाता। शोथरोग में अतीव प्रशस्त माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ आदि में उपयोगी है।

नाडीसंस्थान—यह आक्षेपयुक्त विकारों तथा अनिद्रा में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्दौर्बल्यजन्य शोथ (Cardiac oedema) में विशेष रूप से करते हैं, यों सामान्य रक्ताल्पताजन्य शोथ में भी इससे लाभ होता है। इन रोगों में मूत्र कम आता है अतः इसके प्रयोग से दो लाभ साथ-साथ होते हैं—एक तो हृदय को शक्ति मिलती है, दूसरे मूत्र अधिक आने से शोथ कम हो जाता है।

प्रजननसंस्थान—यह क्लैब्यरोग तथा रजोरोध में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह तीव्र ज्वरों में प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर कम होता और हृदय भी सुरक्षित रहता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—प्रारंभ में चूर्ण ५०० मि० ग्रा० प्रतिदिन विभाजित मात्राओं में ४–६ घंटे के अंतर से देना चाहिए। लक्षणों की शान्ति होने पर १०० मि० ग्रा० प्रतिदिन देना चाहिए। सुरासत्त्व ५–१५ बूँद।

प्रयोगविधि—हृल्लास, वमन, अतिसार या मन्द नाडी होने पर इसका प्रयोग कुछ दिनों के लिए बन्द कर देना चाहिए। इसका प्रयोग आंशिक हृदवरोध, मस्तिष्कगत रक्तस्राव, अन्तःशल्यता तथा हृदय के मेदस अपकर्ष में निषिद्ध है। रक्तभाराधिक्य में इसका प्रयोग सतर्कता से करना चाहिए।

विषलक्षण—इसके अतियोग से हृल्लास, वमन (हरे रंग का), अतिसार, मूत्राल्पता, शिरःशूल, नाडीमन्दता एवं हृदय की अनियमितता आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—वामक द्रव्यों से या आमाशयनलिका से संशोधन करने के बाद हृदयोत्तेजक द्रव्य यथा कॉफी, मद्य, अमोनिया आदि देना चाहिए। शरीर का सेंक भी करना चाहिए। साथ ही रोगी को लिटाकर रक्खें और पूर्ण विश्राम दें।

W. I., III, 59-62.

७८. वनपलाण्डु

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-अर्जिनिया इण्डिका (Urginea indica Kunth)। सं-वन-पलाण्डु (वन-प्रदेशों में अधिक होने के कारण), कोलकन्द (कोल, भील आदि वन्य प्राणियों का कन्द होने के कारण) हि०-बं०-जंगली प्याज, कांदा; म०-रानकांदा; कोलकांदा; गु०-जंगली कॉंदो; पाणकंदो; ता०-नारीवंगयाम्; ते०-अदावितेलगडा; मल०-अदादूरिसूल्ली, मल०-कटुतिक्त, अ०-उन्मुल; फा०-पियाज सहराई; अं०-इण्डियन स्क्विल (Indian squill)।

स्वरूप—मह कन्दजातीय क्षुप सुदर्शन के सदृश होता है। इसका १-२½ फीट ऊँचा पुष्पध्वज पत्र निकलने के पूर्व ही निकलता है। **पत्र**-६-१८ इञ्च लम्बे और ½-१ इञ्च चौड़े, चपटे, रेखाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। पुष्पध्वज पर दूर-दूर पर ४-८ पुष्प, ६-१२ इञ्च लम्बी पुष्पमञ्जरी पर निकलते हैं। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत, **फल**-½-¾ इञ्च, अण्डाकार-आयताकार होता है जिसमें ६-९ चपटे, काले रङ्ग के बीज होते हैं। मार्च-मई में पुष्प और मई-जुलाई में फल लगते हैं। इसका कन्द सेव के सदृश, गोलाकार-अण्डाकार, लगभग १½ इञ्च व्यास का, १ इञ्च लम्बी ग्रीवा-सहित, भूरे रङ्ग के मांसल पत्तों से वेष्टित रहता है जिनमें कोई गन्ध नहीं होती।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में पश्चिमी हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक कोरोमण्डल तट, कोंकण, छोंटा नागपुर में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें Scillaren A और scillaren B ये दो ग्लाइकोसाइड (०·३%) पाये जाते है। इसके अतिरिक्त पिच्छिलद्रव्य (५१%), शर्करा और भस्म ५ प्रतिशत जिसमें कैल्शियम ऑक्जलेट और साइट्रेट के स्फटिक होते हैं।

सिला इण्डिका (Scilla indica Baker) नामक पौधा भी इससे मिलता-जुलता है। यह मध्यप्रदेश में विशेष होता है। बाजार में दोनों मिले-जुले चलते हैं। सिला इण्डिका के कन्द की ग्रीवा कुछ मोटी होती है।

गुण

गुण—तीक्ष्ण, लघु
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वातशामक एवं कटुतिक्त होने से कफशामक है। तीक्ष्ण और उष्ण होने से पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक एवं व्रणकारक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण पाचनसंस्थान में हृत्पत्री की अपेक्षा अधिक क्षोभ उत्पन्न करता है जिससे हृल्लास, वमन और रेचन होने लगते हैं। ये लक्षण पूर्ण मात्रा में और कभी-कभी औषधीय मात्रा में देने पर भी होते हैं। यह कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृत्पत्री के समान हृदय के लिए बल्य और उत्तेजक है। किन्तु यह आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करता है तथा शोषण कम होने के कारण मात्रा अधिक देनी पड़ती है। यह शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है। यह क्रिया तीक्ष्णता के कारण आमाशयिक क्षोभ के कारण प्रत्यावर्त्तित रूप से होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह हृत्पत्री की अपेक्षा अधिक मूत्रल है। यह तीक्ष्ण होने से वृक्कगत रक्तसंवहन एवं वृक्ककोषाणुओं को उत्तेजित करता है जिससे मूत्र अधिक आता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण और तीक्ष्ण होने से यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—उष्ण होने से यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—इसमें कैंसर-प्रतिरोधी गुणधर्म पाये गये हैं। विषघ्न भी है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क के द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह चर्मरोगों में तथा द्रवयुक्त शोथों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कृमि एवं उदररोग विशेषतः जलोदर में प्रयुक्त होता है। जलोदर में इससे शोथ कम होता है और हृदय को भी शक्ति मिलती है।

रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग हृद्रोग तथा शोथ विशेषतः हृद्रोगजन्य शोथ में किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण प्रतिश्याय, जीर्ण कास, जीर्ण फुफ्फुसरोग एवं श्वास-रोग में यह लाभकर है। इन रोगों में कफ को दूर करने के साथ-साथ यह हृदय को भी शक्ति प्रदान करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह जीर्ण वृक्करोगों एवं मूत्राघात में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कंडू आदि चर्मरोगों में इसका सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—कैंसर में इसके कन्द का प्रयोग लाभकर है। विषनिवारणार्थ किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण—१२०–२०० मि० ग्रा०, पानक–३०–६० बूंद, सुरासत्त्व–५–३० बूंद।

विशिष्ट योग—पानक (Syrup) एवं सुरासत्त्व (Tincture) के रूप में इसका व्यवहार विशेष होता है।

वक्तव्य—(१) अन्ननलिकाक्षोभ, तीव्र वृक्करोग तथा तीव्रकास में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए।

(२) औषधीय प्रयोग के लिए एक वर्ष का नवीन कन्द लेना चाहिए क्योंकि अधिक बढ़ने पर क्रमशः इसकी शक्ति कम हो जाती है।

(३) कन्द की त्वचा हटाकर उसे टुकड़ों में काट लेते हैं और बीच का अंश निकाल कर अवशिष्ट भाग को सुखा कर रख लेते हैं।

> कोलकन्दः कटुश्चोष्णः कृमिकुष्ठविनाशनः।
> वान्तिहृच्च परं हृद्यो मूत्रलो विषवारणः॥ (स्व०)

W. I., X, 416-18.

F. I., VI. 347.

B. B. O., III, 1145.

७९. ताम्बूल

परिचय

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी–Piperaceae)।

नाम—लै०–पाइपर बेट्ल (Piper betle Linn.); सं०–ताम्बूल, नागवल्लरी (सर्प के समान फैलने वाली लता); सप्तशिरा (सात सिराओं से युक्त पत्र वाली) हि०–पान; बं०–पान; म०–नागवेल; गु०–नागरवेल; ता०–वेट्रिलई; ते०–तामालपाकू; अ०–फा०–तंबूल; अं०–बेटल (Betel)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु आरोही गुल्म होता है। **पत्र**–४-७ इंच लम्बे, २-४ इंच चौड़े, लट्वाकार–आयताकार या लट्वाकार–हृदयाकार, ५-७ सिराओं से युक्त, लम्वाग्र होते हैं। पत्रवृन्त ३/४–१३/४ इंच लम्बा होता है। पुंपुष्पमञ्जरी ३-६ इंच लम्बी होती है। स्त्रीपुष्पमञ्जरी दीर्घवृन्तयुक्त ·७–३१/२ इंच लम्बी होती है। फलमञ्जरी–१-५ इञ्च लम्बी, दृढ, लटकती होती है जिसमें १/४ इञ्च व्यास के अनेक सघन मांसल फल लगते हैं। वसन्त और ग्रीष्म में फूल और फल आते हैं।

जाति—देशभेद से इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। राजनिघण्टु में इनका उल्लेख किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण और आर्द्र प्रदेशों विशेषतः बिहार, बंगाल, उड़ीसा, दक्षिण भारत और लंका में होता है। संभवतः यह मलयेशिया का मूल निवासी है।

रासायनिक संघटन—ताम्बूलपत्र में प्रोटीन ३.१%, कार्बोहाइड्रेट ६.१%, खनिज द्रव्य २.३%, टैनिन २ प्रतिशत होते हैं। इनमें कैल्शियम, फास्फोरस, लौह, आयोडिन, पोटासियम की उपस्थिति पाई गई है। विटामिन बी, सी तथा ए भी पाया जाता है। पत्तियों में लगभग ०.७–२.६ प्रतिशत एक तीक्ष्ण और सुगन्धित पीला या भूरे रंग का उड़नशील तैल होता है जिसमें फ़ेनोल (Phenol) और टर्पिन (Terpene) नामक तत्त्व रहते हैं। फ़ेनोल के कारण पत्तियों में विशिष्ट गन्ध होती है और उनकी मात्रा के अनुसार पत्तियों का व्यावहारिक महत्त्व होता है और टर्पिन की उपस्थिति से इनमें तिक्तता और रूक्षता अधिक होती है। इनमें Eugenol, chavibetol तथा Hydroxychavicol नामक सक्रिय तत्त्व पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह गुण, रस और वीर्य से कफ का तथा वीर्य से वात का शामक है। तीक्ष्ण, उष्ण होने से यह पित्तप्रकोपक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, उत्तेजक, शोथहर और वेदनास्थापन है। पान का जन्तुघ्न और पूतिहर कर्म उसमें उपस्थित फ़ेनोल तत्त्व के कारण है। यह कार्बोलिक एसिड से पाँचगुना अधिक कार्यकर होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु–तिक्त, तीक्ष्ण, विशद और उष्ण होने के कारण मुखवैशद्यकारक, दुर्गन्धनाशन, लालाप्रसेकजनन, रेचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिये बल्य है। इससे हृदय की गति कम होती है तथा रक्तभार भी कम होता है। हृदयगति की अनियमितता को दूर कर उसे नियमित करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु–तिक्त और तीक्ष्ण–उष्ण होने से कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

तापक्रम—यह शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुतिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्ठरोग, डिप्थीरिया आदि में पान का रस गरम पानी में देकर कुल्ला कराते हैं । ग्रन्थिशोथ, स्तनशोथ, पार्श्वशूल आदि में इसकी पत्ती गरम कर बाँधते हैं । ध्वजभंग में इसे शिश्न पर बाँधा जाता है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह मुखरोग, अरुचि, अग्नमांद्य, विवन्ध तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा हृदयावसाद की अवस्था में इसका प्रयोग करते हैं । हृदय की अकार्यक्षमता में डिजिटेलिस के स्थान पर इसका प्रयोग कर सकते हैं ।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, स्वरभेद, कास एवं श्वासरोग में इसका रस प्रयुक्त होता है ।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग रोग में पान चबाने से लाभ होता है ।

तापक्रम—यह ज्वरों में तथा शैत्य की अवस्था में उपयोगी है ।

सात्मीकरण—अग्निमांद्य के कारण उत्पन्न दौर्बल्य में यह लाभकर है ।

प्रयोज्य अंग—पत्र ।

मात्रा—स्वरस ५-१० मि० लि० ।

विशिष्ट योग—ताम्बूलासव

निषेध—तीक्ष्ण, उष्ण और पित्तप्रकोपक होने के कारण रक्तपित्त, उरःक्षत, मूर्च्छा आदि पैतिक विकारों में यह निषिद्ध है ।

× × ×

ताम्बूलवल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्लरी । ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम् ॥
वश्यं तिक्तं कटु क्षारं रक्तपित्तकरं लघु । बल्यं श्लेष्मास्यदौर्गन्ध्यमलवातश्रमापहम् ॥'
(भा. प्र.)

'नागवल्ली कटुस्तीक्ष्णा तिक्ता पीनसवातजित् । कफकासहरा रुच्या दाहकृद्दीपनी परा ॥'
(रा. नि.)

'ताम्बूलपत्रं तीक्ष्णोष्णं कटु पित्तप्रकोपणम् । सुगन्धि विशदं स्वर्यं तिक्तं वातकफापहम् ॥
स्रंसनं कटुकं पाके कषायं वह्निदीपनम् । वक्त्रकण्डूमलक्लेददौर्गन्ध्यादिविनाशनम् ॥'
(सु. सू. ४६)

'ताम्बूलं कटु तिक्तमुष्णमधुरं क्षारं कषायान्वितं,
वातघ्नं कफनाशनं कृमिहरं दुर्गन्धनिर्णाशनम् ।
वक्त्रस्याभरणं विशुद्धिकरणं कामाग्निसंदीपनं,
ताम्बूलस्य सखे ! त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽपि ते दुर्लभाः ॥' (ध. नि.)

ताम्बूलं न हितं दन्तदुर्बलेक्षणरोगिणाम् । विषमूर्च्छामदार्त्तानां क्षतिनां रक्तपित्तिनाम् ॥'

'पथ्यं सुप्तोत्थिते स्नाते भुक्ते वान्ते च संगरे ।
सभायां विदुषां राज्ञां कुर्यात् ताम्बूलचर्वणम् ॥ (भा. प्र.)

W. I, VIII, 84–94.
P. V. Sharma et al : Nagarjuna, X, 6, Feb. 1967.
,, XIII, 7, march, 1970.

८०. करवीर

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, कुष्ठघ्न (च०); लाक्षादि, शिरोविरेचन (सु०) ।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-(Apocynaceae) ।

नाम—लै-नेरियम इण्डिकम् (Nerium indicum Mill.); सं०-करवीर, अश्वमारक (विषाक्त होने के कारण); हि०-कनेर, कनैल; बं०-करवी; म०-कण्हेर; गु०-कणेर, करेण; ता०-आलारी; ते०-जान्नेरत; अ०-सम्मुलहिमार; फा०-खरजहरा; अं०-इण्डियन ओलिएण्डर (Indian oleander) ।

स्वरूप—इसका क्षीरी, सदाहरित गुल्म १० फुट तक ऊँचा होता है । **पत्र**-४-६ इञ्च लंबे, लगभग १ इञ्च चौड़े, रेखाकार-भालाकार, लम्बाग्र, दोनों सिरों पर पतले, चर्मवत्, प्रायः ३-३ के चक्रों में होते हैं । पत्र की मध्यसिरा कठिन होती है । **पुष्प**-सुगन्धि, श्वेत या रक्त, १-१½ इञ्च व्यास के, अन्त्य मंजरियों में होते हैं । **फली**-५-७ इञ्च लम्बी, चपटी होती है जिसमें छोटे, अनेक, हलके भूरे रंग के रोमों से आवृत बीज होते हैं । ग्रीष्म-वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं ।

जाति—पुष्पभेद से इसकी दो जातियाँ कही गई हैं :—(१) श्वेत (२) रक्त किन्तु वानस्पतिक दृष्टि से दोनों एक ही पौधा है । राजनिघण्टु में इनके अतिरिक्त पीत और कृष्ण भेद भी लिखे हैं । पीत करवीर तो है किन्तु कृष्ण भेद नहीं मिलता । प्राचीन निघण्टु-कारों का 'करवीरद्वय' रक्त और श्वेत है । पीत को लेने पर करवीरत्रय हो जाता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह नेपाल से कश्मीर तक ६५०० फुट की ऊँचाई तक तथा मध्य प्रदेश में पाया जाता है । आजकल प्रायः सर्वत्र मिलता है ।

रासायनिक संघटन—पौधे का सर्वांग विषाक्त होता है । इसके मूल, त्वक् तथा बीज में हृदय पर कार्य करने वाले अनेक ग्लाइकोसाइडों का पता चला है । इनमें 'नेरिओडोरिन' (Neriodorin), 'नेरिओडोरीन' (Neriodorein) तथा कैराबिन (Karabin) हैं । छाल में स्कोपोलेटिन (Scopoletin), और स्कोपोलिन (Scopolin) भी होते हैं । इनके अतिरिक्त टैनिन, लाल रंजक द्रव्य, एक सुगंधित तैल, मोम, फ्लोबेफिन तथा एक पीतवर्ण स्थिर तैल पाये जाते हैं । पत्तियों में मुख्य हृद्य पदार्थ ओलिएण्ड्रीन (Oleandrin) पाया जाता है ।

इसके अतिरिक्त, नेरिओडिन (Neriodin), नेरियम डी (Nerium D), रुटिन (Rutin) एनहाइड्रो-ओलिऐण्ड्रिन (Anhydro–oleandrin) आदि तत्त्व भी पाये जाते हैं। मूल में एक तिक्त ग्लुकोसाइड, फेनोलिक यौगिक, एक सुगंधित तैल तथा रालयुक्त पदार्थ पाये जाते हैं।

करवीर भस्म में पोटाशियम लवण अधिक होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, विदाही तथा भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—कनेर की हृदय पर क्रिया डिजिटेलिस के समान होती है। यह हृद्य है और इससे हृदय को शक्ति प्राप्त होती है। अधिक मात्रा में हृदय के लिए विष है। रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कों का रक्तसंवहन बढ़ने से मूत्र अधिक आता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और विषम-ज्वरप्रतिबन्धक है। १२५ मि० ग्रा० पीले कनेर की छाल से वही कार्य होता है जो २ ग्रा० सिनकोना की छाल से।

सात्मीकरण—यह तीव्र विष है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा शोथ में मूल को पीस कर लेप करते हैं। विशेषत उपदंश और फिरंग के व्रणों पर इसका लेप करते हैं। पत्रस्वरस नेत्ररोगों में आँखों में देते हैं॥

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, उदररोग तथा विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है। हृदय दुर्बल होकर जब अकार्यक्षम हो जाता है और उसके कारण जब श्वासकष्ट, शोथ, दौर्बल्य आदि लक्षण प्रकट होते हैं तब करवीर का प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग में करवीरपत्र की भस्म का प्रयोग करते हैं। विशेषतः यह हृद्विकारजन्य श्वासकष्ट में लाभकर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में ज्वर उतरने पर ६० मि० ग्रा० की मात्रा में इसका घनसत्त्व देने से पुन ज्वर का वेग रुकता है। यह औषध खाली पेट नहीं देनी चाहिए।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने से अवसाद, नाडीदौर्बल्य, हृदय तथा श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है।

उपचार—इसमें आमाशय का शोधन करने के बाद घी पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-३०-१२५ मि० ग्रा०।

विशिष्ट योग—करवीराद्य तैल, करवीरयोग।

\+ \+ \+

करवीरोऽगुलिपत्रः स्यात् श्वेतो रक्तश्च पीतकः। तथा पाटलपुष्पश्च गुणैस्तुल्यश्चतुर्विधः॥'
(शि.)

'करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकं च तत्। व्रणलाघवकृन्नेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम्॥
वीर्योष्णं क्रिमिकण्डुघ्नं भक्षितं विषवन्मतम्।' (भा. प्र.)
करवीरः कटुस्तिक्तो वीर्ये चोष्णो ज्वरापहः।
चक्षुष्यः कुष्ठकण्डूघ्नः प्रलेपाद् विषमन्यथा॥ (ध. नि.)

W. I., VII, 15–17.

पीत करवीर

कुल—कुटजकुल (एपोसाइनेसी–Apocynaceae)

नाम—लै०–थिवेटिया नेरिफोलिया (*Thevetia neriifolia* juss.) हि०–पीला कनेर, अं०–Yellow oleander.

स्वरूप—इसका सदाहरित बड़ा गुल्म या छोटा वृक्ष लगभग १२ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्र**–सघन, एकान्तर, रेखाकार, चिकने, दोनों सिरों पर पतले, ३–५ इञ्च लम्बे होते है। **पुष्प**–बड़े, पीतवर्ण, फनेल के आकार के, १½–२ इञ्च व्यास के, शाखाग्रीय होते हैं। **फल**–गोलाकार, हरे होते हैं जिनके भीतर एक त्रिकोणकार गुठली होती है। गुठली के भीतर दो पीले रङ्ग के बीज होते हैं। इसमें फूल और फल प्रायः सालों भर देखे जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—मूलतः यह पौधा अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह का वासी है। आजकल भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीज विषैले होते हैं। इसमें अनेक हृद्य ग्लाइकोसाइड पाये गये हैं। इनमें मुख्य पेरुवोसाइड (Pruvoside) है और इसके अतिरिक्त रुवोसाइड (Ruvoside), नेरिफोलिन (Nariifolin), सर्बेरिन (Cerberin) हैं। बीजों से ६०–६७% एक तैल निकलता है।

गुण-कर्म—इसके गुणधर्म प्रायः करवीर के समान ही होते हैं। इसके हृद्य ग्लाइकोसाइडों की क्रिया डिजिटेलिस के समान होती है।

प्रयोग—करवीर के समान ही इसका प्रयोग हृद्दौर्बल्य तथा तज्जन्य श्वासकास एवं शोथ में किया जाता है। इससे हृदय की कार्यक्षमता बढ़ती है, मूत्र भी पर्याप्त आने लगता है जिससे जलोदर और शोथ कम हो जाता है।

शोषण एवं उत्सर्ग—इसका मुख्य क्षाराभ पेरुवोसाइड लगभग ५०% महास्रोत से शोषित हो जाता है। सूचीवेध से देने पर १०–१५ मिनटों में ही इसकी क्रिया प्रारम्भ हो जाती है और ३० मिनट में अधिकतम तक पहुँच जाती है। इसकी क्रिया २४–४८ घण्टों तक रहती है। इसका उत्सर्ग यकृत् तथा वृक्कों से होता है।

मात्रा—यह देखा गया है कि इसका सक्रिय घटक पेरुवोसाइड प्रतिदिन २.४ मि० ग्रा० की मात्रा में कार्यकारी होता है। उसके बाद प्रतिदिन ०.६ मि० ग्रा० देते हैं। ८–१० बीजों का चूर्ण मनुष्य के लिए घातक हो जाता है अतः इसका ध्यान रखते हुए इसकी औषधीय मात्रा की कल्पना करनी चाहिए।

विषाक्त प्रभाव—बीजों के खाने से छर्दि, बेचैनी, उदरशूल, अतिसार, हृदय की मन्दता, अनियमितता तथा रक्तभाराल्पता तथा अवसाद ये लक्षण होते हैं। अन्त में हृदय अवरुद्ध हो जाता है.

पेरुवोसाइड के प्रयोग से अरुचि, हृल्लास, छर्दि, अतिसार तथा हृदय की अनियमितता कुछ रोगियों में पाई गई है।

> करवीरः पीतपुष्पः श्वेतरक्तसमो मतः।
> विशेषान् मूत्रलो हृद्यः शोथहृच्च प्रकीर्त्तितः॥ (स्व.)

× × ×

R. B. Arora & S. Rangaswami : Peruvoside and the cardiotonic glycosides of Thevetia neriifolia Juss., ecrimh. monograph New Delhi, 1972.

८१. तरुणी

परिचय

कुल—तरुणी-कुल (रोजेसी–Rosaceae)।

नाम—लै०–रोजा सेण्टीफोलिया (Rosa centifolia Linn.)। सं–तरुणी (सरस होने से); शतपत्री (अनेक पुष्पदल होने से), कर्णिका (कान के समान बड़े पुष्पदलवाली); चारुकेशरा (सुन्दर केशर वाली); लाक्षा (लोहित वर्ण वाली); गन्धाढ्या (सुगन्धित); हिं० म० गु०–गुलाब; बं०–गोलाप; ता०–इराशा; ते०–गुलाबि; अ०–वर्दे अहमर; फा०–गुलेसुर्ख; अं०–रोज (Rose)।

स्वरूप—इसका क्षुप ५–७ फीट ऊँचा होता है। **शाखाएँ**–कण्टकयुक्त होती हैं। कांटे असमान, बड़े, अंकुशवत् होते हैं। **पत्र**–संयुक्त, पत्रक प्रायः पाँच अण्डाकार–आयताकार, ग्रन्थिमय-रोमश, दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–प्रायः गुलाबी, सुगन्धित होते हैं। बाह्यकोश स्थायी होता है। **फल**–अण्डाकार होता है।

जाति—गुलाब की अनेक जातियाँ होती हैं। आजकल इतनी संकर जातियों का प्रचलन है कि मूल जाति का निर्धारण असम्भव-सा हो गया है। गुलाब की एक जाति में नीलाभ या श्वेत पुष्प आते हैं। उसे सेवती (रोजा ऐल्बा—Rosa alba Linn) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह सर्वत्र उद्यानों में लगाया मिलता है।

रासायनिक संघटन—इस में एक तैल (Oleum Rosi), टैनिक एसिड तथा गैलिक एसिड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध | **रस**—तिक्त, कषाय और मधुर
विपाक—मधुर | **वीर्य**—शीत | **प्रभाव**—हृद्य

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वात; शीत तथा तिक्त, कषाय होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह वर्ण्य, शोथहर, व्रणरोपण तथा दुर्गन्धनाशक है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह मेध्य और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—यह आमाशय, अन्त्र तथा यकृत् के लिए बलकारक है। दीपन, पाचन, अनुलोमन, अल्पमात्रा में ग्राही एवं अधिक मात्रा में मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य एवं शोणितस्थापन है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

त्वचा—यह स्वेदापनयन एवं त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीत होने से यह दाहप्रशमन तथा ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से यह धातुवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—वर्णविकारों तथा पैत्तिक व्रणशोथ में इसका लेप करते हैं। व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। स्वेद से दुर्गन्ध आने पर त्वचा पर इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—मस्तिष्क-दौर्बल्यजनित विकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह पाचनविकार, कोष्ठवात एवं विबन्ध में उपयोगी है। अल्प-मात्रा में कषाय होने के कारण अतिसार और प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोग, रक्तपित्त एवं अन्य रक्तविकारों में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—क्लैव्य रोग में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—अतिस्वेद तथा चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—शरीर में दाह होने पर तथा ज्वरों में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में यह उपयुक्त है।

प्रयोज्य अङ्ग—पुष्प।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०; गुलकन्द १०–२० ग्रा०; अर्क २०–४० मि० लि०।

विशिष्ट योग—गुलकन्द, अर्क गुलाब।

× × ×

शतपत्री तरुण्युक्ता कर्णिका चारुकेशरा। महाकुमारी गन्धाढ्या लाक्षा पुष्पातिमंजुला।
शतपत्री हिमा हृद्या सारिणी शुक्रला लघु। वातपित्तास्रजिद् वर्ण्या कषायस्वादुतिक्तका॥

(स्व.)

W. I., IX, 65–78.
F. I., II, 363–364.

हृदयोत्तेजक

८२. कॉफी

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी–Rubiaceae)।

नाम—लै०–कॉफिया अरेबिका (Coffea arabica Linn); सं०–काफी हिं०–बं०–काफी; म०–गु०–बुंद, बुंददाणा; ता०–कापिकोट्टई; ते०–कापिविट्टुलु; अ०–फा०–कहवा, बुन्न; अं०–अरेबियन कॉफी (Arabian Coffee)।

स्वरूप—इसका सदाहरित गुल्म या वृक्षक १५–३० फीट तक ऊँचा होता है। इसकी पार्श्विक शाखायें अभिमुख युग्मों में या काण्ड के चारों ओर चक्रवत् निकलती हैं। **पत्र**–अभिमुख, पतले, चर्मवत्, चमकीले हरे होते हैं। **पुष्प**–पत्रों के कक्ष में, श्वेत, सुगन्धित, गुच्छों में होते हैं। **फल**–छोटे, मांसल, कच्ची अवस्था में चमकीले तथा पकने पर पीले और लाल हो जाते हैं। लुआबदार फलमज्जा के भीतर दो अंडाकार, हरे, हरिताभ भूरे बीज होते हैं। यह प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके बीजों को थोड़ा घी लगा सेंक लेते हैं और फिर चूर्ण कर रख लेते हैं। इसे चाय की तरह फाण्ट बना कर दूध और चीनी के साथ पीते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदि जन्मस्थान अबीसीनिया है और यह अरब के माध्यम से भारत पहुँचा है। अब दक्षिण भारत में मद्रास, मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर-कोचीन में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीज में एक उड़नशील तैल, स्थिर तैल १०%, तथा एक वर्णगन्धरहित सूच्याकार तिक्त सत्त्व होता है जिसे कैफीन (Caffeine) कहते हैं। यह सत्त्व विभिन्न प्रजाति के बीजों में विभिन्न परिमाण में होता है किन्तु सामान्यतः १ से ३ प्रतिशत मिलता है। इनके अतिरिक्त, कॉफी के बीजों में प्रोटीन १०%, वसा १२%, शर्करा १०% होती है।

अपमिश्रण—कॉफी में शिम्बीकुल के अनेक पौधों के बीज मिलाये जाते हैं यथा चक्रमर्द, इमली, कासमर्द, सोयाबीन, असिशिम्बी आदि।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त **विपाक**—कटु
वीर्य—उष्ण **प्रभाव**—हृद्य

कर्म

दोषकर्म—कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और दुर्गन्धनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अल्पमात्रा में यह वातशामक है तथा केन्द्रीय नाडीमंडल के उच्च केन्द्रों को उत्तेजित करता है, फलतः श्रम, अवसाद को दूर करता है और सौमनस्य उत्पन्न करता है। अधिक मात्रा में, तिक्त होने से, वात को बढ़ाता है।

पाचनसंस्थान—अल्पमात्रा में यह दीपन, वातानुलोमन और ग्राही है किन्तु अधिक मात्रा में अग्निमांद्य और विष्टम्भ करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए बलकारक और हृदयोत्तेजक है। इसका प्रभाव हृत्पेशी और नाडी पर होता है। रक्तवाहिनियों का संकोच होने से रक्तभार बढ़ता है किन्तु हृदय और वृक्क की धमनियाँ प्रसारित हो जाती हैं। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वसन को उत्तेजित करता है तथा कासहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीव्र मूत्रल है। इसकी क्रिया साक्षात् वृक्ककोषों पर होती है। वृक्क-धमनियों के प्रसारित होने तथा वृक्कगत मूत्रवह स्रोतों में लवणों का पुनः शोषण बाधित हो जाने से भी मूत्रजनन कर्म में सहायता मिलती है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में इससे शरीर का पोषण होता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे धातुओं का क्षय होता है। विषघ्न भी है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तकृमि और मुखदुर्गन्धि में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मानसिक शैथिल्य, प्रलाप, शिरःशूल एवं अपतन्त्रक, आक्षेपक आदि वातिक रोगों में प्रयुक्त होता है। सन्धिवात और आमवात में भी लाभकर है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, अतिसार और प्रवाहिका में अल्पमात्रा में दिया जाता है। बच्चों की विसूचिका में यह अतिशय लाभकर होता है।

रसवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य एवं तज्जन्य शोथ में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कुकुरखाँसी और श्वास में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में अल्पमात्रा में देते हैं। अफीम, मद्य आदि मादक विषों में विषनिवारण के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—मलेरिया आदि विषमज्वरों को यह रोकता है। कुनैन, मैगसल्फ आदि तिक्त औषधद्रव्य भी इसके साथ मिला कर दिये जाते हैं। इससे उनकी तिक्तता दूर हो जाती है। टायफायड की प्रारम्भिक अवस्था में भी यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र।

मात्रा—बीज (कैफीन) १२०–३०० मि० ग्रा०, पत्रक्वाथ २०–४० मि० लि०।

शोषण और उत्सर्ग—इसका शोषण शीघ्र और पूर्ण हो जाता है। इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा होता है।

तीव्र विषलक्षण—अधिक मात्रा में लेने पर वातपैत्तिक उपद्रव होते हैं—यथा तृष्णा, कण्ठदाह, उदरशूल, छर्दि, अतिसार, भ्रम, कम्प, आक्षेप, पक्षाघात आदि।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक अधिक मात्रा में लेते रहने से अग्निमांद्य, रक्ताल्पता, कृशता, शिरःशूल, हृद्द्रव, श्वासकष्ट, बेचैनी, आदि लक्षण होते हैं।

चिकित्सा—विषाक्त लक्षणों के उत्पन्न होने पर वातपैत्तिक शामक स्निग्ध चिकित्सा होनी चाहिए। रोगी को दूध, घी, मक्खन आदि का सेवन करना चाहिए।

काफी तिक्ता कटुः पाके हृद्योष्णा कफवातनुत्।
स्फूर्तिदा श्वासकासघ्नी परं निद्रानिवारणी॥ (स्व.)

W. I., II, 288–304.

रक्तभारशामक

८३. रुद्राक्ष

परिचय

कुल—रुद्राक्ष-कुल (इलिओकार्पेसी–Elaeocarpaceae)।

नाम—लै०–इलियोकार्पस गैनिट्रस (Elaeocarpus ganitrus Roxb.) सं०–रुद्राक्ष, भूतनाशन (भूतबाधा–मानस विकारों का नाशक); हि०–रुद्राक्ष; आसाम–रुद्रई।

स्वरूप—यह मध्यमाकार वृक्ष है। **पत्र**-आयताकार भालाकार, किंचित् दन्तुर, चिकने, ५–६ इञ्च लंबे और २ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त–½–¾ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्पमञ्जरी**-पत्तियों से छोटी, २–३ इञ्च लम्बी लटकती होती है जिनमें ½ इञ्च व्यास के, श्वेत पुष्प लगते हैं। **फल**-छोटा (½–१ इञ्च व्यास का), गोलाकार या अंडाकार, बैंगनी रंग का होता है। फलमज्जा अम्ल होती है। इसके भीतर एक कड़ी, अनुलंब परिखायुक्त, गांठदार, पञ्चकोष्ठीय गुठली होती है जिसमें ५ बीज होते है। अगस्त–फरवरी में इसमें पुष्प लगते हैं।

इसकी अनेक प्रजातियाँ (species) होती हैं जिनकी फलास्थि रुद्राक्ष के नाम पर चलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, आसाम, महाराष्ट्र तथा नेपाल में होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**–मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्धता–मधुरता के कारण वात का तथा शीतवीर्य के कारण पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहशामक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क पर इसका शामक प्रभाव होता है। आक्षेपहर भी है। प्राणी के व्यवहार पर भी इसके प्रयोग से अन्तर आता है अतः प्रतीत होता है कि मन पर प्रभाव डालने वाला कोई तत्त्व इसमें हैं। वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान—अन्त्र की पेशियों का इससे प्रसार होता है। यकृत् पर इसकी विशिष्ट क्रिया होती है। इसके शीघ्र पित्त का स्राव बढ़ जाता है। पित्त में केवल जलीयांश बढ़ता है।

रक्तवहसंस्थान—इससे रक्तभार में कमी आती है जो कुछ देर तक स्थायी रहती है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिकाओं के संकोच को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाहशमन के लिए चन्दन के समान रुद्राक्ष को घिस कर लगाते हैं। चेचक के दानों पर भी लगाया जाता है। मानसिक शान्ति के लिए रुद्राक्ष की माला का धारण गले और भुजाओं पर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मानस विकार, आक्षेपक, अपतंत्रक, अनिद्रा, शिरोरोग आदि में यह लाभकर होता है। इससे चित्त का विक्षोभ दूर होकर मन शान्त हो जाता है।

पाचनसंस्थान—कामला आदि यकृत्विकारों में यह पित्त का स्राव बढ़ाने के लिए उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभाराधिक्य (Hypertension) के लिए यह उत्तम औषध है। सामान्यतः इसका हिम प्रयुक्त होता है किन्तु क्वाथ, चूर्ण या वटी बना कर भी प्रयोग किया जा सकता है।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग में भी यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में देने पर बेचैनी दूर होकर ज्वर उतर जाता है। अतः विस्फोटक, मसूरिका आदि में रुद्राक्ष का चन्दन घिस कर मधु में चटाते हैं।

प्रयोज्य अंग—फलास्थि (गुठली) ।

मात्रा—३–५ ग्रा० (चूर्ण)।

× × ×

रुद्राक्षमम्लमुष्णञ्च वातघ्नं कफनाशनम्। शिरोर्तिशमनं हृद्यं भूतग्रहविनाशनम्।
(रा. नि.)

रुद्राक्षस्य फलास्थि स्यान्मधुरं शीतलं लघु। मनोविकारशमनं रक्तभारापहं सरम्॥
दाहज्वरप्रशमनं शस्यते वातपैत्तिके। अपस्मारे तथोन्मादे रक्तभारेऽधिके तृषि॥
मसूरिकायां विस्फोटे श्वासे यकृद्गदेषु च॥ (स्व.)

W. I., III, 140.

F. I., I, 400.

M. P. I., I, 370–371.

S. K. Bhattacharya et al : Pharmacological investigatiions on Elaeocarpus ganitrus, planta Medica, october, 1975.

शोथहर

शोथहर महाकषाय में चरक ने दशमूल के द्रव्यों की गणना की है। इनमें कुछ द्रव्यों का वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

८४. अग्निमन्थ

परिचय

गण—शोथहर, शीतप्रशमन, अनुवासनोपग (च०); बृ० पञ्चमूल, वातसंशमन, वीरतर्वादि, वरुणादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–Verbenaceae)।

नाम—लै०-प्रेम्ना मुक्रोनेटा (Premna mucronata Roxb.) सं०–अग्निमन्थ (इसकी लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग निकाली जाती है यज्ञादि में); जय (रोगों को जीतने वाला), श्रीपर्ण (सुन्दर पत्रों वाला), गणिकारिका (गणिका वासावारिका च-समूह में होने वाला सुन्दर वृक्ष और स्वास्थ्य प्रदान करने वाली), वातघ्नी (वात को नष्ट करने वाली); हि०–अरनी, गनियार, अगेथू; म०–ऐरण, टाकली; गु०–अरणी; बं०–गणिभारी; ता०–थलनजी; ते०–नेलीचेट्ट।

स्वरूप—यह २५–३० फुट ऊँचा वृक्ष होता है। इसकी **काण्डत्वक्**–हलके धूसर वर्ण की होती है। इसके काण्ड और बड़ी शाखाओं पर कण्टक होते हैं। **पत्र**–अभिमुख, २–६½ इञ्च लंबे, अण्डाकार या लट्वाकार, दोनों सिरों पर पतले, निचले पृष्ठ पर रोमश, प्रायः लम्बाग्र, ५–७ जोड़ी सिराओं से युक्त होते हैं। ये सूखने पर काले पड़ जाते हैं, मसलने पर इनसे गन्ध आती है। **पुष्पमञ्जरी**–२–५ इंच व्यास की, त्रिधाविभक्त, रोमश होती है जिसमें हरिताभ श्वेतवर्ण पुष्प लगते हैं। बाह्यकोश–पञ्चदन्तयुक्त तथा अन्तर्दल द्वि-ओष्ठी होता है जिनमें निचले ओष्ठ में तीन गोलाकार खण्ड होते हैं। **फल**–गोलाकार, बैंगनी या काला, अग्र पर दबा हुआ, २–५ इंच व्यास का होता है। पुष्प अप्रिल-मई मे तथा फल मई-जून में लगते हैं।

जाति—यह दो प्रकार का होता है :—(१) अग्निमन्थ—जिसे अगेथू या 'बड़ी अरणी' कहते हैं और जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। (२) 'तर्कारी'—जिसे 'टेकार' या 'छोटी अरणी' कहते हैं। इसका लैटिन नाम क्लेरोडेण्ड्रम फ्लोमिडिस (Clerodendrum phlomidis Linn. f.) है। इसका बड़ा प्रसरणशील गुल्म (या छोटा वृक्ष) होता है। शाखायें मृदुरोमश होती हैं। पत्र–अभिमुख, लट्वाकार दन्तुर प्रायः २ इंच लंबे चौड़े होते हैं। पुष्प–कक्षीय या शीर्षस्थ गुच्छों में, सफेद लगते हैं। बाह्यकोश–घंटिकाकार, त्रिकोण–लंबाग्र खण्डों से युक्त जो फल में किंचित् बड़ा ही होता है। फल–अभि-अंडाकार, दबे हुए, सूखने पर चार खण्डों में फट जाते है। पुष्प–सितम्बर से मार्च तक आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर भारत में विशेषतः गंगा के मैदानों तथा उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल में पाया जाता है। कुमाऊँ से भूटान तक पहाड़ियों में ५००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु	**रस**—तिक्त, कटु, कषाय, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से शोथहर तथा वेदनास्थापन होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए शामक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन एवं अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक, हृदयोत्तेजक एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

त्वचा—यह त्वग्दोषों को दूर करता है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कहीं शोथ और पीडा होने पर इसकी पत्तियों को गरम कर बांधते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में बहुशः प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध आदि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार, हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कफ के विकारों यथा कास, श्वास, प्रतिश्याय आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः वसामेह और पूयमेह में यह उपयोगी है। अग्निमन्थ के मूल का क्वाथ वसामेह एवं पूयमेह में दिया जाता है। टेकार (C. phlomidis) मधुमेह में उपयोगी पाया गया है।

त्वचा—शीतपित्त आदि त्वचा के विकारों में अग्निमन्थ के मूल का कल्क सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य, पांडु आदि में पत्रस्वरस तथा छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०; स्वरस-१०-२० मि०लि०; क्वाथ-५०-१०० मि०लि०।

विशिष्ट योग—अग्निमन्थकषाय, अग्निमन्थमूलकल्क, दशमूलारिष्ट।

× × ×

'अग्निमन्थो जयः स स्यात् श्रीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद् वीर्योष्णः कफवातहृत्। पाण्डुनुत् कटुकस्तिक्तस्तुवरो मधुरोऽग्निद ॥'
(भा. प्र.)

'तर्कारी कटुका तिक्ता तथोष्णाऽनिलपाण्डुनुत्।
शोथश्लेष्माग्निमांद्यामविबन्धांश्च विनाशयेत्॥' (ध. नि.)

'तर्कारी कटुका तिक्ता तुवरा मधुराऽग्निदा। वीर्योष्णा हरते वातकफश्वयथुपाण्डुताः॥
अग्निमन्थो गुणैस्तद्वद्विशेषाद् वातशोथहा।' (कै. नि.)

P. S. Shankaran et al : Current medical practice, 7 : 693-703, Nov., 1963.

K H. Krishnamurty et al : J.R.I.M., VII, 1, 27–36.

S. K. Gupta et al : I. J. P., 28, 102.

८५. पाटला

परिचय

गण—शोथहर (च०); बृहत् पञ्चमूल, अधोभागहर, आरग्वधादि (सु०)

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी–Bignoniaceae)

नाम—लै०-स्टिरिओस्पर्मम् स्वैविओलेन्स (Stereospermum suaveolens DC.) सं०-पाटला (पुष्प-पाटलवर्ण-रक्ताभ होने के कारण); कृष्णवृन्ता (काले डंठल वाली); मधुदूती, अलिवल्लभा (पुष्प सुगन्धित और मधुमय होने से इनकी ओर भ्रमर अधिक आकर्षित होते हैं), ताम्रपुष्पी (ताम्रवर्ण के पुष्पों से युक्त) कुबेराक्षी (नेत्रवत् बीज होने के कारण), अमोघा (अव्यर्थ औषध), कुम्भीपुष्पी (कुम्भाकार पुष्प युक्त), अम्बुवासिनी (अनूपदेशज); हि०-पाढल, अधकपारी; पं०-पाडल; बं०-पारुल; म० गु०-पाडल; ता०-पादरि; ते०-कलिगोट्टु।

स्वरूप—इसके वृक्ष ३०-६० फीट ऊँचे होते हैं। **काण्ड**-बाहर से धूसरवर्ण होता है और भीतर से पीताभ होता है। इसके अभिनव भाग रोमश एवं ग्रन्थिमय होते हैं। **पत्र**-अभिमुख, १-१½ फुट लम्बे, पक्षवत् और विषमदल होते हैं। **पुष्प**-पत्रक ७-९ (प्रायः ७), ३-६ इञ्च लम्बे और २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-पीताभ रक्तवर्ण या ताम्रवर्ण, भीतर पीली धारियों से युक्त, सुगन्धित, १½ इञ्च लंबे, बड़ी ग्रन्थिल-रोमश मञ्जरियों में होते हैं। **फली**-१½ फीट लम्बी और ½ इञ्च व्यास की, सूक्ष्मरोमश, चार सिराओं से युक्त, पृष्ठभाग पर बिन्दुकित

तथा गांठदार होती हैं। **बीज**—१–१½ इञ्च लम्बे, बीच में खातयुक्त होते हैं। पुष्प वसन्त या ग्रीष्म के बाद में आते हैं तथा फल शीतकाल में पकते हैं।

जाति—भावमिश्र ने दो प्रकार की पाटला का उल्लेख किया है—(१) रक्तपुष्प (२) श्वेतपुष्प। श्वेतपुष्पा पाटला का नाम उन्होंने घण्टापाटला, काष्ठपाटला, मुष्कक आदि नाम दिया है। यह वस्तुतः भिन्न कुल का वृक्ष है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के अन्य प्रदेशों तथा बिहार, बंगाल आदि में विशेष होता है। दक्षिण भारत तथा तराई के इलाकों में भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल से गहरे रंग की एक गोंद निकलती है। इसमें एक तिक्त पदार्थ भी होता है। बीजों से एक गहरे हरे रंग का स्थिर तैल (५%) निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

इसके पुष्प और फल कषाय-मधुर तथा शीत है।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। रूक्ष-लघु होने से कफ का, तिक्त-कषाय होने से पित्त तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है। विशेषतः छाल कफवातशामक और पुष्प-फल वातपित्तशामक होते हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, तृष्णाशामक, ग्राही एवं यकृदुत्तेजक है। इससे आमाशयगत अम्लता कम होती है।

रक्तवहसंस्थान—इसकी छाल शोथहर तथा पुष्प हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और हिक्कानिग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और अश्मरीनाशक है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्प वाजीकरण हैं।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—पुष्प मधुर होने से पौष्टिक होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। छाल का प्रयोग कफवातज विकारों तथा पुष्पों का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्रकल्क का लेप व्रणों में करते हैं। इसके बीजों को घिस कर अर्धावभेदक (अधकपारी) में ललाट में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, तृष्णा, अतिसार एवं अर्श में प्रयुक्त होता है। अम्लपित्त में इसकी छाल का फाण्ट देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसकी छाल का प्रयोग शोथरोग में तथा पुष्पों का हृद्रोग में करते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह कास-श्वास में प्रयुक्त होता है। इसके पुष्पों को मधु के साथ मिला कर देने से हिक्कारोग शान्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्राघात तथा अश्मरीरोग में प्रयुक्त होता है, इन रोगों में इसका क्षार देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसके पुष्पों का सेवन किया जाता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में पुष्पों का गुलकन्द बनाकर देते हैं। तञ्जोर प्रदेश में इसके पुष्पों की मिठाई बनाते हैं और इसका प्रयोग बलवृद्धि के लिए करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, पुष्प, बीज, पत्र, क्षार।

मात्रा—मूलत्वक् क्वाथ–५०–१०० मि. लि.; क्षार १–१.५ ग्रा०

विशिष्ट योग—बृ. पंचमूलादि क्वाथ,

× × ×

'पाटली पाटलामोघा मधुदूती फलेरुहा। कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी कालस्थाल्यलिवल्लभाः॥
पाटला तुवरा तिक्ताऽनुष्णा दोषत्रयापहा। अरुचिश्वासशोथार्शश्छर्दिहिक्कातृषाहरी॥
पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफास्रनुत्। पित्तातिसारहृत् कण्ठ्यं फलं हिक्कास्रपित्तहृत्॥'
(भा. प्र.)

'पटोलपाटलाक्वाथो धान्यनागरकान्वितः। जलेन सहितः प्रोक्तश्चाम्लपित्तनिवारणः॥'
(च. द.)

W. I., X, 51–52.

८६. गम्भारी

परिचय

गण—शोथहर, विरेचनोपग, दाहप्रशमन (च०); बृ० पंचमूल, सारिवादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–(Verbenaceae))।

नाम—लै०-मेलिना आर्बोरिया (*Gmelina arborea* Linn.); सं०-गम्भारी, श्रीपर्णी (सुन्दर पत्रों वाली), मधुपर्णिका (पत्तों में मधु के सदृश रस होने के कारण); काश्मरी (सुन्दर वृक्ष होने से); पीतरोहिणी (पीत पुष्पों से

युक्त); काश्मीरी (काश्मीर आदि पार्वत्य प्रदेश में होने से); हि०–गँभार; पं०–गंभारी; म०–शिवण; गु०–शीवण, सवन; बं०–गामार; ता०–गुमादि; ते०–पद्मगोमरु ।

स्वरूप—इसके वृक्ष ६० फीट तक ऊँचे होते हैं। काण्डत्वक्–हलके धूसरवर्ण की और पुरानी होने पर हलके रंगीन टुकड़ों में छूटती रहती है। अन्तस्त्वक्–ऊपर हरिताभ, उसके बाद हलकी पीली तथा भीतर श्वेत होती है। **पत्र**–४-९ इञ्च लंबे, २१⁄२–८ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या हृदयाकार, लम्बाग्र होते हैं। निचले पृष्ठ पर ये क्षोदयुक्त होते हैं। पत्रवृन्त २–६ इञ्च लम्बा होता है जिसके शीर्ष भाग में ग्रन्थि होती है। **पुष्प**–रक्ताभ या पीतवर्ण, १–११⁄२ इञ्च लंबे, पार्श्विक या शीर्षस्थ ३–८ इञ्च कभी-कभी १ फुट तक लम्बी मंजरियों में। **फल**–मौलसिरी के फल के समान, अण्डाकार, ३⁄४ इञ्च का, पीले रंग का तथा स्वाद में मधुर-कषाय होता है। इसके भीतर १–२ बीज होते हैं। पतझड़ में इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। उसके बाद निष्पत्र वृक्ष में वसन्त में पुष्प एवं ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पार्वत्यप्रदेश–हिमालय, नीलगिरि तथा पूर्वी और पश्चिमी घाटों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में एक पीतवर्ण का गाढ़ा तैल, राल, एक क्षाराभ और कुछ बेञ्जोइक् एसिड होता है। फल में ब्यूटिरिक और टार्टरिक अम्ल, एक क्षाराभ, शर्करा, राल और कुछ कषाय द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—गुरु	**रस**—तिक्त, कषाय, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

इसका फल शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। कषाय, तिक्त और मधुर होने से पित्त एवं उष्ण होने से कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियाँ शीतल और स्नेहन होती हैं। अतः दाह और पीडा को शान्त करती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य एवं वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन एवं अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका फल हृद्य एवं रक्तपित्तशामक है। गंभारी का फल रक्तरोधक तथा रक्तपित्तशामक द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है। छाल–शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसका फल सन्धानीय और बल्य है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके फल तथा पत्तियाँ मूत्रजनन हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भस्थापन तथा स्तन्यजनन है। इसका फल वृष्य है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न एवं दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—इसकी छाल कटुपौष्टिक तथा फल बृंहण और रसायन है। यह विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ज्वर में जब शिरःशूल होता है तब इसकी पत्तियों का शिर में लेप करते हैं। इससे दाह और पीड़ा शान्त होती है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह भ्रम, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल अग्निमांद्य, विबन्ध और अर्श में दिया जाता है। इसका फल तृष्णा में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसकी मूलत्वक् शोथरोग में प्रयुक्त होती है तथा पका फल हृद्रोग एवं रक्तपित्त में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—इसका फल उरःक्षत तथा क्षयरोग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इसका फल एवं पत्तियों का स्वरस मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह, बस्तिशोथ में देते हैं। इन रोगों में पत्रस्वरस गोदुग्ध और मिश्री में मिला कर सेवन कराते हैं। इससे मूत्र साफ आता है, वेदना शान्त होती है तथा शोथ कम होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका फल शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भपात आदि में दिया जाता है। मूलत्वक् का क्वाथ सूतिकारोग में देते हैं। इससे गर्भाशय का शोथ कम होता है, ज्वर आदि उपद्रव शान्त होते हैं तथा स्तन्य की वृद्धि होती है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका फल तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं। साँप तथा बिच्छू के विषों में भी इसकी छाल का बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, फल।

मात्रा—मूलत्वक्क्वाथ ५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—श्रीपर्ण्यादि क्वाथ, श्रीपर्णीतैल, बृ० पंचमूल्यादि क्वाथ।

× × × ×

'काश्मरी तुवरा तिक्ता वीर्योष्णा मधुरा गुरुः। दीपनी पाचनी मेध्या भेदनी भ्रमशोथजित्॥
दोषतृष्णामशूलार्शोविषदाहज्वरापहा। तत्फलं बृंहणं वृष्यं गुरु केश्यं रसायनम्॥
वातपित्ततृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत्। स्वादु पाके हिमं स्निग्धं तुवराम्लं विशुद्धिकृत्॥
हन्याद् दाहतृषावातरक्तपित्तक्षतक्षयान्।' (भा. प्र.)

'हृद्यं मूत्रविबन्धघ्नं पित्तास्रवातनाशनम् । केश्यं रसायनं मेध्यं काश्मर्यं फलमुच्यते ॥'
(सु. सू. ४६)

'काश्मर्यफलं रक्तसांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम् ।' (च. सू. २५)

'काश्मर्यतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि ।' (सु. सू. ४५)

W. I., IV, 154-56.

F. I., IV, 581.

८७. मानकन्द

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी-Araceae) ।

नाम—लैं०-एलोकेसिया इण्डिका (Alocasia indica (Roxb) schott); सं०-मानकन्द, मानक, महापत्र (बड़ी पत्तियों वाला); हि०-मानकन्द; बं०-मानकच्चू ; म०-मांसाच्चू , अं०-जैंट टारो (Giant taro) ।

स्वरूप—इसका क्षुप अरुई के समान ३-६ फुट ऊँचा होता है । **काण्ड**-मांसल, फूला हुआ, ४-८ इञ्च व्यास का होता है । **पत्र**-२-३ फीट लम्बे, पुंखवत् और त्रिभुजाकार होतें हैं। अग्रखण्ड त्रिभुजाकार तथा पार्श्वखण्ड लट्वाकार होते हैं। **पत्रवृन्त**-पत्र के बराबर या उससे लम्बा, ऊपर की ओर क्रमशः पतला होता है। पत्र की मध्यसिरा स्पष्ट श्वेताभ होती है जिससे ६-८ प्रबल नाडियाँ निकल कर किनारे की ओर उठती हैं। **पुष्पदंड**-अनेक, ४-८ इञ्च लम्बे होते हैं। **पत्रकोश**-किंचित् दुर्गन्धयुक्त, ८-१२ इञ्च लम्बा, बाहर और भीतर हरिताभ पीत होता है। **स्त्रीपुष्पव्यूह**-पीला, लगभग १ इंच लम्बा; **पुंपुष्पव्यूह**-श्वेत, १½-२ इच लम्बा होता है। **फल**-छोटे दोनों के रूप में लाल होते हैं। स्कन्ध से अनेक मूल निकले रहते हैं। मूलों के अग्रभाग फूल कर कन्द हो जाते हैं। **कन्द**-लम्बगोल १-२ फुट लंबा होता है। वर्षा-शरद् ऋतु में पुष्प एवं बाद में फल लगते हैं।

जाति—यह कन्द के स्वादभेद से दो प्रकार का होता है—१. कटु और २. मधुर। मधुर जाति का औषध में प्रयोग होता है। यह बंगाल में 'सत्रागाछी मान' कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में विशेषतः बंगाल और आसाम में उत्पन्न होता है। वहाँ इसकी खेती होती है। स्कन्ध और कन्द खाये जाते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में पोटाशियम ऑक्जलेट, चूना तथा स्टार्च होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध

रस—मधुर

विपाक—मधुर

वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर-शीत होने से वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियाँ तथा कन्द शोथहर और वेदनास्थापन होती हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह शूलप्रशमन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र रक्तरोधक एवं कन्द शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—यह बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्र या कन्द को गरम कर सन्धिवात, आमवात आदि शोथवेदनायुक्त रोगों में ऊपर से बाँधते हैं। इसके काण्ड का स्वरस गरम कर कर्णशूल, कर्णस्राव में कान में डालते हैं। मानकन्द की अन्तर्धूम भस्म सरसों के तैल और सेंधा नमक के साथ जिह्वास्तम्भ में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका कन्द वातव्याधि में सेवन करते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका कन्द उदररोग, उदरशूल, विबन्ध एवं अर्श में लाभकर है। अर्श और विबन्ध में इसका शाक भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसके पत्र का स्वरस रक्तपित्त में व्यवहृत होता है। सर्वाङ्ग-शोथ में इसके पुराने कन्द का चूर्ण देते हैं। शोथरोग में इसका एक विशिष्ट कल्प प्रयुक्त होता है, इसे 'मानमण्ड' कहते हैं। पुराने मानकन्द का चूर्ण ८० ग्रा०, चावल का चूर्ण १६० ग्रा०, दुग्ध २४० मि० लि० और जल २४० मि० लि० मिलाकर उबालते हैं और जलांश शुष्क होने पर उतार लेते हैं। यही मानमण्ड है। प्लीहावृद्धि में भी कन्दचूर्ण देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य एवं पाण्डु में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द, कांड, पत्र।

मात्रा—कन्दचूर्ण ५-१० ग्राम; स्वरस १०-२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—मानकादि गुडिका, मानमण्ड।

× × × ×

'मानकः स्यान्महापत्रः कथ्यन्ते तद्गुणा अथ। मानकः शोथहृच्छीतो रक्तपित्तहरोऽलघुः॥'
(भा. प्र.)

'मानकं स्वादु शीतं च गुरु चापि प्रकीर्त्तितम् ।' (सु. सू. ४६)

'पुराणं मानकं पिष्ट्वा द्विगुणीकृततण्डुलम्। साधितं क्षीरतोयाभ्यामभ्यसेत् पाययेत्तु तत्॥
हन्ति वातोदरं शोथं ग्रहणीं पाण्डुतामपि। सिद्धः भिषग्भिराख्यातः प्रयोगोऽयं निरत्ययः॥
(च. द.)

B. B. O., III, 912.

८८. हिंस्रा

परिचय

गण—कण्टकपञ्चमूल (सु०)

कुल—वरुण-कुल (कैपरिडेसी-Capparidaceae)

नाम—लै०-कैपरिस सेपिआरिया (Capparis sepiaria Linn.) सं०-गृध्रनखी (गृध्रनखाकार कण्टक होने से), कन्थारी (काँटे कपड़ों में फँस जाते हैं, इस कारण); हिं०-हैंस; बं०-कलियाकरा; उ०-काँटीकपली।

स्वरूप—यह एक बड़ी तन्तुवत् काण्ड वाली झाड़ीदार वनस्पति है जिसमें तीक्ष्ण, गृध्रनखाकार मुड़े हुए उपपत्रीय कण्टक होते हैं। शाखायें रोमश, धूसरवर्ण होती हैं। **पत्र**-¾-१½ इंच लम्बे, ½-¾ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, आयताकार या अर्ध-लट्वाकार होते हैं। पत्रवृन्त बहुत छोटा होता है। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण, ऊपरी पत्रकोणों और शीर्ष से निकले पुष्पदण्डों पर गुच्छों में निकलते हैं। **फल**-गोलाकार, काला, ½ इञ्च व्यास का होता है। पुष्प अप्रिल से दिसम्बर तक तथा फल नवम्बर-दिसम्बर में लगते हैं। फलों का अचार बनाते हैं।

जाति-इसकी एक प्रजाति (Capparis horrida Linn. f.) व्याघ्रनखी (हिं०-करेरुआ) के नाम से प्रसिद्ध है। इसके गुणधर्म हिंस्रा के समान हैं। संभवतः डल्हण ने हिंस्रा को बृहद्हिंस्रा मान कर व्याघ्रनखी को अल्पहिंस्रा कहा है। 'अहिंस्रा' शब्द भी 'अल्पहिंस्रा' का ही बोधक है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत के शुष्क प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें क्षाराभ, ग्लाइकोसाइड, कार्बोहाइड्रेट, ऐन्थोसायनिन, फ्लेवोनायड, स्टिरॉल, टर्पीन तथा ऐमिनो एसिड पाये गये हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु | **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—कटु, तिक्त और उष्ण होने से यह रुचिवर्धक, दीपन तथा पित्तस्रावक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक और शोथहर है। रक्तशोधक भी है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्लीपद, आदि में इसकी जड़ या पत्ती को पीस कर गरम लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, पाचनविकार तथा यकृद्रोगों में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य तथा शोथ, श्लीपद आदि में लाभकर है। रक्तविकारों में भी देते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—क्वाथ—५०-१०० मि० लि०

× × ×

करमर्दत्रिकण्टकसैरीयकशतावरीगृध्रनख्य इति कण्टकसंज्ञः। (सु० सू० ३८)

मातुलुङ्गाग्निमन्थौ च देवदारु महौषधम्।
अहिंस्रा चैव रास्ना च प्रलेपो वातशोफहृत्॥ (सु० सू० ३६)

कन्थारी कटुतिक्तोष्णा कफवातनिकृन्तनी।
शोफघ्नी दीपनी रुच्या रक्तग्रन्थिरुजापहा॥ (रा० नि०)

F. I., I, 174-177.
B. B. O., I, 32-33.
T. R. Juneja et al : Res. Bull. Punjab Univ., 21,519

८९. अधःपुष्पी

परिचय

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी-Boraginaceae)।

नाम—लै०-ट्राइकोडेस्मा इण्डिकम (Trichodesma indicum R. Br.) सं०-अधःपुष्पी (पुष्प खिलने पर नीचे की ओर लटक जाते हैं); हिं०-अन्धाहुली; म०-जिन्धी, गावोजा; गु०-ऊँधाहुली; बं०-चेतरहूली।

स्वरूप—इसका वर्षायु, शाखाप्रशाखायुक्त, प्रसरणशील, रोमश क्षुप १-१½ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-वृन्तहीन, आयताकार, भालाकार या लट्वाकार, ऊर्ध्वपृष्ठ

पर ग्रन्थियुक्त, १½–४ इंच लम्बे होते हैं। **पुष्प**–बैंगनी या नीलवर्ण या श्वेतवर्ण बैंगनी आभायुक्त, लगभग १ इंच व्यास के, नीचे की ओर लटके रहते हैं। **बीज**–अण्डाकार ½ इंच के, बाहर धूसर चमकीले, भीतर भूरे रंग के होते हैं। पुष्प प्रायः सितम्बर से जनवरी तक देखे जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र मिलता है।

गुण

गुण—लघु **रस**—कटु, तिक्त

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह दीपन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक एवं शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—यह चर्मरोगों को नष्ट करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, व्रणशोथ आदि में इसके पंचांग का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में भी इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, प्रवाहिका और ग्रहणी में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा शोथरोग देते हैं। सन्धिवात, आमवात आदि में भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तव-कष्ट तथा मूढ़गर्भ में अतीव लाभकर है।

त्वचा—यह चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसके मूल को जल के साथ पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल और पंचांग।

मात्रा—मूलकल्क ५–१० ग्रा०; पंचांगस्वरस १०–२० मि० लि०।

× × ×

अधःपुष्पी रसे तिक्ता कट्वी लघ्वी प्रशस्यते।
वीर्योष्णा कफवातघ्नी व्रणशोथहरा परम् ॥ (स्व.)
'ऊँधाफूली जड़ को आन, दो पैसा भर जल संग आन।
सर्वविष कोई ना रहे, सिद्धनाथ योगी यूँ कहे ॥' (लोकोक्ति)

W. I., X, 285.

९०. शाखोटक

परिचय

कुल—वट-कुल (मोरेसी–Moraceae)।

नाम—लै०–स्ट्रेबलस ऐस्पर (Streblus asper Lour.), सं०–पीतफलकः (पीतवर्ण फल होने से), हि०–सिहोरा, बं०–शेवडा, म०–कवती; ता०–मिलन; ते०–वरनिका; क०–अखोर मोरनु।

स्वरूप—इसका वृक्ष कठिन, शाखाप्रशाखायुक्त, गुल्मवत् होता है। **पत्र**–२–४ इंच लंबे, कड़े, खर, अंडाकार या अभिलट्वाकार, ह्रस्ववृन्त होते हैं। पुष्प श्वेतवर्ण होते हैं। **फल**–पीले रंग के, मांसल होते हैं जिनके भीतर एक बीज होता है। मार्च–अप्रैल में पुष्प तथा मई–जून में फल लगते हैं। बकरियाँ इसके पत्तों को चाव से खाती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के शुष्क प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक तिक्त पदार्थ पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से वातकफनाशक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल शोथहर और व्रणशोधन है। बीज श्वित्रघ्न क्षीर रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—यह ग्राही एवं वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ को नष्ट करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न तथा मेदोहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में उपयोगी हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी छाल पीस कर शोथ और व्रण में लेप करते हैं। बीजों का लेप श्वित्र में लाभकर है। इसके दूध को रक्तस्राव रोकने के लिए लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसकी जड़ को पीसकर अपस्मार में पिलाते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार और प्रवाहिका में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं। अर्श में भी यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—श्लीपद के लिए यह उपयोगी हैं। इसमें इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं।

तापक्रम—ज्वर में भी यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसकी जड़ पीस कर पिलाते हैं। यह मेदोरोग में भी देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, बीज।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०; क्वाथ-५० मि० लि०।

इसके क्वाथ से कभी-कभी वमन होने लगता है अतः प्रकृति आदि का विचार कर मात्रा का निर्धारण करे।

× × ×

> शाखोटः स्याद् भूतवृक्षो गवाक्षी घूकावासो भूर्जपत्रश्च पीतः।
> कौशिक्योऽजाक्षीरनाशश्च सूक्तस्तिक्तोष्णोऽयं पित्तकृद् वातहारी॥ (रा. नि.)
> शाखोटवल्कलक्वाथं गोमूत्रेण युतं पिबेत्।
> श्लीपदानां विनाशाय मेदोदोषनिवृत्तये॥ (शा०)

गण्डमालानाशक

९१. काञ्चनार

परिचय

गण—वमनोपग (च), ऊर्ध्वभागहर, कषायवर्ग (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल-(लेग्युमिनोसी-(Leguminosae)।

उपकुल—कण्टकीकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिआयडी–Caesalpinioideae)।

नाम—लै०–बॉहिनिया वेरीगेटा (Bauhinia variegata Linn.), सं–काञ्चनार, गण्डारि (गण्डमाला को नष्ट करने वाला); चमरिक (चमर के समान पुष्प वाला); युगपत्रक (पत्र के अग्रभाग में ऐसा गहरा चीरा रहता है जिससे मालूम होता है कि दो पत्ते एक साथ जुटे हों), कर्बुदार (चित्रित पुष्प

एवं विदीर्ण पत्र होने से), स्वल्पकेसरी (अल्प केसर होने से)। हि०–कचनार; पं०–कचनाल, कुलाड़; बं०–काञ्चन; म०–कोरल, काञ्चन; गु०–चंपाकाटी; ता०–मंदारे; ते०–देवकाञ्चनमु।

स्वरूप—इसका वृक्ष मध्यम प्रमाण का होता है। छाल धूसरवर्ण तथा लंबाई में फटी होती है। **पत्र**–एकान्तर, २½–६ इञ्च लंबे तथा ३–६½ इञ्च चौड़े, द्विखण्डित, खण्ड गोलाग्र, ¼–⅓ तक गहरे होते हैं। पत्ते गहरे हृदयाकृति, चौड़ाई में अधिक होते हैं तथा इनमें ९–११ सिरायें होती हैं। पत्रवृन्त ·५–१·७५ इञ्च लंबा, दृढ तथा रोमश होता है। **पुष्प**–बड़े श्वेत या बैंगनी या गुलाबी होते हैं जिनमें एक अन्तर्दल चित्रित पीतवर्ण होता है। बहिर्दल स्रुवाकार, नलिका ¾–१·२५ इञ्च लंबी, चौड़ी, लट्वाकार, अन्तर्दल २–२½ इञ्च लंबे, अभिलट्वाकार; पुंकेशर ३–५; **फली**–½–१ फुट लंबी, ¾–१ इञ्च चौड़ी, चपटी, चिकनी, कड़ी, मुड़ी होती है जिसमें १०–१५ बीज होते हैं। फरवरी-मार्च में लगभग निष्पत्र वृक्ष में पुष्प निकलते हैं और अप्रिल–मई में फल लगते हैं।

जाति—पुष्पभेद से काञ्चनार तीन प्रकार का माना गया है–श्वेत, पीत और रक्त। श्वेत काञ्चनार तथा रक्त जाति कोविदार (Bauhinia purpurea Linn.) है। इसे लोक में कोइलार कहते हैं। इसके पत्र अधिक लम्बे तथा चौड़े पत्रखण्ड तीक्ष्णाग्र, पुष्पकलिकायें पञ्चकोणीय, फलियाँ ऊपर की ओर कुछ चौड़ी होती हैं। यह शरदृतु में पुष्पित होता है तथा शीतऋतु में फल लगते हैं। पीतवर्ण पुष्प (B. tomentosa Linn.) में होता है। यह पश्चिमोत्तर भारत तथा श्रीलंका में विशेष होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन (कषायद्रव्य), शर्करा और भूरे रंग की गोंद होती है। बीजों से १६·५% एक पीतवर्ण तैल निकलता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु **रस**—कषाय **विपाक**—कटु
वीर्य—शीत **प्रभाव**—गण्डमालानाशन

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष, लघु एवं कषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन और कृमिघ्न है तथा बड़ी मात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह कषायशीत होने से रक्तस्तम्भन है। लसिकाग्रन्थियों पर इसकी क्रिया विशिष्ट होती है और उनके शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह कषाय होने से आर्त्तवस्राव को कम करता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—रूक्ष होने के कारण यह लेखन है और मेद को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके क्वाथ से व्रणों एवं चर्मरोगों का प्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में इसकी छाल का लेप करते हैं। इसकी छाल, बबूल की फली और अनार के फूलों का क्वाथ बनाकर लालाप्रसेक और मुखपाक में गण्डूष कराते हैं। गुदभ्रंश में इसके क्वाथ से परिषेक करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से इसका प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका, गुदभ्रंश, अर्श रोगों में करते हैं। कृमि में भी देते हैं। वामक द्रव्यों के साथ सहायक रूप में इसका प्रयोग होता है। पुष्पों का गुलकन्द विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। गण्डमाला एवं लसीका-ग्रन्थियों की वृद्धि में यह प्रशस्त औषध है।

श्वसनसंस्थान—कास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तम्भन होने से रक्तप्रदर में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह कुष्ठरोग में दिया जाता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक् और पुष्प।

मात्रा—त्वक्चूर्ण-३-६ ग्रा०; क्वाथ-४०-८० मि० लि०; पुष्पस्वरस-१०-२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—काञ्चनारगुग्गुलु; काञ्चनारादिक्वाथ, काञ्चनगुडिका।

× × ×

काञ्चनारो हिमो ग्राही तुवरः श्लेष्मपित्तहृत्। कृमिकुष्ठगुदभ्रंशगण्डमालाव्रणापहा॥
कोविदारोऽपि तद्वत् स्यात् तयोः पुष्पं लघु स्मृतम्।
रूक्षं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्षयकासनुत्॥ (भा. प्र.)

कोविदारपुष्पाणि मधुराणि मधुरविपाकानि रक्तपित्तहराणि च। (सु. सू. ४६)

कोविदारस्य······। पुष्पं ग्राहि प्रशस्तं च रक्तपित्ते विशेषतः॥ (च. सू. २७)

F. I., II, 284.
W. I., I, 260-61.

९२. काण्डीर

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)

नाम—लै०-रैननकुलस स्किलरेटस (Ranunculus sceleratus Linn.) सं०-काण्डीर (काण्ड-वाण के समान तीक्ष्ण होने से); काण्डकटुक (कटुरसयुक्त काण्डवाला); नासासंवेदन (तीक्ष्ण होने के कारण); तोयवल्ली (जलीय प्रदेश में उत्पन्न होने के कारण); सुकाण्डक (सुन्दर, सरल काण्डवाला)। हि०-देवकांडर, जलधनिया; बिहार-पलिका; कुमायूँ-सिम, अ०-कबीकजज; फा०-करफस दश्ती; अं०-सेलरीलीव्ड क्रोफुट (Celery-leaved Crowfoot)।

स्वरूप—यह एक कोमल, वर्षायु, सरल, चिकना १-३ फुट ऊँचा क्षुप है। **पत्र**-प्रायः तीन भागों में विभक्त तथा पुनः अनेक खण्डों में विभक्त, धनिया के पत्ते के समान (इसीलिए इसे जलधनिया कहते हैं) होते हैं। मूलीय पत्र दीर्घवृन्त तथा स्कन्धीय पत्र ह्रस्ववृन्त या अवृन्त होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हलके पीले रंग के प्रायः प्रशाखाओं पर लगे होते हैं। **फल**-अनेक, लम्बे, गोलाकार, रोमश आधार पर पिप्पलीसदृश होते हैं। इसकी पत्तियों और शाखाओं में राई के सदृश तीक्ष्ण गन्ध होती है। हेमन्त से वसन्त तक पुष्प-फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सामान्यतः नदियों के किनारे उत्पन्न होता है तथा उष्ण पार्वत्य घाटियों में ५००० फीट की ऊँचाई तक कश्मीर से आसाम तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—समस्त क्षुप में (बीजों को छोड़कर) एक कटु, पीत-वर्ण उड़नशील तैल के रूप में प्रोटोएनिमोनिन (Protoanemonine) नामक पदार्थ होता है जिसके कारण इन पौधों में स्फोटजनक गुणधर्म होते हैं। सुखाने और उबालने पर यह प्रभाव नष्ट हो जाता है। अतः इस रूप में शाक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, ताजे पौधे में सिरेटोनिन (Seratonin) नामक रक्तवाहिनीसंकोचक पदार्थ होता है। अन्य भी कुछ पदार्थ पाये गये हैं। बीजों में १८% प्रोटीन तथा २६% वसाम्ल होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तोत्क्लेशक, स्फोटजनन एवं जन्तुघ्न होता है।

आभ्यन्तर—यह अतितीक्ष्ण और विषाक्त होता है, अतः इसका अन्तः प्रयोग सावधानी से करना चाहिए।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, भेदन एवं कृमिघ्न होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रसग्रन्थियों के शोथ को कम करता है तथा रक्त-शोधक है। आयोडिन के समान इसका कार्य होता है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह रसग्रन्थियों के शोथ में लगाया जाता है। प्लेग की गिल्टियों के लिए यह लाभकर माना जाता है। अतएव यह प्लेग की बूटी के नाम से प्रसिद्ध रही हैं। ध्वजभंग में इसका लेप शिश्न पर करते हैं। इसके अतिरिक्त, चर्मरोग, आमवात आदि में भी लेप लगाते हैं। जन्तुघ्न कर्म के लिए भी इसका उपयोग किया जा सकता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, गुल्म, प्लीहा, उदरशूल, मन्दाग्नि, कृमि आदि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रसग्रन्थियों के शोथ एवं रक्तविकारों में उपयुक्त है। प्लेग में इसकी गोली देने से प्रतिषेध और निवारण दोनों होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०।

× × × +

काण्डीरः काण्डकटुको नासासंवेदनः पटुः। उग्रकाण्डरतोयवल्ली कारवल्ली क्षुकाण्डकः॥
काण्डीरः कटुतिक्तोष्णः सरो दुष्टव्रणार्त्तिजित्। लतागुल्मोदरप्लीहशूलमन्दाग्निनाशनः॥
(ध. नि.)

W. I. viii, 364–365

चतुर्थ अध्याय

छेदनादि वर्ग

(श्वसन–संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

छेदन (श्लेष्महर)

९३. बिभीतक

परिचय

गण—ज्वरहर, विरेचनोपग, (च०); त्रिफला, मुस्तादि (सु०)।

कुल—कॉम्ब्रेटेसी (Combretaceae)।

नाम—लैं०–टर्मिनेलिया बेलरिका (Terminalia bellirica Roxb.); सं०–बिभीतक (विगतं रोगभयमस्मात्–बिभ्यति रोगा अस्मात् इति वा–जिसके सेवन से रोगों का भय जाता रहे); कर्षफल (इसका फल १ कर्ष = २० ग्रा० वजन का होता है); अक्ष (इसके बीज जुआ खेलने में प्रयुक्त होते थे); कलिद्रुम (जुआ में प्रयुक्त होने के कारण ही इसे कलह का वृक्ष कहते हैं), हि०–म०–गु०–बहेड़ा; बं०–बयड़ा; ता०–अक्कम्; ते०–ताडि; अ०–बलीलज; फा०–बलील; अं०–बेल्लिरिक मिरोबेलन (Belliric Myrobalan)।

स्वरूप—इसका वृक्ष लगभग ६०–८० फीट ऊँचा होता है। काण्ड सीधा, लम्बा, काण्डत्वक् गाढे भूरे रङ्ग की तथा काण्डसार कठिन होता है। **पत्र**–३–८ इंच लम्बे, एकान्तर, चौड़े, अण्डाकार, अभिलट्वाकार, प्रशाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध रहते हैं। पत्रवन्त १–२½ इंच लम्बा होता है। **पुष्प**–सफेद या पीताभ; ३–६ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में होते हैं। ऊपर के पुष्प पुल्लिङ्गी तथा नीचे के उभयलिंगी होते हैं। **फल**–½–¾ इञ्च व्यास का, धूसरवर्ण, रोमश, गोलाकार, पीछे की ओर अचानक संकरा जहाँ वृन्त लगा होता है, सूखने पर धारीदार या हलका पञ्चकोणीय दिखता है। फल के भीतर एक बीज होता है।

फरवरी-मार्च में इसके पत्ते झड़कर नये ताम्रवर्ण पल्लव निकलते हैं। उसी के साथ मई तक पुष्प निकलते रहते हैं। वसन्त में पुष्पित होने से यह 'वासन्त' भी कहा जाता है। अगले जनवरी-फरवरी तक फल पक जाते हैं।

फल की मींगी खाई जाती है। किन्तु अधिक खाने पर चक्कर आने लगता है अतः बिभीतकमज्जा मदकृत् कही गई है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है विशेषकर निचले पार्वत्य-प्रदेशों में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—फल में टैनिन २१·४%, बी-सिटोस्टेरॉल, गैलिक एसिड, इलेगिक एसिड, एथिल गैलेट, चेबुलेजिक एसिड, मैनिटाल, ग्लुकोज, गैलेक्टोज, फ्रक्टोज तथा रैमनोज होते हैं। बीजमज्जा से ३८·६% चमकीले पीले रंग का स्थिर तैल निकलता है। इसकी छाल में १·४-७% टैनिन होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु **रस**—कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, लघु, कषाय होने से कफ का, कषाय-मधुर होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोपहर है किन्तु विशेष कर्म कफ पर होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, रक्तस्तम्भन एवं कृष्णीकरण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसकी मज्जा मादक और वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने के कारण दीपन, अनुलोमन एवं कृमिघ्न है। इसका अर्धपक्व फल रेचन और पक्व-शुष्क फल ग्राही है। यह तृष्णानिग्रहण और छर्दिनिग्रहण भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह कषाय होने से रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिकाओं के शोथ को दूर करता है और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इसकी मज्जा वाजीकरण है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—इसका कर्म विशेष रूप से रस, रक्त, मांस और मेद धातुओं पर होता है। मधुरविपाक होने से यह धातुवर्धक है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में होता है किन्तु कफप्रधान विकारों में यह विशेष उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों में इसके फल का लेप करते हैं तथा इसके बीजों का तैल लगाते हैं। तैल का प्रयोग चर्मरोग, अग्निमान्द्य, श्वित्र तथा पालित्य में करते हैं। इसके फल का टुकड़ा भूनकर प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा स्वरभंग में मुख में रख कर चूसते हैं। इससे कफ आसानी से निकल जाता है।

सद्योव्रण में इसका चूर्ण देने से रक्त रुक जाता है। अभिष्यन्द में इसका लेप नेत्र पर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातव्याधि, अनिद्रा आदि में इसकी मज्जा का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आध्मान, तृष्णा, छर्दि, अर्श एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। इसका अर्धपक्व फल विबन्ध में तथा पक्व शुष्क फल अतिसार-प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह आभ्यन्तर रक्तस्राव को रोकता है, विशेषकर रक्तनिष्ठीवन में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेद में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसका एक बीज प्रतिदिन सेवन करने से क्लैब्य रोग में लाभ होता और कामोत्तेजना बढ़ती है।

तापक्रम—ज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—यह सामान्यदौर्बल्य में विशेषतः रस, रक्त, मांस और मेद के विकारों में प्रयुक्त होता है।

नेत्र—यह अनेक नेत्ररोगों में व्यवहृत होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—बिभीतक तैल, त्रिफलाचूर्ण, फलत्रिकादि क्वाथ, तालीशादि चूर्ण, लवंगादि वटी।

× × × ×

'बिभीतकं स्वादुपाकं कषायं कफपित्तनुत्। उष्णवीर्यं हिमस्पर्शं भेदनं कासनाशनम्।
रूक्षं नेत्रहितं केश्यं कृमिवैस्वर्यनाशनम्। बिभीतमज्जा तृट्छर्दिकफवातहरी लघुः॥
कषाया मदकृच्चाथ धात्रीमज्जापि तद्गुणा।' (भा. प्र.)

'रसासृङ्मांसमेदोजान् दोषान् हन्ति बिभीतकम्। स्वरभेदकफोत्क्लेदपित्तरोगविनाशनम्॥'
(च. सू. २७)

'भेदनं लघु रूक्षोष्णं वैस्वर्यकृमिनाशनम्। चक्षुष्यं स्वादुपाक्याक्षं कषायं कफपित्तजित्॥'
'बैभीतको मदकरः कफमारुतनाशनः।' (सु. सू. ४६)

W. I., X, 164-67
F. I., II, 445

९४. वासा

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-अधाटोडा वासिका (Adhatoda vasica Nees) सं०-वासा, वासक, वासिका (वासयति आच्छादयति—जो सघन होने के कारण प्रदेश को आच्छादित कर ले); सिंहास्य (सिंह-मुख के सदृश पुष्प-वाला); वाजिदन्त (घोड़े के दाँत के सदृश श्वेत पुष्प वाला); वृष (वर्षति मधु—इसके पुष्पों में अधिक मधु होता है); आटरूषक; हिं० अडूसा, वाकस; बं०-बाकस; पं० वांसा; म०-अडुलसा; गु०-अरडुसो; ता०-एधाडड; ते०-आदासरा; अं०-मलाबार नट (Malabar Nut)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार, समूहजात **क्षुप**-४-८ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-८ इञ्च लम्बे, रोमश, दुर्गन्धयुक्त, अंडाकार या अंडाकार-भालाकार, दोनों छोर पर संकोर्ण, लंबाग्र होते हैं। **पत्रवृन्त**-१ इञ्च लंबा होता है। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, बड़े १-३ इञ्च लंबे, द्वि-ओष्ठी (सिंहमुखवत्) प्रशाखाग्रों के शीर्षभाग पर स्थित १-३ इञ्च लंबी मंजरियों में लगे होते हैं। प्रायः एक साथ अनेक मंजरियाँ निकलती हैं। वृन्तपत्रक-लट्ठाकार या अंडाकार, ¾ इञ्च लम्बे तथा कोणपुष्पक ½ इञ्च लम्बे होते हैं। बहिर्दल-⅓-½ इञ्च लम्बे, पञ्चखण्डी, खण्ड सम, भालाकार; अन्तर्दल-नलिका का मूलभाग छोटा, उसके बाद फूला हुआ; मध्यभाग में आड़ी गुलाबी या पीली रेखायें; दलोष्ठ लगभग ¾ इञ्च लम्बे होते हैं। पुंकेशर मूलभाग में रोमश होते हैं। फली ¾ इञ्च लम्बी, रोमश, मुद्गराकार, होती है जिसमें ४ बीज होते हैं। बीज छोटे, चिकने, ग्रन्थिमय, सिकुड़नयुक्त होते हैं। पुष्प-फरवरी-मार्च में आते हैं।

जाति—कृष्ण वासा के नाम से Justicia gendarussa Linn. f. नामक पौधा बंगाल में प्रचलित है। इसी प्रकार Adhatoda beddomei Clarke केरल में प्रचलित है। ये सामान्य वासा से अधिक गुणकारी माने जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ४००० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें गन्धयुक्त उड़नशील तैल, वसा, राल, एक तिक्त क्षाराभ 'वासिकिन' (Vasicine), एक कार्बनिक अम्ल 'अधाटोडिक अम्ल' (Adhatodic acid), शर्करा, गोंद, रंजक द्रव्य और लवण पाये जाते हैं। पत्तियों से एक पीला रंग भी निकाला जाता है। वासिकिन नामक क्षाराभ की मात्रा त्वक् में ०·३५% तथा पत्तियों में ०·२-०·४ प्रतिशत तक होती है। वासा की औषधीय क्रिया मुख्यतः वासिकिन तथा सुगंधित तैल के कारण होती है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष तथा तिक्त-कषाय होने से कफ का एवं शीत तथा तिक्त-कषाय होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप शोथहर, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह प्राणदा नाडी को अवसादित करता है।

पाचनसंस्थान—कषाय और शीत होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है। अधिक मात्रा में देने पर हृत्पेशी एवं उसकी नाडी (प्राणदा) को अवसादित करने के कारण यह रक्तभार को कुछ कम करता है यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन भी है क्योंकि यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है।

श्वसनसंस्थान—इस संस्थान पर इसकी मुख्य क्रिया होती है। यह कफ को पतला कर बाहर निकालता है तथा श्वासनलिकाओं का प्रसार करता है। यह प्रसार कम किन्तु स्थायी होता है। इस प्रकार यह श्लेष्महर, कासहर, कण्ठ्य एवं श्वासहर है। इसकी क्रिया बहुत कुछ इपीकॅकुआना के सदृश होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धात्वग्नियों को उद्दीप्त कर धातुनिर्माण-क्रिया को ठीक करता है। जिससे क्षय दूर होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तविकारों में करते है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, व्रणशोथ तथा नाडीशूल में इसके कल्क का प्रलेप करते हैं। चर्मरोगों में इसके पत्र का लेप करते हैं। अपतंत्रक, अपस्मार आदि में इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। इसका पत्रस्वरस बाह्य कृमियों को मारने के लिये भी प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन होने से अतिसार एवं प्रवाहिका विशेषतः रक्तज में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, रक्तनिष्ठीवन तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं यक्ष्मा में अतीव उपयोगी है। इससे कफ पतला होकर आसानी से बाहर निकलता है, कास का जो निरन्तर वेग आना रहता है वह कम होता है, श्वासनलिकाओं का प्रसार होकर दम फूलना कम हो जाता है

और यदि कफ के साथ या खाँसी के बाद मुंह से रक्त आता हो तो वह भी बन्द हो जाता है। इसके अतिरिक्त क्षय, ज्वर आदि भी दूर होता है। पत्तियों के चूर्ण में थोड़ी धतूरे की पत्ती मिलाकर धूम्रपान करने से श्वास का वेग शान्त हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके पुष्प मूत्रकृच्छ्र मूत्रदाह एवं पैत्तिक प्रमेह में प्रयुक्त होते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मविकारों में इसका सेवन कराते हैं।

तापक्रम—इसका प्रयोग ज्वर में करते हैं।

सात्मीकरण—यह क्षयरोग में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र एवं पुष्प।

मात्रा—पत्रस्वरस–१०–२० मि० लि०; पुष्पस्वरस–१०–२० मि० लि०; मूल-क्वाथ–४०–८० मि० लि०।

विशिष्ट योग—वासावलेह, वासारिष्ट, वासापानक, वासाचन्दनादि तैल।

× × × ×

'वासको वातकृत् स्वर्यः कफपित्तास्रनाशनः। तिक्तस्तुवरको हृद्य लघुः शीतस्तृड्र्त्तिहृत्॥
'श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठक्षयापहः।' (भा. प्र.)

'वृषपुष्पं···कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते।' (च. सू. २७)

'वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुर्विपाकानि क्षयकासापहानि च।'(सु. सू. ४६)

'वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च।
रक्तपित्ती क्षयी कासी किमर्थमवसीदति॥' (वृ. मा.)

W. I., I, 31–32.

९५. तालीश

परिचय

गण—शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—देवदारु-कुल–(पाइनेसी–Pinaceae)

नाम—लै०–एबीज वेबियाना (Abies webbiana Lindle) सं–तालीश पत्राढ्य (सदा हरित पत्रों से युक्त); धात्रीपत्र (आमले के सदृश पत्र वाला) शुकोदर (हरितवर्ण होने से)। हि०–तालीसपत्र; बं०–तालीशपत्र; ता०–ते०–तालीसपत्री, कश्मीर०–बुदुल; अं०–हिमालयन सिलवर फर (Himalayan Silver fir)।

स्वरूप—इसके सदाहरित, काले, दृढ पत्राच्छादित वृक्ष १५०–२०० फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड की परिधि प्रायः ३० फीट होती है। शीर्ष गोलाकार तथा शाखायें समानान्तर फैली रहती हैं। नवीन शाखायें सूक्ष्म और भूरे रंग के रोमों से ढंकी और झुकी हुई होती हैं। **पत्र**–१–२ इञ्च लम्बे, ⅛ इञ्च चौड़े, रेखाकार, चपटे, हरित वर्ण, चमकीले, नताग्र, और अग्रभाग पर दो तीक्ष्ण और कठोर नोकों से युक्त

होते हैं। पत्रोदर पर एक नलिका सी होती है। पत्रपृष्ठ पर मध्यसिरा उठी रहती है। पत्रवृन्त अत्यन्त छोटा होता है। पत्र ८–१० वर्षों तक वृक्ष पर स्थायी रहते हैं। ये कांड में पेंचदार क्रम में निकलते हैं किन्तु देखने में दो पंक्तियों में निकले मालूम होते हैं। पुंफल–अवृन्त, एकाकी या गुच्छों में होते हैं। **स्त्रीफल**–लंबगोल, ४–६ इञ्च लंबा, १½–३ इंच व्यास का, वर्षपाकी होता हैं। **बीज**—½–१ इञ्च लंबे पक्ष से युक्त; अंडाकार या आयताकार होते हैं।

वक्तव्य—इसकी एक प्रजाति A. pindrow Royle पश्चिमी हिमालय में होती है। उपर्युक्त वृक्ष से यह बहुत मिलता-जुलता है। इसकी पत्तियां कुछ बड़ी होती है। इसे जौनसार में मोरिण्डा और कुमायूं में रोधा कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सिक्किम, भूटान तथा पश्चिमी हिमालय में ७–१२ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में एक उड़नशील तैल होता है। पेड़ से एक सफेद राल भी निकलती है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त-उष्ण होने से रोचन, दीपन, वातानुलोमन है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्त, कटु, तीक्ष्ण और उष्ण होने से श्लेष्महर तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धात्वग्नि का वर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान एवं गुल्मरोग में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास, स्वरभेद तथा यक्ष्मा में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रवह स्रोत के शोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में विशेषकर वातश्लैष्मिक में अधिक लाभकर है। श्वास-नलिका तथा फुफुस के शोथ में भी अतिशय उपयुक्त है। इसमे ज्वर शान्त होता है, कफ आसानी से निकलता है तथा छाती की पीड़ा दूर होती है।

सात्मीकरण—क्षयरोग एवं दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—चूर्ण-२–५ ग्रा०।

विशिष्ट योग—तालीशाद्य चूर्ण, तालीशादि वटी।

× × ×

'तालीशमुक्तं पत्राढ्यं धात्रीपत्रं च तत् स्मृतम्।
तालीशं लघु तीक्ष्णोष्णं श्वासकासकफानिलान्।।
निहन्त्यरुचिगुल्मामवह्निमान्द्यक्षयामयान्।।' (भा. प्र.)
'तालीशपत्रं तिक्तोष्णं मधुरं कफवातनुत्।
कासहिक्काक्षयश्वासच्छर्दिदोषविनाशकृत्॥' (रा. नि.)

W. I., V, 654.

९६. लवंग

परिचय

कुल—लवंग-कुल-(मिर्टेसी–Myrtaceae)।

नाम—लै०-सिजिगियम एरोमेटिकम (Syzygium aromaticum (Linn.) Merr. & Per.) सं०—लवंग, देवकुसुम (देवताओं का फूल–फूलों में श्रेष्ठ); श्रीप्रसून (सुन्दर पुष्प वाला); चन्दनपुष्पक (चन्दन के समान सुगन्धित पुष्प), वारिज (जलवेष्टित द्वीपों में होने से); हि०—लवंग, लौंग; म०–गु०—लवंग; बं०—लवंग; ता०—किराम्बू; ते०—कारावल्लु; अं०—क्लोव (Clove)।

स्वरूप—इसका सदाहरित वृक्ष ३०–४० फीट ऊँचा होता है। काण्ड से चारों ओर कोमल और अवनत शाखायें निकल कर फैली रहती हैं। **पत्र**-हरितवर्ण, ३–६ इञ्च, अण्डाकृति होते हैं। **पुष्प**-सुगन्धित, बैंगनी रंग के होते हैं। फल-लवंगाकृति होता है जो मातृलवंग (mother clove) कहा जाता है। पुष्पकलियों को ही सुखाकर बाजारों में लवंग के नाम से बेचते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान मलक्का द्वीप है। जंजीबार में इसकी विशेष उपज होती है। इसके अतिरिक्त पिनांग, मारिशस एवं श्रीलंका द्वीपों में भी उपजाया जाता है। भारत में अधिकांश तंजानिया और सिंगापुर से आता है। कालिदास ने द्वीपान्तर से लवंगपुष्पों के आने की बात कही है (द्वीपान्तरानीत-लवंगपुष्पैः—रघु० ६।५७)। भारत में तामिलनाडु और केरल में लगाया गया है।

संग्रह—७–८ वर्ष की आयु में पेड़ों मे कलियाँ लगने लगती हैं। ३०–६० वर्ष के वृक्षों से पूरी उपज मिलती है। अविकसित कलिकायें पेड़ों पर चढ़ कर तोड़ी जाती है। जब ये कलिकायें हरी से कुछ गुलाबी होने लगती हैं तभी तोड़ने का उपयुक्त समय होता है। यह भिन्न-भिन्न देशों में विभिन्न होता है। केरल में जनवरी-फरवरी तथा नीलगिरि में जून में संग्रह किया जाता है। कहीं-कहीं दो फसलें ली जाती हैं। एक पेड़ से लगभग २½–४½ किलो लवंग प्राप्त होता है। तोड़ने के बाद कलियों को हाथ से रगड़कर वृन्त को अलग करते हैं और फिर चटाई या पक्के फर्श पर फैला कर धूप में ४–५ दिनों तक सुखाते हैं। सुखा कर रख लेते हैं। सुखाने से लगभग ६०% तौल कम हो जाता है।

मानक—लवंग रक्ताभ भूरे रंग का, १२–१६ मि. मी. लंबा, किंचित् रूक्ष, आधारभाग किंचित् बेलनाकार, शीर्षभाग पर गेंद के सदृश मुकुलित अन्तःकोष जिसके ऊपर चतुर्दन्त बाह्यकोष स्थित रहता है। निचले भाग को दबाने पर कुछ तैल निकलता है। इसमें तीक्ष्ण सुगन्ध और कटुरस होता है। मानक के अनुसार इसमें उड़नशील तैल १५ प्रतिशत तथा राख ७ प्रतिशत होनी चाहिए।

रासायनिक संघटन—सूखे लवंग में आर्द्रता २५.२, प्रोटीन ५.२, वसा ८.९, सूत्र ९.५, अन्य कार्बोहाइड्रेट ४६, खनिज द्रव्य ५.२ प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त, कैल्शियम ७४०, फास्फोरस १००, लोह ४.९ मि. ग्रा. तथा आयोडिन ५०.७ मा० ग्रा०। प्रति १०० ग्रा० होता है। विटामिनों में कैरोटिन २५३ मा० ग्रा०, थायमिन ०.०८ मि. ग्रा. रिबोफ्लेविन ०.१३ मि. ग्रा., निकोटिनिक एसिड १.५१ मि. ग्रा.। प्रति १०० ग्राम होते हैं। टैनिन (गैलोटैनिक एसिड) १३% होता है।

लवंग से एक सुगंधित तैल (Clove bud oil) १४·२३% निकलता है। इसमें युजिनॉल (७०-९०%), युजिनाल एसिटेट (२-१७%), तथा कैरियोफाइलिन (Caryophyllene) मुख्य घटक होते हैं। जंगली लवंग से कम (४-६%) तैल निकलता है जिसमें युजिनाल भी नहीं होता।

इसी प्रकार पुष्पवृन्तों से (Clove stem oil) ५·५–७%, पत्तियों से (Clove leaf oil) ४–५%, लवंगफल (Mother of clove) से ६·५% तथा मूल से ६% उड़नशील तैल प्राप्त होता है। औषधीय उपयोग में केवल कलिकाओं का ही तैल आता है। व्यापारिक स्तर पर लवंगतैल जंजीबार और पेम्बा तथा कुछ श्रीलंका, पेनांग और इण्डोनेशिया में इसका निर्माण होता है। भारत में लवंग-तैल फ्रांस, ब्रिटेन, हालैण्ड तथा तञ्जानिया से आता है।

गुण

गुण–लघु, स्निग्ध **रस**–तिक्त, कटु
विपाक–कटु **वीर्य**–शीत

कर्म

दोषकर्म—तिक्त-कटु होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक एवं कृमिघ्न होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु-तिक्त होने से दीपन, पाचन, रुचिवर्धक है। यह तीक्ष्णता के कारण लालाग्रंथियों को उत्तेजित करता है जिससे लालास्राव अधिक होता है और मुखशोष दूर होता है। सुगन्ध के कारण मुख-दुर्गन्धनाशन तथा कटुता के कारण वैशद्यकर है। स्निग्ध होने से वातानुलोमन एवं शूलप्रशमन है। यह यकृत् को भी उत्तेजित करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय एवं रक्तसंवहन को उत्तेजित करता है तथा रक्तभार को बढ़ाता है। रक्तविकारों को भी तिक्त होने के कारण दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर, श्लेष्मपूतिहर तथा श्वासहर है। यह श्वास-नलिकाओं की श्लेष्मल कला को उत्तेजित करता है जिससे कफ आसानी से बाहर निकलता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण, स्तन्यजनन एवं स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह वृक्कों को उत्तेजित करता है और मूत्रजनन है।

त्वचा—यह त्वचा को उत्तेजित करता है तथा उसके विकारों को दूर करता है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से आमपाचन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटु-तिक्त होने से यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और क्षय को दूर करता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग श्वास, पित्त, स्तन्य, स्वेद एवं मूत्र के द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल तथा प्रतिश्याय में ललाट में इसका लेप करते हैं। मुखरोगों तथा कण्ठरोगों में लवंग चूसते हैं। लवंग का लेप चर्मरोगों में भी करते हैं। लवंग का तैल आमवात, कटिशूल, गृध्रसी आदि वातविकारों में मालिश करते हैं। दन्तकोटर या दन्तशूल में इसका तैल रूई में भिगो कर कोटर में दबा कर रखते हैं इससे कृमि मर जाते हैं और शूल शान्त हो जाता है। ध्वजभंग रोग में इसका तैल शिश्न पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, अम्लपित्त, छर्दि एवं तृष्णा में इसका प्रयोग होता है। यकृद्विकारों में भी यह प्रयुक्त होता है। जीर्ण ग्रहणीरोग तथा अम्लपित्त के लिए यह प्रशस्त है। अम्लपित्त में यह आमदोष का पाचन कर अग्नि को दीप्त कर पाचन-प्रक्रिया को व्यवस्थित करता है, पित्त के विदाह को शान्त करता है तथा द्रवत्व का भी शोषण करता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका व्यवहार हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में किया जाता है। फिरंग, उपदंश में भी यह कार्यकर होता है। इसका एक योग 'देवकुसुमादि रस' इन रोगों में दक्षिण भारत में बहुत प्रचलित है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं हिक्का में प्रयुक्त होता है। क्षयरोग में यह कास को शान्त करता है, कफ की दुर्गन्ध को दूर करता है और उदरविकारों को ठीक करता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रस्तम्भन योगों में दिया जाता है। स्तन्यवृद्धि तथा स्तन्यशोधन के लिए भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह चर्मविकारों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग होता है। लवंगोदक का प्रयोग ज्वरों के लिए प्रशस्त माना गया है। इससे आमदोष का पाचन होता है तथा तृष्णा, छर्दि आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा क्षयरोग में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग – पुष्पकलिका।

मात्रा—१–२ ग्रा०, तैल–१–३ बूंद।

विशिष्ट योग—लवंगादि चूर्ण, लवंगचतुःसम, लवंगादि वटी, लवंगोदक, अविपत्तिकर चूर्ण।

× × × ×

'लवंगं देवकुसुमं श्रीसंज्ञं श्रीप्रसूनकम्। लवंगं कटुकं तिक्तं लघु नेत्रहितं हिमम्।
दीपनं पाचनं रुच्यं कफपित्तास्रनाशनम्। तृष्णां छर्दिं तथाध्मानं शूलमाशु विनाशयेत्॥
कासं श्वासं च हिक्कां च क्षयं क्षपयति ध्रुवम्।' (भा. प्र.)

'···लवंगं च तिक्तं कटु कफापहम्। लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्॥'
(सु. सू. ४६)

'धार्याण्यास्येन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता।···लवंगस्य फलानि च॥' (च. सू. ५)

'पिपासायामनुत्क्लेशे लवंगस्याम्बु शस्यते।' (च. द.)

'देवपुष्पोद्भवं तैलमग्निकृद्वातनाशनम् ।
दन्तवेष्टकफार्तिघ्नं गर्भिण्या वमनापहम् ॥' (आ. वि.)

W. I., X, 93–99.

I. P., 195–96.

९७. त्वक् (दारुसिता)

परिचय

गण—एलादि (सु०), त्रिजात (अ० वृ०) ।

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी-Lauraceae) ।

नाम—लै०-सिनेमोमम् जिलेनिकम (Cinnamomnm zeylanicum Breyn); सं०-त्वक् (छाल का प्रयोग होने के कारण); उत्कट (तीक्ष्ण होने के कारण) । हि०-दालचीनी, बं०-दारुचिनि; म०-गु०-तज, ता०-कारुया; ते०-सानलिफु; अ०-दारसीनी, किर्फा; फा०-दारचीनी; अं०-सिनेमन (Cinnamon) ।

स्वरूप—इसका सदाहरित प्रायः २०–२५ फीट (श्रीलंका में ६० फीट तक) ऊँचा होता है । इसकी छाल नये वृक्षों से लेने पर चिकनी पाण्डुवर्ण तथा पुराने वृक्षों की रुखड़ी और भूरे रंग की, प्रायः ५ मि० मी० मोटी और भंगुर होती है। लगभग काण्डसार हलके भूरे रंग का किंचित् सुगन्धित होता है । **पत्र**-अभिमुख, चर्मवत् , ४–७ इञ्च लंबे होते हैं। उनका ऊपरी भाग चमकीला होता है और सिरायें ३–५ होती है पत्तियों के मसलने पर तीक्ष्ण गंध आती है, स्वाद भी इनका कटु होता है। **पुष्प**-लंबे पुष्पदंडों पर, गुच्छों में दुर्गन्धयुक्त होते हैं। **फल**-½–१ इंच लम्बे, अण्डाकार, गहरे बैंगनी रंग के, घंटिकाकार परिपुष्प से आवृत होते हैं जिनके भीतर एक बीज होता है। फलों को तोड़ने पर भीतर से तारपीन की सी गन्ध आती है। पुष्प जनवरी में तथा फल मई-अगस्त में पकते हैं ।

जाति—देशभेद से यह व्यवहार में तीन प्रकार की मिलती है :—(१) **चीनी**-यह चीन से आती है। यह कैशिया सिनेमन (Cassia Cinnamon) के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी छाल मोटी होती है। (२) **सिंहली**-यह लंका से आती है और सबसे पतली, चीनी जाति से अधिक मधुर तथा कम तीक्ष्ण होती है। यहाँ इसीका वर्णन किया गया है । भावप्रकाश ने इसीका वर्णन दारुसिता के नाम से किया है। तनुत्वक् तथा स्वादुत्वक् इसके पर्याय किये हैं। (३) **भारतीय**-यह हिमालय प्रदेश में ३–८ हजार फीट की ऊँचाई पर विशेषतः आसाम और सिक्किम में मिलती है। इसका लैटिन नाम 'सिनेमोमम् तमाल' (Cinnamomum tamala Nees & Eberm) है। यह मोटी, कम तीक्ष्ण तथा जल में पीसने से लुआबदार हो जाती है। इसीके पत्र का व्यवहार 'तेजपत्र' के नाम से होता है। व्यवहार में सिंहली जाति को दालचीनी तथा चीनी तथा भारतीय जाति को 'तज' कहते हैं। बंगाली कविराज सम्भवतः चीनी जाति को 'नालुका' के नाम से शोथहर लेप के रूप में व्यवहार करते हैं। इन सबमें सिंहली सर्वोत्तम मानी जाती है क्योंकि यह विशेष सुगंधि और मधुर होती है ।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिणपश्चिम भारत में समुद्र किनारे तथा श्रीलंका में ३५०० फीट की ऊँचाई तक होता है ।

रासायनिक संघटन—छाल में एक तैल ½–१% होता है जिसमें cinnamaldehyde ५०–६५% तथा Eugenol ६०–६५% होता हैं। यह हलके पीले रंग का किन्तु रखने पर लाल हो जाता है। पत्तियों से गहरे भूरे रंग का फल तथा लवंग के सदृश गन्ध वाला १% तेल निकलता है। यह कनारा तथा मलाबार में विशेषतः बंगलोर में निकाला जाता है। पत्तियों के तेल में लवंग के समान युजिनोल ७०–९५% होता है। मूलत्वक् से ३ प्रतिशत रंगहीन कर्पूरगन्धि तैल निकलता है। बीजों से ३३ प्रतिशत स्थिर तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक एवं पित्तवर्धक है। जिसमें माधुर्य अधिक होता है वह पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक, वेदनास्थापन एवं लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह कटु, तिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन, वातानुलोमन यकृदुत्तेजक एवं ग्राही है। यह जन्तुओं को भी नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, ओजोवर्धक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर और यक्ष्मानाशक है। इसमें स्थित सिनेमिक एसिड नामक तत्त्व यक्ष्मानाशक (Anti-tubercular) माना जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है, अतः यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक तथा वाजीकरण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों से प्रयुक्त होते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखशोधन, मुखदुर्गन्धनाशन एवं दाँतों को मजबूत

बनाने के लिए दालचीनी मुख में रखते और चबाते हैं। इससे वमन और उत्क्लेश भी बन्द होता है। न्यच्छ, व्यंग आदि चर्मरोगों में इसका पतला लेप करते हैं। नाडी-शूल एवं शिरःशूल में इसका लेप लाभकर होता है। शोथवेदनायुक्त स्थानों पर भी इसका लेप करते हैं। दाँतों में कोटर और शूल होने पर दालचीनी का तेल १–२ बूँद रूई में देकर कोटर में रखते हैं या दाँतों के तले दबाते हैं। ध्वजभंग में इसके तैल का शिश्न पर मर्दन करते हैं या पीस कर लेप करते हैं। बिच्छू आदि के काटने पर भी दंशस्थान में इसका तेल लगाते हैं। इससे शोथ और वेदना शान्त हो जाती है। क्षयज व्रण (T. B. ulcers) पर इसका तेल लगाने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, उदरशूल, ग्रहणी तथा अर्श में लाभकर है। जन्तुघ्न भी होने से आन्त्रिक ज्वर में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है। अनेक रक्तविकारों तथा जीवाणुजन्य रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर होने से कास, श्वास में प्रयुक्त होता है। राजयक्ष्मा में इसका तैल खिलाते हैं या सूचीवेध से देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, गर्भाशयशैथिल्य एवं क्लैब्य रोग में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, तैल, पत्र।

मात्रा—त्वक्चूर्ण १–३ ग्रा०; पत्रचूर्ण १–३ ग्रा०; तैल २–५ बूँद।

विशिष्ट योग—सितोपलादि चूर्ण।

× × ×

त्वचं लघूष्णं कटुकं स्वादु तिक्तं च रूक्षकम्। पित्तलं कफवातघ्नं कण्डूवामारुचिनाशनम्॥
हृद्बस्तिरोगवातार्शःकृमिपीनसकासजित्।'
'त्वक् स्वाद्वी तु तनुत्वक् स्यात्तथा दारुसिता मता।
उक्ता दारुसिता स्वाद्वी तिक्ता चानिलपित्तहृत्॥
सुरभिः शुक्रला वर्ण्या मुखशोषतृषापहा।'
'पत्रकं मधुरं किञ्चित्तीक्ष्णोष्णं पिच्छिलं लघु।
निहन्ति कफवातार्शोहृल्लासारुचिपीनसान्॥' (भा. प्र.)
'वह्निमान्द्यानिलहरमाध्मानाक्षेपनाशनम्। वान्त्युत्क्लेशप्रशमनं संग्राहि दशनार्तिहृत्॥
त्वाचं तैलं रजःस्रावि तोये क्षिप्तं निमज्जति।' (आ. वि.)

W. I., II, 178–183.

९८. यष्टीमधु

परिचय

गण—कण्ठ्य, जीवनीय, सन्धानीय, वर्ण्य, कण्डूघ्न, मूत्रविरजनीय, शोणितस्थापन, छर्दिनिग्रहण, स्नेहोपग, वमनोपग, आस्थापनोपग (च०); काकोल्यादि, सारिवादि, अञ्जनादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०–ग्लिसिराइजा ग्लैब्रा (Glycyrrhiza glabra Linn.) सं०–यष्टीमधु (मधुर कांड और मूल वाला); मधुक (मीठा); क्लीतक (बाहर से खरीद कर आने वाला); हि०–मुलेठी, जेठीमधु; बं०–यष्टिमधु; म०–जेष्ठीमध; गु०–जेठीमध; ता०–अतिमधुरम्; ते०–यष्टिमधुकम्; अ०–अस्लुस्सूस; फा०–बेखमरक; अं०–लाइकरिस (Liquorice)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप या गुल्मक ६ फुट तक ऊँचा होता है। **मूल**–लम्बा, झुर्रीदार, धूसरवर्ण तथा छिलका हटाने पर पीला रेशेदार होता है। मूल तथा काण्ड से शाखा-प्रशाखायें निकलती हैं। **पत्र**–संयुक्त, पत्रक अण्डाकार, पक्ष ४–७ जोड़े होते हैं। **पुष्प**–गुलाबी या बैंगनी रंग के, कक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। **शिम्बी**–१ इञ्च लम्बी, चपटी होती है जिसमें २–३ बीज वृक्काकार होते हैं। इसका भूमिगत तना और जड़ सुखा कर छिलका हटा कर या छिलकासहित प्रयोग में लाया जाता है।

जाति—आयुर्वेदीय ग्रन्थों में यह जलज और स्थलज दो प्रकार की कही गई है। जलज को मधूलिका भी कहते हैं। देशभेद से इसकी तीन जातियाँ यूनानी हकीमों ने की हैं :—(१) मिस्री (२) अरबी और (३) तुर्की। इनमें उत्तरोत्तर माधुर्य कम होता है, अतः मिस्री सर्वोत्तम, अरबी मध्यम और तुर्की अधम मानी जाती है।

वानस्पतिक दृष्टि से भी यह तीन जातियों से निकलती है :—

१. G. glabra var. typica Regel & Herd. यह स्पेनी मुलेठी (spanish liquorice) कही जाती है क्योंकि इसका संग्रह मुख्यतः सिसिली और स्पेन में होता है। यह मधुरतम, विशिष्टगन्धयुक्त तथा तिक्ततारहित होने से सर्वोत्तम मानी जाती है।

२. G. glabra var. glandulifera Waldst. & Kit. दक्षिणी रूस में वन्य रूप से यह होती है। इसमें मधुरता के साथ कुछ तिक्तता एवं कटुता मिली रहती है। इसे रूसी मुलेठी (Russian liquorice) कहते हैं।

३. G. glabra var. violacea Boiss. यह मुख्यतः इराक में टाइग्रिस तथा युफ्रेटिस नदियों की घाटियों में होती है अतः यह फारसी मुलेठी (Persian

liquorice) कहलाती है। यह प्रायः अन्य जातियों से स्थूल होती है। ये जातियाँ यूनानी हकीमों की क्रमशः मिस्री, तुर्की और अरबी प्रतीत होती हैं। आयुर्वेद की जलज मधुयष्टी फारसी मुलेठी है जो नदियों की घाटियों में होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह मिस्र, अरब, तुर्किस्तान, ईरान, अफगानिस्तान, एशिया माइनर, मध्य एशिया, रूस, दक्षिण यूरोप, चीन में होती है। जम्मू-कश्मीर, देहरादून और दिल्ली में इसके उत्पादन के प्रयोग किये गये हैं।

रासायनिक संघटन—मुलेठी में ग्लिसिराइजिन (Glycyrrnizin) नामक प्रमुख घटक होता है जो ग्लिसिराजिक एसिड के रूप में रहता है। यह चीनी से ५० गुना अधिक मीठा होता है तथा इसके माधुर्य की प्रतीति १:२००० विलयन में भी होती है। गरम पानी में इसका बनाया विलयन ठंढा करने पर जम जाता है। ग्लिसिराजिन मधुयष्टी की विभिन्न जातियों में २–१४% होता है। यह पौधे के भूमिगत भागों में ही पाया जाता है, वायवीय भाग में नहीं। मुलेठी का पीलापन आइसोलिक्विरिटिन (isoliquiritin) नामक ग्लाइकोसाइड (२·२%) के कारण है जो रखने पर अंशतः लिक्विरिटिन (liquiritin) में परिवर्तित हो जाता है। ये दोनों तिक्तरस, मधुरानुरस तथा लालास्राववर्धक हैं। एक स्टिरॉयड इस्ट्रोजन भी पाया गया है। इनके अतिरिक्त, ग्लुकोज ३·८ प्रतिशत तक, सक्रोज २·४–६·५ प्रतिशत, मैनाइट, स्टार्च ३०%, ऐस्पैरेजिन (asparagine), तिक्त पदार्थ, राल २–४ प्रतिशत, एक उड़नशील तैल ०·०३–०·३५ प्रतिशत और एक रंजक पदार्थ पाये जाते हैं। निर्धारित मानक के अनुसार मुलेठी में जलविलेय भाग २० प्रतिशत से कम तथा भस्म (ash) छिलकासहित में १० प्रतिशत या छिलका रहित में ६ प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिए। मुलेठी का घनसत्त्व काले या लाल रंग के लम्बे या चौकोर टुकड़ों में आता है। इसे रूब्बुस्सूस कहते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध	**रस**—मधुर
विपाक—मधुर	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध और मधुर होने से वात का तथा मधुर–शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहशामक, केश्य, वेदनास्थापन एवं शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह नाडियों को बल प्रदान करता है। तथा मेध्य है।

पाचनसंस्थान—यह मधुरस्निग्ध होने से छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, वातानुलोमन और मृदुरेचन है। आमाशयगत अम्लता को कम करता है तथा आमाशयिक क्षत का संधान करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान—स्निग्धमधुर होने से यह कफनिःसारक और कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—शीत होने से यह मूत्रल, मूत्रविरजनीय तथा स्निग्ध होने से मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रवर्धक है।

त्वचा—यह वर्ण्य एवं कण्डूघ्न है तथा चर्मरोगों को नष्ट करता है।

तापक्रम—यह ज्वरशामक है।

सात्मीकरण—यह जीवनीय, सन्धानीय, रसायन एवं बल्य है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह व्रणशोथ एवं विषों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। केश के रोगों (खालित्य, पालित्य) में इसके क्वाथ से बाल धोते हैं। शस्त्र से कट जाने पर यदि पीड़ा हो तो घी में मिलाकर मुलेठी का चूर्ण लेप करने से पीड़ा शान्त हो जाती है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वातविकारों में यह लाभकर है। आमवात में इसका प्रयोग लाभकर देखा गया है। शिरोरोगों में तथा बुद्धिवर्धक के लिए उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा एवं विबन्ध में इसका प्रयोग करते हैं। अन्य रेचन औषधों के साथ भी इसे मिलाते हैं। यह वातानुलोमन होने से उदरशूल को शान्त करता है। मधुर होने से यह आमाशयगत अम्लाधिक्य, अम्लपित्त में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में क्षारों की अपेक्षा इससे अधिक स्थायी लाभ होता है। अमाशयिक व्रण (peptic ulcer) में भी यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों, रक्ताल्पता एवं रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं स्वरभेद के लिए प्रयुक्त होता है। इससे कफ आसानी से निकल जाता है। यक्ष्मा में भी इसका प्रयोग लाभकर है। इससे कफ आसानी से निकलता है, ज्वर शान्त होता है, कास का वेग कम होता है तथा रोगी के बल की वृद्धि होती है। सन्धानीय होने से इससे उरोगत व्रण, क्षत आदि भी दूर होते हैं। पार्श्वशूल भी शान्त होता है। इसके लिए मुलेठी का टुकड़ा या सत्त्व मुख में रखते हैं तथा उसका चूर्ण खिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह एवं पैत्तिक प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रमेह में तथा वाजीकरणार्थ उपयोगी है।

त्वचा—यह वर्णविकार, कण्डू तथा अन्य चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वरों में यह लाभकर है ।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है ।

नेत्र—इसके चूर्ण का सेवन करने से दृष्टिशक्ति बढ़ती है । इसका अञ्जन नेत्ररोगों में देते हैं ।

प्रयोज्य अंग—मूल ।

मात्रा—३-५ ग्रा०

विशिष्ट योग—यष्ट्यादि चूर्ण; यष्ट्यादि क्वाथ, यष्टीमध्वाद्य तैल ।

अपमिश्रण एवं प्रतिनिधि द्रव्य—ग्लिसिराइजा युरालेन्सिस (G. uralensis Fisch.) जो मंचुरियन लाइकरिस (manchurian liquorice) है रूसी मुलेठी के सदृश होने से उसमें मिलावट की जाती है । गुञ्जा के मूल भी मिलाये जाते हैं । अन्य सदृश पौधों की जड़ें भी इसमें मिलाई जाती है ।

× × × ×

'यष्टीमधु तथा यष्टीमधुकं क्लीतकं तथा । अन्यत् क्लीतनकं तत्तु भवेत्तोयमधूलिका ॥

यष्टी हिमा गुरुः स्वाद्वी चक्षुष्या बलवर्णकृत् ।

सुस्निग्धा शुक्रला केश्या स्वर्या पित्तानिलास्रजित् ॥

व्रणशोथविषच्छर्दितृष्णाग्लानिक्षयापहा ।' (भा. प्र.)

कर्षं मधुकचूर्णस्य घृतक्षौद्रसमन्वितम् । पयोऽनुपानं यो लिह्यान्नित्यवेगः स ना भवेत् ॥'

(च. चि. २)

'मण्डूकपर्ण्याः स्वरसः प्रयोज्यः क्षीरेण यष्टीमधुकस्य चूर्णम् ।' (च. चि. १)

या वेदना शस्त्रनिपातजाता तीव्रा शरीरं प्रदुनोति जन्तोः ।

घृतेन सा शान्तिमुपैति सिक्ता कोष्णेन यष्टीमधुकान्वितेन ॥ (सु. सू. ५)

कृष्णप्रसाद मिश्र : डी. एवाई. एम. शोधप्रबन्ध (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७५)

W. I., IV, 151-154.

९९. गोजिह्वा

परिचय

कुल—श्लेष्मातक-कुल (बोरेजिनेसी-Boraginaecae) ।

नाम—लै०-ओनोस्मा ब्रैक्टिएटम (Onosma bracteatum Wall.) सं०-गोजिह्वा (गाय की जीभ के समान खुरदरी); खरपत्रा (खुरदरी पत्तियों वाली), दर्वीपत्रा (कलछुल के सदृश चौड़े और गहरे पत्र वाली); हि०-गाजबाँ; म०, गु०, फा०-गावजबान; अ०-लिसानुस्सौर (वृषजिह्वा) ।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप १५ इंच ऊँचा, दृढ़ तथा रोमश होता है । मूलीय पत्र-६ इञ्च लंबे, १ इञ्च चौड़े, सवृन्त होते हैं । स्कन्धीय पत्र २ इञ्च लम्बे, ¾ इञ्च चौड़े, लंबाग्र, ऊर्ध्व पृष्ठ पर रोमश होते हैं तथा रोमों के मूल गाँठदार

(दानेदार) होते हैं जिससे समूचा पृष्ठ गाय की जीभ के समान खुरदरी प्रतीत होता है । ऊपर के पत्र भालाकार और नीचे के लट्वाकार-भालाकार होते हैं । **पुष्प**-बैंगनी रंग के, सघन, रेशमी, २-३ इञ्च व्यास के मुंडकों में लगते हैं । फल में १ इञ्च लंबे रेखाकार बहिर्दल लगे रहते हैं । **फल**-१/६ इञ्च लम्बे, भूरे, तीक्ष्णाग्र, अण्डाकार होते हैं । पत्तों को जल में भिगोने से लुआब निकलता है । हकीम लोग पत्तों को 'बर्ग गावज़बान' तथा पुष्पों को 'गुले गावज़बान' कहते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर तथा कुमाऊँ में ११,५०० फीट की ऊँचाई तक होता है । ईरान और अफगानिस्तान में भी मिलता है ।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में पिच्छिल द्रव्य प्रचुर परिमाण में होता है । इसके अतिरिक्त, सोडियम ९½%, पोटाशियम १४¾%, कैलशियम २७%, लौह १% एवं मैगनीशियम के लवण होते हैं ।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध, मधुर एवं शीत होने से वातपित्तशामक तथा कफनिःसारक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और व्रणरोपण है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बल्य है ।

पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और मृदुरेचन है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए शामक और बलवर्धक तथा रक्तशोधक है ।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन तथा स्नेहन हैं ।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—यह मधुरविपाक होने से बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में उपयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गावजबान की भस्म को मुखपाक आदि में दाह एवं व्रणशोथ के शमन के लिए दिया जाता है । व्रणों में भी इसका चूर्ण छिड़कते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, मानसिक दौर्बल्य आदि में इसका प्रयोग करते हैं ।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, कामला एवं उदावर्त्त में यह उपयोगी है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव, हृद्दौर्बल्य तथा उपदंश, आमवात आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल, उरोविदाह–इन रोगों में यह अतीव लाभकर है। प्रतिश्याय और कास में मुलेठी, वनफ्शा आदि के साथ इसका फाण्ट दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि विकारों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग होता है। इससे ज्वर कम होता है तथा तृष्णा, दाह आदि शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प।

मात्रा—पत्र–३–६ ग्रा०; पुष्प–३–६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—अर्क गावजबान, बनफ्शादि क्वाथ।

गाजवाँ के नाम पर अनेक पौधे प्रचलित हैं। प्रायः अंकुश स्ट्रिगोजा (Anchusa strigosa Lebill.) गाजवाँ के रूप में बाजार में मिलता है। कश्मीरी गाजवाँ मैक्रोटोमिया बेन्थमी (Macrotomia benthamii DC.) नामक पौधा है। काक्सिनिया ग्लोका (Coccinia glauca Savi) को भी गाजवाँ मानते हैं।

× × × ×

गोजिह्वा मधुरा स्निग्धा सतिक्ता वातपित्तनुत्।
कफनिःसारिणी शीता सरा मूत्रविरेचनी॥
कासे श्वासे ज्वरे दाहे मूत्रकृच्छ्रे च शस्यते। (स्व.)

F. I., IV, 178.
w. I. VII, 95.

१००. रूमी मस्तगी

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी–Anacardiaceae)।

नाम—लै०–पिस्टेसिया लेण्टिस्कस (Pistacia lentiscus Linn.); हि०–रूमी मस्तगी, मस्तगी; म०–रूमा मस्तकी; अ०–मस्तकी, अलकरूमी; फा०–कुन्दर रूमी; अं०–मैस्टिक (Mastic)।

स्वरूप—यह सदाहरित गुल्म या वृक्ष ६ १५ फीट तक ऊँचा होता है। पत्र–पक्षवत् होते हैं। फल–४–५ मि. मी. व्यास के, गोलाकार, काले रंग के होते हैं। इसके कांड और शाखाओं से एक गाढ़ा जमा हुआ गोंद निकलता है। यही गोंद रूमी मस्तगी के नाम से प्रचलित है। यह पीताभ श्वेत, छोटे गोल या लंबे दानों के रूप में होता है। यह सुगन्धित होता है और इसका स्वाद कुछ मधुर होता है। यह

खरल में रगड़ने के समय चिपक जाती है, अतः इसको कपड़े की पोटली में बाँध कर पानी में भिगोते हैं और फिर निकाल कर तुरन्त कपड़े से पोंछ कर चूर्ण कर देते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भूमध्य-सागरवर्त्ती दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, एशिया माइनर आदि देशों में होता है। वहाँ से ईरान और अफगानिस्तान होकर भारत में आता है। इसकी मुख्य आपूर्त्ति ईजियन समुद्र (Aegean sea) में स्थित किओस (Chios) नामक द्वीप से होती है। इसके वृक्ष वहाँ दक्षिण-पूर्वी कोने पर २००० फीट की ऊँचाई तक होते हैं। केवल पुंवृक्ष लगाये जाते हैं क्योंकि स्त्रीवृक्षों से निर्यास निकृष्ट कोटि का निकलता है। एक वृक्ष से साल भर में लगभग ४–५ किलो गोंद निकलती है। उन देशों में इसका उपयोग मुखशुद्धि के लिए होता है अतः Mastic (चर्वणीय) नाम सार्थक है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल १–३ प्रतिशत, मैस्टिकोरेसीन, मैस्टिकोनिक एसिड, मैस्टिकिनिक एसिड; मैस्टिकोलिक एसिड तथा एक तिक्त पदार्थ पाये जाते है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वात का तथा मधुर–कषाय होने से पित्त का शामक एवं कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, रक्तरोधक, दुर्गन्धनाशन एवं वर्ण्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक एवं ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में तथा संशोधनार्थ कफज रोगों मे प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग-बाह्य—यह शोथ एवं वर्णविकारों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। मुख में रख कर चूसते हैं जिससे दुर्गन्ध दूर होती है, दाँतों में दृढता आती है तथा कफ आसानी से निकलता है। रक्तस्राव, क्षत आदि में भी इसका चूर्ण देते हैं। पार्श्वशूल आदि में भी इसका लेप छाती में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, आध्मान, संग्रहणी एवं यकृद्विकारों में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में तथा वाजीकरण योगों में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास (गोंद)।

मात्रा—१-३ ग्रा०।

× × × ×

रूमजो मस्तकीगुन्द्रो दशनस्थिरताकरः। (सि. भे. म.)
मधुरो मस्तकीगुन्द्रो लघुरुष्णः सुगन्धयुत्।
कफघ्नो मूत्रलो वृष्यः संग्राही दीपनो मतः॥ (स्व.)

W. I., VIII, 122.

१०१. बोल

परिचय

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सेरेसी-Burseraceae)।

नाम—लै०-कौमिफोरा मिर्रा (Commiphora myrrha (Nees) Engl.); सं०-बोल; गन्धरस (गन्धयुक्त); पिण्ड (पिण्डाकार); हि०-बोल, हीराबोल; बं०-गन्धवोल; म० गु०-हिराबोल; पं०-मुरमकी; ता०-वेल्लाइप्पापोलम्; ते०-बलिन्त्रापोलम्; अ०-मुर्र; फा०-बोल; अं०-मिर्र (Myrrh)।

स्वरूप—इसका वृक्ष गुग्गुलु की जाति का लगभग १० फीट ऊँचा होता है। उसके काण्ड में क्षत करने से एक सान्द्र निर्यास निकलता है, यही बोल कहलाता है। इसके दाने गोल होते हैं जो आपस में चिपक कर बड़े-बड़े पिण्डों में परिणत हो जाते हैं। यह रक्ताभ पीत या भूरे वर्ण का, भंगुर, सुगंधित तथा तिक्त होता है। इस जाति के अन्य दो तीन वृक्षों (C. abyssinica Engl., C. schimperi Engl., C. molmol Engl. ex Tschirch) से यह गोंद प्राप्त की जाती है।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान पूर्वोत्तरी अफ्रीका विशेषतः सोमालीलैंड है। अरब, फारस, अबीसिनिया में भी मिलता है और वहाँ से भारत में आता है। मक्का का बोल (मुर मक्की) सर्वोत्तम माना जाता है। सोमालीलैंड में होने वाले एक अक्ष वृक्ष C. erythraea (Ehrb) Engl. के निर्यास को प्रायः भ्रमवश बोल माना जाता है किन्तु वह बोल से भिन्न द्रव्य है। इसका निर्यास बिसाबोल मिर्र (Bissabol Myrrh) कहा जाता है और अधिक मधुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल (Myrrhol) २%, मिरिन (Myrrhin), गोंद (६०%), राल, (३५ %), तिक्तसत्त्व तथा कैल्शियम फास्फेट, कार्बोनेट आदि होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु　　**रस**—तिक्त, कटु, कषाय
विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। रूक्ष, लघु और कटु होने से कफ का, कषाय-तिक्त होने से पित्त का तथा उष्ण होने से वात का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, स्तम्भन, वेदनास्थापन तथा कोथ-प्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उष्ण होने से वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त-कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तशोधक है तथा रक्तगत श्वेतकणों की क्रिया को बढ़ाता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

नेत्र—यह नेत्र के शोथ और अभिष्यन्द को दूर करता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग-त्वचा, मूत्र, जननेन्द्रिय, फुफ्फुस एवं श्लेष्मल त्वचा से होता है और उत्सर्गकाल में इन अवयवों को उत्तेजित करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातश्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह सन्धिवात, वातरक्त, गृध्रसी आदि में लेप किया जाता है। कोथप्रशमन और स्तम्भन होने से व्रणों में लगाते हैं। तथा मुख और दाँत के रोगों में गण्डूष कराते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, विबन्ध, अनाह एवं कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—पाण्डु, वातरक्त आदि रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं पार्श्वशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्ठार्त्तव में दिया जाता है।

त्वचा—यह चर्मरोगों में उपयोगी है।

नेत्र—इसे माँ के दूध में मिला कर अभिष्यन्द, पूयनेत्रता आदि में आँख में डालते हैं।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—५–१० रत्ती।

× × ×

'बोलं तु कटुतिक्तोष्णं कषायं रक्तदोषनुत्। कफपित्तामयान् हन्ति प्रदरादिरुजापहम् ॥'

(रा. नि.)

W. I., II, 313.

१०२. ऊषक

परिचय

गण—ऊषकादि (सु०)।

कुल—मण्डूकपर्णी–कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०–डोरेमा अमोनियाकम् (Dorema ammoniacum D. Don); हि०, अ०–उषक; फा०–उषः; अफगानी–कन्दल। गम अमोनिक (Gum Amonic)

स्वरूप—यह छोटा बहुवर्षाय **क्षुप** है जिसके काण्ड से निकला हुआ यह रालदार निर्यास है। पुष्पित एवं फलयुक्त क्षुप के काण्ड पर कोई क्षत होने से क्षीरी रालदार निर्यास प्रभूत मात्रा में निकल कर वहीं अश्रुवत् गोल दानों के रूप में जम जाता है या जमीन पर गिर कर पिण्डित हो जाता है। यह गोल दाने के रूप में चने से लेकर छोटे बेर तक के आकार का होता है। इसका वर्ण बाहर पीताभ और भीतर श्वेत होता है। ठंढक में यह कड़ा और भंगुर होता है किन्तु उष्णता से कोमल और चिपकने वाला हो जाता है। इसको जल में घोलने पर दूध के समान घोल (इमल्शन) बन जाता है। यह तिक्तकटु और सुगन्धित होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ईरान, अफगानिस्तान और यूरोप में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल ६५–७० प्रतिशत, गोंद २० प्रतिशत, उड़नशील तेल ०–१–१ प्रतिशत होते हैं। इनके अतिरिक्त, सैलिसिलिक एसिड, बेलिरिक एसिड तथा ब्युटिरिक एसिड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु	**रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर एवं लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक एवं नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन एवं कृमिघ्न है। यकृत्प्लीहा के शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है। इससे कफ आसानी से निकलता है। कफ की उत्पत्ति कम होती है, कफगत रोगजन्तु नष्ट होते हैं और कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वदजनन है।

उत्सर्ग—श्वासनलिका, त्वचा और वृक्कों से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, सन्धिशोथ, गण्डमाला, विद्रधि पर इसका लेप करते हैं। अर्श, चर्मरोग तथा व्रणों में भी इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अपस्मार, पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—पाचनविकार, विबन्ध एवं कृमिरोग में लाभकर है। प्लीहा और यकृत् की वृद्धि में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास और पार्श्वशूल में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्ठार्त्तव, कष्टप्रसव में यह उपयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—½–१ ग्रा०

\+ + +

ऊषकः तिक्तकटुकः लघुरुष्णः कफप्रणुत्। वातघ्नो दीपनश्चैव जन्तुघ्नो लेखनः सरः ॥
वातव्याधौ कृमौ जीर्णे कासे श्वासे त्वगामये। पार्श्वशूले मूत्रकृच्छ्रे मेदोरोगे च शस्यते ॥

(स्व.)

ऊषकादिः कफं हन्ति गणो मेदोविशोषणः। अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्रगुल्मप्रणाशनः ॥

(सु. सू. ३८)

W. I., III, 111–112

१०३. लोबान

परिचय

कुल—लोबान-कुल (स्टिरैसी—Styraceae)।

नाम—लै०-स्टिरेक्स बेञ्जोइन (Styrax benzoin Dryand); हि०-लोबान; म०-ऊद; ता०-शाम्बिरानी; अ०-जावी; फा०-हस्न लुब्; अं०-बेञ्जोइन (Benzoin)।

स्वरूप—इसका वृक्ष छोटा होता है। **पत्र**-अण्डाकार, लंबाग्र, अधःपृष्ठ पर रोमश होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय, एकाकी या गुच्छों में होते हैं। पुष्पदण्ड और बहिर्दल सघन श्वेत-रोमश होते हैं। अन्तर्दल-½ इंच लम्बा होता है। **फल**-½इञ्च व्यास का, गोलाकार, सघन श्वेतरोमाच्छादित होते हैं।

इसका निर्यास बबूल की गोंद की तरह श्वेतवर्ण, या रक्ताभ मोती के सदृश चमकीला, दानेदार या चित्रित बादाम या कौड़ी के आकार का होता है। इसके टुकड़े एक दूसरे से चिपके रहते हैं। यह सुमात्रा बेञ्जोइन या कौड़िया लोबान कहलाता है। दूसरी जाति का स्याम लोबान होता है जो स्याम (थाइलैंड) में होने वाले वृक्ष स्टिरेक्स टॉनिकनेन्सिस (Styrax tonkinensis (Picne) Craib ex Hartwich) से निकलता है।

प्रशस्त लोबान—लोबान आसानी से टूट जाता है। उष्णता से मुलायम हो जाता है और फिर जलने लगता है। इसमें कोई विशिष्ट स्वाद नहीं होता और गन्ध मधुर होती है। स्यामी लोबान को उत्तम मानते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह थाइलैंड, जावा और सुमात्रा में होता है। वृक्ष की छाल में चीरा लगाने से निर्यास प्राप्त होता है। ६ से १६ वर्ष की आयु तक के वृक्ष निर्यास देते हैं। एक वृक्ष से लगभग १० किलो लोबान प्रतिवर्ष प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन राल (बेञ्जोइक अम्ल, १२ से २० प्रतिशत सिनेमिक अम्ल तथा वैनिलिन) और एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह पूतिहर, जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशक, वेदनाहर, व्रणरोपण एवं उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक और वेदनास्थापन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक और कफदुर्गन्धनाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है और मूत्र में अम्लाधिक्य उत्पन्न करता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण और गर्भाशयशोथहर है।

त्वचा—यह त्वचा की रक्तवाहिनियों को उत्तेजित करता है और स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

उत्सर्ग—फुफ्फुस, वृक्क, त्वचा से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह धूप में प्रयुक्त होता है और व्रणों में लगाया जाता है। फुफ्फुस के रोगों में इसका धुँआँ लेते हैं। आमवात, अर्दित आदि वातविकारों में इसका लेप करते हैं। त्वचा के रोगों में भी लेप करते हैं। वाजीकरण के लिए शिश्न पर लेप करने हैं। कर्णशूल में तेल में मिलाकर कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास, क्षय और प्रतिश्याय म प्रयुक्त होता है। इससे कफ की उत्पत्ति कम होती है, कफ आसानी से निकलता है तथा कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह और बस्तिशोथ में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना के लिए जल के साथ मिलाकर पिलाते हैं। श्वेतप्रदर में इसकी वर्ति देते हैं।

त्वचा—त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—½-१ ग्रा०; सत्त्व-१२० मि० ग्रा०।

× × ×

बलासवातग्रहवान्तिहिक्काशिरोऽर्तिशैथिल्यमयं निमित्तम्।
भेत्तुं क्षमः स्निग्धवलक्षतीक्ष्णो मया प्रयुक्तः खलु लोहबाणः॥
(सि. भे. म.)

W. I. X, 69-70.

१०४. सिल्हक

परिचय

गण—एलादि (सु०)।

कुल—सिल्हक-कुल-(हैमामेलिडेसी-Hamamelidaceae)।

नाम—लै०-लिक्विडेम्बर ओरियण्टलिस (Liquidamber orientalis Miller); सं०-सिल्हक, तुरुष्क (तुर्क देश में होने वाला), कपितैल (वनों में होने से तथा भूरे रंग का तैलवत् द्रव होने के कारण); हि०—म०—शिलारस; गु०—शेलारस; ता०-नेरि-अरिशय्पल; ते०-शिलारसम्; मल०—रसमल्ल; अ०—मीअःसिला; फा०-अम्बर माइअ; अं०-लिक्विड ऐम्बर या एशियाटिक स्टोरैक्स या ओरियण्टल स्वीट गम (Liquid Amber or Asiatic Storax or Oriental Sweet-gum)।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण बहुशाखी वृक्ष २०–३० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-पाणिवत्, पञ्चखण्डी होते हैं। **पुष्प**—पीतवर्ण, गोल टुकड़ों में एकलिंगी, एक ही वृक्ष पर पुंपुष्प तथा स्त्रीपुष्प होते हैं। इस **वृक्ष** के कांड में क्षत करने से एक निर्यास निकलता है जो शीघ्र ही जम कर मधु के सदृश गाढ़ा हो जाता है। यह भूरे या काले रंग का होता है। नये शिलारस में किरासन तेल के समान गंध आती है किन्तु पुराना होने पर उससे अम्बर के समान गंध आती है। यह पानी से भारी, कोमल और स्निग्ध होता है। जलाने पर यह पिच्छिल हो जाता है और जलने लगता है। यह ९० प्रतिशत मद्य में विलेय है। सामान्यतः छाल पर बाहर से आघात करते हैं जिससे सारा निर्यास अन्तस्त्वक् में चला जाता है। फिर बाहरी छाल को हटा कर भीतरी छाल लेते हैं और उसे जल में उबालते हैं। इस प्रकार उसका निर्यास निकल कर पानी पर तैरने लगता है जिसे अलग कर लिया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—इसके वृक्ष अरब, एशिया माइनर में होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल, सिनेमिक एसिड (५-१५%) बेञ्जोइक एसिड तथा राल (३३–५०%) होते हैं।

वक्तव्य—शिलारस लिक्विडेम्बर (L. Styraciflua Linn.) नामक एक अन्य वृक्ष से भी प्राप्त होता है। यह अमेरिका में ऐटलांटिक तटवर्ती प्रदेशों में विशेषकर हॉण्डुरस नामक स्थान में होता है। इससे प्राप्त निर्यास अमेरिकन स्टोरेक्स (American Storax) कहलाता है। यह गहरे भूरे रंग का, अधिक सान्द्र या प्रायः ठोस होता है। यह सभी वृक्षों में नहीं होता, किसी-किसी में अन्तस्त्वक् के कोटरों में संचित होता है जिसे छेद कर नलिकाओं द्वारा निकालते हैं। इस प्रकार कर्पूर के समान इसके भी पक्व और अपक्व दो भेद किये जा सकते हैं। ऊपर वर्णित शिलारस पक्व और अमेरिकन शिलारस अपक्व है।

भावप्रकाश में तुरुष्क सिल्हक का पर्याय है किन्तु सोढलनिघण्टु में दोनों पृथक् वर्णित हैं। धन्वन्तरिनिघण्टु में तुरुष्क को पिण्डक कहा है जिससे इसके ठोस होने का बोध होता है। वस्तुतः तुरुष्क ठोस (Solid Storax) को कहते हैं और सिल्हक तरल (Liquid storax) को। कालान्तर में ये पर्यायवाची बन गये। तुरुष्क

स्टिरेक्स ऑफिसिनेल (Styrax officinale Linn) नामक वृक्ष का निर्यास है। अमेरिकन शिलारस भी तुरुष्क है।

भारत में आसाम और भूटान में होने वाले ऐल्टिजिया एक्सेल्सा (Altingia excelsa Noronha) नामक वृक्ष से भी शिलारस प्राप्त किया जाता है किन्तु यह उत्तम कोटि का नहीं होता। यह वृक्ष बर्मा, पेगु, जावा आदि स्थानों में भी होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, लघु	**रस**—तिक्त, कटु, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह पूतिहर, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, कुष्ठघ्न एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर, उत्तेजक एवं पूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम— ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—स्निग्ध होने से बल्य है।

उत्सर्ग—यह फुफ्फुस और वृक्कों के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों पर विशेषतः क्षयज व्रणों पर इसका लेप करते हैं। वातव्याधि में तैल के साथ मिला कर अभ्यङ्ग करते हैं। कण्डू आदि चर्मरोगों में तैल में मिलाकर लगाते हैं। शोथवेदनायुक्त स्थानों पर इसे लगाते हैं। बाह्य कृमियों को नष्ट करने के लिए भी उपयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, श्वास और क्षय में मधु के साथ देते हैं। इससे कफ निकलता है और फुफ्फुस को शक्ति मिलती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र और पूयमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना के लिए तथा रजोरोध में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वरों में भी दिया जाता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में भी उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—५-१० रत्ती; मुलेठी के चूर्ण में साथ मिलाकर देते हैं।

विशिष्ट योग—पञ्चगुण तैल।

× × ×

'सिल्हकस्तु तुरुष्कः स्यात्तो यवनदेशजः। कपितैलं स चाख्यातं तथा च कपिनामकः॥
सिल्हकः कटुकः स्वादुः स्निग्धोष्णः शुक्रकान्तिकृत्। वृष्यः कण्ठ्यः स्वेदकुष्ठज्वरदाहग्रहापहः॥
(भा. प्र.)

'तुरुष्कः सुरभिस्तिक्तः कटुः स्निग्धश्च कुष्ठजित्।
कफवाताश्मरीमूत्राघातश्वासज्वरार्त्तिजित्॥' (रा. नि.)

W. I., I, 65; VI, 143–144.

F. I., II, 429.

प्रियव्रत शर्मा : द्रव्यगुणविज्ञान, चतुर्थ भाग, पृ० २४०

१०५. बनफ्शा

परिचय

कुल—बनफ्शा-कुल (वायोलेसी–Violaceae)।

नाम—लै०-वायोला ओडोरेटा (Viola odorata Linn.); हिं०–बनफ्शा; बं०–बनोशा; ता०–बयिलेट्टु; फा०–बनफ्श; अ०–बनफ्सज; अं०–वाइल्ड या स्वीट वायोलेट (wild or sweet violet)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**–छोटा होता है : काण्ड प्रायः नहीं होता। मूल दृढ़ होता है। **पत्र**–रोमश, हृदयाकृति, गोलाग्र, ½–१ इञ्च व्यास के, लट्वाकार, गोलदन्तुर, समूहबद्ध होते हैं। मण्डूकपर्णी की पत्तियों से मिलते जुलते होते हैं। **पुष्प**–नीले बैंगनी रंग के, सुगन्धित होते हैं। बहिर्दल का शीर्ष गोल होता है। इसका पंचांग 'बनफ्शा; **फूल**–'गुलबनफ्शा तथा फल छोड़ कर अन्य भाग वर्ग बनफ्सा के नाम से प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर तथा पश्चिमी हिमालय के समशीतोष्ण प्रदेश में ४–६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। पहले ईरान से यह द्रव्य आता था। असली बनफ्शा यही है। उत्तरी भारत में इसके स्थान पर इसकी अन्य प्रजातियों यथा वायोला साइनेरिया (Viola cineria Bioss) तथा वायोला सर्पेन्स (Viola serpens pilosa Blume) का प्रयोग होता है तथा इनकी मिलावट भी की जाती है। अप्रैल-जुलाई में इनका संग्रह किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्प में 'वायोलिन' (violine) नामक एक कटु-तिक्त वामक द्रव्य पाया जाता है। रुटिन (२%), सायनिन (५-३%), रंगजनक पदार्थ, एक ग्लाइकोसाइड और शर्करा होती हैं। पत्र में एक सुगन्धित तैल, एक क्षाराभ, रंजक द्रव्य, फ्रायडेलिन, बी-सिटोस्टेरॉल और एक अलकोहल होता है। पत्तियों में पुष्प से पृथक् एक विशिष्ट सुगन्ध होती है। मूल में एक सैपोनिन (०.१–२.५%), एक ग्लाइकोसाइड, एक सुगन्धित तैल और ओडोरेटिन (Odoratin) नामक एक क्षाराभ (१·४१%) होता है। पुष्पों में, इसके अतिरिक्त, एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—स्निग्ध-मधुर-शीत होने से यह वातपित्तशामक एवं कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—जन्तुघ्न, पीडाशामक और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह पित्तहर और विरेचन है। पुष्पों के भीतर स्थित वामक सत्व १२०–२४० मि० ग्रा० की मात्रा में देने से वमन होता है। पुष्प मृदुविरेचन हैं। मूल ३ ग्रा० की मात्रा में वामक और विरेचन होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोधक है। इसके मूल में स्थित क्षाराभ, ओडोरिटिन, रक्तभार को कम करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

त्वचा—इसका पंचांग स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातश्लैष्मिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोग, शोथ तथा शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। कैन्सर में इसका लेप करते हैं, इससे पीड़ा एवं स्राव कम होता है। इसका तैल अनिद्रा में शिर में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यकृत्विकार तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में पुष्पों का गुलकन्द देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तभाराधिक्य में इसके मूल का क्वाथ देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसशोथ में इसका क्वाथ या फाण्ट प्रयुक्त होता है। इन रोगों में गावजबाँ, मुलेठी आदि के साथ देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों के लिए यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पञ्चांग ।

मात्रा—३-६ ग्रा० ।

विशिष्ट योग—बनफ्शादि क्वाथ ।

× × ×

बनफ्सा कटुतिक्तोष्णा शीतज्वरनिवारणी ।
कासश्वासहरा त्वच्या सरा वातकफापहा ॥ (स्व.)

F. I., I. 184.
W. I., X, 514-15.

१०६. खूबकलाँ

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae) ।

नाम—लै०-सिसिम्ब्रिअम आयरिओ (Sisymbrium irio Linn.); हि०-खूबकलाँ, खाकसी; पं०-मक्तरुसा (सिन्ध);-जङ्गली सरसों; मा०-परजन; म०-रनतीखी; अ०-खुब्ब; फा०-खूबकलाँ; खाकची; अं०-हेज-मस्टर्ड (hedge-mustard) ।

स्वरूप—इसका सरसों के समान वर्षायु या द्विवर्षायु क्षुप २-३ फीट ऊंचा, चिकना होता है । **पत्र**-सवृन्त, पक्षवत् या खण्डित, खण्ड दूर-दूर पर फैले हुए तथा दन्तुर होते हैं। अन्तिम खण्ड बड़ा होता है। **पुष्प**-पीतवर्ण, छोटे, मंजरियां में लगते हैं। **फली**-१½-२ इंच लंबी, पतली, सीधी तथा चिकनी होती है। वृन्त मुड़ा होता है। इसके **बीज** रक्ताभ पीतवर्ण अत्यन्त छोटे (खसखस से भी) होते हैं। बीजों को जल में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर भारत में राजस्थान से पंजाब तक तथा अफगानिस्तान, ईरान और यूरोप में उत्पन्न होता है ।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में विटामिन ए और सी, प्रोटीन तथा खनिज होते हैं। बीजों में आइसोरैमनेटिन (isorhamnetin) तथा एक तैल १८-२० प्रतिशत होता है ।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक तथा कफनिःसारक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनाशामक है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन, तृष्णानिग्रहण एवं छर्दिनिग्रहण है ।

श्वसनसंस्थान—स्निग्ध-मधुर होने से यह श्लेष्महर है ।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन है ।

तापक्रम—आमपाचन और स्वेदन होने के कारण ज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—स्निग्ध, पिच्छिल होने से बृंहण, बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातजन्य विकारों तथा कफरोगों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्र, स्तन आदि के शोथ में इसका लेप करते हैं। मसूरिका में इसे बिछौने पर छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह आध्मान और विसूचिका में देते हैं। विसूचिका में तृष्णा और वमन बन्द करने के लिए अर्क गुलाब में उबाल कर पिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक होने से जीर्ण कास, श्वास, स्वरभेद में इसका अवलेह देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में उपयोगी है ।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः विस्फोट-ज्वरों (मसूरिका आदि) में यह लाभकर होता है। इससे दाने शीघ्र बाहर निकल आते हैं और ज्वर भी कम हो जाता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है ।

प्रयोज्य अङ्ग—बीज ।

मात्रा—३-६ ग्रा० ।

× × ×

खाकसी सर्षपाभासा कटूष्णा पिच्छिला सरा ।
वातश्लेष्महरा बल्या स्वेदनी ज्वरकासनुत् ॥ (स्व.)

W. I., IX, 361-362
F. I., I, 150

१०७. तोदरी

परिचय

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae.) ।

नाम—लै०-लेपीडियम आइबेरिस (Lepidium iberis Linn); फा०-तोदरी; अ०-वज्रुल खुमखुम; अं०-पीपर ग्रास (Pepper-grass) ।

स्वरूप—यह एक कंटीला छोटा क्षुप होता है। इसकी **फलियाँ** छोटी-छोटी होती हैं। **बीज**-मसूर के दाने के सदृश किन्तु बहुत छोटे और चपटे होते हैं। बीजों को पानी में भिगोने पर लुआब उत्पन्न होता है।

जाति-वर्णभेद में इसके बीज (तोदरी) तीन प्रकार के होते हैं :—(१) सफेद (२) पीली (३) लाल। कभी-कभी इसकी भूरी जाति 'काली तोदरी' के नाम से मिलती है। सफेद तोदरी (L. iberis var. alba) रक्ताभ और सबसे बड़ी होती है किन्तु गुण में सबसे श्रेष्ठ पीली मानी जाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण यूरोप से साइबेरिया तक तथा ईरान और पंजाब में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में लेपिडिन (Lepidin) नामक एक तिक्त सत्त्व तथा गन्धकयुक्त उड़नशील तैल होता है। सफेद तोदरी में एक स्थिर तैल, पिच्छिल द्रव, रंगद्रव्य तथा एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—गुरु, पिच्छिल | **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से वात और कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक है।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—यह स्निग्ध होने से श्लेष्महर तथा उष्ण होने से कफघ्न भी है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से वाजीकरण है। स्तन्यजनन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातश्लैष्मिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसके बीजों का लेप करते हैं। बीजों के तेल की मालिश सन्धिवात में करते हैं।

आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में इसका अवलेह देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वृष्य कर्म के लिए इसके बीजों का चूर्ण दूध के साथ खिलाते हैं। स्तनवृद्धि के लिए भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—३-६ ग्रा०।

× × ×

तोदरी त्रिविधा श्वेता पीता रक्ता च वर्णतः।
कटूष्णा पिच्छिला गुर्वी वातश्लेष्महरा सरा॥
कासे श्वासे च दौर्बल्ये मूत्रकृच्छ्रे प्रशस्यते। (स्व.)

W. I., VI, 72.

१०८. खत्मी

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-ऐल्थिया ऑफिशिनेलिस (Althoea officinalis Linn.) फा०-खत्मी; अ०-कसीरुल् मुनफेअत; कश्मीरी-सजपोश। अं०-मार्श मैलो (Marsh Mallow)।

वक्तव्य—इसके पुष्प गुल खैरु, फल तुख्म खत्मी तथा मूल रेशा खत्मी नाम से व्यवहार में प्रचलित हैं।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप-२-३ फुट ऊँचा रोमश होता है। **पत्र**-बड़े, अंडाकार, खुरदरे, रोमश और दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-सवृन्त, अक्षीय गुच्छों में, १-२ इञ्च व्यास के, प्रायः गुलाबी रंग के होते हैं। **फल** के भीतर गोल, चपटे, काले बीज रहते है। **मूल**-३-६ इञ्च लम्बा अनेक उपमूलों से युक्त, किञ्चिन्मधुर और हलकी गन्धवाला होता है। इसकी लम्बाई में गहरी झुर्रियाँ होती हैं। इसमें लुआब खूब होता है। लगभग दो वर्ष की आयु के क्षुप का मूल लेना चाहिए। खत्मी के क्षुप से ग्रीष्म ऋतु में एक रक्त या पीत निर्यास प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पंजाब और कश्मीर में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—शुष्क मूल में लुआब २५ प्रतिशत, स्टार्च ५० प्रतिशत, कुछ शर्करा और १-२ प्रतिशत एल्थीन (Althein) नामक तत्त्व होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल, गुरु | **रस**—मधुर
विपाक—मधुर | **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-पिच्छिल होने से वात का तथा मधुर होने से पित्त का शामक है। कफ का निःसारक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और स्नेहन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक तथा श्लैष्मिक विकारों में कफसंशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, स्तनशोथ, पीड़ा, पार्श्वशूल तथा फुफ्फुसशोथ में इसके बीजों और पत्तों का लेप करते हैं। कण्ठशोथ में इसके मूल-क्वाथ से गण्डूष कराते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अन्त्रशोथ, प्रवाहिका, अन्त्रावरोध में इसके बीज या मूल का क्वाथ या लुआब पिलाते हैं। इन रोगों में मूलक्वाथ की वस्ति भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय और वातपैत्तिक कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र और मूत्रदाह में लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—पुष्प, बीज, मूल।

मात्रा—३–६ ग्रा०।

× × ×

खत्मी तु मधुरा स्निग्धा पिच्छिला शीतला गुरुः।
वातपित्तहरा श्लेष्मसारणी मूत्रला सरा॥
प्रतिश्याये तथा कासे मूत्रकृच्छ्रे च शस्यते। (स्व०)

F. I., I. 319.
W. I., I, 74.

१०९. जूफा

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी–Labiatae)।

नाम—लै०–हिसोपस ऑफिशिनेलिस (Hyssopus officinalis Linn.) फा०, अ०–जूफा, अं०–हिसौप (Hyssop)।

स्वरूप—यह एक छोटा भूमि पर फैलने वाला बहुवर्षायु क्षुप है। शाखायें १–२ फीट लम्बी उत्थित या प्रसृत होती है। **पत्र**–रेखाकार, भालाकार, रोमश, अवृन्त, सुगंधित एवं तिक्त होते हैं। इसकी शाखाओं की प्रत्येक ग्रंथि पर नीलाभ बैंगनी कर्पूरगंधि **पुष्प** होते हैं। **फल**–गहरे भूरे, त्रिकोणाकार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर से कुमाऊँ तक ८–११ हजार फीट की ऊँचाई पर मिलता है। ईरान और थाइलैंड में भी पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक हरित–पीत वर्ण का तैल १५–३० (ताजे से) ३–८ (सूखे से) प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, शर्करा, कोलिन, टैनिन, कैरोटिन, तथा आयोडिन होता है। पुष्पों में डायोस्मिन (Diosmin) नामक ग्लाइकोसाइड होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्ण और उष्ण होने से अनुलोमन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—यह श्लेष्महर और शोथहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में तथा पित्तनिर्हणार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथ में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध, उदररोग, यकृद्वृद्धि और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं फुफ्फुसशोथ में लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चांग।

मात्रा—३–६ ग्रा०।

जूफा तीक्ष्णा कटुस्तिक्ता वीर्योष्णा कफवातनुत्।
शोथघ्नी लेखनी पित्तसारणी कृमिनाशिनी॥ (स्व.)

F. I., IV, 949.
W. I., V, 160.

कासहर

११०. पिप्पली

परिचय

गण—कासहर, हिक्कानिग्रहण, शिरोविरेचन, वमन, तृप्तिघ्न, दीपनीय, शूल-प्रशमन (च०); पिप्पल्यादि, ऊर्ध्वभागहर, शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी–Piperaceae)।

नाम—लै०–पाइपर लौंगम (Piper longum Linn.); सं०–पिप्पली, मागधी (मगध में उत्पन्न होने वाली); वैदेही (विदेह में होने वाली); कृष्णा (कृष्णाभ होने के कारण); कणा (कणयुक्त); चपला (चंचल, तीक्ष्ण);

तीक्ष्णतण्डुला (तीक्ष्णकणयुक्त); ऊषणा (कटुरस होने से); उपकुल्या—जलीय-प्रदेश के आसपास होने वाली); शौण्डी (शुण्डाकार फल होने के कारण); कोला (एक कोल प्रमाण का फल होने के कारण); हि०—पीपल; बं०—पिपुल; म०—पिपली; गु०—पीपल; पं०—मघाँ, ता०—टिपिलि; ते०—पिपुल; अ०—दार फिलफिल; फा०—फिलफिल दराज; अं०—लौंग पीपर (Long Pepper)।

स्वरूप—पिप्पली की गन्धयुक्त **लता** होती है जो भूमि पर फैलती है या दूसरे वृक्षों के सहारे ऊपर उठ जाती है। **पत्र**—२–३ इञ्च लम्बे, पान के सदृश, एकान्तर होते हैं। नीचे की पत्तियाँ दीर्घवृन्त, गहरे हृदयाकृति, प्रायः लट्वाकार या गोलाकार; ऊपर की पत्तियाँ आयताकार, अवृन्त या काण्डसंसक्त होती हैं। इन पर पाँच सिरायें होती हैं जिनमें तीन प्रमुख सिरायें अग्रभाग पर प्रायः मिल जाती हैं और दो पार्श्व में प्रायः मध्य तक रह जाती हैं। **पुष्प**—एकलिंगी, अलग-अलग लताओं पर होते हैं। पुंपुष्पदण्ड—१–३ इंच लम्बा और स्त्रीपुष्पदण्ड—½–१ इञ्च लम्बा होता है। **फल**—(पिप्पली) लम्बी, शुण्डाकार होती हैं। पकने पर इसका बर्ण रक्त होता है, सूखने पर कृष्णाभ धूसरवर्ण हो जाता है। फल (कण)—१ इंच व्यास के होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और शरत्काल में फल आते हैं।

जाति—राजनिघण्टु में चार प्रकार की पिप्पली बतलाई गई है (१) पिप्पली (२) गजपिप्पली (३) सैंहली (४) वनपिप्पली। **पिप्पली**-मगध आदि भारतीय प्रदेशों में होने वाली है। **गजपिप्पली** चविका (Piper chaba Hunter) का फल कहा गया है। यह लता 'चई' के नाम से बंगाल–आसाम में प्रचलित है। इसके कांड पर लगभग २० धारियाँ होती हैं। पत्ते कुछ बड़े २–५ इञ्च लंबे होते हैं। इसका सिराक्रम भी विशिष्ट होता है। इसके फल ½ इञ्च व्यास के, पिप्पली से कुछ बड़े होते हैं। **सैंहली**-जो लंका, सिंगापुर आदि बाह्य देशों से आती है। इसे 'जहाजी पीपल' भी कहते हैं। यह P. retrofracium Vahl. के फल हैं। **वनपिप्पली**-जो वन्य प्रदेशों में स्वयं उत्पन्न होती है। यह संभवतः पाइपर सिलवेटिकम (Piper sylvaticum Roxb.) या P. peepuloides Roxb. है। बंगाल–आसाम में यह बहुत देखने में आती है। यह छोटी, पतली और कम तीक्ष्ण होती है।

संप्रति पिप्पली का आयात बाहर से ही अधिक होता है। व्यवहार में दो प्रकार की पीपल चलती है—(१) बड़ी और (२ छोटी। बड़ी पीपल संभवतः 'सैंहली पिप्पली' है और आजकल मलेशिया, इण्डोनेशिया और सिंगापुर से आयातित होती है और छोटी पिप्पली 'वनपिप्पली' है जो इस देश में अधिक प्राप्त होती है।

उत्पत्तिस्थान—भारत के उष्ण प्रदेशों में—यथा—बंगाल, बिहार, आसाम,

पूर्वी नेपाल, कोंकण से त्रावनकोर तक पश्चिमी घाट के वन, मलेशिया, इण्डोनेशिया, सिंगापुर, श्रीलंका तथा निकोबार द्वीपों में होती है।

मद्रास की अन्नामलाई पहाड़ियों तथा आसाम के चेरापूंजी क्षेत्र में इसकी खेती की जाती है। पिप्पलीमूल के लिए इसकी खेती आंध्र के विशाखापत्तनम् जिले के पहाड़ी इलाकों में की जाती है।

भारत से अफगानिस्तान, पाकिस्तान तथा श्रीलंका को पिप्पली का निर्यात होता है। इसमें P. longum तथा P. peepuloides भेजे जाते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें सुगंधित तैल (०·७%), पाइपरीन (Piperine) ४–५ प्रतिशत, तथा पिपलार्टिन (Piplartine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त, दो नये तरल क्षाराभों का भी पता चला है। सिसेमिन (Sesamin) तथा पिपलास्टिरॉल (Piplasterol) भी पाये जाते हैं। पिप्पली-मूल में पाइपरिन (०·१५–०·१८%), पिपलर्मटिन (०·१३–०·२० %), पाइपरलौंगुमिनिन, एक स्टिरॉयड, तथा ग्लाइकोसाइड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—मधुर **वीर्य**—अनुष्णशीत

इसका आर्द्र फल गुरु, मधुररस और शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कटु होने से कफ का तथा स्निग्ध होने से वात का शमन करता है। आर्द्रावस्था में यह मधुर-शीत होने के कारण वातकफवर्धक और पित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह रक्तोत्क्लेशक तथा जन्तुघ्न है। इसका चूर्ण तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन भी है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह कटुरस होने से दीपन, तृप्तिघ्न, स्निग्ध-उष्ण होने से वातानुलोमन, शूलप्रशमन और मृदुरेचन तथा तीक्ष्ण होने से यकृदुत्तेजक, प्लीहवृद्धिहर है। कटु, तीक्ष्ण उष्ण होने से कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से उत्तेजक है तथा कटुरस और मधुरविपाक होने से रक्तवर्धक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफवातशामक होने से कासहर, श्वासहर एवं हिक्का-निग्रहण है। क्षयरोग के कीटाणुओं का नाशक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मधुरविपाक होने से मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल गर्भाशयसंकोचक है तथा फल वृष्य है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से यह रसायन और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवात-रोगों में किया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शीत और शोथयुक्त वेदना को शान्त करने के लिए इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वह मेध्य होने के कारण मस्तिष्कदौर्बल्य में तथा वातहर होने से वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबंध, गुल्म, उदरशूल, अर्श, यकृद्विकार, प्लीहवृद्धि और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, पाण्डु, रक्तविकार (आमवात, वातरक्त आदि) में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं हिक्का में यह अतीव उपयुक्त है। इससे कफ आसानी से निकलता है तथा कफ कम बनता है। बल्य तथा क्षयरोग के कीटाणुओं का नाशक होने से यह क्षय तथा यक्ष्मा रोग में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविकारों में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। इसका मूल रजोरोध तथा कष्टप्रसव में दिया जाता है।

त्वचा—कुष्ठरोग में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर और विषमज्वर में यह प्रयुक्त होता है। जीर्णज्वर में गुड़ के साथ पिप्पलीचूर्ण सेवन करने का विधान है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है। रसायनकर्म के लिए वर्धमानपिप्पली अधिक लाभकर है।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, मूल।

मात्रा—चूर्ण-½-१ ग्रा०।

विशिष्ट योग—गुडपिप्पली, पिप्पलीखंड, पिप्पल्यासव।

वक्तव्य—पिप्पली का प्रयोग योगवाही (अनुपान आदि) के रूप में ही करना उत्तम है। स्वतंत्र रूप से अतिमात्रा में या अतिकाल तक प्रयोग करने से स्निग्धता (प्रक्लेद) के कारण कफ का तथा उष्णता के कारण पित्त का प्रकोप हो जाता है। अत्यन्त स्नेह और उष्णता होने से प्रकुपित वात को भी यह पूर्णतया शान्त नहीं कर पाती। अत एव यह त्रिदोषवर्धक हो जाती है। इसके सेवन में इस बात का ध्यान

आवश्यक है। वर्धमानपिप्पलीरसायन इसका अपवाद है। अथवा इससे अधिक मात्रा में अधिक दिनों तक सेवन करने से हानिकर है। (देखें च. वि. १)

\+ \+ \+

'अथ पिप्पलिकावल्लिः नागवल्लीदला मृदुः।' (शि.)

'पिप्पली मागधी कृष्णा वैदेही चपला कणा।
उपकुल्योषणा शौण्डी कोला स्यात्तीक्ष्णतण्डुला॥
पिप्पली दीपनी वृष्या स्वादुपाका रसायनी।
अनुष्णा कटुका स्निग्धा वातश्लेष्महरी लघुः॥

पिप्पली रेचनी हन्ति वातश्लेष्मोदरज्वरान्। कुष्ठप्रमेहगुल्मार्शःप्लीहशूलाममारुतान्॥
आर्द्रा कफप्रदा स्निग्धा शीतला मधुरा गुरुः। पित्तप्रशमनी सा तु शुष्का पित्तप्रकोपनी॥
पिप्पली मधुसंयुक्ता मेदःकफविनाशिनी। श्वासकासज्वरहरी वृष्या मेध्याग्निवर्धनी॥
जीर्णज्वरेऽग्निमांद्ये च शस्यते गुडपिप्पली। कासाजीर्णारुचिश्वासहृत्पाण्डुकृमिरोगनुत्॥'
दीपनं पिप्पलीमूलं कटूष्णं पाचनं लघु। रूक्षं पित्तकरं भेदि कफवातोदरापहम्॥
अनाहप्लीहगुल्मघ्नं कृमिश्वासक्षयापहम्।' (भा. प्र.)
'पिप्पलीमूलं दीपनीयपाचनीयानाहप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

'श्लेष्मला मधुरा चार्द्रा गुर्वी स्निग्धा च पिप्पली।
सा शुष्का कफवातघ्नी कटूष्णा वृष्यसंमता॥ (च. सू. २७)

तेषां गुर्वी स्वादुशीता पिप्पल्यार्द्रा कफावहा।
शुष्का कफानिलघ्नी सा वृष्या पित्ताविरोधिनी॥' (सु. सू. ४६)
'शृतं पयः शर्करा च पिप्पल्यो मधुसर्पिषी। पञ्चसारमिदं पेयं मथितं विषमज्वरे॥
(सु. उ. ३९)

'गोमूत्रैरण्डतैलाभ्यां कृष्णाचूर्णं पिबेन्नरः।
दीर्घकालोत्थितां हन्ति गृध्रसीं कफवातजाम्॥' (भा. प्र.)

'क्वाथेन कल्केन च पिप्पलीनां सिद्धं घृतं माक्षिकसंप्रयुक्तम्।
क्षीरानुपानं विनिहन्त्यवश्यं शूलं प्रवृद्धं परिणामसंज्ञम्॥' (वंगसेन)

'पिप्पल्यो हि कटुकाः सत्यो मधुरविपाकाः गुर्व्यो नात्यर्थं स्निग्धोष्णाः प्रक्लेदिन्यो भेषजाभिमताश्च, ताः सद्यः शुभाशुभकारिण्यो भवन्ति, आपातभद्राः प्रयोगसमसाद्गुण्यात्; दोषसंचयानुबन्धाः सततमुपयुज्यमानाः हि गुरुप्रक्लेदित्वाच्छ्लेष्माणमुत्क्लेशयन्ति, औष्ण्यात् पित्तं, न च वातप्रशमनायोपकल्पन्तेऽल्पस्नेहोष्णभावात्। योगवाहिन्यस्तु खलु भवन्ति; तस्मात् पिप्पलीर्नात्युपयुञ्जीत।' (च. वि. १)

रा० नि०–शतपुष्पादि वर्ग, श्लो० १०९–१२३

W. I., VIII, 96–98.

१११. कण्टकारी

परिचय

गण—कासहर, कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, शोथहर, शीतप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन (च०); बृहत्यादि, वरुणादि, लघुपञ्चमूल (सु०) ।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae) ।

नाम—लै०-सोलेनम सुराटेन्स (Solanum surattense Burm. f.) सं०-कण्टकारी (कण्टकयुक्त), दुःस्पर्शा (कण्टकयुक्त होने से), क्षुद्रा (छोटी होने से); व्याघ्री (व्याघ्र के समान स्वर बनाने वाली); निदिग्धिका (शीघ्र बढ़ने वाली); हिं०-छोटी कटेरी, भटकटैया, रेंगनी; पं०-कण्डियारी; म०-भुईरिंगणी; गु०-भोंयरिंगणी; बं०-कण्टिकारी; ता०-कान्दनकांटिरि; ते०-कूदा; अ०-बादंजान बर्री; फा०-बादंगान बर्री; अं०-येलो-बेरीड नाइट शेड (Yellow-berried night shade) ।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु, कण्टकित, प्रसरी क्षुप १-४ फुट के व्यास में फैला, चमकीले हरे रंग का होता है। काँटे पीले रंग के, लगभग ½ इंच लंबे और कुछ छोटे भी होते हैं। मूलोद्‌गत शाखायें प्रायः द्विविभक्त होती हैं। **पत्र**-४-५ इंच लम्बे, २-३ इंच चौड़े, रोमश, डिम्बाकृति, लट्वाकार या आयताकार, खण्डित और पुनः खंडित या दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-नीलवर्ण, पार्श्विक मंजरियों में, १-१¼ इञ्च व्यास के होते हैं। **फल**-गोलाकार, कच्ची अवस्था में हरितवर्ण और श्वेतरेखाङ्कित तथा पकने पर पीतवर्ण हो जाते हैं। बीज छोटे, चिकने होते हैं। दिसम्बर से जून तक पुष्प और फल आते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं-नीलपुष्पा और श्वेतपुष्पा। नीलपुष्पा सामान्यतः मिलती है और इसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्वेतपुष्पा कण्टकारी कम मिलती है और उसका प्रयोग अनेक वैद्य लक्ष्मणा के स्थान पर करते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में प्राप्त होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पञ्चांग में वसा तथा रालयुक्त पदार्थ और डायोसजेनिन (Diosgenin) पाये गये हैं। सूखे पंचांग को जलाने पर १०.८% भस्म प्राप्त होती है जिसमें पोटाशियम नाइट्रेट, कार्बोनेट और सल्फेट होता है। फलों में सोलेसोनिन होता है। बीजों से एक विशिष्ट गंधयुक्त, हरिताभ पीत तैल १६.३% प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर और कृमिघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से संज्ञाप्रबोधन तथा उष्ण होने से वातहर है।

पाचनसंस्थान—कटु, तिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन तथा तीक्ष्ण होने से कृमिघ्न और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है तथा रक्तभार को कम करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न होने से कासहर, कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण और श्वासहर है। श्वासनलिकाओं तथा फुफ्फुस से हिस्टेमीन को निकालने के कारण इसकी श्वासहर क्रिया होती है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयसंकोचक और वाजीकरण हैं। श्वेतपुष्पा कण्टकारी गर्भस्थापन है।

त्वचा—यह उष्ण होने से स्वेदजनन है।

तापक्रम—तिक्त होने के कारण ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमिदन्त, दन्तशूल एवं अर्श में बीजों की धूनी देते हैं। नासारोगों (पीनस आदि) में व्याघ्रीतैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपतन्त्रक, अपस्मार में आवेग के समय इसका स्वरस नाक में देने से संज्ञानाश दूर होता है। अंगमर्द, सन्धिवात आदि वातविकारों में भी प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध एवं उदरगत कृमियों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तचाप, रक्तविकार (कुष्ठ, फिरङ्ग, आमवात आदि) तथा शोथ में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—यह प्रतिश्याय, कास, श्वास, पार्श्वशूल, स्वरभेद एवं हिक्का रोगों के लिए अतीव उपयुक्त है। बच्चों के जीर्ण कास में इसके फलों का चूर्ण मधु से देते हैं। कास-श्वास के लिये व्याघ्रीहरीतकी प्रसिद्ध योग है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरी, पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज रजोरोध, कष्टप्रसव तथा क्लैब्य रोग में दिये जाते हैं। श्वेतपुष्पा कण्टकारी का प्रयोग गर्भस्थापन के लिए किया जाता है।

त्वचा—यह विभिन्न चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पंचाङ्ग।

मात्रा—क्वाथ-४०-८० मि० लि०।

विशिष्ट योग—निदिग्धिकादि क्वाथ, व्याघीहरीतकी, कण्टकारीघृत, व्याघ्री तैल।

× × ×

'कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः। रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान्॥
निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान्। तस्याः फलं कटु रसे पाके च कटुकं भवेत्॥
शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निकृल्लघुः। हन्यात् कफमरुत्कण्डूकासमेदःकृमिज्वरान्॥
तद्वत् प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी।' (भा. प्र.)

'कण्टकारीरसे सिद्धो मुद्गयूषः सुसंस्कृतः। सगौरामलकः साम्लः सर्वकासभिषग्जितम्॥'

(च. चि. ३२)

'सम्यग् विपक्वं द्विगुणेन सर्पिर्निदिग्धिकायाः स्वरसेन चैतत्।
श्वासाग्निसादस्वरभेदभिन्नान् निहन्त्युदीर्णानपि पञ्च कासान्।', (सु. उ. ५२)

'व्याघ्रीकुसुमसंजातकेसरैरवलेहिकाम्। जग्ध्वापि चिरतो जातं शिशोः कासं व्यपोहति॥

(वंगसेन)

'निदिग्धिकाख्यामलकप्रमाणां हिंग्वर्धयुक्तां मधुना सुयुक्ताम्।
लिहेन्नरः श्वासनिपीडितो हि श्वासं जयत्येव बलात् त्र्यहेण॥' (सु. उ. ५१)

'....बृहतीद्वयञ्च। आलोड्य दध्ना मधुरेण पेयं दिनानि सप्ताश्मरिभेदनाय॥'

(च. चि. २६)

'निदिग्धकारसो वापि सक्षौद्रः कृच्छ्रनाशनः॥' (सोढल)

F. I., IV, 236.

W. I., IX, 393–94.

११२. बृहती

परिचय

गण—कण्ठ्य, हिक्कानिग्रहण, शोथहर, अंगमर्दप्रशमन (च), बृहत्यादि, लघुपंचमूल (सु०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी–Solanaceae)।

नाम—लै०–सोलेनम इण्डिकम (Solanum indicum Linn.), सं०–बृहती (बड़ी); क्षुद्रभण्टाकी (बैंगन के सदृश किन्तु छोटा क्षुप); सिंही (सिंह के समान उच्च स्वर बनाने वाली); हि०–बड़ी कटेरी, बनभंटा; बं०–व्याकुड; म०–डोरली; गु०–उभी रिंगणी; ता०–पाप्पारमल्ली, ते०–तेल्लामूलक; फा०–कटाई कलाँ।

स्वरूप—इसका **क्षुप** बैंगन के सदृश ३–६ फुट ऊँचा अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त, कंटकित होता है। काण्ड और पत्र में दृढ और टेढ़े कांटे होते हैं। **पत्र**–३–६ इञ्च लम्बे, १–४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, दन्तुर या खण्डित, रोमश होते हैं। निचले पृष्ठ पर सिराओं पर कंटक होते हैं। **पुष्प**–अनेकशाखायुक्त पार्श्विक मञ्जरियों में नीलवर्ण होते हैं। **फल**–⅜ इञ्च व्यास के, गोल, चिकने, कच्ची अवस्था में हरे, श्वेतरेखांकित तथा पकने पर पीले पड़ जाते हैं जिनके मूलभाग में त्रिकोणाकार-आयताकार बहिर्दल लगे रहते हैं। **बीज**–चिकने २ इञ्च व्यास के होते हैं।

इसकी एक जाति सोलेनम टॉर्वम (Solanum torvum Swartz) है जिसका क्षुप बड़ा तथा पुष्प श्वेतवर्ण होते हैं। इसकी पत्तियों पर कांटे भी नहीं होते।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल, पत्र और फल में मोम, वसाम्ल तथा सोलेनिन (Solanine) और सोलेनिडिन (Solanidine) नामक दो क्षाराभ होते हैं। फल और पत्र में सोलेसोनिन (Solasonine) नामक ग्लाइको-अलकलॉयड होता है। इसके पत्र, कांड तथा फल में डायोसजेनिन भी पाया जाता है। फलों में कार्बोहाइड्रेट, मालटेज, सक्रोज, मेलिबिएज तथा एक प्रोटीन-विश्लेषक किण्वतत्त्व पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, कण्डूघ्न, केश्य और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, पाचन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कासहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज गर्भाशयसंकोचक और वाजीकरण है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनायुक्त अवयवों पर लेप करते हैं। बृहतीफल, हरिद्रा और दारुहरिद्रा को एकत्र पीस कर योनिपूरण करने या धूम देने से योनिकण्डू आराम होता है। ध्वजभंग में शिश्न पर इसके बीजों का लेप करते हैं। इन्द्रलुप्त रोग में इसका रस सिर में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, ग्रहणी, उदरशूल, अरुचि और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। इसके फल का रस गोघृत और मधु के साथ देने से वमन रुकता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ तथा रक्तविकारों में उपयोगी है। इसके बीजों के चूर्ण का नस्य लेने से संज्ञानाश दूर होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, स्वरभेद एवं हिक्का रोगों में यह अतीव लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टप्रसव एवं सूतिकारोग में उपयोगी है। वाजीकरणार्थ भी प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, फल।

मात्रा—क्वाथ ४०-८० मि० लि०; चूर्ण ३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—बृहत्यादि क्वाथ, बृहत्यादिगण, दशमूलारिष्ट।

वक्तव्य—ग्रन्थों में 'बृहतीद्वय' का उल्लेख मिलता है जिससे कण्टकारी और बृहती का ग्रहण किया जाता है।

× × ×

'बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत्। कटुतिक्तास्यवैरस्यमलारोचकनाशिनी ॥
उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित्।' (भा. प्र.)
'इन्द्रलुप्तापहो लेपो मधुना बृहतीरसः।' (शोढल)
'एकं बृहत्याः फलपिप्पलीकं शुण्ठीयुतं चूर्णमिदं प्रशस्तम्।
प्रध्मापयेत् घ्राणपुटे विसंज्ञः चेष्टां करोति क्षवथुप्रबुद्धः ॥' (शोढल)

W. I., IX, 381-82.
F. I., IV, 334.

११३. कर्कटशृङ्गी

परिचय

गण—कासहर, हिक्कानिग्रहण (च०); काकोल्यादि (सु०)।

कुल—आम्र-कुल-(एनाकार्डिएसी–Anacardiaceae)।

नाम—लै०-पिस्टेसिया इन्टेग्रिमा (Pistacia integerrima Stewart ex Brandis)। सं०-कर्कटशृङ्गी (कर्कट नामक वृक्ष में होने वाली शृङ्गाकार रचना); कुलीरविषाणिका (केकड़े के शृंग की तरह); अजशृङ्गी (बकरे की सींग के सदृश); वक्रा (टेढ़ी)। हि०-काकड़ासिङ्गी; बं०-ता० ते०-काँकड़ाशृङ्गी; म०-काकड़शिङ्गी।

स्वरूप— इसके **वृक्ष** को लोकभाषा में 'कक्कड़' कहते हैं। यह तून के सदृश होता है और इसकी ऊँचाई लगभग ४० फीट होती है। **छाल**-गहरा धूसरवर्ण या कृष्णाभ होती है जिसे काटने पर स्राव या सुगंध निकलती है। **पत्र**-पक्षवत्, ६-९ इञ्च लंबा होता है जिसमें ३-५ इञ्च लंबे, १-३ इञ्च चौड़े, भालाकार, लंबाग्र, ४-६ जोड़े पत्रक लगे रहते हैं। पत्राधार विषम तथा पत्रसिरायें अनेक, धनुषाकार होती हैं। **पुष्प**-पार्श्विक मंजरियों में, छोटे, रक्ताभ होते हैं। **फल**-चिकने, सिकुड़न-युक्त, गोलाकार, ¼ इञ्च व्यास के, (लंबाई से चौड़ाई अधिक), पकने पर धूसरवर्ण होते हैं। अप्रिल-जून में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

इस वृक्ष के पत्रवृन्तों या पत्रों पर कीटविशेष द्वारा शृङ्गाकार कोष निर्मित होते हैं। ये कोष (Gall) 'काकड़ासिङ्गी' के नाम से व्यवहृत होते हैं। यह शृङ्गाकार, १-३ इञ्च लम्बी, ½-२ इञ्च चौड़ी, धूसरवर्ण, सिकुड़नयुक्त, कठिन तथा भीतर से पोली होती है। इसका भीतरी पृष्ठ रक्ताभ होता है तथा तोड़ने पर इसके भीतर सफेद जाले के समान दिखाई पड़ता है, यह कीट का अवशेष भाग होता है। इस वृक्ष के अतिरिक्त हरीतकी आदि वृक्षों पर भी ये कोष प्राप्त होते हैं और काकड़ासिङ्गी के नाम पर बाजारों में आते हैं। रस सक्सिडेनिया (Rhus succedania Linn.) नामक पौधे की शाखाओं पर लगी शृंङ्गाकार रचना कर्कटशृंगी के प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत होती है।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिमोत्तर भारत, पश्चिमी हिमालय में १२०० में ८००० फीट तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें टैनिन २०-७५ प्रतिशत, उड़नशील तैल १·३ प्रतिशत, राल ५ प्रतिशत होता है। उड़नशील तैल ताजी अवस्था में वर्णरहित तथा कुछ देर रखने पर पीतवर्ण विशिष्ट गन्ध-स्वादयुक्त होता है। पत्र और फल में क्रमशः १६ और ८ प्रतिशत टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष   **रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उष्ण होने से यह दीपन, वातानुलोमन, ग्राही है।

श्वसनसंस्थान—यह तिक्त-कषाय होने से कफनिःसारक तथा कफघ्न है। हिक्कानिग्रहण भी है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ एवं स्राव को दूर करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त एवं उष्ण होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है और क्रमशः बल को बढ़ाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप किया जाता है। मसूड़ों से रक्त आने पर इसके क्वाथ से गण्डूष कराते हैं। व्रणों और क्षतों पर इसका अवचूर्णन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, उदावर्त्त, तृष्णा, अरुचि एवं अतिसार-प्रवाहिका में लाभकर है। विशेषतः बच्चों में दन्तोद्भेद के समय जो उपद्रव होते हैं उनमें यह अतीव उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में यह प्रयुक्त होता है। इससे सञ्चित कफ निकल जाता है, नया कफ बनता नहीं तथा श्लेष्मल कला को शक्ति मिलती है। गलशोथ एवं काकलक-वृद्धि में भी इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर एवं पूयमेह आदि में स्राव और शोथ को रोकने के लिए इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः वातश्लैष्मिक ज्वरों में यह उपयुक्त है।

सात्मीकरण—क्षयरोग में यह प्रयुक्त होता है। कश्मीर में इसके फल का भी प्रयोग क्षयरोग में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—शृङ्गाकार कोष।

मात्रा—१-३ ग्राम।

विशिष्ट योग—शृंग्यादि चूर्ण, कर्कटादि चूर्ण, बालचतुर्भद्रा।

× × ×

'शृङ्गी कषाया तिक्तोष्णा कफवातक्षयज्वरान्। श्वासोर्ध्ववाततृट्कासहिक्कारुचिवमीर्हरेत्॥'
(भा. प्र.)

'कुलीरशृङ्गीचूर्णञ्च मूलकस्य फलं तथा। युक्तोऽयं मधुसर्पिर्भ्यां लेहः श्वासापहः शिशोः॥'
(वङ्गसेन)

F. I., II, 13.
W. I., VIII, 120-121.

११४. कासमर्द

परिचय

गण—सुरसादि गण (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अम्लिका-उपकुल (सीजलपिनिआयडी Caesalepinioideae)।

नाम—लै०–कैसिया औक्सिडेन्टलिस (Cassia occidentalis Linn.); सं०–कासमर्द (कास को नष्ट करने वाला); कासारि (कास का शत्रु); हि०–कसौंदी; बं०–केसेन्दा; म०–कासविदा; गु०–कासोंदरी; ता०–पेयावेरी; ते०–कासिन्द; अं०–निग्रो कॉफी (Negro Coffee) (इसके बीजों को भून कर काफी के स्थान पर प्रयोग करते हैं।)

स्वरूप—इसका दुर्गन्धि **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा वर्षा ऋतु में होता है। काण्ड परिखायुक्त होता है। **पत्र**–६-१२ इंच लम्बे होते हैं जिनमें ४-५ जोड़े लट्वाकार या लट्वाकार-आयताकार या लट्वाकार-भालाकार, १½-४ इञ्च लम्बे पत्रक होते हैं। पत्रवृन्त में मूल के ऊपर एक बड़ी फूली ग्रन्थि होती है। **पुष्प**–पीतवर्ण ½-¾ इंच व्यास के, अक्षीय तथा अन्त्य मंजरियों में आते हैं। **शिम्बी**–४-५ इञ्च लम्बी, चपटी होती है। प्रत्येक शिम्बी में १०-३० बीज होते हैं। जिनके बीच बीच में पर्दे होते हैं। शरदृतु में पुष्प तथा हेमन्त में फल आते हैं।

इसकी एक जाति कैशिया सोफेरा (Cassia sophera Linn.) है जिसका पौधा कुछ बड़ा होता है। पत्र और पुष्प भी बड़े होते हैं। इसमें पत्रवृन्त के ऊपर की ग्रन्थि फूली नहीं होती।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में टैनिक एसिड, म्युसिलैज (३६%), स्थिर तैल (२·५६%) एमोडिन, टॉक्सालबुमिन तथा क्राइसारोबिन पाये जाते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण | **रस**—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक तथा तिक्त-तीक्ष्ण होने से पित्तसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपशामक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, पित्तसारक एवं रेचन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। पैत्तिक विकारों में भी पित्तनिर्हरणार्थ यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, विसर्प, व्रण, दद्रु आदि में पत्रों और बीजों का लेप करते हैं। इसके मूल का प्रयोग वृश्चिकविष में करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अपस्मार, अपतन्त्रक एवं आक्षेपक में प्रयुक्त होता है। इन रोगों में मूल या पञ्चाङ्ग का क्वाथ देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग, पित्तविकार तथा विबन्ध में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का एवं कुकुरखाँसी में पत्रस्वरस मधु के साथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इसके मूल का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र एवं शोथ में प्रयुक्त होता है। इक्षुमेह में भी उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठरोग में बीजों का प्रयोग होता है। श्लीपद रोग में इसके मूल का कल्क गोघृत के साथ देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, बीज तथा मूल।

मात्रा—पत्रस्वरस १०–२० मि० लि०; बीजचूर्ण–३–६ ग्रा०; मूलक्वाथ–४०–८० मि० लि०।

× × ×

'कासमर्दः सुतिक्तः स्यान्मधुरः कफवातजित्। विशेषतः पित्तहरः पाचनः कण्ठशोधनः ॥'
(ध. नि.)

'कासमर्दकपत्राणां यूषः·····हिक्काश्वासनिवारणः।' (च. च. १७)

कासमर्दकबीजानि मूलकाञ्जं तथैव च। गन्धपाषाणमिश्राणि सिध्मानां परमौषधम् ॥'
(च. द.)

'जम्बीरस्वरसे पिष्टकासमर्दाङ्घ्रिलेपनम्।
विचर्चिकानां सर्वासां परमौषधमुच्यते ॥' (वैद्यमनोरमा)

'कासमर्दशिफाकल्कं गव्येनाज्येन यः पिबेत्।
श्लीपदं वातजं तस्य नाशमायाति सत्वरम् ॥' (वङ्गसेन)

'यः कासमर्दमूलं वदने प्रक्षिप्य कर्णे फुत्कारम्।
मनुजो दधाति शीघ्रं जयति विषं वृश्चिकानां सः ॥' (च. द.)

F. I. II, 262
W. I., II, 97

११५. अगस्त्य

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)

नाम—लै०-सेस्बेनिया ग्रैण्डिफ्लोरा (Sesbania grandiflora Pers.) सं०–अगस्त्य (अगस्त्य तारा के उदयकाल–प्रायः शरद् ऋतु में इसमें पुष्प आते हैं); मुनिद्रुम (ऋषि के नाम का वृक्ष); बंगसेन (बंगाल में अधिक होने से) वक्रपुष्प (पुष्प नौकाकार होने से); हि०–अगस्त; बं०–वक, बगफल; म०–अगस्ता; गु०–अगथियो; ता०–अगति; ते०–अविषि; उ०–वुको, ओगस्ति।

स्वरूप—इसका वृक्ष शीघ्रवर्धनशील किन्तु अल्पायु २०–३० फीट ऊँचा होता है। काण्ड–सरल तथा शाखाएँ विरल होती हैं। **पत्र**–½–१ फुट लंबे, शिरीष के सदृश; **पत्रक**–४१–६१, लंबे, आयताकार, चिकने तथा हलके हरे रंग के होते होते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, नौकाकार, २–४, छोटी अक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। **शिम्बी**–लगभग १ फुट लंबी, किंचित् वक्र, स्थूलसेवनीयुक्त, प्रायः चतुष्कोणीय होती है जिसमें १५–२० हलके रंग के बीज होते हैं। शरद् ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं। पुष्पों तथा फलियों का शाक और अचार के रूप में व्यवहार होता है।

जाति—राजनिघंटु ने 'सितपीतनीललोहितकुसुमभेदाच्चतुर्विधोऽगस्तिः' ऐसा लिख कर इसकी चार जातियाँ पुष्पभेद से मानी हैं—(१) श्वेत, (२) पीत, (३) नील और (४) रक्त। अधिकांश श्वेतपुष्प का अगस्त्य ही प्राप्त होता है। एक दूसरे भेद में रक्तवर्ण पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः सर्वत्र लगाया हुआ मिलता है। यह पौधा मलेशिया का मूल निवासी माना जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन और रक्तवर्ण का निर्यास होता है। पत्तियों में प्रोटीन, कैलशियम, फास्फोरस, लोह तथा विटामिन ए, बी और सी पाये जाते हैं। पुष्पों में प्रोटीन तथा विटामिन बी और सी होते हैं। बीज अरुचिकर होते हैं, इनमें प्रोटीन, वसा और कार्बोहाइड्रेट होता है। प्रोटीन की दृष्टि से वानस्पतिक बीजों में इनका सर्वोच्च स्थान है। इनमें लगभग ७०% प्रोटीन होता है। बीजों से एक तैल भी निकलता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष एवं तिक्त होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्र और त्वचा शोथहर, व्रणशोधन और व्रणरोपण तथा पत्रस्वरस शिरोविरेचन हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह संज्ञाप्रबोधन, चक्षुष्य और मेध्य है।

पाचनसंस्थान—इसके पुष्प और पत्र दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न तथा त्वचा ग्राही और शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—इसका पत्र रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—इसके पुष्प, पत्र और छाल श्लेष्मनिःसारक और कासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रमार्ग के शोथ एवं स्राव को दूर करता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के विस्फोट आदि को शान्त करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है विशेषतः विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—इससे विषों का नाश होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मूल और त्वचा का लेप सन्धिवात, वातरक्त आदि में करते हैं। पत्रकल्क का लेप व्रण पर करते हैं। पत्रस्वरस का नस्य लेने से दुष्ट जल बहुत निकलता है अतः शिरःशूल, प्रतिश्याय, कफज्वर, चातुर्थिक ज्वर आदि में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसके पत्रस्वरस का नस्य अपस्मार आदि में देते हैं। इससे बेहोशी दूर हो जाती है और आक्रमण रुकता है। इसके पक्व फल मेधाशक्ति को बढ़ाते हैं और मस्तिष्कदौर्बल्य में उनका प्रयोग होता है। इसके पत्र एवं पुष्प का प्रयोग तिमिर, नक्तान्ध्य आदि रोगों में दृष्टिशक्ति बढ़ाने के लिये करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबध, कृमि आदि उदरविकारों में पुष्प और पत्र का शाक खिलाते हैं तथा पत्रस्वरस देते हैं। संग्रहणी, अतिसार, उदरशूल आदि में इसकी त्वचा का स्वरस मधु के साथ प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—फुफ्फुसशोथ, कास एवं प्रतिश्याय के लिए अतीव उपयोगी है। इन रोगों में विशेषतः छाल का स्वरस मधु के साथ देते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, कफ आसानी से निकलता है और कास का वेग कम होता है।

प्रजननसंस्थान—इसके पुष्पों का प्रयोग श्वेतप्रदर में करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—यह पूयमेह में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—यह त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—यह कफज्वर, चातुर्थिकज्वर तथा सन्निपातज्वर में विशेष उपयोगी है।

सात्मीकरण—विषों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०; क्वाथ ५०-१०० मि० लि०

× × ×

सिद्धोऽगस्तिः पंक्तिपत्रो मृदुशिंबी महारुहः। अगस्त्यस्योदयं यावत् सपुष्प इव दृश्यते ॥' (शि.)

'अगस्त्यः पित्तकफजिच्चातुर्थिकहरो हिमः। रूक्षो वातकरस्तिक्तः प्रतिश्यायनिवारणः ॥'
तत्पुष्प पीनसश्लेष्मपित्तनक्तान्ध्यनाशनम्।' (भा. प्र.)

'अगस्त्यपत्र कटुक सतिक्तं गुरु कृमिघ्नं विशदं कफघ्नम्।
कण्डूहरं शोणितपित्तहारि स्यात् सूक्ष्ममुष्णं मधुरं विषघ्नम् ॥' (कै. नि.)

'मुनिशिंबी सरा प्रोक्ता बुद्धिदा रुचिदा लघुः। पाककाले तु मधुरा तिक्ता चैव स्मृतिप्रदा॥
त्रिदोषशूलकफहृत् पाण्डुरोगविषापनुत्। शोषगुल्महरा प्रोक्ता सा पक्वा रूक्षपित्तला ॥' (नि. र.)

'वृषागस्त्ययोः पुष्पाणि तिक्तानि कटुविपाकानि क्षयकासहराणि च।'
अगस्त्यं नातिशीतोष्णं नक्तान्धानां प्रशस्यते।' (सु. सू. ४६.)

'अगस्तिपत्रं मरिचं मूत्रेण परिपेषितम्। नस्यं शस्तमपस्मारं हन्ति शीघ्रं नरस्य तु ॥' (हारीत चि. १९.)

'अगस्तिपुष्पचूर्णेन माहिषं जनयेद्दधि। तदुत्थनवनीतेन देहजं स्फुटनं जयेत् ॥' (भा. प्र.)

'चातुर्थिकहरं नस्यं मुनिद्रुमदलाम्बुना।' (वै. जी.)
'नागरशोभाञ्जनयोः क्वाथः शूलं विनाशयेत् त्रिदिनात्।
मुनितरुवल्कक्वाथस्तद्वत् पटुरामठप्रतीवापः ॥' (वै. म.)

B. B. O., II, 256.
W. I., IX, 295–78.
F. I., II, 115.

श्वासहर

११६. शटी

परिचय

गण—श्वासहर, हिक्कानिग्रहण (च०)।

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी-Zingiberaceae)।

नाम—लै०-हेडिकियम् स्पाइकेटम (Hedychium spicatium Buch-Ham.);अं०-स्पाइक्ड जिंजर लिली (Spiked ginger lily); सं०-शटी, गन्धमूलिका (मूल अतिसुगन्धित होने से); पलाशी (काण्ड पत्रमय होने से); हि०-कपूरकचरी; बं०-कपूरकचरी; म० गु०-कपूरकाचरी पं०-शेदुरी

स्वरूप—यह बहुवर्षायु **क्षुप** हरिद्रा के समान लगभग ३ फीट ऊँचा होता है। **कन्द** (भौमिक काण्ड)-लंबे, कर्पूरवत् तिक्तरस तथा उग्रगंधि होते हैं। इसके गोल-गोल टुकड़े काट सुखा कर बाजार में 'कपूरकचरी' के नाम से बेचते हैं। बंगाल में यह एकांगी के नाम से प्रसिद्ध है। ये टुकड़े लगभग ½ इञ्च व्यास के, बाहर की ओर रुखड़ी रक्ताभ भूरी त्वचा से आवृत, भीतर की ओर श्वेतवर्ण तथा यत्र-तत्र उपमूलों से युक्त होते हैं। **पत्र**-लगभग १ फुट लंबे, अनियत चौड़ाई के; चिकने होते हैं। **पुष्पध्वज**-लगभग १ फुट लंबा होता है जिस पर मृदुरोमश श्वेतवर्ण पुष्प लगे रहते हैं। पुंकेशरसूत्र हलके लाल रंग का होता है। **फल**-गोलाकार चिकना होता है। वर्षाऋतु में पुष्प और फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः हिमालयप्रदेश में कुमायूं, नेपाल, भूटान आदि में ५-७ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—४ प्रतिशत सुगंधित तैल, स्टार्च (५२ प्रतिशत), कार्बनिक अम्ल, एक ग्लाइकोसाइड तथा भस्म (४·६ प्रतिशत) होती हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उष्ण होने से शोथहर और वेदनास्थापन है। यह दुर्गन्धनाशन और केश्य भी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कटु, तिक्त एवं उष्ण होने से रोचन, दीपन, शूलप्रशमन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक एवं रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर तथा हिक्कानिग्रहण है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप सन्धिशोथ में तथा आध्मान आदि में उदर पर किया जाता है। इसके चूर्ण का मंजन दन्तशूल में करते हैं। दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिए इसका चूर्ण धूप की तरह जलाते हैं और मुखदुर्गन्ध को दूर करने के लिए इसका मंजन करते हैं या इसका टुकड़ा मुँह में रखते हैं। खालित्य रोग में इसका चूर्ण केश में तैल के साथ लगाते हैं। तैल में मिलाकर इसके चूर्ण का नस्य शिरोरोगों में लाभकर है। व्रणों तथा त्वचा के रोगों में इसका लेप या उबटन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, उदरशूल और अतिसार में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तविकारों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, तथा हिक्का रोगों में यह लाभकर है। इसका धूपन भी हिक्का में प्रयुक्त होता है। इओसिनोफिलिया (Eosinophilia) तथा तमकश्वास के लिए यह उत्तम औषध है।

त्वचा—त्वग्दोषों में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वरों में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण १-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—शट्यादि चूर्ण, शट्यादि क्वाथ।

× × × ×

शटी पलाशी षड्ग्रन्था सुव्रता गन्धमूलिका। गन्धारिका गन्धवधूर्वधूः पृथुपलाशिका॥
भवेद्गन्धपलाशी तु कषाया ग्राहिणी लघुः। तिक्ता तीक्ष्णा च कटुकानुष्णास्यमलनाशिनी॥
शोथकासव्रणश्वासशूलहिध्मग्रहापहा।' (भा. प्र.)

शटी स्यात् कटुतीक्ष्णोष्णा सन्निपातज्वरापहा। कफासव्रणकासघ्नी वक्त्रशुद्धिविधायिनी॥ (ध. नि.)

शटी तिक्ता कटुस्तीक्ष्णा कषाया ग्राहिणी लघुः। अनुष्णा मुखवैरस्यमलदौर्गन्ध्यनाशनी॥
दोषकासव्रणश्वासशूलहिध्मज्वरापहा।' (कै. नि.)

W. I., V, 13-14.

F. I., VI, 227.

११७. कर्चूर

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी–zingiberaceae)

नाम—लैं०–कर्क्युमा जेडोआरिया (Curcuma zedoaria Rosc.) सं०–कर्चूर, द्राविड़ (द्राविडदेश–दक्षिण भारत में होने से); हि०–कचूर, नरकचूर; म०–कचोरा; गु०–षट्कचूरो, कचूरो; ते०–कचूरम्; अ०–झरंबाद । अं०–जेडोआरी (zedoary).

स्वरूप—इसका **क्षुप** हलदी के समान लगभग १½ फीट ऊँचा होता है। **कन्द**-अनेक, बड़े लगभग १ इञ्च व्यास के, मांसल होते हैं। **पत्र**–१–२ फुट लम्बे, आयताकार, लम्बाग्र, नीचे की ओर संकीर्ण होते हैं जिन पर बैंगनी रङ्ग के धब्बे होते हैं। पत्रवृन्त फलक से लम्बा होता है। **पुष्प**-हलके पीले रंग के होते हैं। कोणपुष्पक रक्ताभ और अपुष्प पत्र चमकीले लाल होते हैं। **फल**-त्रिकोणाकार, अण्डाकार, चिकना होता है। **बीज**-आयताकार, बीजावरण (aril) भालाकार, श्वेत होता है।

कन्द के अनुप्रस्थ टुकड़े सुखा कर बाजार में बेचे जाते हैं। ये धूसरवर्ण तथा कर्पूरगन्धि होते हैं। इन कन्दों से बंगाल में शोटी स्टार्च (Shoty starch) तैयार किया जाता है जो बार्ली, आरारोट के प्रतिनिधि रूप में बच्चों तथा रुग्णों के लिए पथ्य के काम आता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और बाद में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—पूर्वी हिमालयप्रदेश तथा कर्नाटक में विशेष होता है। आजकल इसकी खेती सर्वत्र की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल, पीताभ (१–२%), स्टार्च (८२.६%) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कटु-तिक्त और उष्ण होने के कारण यह रोचन, दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक, शोथहर तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न एवं श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह उष्ण होने से आर्त्तवजनन और वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है। विशेषतः आर्द्र कचूर का स्वरस मूत्र के प्रमाण को अधिक बढ़ाता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरों को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, शोथ एवं चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, शूल, गुल्म, अर्श और कृमि रोगों में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य, शोथ एवं रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है। शोथ में इसका पत्रस्वरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास एवं हिक्का रोगों में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव और ध्वजभंग में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—आर्द्र कचूर का स्वरस पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—त्वचा के विकारों में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में भी लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०; चूर्ण ३–६ ग्रा०

विशिष्ट योग—कर्चूरतैल।

वक्तव्य—कर्चूर के पर्यायों में निघण्टुकारों ने शटी का भी उल्लेख किया है किन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न द्रव्य हैं। सम्भवतः शटी के प्रतिनिधि रूप में कर्चूर का प्रयोग होने के कारण ऐसा हुआ है।

× × × ×

वर्षाभवो हरिद्राभदलः कंदी सुगंधिकः।
हढः शुभ्रो न च स्निग्धः शुभः कर्चूरको मतः॥ (शि.)

कर्चूरो दीपनो रुच्यः कटुकस्तिक्त एव च।
सुगन्धिः कटुपाकः स्यात् कुष्ठार्शोव्रणकासनुत्॥
उष्णो लघुर्हरेच्छ्वासगुल्मवातकफक्रिमीन्। (भा. प्र.)

रोचनो दीपनो हृद्यः सुगन्धिस्त्वग्विवर्जितः। कर्चूरः कफवातघ्नः श्वासहिक्कार्शसां हितः॥
(च. सू. २७)

कर्पूरः कटुतिक्तोष्णो रुच्यो वातबलासजित् । दीपनः प्लीहगुल्मार्शःशमनः कुष्ठकासहा ॥
(ध. नि.)

W. I., II, 405–6.
F. I., II, 220.

११८. पुष्करमूल

परिचय

गण—श्वासहर, हिक्कानिग्रहण (च०) ।

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae) ।

नाम—लै०–इन्युला रेसिमोसा (Inula racemosa Hook. f.) । सं०–पुष्करमूल, पद्मपत्र (कमल के समान पत्रों वाला); काश्मीर (कश्मीर प्रदेश में होने वाला), कुष्ठभेद (कुष्ठ के समान स्वरूप और गुणधर्म वाला); हि०–पोहकरमूल ।

स्वरूप—यह दृढ़ १–५ फीट ऊँची ओषधि है । काण्ड परिखायुक्त होता है । मूलीय पत्र–८–१८ इञ्च लम्बे, ५–८ इञ्च चौड़े, प्रायः उतने ही लम्बे पत्रवृन्त से युक्त होते हैं । काण्डीय पत्र–आयताकार, अर्धकाण्डसंसक्त, प्रायः मूलभाग में गहरे खंडित होते हैं । पुष्पमुण्डक–बड़े, पीले १½–२ इञ्च व्यास के, गुच्छों में होते हैं । फल–⅙ इञ्च लम्बे, चिकने तथा फलसंसक्त बहिर्दल (Pappus) ⅓ इञ्च लम्बा और रक्ताभ होता है । पुस्करमूल की जड़ कुष्ठ से मिलती-जुलती है अतः कश्मीर में इसकी मिलावट कूठ में करते हैं । इसकी ताजी जड में तीव्र कर्पूरवत् गन्ध होती है जो सूखने पर मन्द पड़ जाती है ।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तरपश्चिम हिमालय में ५–१४ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें इन्युलिन (inulin) नामक पदार्थ (१०%) तथा एक सुगन्धित तैल (१.३%) होता है । तैल का प्रमुख घटक एलेण्टोलैक्टोन (Alantolactone) है जो तीव्र कृमिघ्न है ।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है ।
संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, शोथहर तथा वेदनास्थापन है ।
आभ्यन्तर–नाड़ीसंस्थान—यह मस्तिष्कशामक है ।

पाचनसंस्थान—यह कटु–तिक्त और उष्ण होने से दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय के लिए बल्य है ।

श्वसनसंस्थान—यह कटु, तिक्त और उष्ण होने के कारण कफघ्न, कासहर, हिक्कानिग्रहण एव श्वासहर है । यह श्वसन के वेग को कम करता है, श्वास-नलिकाओं के संकोच को दूर करता है तथा हिस्टेमिन–प्रतिरोधी है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण–उष्ण होने से वृक्कों को उत्तेजित करता है अतः मूत्रजनन है ।

प्रजननसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण वाजीकरण तथा गर्भाशय को भी उत्तेजित करता है ।

त्वचा—यह तिक्त तथा स्वेदजनन होने से त्वग्दोषहर है ।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक, मेदोहर तथा शोथहर है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—क्षयज व्रणों में इसका अवचूर्णन या लेप करते हैं । शोथ-वेदनायुक्त स्थानों में भी लेप करते हैं । विशेषतः पार्श्वशूल में इसे घिस कर पार्श्वभाग में लेप करते हैं । इससे शोथ और पीड़ा कम होती है ।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातविकारों में प्रयुक्त होता है ।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान आदि उदरविकारों में उपयोगी है ।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशूल में इसका प्रयोग करते हैं ।

श्वसनसंस्थान—जीर्णकास, हिक्का, श्वास, फुफ्फुसावरणशोथ, पार्श्वशूल एवं क्षय में यह अत्यन्त लाभकर है । इससे रोगजन्य जीवाणुओं का नाश होता है, दोष शान्त होता है तथा शोथ, ज्वर एवं पीड़ा आदि लक्षण दूर होते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है ।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में यह उपयोगी है । इससे आर्त्तवकाल की पीड़ा शान्त होती है और आर्त्तव ठीक आने लगता है । वाजीकरण के लिए भी प्रयुक्त होता है ।

त्वचा—चर्मरोगों में यह प्रयुक्त होता है ।

तापक्रम—ज्वरों में भी प्रयोग करते हैं विशेषतः वातश्लैष्मिक ज्वर, प्रतिश्याय आदि में लाभकर है ।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य एवं पाण्डु में इसका सेवन कराते हैं। इससे पाचन ठीक होता है, मेदोधातु का आवरण हट कर हृदय एवं रक्तवह स्रोतों का कार्य ठीक होने लगता है। धात्वग्नियों के उत्तेजित होने से धातुपाक-क्रिया ठीक होती है जिससे दौर्बल्य दूर होता है। आमवात में भी लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—पुष्करमूलादि चूर्ण, पुष्करादि चूर्ण।

× × ×

'उक्तं पुष्करमूलं तु पौष्करं पुष्करं च तत्। पद्मपत्रं च काश्मीरं कुष्ठभेदमिमं जगुः॥
'पौष्करं कटुकं तिक्तमुष्णं वातकफज्वरान्।
हन्ति कासारुचिश्वासान् विशेषात् पार्श्वशूलनुत्॥' (भा. प्र.)

'पुष्करं कटु तिक्तोष्णं कफवातज्वरापहम्। श्वासारोचककासघ्नं शोफघ्नं पाण्डुनाशनम्॥'
(रा. नि.)

'पुष्करमूलं हिक्काश्वासकासपार्श्वशूलहराणाम्।' (च. सू. २५)

'तिक्तं पुष्करमूलं च कटूष्णं कफवातजित्। ज्वरारोचककासघ्नं शोफार्दितविनाशनम्॥
श्वासोर्ध्ववातपाण्डुघ्नं हिक्कादोषनिवारणम्।' (ध. नि.)

'चूर्णं पुष्करजं लिह्यान् माक्षिकेण समायुतम्। हृच्छूलश्वासकासघ्नं क्षयहिक्कानिवारणम्॥'
(भै. र.)

F. I., iii, 292
W. I., V. 236–7.

११९. भार्ङ्गी

परिचय

गण—पिप्पल्यादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–Verbenaceae)

नाम—लै०–क्लेरोडेण्ड्रम सिरेटम (Clerodendrum serratum (Linn.) Moon.); सं०–भार्ङ्गी; ब्राह्मणयष्टिका (पतले शाखारहित काण्ड से युक्त); खरशाक (रूक्ष पत्रयुक्त); पद्मा (कमलवत् पुष्प होने से); हि०–भारङ्गी, बम्नैटी; बं०–वामुनहाटी; म० गु०–भारङ्गी; ता०–अंगारवल्ली; ते० क०–गंडुबरंगी; मल०–कंकभरनी

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु झाड़ीदार **क्षुप** प्रायः २–८ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**–३–६ इञ्च लम्बे, ३–२ इञ्च चौड़े, खर, दन्तुर, लम्बे, आयताकार या अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्पमंजरी**–रोमश, ६ इञ्च लम्बी, १ इञ्च चौड़ी होती है जिसकी पार्श्विक शाखाओं पर गुच्छों में नीले या श्वेतवर्ण सुगन्धित पुष्प आते हैं।

कोणपुष्पक स्थायी, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, रोमश और प्रायः रंगीन होते हैं। **फल**–गोलाकार, $\frac{१}{४}$ इञ्च लम्बे, $\frac{१}{६}$ से $\frac{१}{२}$ इञ्च चौड़े, मांसल, १–४ अवयवों से युक्त, पकने पर जामुनी रंग के हो जाते हैं। अप्रैल से नवम्बर तक पुष्प और फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय में पूर्व की ओर विशेषतः नेपाल, कुमाऊँ, बंगाल और विहार में ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वक् में एक फेनोलिक ग्लाइकोसाइड तथा सैपोनिन का पता चला है। सैपोनिन में हिस्टेमिन-उत्सर्जक, तथा कोलिनेस्टरेज क्रिया-प्रतिरोधी धर्म पाये गये हैं। पौधे के घनसत्त्व में हिस्टेमिन-प्रतिरोधी क्रिया पाई गई है।

गुण

गुण–लघु, रूक्ष
रस–तिक्त, कटु
विपाक–कटु
वीर्य–उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह रक्तोत्क्लेशक, शोथहर और व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर–नाड़ीसंस्थान—यह उष्ण और कटु-तिक्त होने के कारण दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कासहर और श्वासहर है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—आमपाचन और उष्ण होने से ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—व्रणों को पकाने के लिए इसकी पत्तियों का लेप करते हैं। गण्डमाला आदि में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य और गुल्मरोग में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास एवं यक्ष्मा में यह लाभकर है। इसके मूल का स्वरस अदरख के स्वरस में मिला कर देने से श्वास का वेग शान्त हो जाता है।

तापक्रम—ज्वर में भी यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल ।

मात्रा—३–६ ग्रा० ।

विशिष्ट योग—भार्ङ्गीगुड़, भार्ङ्ग्यादि क्वाथ ।

वक्तव्य—क्लेरोडेण्ड्रम इण्डिकम (Clerodendrum indicum (Linn.) Kuntze) तथा प्रेमना हर्बेसिया (Premna herbacea Roxb.) भी जो बभनहाटी के नाम से प्रसिद्ध है भार्ङ्गी के नाम पर प्रचलित हैं ।

भार्ङ्गी के नाम पर बाजारों में पिक्रेस्मा क्वेसायडिस (Picrasma quaissioides Ben.) तथा गार्डिनिया टर्जिडा (Gardenia turgida Roxb.) की छाल भी बिकती है ।

× × × ×

'भार्ङ्गी रूक्षा कटुस्तिक्ता रुच्योष्णा पाचनी लघुः ।
दीपनी तुवरा गुल्मरक्तजिन्नाशयेद् ध्रुवम् ।।
शोथकासकफश्वासपीनसज्वरमारुतान् ।' (भा. प्र०)
'भार्ङ्गी तु कटुतिक्तोष्णा कासश्वासविनाशिनी ।
शोफव्रणकृमिघ्नी च दाहज्वरनिवारिणी ।।' (रा. नि)

M. P. I, 255–259.
W. I., II, 232.

१२०. दुग्धिका

परिचय

कुल—एरण्ड-कुल (युर्फबिएसी–Euphorbiaceae) ।

नाम—लै०–युर्फबिया थाइमिफोलिया (Euphorbia thymifolia Linn.); सं०–दुग्धिका, नागार्जुनी, स्वादुपर्णी, विक्षीरिणी; हि०–दुद्धी; बं०–केरई; म०–लहान नायटी; गु०–दुधेली; पं०–दोधक, हजारदाना; ता०–सित्रपलडि; ते०–पेडवरि; फा०–शीरक ।

स्वरूप—इसका बहुशाखायुक्त रोमश, ५–१० इञ्च लम्बा, वर्षायु क्षुप भूमि पर प्रसरणशील होता है। **पत्र**-छोटे, अभिमुख, लम्बगोल, ·१५–·३ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्तियों को तोड़ने से दूध निकलता है । अक्ष में हरे या गुलाबी अधःपत्रावली के गुच्छे होते हैं । **फल**-रोमश, उत्थित, ½ इञ्च चौड़े होते हैं । **बीज**–सिकुड़नयुक्त, नुकीले, चतुष्कोण होते हैं । पुष्प और फल वर्षाऋतु में आते हैं ।

युर्फबिया प्रोस्ट्रेटा (E. prostrata W. Ait.) भी इसी के समान आकार-प्रकार का होता है । अन्तर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र में देखने पर पता चलता है । थाइमिफोलिया प्रजाति में पूरा फल रोमश होता है जब कि प्रोस्ट्रेटा प्रजाति में फलों के केवल कोणों पर रोम होते हैं ।

दोनों प्रजातियों में भूमिभेद से हरे और लाल पौधे मिलते हैं ।

जाति—इसकी एक और बड़ी जाति होती है । यह दुग्धिका मध्यम प्रमाण की ताम्रवर्ण होती है । इसका लै० नाम युर्फबिया हिर्टा (E. hirta Linn.) है । इसका क्षुप १–२ फीट ऊँचा होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है । कश्मीर में ५५०० फीट की ऊँचाई तक होता है ।

रासायनिक संघटन—दुग्धिका में एक हरितवर्ण सुगन्धित तैल होता है जिसमें साइमोल (Cymol), कार्वाक्रोल (Carvacrol), लाइमोनिन (Limonine) तथा सैलिसिलिक अम्ल होते हैं । पत्तियों और तने में ग्लाइकोसाइड होता है ।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, विषघ्न और कुष्ठघ्न है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, भेदन और कृमिघ्न है ।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तशोधक है ।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासहर है । इससे श्वासप्रणालिकाओं का संकोच दूर होकर उनका विस्फार होता है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है ।

त्वचा—कुष्ठघ्न है ।

सात्मीकरण—विषघ्न भी है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं । विषाक्त जन्तुओं के दंश पर इसका लेप करते हैं ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, विबन्ध और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—हृदौर्बल्य तथा उपदंश, फिरंग आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास और श्वास में उपयोगी है। पंचांग पीस कर उसका कल्क १० ग्राम थोड़े जल में मिलाकर पीने से श्वास का वेग शान्त हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में तथा रजोरोध में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सर्प के काटने पर दुग्धिकाकल्क १० ग्रा० थोड़ी काली मिर्च मिला कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—कल्क–१०–२० ग्रा०।

× × × ×

'दुग्धिकोष्णा गुरू रूक्षा वातला गर्भकारिणी। स्वादुक्षीरा कटुस्तिक्ता सृष्टमूत्रमलापहा॥ स्वादुर्विष्टम्भिनी वृष्या कफकोष्ठकृमिप्रणुत्॥' (भा. प्र.)

M. P. I., I, 402

Sharma, G. P., D. Ay. M. Thesis (B. H. U.), 1970

Sharma G. P. and Sharma P. V.–J.R.I.M, VII, 2, 1971;

VII, 4, 1972.

१२१. सोम

परिचय

कुल—सोम-कुल (नेटेसी–Gnetaeae),

नाम—लै०–इफेड्रा जिरार्डियाना (Ephedra gerardiana Wall.); पं०–असमानिया, बुदागुर, लदाख-तिपत, त्राणो; जौनसार-टुटगंठा (त्रुटिग्रन्था ?).

स्वरूप—इसका झाड़ीदार पौधा ६ इञ्च से ४ फीट तक ऊँचा होता है। **काण्ड**-गांठदार तथा शाखायें गहरे हरे रंग की, लंबगोल, धारीदार, टेढ़ी-मेढ़ी, चक्रोत्पन्न होती हैं। **पत्र**-शल्कवत्, प्रत्येक पर्व पर दो, चक्राकार व्यवस्थित जो परस्पर संयुक्त होकर पर्व पर एक मि० मी० लंबा कोष बनाते हैं। **पुष्पमंजरी**-½–⅓ इञ्च लम्बी, प्रायः चक्रोत्पन्न होती है जिस पर एकलिंगी पुष्प होते हैं। **फल**-मधुर, मांसल, सरस, अंडाकार, रक्तवर्ण कोणपुष्पकों से बनता है जिसमें एक या दो उन्नतोदर बीज होते हैं। भौमिक काण्ड में गेंद के आकार की गाँठें होती हैं जिन्हें तिब्बती लोग इंधन के काम में लाते हैं। इसके तीन प्रकार (varieties) मिलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह तिब्बत तथा हिमालय प्रदेश में कश्मीर से सिक्किम तक ७–१६ हजार फीट की ऊँचाई पर मिलता है। पहले यह बलूचिस्तान से आता था। चीन इसका प्रमुख स्रोत रहा है।

रासायनिक संघटन—इसमें प्रमुख क्रियाशील पदार्थ इफेड्रिन (Ephedrine) होता है। भारतीय प्रजातियों में इफेड्रा मेजर में इफेड्रिन सर्वाधिक मिलता है। कश्मीर से एकत्रित इफेड्रा जिरार्डियाना में कुल क्षाराभ १·२२% होते हैं जिसका ५५·७% इफेड्रिन होता है।

संग्रह—पौधे की हरी शाखाओं का औषधीय प्रयोग होता है। चार वर्ष की आयु के पौधे से, पुष्पित अवस्था में, शरद् ऋतु में इसका संग्रह किया जाता है। शाखाओं को धूप में सुखा कर सूखे पात्रों में रखना चाहिए। आर्द्रता के संसर्ग से इसके क्षाराभ नष्ट हो जाते हैं। सोम में देवदारु के समान गंध तथा तीव्र कषाय रस होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष

रस—कषाय

विपाक—कटु

वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर एवं वेदनाशामक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीमंडल का उत्तेजक तथा सौमनस्यजनन है। नेत्रकनीनिका का भी विस्फारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय को उत्तेजित करता तथा रक्तभार को बढ़ाता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वसनकेन्द्र को उत्तेजित करता है तथा श्वासनलिकाओं को विस्फारित करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त अवस्थाओं में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मानसिक अवसाद तथा वातिक मनोविकार में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग के लिए यह उत्तम औषध है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—प्रतिश्याय आदि से उत्पन्न ज्वर में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—शाखायें।

मात्रा—चूर्ण–१–२ ग्रा०

विशिष्ट योग—सोमकल्प।

वक्तव्य—सोम एक प्राचीनतम संदिग्ध द्रव्य है। इस नाम से अनेक वनस्पतियाँ ली जाती हैं। इनमें प्रस्तुत द्रव्य संप्रति सोम नाम से श्वासरोग में व्यवहृत हो रहा है।

× × ×

शल्कपत्रस्तु सोमः स्यात् त्रुटिग्रन्था तथैव च।
प्रभूतहरितच्छायशाखो रक्तफलः स्मृतः।
सोमो रूक्षः कटुः पाके लघुरुष्णः कषायकः।
कफवातहरो हृद्यः परं श्वासापहो मतः॥ (स्व०)

F. I., V, 640, 863.
W. I., III, 177–180.
I. P., 268–272.

कण्ठ्य

१२२. मलयवचा

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी–Zingiberacee)।

नाम—लै०–ऐल्पिनिया गलंगा (Alpinia galanga willd.); सं०–मलय वचा (मलयप्रदेश–मलयेशिया में होने के कारण); सुगंधा (सुगंधयुक्त); स्थूलग्रन्थि (भौमिक काण्ड स्थूल होने के कारण); कुलंजन; हि०–कुलञ्जन, बं०–कुलंजन; म० गु०–कुलिलन; ता०–गेरारात्तई; ते० पेद्ददुम्प, एष्ट्रकम्; अ०–खूलंजान; फा०–खुसखेदारु; अं०–ग्रेटर गैलंगल (Greater galangal) जावा गलंगल (Java galangal)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ६–७ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**–पत्रमय, वचा के सदृश होता है। **पत्र**–१–२ फुट लंबे, ४–६ इञ्च चौड़े, हरे तथा स्निग्ध होते हैं। **पुष्पमंजरी**–½–१ फुट लम्बी, सघन रोमश, बहुविभक्त होती है जिसमें छोटे, हरिताभ श्वेत और वक्र पुष्प होते हैं। **फल**–नींबू के समान, गोलाकार, ½ इञ्च लंबा, बीच में सँकरा और रक्तवर्ण होता है। फल को अंग्रेजी में गलंगा कार्डेमम (Galanga cardamom) कहते हैं। **बीज**–प्रत्येक फल में ३–६, हलके भूरे रंग के, चपटे, त्रिकोणाकार और सुगंधित होते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प आते हैं।

इसका मूलस्तम्भ बहुवर्षायु आलू के सदृश कन्दमय और सुगन्धित होता है। इसके १–२ इञ्च लंबे और अंगुलि के बराबर मोटे टुकड़े बाजार में मिलते हैं।

ऐल्पिनिया ओफिसिनेरम (A. officinarum Hance), जो लेसर गैलंगल (lesser galangal) भी कहा जाता है; का भौमिक काण्ड इससे छोटा, रक्ताभ भूरा तथा उग्रतर गन्ध और स्वाद से युक्त होता है। भावप्रकाश में इसे महाभरी वचा कहा गया है और सुगन्धा और उग्रगन्धा इसके पर्याय दिये हैं। दक्षिण भारत में ऐलपिनिया गलंगा का प्रयोग रास्ना के नाम से होता है।

उत्पत्तिस्थान—मूलतः यह सुमात्रा और जावा का निवासी है किन्तु संप्रति पूर्वी हिमालय और दक्षिण-पश्चिम भारत में होता है। ऐल्पिनिया आफिसिनेरम चीन का मूल वासी है।

रासायनिक संघटन—महाभरी वचा में तीन फ्लेवोन-कैम्फराइड (kaempferide), गलंगिन (Galangin) तथा अल्पिनिन (Alplnin) पाये जाते हैं। मलयवचा के ताजे भौमिक काण्ड से एक पीताभ, सुगन्धित उड़नशील तैल ०.०४% प्राप्त होता है जिसमें ४८% मेथिल सिनेमेट (Methyl cinnamate), २०–३०% सिनिओल (Cineole), कर्पूर तथा डी–पाइनिन (d–pinene) पाये जाते हैं। पत्र से भी एक उड़नशील तैल प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, रूक्ष	रस—कटु
विपाक—कटु	वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शीतप्रशमन, लेखन और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए बलप्रद और उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह कटुतिक्त और तीक्ष्ण होने से मुखशोधन, रोचन, दीपन और अनुलोमन है। तीक्ष्ण होने से यह अतिमात्रा में आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करता है तथा पित्त को बढ़ाता है। इससे लालास्राव की भी वृद्धि होती है।

रक्तवहसंस्थान—इसके प्रयोग से महास्रोत में रक्त अधिक आने लगता है फलतः अन्य अवयवों में रक्तभार कम हो जाता है। हृदय का संकोच भी कुछ कम हो जाता है। इस प्रकार यह हृदय के लिए अवसादक माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है तथा श्वासनलिकाओं को प्रसारित करता है[१]

१. 'The Important action of the drug is, however, on the bronchioles. Even small doses produce a dilatation of the bronchioles and this effect is much more pronounced when the dose is increased. Asthma-like conditions produced artificially in animals by administering pilocarpine are immediately relieved by small doses of the tincture of A. Galanga.' —I. D. I., P. 275

अतः श्वासहर है। स्वरयंत्र की शक्ति को भी बढ़ाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र की मात्रा को कछ कम करता है।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है।

त्वचा—यह शीतप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अतिस्वेद के कारण या अवसाद की अवस्था में यदि शरीर की त्वचा ठंढी पड़ रही हो तो इसका चूर्ण त्वचा पर रगड़ते हैं। झाई आदि त्वचा के रोगों में भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीदौर्बल्य एवं वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मुखशोधन के लिए इसका टुकड़ा मुँह में रखते हैं। अरुचि, अग्निमांद्य एवं उदरशूल में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—वातिक हृद्रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद तथा मिन्मिन, गद्गद आदि स्वर के सभी विकारों में अतीव लाभकर है। इसके अतिरिक्त यह कास, श्वास में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह बहुमूत्र तथा प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभङ्ग में इसका प्रयोग करते हैं। इसको मुख में रखने से भी कामोत्तेजना बढ़ती है।

त्वचा—यह शीताधिक्य को दूर करने के लिए प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द (भौमिक काण्ड)।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—कुलिञ्जनाद्यवलेह।

\+ + + +

'सुगन्धाप्युग्रगन्धा च विशेषात्कफकासनुत्। सुस्वरत्वकरी रुच्या हृत्कण्ठमुखशोधनी॥'
स्थूलग्रन्थिः सुगन्धा स्यात्ततो हीनगुणा स्मृता। (भा. प्र.)

'कुलञ्जो गन्धमूलश्च तीक्ष्णमूलः कुलञ्जनः। कुलञ्जः कटुतिक्तोष्णो दीपनो मुखदोषनुत्॥'
(रा. नि.)

'कुलिञ्जनं कटुतिक्तमुष्णं चाग्निप्रदीपनम्। रुच्यं स्वर्यं च हृद्यं च मुखकण्ठविशुद्धिकृत्॥
मुखदोषं कफं श्वासं कासं वातं ध्रुवं जयेत्। बृहत्कुष्ठगुणैर्ज्ञेयं न्यूनमस्मादिति स्मृतम्॥'
(नि. र.)

प्रियव्रत शर्मा : द्रव्यगुणविज्ञान, चतुर्थ भाग, २३६–२३७
W. I., I, 62
F. I, VI, 253

१२३. हंसपदी

परिचय

गण—कण्ठ्य, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि (सु०)।

कुल—हंसराज-कुल (पौलिपोडिएसी–Polypodiaceae)।

नाम—ऐडिएन्टम् लुनुलेटम् (Adiantum lunulatum Burm.); सं०–हंसपदी (हंस के पैर के सदृश कोमल, रक्तवर्ण तथा कटे पत्रों वाली); रक्तपादी (रक्तवर्ण काण्ड होने से); त्रिपादिका, कीटमाता, हि०–हंसराज, समलपत्ती; म०, गु०–हंसराज; बं०–काली झाँट; अ०, फा०–परसियावशाँ; अं०–मेडन हेयर (Maiden hair)।

स्वरूप—यह एक फर्न है। इसका **क्षुप** ६ इञ्च से १½ फुट ऊँचा होता है। काण्ड भूमि के भीतर होता है। **पत्रदण्ड**–चिकना, सूत्रवत्, रक्ताभ कृष्ण होता है। **पत्रक**–अर्धवृत्ताकार या अण्डाकार-आयताकार, ½–१.३ इञ्च लंबे, आगे की ओर का किनारा सीधा तथा पीछे की ओर का किनारा मुड़ा और खण्डाकार होता है। इसके अधःपृष्ठ के किनारे पर ही प्रजननकोष होते हैं जिनसे अन्य क्षुप उत्पन्न होते हैं।

उत्पत्ति—यह जलासन्न प्रदेश तथा शीत पार्वत्य स्थानों में उत्पन्न होता है।

गुण

गुण—गुरु **रस**—कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, विषघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कण्ठ्य, कासहर एवं श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह शीत होने से मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विसर्प, प्लेग, लूताविष, व्रण एवं पैत्तिक शोथ में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, प्रतिश्याय, कास और श्वास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि.लि.; चूर्ण १-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—हंसपदी-पानक।

× × ×

'हंसपादी गुरुः शीता हन्ति रक्तविषव्रणान्।
विसर्पदाहातीसारलूताभूताग्निरोहिणीः॥' (भा. प्र.)
'हंसपादी हिमा गुर्वी रोपणी हन्ति शोणितम्।
दाहातीसारवीसर्पलूताशोथविषव्रणान्॥" (कै. नि.)

B. B, O., III, 1254

श्लेष्मपूतिहर

१२४. सरल

परिचय

गण—पुरीषविरजनीय (च०), एलादि (सु०)।

कुल—सरल-कुल (पाइनेसी-Pinaceae)।

नाम—लै०-पाइनस रौक्सबर्गाई (Pinus roxburghii Sargent.)। सं०-सरल (कांड सीधा होने के कारण); सुरभिदारुक (काष्ठ सुगन्धित होने से); हि०-चीड़; गु०-तेलियो देवदार; ता०-सरल देवाद्रु; ते०-देवदारु-चेट्टु, अं०-लौंगलीव्ड पाइन या चीड़ पाइन (Long-leaved Pine or chir Pine)।

स्वरूप—इसका वृक्ष बहुत ऊँचा प्रायः १००-१२५ फीट ऊँचा होता है। काण्ड की परिधि लगभग १२ फुट होती है। शाखायें इस क्रम से लगातार निकलती हैं कि वृक्ष का शीर्ष भाग गोलाकार दिखाई पड़ता है। **त्वचा**-१-२ इञ्च मोटी, बाहर से रक्ताभ धूसर तथा भीतर की ओर गहरे लाल रंग की, रुखड़ी तथा गहरे फटी हुई होती है। इससे लंबे टुकड़े छूटते रहते हैं। बाहरी **काष्ठभाग**-पीताभ श्वेत तथा सारभाग हलका लाल या रक्ताभ भूरा होता है। **पत्र**-सूच्याकार, ६-१५ इञ्च लंबे, ३ के गुच्छों में, 'त्रिकोणाकार, महीन दन्तुर, हलके हरे, एक कलामय कोष से आवृत तथा नीचे की ओर झुके होते हैं। पत्तियाँ लगभग २½ वर्ष तक वृक्ष पर बनी रहती हैं। **पुष्प**-½ इञ्च लंबे कोणक (Cone) के रूप में व्यवस्थित होते हैं। स्त्रीकोणक एक या ३-५ एक साथ, अंडाकार, ४-८ इञ्च लम्बे और ३-५ इञ्च व्यास के, पकने पर भूरे रंग के, काष्ठीय हो जाते हैं। बीज वाहक पत्र (Scales) स्थूलतीक्ष्णाग्र तथा मुड़े हुए चंचु से युक्त होते हैं। **बीज**-·३ इञ्च लम्बे, पतले झिल्लीदार लम्बे पंखों से युक्त होते हैं।

पुंपुष्प जनवरी में आते हैं, फल अगले वर्ष जून-जुलाई में प्रौढ़ हो जाते हैं, उसके अगले वर्ष ग्रीष्म ऋतु में ये फूट जाते हैं जिनसे बीज बाहर निकल जाता है। इस प्रकार पूरी प्रक्रिया में लगभग २६ मास लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बाहरी हिमालय प्रदेश के वनों में कश्मीर से भूटान तक १½-६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। इसके वन समूहबद्ध होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके कांड में क्षत करने से एक तैलीय राल-निर्यास निकलता है, इसे गंधाबिरोजा (श्रीवेष्टक, श्रीवास, सरलनिर्यास) कहते हैं। गंधाबिरोजा से परिस्रवणविधि के द्वारा जो तैल प्राप्त होता है, उसे 'तारपीन का तेल' (Turpentine oil) कहते हैं। एक पात्र में दूध और जल समभाग ले, उस पर कपड़ा बाँध उसके ऊपर गन्धाबिरोजा डाल कर नीचे अग्नि देने से यह टपक कर नीचे के पात्र में जम जाता है। इसे 'बिरोजे का सत्त्व' कहते हैं। तैल निकालने के बाद जो अवशिष्ट भाग रहता वह भी विरोजा (Rosin) नाम से व्यवहृत होता है। इसके ऊर्ध्वपातन से एक पीताभ तैल (Rosin spirit or pinoline) ३-१०% तथा एक गाढ़ा भूरा द्रव (Rosin oil) ८०-८५% प्राप्त होता है। इसकी पत्तियों (कोमल शाखाओं और फूलों से भी) से ०·२६% सुगन्धित तैल निकलता है। तैल निकलने पर पत्तियों का जो अवशेष रहता है वह पाइन वूल (Pine wool) कहलाता है।

गन्धाबिरोजा से २० प्रतिशत तैल प्राप्त होता है। इसमें पाइनिन (Pinene), कैरीन (Carene), लौंगिफोलिन (Longifolene) तथा अन्य टर्पीन पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध   **रस**—कटु, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, रक्तोत्क्लेशक, रक्तरोधक तथा व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह मस्तिष्क तथा नाडियों का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण होने से दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तरोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है। इससे फुफ्फुस तथा श्वासनलिका का रक्तसंवहन बढ़ता है तथा रक्तनिष्ठीवन बन्द होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—वह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा और फुफ्फुसों से होता है।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने से वमन, अतिसार, अवसाद्र, नाडी-मन्दता, मूत्रदाह, मूत्ररक्तता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त मस्तिष्क के प्रभावित होने से तन्द्रा, संज्ञानाश और पक्षाघात होते हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—तारपीन के तैल में कपूर मिला कर सन्धिशोथ, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल आदि में मालिश करते हैं। आध्मान में इसका तैल गरम जल में मिलाकर उससे उदर का स्वेदन करते हैं। रक्तस्राव को रोकने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। गंधाविरोजा व्रणों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, पित्ताश्मरी तथा कृमिरोग में यह लाभकर है। विशेषतः स्फीतकृमि (Tape worm) में ६–१२ मि० लि० की मात्रा में इसका तैल प्रयुक्त होता है किन्तु इसमें सतर्कता की आवश्यकता है। कृमिरोग में तैल की बस्ति भी देते हैं। आमाशयिक व्रण तथा आन्त्रिक ज्वर में रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग होता है। आध्मान एवं अन्त्रावरोध में भी तैल की बस्ति देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह अल्प मात्रा में हृद्दौर्बल्य तथा रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, जीर्णकास और यक्ष्मा में यह अतीव उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण बस्तिशोथ और पूयमेह में गन्धाविरोजा उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गंधाविरोजा का सत्त्व श्वेतप्रदर में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा से उत्सृष्ट होने के कारण यह त्वचा के विकारों तथा स्वेद-दौर्गन्ध्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—काष्ठ, निर्यास, तैल।

मात्रा—काष्ठचूर्ण १–३ ग्रा०, तैल १–३ बूंद।

× × × ×

सरलः पीतवृक्षः स्यात्तथा सुरभिदारुकः। सरलो मधुरस्तिक्तः कटुपाकरसो लघुः॥
स्निग्धोष्णः कर्णकण्ठाक्षिरोगरक्षोहरः स्मृतः। कफानिलस्वेददाहकासमूर्च्छाव्रणापहः॥

(भा. प्र.)

सरलः कटुतिक्तोष्णः कफवातविनाशनः।
त्वग्दोषशोथकण्डूतिव्रणघ्नः कोष्ठशुद्धिदः॥ (रा. नि.)

सरल…सारस्नेहास्तिक्तकटुकषायाः दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च॥

(सु. सू. ४५)

F. I., V, 652.
W. I. VIII, 69–77.
B. B. O., III, 1285.
I. P, 777–78.

१२५. तैलपर्ण

परिचय

कुल—लवङ्ग-कुल (मिर्टेसी–Myrtaceae)।

नाम—लै०–युकेलिप्टस् ग्लोबुलस (Eucalyptus globulus Labill.)। सं०–तैलपर्ण (पत्र तैलयुक्त होने से), सुगन्धपत्र (पत्र सुगन्धित होने से); हरितपर्ण (पत्र सदाहरित होने से); नीलनिर्यास (त्वचा से नीलवर्ण निर्यास निकलने के कारण)। हि०–युकेलिप्टस। अं०–तास्मेनियन ब्लुगम युकेलिप्ट (Tasmanian blue-gum Eucalypt.)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०० फीट तक ऊँचा होता है। **काण्ड**-सीधा और लम्बा होता है। **छाल**-प्रायः नीलाभ या धूसर श्वेत होती है जिस पर पुरानी छाल के अवशेष के चिह्न रहते हैं। **प्रशाखाएँ**-किञ्चित् कोणीय होती हैं। **पत्र**-अखण्ड, सरल, प्रौढावस्था में पर्यायक्रम से, सवृन्त भालाकार, ६–१२ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, किन्तु तरुणावस्था में अवृन्त, अभिमुख, हृद्वत्-लट्वाकार, श्वेतक्षोदयुक्त होते हैं जिनको मसल कर सूंघने से सुगन्ध आती है। **पुष्प**-श्वेत, कभी-कभी पीताभ या रक्ताभ, प्रायः अक्षीय मुण्डकों में होते हैं। **फल**-प्रायः गोलाकार, बहिर्दलनलिका में लगा हुआ, शीर्षभाग पर स्फुटनशील होता है। **बीज**-अनेक छोटे होते हैं। त्वचा में क्षत होने से नीले रंग का निर्यास निकलता है। वास्तव में यह गोंद नहीं होती, किन्तु कषाय (टैनिन) प्रधान पदार्थ होता है जिसे किनो (Kino) कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आस्ट्रेलिया और तस्मानिया का मूल निवासी वनस्पति है। संप्रति नीलगिरि पर्वत, शिमला, शिलांग में उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों तथा टहनियों में पीताभ सुगन्धित तैल ०·६–१·२ प्रतिशत प्राप्त होता है। युकेलिप्टस् तैल उपयोगानुसार औषधीय, औद्योगिक तथा गान्धिक इन तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। औषधीय तैल में सिनिओल (Cineol) प्रमुख घटक ६०% होता है जो मुख्यतः इससे तथा

युकेलिप्टस की साइडेरॉक्सिलान, ल्युकाक्सिलॉन तथा इलिओफोरा प्रजातियों से प्राप्त किया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—जन्तुघ्न, पूतिहर एवं उत्तेजक है। नये तैल की अपेक्षा पुराना तैल अधिक पूतिहर होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों का उत्तेजक तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में देने पर तैल उष्ण होने के कारण दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है। इसका निर्यास कषायप्रधान होने से ग्राही है। अधिक मात्रा में तैल का प्रयोग करने से वमन, अतिसार एवं मरोड़ होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—अल्प मात्रा में हृदय को उत्तेजित करता है तथा अधिक मात्रा में दुर्बल बनाता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न एवं श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है। इससे प्लीहा का संकोच भी होता है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग वृक्क, त्वचा, फुफ्फुस तथा मूत्र-प्रजनन-यन्त्र की श्लेष्मल कला से होता है। मूत्र में तैल की सी गन्ध आती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मलहम व्रणों में लगाते हैं। सन्धिवात आदि में इसको सर्षपतैल के साथ मिला कर अभ्यङ्ग करते हैं। फुफ्फुस के पुराने रोग, यक्ष्मा, जीर्णकास, कुकुरखाँसी तथा रोहिणी रोगों में इसका बाष्प लेते हैं या तैल सूंघते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह शिरःशूल, अङ्गमर्द तथा वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, आध्मान तथा कृमिरोग में देते हैं। कृमिरोग विशेषतः तन्तुकृमि में इसके तैल की बस्ति देते हैं। अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में इसका निर्यास देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—यह स्वरभेद, जीर्णकास एवं फुफ्फुस रोगों में दिया जाता है। इससे कफ शान्त होता है। कफ की दुर्गन्ध दूर होती है तथा रोगजन्य जीवाणु नष्ट होते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा जीर्ण पूयमेह में यह लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के विकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण और विषमज्वरों में इसके पत्र का फाण्ट या छायाशुष्क पत्र का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, निर्यास, तैल

मात्रा—पत्रचूर्ण-१-२ ग्रा०; फाण्ट-२०-५० मि० लि० (पत्रचूर्ण ५-१० ग्रा० २० गुने गरम जल में देकर फाण्ट बनावे); निर्यास-१-२ ग्रा०।

तैल—१-३ बूंद

× × ×

तैलपर्णः सुगन्धाढ्यपत्रो हरितपर्णकः।
सृजति क्षतमात्रेण नीलनिर्यासयिरयसौ ॥
तैलपर्णः लघुः स्निग्धः कटुतिक्तकषायकः।
वीर्योष्णः कफवातघ्नः पूतिजन्तुहरः स्मृतः ॥
जीर्णकासे प्रतिश्याये स्वरभेदे च शस्यते। (स्व.)

W. I., III, 203-216.
I. P., 293-294.

पञ्चम अध्याय

दीपनादि वर्ग

(पाचन-संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

लालाप्रसेकजनन

१२६. लंका

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae) ।

नाम—लै०-कैप्सिकम एनुअम (Capsicum annuum Linn.); सं०-लंका, कटुवीरा (कटुरस द्रव्यों में प्रधान); रक्तमरिच (लाल मिर्चा); पित्त-कारिणी; हि०-लालमिर्चा; म०-लाल मिर्ची; गु०-मरचाँ; बं०-लंका मरिच, गाछ मरिच; ता०-सिलागे, ते०-मिर्चा काया; क०-मेनासिना कई, म०-मुलुक; अ०-फिलहिले अहमर; फा०-फिलहिले सुर्ख; अं०-रेड चिलीज (Red chillies) ।

स्वरूप—यह वर्षायु २-३ फीट ऊँचा **क्षुप** होता है । **पत्र**-लम्बे, भालाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं । **पुष्प**-श्वेतवर्ण, पत्तियों के अक्षभाग में एकाकी होते हैं । **फल**-कच्ची अवस्था में हरे तथा पकने पर लाल, पीले अनेक वर्ण के होते हैं । **बीज**-एक फल में अनेक, छोटे और चपटे, बैंगन के बीज के सदृश होते हैं । **जाति**-इसकी एक दूसरी प्रजाति (C. frutescens Linn.) बहुवर्षायु होती है । इसका क्षुप झाड़ीदार, बड़ा लगभग ६ फीट तक ऊँचा होता है । इसके पुष्प गुच्छों में आते हैं । इन प्रजातियों के अनेक प्रकार आकृति और फल की कटुता के अनुसार किये गये हैं ।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम स्थान ब्राजिल कहा जाता है किन्तु आजकल समस्त भारत में विशेषतः मद्रास, बिहार, आन्ध्र और महाराष्ट्र में इसकी खेती की जाती है । सितम्बर में इसकी पौध लगाई जाती है और जनवरी-फरवरी में फल तैयार हो जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसमें एक स्फटिकीय कटु द्रव्य कैप्सेकिन (Capsaicin) के कारण इसकी कटुता और तीक्ष्णता होती है । इसकी मात्रा ०.१ प्रतिशत होती है । हरे फलों में आर्द्रता ८२.६%, प्रोटीन २.९%, वसा ०.६%, कार्बोहाइड्रेट ६.१%, सूत्र ६.८%, खनिज १%, कैलशियम ०.०३%, फास्फोरस ०.०८% लौह, ०.००१२%, विटामिन सी० १११ मि.ग्रा. कैरोटिन ४५४ इ० यु. प्रति १०० ग्रा० होता है । सूखे मिर्चे में आर्द्रता १०%, प्रोटीन १५.९%, वसा ६.२%, कार्बो-हाइड्रेट ३१.६%, सूत्र ३०.२%, खनिज पदार्थ ६.१%, कैलशियम ०.१६%; फास्फोरस ०.३७%, लौह ०.००२३%, विटामिन सी ५० मि. ग्रा., कैरोटिन

५७६ इ. यु. प्रति १०० ग्राम होता है । इसके अतिरिक्त, विटामिन ई २.४ मि.ग्रा. प्रति १०० ग्राम होता है । अलुमिनियम, बेरियम, ताम्र, लिथियम, मैंगेनीज, सिलिकान, टिटेनियम भी सूक्ष्म मात्रा में होते हैं । सूखे फलों से एक लाल गाढ़ा स्थिर तैल (९-१३%) तथा ऊर्ध्वपातन से एक उड़नशील तैल (०.१६-०.३९%) प्राप्त होता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कटु, उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और रक्तोत्क्लेशक है ।

नाडीसंस्थान—यह वातहर है । कुछ निद्राजनन भी है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण लालाप्रसेकजनन, दीपन, पाचन और अनुलोमन है । अतिमात्रा में यह विदाह उत्पन्न करता है ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है ।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने से वाजीकरण है ।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है ।

सात्मीकरण—यह कटुविपाक और तीक्ष्ण होने से धातुनाशक है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कफज शिरःशूल, आमवात, कटिशूल, पार्श्वशूल और गृध्रसी में इसका लेप लगाते हैं । डिफ्थीरिया तथा कण्ठशालूक में इसका लेप करते हैं । गले के रोगों में इसके फाण्ट (१ बोतल पानी में १० ग्रा०) से कुल्ला करते हैं । कुत्ता काटने पर दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं इससे विष बाहर निकल जाता है, वेदना शान्त हो जाती है तथा क्षत में पूय नहीं होने पाता । इसे सर्षपतैल में पका कर चर्म रोगों में यह तैल लगाते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह सन्धिवात, आमवात आदि में प्रयुक्त होता है । प्रलाप एवं मदात्यय में भी लाभकर है ।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य एवं आनाह में प्रयुक्त होता है । विसूचिका में हींग और कर्पूर के साथ इसकी गोली बनाकर देते हैं । इससे पेट ठीक होता है और अवसाद नहीं होने पाता ।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य तथा अवसाद की अवस्था में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अल्प मात्रा में यह मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना के लिए दिया जाता है।

तापक्रम—सन्ततज्वर, सन्निपातज्वर तथा विषमज्वर में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में व्यवहृत होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३०-६० मि० ग्रा०।

विशिष्ट योग—विषमज्वरघ्नी वटी, लंकासुरा (टिंचर कैप्सिकम)

अहितकर—यह पित्तप्रकृति पुरुषों के लिए हानिकर है।

निवारण—इसका अहित प्रभाव दूर करने के लिए पर्याप्त दूध और घी लेना चाहिए।

× × ×

लंका तीक्ष्णा कटूष्णाऽति लालास्रावकरी मता।
विदाहजननी पित्तकारिणी कफवातहृत् ॥ (स्व.)
कटुवीरोज्ज्वला तीक्ष्णा तीव्रशक्त्यजडे तथा।
कटुवीराग्निजननी बलासघ्नी च दाहिनी ॥
हन्त्यजीर्णं विसूचीं च व्रणं विलक्षं सुदारुणम्।
तन्द्रां मोहं प्रलापं च स्वरभेदमरोचकम् ॥
नरं लुप्तधरं क्षीणं सन्निपातनिपीडितम्।
नष्टेन्द्रियगणं तीक्ष्णा मृत्योराकृष्य जीवयेत् ॥ (आ. वि.)
अरोचरेतःकफवातहारिणी विपाचिनी शोणितपित्तकारिणी।
मेदोऽग्निनिद्रानलमान्द्यकारिणी विसूचिकां कृन्तति पित्तकारिणी ॥
(सि. भे. म.)

I. P., 145–147
W. I. ii, 69–73

तृष्णानिग्रहण

१२७. यवास

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-ऐल्हेगी कैमेलोरम (Alhagi camelorum Fisch.); सं०-यास, यवास, दुःस्पर्श (कण्टकित होने से); हि०-म०-जवासा; गु०-जवासो; बं०-

जवसा; अ०-हाज, अल्गौल; फा०-खारेशुतुर; अं०-पर्शियन मन्ना प्लाण्ट (Persian manna plant), कैमल थॉर्म (Camel thorn)

स्वरूप—इसका प्रसरणशील कण्टकित झाड़ीदार **क्षुप** हरितवर्ण का २-३ फुट ऊँचा होता है। काँटे .२-१.५ इञ्च लंबे अक्षीय होते हैं। **पत्र**–.४-.६ इञ्च लंबे, आयताकार, कड़े, चिकने, झुके हुए, पत्राग्र गोल एवं रोमश होता है। **पुष्प**–.३ इञ्च लंबे, रक्तवर्ण, १-१½ इञ्च लंबी मंजरियों में लगते हैं। **फल**–१ इञ्च लंबा, सीधा या मुड़ा हुआ होता है। **पुष्प**–वसन्त में तथा फल ग्रीष्म में आते हैं। गर्मियों में इसका पौधा हरा-भरा रहता है। बरसात में सूख जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह गुजरात, पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा राजस्थान के शुष्क प्रदेशों में तथा सिन्ध, बलूचिस्तान, मिस्र, सीरिया, ईरान तथा अरब में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके क्षुप से एक प्रकार का निर्यास निकल कर जम जाता है उसे यासशर्करा (तुरञ्जबीन–manna) कहते हैं। इसके रक्ताभ श्वेत रंग के छोटे दाने होते हैं जो आपस में चिपक कर पिण्डाकार हो जाते हैं। यासशर्करा में इक्षुशर्करा २६.४ प्रतिशत रहती है। यासशर्करा ईरान से भारत में आयातित होती है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध	**रस**—मधुर, तिक्त, कषाय
विपाक—मधुर	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शामक है। स्निग्ध होने से यह कफनिःसारक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन एवं रक्तरोधक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मस्तिष्क पर शामक प्रभाव पड़ता है।

पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रह, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तरोधक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है तथा श्वासयन्त्र की रूक्षता को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—तिक्तरस और शीत होने से दाह और ज्वर को शान्त करता है।

सात्मीकरण—स्निग्ध-मधुर होने से बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में इसके पत्रस्वरस का नस्य लेते हैं। अर्श के अंकुर को इसके क्वाथ से धोते हैं तथा इसके पञ्चाङ्ग को पीस कर लेप करते हैं। इससे वेदना, शोथ शान्त होते हैं और रक्त रुक जाता है। इसके पक्व तैल का अभ्यङ्ग सन्धिवात आदि में करते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ का गण्डूष लेते हैं या वाष्प सेवन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मूर्च्छा, भ्रम, मस्तिष्कदौर्बल्य आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान - यह छर्दि, तृष्णा, विबन्ध तथा अर्श में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि में प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में यह उपयोगी है। कास-श्वास में इसके पञ्चाङ्ग का धूमपान भी करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर तथा उसके वातपैत्तिक उपद्रवों (तृष्णा, वमन, दाह आदि) में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग, यासशर्करा।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०; क्वाथ-४०-८० मि० लि०; यासशर्करा; ३-६ ग्रा०।

× × ×

'यासः स्वादुः सरस्तिक्तस्तुवरः शीतलो लघुः। कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तासृक्कुष्ठकासजित्॥
तृष्णाविसर्पवातास्रवमिज्वरहरः स्मृतः।' (भा. प्र.)

यवासकः स्वादुतिक्तो ज्वरतृड्रक्तपित्तनुत्। (ध. नि.)

'कषायमधुरा शीता सतिक्ता यासशर्करा।' (च. सू. २७)

'यवासशर्करा मधुरकषाया तिक्तानुरसा श्लेष्महरी सरा च।' (सु. सू. ४५)

'यवासाधूमपानेन कासो नश्यति तत्क्षणात्।' (वैद्यामृत)

१२८. धन्वयास

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण, अर्शोघ्न (च०)।

कुल—गोक्षुर-कुल (जाइगोफिलेसी-Zygophyllaceae)।

नाम—लै०-फैगोनिया क्रेटिका (Fagonia cretica Linn.) सं०-धन्वयास (मरुभूमि में होने वाला यवास); दुरालभा (कठिनता से प्राप्त होने वाली); समुद्रान्ता (समुद्रपार या समुद्र के आसपास पाई जाने वाली); गान्धारी (गान्धार-अफगानिस्तान में विशेष होने वाली); दुस्पर्शा, कच्छुरा (कंटकित); अनन्ता (मूल गम्भीर होने से); हि०-धमासा; बं०-दुरालभा; म०-धमासा; गु०-धमासो; पं०-धमांह; ता०-तुलगनरि; ते०-गिलारेगाति; अं०-खोरासान थॉर्न (Khorasan thorn)।

स्वरूप—इसका हरित वर्ण का १-३ फुट ऊँचा कंटकित क्षुप होता है। **शाखाएं**-कठिन, ग्रन्थियुक्त, नई शाखायें धारीदार होती हैं। **पत्र**-अभिमुख, १-३ पत्रकयुक्त; पत्रक-अण्डाकार या रेखाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। काटे पत्रकों से लम्बे होते हैं। प्रत्येक पत्ती के पास दो तीक्ष्ण काँटे होते हैं। **पुष्प**-हलके लाल रंग के होते हैं। अन्तर्दल से बहिर्दल लम्बाई में दूना होता है। **फल**-रोमश, पञ्चकोण कंटकाग्र, प्रायः मुड़े हुए फलवृन्त जितना लम्बा होता है। शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर प्रदेश पंजाब, पश्चिम भारत, सिन्ध, अरब, अफगानिस्तान, खुरासान आदि प्रदेशों में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—कषाय, तिक्त, मधुर, कटु
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, कोथप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह कषायतिक्त होने से रक्तस्तम्भक और रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का भी कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके फाण्ट या क्वाथ से अंगों का परिषेक करने

से दाह, ज्वर और कण्डू शान्त होती है। मुखपाक तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ का गंडूष करते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों को धोते हैं तथा पीस कर अपची और कच्छू में लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—भ्रम, मूर्च्छा आदि में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—छर्दि, अतिसार, ग्रहणी आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ आदि में इसका प्रयोग होता है। श्वास में इसका धूम्रपान भी करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—त्वचा के विकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में यह अधिक व्यवहृत होता है। मसूरिका के प्रतिषेध के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में विशेषतः अतिसार के बाद दुर्बलता को दूर करने के लिए यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण-५-१० ग्रा० (हिम बनाकर दिया जाता है), फाण्ट-४०-८० मि० लि०।

विशिष्ट योग—दुरालभादि क्वाथ, दुरालभादि कषाय।

× × × +

'दुरालभा दुरालंभा समुद्रान्ता च रोदिनी। गान्धारी कच्छुरानन्ता कषाया हरिविग्रहा॥
..................। यवासस्य गुणैस्तुल्या बुधैरुक्ता दुरालभा॥' (भा. प्र.)

'दुरालभा स्वादुशीता तिक्ता दाहविनाशिनी। विषमज्वरतृड्छर्दिमेहमोहविनाशिनी॥'
(रा. नि.)

'पिबेद् दुरालभाक्वाथं सघृतं भ्रमशान्तये।' (च० द०)

१२९. पर्पट

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण (च०)।

कुल—पर्पट-कुल (फ्युमेरिएसी-Fumariaceae)।

नाम—लै०-फ्युमेरिया वैलेण्टिआइ (Fumaria vaillantii Loisel.); सं०-पर्पट; वरतिक्त (तिक्त द्रव्यों में श्रेष्ठ); रेणु, (क्षोदयुक्त होने से), सूक्ष्मपत्र (छोटे पत्रों वाला); हि०-पित्तपापड़ा, धमगजरा; बं०-वनशुलफा; पं०-शाहतरा; फा०-शाहतर; अ०-शाहतरज; ता०-तुरा; ते०-चतरासी।

स्वरूप—इसका बहुशाखायुक्त, हलके हरे रंग का, प्रसरी, वर्षायु, क्षोदयुक्त क्षुप ½-२ फुट तक ऊँचा होता है जो शीतकाल में यव, गेहूँ के खेतों में बहुलता से देखा जाता है। **पत्र**—गाजर के सदृश, सूक्ष्म, कटे हुए, चपटे, रेखाकार होते हैं। **पुष्प**—छोटे, ·२-·३ इञ्च लम्बे, श्वेत या गुलाबी रंग के अग्रभाग पर बैंगनी रंग के होते हैं। पुष्पमञ्जरी-१-२ इञ्च लम्बी होती है। बहिर्दल अन्तर्दलनलिका से बहुत छोटे होते हैं। **फल**—छोटे, गोलाकार होते हैं जिसके अग्रभाग पर दो खात होते हैं। पुष्प और फल शीत ऋतु में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह गंगानदी के प्रदेश, हिमालय की तराई और नीलगिरि में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें पेण्टाट्राइएकोन्टेन (Pentatriacontane) नामक क्षाराभ (०·५%)। टैनिन, फ्लोबेफीन तथा शर्करा होती है। इसकी भस्म में पोटाशियम लवणों की बहुलता होती है।

गुण

गण—लघु **रस**—तिक्त
वीर्य—कटु **विपाक**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफ का तथा तिक्त-शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क का शामक है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन, ग्राही, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा, यकृत् और वृक्क से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—भ्रम, मूर्च्छा, मदात्यय आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, कृमि, यकृद्विकार तथा कामला में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, वातरक्त आदि रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के विकारों (कुष्ठ आदि) में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०; क्वाथ ५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—पर्पटादि क्वाथ, पर्पटाद्यरिष्ट।

वक्तव्य—विदेशी पर्पट (शाहतरा–F. officinalis Linn.) भारत में नहीं होता, प्रायः ईरान से उसका आयात होता हैं।

× × ×

'पर्पटो वरतिक्तश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः। कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः॥
पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्। संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्वातलो लघुः॥'
(भा. प्र.)

पर्पटः शीतलस्तिक्तः पित्तश्लेष्मज्वरापहः। रक्तदाहारुचिग्लानिमदभ्रमविनाशनः॥'
(ध. नि.)

'पर्पटाः तिक्ताः पित्तकफापहाः।' (सु. सू. ४६)
'शाकं पार्पटकं च यत्। कफपित्तहरं तिक्तं शीतं कटु विपच्यते॥' (च. सू. २७)
'मुस्तपर्पटकोशीरचन्दनोदीच्यनागरैः। शृतशीतं जलं देयं पिपासाज्वरशान्तये॥'
(च. चि. ३)

W. I., IV, 68.

१३०. धान्यक

परिचय

गण—तृष्णानिग्रहण, शीतप्रशमन (च०); गुडूच्यादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा–कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०–कोरिएण्ड्रम सेटाइवम् (Coriandrum sativum Linn.); सं०–धान्यक (क्षुद्र धान्य के सदृश बीज होने के कारण); छत्रा (छत्राकार पुष्प वाला); कुस्तुम्बुरु (कुत्सितं रोगसमूहं तुम्बति अर्दयति इति—जो रोगसमूह को नष्ट करे त्रिदोषहर होने के कारण); वितुन्नक (विगतं तुन्नं दुःखमस्मात्–जिसके सेवन से कष्ट दूर हो जाँय); हि०–धनियाँ; बं०–धणे; गु०–धाणा; मा०–कोता-मल्लि; ते०–धनियालुः क०–कोथम्बरी; मल०–कोथुमपलरी; अ०–कुज्बरः; फा०–कश्नीज; अं०–कोरिएण्डर (Coriander)।

स्वरूप—इसका वर्षायु कोमल शाखा–प्रशाखायुक्त, गन्धयुक्त, १–३ फीट ऊँचा क्षुप होता है। **पत्र**–पक्षवत् विभक्त होते है जिसमें नीचे के पत्रक लट्वाकार, खंडयुक्त तथा दन्तुर और ऊपर के पत्रक रेखाकार होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या

बैंगनी संयुक्त अन्त्य मुण्डकों में होते हैं। **फल**–गोलाकार, पीताभ भूरे, धारीदार होते हैं जो दबाने पर दो भागों में विभक्त हो जाते हैं जिसमें एक-एक बीज होता है। शीतऋतु के अन्त में फूल और फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—फलों में आर्द्रता ११·२, प्रोटीन १४·१, वसा १६·१, कार्बोहाइड्रेट २१·६, सूत्र ३२·६, खनिज पदार्थ ४·४, कैल्शियम ०·६३, फास्फोरस ०·३७ प्र० श० तथा लौह १७·९ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० होता है। इसकी गन्ध और स्वाद का कारणभूत एक सुगन्धित तैल ०·५% होता है। इस तैल का मुख्य घटक कोरिएण्ड्रोल (Coriandrol) है जो ४५–७०% होता है। इसके अतिरिक्त एक स्थिर तैल १९–२०% होता है।

गुण

गुण— लघु, स्निग्ध **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर, कटु
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है, स्निग्ध-उष्ण होने के कारण वात को, कषाय-तिक्तमधुर होने से पित्त को तथा तिक्त–कटु और उष्ण होने से कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—धनियाँ का बाह्य लेप शोथहर और शूलहर है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही, और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है।

प्रजननसंस्थान—यह कषाय होने से शुक्रधातु को क्षीण करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—हरी धनियाँ की पत्ती पीस कर शिरःशूल तथा भल्लातकजन्य शोथ पर लेप करते हैं। पैत्तिक, शोथ, विसर्प, गण्डमाला आदि पर भी इसका लेप करते हैं। मुखपाक या गले के रोगों में हरे धनिये के रस से गण्डूष करते हैं। रक्तपित्त में विशेषतः नासा से रक्तस्राव होने पर इसका रस नाक में देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका रस या क्वाथ नेत्र में डालते हैं। शिरःशूल में सूखी धनियाँ का भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—धनियां का छिलका उतार कर उसकी मज्जा से क्षीरपाक कर उस दुग्ध का सेवन भ्रम, मूर्च्छा, स्मृतिह्रास आदि रोगों में कराते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णारोग में इससे शृतशीत जल का प्रयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त, अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, प्रवाहिका, अतिसार, उदरशूल, अर्श एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेह में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—कामोन्माद में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में देने से ज्वर तथा उसके उपद्रव (तृष्णा, वमन, शिरःशूल आदि) शान्त होते हैं। शीतज्वर में विशेष लाभकर है। चीनी के साथ इसका हिम बना कर देने से वातपैत्तिक रोग यथा दाह, तृष्णा आदि में लाभकर होता है।

प्रयोज्य अंग—फल. पञ्चांग (हरी धनिया का), तैल।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०; हिम-२०-२४ मि० लि०; तैल-१-३ बूंद।

विशिष्ट योग—धान्यकादि हिम, धान्यपंचक क्वाथ,

× × × ×

'धान्यकं तुवरं स्निग्धमवृष्यं मूत्रलं लघु। तिक्तं कटुकमुष्णं च दीपनं स्मृतम्॥
ज्वरघ्नं रोचनं ग्राहि स्वादुपाकि त्रिदोषनुत्। तृष्णादाहवमिश्वासकासामार्शः कृमिप्रणुत्॥
आर्द्रं तु तद्गुणं स्वादु विशेषात् पित्तनाशि तत्।' (भा. प्र.)

'धान्यकं कासतृड्छर्दिज्वरहृच्चक्षुषो हितम्। कषायं तिक्तमधुरं हृद्यं रोचनदीपनम्॥'
(ध. नि.)

'धान्यतुम्बरु। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम्॥' (च० सू० २७)

'भक्ष्यव्यञ्जनभोज्येषु विविधेष्ववचारिता।
आर्द्रा कुस्तुम्बरी कुर्यात् स्वादुसौगन्ध्यहृद्यताम्॥' (सु. सू. ४६)

'प्रातः सशर्करः पेयो हिमो धन्याकसंभवः।
अन्तर्दाहं तथा तृष्णां जयेत् स्रोतोविशोधनः॥' (भा. प्र.)

'धान्यनागरसिद्धं तु तोयं दद्यात् विचक्षणः। अमाजीर्णप्रशमनं शूलघ्नं बस्तिशोधनम्॥'
(वं. से.)

'धान्यं शर्करया युक्तं तण्डुलोदकसंयुतम्। पानमेतत् प्रदातव्यं कासश्वासापहं शिशोः॥'
(वं. से.)

W. I., II, 357-350.
B. B. O., II, 432.
I. P., 206-207.

मुख-वैशद्यकर

१३१. लताकस्तूरी

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)

नाम—लै०-हिबिस्कस ऐबलमोस्कस (Hibiscus abelmoschus Linn.) सं०-लताकस्तूरिका (उद्भिद् में होने वाली कस्तूरी-कस्तूरी के सदृश बीज); हि०-लताकस्तूरी; बं०-कालकस्तूरी; म०-कस्तूरभेंड; ता०-वेत्तिलैक्कस्तूरी; ते०-कस्तूरी-बेण्डाविट्टुलु; अ०-हब्बुलमुश्क; फा०-मुश्कदाना; अं०-मस्क मैलौ (Musk mallow)। लताकस्तूरी के बीज Musk seeds या Ambrette seeds कहलाते हैं।

स्वरूप—इसका वर्षायु रोमश **क्षुप** २-६ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-सूत्रमय होता है। **पत्र**-भिंडी के समान, अनेक आकृतियों के, प्रायः पाणिवत्, ३-५ खंडों में विभक्त और रोमश होते हैं। **पुष्प**-बड़े, पीतवर्ण, मध्य में बैंगनी, ३-४ इञ्च व्यास के, प्रायः अक्षीय होते हैं। **पुष्पदंड** कठिन और वक्र, पत्रवृन्त के समान २-३ इञ्च लम्बा होता है। वृन्तपत्रक ६-१२, रेखाकार, अस्थायी होते हैं। **फल**-भिंडी के समान, लंबगोल-भालाकार, चंचुयुक्त, १-३ इञ्च लम्बे और रोमश होते हैं। **बीज**-वृक्काकार, चपटे, धारीदार, भूरे रंग के, सुगन्धित होते हैं। बीजों को मसलने से कस्तूरी के समान गंध आती है। अगस्त-नवम्बर में पुष्प तथा अक्टूबर-जनवरी में फल लगते हैं। फलों का साग भी बनता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेशों में विशेष कर बंगाल और मद्रास में होता है। उत्तरी नेपाल में भी पाया जाता है। इसकी खेती विशेष नहीं होती अतः इसका आयात विशेषतः जावा और पश्चिमी द्वीप समूह से होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में आर्द्रता ११.४, प्रोटीन २.३, स्टार्च १३.३५, सूत्र ३१.४६, स्थिर तैल १४.५, उड़नशील तैल ०.२-०.६ प्रतिशत, एक राल तथा एक तिक्त द्रव्य रहता है। इसमें कस्तूरीवत् गन्ध ऐम्ब्रेटोलाइड (Ambrettolide) नामक केटोन की उपस्थिति के कारण होती है। इसका स्थिर तैल हरिताभ पीत होता है जो हवा में खुला रहने पर जम जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, मधुर, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण, तिक्त होने के कारण कफ तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य है।

नेत्र—यह चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह मुखशुद्धि के लिए तथा मुख के रोगों में प्रयुक्त होता है। इसके अतिरिक्त, अरुचि, अग्निमांद्य एवं अतिसार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास एवं श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में इसका सेवन कराते हैं। इन रोगों में मूल और पत्र का स्वरस भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, ध्वजभंग आदि में इसका प्रयोग होता है।

नेत्र—इसका सूक्ष्म चूर्ण कर नेत्ररोगों में लगाते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

चूर्ण—१-३ ग्रा०।

× × ×

'लताकस्तूरिका तिक्ता स्वाद्वी वृष्या हिमा लघुः।
चक्षुष्या दीपनी श्लेष्मतृष्णावस्त्यास्यरोगहृत् ॥' (भा. प्र.)

'जातीकटुकयोः फलम् ।···तिक्तं कटु कफापहम् । लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम् । लताकस्तूरिका तद्वच्छीता बस्तिविशोधनी ॥' (सु. सू. ४६)

W. I., V, 75–77.
F. I., 352.
B. B. O., I, 67–68.

दन्तशोधन

१३२. तेजोबती

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०)।

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-जैन्थोक्साइलम आर्मेटम (Zanthoxylun armatum DC.) सं०-(वृक्ष) तेजोवती, तेजोह्वा (तीक्ष्ण होने के कारण); (फल) तुम्बरु; सौरभ (सुगन्धित होने से); वनज (वन्य प्रदेशों में होने से); हिं०-(वृक्ष) तेजबल; (फल) तुम्बुल, नेपाली धनिया; बं०-नेपाली धने; अ०-फागिरा कबाबा खंदाँ; फा०-कबाबा दहन कुशादा। मं०-टूथेक ट्री (Toothache tree)।

स्वरूप—यह छोटा कण्टकित **वृक्ष** या गुल्म, सघनपत्राच्छादित, २० फीट या अधिक ऊँचा होता है। काँटे चपटे, लगभग १ इञ्च लंबे काण्ड और शाखाओं पर होते हैं। छाल-हलकी भूरी, गहरे फटी होती है। **पत्र**-१½-९ इञ्च लम्बे, विषमपक्षवत्, दो उपपत्रीय कण्टकों से युक्त होते है। **पत्रक**-२-६ जोड़, लट्वाकार-भालाकार, तीक्ष्णाग्र या लंबाग्र, १-४ इञ्च लम्बे, सरल या दन्तुर होते हैं। पत्रवृन्त और पत्र की मध्यसिरा विस्तृत सपक्ष होती है। **पुष्प**-अत्यन्त छोटे, लगभग ⅙-⅛ इञ्च लंबे, २-६ इंच लम्बी सघन शीर्षस्थ या विरल अक्षीय मंजरियों में, हरित या पीतवर्ण होते हैं। **फल**-बड़े धनिये के सदृश; रक्ताभ, अंडाकार, ⅙-⅕ इंच व्यास के होते है। फल के बाह्य पृष्ठभाग पर तैलयुक्त सूक्ष्म ग्रन्थियाँ और अन्तःपृष्ठ में पतला पर्दा होता है फल के भीतर एक चमकीला काला बीज होता है। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल शरद् ऋतु में आते हैं। वृक्ष के अवयव सुगन्धित एवं कटु होते हैं।

जाति—इसका एक भेद दक्षिण भारत तथा आसाम में होता है उसे तिरफल या चिरफल कहते हैं। इसका लैटिन नाम जैन्थोक्साइलम लाइमोनेला (Z. limonella (Dennst.) Alston) है। इसका फल तुम्बरु से कुछ बड़ा होता है। तेजबल से मिलता-जुलता फल का एक और वृक्ष (Z. aconthopodium DC.) होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश की उष्ण घाटियों में जम्मू से भूटान तक २-६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—वृक्ष की त्वचा में बर्बेरिन (Berberine) डिक्टेम्निन (Dictamnine), मैगनोफ्लुओरिन (Magnofluorine), जैन्थोप्लेनिन (Xanthoplanine), स्किमियानिन (Skimmianine) नामक क्षाराभ, उड़नशील तैल तथा राल होते हैं। फल में उड़नशील तैल पीताभ, कटुगन्धि २.३ प्र. श.

होता है जिसका मुख्य घटक लाइनालूल (linalool) है। पत्तियों में सुद्दाब तैल के सदृश एक सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, पूतिहर, कोथप्रशमन और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर और नाड़ियों का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दन्तशोधन, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण एवं उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक तथा मधुमेहघ्न है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग त्वचा से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका चूर्ण व्रणों पर छिड़कते हैं। शिरःशूल आदि में इसका लेप करते हैं। मुख, दन्त तथा गले के रोगों में इसके स्वरस क्वाथ से कुल्ला करते हैं तथा इसका चूर्ण लगाते हैं। दन्तमंजनों में इसका चूर्ण प्रचलित है। दन्तरोगों में इसकी दातून करते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वातव्याधि (पक्षाघात, अपतन्त्रक, आमवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—दन्त रोगों में इसका फल मुख में चबाते हैं। अग्निमांद्य, अतिसार, यकृत्प्लीहवृद्धि, अर्श और कृमिरोग में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग किया जाता है।

त्वचा—स्वेदजनन होने से यह त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में भी इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक के रूप में सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं। मधुमेह में इसकी छाल लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वचा, फल।

मात्रा—चूर्ण-१–२ ग्रा०

विशिष्ट योग—तेजोवत्याद्य घृत, तुम्बर्वादि चूर्ण।

× × × ×

'तेजस्विनी कफश्वासकासास्यामयवातहृत्। पाचन्युष्णा कटुस्तिक्ता रुचिवह्निप्रदीपनी ॥'
(भा. प्र.)

'तुम्बरु कथितं तिक्तं कटु पाकेऽपि तत्कटु। रूक्षोष्णं दीपनं तीक्ष्णं रुच्यं लघु विदाहि च ॥
वातश्लेष्माक्षिकर्णौष्ठशिरोरुग्गुरुताकृमीन्। कुष्ठशूलारुचिश्वासप्लीहकृच्छ्राणि नाशयेत् ॥'
(भा. प्र.)

'तुम्बरुः कटुतीक्ष्णोष्णः कफमारुतशूलजित्। अपतन्त्रोदराध्मानकृमिघ्नो वह्निदीपनः ॥'
(ध. नि.)

W. I., XI, 17–22
F. I. I, 493

दन्तदार्ढ्यकर

१३३. बकुल

परिचय

कुल—मधूक-कुल (सैपोटेसी–Sapotaceae)।

नाम—लै०-मिम्युसोप्स एलेन्गी (Mimusops elengi Linn.)। सं०-बकुल, मधुगन्ध (पुष्प सुगन्धित होने से), चिरपुष्प (इसके पुष्प अधिक दिनों तक रहते हैं) स्थिरपुष्प (पुष्पों की सुगन्ध सूखने पर भी स्थिर रहती है)। हिं०-मौलसिरी; बं०-म०-बकुल; गु०-बोलसरी; ता०-बगुलम्; ते०-पगादामानु; म०-एलेंगी, आ०-गोकुल।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** सदाहरित, सघन, ५० फीट तक ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-गहरे धूसरवर्ण, कुछ फटी हुई रहती है। **काण्डसार**-कठिन और भारी; बाहर की ओर रक्ताभ धूसर तथा भीतर की ओर गहरे लाल रङ्ग का होता है। **पत्र**-अण्डाकार या लट्वाकार-भालाकार, चमकीले, चिकने, २½–४ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, लंबाग्र तथा लहरदार होते हैं। **पुष्प**-पीताभ, श्वेतवर्ण, सुगन्धित, १ इञ्च व्यास के, अक्षीय, समूहबद्ध या एकल, पत्रवृन्त जितने लम्बे पुष्प-दण्ड पर आते हैं। बहिर्दल ८ (४ + ४), अन्तर्दल प्रायः २४, पुंकेसर ८ होते हैं। इनमें सूखने पर भी चिरकाल तक सुगन्ध बनी रहती है। **फल**-अंडाकार, १ इञ्च

लम्बा, कच्ची अवस्था में हरा, कषाय तथा क्षीरयुक्त और पकने पर पीतवर्ण और कषायमधुर हो जाता है। फल के भीतर एक (कभी-कभी २) बड़ा, अण्डाकार, भूरे रंग का चमकीला बीज होता है। अप्रिल-मई में पुष्प तथा वर्षा में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति 'बृहद्बकुल, (बड़ी मौलसिरी) का उल्लेख भावप्रकाश ने किया है। वह वस्तुतः भिन्न वनस्पति (Osmanthns fragrans Linn.) है जिसका ग्रहण प्राचीन वसुक, बुक आदि नामों से करना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिमी घाट के जंगलों तथा अन्दमान में होता है। यों समस्त भारत में लगाया हुआ मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ३-७ प्रतिशत टैनिन, गोंद, सैपोनिन तथा क्षाराभ होते हैं। पुष्पों में एक सुगन्धित तैल होता है। बीजों में १६-२५ प्रतिशत एक स्थिर तैल होता है जिसका व्यवहार खाने और जलाने में होता है।

गुण

गुण—गुरु   **रस**—कषाय, कटु
बिपाक—कटु   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय होने से पित्तकफशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन है। इसके पुष्प सौमनस्यजनन हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह कषाय होने के कारण ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्य हैं तथा फल और त्वक् रक्तस्तम्भन हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय की शिथिलता, शोथ एवं योनिस्राव को दूर करता है। शुक्रस्तम्भन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—यह बस्ति एवं मूत्रमार्ग के स्राव और शोथ को कम करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है तथा इसके फल स्निग्ध-मधुर होने से पौष्टिक हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पुष्प शिरःशूल, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा तज्जनित रोगों में प्रयुक्त होते हैं। शिरःशूल में इसके शुष्क पुष्पों के चूर्ण का नस्य लेते हैं।

दाँतों की दुर्बलता, दन्तचाल तथा पूयदन्त में इसकी छाल के क्वाथ से गण्डूष करते हैं, छाल की चूर्ण का मंजन करते हैं तथा इसकी कोमल शाखाओं की दातून

करते हैं। इन रोगों में कच्चे फल चबाते भी हैं। इससे दाँत मजबूत होते हैं। और उनसे रक्त, पूय आदि आना बन्द होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं तथा फल खिलाते हैं। कृमिरोग में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा शुक्रमेह में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा पूयमेह में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—विषों में इसकी छाल तथा सामान्य दौर्बल्य में इसका फल प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पुष्प, फल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, पुष्पचूर्ण १-२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—बकुलाद्य तैल।

× × × ×

'बकुलस्तुवरोऽनुष्णः कटुपाकस्तो गुरुः। कफपित्तविषश्वित्रकृमिदन्तगदापहः॥' (भा. प्र.)
'तत्फलं मधुरं स्निग्धं कषायं विशदं हिमम्। कफपित्तहरं हृद्यं दन्त्यं ग्राहि च वातलम्॥'
(कै. नि.)

'सुगन्धि विशदं हृद्यं बाकुलम्' (सु. सू. ४६)
'दन्तचाले तु गण्डूषो बकुलत्वक्कृतो हितः।'
चलदन्तस्थिरकरं कुर्याद्बकुलचर्वणम्। (च. द.)
'दन्तास्तु व जैर्बकुलद्रुमस्य स्थानच्युता अप्यचला भवन्ति।' (शो.)
'सोऽयं सुगन्धिमुकुलो बकुलो बिभाति वृक्षाग्रणीः प्रियतमे ! मदनैकबन्धुः।
यस्य त्वचेव चिरचर्वितया नितान्तं दन्ता भवन्ति चपला अपि वज्रतुल्याः॥' (वै. जी.)

F. I., III, 548.
W. I., VI, 383-384.

तृप्तिघ्न

१३४. शुण्ठी

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, दीपनीय, शूलप्रशमन, तृष्णानिग्रहण (च०); पिप्पल्यादि, त्रिकटु (सु०), पंचकोल, षडूषण (भा०)।

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी-Zingiberaceae)।

नाम—लै०-जिञ्जिबर ऑफिशिनेल् (Zingiber officinale Rosc.)। सं०-शुण्ठी (शुष्क होने से); नागर (श्रेष्ठ औषध तथा नगर में व्यापार होने के कारण);

महौषध (प्रशस्त औषध); विश्वभेषज (अनेक विकारों में उपयुक्त); शृङ्गवेर (शृंगाकार कन्द होने के कारण) कच्चे कन्द को 'आर्द्रक' (गीला होने के कारण) कहते हैं। **शुण्ठी**-हि-सोंठ; म०-सुंठी; गु०-सुंठ; बं०-सोंठ; ता०-शुक्कू, ते०-सोंटि; अ०-जंजबील; फा०-शंगवीर; अं०-ड्राइ जिंजर (Dry ginger)। **आर्द्रक**-हि०-अदरख; बं०-आदा; म०-आलें; गु०-आदु; ता०-इञ्जि; ते०-अल्लमु; अं०-फ्रेश जिंजर (Fresh ginger)।

स्वरूप-यह कोमल, कन्दयुक्त बहुवर्षायु क्षुप है। इसका पत्रमय काण्ड २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-६-१२ इञ्च लंबे, १ इञ्च चौड़े तथा अग्रभाग पर क्रमशः नुकीले तथा अधस्तल पर चिकने होते हैं। **पुष्पध्वज**-१३-३ इञ्च लंबा होता है जिसमें ६-१२ इंच लंबे पुष्पदण्ड पर हरिताभ पीतवर्ण पुष्प लगते हैं जिसका ओष्ठभाग गहरे बैंगनी रंग का या कृष्णाभ होता है। पुंकेशर गहरे बैंगनी रंग के होते हैं। **पुष्प**-वर्षाऋतु एवं शरद में आते हैं किन्तु कम ही दृष्टिगत होते हैं।

कन्द सुगन्धित, स्थूलखंडयुक्त, हल्के पीले रंग का होता है।

उत्पत्तिस्थान—उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः केरल में इसकी खेती की जाती है। इसके अतिरिक्त बंगाल, उड़ीसा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश तथा हिमालय प्रदेश में इसकी खेती होती है।

आर्द्रक और शुण्ठी—आर्द्र कन्द को आर्द्रक तथा लेखित (Scraped) या अलेखित (Unscraped) शुष्क कन्द को शुण्ठी कहते हैं। बांस के तीक्ष्ण टुकड़े से रगड़ कर अदरख की त्वचा हटा देते हैं उसके बाद पानी से धोकर ८-१२ दिनों तक सुबह धूप में और उसके बाद छाया में सुखाते हैं। टुकड़ों को सफेद और चिकना बनाने के लिए अदरख को एक दिन पानी में डुबोने के बाद गाढ़े चूने के पानी (१२ लिटर पानी में १ कि० चूना) में रखते हैं। उसके बाद धूप में सुखा कर टाट के टुकड़ों से रगड़ देते हैं। इससे उन पर सफेदी और चमक आ जाती है।

प्रकार—शुण्ठी को वर्ण और आकार के अनुसार छाँटते हैं। व्यापार में देशभेद से इसके प्रकार किये गये हैं—यथा (१) जमायकन (२) भारतीय (क) कोचीन (ख) कालीकट (ग) कलकत्ता (३) अफ्रीकी (४) चीनी-यह सफेद और सूत्ररहित होती है। कुछ प्रकार अन्य वानस्पतिक प्रजातियों से बनते हैं यथा—जापानी सोंठ जिंजिबर मिओगा (Z. mioga Rosc.) और मार्टिनिक सोंठ जिंजिबर जरम्बेट (Z. zerumbet Rosc ex Sm.) से प्राप्त होती है।

भारतीय मानक के अनुसार इसके टुकड़े अनियमित आकार के, लंबाई २० मि० मी० से कम नहीं, या छोटे कटे टुकड़ों में, हलके भूरे रंग में, सूत्रयुक्त, त्वचा पूरी हटाई नहीं हुई हो। इसकी गंध, स्वाद में कोई विकृति भी न हो। बाहरी पदार्थ इसमें २ प्रतिशत से अधिक न हों।

रासायनिक संघटन—आर्द्रक में आर्द्रता ८०.९, प्रोटीन २.३, वसा ०.९, सूत्र २.४, कार्बोहाइड्रेट १२.३, खनिज १.२ प्रतिशत, कैलशियम २०, फासफोरस ६०, लौह २.६ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम। इसके अतिरिक्त कुछ आयोडिन और क्लोरीन होता है। विटामिन ए. बी. और सी भी होते हैं।

शुण्ठी में आर्द्रता १०.९, प्रोटीन १५.४, सूत्र ७.२, स्टार्च ५.३, कुल भस्म ६.६, उड़नशील तैल १-२.७ प्र० श० होता है।

उड़नशील तैल छिलकासहित सोंठ से प्राप्त किया जाता है क्योंकि छिलका में तैलकोषाणु विशेष रूप से स्थित होते हैं। आर्द्रक से भी ऐसा तैल निकाला जा सकता है। यह सुगन्धित तैल शुण्ठीतैल (Oil of ginger) कहलाता है। किन्तु इसमें कटुता नहीं होती। इस तैल में जिंजिबरीन (Zingiberene-३५.६ प्रतिशत) जिंजिबराल (Zingiberol) आदि तत्त्व होते हैं।

शुण्ठी में वर्तमान कटु तत्त्व उड़नशील नहीं होते। अतः शुण्ठीचूर्ण को एसिटोन अलकोहल या ईथर में रखने पर एक गाढ़ा, गहरे भूरे रंग का तैलीय पदार्थ प्राप्त किया जाता है। यह एक तैलीय राल (Oleo-resin) है जिसे व्यापार में जिंजरीन (Gingerin) भी कहते हैं। द्रव्य की सारी कटुता इसी में होती है। यह लगभग ६.५ प्रतिशत होता है। कटु तत्त्वों के अतिरिक्त, तैलीय राल में सुगन्धित तैल ७-२८ प्रतिशत तथा अकटु पदार्थ ३० प्रतिशत होते हैं। कटु तत्त्वों में जिंजरौल (Gingerol), शोगाओल (Shogaol) तथा जिंजरोन (Zingerone) प्रमुख हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध (शुण्ठी); गुरु रूक्ष, तीक्ष्ण (आर्द्रक)
रस—कटु **विपाक**—मधुर (शुण्ठी) कटु (आर्द्रक); **वीर्य**—उष्ण।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शीतप्रशमन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए उत्तेजक और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह तृप्तिघ्न, रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन तथा अर्शोघ्न है। इसमें प्रोटीनविश्लेषक तत्त्व पाये गये हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्णता के कारण हृदय एवं रक्तवहसंस्थान को उत्तेजित करता है तथा शोथहर है। रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कटु और स्निग्ध होने से कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह मधुरविपाक होने से वृष्य और उष्ण होने से उत्तेजक है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—शुण्ठी एक उत्तम आमपाचन है अतः शरीरस्थ आमदोष का पाचन कर आम से उत्पन्न होने वाले विविध विकारों को दूर करती है। तीक्ष्णता के कारण यह स्रोतोरोध का भी निवारण करती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, सन्धिशोथ आदि में इसको पीस कर गरम लेप किया जाता है। शैत्य तथा अवसाद को दूर करने के लिए भी इसका लेप करते हैं और उसका चूर्ण तैल में मिलाकर अभ्यंग करते हैं। शोथरोग में इसके चूर्ण का उद्वर्षण करने से लाभ होता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह समस्त वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, हृल्लास, छर्दि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, कोष्ठवात, आध्मान, उदरशूल तथा अर्श में उपयोगी है। अग्निमांद्य और अरुचि में भोजन के पहले अदरख और नमक खाने का विधान है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, हृच्छूल तथा श्लीपद, शोथ, आमवात आदि में प्रयुक्त होता है। शीतपित्त आदि विकारों में भी उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का, एवं प्रतिश्याय में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण योगों में शुण्ठी का प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम—सामान्य एवं सन्निपात ज्वरों में अदरख का रस अनुपान के रूप में दिया जाता है। शुण्ठीचूर्ण विषम एवं जीर्ण ज्वरों में लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य विशेषकर प्रसवोत्तर दौर्बल्य में शुण्ठीपाक का प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, वातविकार नष्ट होते हैं, शोथ दूर होता है तथा बल की वृद्धि होती है। आमवात की भी यह एक उत्तम औषध है।

प्रयोगनिषेध—उष्ण और तीक्ष्ण होने के कारण आर्द्रक का प्रयोग कुष्ठ, पांडु, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, व्रण एवं ज्वर तथा ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में वर्जित है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—आर्द्रकस्वरस–५–१० मि० लि०; शुण्ठीचूर्ण–१–२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—आर्द्रकखण्ड, पञ्चसमचूर्ण, समशर्करचूर्ण, रास्नादिक्वाथ, सौभाग्यशुण्ठी, शुण्ठीसुरा (Ginger tincture) मात्रा ०·३–०·६ मि० लि०; शुण्ठीपानक (Zinger syrup) मात्रा–२–४ मि० लि०।

× × × ×

'शुण्ठी रुच्यामवातघ्नी पाचनी कटुका लघुः। स्निग्धोष्णा मधुरा पाके कफवातविबंधनुत् ॥
वृष्या स्वर्या वमिश्वासशूलकासहृदामयान्। हन्ति श्लीपदशोफार्श-आनाहोदरमारुतान् ॥'
'आर्द्रिका भेदनी गुर्वी तीक्ष्णोष्णा दीपनी मता। कटुका मधुरा पाके रूक्षा वातकफापहा ॥
ये गुणाः कथिताः शुण्ठ्यां तेऽपि सन्त्यार्द्रकेऽखिलाः।........................
भोजनाग्रे सदा पथ्यं लवणार्द्रकभक्षणम्। अग्निसंदीपनं रुच्यं जिह्वाकण्ठविशोधनम् ॥
कुष्ठे पाण्ड्वामये कृच्छ्रे रक्तपित्ते व्रणे ज्वरे। दाहे निदाघशरदोर्नैव पूजितमार्द्रकम् ॥'
(भा. प्र.)

'नागरं कफवातघ्नं विपाके मधुरं कटु। वृष्योष्णं रोचनं हृद्यं सस्नेहं लघु दीपनम् ॥
कफानिलहरं स्वर्यं विबन्धानाहशूलनुत्। कटूष्णं रोचनं हृद्यं वृष्यं चैवार्द्रकं स्मृतम् ॥
(सु० सू. ४६)

'रोचनं दीपनं वृष्यमार्द्रकं विश्वभेषजम्। वातश्लेष्मविबन्धेषु रसस्तस्योपदिश्यते ॥'
(च. सू. २७)

शुण्ठीगोक्षुरकक्वाथः प्रातः प्रातर्निषेवितः। सामे वाते कटीशूले पाचनो रुग्विनाशनः ॥'
(वृन्द.)

'नागरं वा पिबेदुष्णं कषायं चाग्निवर्धनम्। कासश्वासानिलहरं शूलहृद्रोगनाशनम् ॥'
(वृन्द.)

'आर्द्रकस्य रसः पेयः पुराणगुडसंयुतः। शीतपित्तापहः श्रेष्ठो वह्निमांद्यविनाशनः ॥
(भा. प्र.)

'अतिसारसंहरणमग्निहितं ग्रहणीविकारगुदकीलहरम्।
जठरार्तिशोफगररुक्शमनं समुहौषधं जयति तक्रयुतम् ॥' (शो.)

W. I., XI, 89–105.
I. P., 314–316.

१३५. चव्य

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, अर्शोघ्न, दीपनीय, शूलप्रशमन (च०); पिप्पल्यादि (सु०); पञ्चकोल, षडूषण (भा०)।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी–Piperaceae)।

नाम—लै०–पाइपर रेट्रोफ्रैक्टम (Piper retrofractum Vahl.) सं०–चव्य, चविका; हि०–चाभ; बं०–चई; गु०–चवक; ते०–चवकम, अं०–जावा लौंग पीपर (Java long pepper)।

स्वरूप—इसकी झाड़ीदार **लता** पिप्पली के सदृश किन्तु चिकनी, दृढ़ और मांसल होती है जो आगन्तुक चिपकने वाले मूलों के सहारे चढ़ती है। इसका **कांड**-सूक्ष्म परिखायुक्त होता है तथा उसमें प्रायः २० धारियाँ होती है। **पत्र**–५–७ इञ्च

लंबे, २-३ इञ्च चौड़े, आयताकार, लट्वाकार या भालाकार, लम्बाग्र और गोलाधार होते हैं। पत्रवृन्त ¼-½ इंच लंबा होता है। **पुष्पमंजरी**-पत्र जितनी लंबी, **फलितमंजरी**—१-२ इञ्च लंबी, ½ इञ्च व्यास की, लंबगोल-कोणाकार, होती है जिसमें बहुत छोटे, गोल, चमकीले लाल रंग के, ०८-१२ इञ्च व्यास के फल लगे रहते हैं। जुलाई में पुष्प और सितम्बर में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम स्थान मोलक्कस है किन्तु संप्रति भारत में विशेषतः बंगाल और आसाम में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—चव्यफल का रासायनिक संघटन मरिच के समान है किन्तु इसमें पाइपरिन और उड़नशील तैल कम होते हैं। चव्यफल में आर्द्रता ६.५, प्रोटीन १२.२, पाइपरीन ४.५, स्थिर तैल ६.६, उड़नशील तैल १.५, स्टार्च ३६.५, सूत्र ५.८, कुल राख ५.६ तथा पेलिटोरिन के समान एक क्षाराभ पाया जाता है। इसके फल से ऊर्ध्वपातन द्वारा १% हलका हरा, गाढ़ा, सुगंधित-कटु उड़नशील तैल प्राप्त होता है जो मरिच और शुण्ठी के तैल के समान होता है। कभी-कभी चव्यफल के चूर्ण का अपमिश्रण मरिचचूर्ण में करते हैं किन्तु सूक्ष्मदर्शन से इसके कोणीय, बड़े स्टार्च कणों को देख कर इसका पता चल जाता है। चव्य के काण्ड में पाइपरिन, पिपलार्टिन, बी-सिटास्टिरोल, ग्लाइकोसाइड, म्युसिलेज, द्राक्षशर्करा और फलशर्करा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कटु-उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तृप्तिघ्न, दीपन, पाचन, शूलप्रशमन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

पाचनसंस्थान—यह कटु होने के कारण कफघ्न हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचन-संस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदररोग, आनाह, अर्श और कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है। यह अर्श के लिए विशेष उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में यह लाभप्रद है।

प्रयोज्य अंग—मूल, फल।

मात्रा—चूर्ण-१-२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—पञ्चकोल फाण्ट, प्राणदा गुडिका, कांकायन मोदक, चव्यादि घृत।

\+ \+ \+

'भवेच्चव्यं तु चविका कथिता सा तथोषणा।
कणामूलगुणं चव्यं विशेषाद् गुदजापहम्॥' (भा. प्र.)

१३६. वृक्षाम्ल

परिचय

गण—हृद्य (च०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-गार्सिनिया इण्डिका (Garcinia indica Chois); सं०-वृक्षाम्ल, गु०-कोकम, म०-कोकम, रतम्बा, अमसोल, ता० क०-मुरगल; म०-पुनमपुलि, अं०-कोकम बटर ट्री (Kokam butter tree),

स्वरूप—इसका सदाहरित **वृक्ष** पतली और नम्र शाखाओं से युक्त होता है। **पत्र**-२½-३½ इञ्च लंबे, १-१½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या आयत-भालाकार, ऊपर गहरे हरे और नीचे पाण्डुवर्ण होते हैं। एक ही वृक्ष में स्त्रीपुष्प तथा पुंपुष्प पृथक् पृथक् होते हैं। **पुंपुष्प**-४-८, अक्षीय या अन्त्य गुच्छों में होते हैं। **स्त्रीपुष्प**-एकल और शीर्षस्थ होते हैं। **फल**-प्रायः गोलाकार, १-१½ इञ्च व्यास का, बैंगनी रंग का होता है। फलमज्जा में ५-८ बड़े बीज होते हैं। पका फल स्वाद में मधुराम्ल होता है। जनवरी-फरवरी में पुष्प आते हैं और अप्रैल-मई में फल पक जाते हैं। बीज निकाल कर सुखाये हुए फल 'कोकम' के नाम से बाजार में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी घाट में कोंकण से दक्षिण मैसूर और कुर्ग में होता है। नीलगिरि और महाराष्ट्र मे भी होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में २३-२६ प्रतिशत तैल होता है जो हलके पीले या धूसर रंग का होता है और जमकर घी जैसा हो जाता है। इसे कोकम बटर (Kokam butter) कहते हैं। फल के अम्ल में सेवाम्ल, चिंचाम्ल या निम्बुकाम्ल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—अम्ल (कच्चा फल), मधुराम्ल (पक्व फल)
विपाक—अम्ल **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, ग्राही, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—फल हृद्य है।

त्वचा—मूलत्वक् त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—फल ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—तैल स्नेहन होने से संधानीय और रोपण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—तैल व्रण, नाडीव्रण, विपादिका आदि में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अरुचि, अग्निमांद्य, प्रवाहिका, अर्श, उदरशूल और गुल्म में फल प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—फल हृद्रोगों में लाभकर है।

त्वचा—त्वचा के रोगों में मूलत्वक् का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—यह ज्वरों में उपयोगी है। दाह की शान्ति के लिए इसके पके फल का पानक बनाकर देते हैं।

सात्मीकरण—क्षयरोग में इसका तैल कॉडलिवर आयल के स्थान पर दिया जाता है।

प्रयोज्य अङ्ग—तैल, फल, मूलत्वक्।

मात्रा—तैल ३–५ ग्रा०; फलपानक १०–२० मिलि०; मूलत्वक्क्वाथ ४०–८० मिलि०।

× × ×

'वृक्षाम्लमाममम्लोष्णं वातघ्नं कफपित्तलम्। पक्वं तु गुरु संग्राहि मधुराम्लरसं तथा॥
अल्पोष्णं रोचनं रूक्षं दीपनं वातनाशनम्। तृष्णार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृद्रोगजन्तुजित्॥'
(भा. प्र.)

'वृक्षाम्लं ग्राहि रूक्षोष्णं वातश्लेष्मणि शस्यते।' (च. सू. २७)

W. I., IV, 101–102.

F. I., I, 261.

१३७. अम्लवेतस

परिचय

गण—हृद्य, दीपनीय, श्वासहर (च०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-गार्सिनिया पेडङ्कुलेटा-(Garcinia pedunculata Roxb.) सं०-अम्लवेतस (वेतस के सदृश वृक्ष किन्तु फल अम्ल); शतवेधि (तीक्ष्णता के कारण गलाने वाला)। हि०-अमलवेत; बं०-थैकल, आ०-बोर-थेकेरा।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**—लगभग ५०–६० फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-भीतर से प्रायः खोखला होता है। **शाखायें**-छोटी, फैली होती है। **पत्र**-६–१२ इञ्च लंबे, ३–५½ इञ्च चौड़े, चर्मवत्, दृढमध्यसिरायुक्त, अभिलट्वाकार, गोलाग्र और दीर्घवृन्त (१–१½ इञ्च) होते हैं। **पुंपुष्प**-हल्के हरे रंग के, ८–१२ के गुच्छों में होते हैं। **स्त्रीपुष्प**-उससे बड़े, एकल, शीर्षस्थ, स्थूल चतुष्कोणीय पुष्पदंड पर होते हैं। **फल**-बड़े ३–४½ इञ्च व्यास के, पीले रंग के, छोटे खरबूजे के आकार के होते हैं। फलत्वक्-पीली, मांसल, लगभग १ इञ्च मोटी, अम्लरस होती है। फलमज्जा अम्ल होती है जिसमें ८-१० बड़े वृक्काकार बीज होते हैं। पुष्प जनवरी से मार्च तक आते हैं तथा फल मार्च से जून तक पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आसाम और मणिपुर के जंगलों में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। सिलहट में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें प्रमुख अम्लपदार्थ सेवाम्ल (Malic acid) १३–२०% है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—अम्ल (अति)
विपाक—अम्ल
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

पाचनसंस्थान—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन और भेदन है। अम्लवेतस, दीपन, भेदन, अनुलोमन और कफवातहर द्रव्यों में श्रेष्ठ कहा गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर और हिक्कानिग्रहण है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—यह अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विबन्ध, गुल्म, प्लीहा, यकृद्वृद्धि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। उदावर्त्त रोग में जब वायु का वेग ऊपर होने से हृदय में शूल होता है तब इसके प्रयोग से लाभ होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का और श्वास में यह लाभकर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी में यह उपयोगी है।

प्रयोज्य अङ्ग—फल।

मात्रा—स्वरस-५-१० मि० लि०।

वक्तव्य—सम्प्रति बाजारों में जो द्रव्य अम्लवेत के नाम पर आता है वह रेवन्द चीनी के पत्रवृन्त हैं। चरक ने इसका पाठ फलवर्ग में किया हैं अतः यह कोई फल ही होना चाहिए।

× × ×

'अम्लवेतसमत्यम्लं भेदनं लघु दीपनम्। हृद्रोगशूलगुल्मघ्नं पित्तलं लोमहर्षणम्।
'हृद्यं विण्मूत्रदोषघ्नं प्लीहोदावर्त्तनाशनम्। हिक्कानाहारुचिश्वासकासाजीर्णवमिप्रणुत्।
कफवातामयध्वंसि छागमांसद्रवत्वकृत्। चणकाम्लगुणं ज्ञेयं लोहसूचीद्रवत्वकृत्॥'
(भा. प्र.)

'अम्लवेतसो भेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातश्लेष्महराणाम्।' (च. सू. २५)
गुणैस्तैरेव संयुक्तं भेदनं त्वम्लवेतसम्। (च. सू. २७, फलवर्ग)

W. I., IV, 107.
F. I., I, 264.

१३८. दाडिम

परिचय

गण—हृद्य, छर्दिनिग्रहण (च०); परुषकादि (सु०)।

कुल—दाडिम-कुल (प्युनिकेसी–Punicaceae)।

नाम—लैं०–प्युनिका ग्रेनेटम (Punica granatum Linn.); सं०–दाडिम, दन्तबीज (दाँत के सदृश बीज वाला), लोहितपुष्पक (रक्तपुष्प वाला); हि०–अनार; बं०–दालिम; म०–डालिंब; गु०–दाड़म; ता०–मदुलाई; ते०–दानिम्मा; क०–डालिंब, मल०–मातलम्; फा०–अनार; अ०–रूम्मान; अं०–पोमेग्रेनेट (Pomegranate)।

स्वरूप—इसका गुल्म या मध्यम प्रमाण का वृक्ष १०–१५ फीट ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-चिकनी, धूसरवर्ण होती है। प्रशाखायें कभी-कभी कटंकित होती हैं। **पत्र**-लगभग २–३ इञ्च लम्बे और ½–¾ इञ्च चौड़े, दोनों सिरों पर पतले, आयताकार या अभिलट्वाकार होते हैं। **पुष्प**-नारंगी रक्तवर्ण, कभी-कभी पीले, प्रायः एकल या कभी-कभी २–४ के गुच्छों में, अक्षीय, १½–२ इञ्च लंबे होते हैं। **फल**-गोलाकार, लगभग २ इञ्च व्यास का, स्थायी बाह्यकोष से युक्त, फलत्वक् चर्मवत्, काष्ठीय, फल का भीतरी भाग अनेक पर्दों से विभक्त जिसमें अनेक कोणीय बीज होते हैं जिनका आवरण मांसल, रक्तवर्ण, गुलाबी या श्वेत होता है। पुष्प अप्रिल–मई में तथा फल जुलाई–सितम्बर में आते हैं।

जाति—रस के अनुसार इसकी तीन जातियों का निर्देश किया गया है :—
(१) मधुर, (२) मधुराम्ल और (३) अम्ल। व्यवहार में देश, वर्ण, आकृति भेद से अनेक जातियों का प्रचलन है। बेदाना और कन्दहारी उत्तम मानी जाती है।

उत्पत्तिस्थान—अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और ईरान में विशेष होता है। संप्रति भारत में सर्वत्र उगाया जाता है। ऊधमपुर (जम्मू) अनारदाना संग्रह करने का प्रमुख केन्द्र है।

रासायनिक संघटन—अनारदाना में आर्द्रता ७८, प्रोटीन १.६, वसा ०.१, सूत्र ५·१, अन्य कार्बोहाइड्रेट १४.५, खनिज पदार्थ ०.७%; कैलशियम १०, मैगनेशियम १२, आक्जलिक अम्ल १४, फास्फोरस ७०, लौह ०.३, सोडियम ०.९, पोटाशियम १३३, ताम्र ०.२, गन्धक १२, क्लोरीन २, थियामिन ०.०६, राइबोफ्लेविन ०.१०, निकोटिनिक एसिड ०·३० और विटामिन सी १४ मि.ग्रा.। प्रति १०० ग्राम होते हैं। इसके रस में अम्लता ०·४५–३·४७ ग्रा०। १०० मि.लि. और रिड्युसिंग शुगर ७·८–१३·७ ग्रा०। १०० मि. लि. होता है। रस में कुछ टैनिन भी होता है। द्राक्षशर्करा तथा फलशर्करा मुख्य शर्करायें तथा अम्ल में ९०% निम्बुकाम्ल और कुछ सेवाम्ल होता है। फल के ताजे छिलके में राल ४.५, मेनिटोल १.८, अस्फटिकीय शर्करा २.७, गोंद ३.२, इन्युलिन १, म्युसिलेज ०.६, टैनिन १०.४, गैलिक एसिड ४, कैलशियम ऑक्जलेट ४ और पेक्टिन २–४ प्रतिशत होते हैं। पौधे के सभी अवयवों में टैनिन होता है। विशेषकर फलत्वक् (२६% तक) काण्डत्वक् (१०–२५%) मूलत्वक् (२८%) तथा पत्तियों (११%) में होता है। काण्ड और मूल की त्वचा में अनेक क्षाराभ पाये जाते हैं। मूलत्वक् में ०.३–०.६ प्रतिशत कुल क्षाराभ होते हैं। छाल में पेलिटियरिन (Pelletierine), आइसो-पेलिटियरिन (Iso-Pelletierine) आदि क्षाराभ होते हैं। इनकी विशेष क्रिया स्फीतकृमि (Tape worm) पर होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध **रस**—मधुर, कषाय, अम्ल
विपाक—मधुर (मधुर जाति), अम्ल (अम्ल जाति) **वीर्य**—अनुष्ण

कर्म

दोषकर्म—मधुर फल त्रिदोषघ्न है। यह माधुर्य और कषाय के कारण पित्त का तथा उष्ण वीर्य के कारण कफवात का शमन करता है। मधुराम्ल फल अम्लता के कारण किंचित् पित्तकर होता है। अम्लफल कफवातशामक किन्तु पित्तकोपक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी त्वचा कषाय होने से शोथहर एवं रोपण है। यह जन्तुघ्न भी है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के लिए बलप्रद और मेध्य है।

पाचनसंस्थान—इसका फल रुचिवर्धक, दीपन, तृष्णानिग्रहण एवं ग्राही है। इसकी मूलत्वक् तीव्र कृमिघ्न है। स्फीत कृमि (Tapeworm) पर इसकी क्रिया विशिष्ट होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान—इसकी पुष्प-कलिका कषाय होने से कफघ्न है। फल स्नेहन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रवर्धन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मधुर फल का त्रिदोष में तथा मधुराम्ल और अम्ल फलों का कफवातिक विकारों में प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी छाल के काढ़े से मुख और कण्ठरोगों में गण्डूष करते हैं। व्रणों को धोते भी हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा तज्जनित विकारों में इसका फल उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, तृष्णा, अम्लपित्त आदि पैत्तिक विकार तथा अतिसार, प्रवाहिका आदि में यह प्रशस्त माना जाता है। बच्चों के अतिसार में इसकी कली बकरी के दूध में पीसकर चटाते हैं। कृमिरोग में १०–२० ग्रा० मूलत्वक् का क्वाथ खाली पेट देते हैं और निराहार रख कर दूसरे दिन विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्ताल्पता तथा रक्तविकारों में यह लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—फलों का प्रयोग वातपैत्तिक कास में करते हैं। इससे कफ आसानी से निकलने लगता है और श्वासमार्ग की रूक्षता दूर होती है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में यह पथ्यरूप में दिया जाता है। इससे ज्वर तथा उसके उपद्रव शान्त होते हैं तथा रोगी के बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसके फलों का रस देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, फलत्वक्, मूलत्वक्।

मात्रा—फलस्वरस–२०–५० मि० लि०; त्वक्क्वाथ–४०–८० मि० लि०

विशिष्ट योग—दाडिमचतुःसम, दाडिमाष्टक, दाडिमादि चूर्ण, दाडिमाद्य घृत, दाडिमाद्य तैल।

× × ×

'दाडिमः करको दन्तबीजो लोहितपुष्पकः। तत्फलं त्रिविधं स्वादु स्वाद्वम्लं केवलाम्लकम्॥
तत्तु स्वादु त्रिदोषघ्नं तृड्दाहज्वरनाशनम्। हृत्कण्ठमुखदोषघ्नं तर्पणं शुक्रलं लघु॥
कषायानुरसं ग्राहि स्निग्धं मेधाबलप्रदम्। स्वाद्वम्लं दीपनं रुच्यं किञ्चित्पित्तकरं लघु॥
अम्लं तु पित्तजनकमामवातकफापहम्।' (भा. प्र.)

'अम्लं कषायमधुरं वातघ्नं ग्राहि दीपनम्। स्निग्धोष्णं दाडिमं हृद्यं कफपित्ताविरोधि च॥
रूक्षाम्लं दाडिमं यत्तु तत् पित्तानिलकोपनम्। मधुरं पित्तनुत्तेषां तद्धि दाडिममुत्तमम्॥
(च. सू. २७)

'कषायानुरसं तेषां दाडिमं नातिपित्तलम्। दीपनीयं रुचिकरं हृद्यं वर्चोविबन्धनम्॥
द्विविधं तत्तु विज्ञेयं मधुरं चाम्लमेव च। त्रिदोषघ्नं तु मधुरमम्लं वातकफापहम्॥'
(सु. सू. ४६)

'विपाचितं दाडिमकल्कयुक्तं तैलं भवेत् सर्षपसम्भवं यत्।
अभ्यंजनात्तत् कुरुते नितान्तमुच्चैः स्तनौ वृद्धियुतौ च कर्णौ॥' (रा. मा.)

W. I., VIII, 317–324.

१३९. मातुलुङ्ग

परिचय

गण—हृद्य, छर्दिनिग्रहण (च०)

कुल—जम्बीर-कुल (रूटेसी–Rutaceae)।

नाम—लै०–साइट्रस मेडिका (Citrus medica Linn.)। सं०–मातुलुङ्ग, बीजपूर (बीजों से भरा हुआ); रुचक (रुचिवर्धक)। हिं०–बिजौरा; बं०–टौवा नेबू, छोलङ्गनेबू, बेगपूर; म०–महालुङ्ग; गु०–बिजोरु; ता०–मादलम्; ते०–मादीफलमु, लुङ्गमु; क०–रुषक, महाफल, मादल; अ०–उत्रुज; फा०–तुरेज; अं०–साइट्रान (Citron)।

स्वरूप—इसका गुल्म या छोटा वृक्ष लगभग १० फीट तक ऊँचा होता है। **शाखायें**—छोटी, स्थूल, झुरमुटदार तथा कंटकित होती है। **पत्रक**–बड़े, आयताकार, पत्रवृन्त छोटा, अपक्ष या हलके किनारेदार होता है। **फल**–बड़े, लंबगोल या अंडाकार, फल का अग्रभाग चूचुकवत् गोल पकने पर पीले हो जाते हैं।

फलत्वक् मोटी, खुरदी या उभारदार, सुगन्धित होती है। फलमज्जा हलके पीले रंग की, मात्रा में थोड़ी, अम्लप्राय या मधुरप्राय होती है।

जाति—रसभेद से यह दो प्रकार का होता है—(१) मधुर (२) अम्ल।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की घाटियों में गढ़वाल से सिक्किम तक ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। आसाम, मध्यभारत एवं पश्चिमी घाट में विशेष होता है। आजकल सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके रस में निंबुकाम्ल, गन्धकाम्ल तथा शर्करा होती है। फलत्वक् में एक सुगन्धित उडनशील तैल होता है जिसमें साइट्रिन (Citrene) ७६ प्रतिशत, साइट्रोल (Citrol) ७-८ प्रतिशत, साइमीन (Cymene) तथा साइट्रोनेलल (Citronellal) तत्त्व होते हैं।

गुण

	मधुर जाति	अम्ल जाति
गुण—	लघु, स्निग्ध,	तीक्ष्ण
रस—	मधुर;	अम्ल
विपाक—	मधुर;	अम्ल
वीर्य—	शीत	उष्ण

कर्म

दोषकर्म—मधुर जाति वातपित्तशामक तथा अम्ल जाति कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र वेदनास्थापन, बीज-शोथहर, लेखन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मदशामक है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, तृष्णानिग्रहण, दीपन, अनुलोमन और यकृदुत्तेजक है। इसके केशर ग्राही हैं। छिलका कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—इसका मधुर फल हृद्य और रक्तपित्तशामक है। अम्ल फल हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज तथा फल आर्त्तवजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मधुर फल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में तथा अम्ल फल का प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके पत्र गरम कर पीडायुक्त स्थानों में बाँधते हैं। बीजों का लेप शोथ में तथा चर्मरोगों में करते हैं। बिच्छू के दंश पर भी बीजों का लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मदात्यय में यह लाभकर।

पाचनसंस्थान—अरुचि, छर्दि, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, शूल गुल्म और अर्श में इसका प्रयोग करते हैं। इसका केशर प्रवाहिका एवं अर्श में देते हैं। मूलत्वक् का कृमिरोग में प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका फल (मधुर) हृद्रोग और रक्तपित्त में देते हैं। अम्ल फल हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। पुष्प और मूल का भी प्रयोग रक्तपित्त में होता है।

श्वसनसंस्थान—यह कास, श्वास एवं हिक्का में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—इसके फल एवं बीजों का प्रयोग रजोरोध तथा कष्टार्त्तव में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—फलस्वरस-१०-२० मि० लि०

विशिष्ट योग—मातुलुङ्गादि योग, बीजपूराद्य घृत।

× × ×

'बीजपुरो मातुलुङ्गो रुचकः फलपूरकः। बीजपूरफलं स्वादु रसेऽम्लं दीपनं लघु॥
रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्। श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम्॥" (भा. प्र.)

'शूलेऽरुचौ विबन्धे च मन्देऽग्नौ मद्यविप्लवे। हिक्काश्वासे च कासे च वम्यां वर्चोगदेषु च॥
वातश्लेष्मसमुत्थेषु सर्वेष्वेवोपदिश्यते' (च. सू. २७)

'लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुङ्गमुदाहृतम्। त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रिमिकफापहा॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्। मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचकनाशनम्॥
दीपनं लघु सङ्ग्राहि गुल्मार्शोघ्नं तु केशरम्। शूलाजीर्णविबन्धेषु मन्देऽग्नौ कफमारुते॥
अरुचौ च विशेषेण रसस्तस्योपदिश्यते।' (सु. सू. ४६)

'बालं पित्तमरुत्कफास्रकरणं मध्यं च तादृग्विधम्।
पक्वं वर्णकरञ्च हृद्यमथ तत् पुष्णाति पुष्टिं बलम्॥
शूलाजीर्णविबन्धमारुतकफश्वासार्त्तिमन्दाग्निजित्।
कासारोचकशोकशान्तिदमिदं स्यान्मातुलुङ्गं सदा॥' (रा. नि.)

१४०. जम्बीर

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-साइट्रस लाइमोन (Citrus limon (Linn.) Burm. f.)
सं०-जम्बीर; हि०-जंबीरी नींबू; ल०-कर्ननेबू; म०-इर्डलिंबु; गु०-गोदाडिया लिंबु; अं०-दी लेमन ऑफ इण्डिया (The Lemon of India)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार **वृक्ष**-१०-१२ फीट ऊँचा होता है। शाखायें कंटकित होती हैं। **पत्र**-अंडाकार तथा पत्रवृन्त अपक्ष या ह्रस्वपक्षयुक्त होते हैं।

फल—लंबगोल या अंडाकार जिसका अग्रभाग चूचुकवत् होता है। यह पकने पर चमकीले पीले रंग का होता है। फल का छिलका मोटा तथा फलमज्जा अम्ल, हलके पीले रंग का होता है।

जाति—देशभेद तथा आकृति के अनुसार इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। पंजाब में सुलभ गलगल तथा जंबीरी इसके प्रचलित प्रकार है। कुछ विदेशी जातियाँ भी आई हैं यथा इटालियन, नेपाली, मालटा, लिसबन, युरेका आदि। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में बड़े फल को जंबीर और छोटे को जंबीरिका कहा है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। वन्य रूप में यह भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके रस में निम्बुकाम्ल अधिक होता है। १०० मि० लि० नींबू के रस के लगभग ३.७ प्रतिशत अम्ल प्राप्त होता है। इसके फल की त्वचा से एक हलके पीले रंग का उड़नशील तैल निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, तीक्ष्ण **रस**—अम्ल
विपाक—अम्ल **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णा, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल, विबंध, यकृद्विकार तथा कृमिरोग में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—फलस्वरस-½-१ तो०; त्वक्क्वाथ-४०-८० मि० लि०।

\+ + +

'स्याजम्बीरो दन्तशठो जम्भजम्भीरजम्भलाः। जम्बीरमुष्णं गुर्वम्लं वातश्लेष्मविबन्धनुत्॥
शूलकासकफोत्क्लेशच्छर्दितृष्णामदोषजित्। आस्यवैरस्यहृत्पीडावह्निमांद्यकृमीन् हरेत्॥

स्वल्पजम्बीरिका तद्वत् तृष्णाच्छर्दिनिवारिणी।' (भा. प्र.)
'तृष्णाशूलकफोत्क्लेशच्छर्दिश्वासनिवारणम्। वातश्लेष्मविबन्धघ्नं जम्बीरं गुरु पित्तलम्॥'
(सु. सू. ४६)

१४१. चांगेरी

परिचय

कुल—चांगेरी-कुल (ऑक्सिलिडेसी-Oxiladaceae)।

नाम—लै०-ऑक्जेलिस कॉर्निकुलेटा (Oxalis corniculata Linn.); सं०-चांगेरी, अम्लपत्रिका (खट्टी पत्तियों वाली); हिं०-तिनपतिया; बं०-आम्रुल; पं०-खट्टी बूटी; खटमिट्ठा म०-अंबुटी; ता०-पुलियारै; तै०-पुलिचिन्ता; क०-पुल्लमपुरचि; मल०-पुलिपारेल, अं०-इण्डियन सोरेल (Indian sorrel)।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप वर्षायु या बहुवर्षायु, उत्थित या प्रसरणशील, २½-१० इञ्च लंबा होता है। पत्रवृन्त लम्बा होता है। पत्र थोड़े, पाणिवत्, त्रिपत्रकीय होते हैं। पत्रक-अभिहृदयाकृति होते हैं। उपपत्र-पत्रवृन्त से संसक्त होते हैं। पुष्पदंड-प्रायः द्विपुष्पक होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय, प्रायः मूर्धज, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-लंबगोल, रोमश होते है। बीज अनेक गहरे भूरे रंग के, अंडाकार, अनुप्रस्थ धारियों से युक्त होते हैं। पुष्प और फल वर्ष भर मिलते हैं।

जाति—इसकी एक अन्य काण्डरहित प्रजाति (o-acetosella Linn.) होती है जिसके पत्र मूलीय, पत्रवृन्त ३-६ इंच लंबा, पत्रक तीन, अभिहृदयाकृति, प्रायः नीचे की ओर बैंगनी होते हैं। उपपत्र-बड़े, चौड़े, झिल्लीदार होते हैं। पुष्पदंड-अक्षीय, कोमल, मध्य में दो वृन्तपत्रकों से युक्त होते हैं जिन पर सफेद या हलके गुलाबी रंग के बैंगनी सिरायुक्त एकल पुष्प आते हैं। फल-उत्थित, ८ मि. मी. लंबे, अण्डाकार होते हैं जिनके प्रत्येक कोष्ठ में २-३ बीज होते हैं। पहले को पीतपुष्पा और इसको श्वेत या रक्तपुष्पा चांगेरी कह सकते हैं। इससे मिलती जुलती एक और विदेशी प्रजाति (O. latifolia H. B. & K.) है जिसके पत्रक त्रिकोणाकार (deltoid) होते हैं तथा पुष्प मुण्डकों में बैंगनी रंग के आते हैं। यह मेक्सिको का आदिवासी पौधा है जो भारत में बस गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेश में सर्वत्र तथा हिमालय में ७ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें पोटाशियम तथा ऑक्जेलिक एसिड होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—अम्ल, कषाय
विपाक—अम्ल **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मदनाशक और संज्ञाप्रबोधन है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है। कषाय रस के कारण इससे सूक्ष्म रक्तवाहिनियों का संकोच होता है।

तापक्रम—यह स्पर्श में शीत है और दाहप्रशमन है। ज्वरघ्न भी है।

सात्मीकरण—यह मादक विषों को विशेषतः धतूरे के विष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, शिरःशूल आदि में इसका लेप करते हैं। लेखन होने से त्वचा के रोगों में तथा अर्म, शुक्ल आदि नेत्ररोगों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मदात्यय में इसका स्वरस प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अर्श, ग्रहणी, प्रवाहिका तथा गुदभ्रंश के लिए यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्विकार तथा रक्तस्राव में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः चातुर्थिक ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मादक विष विशेषतः धत्तूरविष में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—स्वरस—५–१० मि० लि०।

विशिष्ट योग—चांगेरीघृत।

× × ×

"चांगेरी दीपनी रुच्या रूक्षोष्णा कफवातनुत्।
'पित्तलाम्ला ग्रहण्यर्शःकुष्ठातीसारनाशिनी ॥' (भा. प्र.)
'दीपनी चोष्णवीर्या च ग्राहिणी कफमारुते।
प्रशस्यतेऽम्लचांगेरी ग्रहण्यर्शोहिता च सा ॥ (च. सू. २७)
'ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी साम्ला वातकफे हिता।
उष्णा किञ्चित् कषाया च चांगेरी चाग्निदीपनी ॥' (सु. सू. ४६)

१४२. तिन्तिडीक

परिचय

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी–Anacardiaceae)।

नाम—लै०–रस पार्विफ्लोरा (Rhus parviflora Roxb.) सं०–तिन्तिडीक; हि०–समाकदाना; पं०–खट्टे मसूर; अ०–सुमाक; अं०–सुमाक (Sumac)

स्वरूप—इसका गुल्म या छोटा वृक्ष १५ फीट तक ऊँचा और ३ फीट तक परिधि का होता है जो मुरचई रंग के रोमों से आच्छादित रहता है। छाल पतली रक्ताभ भूरे रंग की होती है। **पत्र**–त्रिपत्रक, पाणिवत्, पत्रवृन्त १–१½ इञ्च लम्बा, दृढ़ होता है। **पत्रक**–अण्डाकार, आयत-अभिलट्वाकार या वृत्ताकार, १½–३ इञ्च लम्बे, अवृन्त, चर्मवत् होते हैं। **पुष्पमंजरी**–अक्षीय और शीर्षस्थ, रेशमी, पत्तियों से लंबी होती है जिसमें पीत-हरित खिलने पर किञ्चित् रक्ताभ, ⅒ इञ्च व्यास के पुष्प आते हैं। **फल**–अण्डाकार, ⅙ इञ्च व्यास के, चपटे, चमकीले, रक्तवर्ण होते हैं। मई–जून में उष्ण तथा जुलाई–अगस्त में फल आते हैं। इस वृक्ष में मूलचूषक बहुत होते हैं। फलत्वचा को यूनानी वैद्य 'गिर्द सुमाक' या 'पोस्त सुमाक' के नाम से प्रयोग में लाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी हिमालय में २–५ हजार फुट की ऊंचाई तक नेपाल से कुमाऊँ तक मिलता है।

रासायनिक संघटन—इस वृक्ष के पत्र और त्वचा में प्रभूत टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—अम्ल
विपाक—अम्ल
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह अम्ल होने से वातशामक तथा कफपित्तवर्धक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह रूक्षता के कारण मूत्र को कम करता है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तदौर्बल्य तथा दन्तमूल में इसके फाण्ट से कुल्ला कराते हैं और मंजनों में डालते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसको नेत्रों में डालते हैं। शोथ में इसका लेप करते हैं। पीनस रोग में इसका लेप शिर में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, तृष्णा, वमन, अग्निमांद्य, अतिसार, ग्रहणी, प्रवाहिका आदि में अह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्र में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—दाहतृष्णायुक्त ज्वर में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३-६ ग्रा०।

मिश्रण और प्रतिनिधि—फारस से आयातित एक अन्य विदेशी प्रजाति (R. coriaria Linn.) के फलों का इसमें मिश्रण किया जाता है तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में भी व्यवहृत होता है। दोनों समानकर्मी हैं।

वक्तव्य—सुश्रुतसंहिता (सू० ४६) में अम्लिका (इमली) से पृथक् तिन्तिडीक का वर्णन है अतः यहाँ तिन्तिडीक से इमली न लेकर सुमाकदाना लेना चाहिए।

× × ×

'वातापहं तिन्तिडीकमामं पित्तबलासकृत्।
ग्राह्युष्णं दीपनं रुच्यं संपक्वं कफवातनुत्॥' (सु. सू. ४६)

W. I., IX, 19-20.
F. I., II, 9.

दीपन

१४३. हिंगु

परिचय

गुण—संज्ञास्थापन, दीपनीय, कटुकस्कन्ध (च०); पिप्पल्यादि, ऊषकादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-फेरुला नार्थेक्स (Ferula narthex Boiss.); सं०—हिंगु, सहस्रवेधि (हजारों कर्म करने वाला), जतुक (लाक्षा के समान) बाह्लीक (बल्ख देशोत्पन्न), रामठ (रमठदेशोद्भव); हि०-बं०-म०-क०-हींग; गु०-हींग, वघारणी; ता० मल०-रुङ्गयम्; ते०-इङ्गुवा; फा०-अंगजह, अंगोज; अ०-हिल्तीत; अं०-असाफिटिडा (Asafoetida)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु गंधयुक्त क्षुप ५-८ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-पक्षवत्, बहुविभक्त, दन्तुर होते हैं, ऊपर के पत्र छोटे और नीचे के लट्वाकार, १-२ फीट लंबे होते हैं। काण्डस्थ कोश बड़े, लट्वाकार होते हैं जहाँ से सरल या संयुक्त पुष्प-मुण्डक निकलते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-½ इञ्च लंबे, ⅓ इञ्च चौड़े

होते हैं। **मूल**-स्थूल तथा शाखायुक्त होता है इसका तैलीय गोंदयुक्त राल हिंगु कहलाता है। इसके फल को अञ्जुदान के नाम से हकीम लोग प्रयोग में लाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—F. jaeschkeana Vatke तथा F. thomsoni C. B. Clarke ये दो अन्य प्रजातियाँ भी कश्मीर में होती हैं। विदेशी प्रजातियों में F. foetida Regel मुख्य है जो भूमध्यसागरवर्त्ती क्षेत्र, फारस और अफगानिस्तान में होती है। भारत में हींग इसी क्षेत्र से आयातित होती है।

जाति—जो सुगन्धित और हीरकवत् शुभ्र, स्फटिकाकार होता है उसे 'हीरा हींग' कहते हैं। यह उत्तम माना गया है। जो कृष्ण दुर्गन्धित होता है उसे 'हींगड़ा' कहते हैं। व्यापार में हींग तीन रूपों में आती है—कण, पिण्ड और लेप। कण हिंगु शुद्धतम होता है जो गोल या चपटे, ५-३ मि० मि० व्यास के, भूरे या पीताभ कणों में आता है। सामान्यतः जो हींग मिलती है वह पिण्ड हिंगु है जो कणों के एकत्र मिलने से बनता है। इसमें वानस्पतिक अवयव, मिट्टी आदि भी मिली रहती है। लेप हिंगु में भी बाह्य पदार्थ मिले रहते हैं।

संग्रहविधि—इसका संग्रह दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम विधि यह है कि वसन्त ऋतु में हिंगुवृक्ष के मूल के ऊपर वाले भाग में चाकू से त्वचा छील दी जाती है। वहाँ जो निर्यास सञ्चित होता है उसे १-२ दिन में पुनः छील कर हटा लेते हैं और फिर वहाँ नया निर्यास संचित होता है। इस प्रकार कई बार करने से सारा निर्यास निकल आता है तब उसे छोड़ दिया जाता है। इस निर्यास को सुरक्षिता रखने एवं धूप आदि से बचाने के लिए इसके चारों ओर पत्थरों की दीवाल सी बना दी जाती है। यह विधि प्रायः बल्ख, बुखारा, पारस आदि में प्रचलित है।

इसकी दूसरी विधि अफगानिस्तान, काबुल, काश्मीर और सीमाप्रान्त में व्यवहृत होती है। वहाँ वृक्ष के काण्ड को मूल से कुछ ऊपर काट देते हैं जिससे मूल के छिन्न भाग पर निर्यास जम जाता है। इसे हटा कर पुनः थोड़ा और काट देते हैं। इस प्रकार कई बार काटने से सब निर्यास आ जाता है तब छोड़ देते हैं। निर्यास को सुरक्षित रखने के लिए छिन्न मूल भाग को मिट्टी शाखाओं या पत्थरों से ढक देते हैं।

अपमिश्रण एवं अग्राह्य हिंगु—व्यापारी लोग उपर्युक्त विधि से निर्यास का संग्रह कर उसमें गेहूँ, पत्थर के टुकड़े, बबूल गोंद, दूसरे निर्यास, गंधबिरोजा, गेरू, खड़िया, आलू के टुकड़े आदि मिला देते हैं जिससे उसका वजन बढ़ जाता है और असल निर्यास कम रह जाता है। ऐसी हींग को जल में घोलने पर वह पात्रतल में नीचे बैठ जाता है। आग लगाने से पूरी जलती भी नहीं। गन्ध और स्वाद में भी अन्तर आ जाता है। ऐसी हींग का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

प्रशस्त हिंगु—जो जल में डालने पर शनैः शनैः श्वेत धारा देकर पूरा मिल जाय और जल स्वच्छ दुग्धवत् हो जाय तथा कोई अवशेष पात्रतल में न बैठे वह हिंगु प्रशस्त मानी गई है। दियासलाई लगाने से हींग पूरी जल जानी चाहिए। उसका वर्ण शुभ्र, गन्ध तीक्ष्ण और स्वाद कटु होना चाहिए। मानक के अनुसार हींग में १५% से अधिक राख तथा ५० प्रतिशत से कम अलकोहलविलेय पदार्थ नहीं होना चाहिए।

शोधन—हिंगु का शोधन दो प्रकार से किया जाता है—१. अभर्जित और २. भर्जित। प्रथम विधि में हींग को आठगुने जल में घोलकर छान लेते हैं और फिर किसी स्निग्ध लोहपात्र में रख कर मन्द आँच से जलहीन करते हैं। दूसरी विधि में हींग में गाय का घी देकर खूब भूनते हैं। जब शुष्क और खर हो जाती है तब उतारते हैं।

रासायनिक संघटन—हिंगु में राल ४०–६४, गोंद २५, उड़नशील तैल १०–१७ तथा राख १.५–१० प्रतिशत होते हैं। राल में मुख्यतः एसारेसिनोटैनोल (Asaresinotannol) स्वतन्त्र या फेरुलिक एसिड के साथ मिला होता है। गोंदयुक्त राल के ऊर्ध्वपातन से उड़नशील तैल प्राप्त होता है जिसमें मुख्य तत्त्व डाइल्फाइड (Disulphide) होते हैं इसीके कारण हींग की विशिष्ट गन्ध होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण   **रस**—कटु
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य लेप वेदनास्थापन, शूलप्रशमन, वातहर और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उष्ण होने के कारण यह उत्तेजक, वेदनास्थापन, संज्ञास्थापन और आक्षेपहर है।

पाचनसंस्थान—यह कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन और रोचन, स्निग्ध और तीक्ष्ण होने से अनुलोमन, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने के कारण जन्तुघ्न, कफनिःसारक (छेदन) और कफवातहर होने से श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—तीक्ष्णता से यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—उष्णता और तीक्ष्णता से यह वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और बल्य है।

त्वचा—उष्णता के कारण यह शोणितोत्क्लेशक एवं गन्धक का अंश होने से कण्डूघ्न है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न, शीतप्रशमन और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

उत्सर्ग—इसका उत्सर्ग श्वासनलिका, त्वचा और वृक्कों द्वारा होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आध्मान आदि उदरविकारों में हींग का लेप करते हैं या बत्ती बनाकर सेंकते हैं। ऐसे विकारों में एरण्डतैल में मिलाकर इसकी बस्ति भी दी जाती है। २ ग्रा० हींग १०० मि० लि० जल में मिलाकर कृमिरोग में बस्ति देते हैं। ध्वजभंग में शिश्न पर लेप करते हैं तथा कास-श्वास में छाती पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातहर और संज्ञा[illegible] होने से इसका प्रयोग पक्षाघात, अर्दित, मन्यास्तम्भ, गृध्रसी, आक्षेपक और अपतन्त्रक आदि वातविकार और संज्ञानाश की अवस्थाओं में करते हैं।

पाचनसंस्थान—दीपन और अनुलोमन होने के कारण अग्निमांद्य, आध्मान, गुल्म, उदरशूल, विबन्ध और कृमि में इसका उपयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातहर और हृद्य होने से वातजन्य हृद्रोग यथा हृद्द्रव, हृदयशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—छेदन और श्वासहर होने से फुफ्फुसशोथ, जीर्ण कास, श्वास और कुकुरखाँसी में यह लाभकर होता है।

मूत्रवहसंस्थान—वातिक मूत्राघात और बस्तिशूल में इसके प्रयोग से कष्ट दूर हो जाता है और मूत्र आने लगता है।

प्रजननसंस्थान—रजःकृच्छ्र में तथा प्रसव के बाद देने से गर्भाशय शुद्ध होता है। क्लैब्य रोग में देने से जननेन्द्रिय उत्तेजित होती है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देने से भूख ठीक होती है, पाचन ठीक होता है, रक्ताभिसरण बढ़ता है और उससे सामान्य बल की वृद्धि होती है।

त्वचा—कण्डू में इसका प्रयोग लाभकर है।

तापक्रम—सन्निपातज्वर, शीतज्वर एवं विषमज्वर में यह विशेष उपयोगी है। हींग के सेवन से विषमज्वर का आक्रमण रुकता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—·१२–·५ ग्रा०।

विशिष्ट योग—हिंग्वादि वटी, हिंग्वष्टक चूर्ण, हिंगुकर्पूर वटिका, रजः प्रवर्त्तनी वटी।

वक्तव्य—उदररोगों में भर्जित हींग एवं फुफ्फुसरोगों में कच्ची हींग देनी चाहिए। कच्ची हींग में अधिक तीक्ष्णता और छेदनशक्ति होती है जिससे इसका प्रभाव फुफ्फुस पर अधिक होता है। उदररोगों में ऐसी हींग उत्क्लेशकर और क्षोभक हो जाती है अतः उसे घृतभृष्ट करने के बाद ही प्रयोग करते हैं।

अहित प्रभाव—यकृत्, मस्तिष्क एवं पित्तप्रकृति वालों के लिए यह अहितकर होता है।

निवारण—अनार, कतीरा, शतपुष्पा, सेव और चन्दन।

वक्तव्य—हींग के अतिरिक्त, इसी जाति के दो-तीन और द्रव्य भारत में उसी क्षेत्र से आयातित होते हैं। ये हैं—

१. जवाशीर, गावशिर (Galbanum)—यह F. galbaniflua Boiss & Buhse वनस्पति का निर्यास है। यह पीला या भूरे कणों में होता है किन्तु बाजार में पिण्डाकार मिलता है।

२. सुम्बुल (Muskroot)—यह मध्य एशिया में उत्पन्न F. sumbul Hook. f. तथा F. suaveolens Ait & Hem. पौधों के अनुप्रस्थ कटे मूलों और भौमिक काण्डों से निष्पन्न होता है। इसके ४ इञ्च लम्बे, ३ इञ्च व्यास के टुकड़े मिलते हैं जो बहुत हलके, बाहर से गहरे भूरे तथा भीतर पीताभ और तिक्तरस होते हैं। प्रथम पौधे की जड़ कस्तूरीगन्धि और दूसरे की चोरकगन्धि होती है।

३. सगविनज (Sagapenum)—यह संभवतः F. persica Willd. या F. szowitziana DC. पौधों का नैलगोंदयुक्त राल है। ये पौधे अरब और ईरान में होते हैं। इसके कण जवाशीर के समान होते हैं।

× × ×

'सहस्रवेधि जतुकं बाह्लीकं हिंगु रामठम्। हिंगूष्णं पाचनं रुच्यं तीक्ष्णं वातबलासहृत्॥
शूलगुल्मोदरानाहक्रिमिघ्नं पित्तवर्धनम्। स्त्रीपुष्पजननं बल्यं मूर्च्छापस्मारहृत् परम्॥'
(भा. प्र.)

'हिंगुनिर्यासश्छेदनीयदीपनीयानुलोमिकवातकफप्रशमनानाम्।' च. सू. २५
'हृद्यं हिंगु कटूष्णं च कृमिवातकफापहम्। विबन्धानाहशूलघ्नं चक्षुष्यं गुल्मनाशनम्॥'
(रा. नि.)

W. I., IV, 20–22.
F. I., II, 707–8.

१४४. अतिविषा

परिचय

गण—अर्शोघ्न, लेखनीय (च०); पिप्पल्यादि, वचादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी–Ranunculaceae)।

नाम—लै०–एकोनाइटम हेटरोफाइलम् (Aconitum heterophylum Wall.); सं०–अतिविषा (अतिक्रान्ता विषम्–विषवर्ग की होने पर भी निर्विष); शुक्लकन्दा (श्वेत कन्दवाली); भंगुरा (शीघ्र आसानी से टूट जाने वाली); घुणवल्लभा (इसमें घुन बहुत जल्दी लगता है); काश्मीरा (ऊँचे पार्वत्य प्रदेश–विशेषतः कश्मीर में होने वाली), शिशुभैषज्या (बालरोगों में विशेष प्रशस्त); हि०–अतीस; म०–गु०–अतिविष; बं०–आतईच; पं०–बतीस; ता०–अतिविद्यम्; ते०–अतिबासा; फा०–बज्जीतुरकी।

स्वरूप—इसका **क्षुप** १–३ फुट ऊँचा होता है। **कांड**–सरल या शाखान्वित, नीचे चिकना और ऊपर रोमश होता है। **पत्र**–२–४ इञ्च लंबे, लट्वाकार या गोल-हृद्वत्, तीक्ष्णाग्र या गोलाग्र होते हैं। नीचे के पत्र बड़े और प्रायः पांच विच्छेदों से युक्त होते हैं तथा ऊपर के पत्र छोटे अखण्ड, काण्डसंसक्त और तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। **पुष्प**–चमकीले नीले या हरिताभ नील बैंगनीसिरायुक्त बहुपुष्पी मंजरी में होते हैं जिसमें आभ्यन्तर कोश का एक दल सबसे बड़ा और फणाकार होता है। **फल**–पंचकोषीय होता है जिनमें अनेक बीज होते हैं। **मूल**–द्विवर्षायु होता है जिनमें दो कन्द होते एक पिछले वर्ष का और दूसरा नये साल का। ताजा कन्द लंबगोल, ऊपर से भूरा तोड़ने पर भीतर श्वेत और बीच में ४–५ काले बिन्दुओं से युक्त और लगभग १–१½ इञ्च लंबा और ½ इञ्च मोटा होता है। जुलाई-अगस्त में पुष्प और दिसम्बर-अक्टूबर में फल लगते हैं।

जाति—संहिताओं में अतिविषाद्वय का उल्लेख है जिनमें एक अतिविषा और दूसरी प्रतिविषा (A. palmatum D. Don.) (हि०–बिखमा, पं०–पतीस) है जो कठिन, गुरु और कृष्णाभ होती है। यह प्राचीनों की अरुण (या कृष्ण) जाति हो सकती है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर हिमालय में कुमाऊँ तक ६–१५ हजार फीट की ऊँचाई पर होती है।

रासायनिक संघटन—इससे अतीसिन (Atisine) नामक अस्फटिकीय, अतितिक्त और निर्विष क्षाराभ तथा दो स्फटिकीय क्षाराभ हेटरेतीसिन (Heteratisine) और हेतिसिन (Hetisin) तथा प्रचुर स्टार्च होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
विपाक—कटु
रस—तिक्त, कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है किन्तु अतितिक्त होने के कारण विशेषतः कफ-पित्तशामक है। उष्णता से वात की शान्ति भी करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तिक्त, कटु और उष्ण होने से दीपन, पाचन, छर्दिनिग्रहण, ग्राही, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। यह आमपाचन है तथा महास्रोत से मलों को निकाल कर बाद में स्तम्भन करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह तिक्त होने से रक्तशोधक है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह तिक्त होने से स्तन्यशोधन तथा उष्ण होने से वाजीकरण है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह रूक्ष होने से लेखन और तिक्त होने से कटुपौष्टिक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफ-पित्त के रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आमदोष, छर्दि, ज्वरातिसार, अतिसार, अर्श और कृमि में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकारों में दिया जाता है। शोथरोग में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय और कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकार तथा क्लैब्य में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः विषमज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं। विषमज्वर को रोकने के लिए इसे ३ ग्रा० की मात्रा में देते हैं।

सात्मीकरण—यह मेदोधातु को कम करता है इसलिए मेदोरोग में प्रयुक्त होता है। कटुपौष्टिक होने से ज्वर या अतिसार के बाद हुई दुर्बलता में इसका प्रयोग लाभप्रद है। मूषक आदि के विषों में भी देते हैं।

वक्तव्य—बालरोगों (ज्वर, कास, छर्दि, अतिसार आदि) में यह विशेष रूप से उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल (कन्द)।

मात्रा—१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—अतिविषादि चूर्ण, बालचतुर्भद्रा।

विषाक्त लक्षण—५-६ ग्रा० की मात्रा में देने पर इससे गलशोष, कम्प आदि वातिक लक्षण प्रकट होते हैं।

शोधन—गोमयरस में स्वेदन करने के बाद धोकर धूप में सुखा लेने से शुद्ध हो जाता है।

× × × ×

अतिविषा शुक्लकन्दा ज्ञेया विश्वा च भंगुरा।
श्यामकन्दा प्रतिविषा शृङ्गी चोपविषा विषा॥
आर्द्रा श्वेता विरूपा च विषदा पित्तवल्लभा।
घुणप्रियाऽतिसारघ्नी बालानां रोगनाशिनी॥
कटूष्णाऽतिविषा तिक्ता कफपित्तज्वरापहा।
आमातीसारकासघ्नी विषच्छर्दिविनाशिनी॥ (ध. नि.)

'विषा त्वतिविषा विश्वा शृंगी प्रतिविषारुणा। शुक्लकन्दा चोपविषा भंगुरा घुणवल्लभा॥
विषा सोष्णा कटुस्तिक्ता दीपनी पाचनी हरेत्। कफपित्तातिसारामविषकासवमिक्रिमीन्॥' (भा. प्र.)

'अतिविषा दीपनीयपाचनीयसंग्राहकसर्वदोषहराणाम्।' (च. सू. २५)

शृङ्गीं समुस्तातिविषां विचूर्ण्य लेहं विदध्यान्मधुना शिशूनाम्।
कासज्वरच्छर्दिभिरर्दितानां समाक्षिकां चातिविषां तथैकाम्॥ (वृ. मा.)

W. I., I, 27.
F. I., I, 29..

१४५. कलम्बक

परिचय

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लै०-कोसिनियम फेनेस्ट्रेटम (Coscinium fenestratum Colebr.); सं०-कलम्बक; हि०-झाड़ हलदी; ते०-मनुपसुपु; ता० मल०-मोरमंजल; कन्न०-मरदा अरशिना। अं०-फाल्स कलम्बा (False calamba), ट्री टर्मेरिक (Tree turmeric)

स्वरूप—इसकी काष्ठीय आरोहिणी लता गुडूची के समान होती है। **काण्ड**-लंबगोल, बाहर की ओर पीताभ भूरा तथा भीतर की ओर पीला लंबाई में सुषिरप्राय होता है। **पत्र**-५-७ इञ्च लम्बे, ४-६ इञ्च चौड़े, लंबाग्र, ऊपर चिकने, नीचे रोमश और जालीदार होते हैं। **पत्रवृन्त**-३-५ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-हरितवर्ण, $\frac{1}{2}$-$\frac{1}{3}$ इञ्च व्यास के मुण्डकों में लगते हैं। **फल**-१-३, $\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास के, प्रायः गोलाकार होते हैं।

इसका काण्ड निर्गन्ध और तिक्त होता है। इसका प्रयोग दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में चिरकाल से पीले रंग तथा कटुपौष्टिक के रूप में होता रहा है। युरोप में यह कलम्बा (Jateorhiza palmata (Lam.) Miers.) के प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत होने लगा अत एव इसे लोग नकली कलम्बा कहने लगे। भारत में भी यह दारुहरिद्रा के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत होता रहा है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी घाट, नीलगिरि, ट्रावनकौर और श्रीलंका में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बर्बेरिन (३.५% तक) होता है। इसके अतिरिक्त, कुछ ग्लुकोसाइड, सैपोनिन, वसाम्ल तथा रालीय पदार्थ होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—तिक्त
विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह तिक्त-उष्ण होने से दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तवर्धक और रक्तशोधक है।

तापक्रम—यह तिक्त होने से ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, यकृद्विकार और कृमिरोग में यह लाभकर है। कृमि में इसके क्वाथ की बस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्ताल्पता तथा रक्तविकारों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वरों में यह उपयोगी है। इससे ज्वर दूर होता है तथा यकृत् की क्रिया सुधरती है और शरीर का बल बढ़ता है।

सात्मीकरण—ग्रहणी या ज्वर के बाद उत्पन्न दुर्बलता में यह विशेष लाभ करता है।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल।

मात्रा—१-३ ग्रा०

१४६. चित्रक

परिचय

गण—दीपनीय, तृप्तिघ्न, शूलप्रशमन, भेदनीय, अर्शोघ्न, लेखनीय, कटुकस्कन्ध; (च०); पिप्पल्यादि, मुस्तादि, आमलक्यादि, मुष्ककादि, वरुणादि, आरग्वधादि (सु०) पञ्चकोल, षड्रूषण (भा. प्र.)।

कुल—चित्रक-कुल (प्लम्बेजिनेसी-Plumbaginaceae)।

नाम—लै०-प्लम्बेगो जिलेनिका (Plumbago zeylanica Linn.); सं०-चित्रक, अग्नि (तीक्ष्ण, आग्नेय); हि० चीता; बं०-चिता; म०-चित्रमूल; गु०-चित्रो; ता०-चित्तिर; ते०-तेलचित्र, अ०-शीतरज; फा०-शीतरः; अं०-लेडवर्ट (Leadwort)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु छोटा झाड़ीदार **क्षुप** २-४ फुट ऊंचा होता है। **पत्र**-अभिमुख, लट्वाकार या आयत लट्वाकार, ३ इंच लम्बे और १½ इंच चौड़े तीक्ष्णाग्र, पत्राधार सहसा संकीर्ण होकर एक छोटे काण्डसंसक्त पत्रवृन्त में परिणत हो जाता है। **पुष्पदण्ड**-४-१२ इंच लम्बा, प्रायः शाखायुक्त होता है जिस पर लम्बी नलिकावाले श्वेतवर्ण, निर्गन्ध ½-¾ इंच व्यास के पुष्प गुच्छों में लगे रहते हैं जिनके वाह्यकोश में सवृन्त चिपचिपी ग्रन्थियाँ होती हैं। कोणपुष्पक-½ इंच लम्बे, लट्वाकार तीक्ष्णाग्र होते हैं। **फल**-यवाकार लम्बगोल, नुकीला, चिपचिपे ग्रन्थिमय स्थायी बाह्यकोश में होता है जिसके भीतर एक लम्बा बीज होता है। **मूल**-अंगुलिवत् मोटे होते हैं। ये भंगुर, बाहर से कृष्णाभ अरुण और भीतर श्वेत होते हैं। छाल पर छोटे-छोटे उभार होते हैं जो उपमूलों के अवशेष हैं। इसका स्वाद कटु, तीक्ष्ण और गन्ध अप्रिय होती है। सितम्बर-नवम्बर में पुष्प लगते हैं। फल पकने में एक मास लगता है।

जाति—श्वेत और रक्त दो प्रकार के चित्रक हैं। श्वेत का वर्णन ऊपर किया गया है। रक्त चित्रक प्लम्बेगो इण्डिका (Plumbago indica Linn.) है। इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं। राजनिघण्टु ने दो प्रकार का चित्रक लिखा है। हूकर ने इन्हीं दो प्रजातियों का वर्णन किया है। कुछ लोग नील चित्रक का भी उल्लेख करते हैं। वह P. auriculata Lam. नामक पौधा है जिसके पुष्प नीलाभ होते हैं। यह दक्षिण अफ्रीका का मूल निवासी है।

उत्पत्तिस्थान—श्वेत चित्रक विशेषतः बंगाल, उत्तरप्रदेश, दक्षिणभारत तथा श्रीलंका में होता है। रक्त चित्रक खासिया पहाड़, सिक्किम, कूचविहार में अधिक मिलता है। संप्रति इसकी खेती समस्त भारत में की जाती है।

रासायनिक संघटन—मूल में एक कटु, स्फटिकीय, पीत, सूच्याकार तत्त्व होता है जिसका नाम प्लम्बेजिन (Plumbagin) है। यह अधिक से अधिक

०.६१ प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्र द्राक्षशर्करा, फलशर्करा तथा प्रोटिएज और इनवर्टेज किण्वतत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण-उष्ण होने के कारण यह लेखन और विस्फोट-जनन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अल्पमात्रा में उत्तेजक तथा अतिमात्रा में देने में यह मादक है।

पाचनसंस्थान—यह कटु, उष्ण तथा तीक्ष्ण होने से दीपन, पाचन, पित्त-सारक, ग्राही और कृमिघ्न होता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तकोपक है। शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—यह तीव्र गर्भाशयसंकोचक तथा गर्भस्रावकर है। जननेन्द्रियों को उत्तेजित करने से वाजीकरण भी है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है और त्वचा के रोगों को नष्ट करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—श्लीपद, शोथ तथा श्वित्र आदि चर्मविकारों में लेप करने से विस्फोट उत्पन्न होते हैं और फूटने पर विकार बाहर निकल जाता है। आमवात आदि रोगों में भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, यकृद्विकार, ग्रहणी, अर्श तथा कृमिरोगों में यह उपयोगी है। दीपन, पाचन तथा गुदशोथ, अर्श (शुष्क) तथा शूल का नाश करने वाले द्रव्यों में चित्रक सर्वोत्तम कहा गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ में लाभकर है। विशेषतः यकृत्प्लीहा और गुदा के शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण प्रतिश्याय तथा कास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, प्रसूतिविकार तथा मक्कल्लशूल में इसका प्रयोग करते हैं। इससे दूषित रक्त बाहर निकल जाता है और तज्जन्य उपद्रव शान्त होते हैं। ध्वजभङ्ग में भी इसका बाह्य और आभ्यन्तर प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्ण तथा विषम ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है। यकृत् की क्रिया सुधरती है। प्लीहा का काठिन्य दूर होता है और पाचन सुधरने से स्वास्थ्य में वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में यह लाभकर है। सुश्रुत और वाग्भट ने इसका रसायन प्रयोग बतलाया है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक् (नई काम में लानी चाहिए)।

मात्रा—१–२ ग्रा०

विशिष्ट योग—चित्रकादि गुटिका, चित्रकहरीतकी, चित्रकघृत, चित्रकादि चूर्ण।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने पर यह क्षोभक और मादक विष है। इससे गला, आमाशय और समस्त शरीर में दाह होता है, जी मिचलाता है, वमन और अतिसार होता है, मूत्रकृच्छ्र होता है; नाडी क्षीण और वक्र हो जाती है, त्वचा अवसन्न और शीतल हो जाती है। गर्भावस्था में देने से श्रोणिप्रदेश में स्थित अवयवों में दाह होता है और अतिसार होने लगता है। मूत्र बूँद-बूँद कर आने लगता है, गर्भाशय से रक्तस्राव होने लगता है और गर्भाशय का संकोच तीव्र होने से ३–६ घण्टे में गर्भपात हो जाता है।

चिकित्सा—पित्तशामक स्निग्ध-शीत द्रव्यों का व्यवहार करते हैं।

× × ×

'चित्रकः कटुकः पाके वह्निकृत् पाचनो लघुः। रूक्षोष्णो ग्रहणीकुष्ठशोथार्शःकृमिकासनुत्॥
वातश्लेष्महरो ग्राही वातार्शःश्लेष्मपित्तहृत्।' (भा. प्र.)

'चित्रकोऽग्निसमः पाके कटुकः कफशोफजित्।
वातोदरार्शोग्रहणीकृमिपाण्डुविनाशनः॥' (ध. नि.)

'चित्रकमूलं दीपनीयपाचनीयगुदशोथार्शःशूलहराणाम्।' (च. सू. २५)

'यथास्वं चित्रकः पुष्पैः ज्ञेयः पीतसितासितैः।
यथोत्तरं स गुणवान् विधिना च रसायनम्॥
छायाशुष्कं ततो मूलं मासं चूर्णीकृतं लिहन्।
सर्पिषा मधुसर्पिर्भ्यां पिबन् वा पयसा यतिः॥
अम्भसा वा हिताशी शतं जीवति नीरुजः।
मेधावी बलवान् कान्तो वपुष्मान् दीप्तपावकः॥

तैलेन लीढो मासेन वातान् हन्ति सुदुस्तरान् ।
मूत्रेण श्वित्रकुष्ठानि पीतस्तक्रेण पायुजान् ॥
(अ० हृ० उ० ३९।६२-६५)

W. I., VII, 162–164.
F. I., III, 480–481.
B, B. O., II, 529–530.

१४७. मरिच

परिचय

गण—दीपनीय, शूलप्रशमन, कृमिघ्न, शिरोविरेचन (च); पिप्पल्यादि, त्र्यूषण (सु०) ।

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी–Piperaceae) ।

नाम—लै०-पाइपर नाइग्रम (Piper nigrum Linn.); सं०-मरिच, वेल्लज (लताओं में होने वाला); कृष्ण (फल कृष्णवर्ण); ऊषण (कटु), सुवृत्त (फल गोलाकार); हि०-काली मिर्च, गोल मिर्च; मिरिच; बं०-गोलमरिच; म०-मिरीं; गु०-मरी, कालामरी; ता०-मिलागू; ते०-मिरियालतिगे; कन्न०-कारे मनेसु; मल०-नल्लमुलकु; अ०-फिल्फिल् अस्वद; फा०-फिल्फिल् स्याह, अं०-ब्लैक पीपर (Black Pepper) ।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु, शाखान्वित, झाड़ीदार, आरोहिणी **लता** होती है जो नारियल, सुपाड़ी आदि के वृक्षों पर चढ़ी रहती है या बाँस गाड़ कर उसके सहारे चढ़ाई जाती है। शाखायें दृढ़ और प्रसरणशील होती हैं तथा इनके पर्वों से मूल बाहर निकलते हैं जिनके द्वारा यह वृक्षों पर चिपकी रहती है। **पत्र**-ताम्बूलाकार ५–७ इञ्च लंबे, २–५ इञ्च चौड़े, २–३ जोड़ी दृढ सिराओं से युक्त होते हैं। **पुष्प**-छोटे और एकलिंगी मंजरियों में होते हैं किन्तु प्रायः स्त्री-पुष्पों में दो परागकोष तथा पुंपुष्पों में एक स्त्रीकेशर होता है। द्विलिंगी पुष्प जितने अधिक होंगे, उपज उतनी ही अधिक होगी। **फल**-गोल या अण्डाकार गुच्छों में होते हैं। ये कच्चे में हरे और पकने पर रक्तवर्ण तथा सूखने पर कृष्णवर्ण हो जाते हैं। **बीज**-प्रायः गोलाकार, बीजावरण-पतला और बीजमज्जा कठिन होती है। जून-जुलाई में पुष्प आते हैं तथा दिसम्बर से मार्च तक फल आते हैं जब इनका संग्रह किया जाता है। एक पौधा २५–३० वर्षों तक अच्छी उपज देता है उसके बाद फलों में कमी आने लगती है। कभी-कभी १०० वर्षों तक फल देते देखा गया है। प्रायः साल में दो उपज ली जाती है एक अगस्त-सितम्बर और दूसरी मार्च-अप्रिल में।

जाति—संहिताओं तथा निघण्टुओं ने श्वेत मरिच' का उल्लेख किया है। कुछ ने शिग्रुबीज को श्वेतमरिच कहा है। वस्तुतः काली मिर्च के पके फलों को पानी

में भिगो, ऊपर का छिलका उतार कर सफेद मिर्च के नाम से बेचते हैं। छिलका हटाये जाने के कारण इसमें कटुता और तीक्ष्णता कम होती है। शिग्रुबीज इसके प्रतिनिधि रूप में प्रचलित हुआ।

उत्पत्तिस्थान—यह मलयेशिया, इण्डोनेशिया, श्रीलंका और भारत में होता है। उष्ण और आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। भारत में केरल, तामिलनाडु, कर्नाटक और कुछ आसाम में इसकी खेती होती है। व्यापार में मुख्यतः दो प्रसिद्ध हैं एक-मलाबार और दूसरी तेलिचेरी की।

रासायनिक संघटन—फलत्वक् में पाइपरिन (Piperine) ५–१०%, पाइपरिडिन (Piperidine) ५%, पाइपरेटिन (Piprettine) तथा चविकिन (Chavicine) होते हैं। इन्हीं क्षाराभों के कारण मरिच में कटुता होती है। इसके अतिरिक्त, सुगन्धित उड़नशील तैल १–२.६ तथा वसा ७, सूत्र १४.६, आर्द्रता १३.२, प्रोटीन ११.५, कार्बोहाइड्रेट ४१.२, खनिज पदार्थ ४.४%, कैलशियम४६०, फास्फोरस १६८, लौह १६.८, थियामिन ०.०६, राइबोफ्लेविन ०.१४, निकोटिनिक अम्ल १.४ मि० ग्रा०। प्रति १०० ग्रा० तथा विटामिन ए १८०० इ. यु. / प्रति १०० ग्रा० होता है। मरिच तैल (Oil of Pepper) बनाने के लिए प्रायः छँटे हुए फलों और छिलकों का उपयोग किया जाता है।

संग्रहविधि—मरिच (काली मिर्च)—काली मिर्च सुखाये हुए पूर्ण प्रौढ कच्चे (हरे) फल होते हैं। यह प्रायः आकृति में गोलाकार, ३–४ मि०मि० व्यास का, गहरी सिकुड़नभरी त्वचा से युक्त होती है। इसके भीतर एक बीज होता है तथा केन्द्र में रिक्त होता है।

जब फल तैयार हो जाते हैं तब सीढी के सहारे लता से फलमञ्जरियों को अलग कर लेते हैं। इन्हें फिर चटाई या पक्के फर्श पर फैला कर एक सप्ताह तक धूप में सुखाते हैं। बीच-बीच में उलटते-पलटते रहते हैं। उसके बाद डण्डे से पीट कर या पाँव से मसल कर फलों को डंठल से पृथक् कर दिया जाता है। फिर अच्छे फलों को हाथ से चुन कर रख लेते हैं और डंठल, पत्तियों, छोटे तथा कच्चे फलों एवं अन्य अशुद्धियों को हटा देते हैं। इस प्रकार २६–३६% काली मिर्च प्राप्त होती है।

श्वेत मरिच (सफेद मिर्च)—पके फलों का छिलका हटा कर सुखाने से श्वेत मरिच तैयार होता है। छिलका हाथ से रगड़ कर या पानी में फुला कर छुड़ाते हैं। इण्डोनेशिया श्वेत मरिच की उपज और आयात का प्रमुख केन्द्र है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

ताजा (आर्द्र) फल गुरु, मधुरविपाक और नात्युष्ण है।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से वात तथा कटु, रूक्ष और तीक्ष्ण होने से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडियों के लिए उत्तेजक और बल्य है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह लालास्रावजनक, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कटु और तीक्ष्ण होने से कफघ्न और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्णता के कारण मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करता है, फलतः इससे मूत्र का परिमाण बढ़ता है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में यह तीक्ष्णता के कारण शरीर के समस्त स्रोतों से मलों को बाहर कर स्रोतःशोधन करता है। अत एव यह 'प्रमाथी' द्रव्यों में प्रधान माना गया है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—श्वित्र, किलास, पामा आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं या तैल में मिलाकर लगाते हैं। शोथ-वेदना युक्त विकारों में भी लेप करते हैं। फुंसियों पर लेप करने से बैठ जाती हैं। नक्तान्ध्य, अर्म, शुक्ल आदि में मरिच को मधु में घिस कर अंजन करते हैं। दन्तशूल तथा दन्तकृमि में इसका मञ्जन करते हैं या इसके क्वाथ से गंडूष करते हैं या इसको मुँह में रख कर चूसते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा अन्य वातविकारों में यह लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, आध्मान, शूल एवं कृमिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—ध्वजभंग और रजोरोध में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वरों में, विशेषतः शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे शैत्य का कष्ट कम होता और ज्वर भी घटता है।

सात्मीकरण—स्रोतोरोध दूर करने के लिए उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—½-१ ग्रा०

विशिष्ट योग—मरिचादि गुटिका, मरिचादि तैल, मरिचादि चूर्ण, मरिचाद्य घृत।

अपमिश्रण—इसमें बहुधा पपीते अथवा अन्य तत्सदृश वनस्पतियों के बीज मिला देते हैं। काली मिर्च की पहचान स्टार्च तथा उड़नशील तैल की अधिक मात्रा के द्वारा होती है।

× × ×

'मरिचं कटुकं तीक्ष्णं दीपनं कफवातजित्। उष्णं पित्तकरं रूक्षं श्वासशूलकृमीन् हरेत्॥
यदार्द्रमधुरं पाके नात्युष्णं कटुकं गुरु। किञ्चित्तीक्ष्णगुणं श्लेष्मप्रसेकि स्यादपित्तलम्॥,
(भा. प्र.)

'स्वादुपाक्यार्द्रमरिचं गुरु श्लेष्मप्रसेकि च। कटूष्णं लघु तच्छुष्कमवृष्यं कफवातजित्॥
नात्युष्णं नातिशीतं च वीर्यतो मरिचं सितम्। गुणवन्मरिचेभ्यश्च चक्षुष्यं च विशेषतः॥
(सु. सू. ४६)

'नात्यर्थमुष्णं मरिचमवृष्यं लघु रोचनम्। छेदित्वाच्छोषणत्वाच्च दीपनं कफवातजित्॥'
(च. सू. २७)

'लिह्यान्मरिचचूर्णं वा सघृतक्षौद्रशर्करम्। सर्वकासहरं श्रेष्ठं लेहं कासार्दितो नरः॥'
(च. चि २२)

'मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।' (च. सू. ३)

W. I., VIII, 99–114.

F. I., V, 90.

१४८. जीरक

परिचय

गण—शूलप्रशमन, शिरोविरेचन (च०), पिप्पल्यादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-क्युमिनम् साइमिनम् (Cuminum cyminum Linn.); सं०-जीरक, जरण (पाचन), अजाजी, दीर्घजीरक (बीज बड़े होने से); हि०-जीरा, सफेद जीरा; बं०-जीरा; म०-जिरें; गु०-जीरुं; ता०-चीरकम्; ते०-जीलकरी; कन्न०-जीरिगे; मल०-जोरेकम; अ०-कम्मून, अव्यज; फा०-जीरए सफेद; अं०-क्युमिन सीड (Cumin seed)।

स्वरूप—इसका कोमल **क्षुप** सौंफ के सदृश प्रायः १ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-बहुशाखायुक्त, कोणीय या धारीदार होता है। **पत्र**-दो या तीन में विभक्त, रेखाकार, नीलाभ हरितवर्ण, कोषीय आधार वाले होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण या गुलाबी संयुक्त मुण्डकों में होते हैं। **फल**-धूसरवर्ण, प्रायः ¼ इञ्च लम्बे, अग्र और मूल भाग की ओर पतले, पार्श्व भाग में उभरी धारियों से दबे हुए जिन पर रोम होते हैं। शीतकाल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है। विशेष कर उत्तर प्रदेश, राजस्थान और पंजाब में इसकी खेती होती है। एशिया माइनर और फारस से भी आता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल २-४ प्रतिशत होता है जिसके कारण इसका स्वाद और गन्ध होती है। इसमें २०-४० प्रतिशत क्युमैल्डिहाइड (cumaldehyde) रहता है। इसके अतिरिक्त, बीजों में स्थिर तैल १०% होता है। इसके अतिरिक्त, आर्द्रता ११.६, प्रोटीन १८.७, कार्बोहाइड्रेट ३६.६, सूत्र १२, खनिज द्रव्य ४.८ प्रतिशत, कैल्शियम १.०८, फास्फोरस ०.४६, लौह ३१ मि० ग्रा०। प्रति १०० ग्रा०, विटामिन ए ८७० इ० यु०, विटामिन सी ३ मि० ग्रा०। प्रति १०० ग्रा० होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप लेखन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, शूल-प्रशमन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक और रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ को दूर करता है तथा स्तन्यजनन है। उष्ण होने से वृष्य भी है।

त्वचा—त्वग्दोषों को दूर करता है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक के रूप में कार्य करता है और क्रमशः बल की वृद्धि करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त स्थानों में जीरा का लेप करते हैं। त्वचा के वर्णविकारों तथा कंडू, पामा आदि रोगों में इसका लेप करते हैं तथा इसके पानी से धोते हैं। अर्श में भी इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका महीन चूर्ण सुरमे की तरह लगाते हैं। वृश्चिकविष में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, ग्रहणी, अर्श एवं कृमि रोगों में यह उपयोगी है। इन रोगों में जीरा भून कर उसका चूर्ण मधु से देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात, पूयमेह तथा अश्मरी में जीरे का चूर्ण चीनी या मिश्री के साथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—श्वेतप्रदर में तथा वाजीकरणार्थ इसका प्रयोग होता है। स्तन्यवर्धनार्थ गुड़ के साथ जीरे का चूर्ण खिलाते हैं। प्रसूता स्त्रियों को गर्भाशय-विशोधन, स्तन्यजनन, बलवर्धन आदि कर्मों के लिए इसका सेवन कराते हैं।

त्वचा—यह चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—नवीन तथा पुराण ज्वरों में, विशेषतः वातप्रधान में इसका चूर्ण देते हैं।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में बलवृद्ध्यर्थ इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—३-६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—जीरकादि मोदक, जीरकाद्य चूर्ण, जीरकाद्य तैल, जीरकाद्यरिष्ट।

× × ×

'जीरकं कटुकं रूक्षं वातकृद्दीपनं परम्। गुल्माध्मानातिसारघ्नं ग्रहणीकृमिहृत् परम् ॥
(ध. नि.)

'तीक्ष्णोष्णं कटुकं पाके रुच्यं पित्ताग्निवर्धनम्।
कटु श्लेष्मानिलहरं गन्धाढ्यं जीरकद्वयम् ॥ (सु. सू. ४६)

'शुभ्रजीरं कटु ग्राहि पाचनं दीपनं लघु। किञ्चिदुष्णं च मधुरं चक्षुष्यं रुचिकृन्मतम् ॥
गर्भाशयशुद्धिकरं रूक्षं बल्यं सुगन्धिकम्। तिक्तं वमिश्वयाध्मानं वातं कुष्ठं विषं ज्वरम्।
अरोचकं रक्तदोषं अतिसारं कृमींस्तथा। पित्तं च गुल्मरोगं च नाशयेदिति कीर्तितम् ॥'
(नि. र.)

'अजाजी गुडसंयुक्ता विषमज्वरनाशिनी। अग्निसादं जयेत् रुच्यग् वातरोगांश्च नाशयेत्॥
(च. द.)

जीरकस्य कृतः कल्को घृतसैन्धवसंयुतः। सुखोष्णो वृश्चिकार्त्तानां सुखलेपो व्यथापहः॥'
(च. द.)

W. I. II, 396-398.

१४९. कृष्णजीरक

परिचय

कुल—शतपुष्पा-कुल-(अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-कैरम बल्बोकैस्टेनम (Carum bulbocastanum W. Koch.)। सं०-कृष्णजीरक, काश्मीरजीरक (कश्मीर में होने के कारण)। हि०-स्याहजीरा; म०-शहाजिरें; गु०-शाहजीरू; ता०-शिमाईशिरगम; ते०-शीमा-जिलकर; अ०-कमूने अरमनी; फा०-जीरए स्याह; अं०-ब्लैक कैरवे (Black Caraway)।

वक्तव्य—भावप्रकाश में जीरक, कृष्णजीरक और कारवी (पृथ्वीका, उपकुञ्चिका) को जीरकत्रितय कहा है। कृष्णजीरक का वर्णन यहाँ किया गया है। कारवी, मेरे विचार से, कैरम कार्वी (Carum carvi Linn.) है जिसे अरबी और फारसी में करोया कहते हैं। कृष्णजीरक और कारवी बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। प्रायः भेद करना कठिन होता है। कारवी के फल मुड़े हुए, दोनों सिरों पर नुकीले बड़े तथा हलके रंग के होते हैं। संप्रति अधिकांश वैद्य कम्पनी से मंगरैल लेते हैं किन्तु जीरकत्रितय में तीन प्रकार के जीरक ही लेना उपयुक्त है, मंगरैल नहीं। मंगरैल विदेशी द्रव्य है जिसका समावेश बाद में कारवी के प्रतिनिधि रूप में कर लिया गया प्रतीत होता है। वस्तुतः कृष्णजीरक में (C. bulbocastanum or C. carvi दोनों द्रव्य आजकल चल रहे हैं। इसकी लगभग १० प्रजातियाँ इसमें मिलाई जाती हैं।

स्वरूप—इसका क्षुप चिकना तथा मूल कन्दमय होता है। **काण्ड**-६-३० इञ्च ऊँचा, उत्थित, शाखायुक्त होता है। **पत्र**-द्विधा या त्रिधा पक्षवत्, महीन कटे हुए, ऊपर के पत्ते अपेक्षाकृत छोटे होते हैं। पुष्पव्यूह छत्राकार होता है जिसमें ६-१६, १½ इञ्च लंबे पुष्प होते हैं। **फल**-⅛-⅙ इञ्च लंबे, पीताभ भूरे, प्रायः चिपचिपे, उभारें (ridges) पतली और स्पष्ट तथा तैलनलिकायें (Vittae) एकल और बड़ी होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर, गढवाल, कुमाऊँ, अफगानिस्तान और बलूचिस्तान में ६-११ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल २% होता है जिसके कारण तीक्ष्ण गन्ध होती है। कारवी में उडनशील तैल २२·७-·८%, स्थिर तैल और राल ६.२-१०.१% होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, ग्राही और उत्तम वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयशोधन तथा स्तन्यजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अरुचि, वमन, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, संग्रहणी में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूति-विकारों में गर्भाशय-शोधन, स्तन्यजनन एवं दोषन के लिए यह प्रयुक्त होती है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करने से ज्वर शान्त होता है, अग्नि बढ़ती है तथा अन्न का पाचन ठीक होने से बल की वृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ ग्रा०।

× × × ×

'जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत्॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत्॥'
(भा. प्र.)

'जरणा कटुरुष्णा च कफशोफनिकृन्तनी। रुच्या जीर्णज्वरघ्नी च चक्षुष्या ग्राहिणी परा॥'
(ध. नि.)

W. I., II, 88-89.

A. K. Dutt : J. R. I. M. VIII, 2, 1973

पाचन

१५०. मुस्तक

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण, लेखनीय, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन (च०), मुस्तादि, वचादि (सु०)।

कुल—मुस्तक-कुल (साइपरेसी-Cyperaceae)।

नाम—लैं०-साइपरस् रोटण्डस (Cyperus rotundus Linn.); सं०-मुस्तक, वारिद (मेघ के सदृश श्यामवर्ण या जल से सम्बन्ध होने के कारण); हि०-मोथा, नागरमोथा; बं०-मुथा; म०-गु०-मोथ, नागरमोथ; ता०-मुथाकच; कोरइ; ते०-तुङ्गमुस्ते; क०-तुंगेगड्ढे; अ०-सोअद् कूफी; फा०-मुश्के जमीं। अं०-नट ग्रास (Nut grass)

स्वरूप—इसका तृणजातीय बहुवर्षायु **क्षुप** ½-२ फुट ऊँचा होता हैं। इसका पतला काण्ड, गहरे हरे रंग का, अन्तर्भूमिज कन्दों के बीच से निकलता है जो ऊपरी भाग में त्रिकोणाकार होता है। **पत्र**-लम्बे, प्रायः मूलीय, ⅙-⅕ इंच चौड़े नुकीले होते हैं। पुष्पमुण्डक-प्रायः संयुक्त, पुष्पवाहक शाखायें ३-८, पुष्प-२-८ इंच लम्बे होते हैं। काण्ड का ग्रन्थिल स्थूल आधारभाग सहसा संकुचित होकर सूत्रवत् भौमिक काण्ड में परिणत हो जाता है जिससे लगभग ½ इंच व्यास के, अंडाकार, बाहर कृष्ण वर्ण या भूरे, भीतर श्वेत, सुगन्धित अनेक कन्द लगे रहते हैं। ये कन्द शूकर को अतिप्रिय हैं। गड्ढो में सूअर इनकी जड़ खोद कर कन्द खाते रहते हैं। वाराह, क्रोडकशेरुक इसी तथ्य का संकेत करते हैं। पुष्प-फल जुलाई-दिसम्बर में लगते हैं।

जाति—धन्वन्तरिनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में मुस्तक तीन प्रकार का बतलाया है—१.मुस्तक (भद्रमुस्तक), २.नागरमुस्तक, ३.जलमुस्तक (कैवर्त्तमुस्तक)। भावप्रकाश में भी ये तीन प्रकार हैं किन्तु भद्रमुस्त और नागरमुस्त पर्याय रूप में एक ही माना है। cyperus की प्रजातियाँ यथा रोटण्डस, स्केरिओसस, एस्कुलेण्टस, बलबोसस आदि इतने मिलते-जुलते हैं कि व्यवहार में इन प्रकारों का भेद करना कठिन हो गया है। मेरे विचार से, C. rotundus को मुस्तक या भद्रमुस्तक मानना चाहिए। नागरमुस्तक कामशास्त्र में निर्दिष्ट नागरकों का मुस्तक है जिसे उच्चटा भी नाम दिया गया है। राजनिघण्टु में इसका पर्याय चूड़ाला, उच्चटा आदि किया है और अमरकोष में भी उच्चटा को मुस्ताविशेष कहा है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए चिच्चोड (C. esculentus Linn.) को नागरमुस्तक मानना चाहिए। यह

वृष्य एवं पौष्टिक है। इसके कन्द में एक सुगंधित एवं सुस्वादु तैल (chufa oil) २०-२८% होता है। इसके अतिरिक्त, प्रोटीन ५·२१%, स्टार्च २२·७२%, अन्य कार्बोहाइड्रेड २४·७६ प्रतिशत होता है। C. scariosuss R.Br. को नागरमुस्तक मानने में कोई युक्ति नहीं है कारण कि यह प्रायः C. rotundus के समान ही है।

जलमुस्तक या कैवर्त्तमुस्तक गंगा किनारे होनेवाला C. platystilis Br. या धान के खेतों में होने वाला C. amabilis Vahl. हो सकता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के जलीय तथा आर्द्रप्रदेश में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में एक सुगन्धित तैल ०·५-०·९ प्रतिशत होता हैं। अवशिष्ट अंश से एक स्थिर तैल भी प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कटु, कषाय

विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कटु-कषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप त्वग्दोषहर, शोथहर, लेखन तथा स्तन्यजनन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और नाड़ियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, पाचन, ग्राही, तृष्णानिग्रहण और कृमिघ्न है। मुस्ता संग्राहक तथा दीपन-पाचन द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक, स्तन्यजनन और स्तन्यशोधन है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्डू आदि त्वचा के विकारों में लेप करते हैं। स्तनों पर लेप करने से स्तनों की वृद्धि होती है और दूध बढ़ता है। नेत्ररोगों में अंजन भी करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा अपस्मार में इसका कल्क गोदुग्ध से सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, संग्रहणी, तृष्णा और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। कृमि में बड़ी मात्रा देनी पड़ती है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, सूतिकारोग तथा स्तन्यविकारों में लाभकर है।

तापक्रम—कण्डू, पामा आदि चर्मरोगो में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, तृष्णा आदि उपद्रव शान्त होते हैं तथा बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा अनेक विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०; क्वाथ ५०–१०० मि०लि०।

विशिष्ट योग—मुस्तकादि क्वाथ, मुस्तकारिष्ट, मुस्तादि चूर्ण, मुस्तादि लेह, षडंगपानीय।

× × × ×

मुस्तं हिमं कटु ग्राहि तिक्तं दीपनपाचनम्। कषायं कफपित्तास्रतृड्ज्वरारुचिजन्तुजित्॥'

अनूपदेशे यज्जातं मुस्तकं तत् प्रशस्यते।
तत्रापि मुनिभिः प्रोक्तं वरं नागरमुस्तकम्॥' (भा. प्र.)
'मुस्ता तिक्तकषायातिशिशिरा श्लेष्मरक्तजित्।
पित्तज्वरातिसारघ्नी तृष्णाकृमिविनाशिनी॥' (ध. नि.)

'मुस्ता संग्राहकदीपनीयपाचनीयानाम्।' (च. सू. २५)

'क्वाथश्च मुस्तककृतः समधुः सुशीतः पीतः प्रवृद्धमतिसारगदं निहन्ति।' (वंगसेन)

M. P. I., II, 323–325.
B. B. O, III, 946.
W. I., II, 423–425.

१५१. एरण्डकर्कटी

परिचय

कुल—एरण्डकर्कटी-कुल (कैरिकेसी–Caricaceae)।

नाम—लै०–कैरिका पपाया (Carica papaya Linn.); सं०–एरण्ड-कर्कटी; हि०–पपीता, बं०–पपेया, म०–पपाया; गु०–पपयी:, ता०–पप्पलि; ते०–

बोप्पयी; कन्न०–परंगीमारा, अ०–शज्रतुल्बतीख; फा०–दरख्तखुरपूजा; अं०–पापा या पपाया (Papaw or papaya)।

स्वरूप—इसका सुकुमार **वृक्ष** १०–२५ फुट ऊँचा होता है। शाखा-प्रशाखायें प्रायः नहीं होती, काण्ड सीधा और लंबा होता है। **पत्र**–शीर्षस्थ, ताड़ के पत्ते के सदृश छत्राकार, विस्तृत और गहरे खण्डों में विभक्त होते हैं। पत्रवृन्त–३ फुट तक लंबा और सुषिर होता है। **पुष्प**–प्रायः एकलिंगी होते हैं। बहिर्दल और अन्तर्दल पर्यायित चक्रों में होते हैं। **पुष्प**–हरिताभ-श्वेत या श्वेत होते हैं। स्त्रीपुष्प–बड़े, प्रायः एकाकी या छोटी मंजरियों में तथा पुंपुष्प–बड़ी मंजरियों में होते हैं। **फल**–एककोष्ठीय, लंबगोल, कच्चे में हरे और पकने पर पीताभ हो जाते हैं। कच्चे फल से गाढ़ा दूध निकलता है। फल वृक्ष के शीर्षभाग के पास पत्तियों के आधार भाग में गुच्छबद्ध होते हैं। **बीज**–अनेक, छोटे, कृष्ण या धूसर वर्ण के होते हैं। पुष्प-फल शरद् और हेमन्त में आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल वासस्थान दक्षिण अमेरिका का ब्राजिल नामक प्रदेश है। वहाँ से पुर्तगालियों के द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। पुर्तगाली भाषा में इसे 'पपीता' (Pepita) कहते हैं उसी के अनुकरण पर यहाँ भी इसका नाम 'पपीता' प्रसिद्ध हुआ। संप्रति भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसके दूध में एक पाचक तत्त्व होता है इसे 'पापेन' (Papain) कहते हैं। यह मुख्यतः फल में और अक्ष्पमात्रा में मूल, पत्र तथा काण्ड में भी पाया जाता है। ताजे फल की मज्जा में पीत रालीय पदार्थ, शर्करा, पेक्टीन, निम्बुकाम्ल, चिञ्चाम्ल, सेवाम्ल तथा पापेन होते हैं। फलों में विटामिन पर्याप्त मात्रा में होते हैं–विटामिन ए–२०००–३०० इ० यु०, थियामिन १५–६३ मा. ग्रा., राइबोफ्लेविन २३–८३ मा. ग्रा., नियासिन ०.१५–०.७६ मि. ग्रा., विटामिन सी० ३२–१३६ मि. ग्रा. प्रति १०० ग्राम होता है। सूखे फल में ८.४ प्रतिशत क्षार होता है जिसमें सोडियम, पोटाशियम और स्फुरकाम्ल रहते हैं। बीजों में एक स्थिरतैल २५.३% तथा उड़नशील तैल ०.०९%, एक ग्लाइकोसाइड कैरिसिन (Caricine) तथा माइरोसिन (Myrosin) नामक किण्वतत्त्व होता है। इनसे एक गन्धकयुक्त पदार्थ, कार्पासेमिन (Carpasemine) प्राप्त होता है। पत्तियों में कार्पेन (Carpaine) नामक क्षाराभ तथा कार्पोसाइड (Carposide) नामक ग्लुकोसाइड होता है।

संग्रहविधि—प्रौढ़ कच्चे फल में चीरे लगा कर दूध को एकत्रित कर छाया में सुखा ले। इस प्रकार जब यह गाढा हो जाय तब वातशून्य पात्र में रख ले। इससे फिर हलके भूरे या पीताभ चूर्ण रूप में पापेन प्राप्त किया जाता है। दूध से २०% पापेन निकलता है। पापेन में दूध जमाने तथा प्रोटीन पचाने की प्रभूत शक्ति होती

है। इसके अतिरिक्त, दूध में काइमोपापेन (Chymopapain) नामक एक किण्व-तत्त्व होता है जिसमें दूध जमाने की शक्ति तो उतनी ही है किन्तु प्रोटीन-पाचन शक्ति आधी रहती है। पापेन में विशेषता है कि यह Ph (क्षाराम्लता) के बड़े क्षेत्र में कार्य करता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पका फल पित्तशामक भी है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध लेखन, पत्र और बीज शोथहर तथा वेदनास्थापन हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसके बीज और क्षीर वेदनास्थापन हैं।

पाचनसंस्थान—दूध में स्थित पाचक तत्त्व की क्रिया पेप्सिन के सदृश किन्तु उससे उत्तम होती है। इसका १ भाग २५० भाग मांस को पचा देता है। आधा ग्राम सत्त्व आधा लिटर दूध को पचा सकता है। यह कृमिघ्न है विशेषतः गण्डूपद कृमियों (Round worms) पर इसकी क्रिया होती है। वातानुलोमन और यकृदुत्तेजक भी है।

रक्तवहसंस्थान—पत्तियों में स्थित कार्पेन नामक तत्त्व की क्रिया हृदय पर डिजिटेलिस के समान होती है। इससे हृदय का स्पन्दन कम होता है, उसका विश्रामकाल तथा बल बढ़ता है। यह शोथहर एवं रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज और क्षीर आर्त्तवजनन तथा फल स्तन्यजनन है।

त्वचा—इसका क्षीर स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है। पत्र भी स्वेदजनन है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न, कटुपौष्टिक और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पका फल पैत्तिक विकारों में भी देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका दूध गलरोग, कण्ठरोहिणी, जिह्वाव्रण आदि में लगाया जाता है। पामा, दद्रु, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं। अर्बुद, ग्रन्थि आदि पर भी इसका लेप करते हैं। प्राणियों के दंशस्थान पर

विशेषतः बिच्छू के विष में इसे लगाने से अत्यधिक लाभ होता है। वातव्याधि में पत्तियों को गरम कर सेंकते हैं और बीजों से सिद्ध तैल का अभ्यंग पक्षाघात, अर्दित, चर्मरोग आदि में करते हैं। श्लीपद में पत्रकल्क का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातविकारों (पक्षाघात, आमवात आदि) में इसके बीज और क्षीर का प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ग्रहणी, उदरशूल, यकृत्प्लीहवृद्धि, अर्श और कृमि में इसका दूध देते हैं और कच्चे फल का शाक खिलाते हैं। यकृत्प्लीहवृद्धि में १० ग्रा० ताजा दूध तीन ग्रा० चीनी मिला कर देते हैं। गंडूपद कृमि में १० ग्रा० दूध, १० ग्रा० मधु, २० मि० लि० गरम जल मिलाकर ठंढा होने पर देते हैं और २ घण्टे बाद एरंडतेल का विरेचन देते हैं। हृद्दौर्बल्यजन्य उदररोग में पत्रफाण्ट देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, शोथ में पत्र का फाण्ट देते हैं। रक्तविकारों में दूध और फल का प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक होने से कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में पत्तियों का फाण्ट देते हैं।

प्रजननसंस्थान—क्षीर और बीजों का प्रयोग रजोरोध, कष्टार्त्तव तथा फल एवं क्षीर का प्रयोग स्तन्यवृद्धि के लिए करते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में क्षीर और पत्र उपयोगी हैं।

तापक्रम—ज्वर में पत्तियों का फाण्ट देते हैं। इससे ज्वर कम होता है, मूत्र अधिक निकलता है और हृदय को बल मिलता है।

सात्मीकरण—ग्रहणीजन्य दौर्बल्य में अनेक विषों का निवारण करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, दूध, बीज।

मात्रा—पत्रफाण्ट ४०–८० मि० लि०; दूध ३–६ ग्रा०; पाचकसत्त्व (पापेन)–०·६–०·१२ ग्रा०; बीजचूर्ण ½–१ ग्रा०

× × ×

एरण्डकर्कटी लघ्वी तीक्ष्णा कट्वी सतिक्तका।
वीर्योष्णा पाचनी हृद्या ग्राहिणी कफवातनुत्॥
एरण्डकर्कटीक्षीरं पाचनं परमं स्मृतम्।
फलं सतिक्तमधुरं पक्वं तु मधुरं लघु॥ (स्व.)

W. I., II, 77–81
I. P., 515

वमन

१५२. मदनफल

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०) ऊर्ध्वभागहर, आरग्वधादि, मुष्ककादि (सु०)।

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रूबिएसी–Rubiaceace)।

नाम—लै०–रैण्डिया स्पाइनोजा (Randia spinosa Poir.); सं०–मदन (मद लाने वाला); छर्दन (वमन कराने वाला); पिण्डी (पिण्डाकार); शल्यक (काँटों से युक्त); विषपुष्पक (विषैले पुष्पों वाला); हि०–मैनफल; बं०–मयनफल; म०–गेलफल; गु०–मींढल; ता०–मरुक्कालम्, कन्न०–मदकरई; ते०–मंगा, मंगरी; मल०–कर; सं०–लोटो; उ०–मोहन, पोटबाफल; अ०–जौजुल् कै; अं०–इमेटिक नट (Emetic nut)।

स्वरूप—इसका छोटा वृक्ष या गुल्म लगभग २० फीट ऊँचा और २½ फीट मोटा होता है। **पत्र**–अभिलट्वाकार, गोलाग्र या लंबाग्र, १–३ इंच लंबे, प्रायः प्रशाखाओं पर समूहबद्ध होते हैं जिनके अक्षदेश में दोनों ओर सीधे, १–½ इंच लम्बे, तीक्ष्ण काँटे होते हैं। पत्राधार संकीर्ण होकर ·२–·४ इञ्च लंबे पत्रवृन्त से लगा रहता है। **पुष्प**–पहले श्वेत बाद में पीताभ, सुगन्धित, ½–१¼ इञ्च व्यास के, अन्त्य, एकाकी या कभी-कभी एक पुष्पदंड पर २–३ होते हैं। बाह्यकोशनलिका कठिनरोमश और बेलनाकार, अन्तःकोश नलिकाकार ·२५–·४ इञ्च का होता है। **फल**–गोलाकार या अंडाकार, ¾–१½ इञ्च व्यास का, चिकना या लंबाई में धारीदार, पकने पर पीतवर्ण, त्वचा कठिन और स्थूल होती है। फलमज्जा के भीतर कृष्णवर्ण बीजों के चार पिण्ड होते हैं जो बृहदेला के सदृश होते हैं। इन्हें 'मदनफल–पिप्पली' कहते हैं। ग्रीष्मऋतु में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं। पतझड़ में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

उत्पत्तिस्थान—४ हजार फीट तक यह समस्त भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मैनफल में मुख्य क्रियाकारी तत्त्व सैपोनिन (Saponin) होता है जो ताजे फल में २–३ प्रतिशत और सूखे फल में १० प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, एक ट्राइटर्पीन, अम्लराल और हलका पीला सुगन्धित तैल स्वल्प परिमाण में होता है। फल की आभ्यन्तर मज्जा में टैनिन ५% होता है। इसके अतिरिक्त, फलमज्जा में प्रोटीन, शर्करा, अन्य कार्बोहाइड्रेट और अम्ल होते हैं। बीजों में तैल १·५, प्रोटीन १४·२ प्र० श०; म्युसिलेज, राल और एक क्षाराभ होता है। सैपोनिन प्रायः नहीं होता। तैल (Randia oil) मक्खन के सदृश; पीताभ हरित होता है। फूलों से भी एक सुगन्धित तैल निकलता है।

टैनिन के कारण फल का स्वाद कषाय होता है किन्तु भूनने पर बादाम की तरह हो जाता है जिससे लोग भून कर खाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष

रस—कषाय, मधुर, तिक्त, कटु

विपाक—कटु

वीर्य—उष्ण

प्रभाव—वमन

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवात का शामक है। वामक होने से कफपित्त का संशोधन भी करता है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—इसकी त्वचा शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधक है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—त्वचा नाडीशामक है।

पाचनसंस्थान—यह सर्वोत्तम वामक है। इससे वमन पर्याप्त होता है और कोई उपद्रव नहीं होने पाता। इसके लिए त्वचा, फल और बीजों से कार्य लिया जाता है। फल तथा बीजों का कार्य सर्वाधिक होता है। फल वातानुलोमन तथा कृमिघ्न भी है। त्वचा ग्राही है। इसकी क्रिया इपीकैकुआना के समान होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—फल स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्त में संशोधनार्थ तथा वात के अनुलोमन के लिए प्रयुक्त होता है। वमन के रूप में कफपित्तसंशोधन, तथा आस्थापन–अनुवासन के रूप में वात के अनुलोमन के लिए प्रयुक्त होता है। वातव्याधि में इसके तैल का अभ्यंग भी करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग–बाह्य—आमवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। विद्रधि पर इसका लेप करते हैं तथा व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। उदरशूल में फल को सिरके में पीस कर नाभि पर लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसकी त्वचा का क्वाथ प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—वमन के लिए १ पूरे फल का चूर्ण (लगभग ३–४ ग्रा०) २५ मि०लि० जल में एक घण्टा भिगो पत्थर के खरल में घोंटे। बाद कपड़े से छान उसमें मधु और सैंधव मिला कर खाली पेट पिलाने से एक घंटे में वमन हो जाता है। यदि वमन पूरा न हो तो गरम पानी पिलावे। इसका प्रयोग विशेषतः कफप्रधान

ज्वर, गुल्म, शूल, प्रतिश्याय आदि में वमनार्थ करते हैं। विबन्ध, गुल्म, कृमि में १-२ ग्रा० की मात्रा में फलचूर्ण देते हैं। प्रवाहिका में त्वचा का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा कष्टप्रसव में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—स्वेदजनन तथा दोषसंशोधन होने से ज्वरों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा० (वमनार्थ), १-२ ग्रा० (अन्य कर्मों के लिए)।

विशिष्ट योग तथा कल्प—इसके १३३ कल्प चरकसंहिता कल्पस्थान प्रथम अध्याय में बतलाये गये हैं; वहीं देखें।

संग्रहविधि—वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं के मध्य में पुष्य, अश्विनी या मृगशिरा नक्षत्र में मदनफल के पके हुए पीताभ, मध्यमप्रमाण के तथा जन्तुओं से रहित फल ग्रहण करे। इन फलों को कुशपुट में बाँध कर, गोबर से लीप, आठ दिनों तक यव, उड़द, मूँग, कुलथी, धान आदि के भूँसे या पुआल में रख दे। तदन्तर जब ये मृदु, मधुगन्धि हो जायँ तब निकाल कर सुखा दें और सूखने पर बीजपिण्डों को निकाल लें। इन्हें घी, दही, मधु और तिलकल्क में घोंट कर फिर सुखा ले। इस प्रकार प्रस्तुत चूर्ण को नये, शुद्धपात्र में सुरक्षित रख दे। (च. क. १)

प्रयोगविधि—महर्षि चरक ने मदनफल तथा अन्य वामक द्रव्यों की प्रयोगविधि इस प्रकार बतलाई है :—जिस रोगी को वमन कराना है उसे दो-तीन दिन स्नेहन-स्वेदन कराने के बाद जिस दिन वमन औषध देनी है उसके पूर्व रात्रि में कफोत्क्लेशक आहार (मांसरस, दूध, दही, उड़द आदि) दे। दूसरे दिन प्रातः यवागू के साथ थोड़ी घी की मात्रा पिलाकर थोड़ी देर बाद मदनफल का चूर्ण, जो पूर्व रात्रि में ही मुलेठी, कोविदार, कदम्ब, समुद्रफल, बिम्बी, शणपुष्पी, अर्क, अपामार्ग इनमें किसी एक के क्वाथ में भिगो दिया गया है; मसल, छान उसमें मधु और सेंधा-नमक मिलाकर थोड़ा गरम कर रोगी को पिला दे। बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा पिलाता रहे जब तक वमन में पित्त न आने लगे। यदि वमन पर्याप्त न हो तो पिप्पली, आमलक, सर्षप, वचा, लवण ये द्रव्य उष्णोदक में मिलाकर पिलावे।

(च० क० १)

अनुपान—इसका प्रयोग वातविकारों में सुरा, सौवीरक, फलाम्ल, दध्यम्ल आदि अम्ल द्रव्यों के साथ करे। पित्तविकारों में मृद्वीका, आमलक, मधु, मुलेठी,

फालसा, दूध आदि के साथ देवे। कफविकारों में मधु, गोमूत्र तथा अन्य कफघ्न कषायों के साथ प्रयोग करे।

× × ×

'राठको वृत्तपत्रोऽथ कंटकी पर्वतादिषु।
विटपी मदनं तस्य फलं रेखाफलं स्मृतम्॥' (शि.)

'मदनो मधुरस्तिक्तो वीर्योष्णो लेखनो लघुः। वान्तिकृद्विद्रधिहरः प्रतिश्यायव्रणान्तकः॥
रूक्षः कुष्ठकफानाहशोथगुल्मव्रणापहः।' (भा. प्र.)

'मदनफलं वमनास्थापनानुवासनोपयोगिनाम्।' (च. सू. २५)

'वमनद्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षतेऽनपायित्वात्।' (च. क. १)

'मदनं सर्वगदाविरोधि च। मधुरं सकषायतिक्तकं तदरूक्षं सकटूष्णविज्जलम्।
कफपित्तहृदाशुकारि चाप्यनपायं पवनानुलोमि च॥' (च. क. ११)

'मदनः कटुतिक्तोऽथः कफवातव्रणापहः। श्लेष्मज्वरप्रतिश्यायगुल्मेषु विद्रधिषु च॥
शोफस्यापि हरो बस्तौ वमने चेह शस्यते।' (ध. नि.)

W. I., VIIJ, 360-362.

१५३. इक्ष्वाकु

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लैगिनेरिया साइसरेरिया (Lagenaria siceraria (Mol.) Standl.); सं०-इक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तिक्तालाबू (तितलौकी); पिण्डफला (गोलाकार फल वाला); हि०-तितलौकी, कड़वी लौकी; बं०-तितलाउ; म०-कडु भोपला; गु०-कडवी तुंबड़ी; ता०-सोरिआईकाई; ते०-सोराकाया; अ०-कर्-उल्मुर्र; फा०-कदूए तल्ख; अं०-बिटर गोर्ड (Bitter gourd)।

स्वरूप—इसकी आरोहिणी या प्रतानिनी लता होती है जो बहुत दूर तक फैली रहती है। **काण्ड**-पञ्चकोणीय तथा तन्तु द्विविभक्त होते हैं। **पत्र**-७-८ इञ्च व्यास के, दीर्घवृन्त, और पञ्चखण्डीय होते हैं। पत्राधार पर दो ग्रन्थियाँ होती हैं। **पुष्प**-बड़े, ३-४ इञ्च व्यास के, एकल, सफेद, एकलिंगी होते हैं। पुष्प-दण्ड-लगभग ६ इञ्च लम्बा होता है। **फल**-गोल या लंबे, पकने पर काष्ठीय होते हैं। **बीज**-अनेक, सफेद रंग के, लंबे, कुछ दबे हुए होते है। फलमज्जा तिक्त होती है।

जाति—ऊपर स्वाभाविक रूप से उत्पन्न वन्य पौधे का वर्णन किया गया। इसकी खेती में लगाई हुई जाति का फल मधुर होता है जिसका शाक में प्रयोग करते है। इसका वर्णन तृतीय भाग (शाकवर्ग) में देखें।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—कटुतुम्बी के फलों से ०.०१३% एक घन फेन निकलता है जिसमें कुकुर्बिटासिन बी. डी. जी. और एस. नामक तिक्त पदार्थ एग्लाइकोन के रूप में रहते हैं। पत्तियों और जड़ में भी ये तत्त्व होते हैं। फल के रस में बी-ग्लाइकोसिडेस होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्त का संशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शिरोविरेचन, जन्तुघ्न और शोथहर है। इसका तैल व्रणशोधन और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीव्र वामक और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कामला और कफज शिरोरोगों में इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। दन्तकृमि आदि रोगों में इसके रस का गण्डूष करते हैं। इसका तैल शोथ, ग्रन्थि, गण्डमाला, व्रण एवं कुष्ठ में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—वमन और रेचन के लिए इसके फल, मूल और पत्र का प्रयोग करते हैं। कास, श्वास, विष, छर्दि ज्वर, मूर्च्छा तथा अन्य कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में यह प्रयुक्त होता है। शोथरोग में इसके मूल का विशेष प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह उपयोगी है। इसके प्रयोग से कफ आसानी से निकल जाता है और रोगी को आराम मिलता है।

त्वचा—कुष्ठ में यह लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः कफपैत्तिक ज्वरों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विषों में यह संशोधनार्थ तथा विषनाशन के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, मूल।

मात्रा—स्वरस-१०–२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—इसके अनेक कल्प चरकसंहिता (कल्प० ३) में दिये गये हैं।

× × × ×

'कटुतुम्बी हिमाऽहृद्या पित्तकासविषापहा। तिक्ता कटुर्विपाके च वातपित्तज्वरान्तकृत्॥' (भा. प्र.)

'कटुतुम्बी कटुस्तीक्ष्णा वान्तिकृच्छ्वासवातजित्।
कासघ्नी शोथघ्नी शोफव्रणशूलविषापहा॥' (रा. नि.)
[illegible]
[illegible] (च. क. ३)
[illegible]
[illegible] (सु. सू. ३९)

B. B. O. II 404.
W. I. VI. 16–18.

१५४. धामार्गव

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च.); [illegible] (सु.)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)।

नाम—सं०–[illegible] (Luffa cylindrica (Linn.) M. J. Roem.) [illegible]

[illegible]

जाति—इसकी दो जातियाँ होती है :—(१) तिक्त और (२) मधुर। तिक्त जाति वन्य होती है उसका औषध में तथा लगाई हुई मधुर जाति का शाक में प्रयोग होता है। यहाँ तिक्त जाति का वर्णन किया जा रहा है। मधुर जाति का वर्णन तृतीय भाग (शाकवर्ग) में देखें।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—तिक्त जाति के पञ्चांग में इन्द्रायण में पाये जाने वाले कोलोसिन्थीन नामक सत्त्व के सदृश एक द्रव्य पाया जाता है तथा लफीन (Luffein) नामक सत्त्व भी होता है। बीजों में एक स्थिर तैल, एक तिक्त पदार्थ तथा सैपोनिन होता है।

गुण

गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**–तिक्त
विपाक–कटु **वीर्य**–उष्ण
प्रभाव—उभयतोभागहर

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह वमन और भेदन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह मुख्यतः कफ के रोगों में संशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदररोग, गुल्म आदि में इसका प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा स्वरविकार में इसका प्रयोग होता है।
सात्मीकरण—विषों में यह प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—फल, पुष्प, पत्र।
मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०
विशिष्ट कल्प—इसके ६० कल्प चरकसंहिता (कल्पस्थान ४) में वर्णित हैं।

× × ×

'कोशातकी सुतिक्तोष्णा पक्वामाशयशोधनी।' (ध. नि.)
'गरे गुल्मोदरे कासे वाते श्लेष्माशयस्थिते। कफे च कण्ठवक्त्रस्थे कफसञ्चयजेषु च॥
रोगेष्वेषु प्रयोज्यं स्यात् स्थिराश्च गुरवश्च ये।' (च. क. ४)

१५५. कृतवेधन

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च); ऊर्ध्वभागहर, उभयतोभागहर, (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लफा एकुटैंगुला (Luffa acutangula (Linn) Roxb.); सं०-कोशातकी (कोषयुक्त फल); मृदंगफल (मृदंगाकार फल); जालिनी (फलमज्जा जालयुक्त); राजिमत्फला (रेखाओं से युक्त फल); हि०-तरोई, खर्रो; बं०-झिंगा; म०-शिरोला; गु०-घिसोडा; ता०-पिरकनकाई; ते०-बिरकाया; कन्न०-हिरेकपी; मल०-पिचेंगा; अं०-रिब्ड लफा (Ribbed luffa)। रिज्ड गोर्ड (Ridged gourd)।

स्वरूप—इसकी **लता** धामार्गव के सदृश होती है। अन्तर केवल थोड़ा-सा पुष्प, फल और बीज में होता है। इसमें पुंकेशर ३ होते हैं। फल के ऊपर उठी हुई अनुलंब रेखायें होती हैं और बीज बहुत चपटे, किनारों पर कुछ उठे हुए काले होते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं—(१) तिक्त, (२) मधुर। तिक्त जाति वन्य होती है उसका औषध में तथा कृषि द्वारा उत्पादित मधुर जाति का शाकार्थ प्रयोग होता है। यहाँ तिक्त जाति का वर्णन किया गया है। मधुर जाति का वर्णन तृतीय भाग (शाकवर्ग) में देखें।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें इन्द्रायण के समान एक तिक्त सत्त्व पाया जाता है। बीजों में स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**— तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—उभयतोभागहर

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह वामक और रेचन है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में संशोधनार्थं दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदर, गुल्म आदि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, शोथ, प्लीहवृद्धि आदि में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—पांडु तथा विषों में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, मूल।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—इसके ६० कल्प चरकसंहिता (कल्प ६) में बतलाये गये हैं।

× × × ×

अयथं कटुतीक्ष्णोष्णं गाढेष्विष्टं गदेषु च। कुष्ठपाण्ड्वामयप्लीहशोथगुल्मगरादिषु ॥'

(च. क. ३)

'कृतवेधन'''तैलानि तीक्ष्णानि लघुन्युष्णवीर्याणि कटूनि कटुविपाकानि सराण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि च।' (सु. सू. ४५)

W. I., I, 177–178.

१५६. अरिष्टक

परिचय

कुल—अरिष्टक-कुल (सैपिण्डेसी–Sapindaceae)।

नाम—लैं०–सैपिण्डस ट्राइफोलिएटस (Sapindus trifoliatus Linn.); सं०–अरिष्टक; फेनिल (फेनयुक्त); रक्तबीज (रक्तवर्ण बीज वाला); गर्भपातन (गर्भाशयसंकोचक); हि०–रीठा; बं०–रिठे; पं०–रेठा; म०–रिठा; गु०–अरीठा; ता०–पन्नानकोट्टाई; ते०–कुकुदुकायालु; अ०–बुन्दुक हिन्दी; फा०–फुंदुकफारसी; अं०–सोप नट ट्री ऑफ साउथ इण्डिया (Soap nut tree of south India.)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ५० फुट तक ऊंचा प्रायः ५ फीट परिधि का होता है। पत्र–५–१२ इंच लम्बा होता है। **पत्रक**–समपक्षवत्, १½–८ इञ्च लम्बे, १–४ इञ्च चौड़े, अण्डाकार या आयताकार, लंबाग्र या द्विविभक्त, दो-तीन जोड़े होते हैं जिनमें अंतिम जोड़ा सबसे बड़ा होता है। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, ⅙ इञ्च लम्बे, रोमश, अन्त्य सघन मंजरियों में आते हैं। बहिर्दल–५, अंडाकार, गोलाग्र, अन्तर्दल–४–५, लंबे और पतले, पुंकेशर ८; अण्डाशय त्रिखण्डीय होता है। **फल**–मांसल, २–३ खण्डीय, ½–¾ इञ्च लम्बे, तरुणावस्था में रोमावृत, सूखने पर कृष्णाभ भूरे रंग के, सिकुड़नयुक्त होते हैं। **बीज**–मटरसदृश, काली, चिकनी मज्जा में संसक्त रहते हैं। **पुष्प**–

नवम्बर-दिसम्बर में आते हैं। फल फरवरी-अप्रिल तक तैयार हो जाते हैं जब इनका संग्रह किया जाता है।

जाति—इसकी दूसरी प्रजाति सैपिण्डस मुकोरोसी (Sapindus mukorossi Gaertn.) है जो उत्तरभारतीय अरिष्टक (Soap nut tree of north India) कहलाता है। इसके वृक्ष पश्चिमोत्तर भारत और आसाम में होते हैं। इसमें पत्र ६–८ इञ्च लम्बे, शाखाओं के अन्त में समूहबद्ध रहते हैं। पत्रक ५–८ जोड़े होते हैं। पुष्प सफेद या बैंगनी, अन्त्य या पार्श्विक मंजरियों में आते हैं। पतझड़ में इसकी पत्तियाँ झड़ कर वसन्त में नये पल्लव निकलते हैं। ग्रीष्म में पुष्प आते हैं और शरद्-हेमन्त में फल तैयार हो जाते हैं। गोल फलों के गुच्छे जनवरी या उसके बाद भी निष्पत्र वृक्ष में दूर से दिखाई देते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः दक्षिण भारत में होता है। आजकल सर्वत्र उगाया हुआ मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके सूखे फल में ११½ प्रतिशत सैपोनिन, १० प्रतिशत शर्करा होती है। बीजों में ४५.४ प्रतिशत तैल होता है। S. mukorossi के फलों में १०–१% सैपोनिन होता है। मुकोरोसाइड (Mukorosside) नामक एक स्फटिकीय सैपोनिन फलत्वक् से प्राप्त किया गया है। बीजों में ३५% स्थिर तैल तथा प्रोटीन ३१ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—वमन

कर्म

दोषकर्म—रीठा त्रिदोषघ्न है। वमन के द्वारा कफ का तथा विरेचन के द्वारा पित्त का शोधन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न, लेखन है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—बीज मादक हैं।

पाचनसंस्थान—यह वामक, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न और लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः कफ और वात के विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। कुष्ठ, कण्डू, विस्फोट, गंडमाला आदि में तथा सर्प, बिच्छू आदि सविष प्राणियों के दंश में इसका लेप करते हैं। इसके विलयन या चूर्ण का नस्य अर्धावभेदक, मूर्च्छा, अपतंत्रक तथा श्वास में देते हैं। इसके पत्र तथा त्वचा का उपनाह सन्धिवात, आमवात, पक्षाघात आदि में देते हैं। दाह में इसके फेन का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उदरविकारों तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—इसकी वर्त्ति बना कर रजोरोध तथा कष्टप्रसव में योनि में रखते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—विषों में विशेषतः अहिफेन-विष में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३-६ ग्रा०

× × ×

'अरिष्टको गुच्छफलः सर्वतिक्तश्च मंजरी।' (शि.)

'अरिष्टकस्तु मंगल्यः कृष्णवर्णोऽर्थसाधनः। रक्तबीजः पीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥
अरिष्टकस्त्रिदोषघ्नो ग्रहजिद् गर्भपातनः।' (भा. प्र.)

'रीठाकरंजस्तिक्तोष्णः कटुः स्निग्धश्च वातजित्। कफघ्नः कुष्ठकण्डूतिविषविस्फोटनाशनः॥' (रा. नि.)

'अरिष्टः कटुकः पाके तीक्ष्णोष्णो लेखनोऽगुरुः। दोषत्रयहरो गर्भपातनो ग्रहशान्तिकृत्॥'
तज्जलं वामकं पानान्नस्याच्छीर्षरुजापहम्। अर्धशीर्षव्यथां हन्ति वमनाद्विषनाशनः॥' (नि. सं.)

W. I., IX, 225–228.

१५७. ताम्रपर्ण

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-निकोटियाना टॅबेकम (Nicotiana tabacum Linn.) सं०-ताम्रपर्ण, कलञ्ज, गुच्छफल, तमाल, हि०-तमाकू, ते०-पोगकु; ता०-पुगैलई; मल०-पोकल, क०-होगेसोप्पु, अं०-टोबैको (Tobacco)।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप पिच्छिल-रोमश होता है। **पत्र**-बड़े, आयताकार या अण्डाकार होते हैं। **पुष्प**-गुच्छ (corymb) संयुक्त, बहिर्दल त्रिकोणाकार-भालाकार, अन्तर्दल रेखाकार-घंटाकार होते हैं। **फल**-¾ इञ्च लम्बा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अमेरिका का आदिवासी है किन्तु संप्रति भारत और सभी उष्ण देशों में इसकी खेती की जाती है। इसकी एक अन्य जाति N. rustica Linn. भी भारत में उपजाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसका प्रमुख क्रियाशील तत्व निकोटिन नामक क्षाराभ है जो उड़नशील तथा वर्णहीन द्रव के रूप में होता है। यह सूखी पत्तियों में १-८% रहता है। इसके साथ-साथ निकोटिमिन, निकोटीन तथा निकोटेलिन क्षाराभ भी होते हैं। इनके अतिरिक्त, निकोटिएनिन नामक कर्पूरीय उड़नशील पदार्थ तथा दो ग्लाइकोसाइड भी होते हैं। राल, वसा और कुछ कार्बनिक अम्ल भी होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण, व्यवायी, विकासी
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—मादक

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण, उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर और क्रिमिघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पहले यह नाड़ीसंस्थान को उत्तेजित करता है किन्तु बाद में अवसाद उत्पन्न करता है।

पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह स्रावक ग्रन्थियों तथा पेशियों की क्रिया को उत्तेजित करता है जिससे लालास्राव तथा आमाशयिक स्राव बढ़ जाता है। आन्त्र-पेशियों की गति बढ़ जाने से वायु का अनुलोमन भी होता है। इससे हृल्लास और वमन भी होने लगता है।

रक्तवहसंस्थान—थोड़ी देर के लिए प्रारम्भ में हृदय की गति मन्द होती है किन्तु शीघ्र ही तीव्र हो जाती है। नाड़ी की गति भी बढ़ जाती है और रक्तभार भी बढ़ जाता है। परिसरीय रक्तवह स्रोतों का भी संकोच हो जाता है।

श्वसनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह श्वसन को उत्तेजित करता है किन्तु अधिक मात्रा में देने पर महाप्राचीरा तथा वक्षीय पेशियों के चेष्टानाश के कारण श्वासारोध हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह पोषणक ग्रन्थि के पश्चिम पिण्ड को उत्तेजित कर उसके मूत्रसंग्रहणीय हार्मोन (ADH) की मात्रा बढ़ा देता है जिसके कारण मूत्र में कमी हो जाती है।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था में गर्भाशय-पेशियों को उत्तेजित करने के कारण इससे गर्भपात या अप्राप्तकाल प्रसव हो जाता है।

सात्मीकरण—अत्यधिक सेवन करने से यह ओजःक्षय करता है तथा धातुक्षय के कारण शरीर दुर्बल एवं कृश होने लगता है। विशेषतः दृष्टिशक्ति क्षीण हो जाती है।

पाक एवं उत्सर्ग—श्लेष्मल कला से शोषित होने के बाद यकृत् में इसका पाक होता है और इसका उत्सर्ग मूत्र द्वारा होता है।

प्रयोग

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ताम्रपर्ण का विशेष प्रयोग बाह्य ही होता है। सन्धिशोथ, वृषणशोथ आदि में इसकी पत्तियों को वहाँ रख कर बाँधने से शोथ और पीड़ा दूर होती है। दन्तशूल और दन्तकृमि में इसका चूर्ण बना कर मञ्जन करने से कृमि मर जाते हैं और दाँतों की पीड़ा शान्त हो जाती है। आजकल अनेक दन्त-मंजनों में इसका योग रहता है। इसकी पत्तियों से स्निग्ध तैल का अभ्यंग संधिवात और आमवात में करते हैं। कफवातिक रोगों में शिरोविरेचन के लिए इसका नस्य देते हैं।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग वामक के रूप में किया जाता है और इस प्रकार यह सर्पविष आदि में तथा श्वास-कास में उपयोगी होता है।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सर्पविष तथा कुपीलुविष के लिए यह उत्तम औषध मानी जाती है। कुपीलु का यह उत्तम प्रतिविष है। इसके अधिक सेवन से अग्निमांद्य, सतत कण्ठोद्ध्वंस एवं कास, मानसिक अवसाद, अनिद्रा, दौर्बल्य, पाण्डुता, यकृद्विकार तथा दृष्टिमान्द्य या अन्धता उत्पन्न होती है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा एवं सेवनविधि—इसका प्रयोग खैनी, जर्दा, नस्य, धूम्रपान (बीड़ी, सिगरेट, हुक्का आदि) के रूप में प्रकृति और रुचि के अनुसार किया जाता है। इसका अन्तःप्रयोग प्रायः नहीं होता क्योंकि ४० मि० ग्रा० की मात्रा भी मनुष्यों के लिए घातक सिद्ध हुई है।

विशिष्ट योग—श्वासगजांकुश, श्वासान्तकावलेह (सि. भे. म.)।

प्रयोग-निषेध—प्रतिकूल प्रभाव के कारण इसका प्रयोग रक्तचाप, हृद्रोग, अम्लपित्त और शूल, फुफ्फसविकार (फुफुसविस्तृति एवं कैंसर) तथा कण्ठोद्ध्वंस में नहीं करना चाहिए।

विषाक्त लक्षण—अतिमात्रा में मुख द्वारा लेने पर मुँह, गला तथा आमाशय में तीव्र दाह होता है। लालाप्रसेक, वमन तथा विरेचन होने लगते हैं। रोगी पहले

उत्तजित हो जाता है और उसकी सांस तेज हो जाती है। इसके बाद अवसाद की स्थिति आती है, नाड़ी तीव्र हो जाती है, असन्तुलन होने लगता है तथा सांस उथली और धीमी चलने लगती है। क्रमशः चेतना लुप्त हो जाती है और श्वसनीय पेशियों की चेष्टाहीनता के कारण श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। इसके निवारण के लिए आमाशय-प्रक्षालन किया जाता है तथा कृत्रिम श्वसन की विधियों का अवलंबन कर श्वसन में सहायता पहुँचाई जाती है। इसके अतिरिक्त, हृद्य औषध दी जाती है। हलके नशे को दूर करने में नींबू से भी अच्छा लाभ होता है। नींबू का रस चूसे या पानी में उसका रस मिला कर पिये। बाद में गोदुग्ध का प्रयोग करे इससे रूक्षता-तीक्ष्णता आदि का निवारण होकर रोगी को शान्ति मिलती है।

+ + +

'धूमाह्वयो धूमवृक्षश्च बृहत्पत्रश्च धूसरः। तमाखुर्गुच्छफलको धूमयन्त्रप्रकाशकः॥
बहुबीजो बहुफलः सूक्ष्मबीजस्तु दीर्घकः। दीर्घं पाटलवर्णञ्च पुष्पं तस्य प्रकीर्त्तितम्॥
तस्य पत्रं तु तीक्ष्णोष्णं कफवातहरं परम्। श्वासकासहरं चैव कोष्ठवातहरं तथा॥
वातानुलोमनकरं बस्तिशोधनमुत्तमम्। दन्तरुक्शमनं चैव क्रिमिकण्ड्वादिनाशनम्॥
मदपित्तभ्रमकरं वमनं रेचनं स्मृतम्। दृष्ट्यान्धकरं चैव तीक्ष्णशुक्रकरं तथा॥
तस्यैव धूमपानं तु विशेषाद् हृदि शुक्रहृत्। देशान्तरप्रभेदेन तीक्ष्णं चार्त्तवपित्तलम्॥
वमनस्य प्रभावेण वृश्चिकादिविषं हरेत्। रेचनत्वाद् हरेद् वातं श्लेष्माणं च नियच्छति॥

—योगरत्नाकर, कन्दशाकादिवर्ग

शिरोगदच्छित् भुवनः कलञ्जो वम्यो विषं विश्वविषस्य हन्ता।
कलञ्जसंवेष्टितधूमपानात् स्याद्दन्तशुद्धिर्मुखरोगहानिः॥

—आयुर्वेदविज्ञान, द्रव्यस्थान, अ० १०

वमनोपग

१५८. हिज्जल

परिचय

गण—वमनोपग, विरेचन (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—हिज्जल-कुल-(लेसिथिडेसी-Lecythidaceae)

नाम—लै०-बैरिङ्गटोनिया एक्युटैंग्युला (Barringtonia acutangula Gaertn.)। सं०-हिज्जल, निचुल, विदुल; हि०-गु०-समुद्रफल, हिजल; बं०-हिजल; म०-सत्फल, समुद्रफल; ता०-समुत्रपल्लम्; ते०-कणगि।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण सदाहरित वृक्ष ३०-४० फुट ऊँचा और ६ फीट मोटा होता है। **काण्डत्वक्**-गहरे भूरे रंग की, रुखड़ी, ½ इञ्च मोटी होती है। **पत्र**-५ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, अभिलट्वाकार या अभिभालाकार, ह्रस्ववृन्त

होते हैं। **पुष्पमंजरी**-लगभग १ फुट लम्बी होती है जिसमें रक्तवर्ण पुष्प लगते हैं। बहिर्दल-गुलाबी रंग के और पुंकेसर चमकीले लाल होते हैं। **फल**-आयताकार, चतुष्कोण, १-१½ इञ्च लम्बा तथा ½-¾ इञ्च चौड़ा होता है। फल का मध्यभाग सर्वाधिक चौड़ा होता है। देखने में यह बड़ी इलायची के सदृश लगता है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प तथा शरद् में फल लगते हैं। इसीसे मिलती जुलती एक और प्रजाति B. racemna Roxb. होती है। यह पश्चिमी घाट, सुन्दरवन, आसाम और अन्दमान में होता है। इसके फल अंडाकार, बड़े, २-२½ इञ्च लम्बे होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में, श्रीलङ्का, सिंगापुर में विशेष पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में ग्लुकोसाइड, सैपोनिन, बैरिंगटोनिन (Barringtonin), बैरिंगटोनिक एसिड (Baringtonic acid), बैरिंगटोजिनोल (Baringtogenol) पाये जाते हैं। छाल में १६ प्र. श. टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण　　**रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—वमन

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधक एवं वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके बीज लेखन, शिरोविरेचन और वेदनास्थापन है।

नाडीसंस्थान—मूल तथा काण्डत्वक् का शामक प्रभाव देखा गया है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फल वामक, रेचन और कृमिघ्न है। काण्डत्वक् अमीबानाशक है। पत्र ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—इसका मूल सिनकोना के समान गुणयुक्त है। यह विषमज्वरप्रतिबन्धक तथा प्लीहवृद्धिहर है।

सात्मीकरण—विषघ्न है। मूल में मधुमेहघ्न प्रभाव मिलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ तथा वातरोगों में शमनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके चूर्ण का नस्य शिरोरोगों में लेते हैं। पार्श्वशूल, सन्धिशूल आदि में इसके बीज को घिस कर लगाते हैं। नेत्ररोगों में भी इसको घिस कर अञ्जन लगाते हैं। कामला में भी इसका अञ्जन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कफज रोगों में वमनार्थ तथा पित्तज रोगों में विरेचनार्थ इसके फल का प्रयोग करते हैं। उदररोग और कृमि में यह प्रयुक्त होता है। आमातीसार में इसका पत्र-स्वरस मधु के साथ देते हैं। काण्डत्वक् अमीबिक प्रवाहिका में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में इसका प्रयोग करने से वमन और विरेचन से कफ निकल जाता है और रोग की शान्ति होती है। बच्चों में इसके फल को घिस कर चटाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका चूर्ण निर्गुण्डी तथा मिश्री के साथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव और रजोरोध में यह उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर, प्लीहावृद्धि आदि में कुनैन के समान इसके मूल का प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—विषों में यह लाभकर है। मधुमेह में परीक्षणीय है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल, त्वक्, पत्र।

मात्रा—फलचूर्ण-३-६ ग्रा० (वमनार्थ); ½-१ ग्रा० (अन्य कर्मों के लिए), पत्रस्वरस-१०-२० मिलि०।

× × ×

'फलं समुद्रस्य कटूष्णकारि वातापहं भूतनिरोधकारि।
त्रिदोषदावानलदोषहारि कफामयभ्रांतिविरोधकारि ॥' (नि. आ.)

'हिज्जलः कटुरुष्णश्च पवित्रो भूतनाशनः। वातामयहरो नानाग्रहसंचारदोषजित ॥'

'जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः।' (भा. प्र.)

'जलेन घृष्ट्वा पीतं चेत् कृमिनाशकरं परम्।
तदेव चांजितं नेत्रे कामलां नाशयेत् ध्रुवम् ॥ (रा. नि.)

'दलोत्थः स्वरसः पेयो हिज्जलस्य समाक्षिकः। जयत्यामतीसारम् ॥' (च. द.)

'हिज्जलस्य फलं घृष्ट्वा पानीये नित्यमञ्जनम्।
चक्षुःस्रावे प्रशान्त्यर्थं कार्यमेतन्महौषधम् ॥' (बंगसेन)

F. I., II, 507-8.
M. P. I., 125-6.
G. I. M., 34.
W. I., I, 158-9.

१५९. शणपुष्पी

परिचय

गण—वमनोपग, मूलिनी (च०), ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-Papilionatae)।

नाम—लै०-क्रोटेलेरिया वेरुकोजा (Crotalaria verrucosa Linn.); सं०-शणपुष्पी (शण के सदृश पुष्प होने से); घण्टारवा (फलों में बीजों के कारण आवाज होने से); हि०-सनई; झनझनिया; बं०-बनशन; म०-घागरी; गु०-घुघरो; ता०-वेल्लैनिक्किलुकिलुप्पै; ते०-धेलेकेरिण्टा।

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त, गुल्मवत् **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। शाखायें-कोणीय, **पत्र**-लट्वाकार, त्रिकोणाकार, गोलाग्र, लगभग ४-६ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्पमंजरी**-अन्त्य, पत्राभिमुख, ३-७ में विभक्त, १½-३ इञ्च लम्बी होती है जिसमें १५-२० नील-पीतवर्ण पुष्प लगे रहते हैं। बाह्यकोष-⅓ इञ्च लम्बा, आभ्यन्तर कोष इससे दूना होता है। **शिम्बी**-१-१½ इञ्च लम्बी, रोमश होती है जिसके भीतर १०-१२ बीज होते हैं। शुष्क शिम्बी को हिलाने से 'झनझन' शब्द होता है, अतएव इसे संस्कृत में 'घण्टारवा' तथा हिन्दी में झनझनिया कहते हैं। मार्च-मई में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय से श्रीलङ्का, वर्मा तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में बी-सिटोस्टिरॉल, आइसोवाइटेक्सिन (isovitexin), वाइटेक्सिन (vitexin) तथा चार अन्य पदार्थ पाये गये हैं। इनके अतिरिक्त, इनसे दो क्षाराभ आइसो-सेनकिरकिन (iso-senkirkine) और ओ-एसिटिल-आइसोसेनकिरकिन (O-Acetyliso-senkirkine) निकाले गये हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण　　**रस**—तिक्त, कटु, कषाय

विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

प्रभाव—वमन

कर्म

दोषकर्म—यह वामक होने से कफपित्त का संशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्तियों का लेप पित्तशामक और कुष्ठघ्न है। बीजों का लेप व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका मूल वामक है। पत्तियाँ ग्राही तथा लालाप्रसेकशमन है।

रक्तवहसंस्थान—पत्तियाँ रक्तशोधक हैं।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ, कुष्ठ में पत्तियों का लेप करते हैं। मुख तथा कण्ठ के रोगों में पत्रक्वाथ से गण्डूष करते हैं। व्रण में बीजों का लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मूल का प्रयोग वमन के लिए होता है। पत्तियाँ अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होती हैं।

रक्तवहसंस्थान—पत्तियों का प्रयोग रक्तविकार में करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में पत्तियों का तथा मूल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग--मूल, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-३-६ ग्रा०; पत्रस्वरस-५-१० मि० लि०।

× × ×

'शणपुष्पी स्मृता घण्टारवा शणसमाकृतिः। शणपुष्पी कटुस्तिक्ता वामनी कफपित्तजित्॥' (भा. प्र.)

'शणपुष्पी रसे तिक्ता वामनी कफपित्तजित्। कषाया कण्ठहृद्रोगमुखरोगविनाशिनी॥' (ध. नि.)

'शणपुष्पी च बिम्बी च छर्दने।' (च. सू. १)

M. P. I, I., 297.
F. I., II, 77.
B. B. O., II, 243.

पुरीषजनन

१६०. माष

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनेसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपलिओनेटी-Papilionatae)।

नाम—लै०-फैसिओलस मुंगो (Phaseolus mungo Linn.); सं०-माष; हि०-उड़द; बं०-माषकलाई; म०-उडिद; गु०-अड़द; ता०-उलुन्दु; ते०-मिनुमु; अ०-फा०-माषे स्याह; माषे हिन्दी; अं०-ब्लैक ग्राम (Black gram) या किडनी बीन (Kidney-bean)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप** झुरमुटदार, टेढ़े-मेढ़े काण्डयुक्त; लंबे, महीन, भूरे, रेशमी, अस्थायी रोमों से व्याप्त, १–२ फुट ऊँचा होता है। **पत्रक**–लट्वाकार, भालाकार या कभी-कभी खण्डयुक्त, पतले, २–४ इञ्च लंबे होते हैं। उपपत्र–$\frac{1}{4}$–$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे, ६–१२ नाडीयुक्त, आयताकार होते हैं। **पुष्प**–छोटे पुष्पदंड के अग्र पर लगभग आधे दर्जन, पीतवर्ण होते हैं। **शिम्बी**–१·५–२·५ इञ्च लम्बी, उत्थित या ऊर्ध्वमुख, रोमश, बेलनाकार, कुछ मुड़ी हुई, $\frac{1}{4}$–$\frac{1}{6}$ इञ्च चौड़ी होती है जिसके भीतर १०–१५, चिकने, काले या काले धब्बों से युक्त, भूरे होते हैं। शीतकाल में पुष्प–फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है। विशेषतः पश्चिमी उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में अलब्युमिनॉयड २२·७%, स्टार्च ५५·८%, तैल २·२%, सूत्र ४·८% तथा क्षार (जिसमें स्फुरकाम्ल रहता है) ४·४% होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध　　**रस**—मधुर
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, स्निग्ध, मधुर होने से कफवर्धक तथा उष्ण होने से पित्तकारक है। इन्हीं कारणों से वात का उत्तम शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन और वातशामक है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह नाडीबल्य है। इसका मूल मादक है।

पाचनसंस्थान—रोचन, पुरीषजनन, स्रंसन, शूलप्रशमन और यकृदुत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य, स्तन्यजनन तथा आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह स्निग्ध–मधुर होने से बल्य, बृंहण, जीवनीय, मेदोवर्धन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि में इसका उपनाह देते हैं तथा इसमें पक्व तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, पक्षाघात, अर्दित, सन्धिवात आदि रोगों में लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, विबन्ध, उदरशूल, यकृद्विकार तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ एवं मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह क्लैब्य, रजोरोध तथा स्तन्याल्पता के विकारों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल (बीज)।

मात्रा—५–१० ग्रा० (चूर्ण)।

विशिष्ट योग—माषबलादिपाचन, महामाष तैल।

× × × ×

'माषो गुरुः स्वादुपाकः स्निग्धो रुच्योऽनिलापहः। स्रंसनस्तर्पणो बल्यः शुक्रलो बृंहणः परः॥
भिन्नमूत्रमलः स्तन्यो मेदःपित्तकफप्रदः। गुदकीलार्दितश्वासपक्तिशूलानि नाशयेत्॥
कफपित्तकराः माषाः कफपित्तकरं दधि। कफपित्तकरा मत्स्या वृन्ताकं कफपित्तकृत्॥'
(भा. प्र.)

'वृष्यः परं वातहरः स्निग्धोष्णमधुरो गुरुः। बल्यो बहुमलः पुंस्त्वं माषः शीघ्रं ददाति च॥'
(च. सू. २७)

'माषाः श्लेष्मपित्तजननानाम्।' (च. सू. २५)

'माषो गुरुर्भिन्नपुरीषमूत्रः स्निग्धोष्णवीर्यो मधुरोऽनिलघ्नः।
सन्तर्पणः स्तन्यकरो विशेषाद् बलप्रदः पित्तकफावहश्च॥' (सु. सू. ४६)

'माषः स्निग्धो बलश्लेष्ममलपित्तकरः सरः।
गुरूष्णोऽनिलहा स्वादुः शुक्रवृद्धिविरेककृत्॥' (अ. हृ. सू. ६)

'माषः स्निग्धो बहुमलकरः शोषणः श्लेष्मकारी, वीर्येणोष्णो झटिति कुरुते रक्तपित्तप्रकोपम्।
हन्याद् वातं गुरुबलकरो रोचनो भक्ष्यमाणः,स्वादुर्नित्यं श्रमशमकरो जीवनीयो नराणाम्॥'
(रा. नि.)

'माषयूषेण यो भुक्त्वा घृताढ्यं षष्टिकौदनम्।
पयः पिबति रात्रिं स कृत्स्नां जागर्ति वेगवान्॥' (च. चि. २)

F. I. II, 203.
B. B. O., II, 302.

वातानुलोमन

१६१. पूतिहा

परिचय

कुल—तुलसी–कुल (लैबिएटी–Labiate)।

नाम—लै०–मेन्था स्पाइकेटा (Mentha spicata Linn. Emend. Nethh.), सं०– पूतिहा, रोचनी, पोदीनक; हि०–पुदीना; बं०–पुदिना; म०–पुदिना;

गु० फुदीनो; ता०-ते०पुदीना; अ०-फूजनज; फा०-पूदिनः; अं०-स्पिअर मिण्ट (Spear-Mint), गार्डेन मिण्ट (Garden mint)

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु **क्षुप** अतिशय उग्रगन्धि, ·१-२ फुट ऊँचा होता है। इसके **पत्र**-प्रायः चिकने, अवृन्त, भालाकार-लट्वाकार, तीक्ष्णाग्र, स्थूलदन्दुर, अधःपृष्ठ पर ग्रन्थियुक्त होते हैं। **पुष्पमंजरी**-शिथिल, बेलनाकार, कोमल होती है जिसमें बैंगनी रंग के फूल लगते हैं।

जाति—अन्य प्रजातियाँ यथा मेन्था लौंगिफोलिया (M. longifolia), मेन्था अर्वेन्सिस (M. arvensis), आदि भी पुदीना के नाम से प्रचलित हैं। M. piperita से पिपरमिण्ट निकाला जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के बागों में सर्वत्र लगाया जाता है। इंगलैण्ड का उत्तरी भाग इस का मूल स्थान है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में आर्द्रता ८३, प्रोटीन ४·८, वसा ०·६, कार्बोहाइड्रेट ८, सूत्र २, खनिज १·६%; कैलशियम २०० मि० ग्रा०, फास्फरस ८० मि० ग्रा०, लौह १५·६ मि० ग्रा०, कैरोटिन (विटामिन ए०) २७०० इ० यु०, निकोटिनिक अम्ल ०·४ मि० ग्रा०, राइबोफ्लेविन ८० मि० ग्रा०, थियामिन ५० मा० ग्रा०। प्रति १०० ग्रा० तथा कुछ ताम्र होता है। पुष्पित ताजे पौधे से एक उड़नशील, सुगन्धित तैल ०·२५-०·५० % निकलता है जिसमें प्रमुख तत्त्व कार्वोन, टर्पीन, सिनिओल आदि होते हैं।

पुदीने की पत्तियों में सुगंध तथा कटु स्वाद तो होता है किन्तु पिपरमिण्ट की सी ठंडक की अनुभूति नहीं होती।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण, उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशक, जन्तुघ्न और व्रण-रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, छर्दिनिग्रहण, वातानुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—तीक्ष्ण, उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक तथा आक्षेपहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय-संकोचक है।

त्वचा—त्वग्दोषहर तथा स्वेदन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह वेदनायुक्त स्थानों तथा दुर्गन्धयुक्त व्रणों में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। इसका तैल भी लगाते हैं। मुखदुर्गन्धनाशन के लिए इसका स्वरस जल में देकर कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, वमन, आध्मान, अतिसार और कृमि रोगों में देते हैं। इन रोगों में पुदीने की चटनी भी खिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का और श्वास रोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव तथा प्रसूतिज्वर में इसका स्वरस देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—विषों में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, तैल।

मात्रा—पत्रस्वरस ५-१० मि० लि०; फाण्ट २०-४० मि० लि०; तैल १-३ बुंद।

विशिष्ट योग—अर्क पुदीना।

× × ×

'पूतिहा कटुरुष्णश्च रोचनो दीपनो लघुः।
हन्ति वातकफाध्मानशूलच्छर्दिकृमींस्तथा॥' (स्व.)

'रोचनी वह्निजननी वक्त्रजाड्यनिषूदनी। कफवातहरी बल्या छर्द्यरोचकवारिणी॥' (आ. वि.)

अरोचवैरस्ययकृद्वमिक्रिमिप्रभञ्जनश्लेष्मगदप्रभञ्जनः।
रूक्षस्तथोष्णः सुरभी रजःप्रदः पोदीनकः कल्कविधौ प्रशस्यते॥
(सि. भै. म.)

W. I., VI, 338-46

१६२. मरुवक

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-मेजोराना हार्टेन्सिस (Mojorana hortensis Moench.);

सं०–मरुबक, खरपत्र, प्रस्थपुष्प (बड़े पुष्प वाला); हि०–मरुआ; बं०–मुरुं; म०–मर्मेवा; गु०–मरवो; ता०–मुरुं; ते०–मरुवमु; कन्न०–मरुग; मल०–मरुवमु; अं०–स्वीट मार्जोरम (Sweet marjoram)।

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त, सुगन्धित, बहुवर्षायु **क्षुप** प्रायः १–३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-आयताकार-लट्वाकार, दीर्घवृन्त होते हैं। **पुष्प**-अन्त्य गुच्छों में, छोटे, श्वेत या बैंगनी रंग के आते हैं। **बीज**-छोटे, भूरे, अण्डाकार होने हैं।

उत्पत्तिस्थान—आजकल भारत में यह सर्वत्र पाया जाता है। इसका मूल स्थान युरोप, अफ्रीका तथा एशिया माइनर है।

जाति—भारत में होनेवाली जाति ओरिगेनम वलगेयर (Origanum vulgare Linn.) है जो हिमालय में कश्मीर से सिक्किम तक ७–१२००० फीट की ऊँचाइ पर होती है। प्राचीन मरुबक यही है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील सुगन्धित तैल ०.७–३.५ % तथा एक स्थिर तैल ५.६ % होता है। उड़नशील तैल में कार्वाक्रोल ३६.४, युजिनॉल ६.६, चविकॉल ४.६, डी-लिनालूल ३०.६, मेथिल चविकॉल ३.२, डी-ए-टर्पीनिआल ४.८, कैरियोफाइलिन ७.६ % होते हैं। भारतीय प्रजाति में उड़नशील तैल ०.१५–०.४ % तथा स्थिर तैल २६.२ % होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणरोपण तथा दुर्गन्धनासन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, वातानुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, शिरःशूल, दन्तशूल, व्रण आदि में इसका लेप करते हैं। इससे स्वेदन, उपनाह तथा धूपन भी करते हैं। बिच्छू आदि के दंश में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आध्मान, उदरशूल तथा कृमि में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस ५–१० मि० लि०; तैल–२–५ बूंद; फाण्ट–१०–२० मि० लि०

× × × +

मरुदग्निप्रदो हृद्यस्तीक्ष्णोष्णः पित्तलो लघुः। वृश्चिकादिविषश्लेष्मवातकुष्ठकृमिप्रणुत्॥
कटुपाकरसो रुच्यस्तिक्तो रूक्षः सुगन्धिकः।' (भा. प्र.)

'मरुवः कटुतिक्तोष्णः कृमिकुष्ठविनाशनः। विड्बन्धाध्मानशूलघ्नो मांद्यत्वग्दोषनाशनः॥'
(रा. नि.)

'रुबकः कफहरो रुच्यो मुखसुगन्धकृत्।' (ध. नि.)

१६३. दमनक

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०–आर्टिमिसिया वलगेरिस (Artemisia vulgaris Linn.) सं०–दमनक, तपोधन, गन्धोत्कट, ब्रह्मजट, पुष्पचामर; हि०–दौना; बं०–दोना; म०–दवण; गु०–डमरो।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार सुगन्धित **क्षुप** ६–८ फुट तक ऊँचा होता है। **शाखायें**-अंगुष्ठवत् स्थूल होती हैं। **पत्र**-७ इञ्च लम्बे, चौड़े, खंडित या चीरित, खंड प्रायः आरावत्, अधःस्तल पर श्वेतरोमश, नीचे के पत्र सवृन्त, ऊपर के अवृन्त, सबसे ऊपर के अखंड, रेखाकार–भालाकार होते हैं। पुष्पमुण्डक–$\frac{1}{2}$–$\frac{1}{6}$ इञ्च लंबा, अंडाकार या प्रायः गोलाकार, मंजरियों में गुच्छबद्ध होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के पार्वत्य क्षेत्रों में १२ हजार फीट की ऊँचाई तक में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल ०.२% निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण | **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। विशेषतः उष्ण होने से कफ और वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथहर और वेदनास्थापन हैं। इसका तैल कीट-नाशक है। कीटों को मारने के लिए इसके तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और वातहर है। मस्तिष्क पर इसकी क्रिया कर्पूर की जैसी होती है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, शोथहर और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह उत्तेजक और गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में तथा व्रणशोथ पर इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान-अग्निमांद्य, विष्टम्भ, आध्मान, उदरशूल, यकृद्विकार तथा पित्ताधिक्य में इसे देते हैं। इससे पुरीष के द्वारा अधिक पित्त बाहर निकल जाता है। कृमिरोग में भी दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं। इसमें विशेषतः इसका क्षार लाभकर होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में उपयोगी है। कामोत्तेजना के लिए भी देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे आम का पाचन होता है; पुरीष, स्वेद तथा मूत्र का निर्गम होता है और अंगमर्द शान्त होकर निद्रा आती है।

सात्मीकरण—पाण्डुरोग में इसका प्रयोग लौहभस्म के साथ करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—स्वरस–५–१० मि० लि०; चूर्ण–१/२–१ ग्रा०

× × ×

'दमनस्तुवरस्तिक्तो हृद्यो वृष्यः सुगंधिकः। ग्रहणीविषकुष्ठास्रक्लेदकण्डूत्रिदोषजित् ॥'
(भा. प्र.)

'दमनः स्याद्रसे तिक्तो विषघ्नो भूतदोषनुत्। त्रिदोषशमनो हृद्यः कण्डूकुष्ठापहः स्मृतः ॥'
(ध. नि.)

F. I., II, 325
W. I, I, 123.

१६४. मिश्रेया

परिचय

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०–फीनीक्युलम् वलगेर (Foenieulum vulgare Mill.)। सं०–मिश्रेया, मधुरिका, मधुरा (मधुररसयुक्त); मिशि। हि०–सौंफ; बं०–मौरी; पं०–सोंफ; म०–बड़ी शेप; गु०–वरियाली; ता०–शौम्बु; ते०–सोपु; कन्न०–बड़ीसोपु; अ०–राज़ियानज; फा०–राजियान; अं०–फनेल (Fennel)।

स्वरूप—इसका सुगन्धित **क्षुप** ५–६ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**–पक्षवत्, बहु-विभक्त, अन्तिम विभाग के पत्रक रेखाकार होते हैं। **पुष्प**–छोटे, पीत, अन्त्य संयुक्त मुण्डकों में होते हैं। **फल**–आयताकार, अंडाकार या बेलनाकार, ६–७ मि० मी० लम्बे, सीधे या कुछ मुड़े हुए, हरे या पीताभ भूरे रंग के, पाँच स्पष्ट किन्तु असमान रेखाओं से युक्त, परिखायें एकतैलनलिकीय होती है।

जाति—वन्य और ग्राम्य मिश्रेया में आकृति गन्ध तथा रस के अनुसार अनेक भेदोपभेदों की कल्पना की गई है किन्तु इनमें परस्पर भेद करना कठिन है। व्यापार में इसके दो प्रकार प्रचलित हैं—(१) Var. vulgare (Mill.) Thellung. (२) Var. dulce (Mill.) Thellung. इनके तैल क्रमशः कटु और मधुर होते हैं। भारत में प्रथम प्रकार की ही अधिकाश खेती होती है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र इसकी खेती होती है। गृहप्रांगण में उगाये जाने के कारण 'शालेय' और 'शालीन' इसके पर्याय हैं।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में ·७ से १·२ प्रतिशत तक एक उड़नशील तैल होता है। इसमें एनिथोल (Anethole) नामक मुख्य तत्त्व ५०–६०% होता है। ६–१३% स्थिर तैल भी मिलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—मधुर, कटु, तिक्त
विपाक—मधुर	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर, स्निग्ध होने से वात तथा शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह मेध्य तथा दृष्टिशक्तिवर्धक हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, दीपन, पाचन, अनुलोमन है। मूल रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य तथा रक्तप्रसादन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह योनिशूलहर, स्तन्यजनन तथा वृष्य है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—मधुरविपाक होने से बलवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है.

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा दृष्टिदौर्बल्य में इसका स्वरस देते हैं।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, प्रवाहिका एवं अर्श में प्रयुक्त होता है। प्रवाहिका में देने से आमदोष का पाचन होता है, वायु का अनुलोमन होने से आमदोष बाहर निकलता है तथा मरोड़ कम होती है। मरोड़ कम करने के लिए विरेचन औषधों के साथ भी इसे मिलाते हैं। रेचन में मूल का प्रयोग करते हैं। अनुलोमन होने से अर्श में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—स्तन्याल्पता में और शुक्रवृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य एवं क्षय में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—फल, तैल, मूल।

मात्रा—फलचूर्ण ३–६ ग्रा०; तैल ५–१० बूंद; मूलचूर्ण ३–६ ग्रा०; अर्क २०–४० मि० लि०।

विशिष्ट योग—शतपुष्पादि चूर्ण, शतपुष्पार्क।

× × ×

अन्या शताह्वा वृष्या च सन्तर्पणहिता हिमा ॥
अचिरुग्वातपित्तास्रक्षयघ्नी स्वादुतिक्तला।' (कै. नि.)
तिक्ता स्वादुर्हिमा वृष्या दुर्नामक्षयजित् मिशी।
सन्तर्पणहिता बल्या वातपित्तास्रदोषजित्॥ (ध. नि.)

W. I., II, 52–55.

१६५. शतपुष्पा

परिचय

गणं—आस्थापन (मु०)

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी-Umbelliferae)।

नाम—लै०-एनेथम् सोवा (Anethum sowa Kurz.); सं०-शतपुष्पा (अनेक पुष्प होने से), छत्रा (छत्राकार पुष्प होने के कारण); हि०-सोया; बं०-शलुका, म०-शेपु; गु०-सुवा; ता०-शतकुप्पिविराई; ते०-शतकुप्पिविट्ठुलु; अ०-शिबित्त; अं०-डिल (Dill)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** १–२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-बहुविभक्त, पक्षवत् होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण होते हैं। **फल**-⅙ इञ्च लम्बे, ¹⁄₁₀ इञ्च चौड़े, भूरे, किंचित् सपक्ष होते हैं। तलनलिकायें बड़ी होती हैं। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में ३–४ प्रतिशत सुगन्धित तैल तथा एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण और तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर तथा व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह शुक्रनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—उदरशूल, आध्मान, पक्षाघात, सन्धिवात में इसके तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। कर्णशूल में इसे कान में डालते हैं। शोथवेदनायुक्त अङ्गों में सोया के क्वाथ का उपनाह देते हैं या उससे सेंकते हैं। व्रणों पर इसकी पत्तियों का लेप करने से उनका पाचन शीघ्र होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, वमन, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल तथा कृमि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। बच्चों के उदरशूल में सोये का अर्क सुधोदक के साथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, योनिशूल, कष्टार्त्तव में प्रसूता स्त्रियों को इसका सेवन कराते हैं। स्तन्य कम होने पर भी यह दिया जाता है।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, तैल।

मात्रा—चूर्ण–१-३ ग्रा०; तैल–१-३ बूंद; अर्क–२०-४० मि० लि०।

विशिष्ट योग—अर्क सोया (Dill Water)।

\+ + + +

शतपुष्पा लघुस्तीक्ष्णा पित्तकृद्दीपनी कटुः। उष्णा ज्वरानिलश्लेष्मव्रणशूलाक्षिरोगहृत् ॥'
(भा. प्र.)

'शतपुष्पा कटुस्तिक्ता तीक्ष्णोष्णा दीपनी लघुः।
पित्तला कफवातघ्नी मेध्या स्निग्धा ज्वरापहा ॥
निहन्ति शूलदाहाक्षिरोगतृष्णावमिव्रणान्। (कै. नि.)

F. I., ii, 709.

१६६. नाडीहिङ्गु

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी Rubiaceae)।

नाम—लै०–गार्डिनिया गम्मिफेरा (Gardenia gummifera Linn. f.)। सं०–नाड़ीहिङ्गुः हि०–डिकामाली; ते०–तेलभंपा, ता०–डिकामलपी; कन्न०–डिक्केमल्ली।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** झाड़ीदार, ५-६ फीट ऊँचा, (कभी-कभी १२ फीट तक) होता है। काण्ड और शाखायें टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। **पत्र**—अवृन्त, अभिलट्वाकार या स्फानवत्, १½-३ इंच लंबे होते हैं। कभी-कभी निर्यास पूरी पत्रकलिका को ढँके रहता है। **पुष्प**—बड़े, पीताभ, प्रायः अवृन्त, १½-३½ इंच लंबी कोमल बहिर्दल-नलिका तथा अन्तर्दलनलिका–१-२ इञ्च लंबी, पाँच आयताकार खण्डों से युक्त होती है। **फल**—१-१½ इंच लंबा, मांसल, अंडाकार, बहिर्दलीय चञ्चु से युक्त होता है। अप्रिल मास में जब इसके पत्ते झड़ जाते हैं तब पुष्प आते हैं। जून-अगस्त में फल लगते हैं। शाखाओं में क्षत करने या पत्तों के टूटने से शाखाओं के पृष्ठभाग पर एक पीताभ निर्यास निकलता है जो हवा लगने पर जम जाता है। इसकी गन्ध हींग के समान होती है और यह पीताभ कृष्ण बड़े-बड़े टुकड़ों के रूप में बाजार में 'डिकामाली' (या कम्बी गोंद–Cumbi gum.) के नाम से मिलता है। इसीके सदृश G. lucida Roxb. वृक्ष होता है जिसका निर्यास भी डिकामाली के नाम से चलता है। इसके पत्र बड़े और सवृन्त होते हैं। पुष्प श्वेत होते हैं जो बाद में पीले हो जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पार्वत्य प्रदेश में विशेषतः बम्बई, मध्यभारत, दक्षिण-भारत, चटगाँव और बिहार में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—डिकामाली में ८६.६% राल, ०.१ उड़नशील तैल होता है। इससे एक रंजक द्रव्य गार्डिनिन (Gardenin) निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, व्रणरोपण तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक तथा प्लीहवृद्धिहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक, श्वासहर तथा श्लेष्मपूतिहर है।

त्वचा—यह स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वर-प्रतिवन्धक है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में तथा वेदनायुक्त अङ्गों में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, विबन्ध, आध्मान, गुल्म, उदरशूल, अर्श और कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः गण्डूपदकृमि (Round worm) को मारने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है। प्लीहावृद्धि में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास तथा हिक्का में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर में प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर का वेग शान्त होता है तथा शैत्य, कम्प आदि लक्षण कम होते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—$\frac{१}{४}$-$\frac{१}{२}$ ग्रा०।

× × ×

'नाडीहिङ्गु कटूष्णं च कफवातार्त्तिशान्तिकृत्। विष्टाविबन्धदोषघ्नमानाहामयहारि च॥'

(रा. नि.)

W. I., IV, 108-10.

विष्टम्भी

१६७. पनस

परिचय

कुल—वट-कुल (मोरेसी-Moraceae)।

नाम—लै०-आर्टोकार्पस इण्टेग्रा (Artocarpus integra (Thunb) Merrill.); सं०-पनस, कण्टकिफल (काँटेदार फल वाला); अतिबृहत्फल; आमाशयफल (आमाशयसदृश फलयुक्त); हि०कटहल; बं०-काँटाल; म०-गु०-फणस; ता०-ते०-पीलपलम; कन्न०-हलसु; मल०-चक्का; फा०-चक्की; अं०-जैक ट्री (Jack tree)।

स्वरूप—इसका सघन **वृक्ष** ५०-६० फीट ऊंचा होता है। इसकी छाल से दुग्धवत् निर्यास निकलता है। पत्र-चर्मवत्, अखण्ड, अण्डाकार-आयताकार या अभिलट्वाकार, लम्बाग्र, ४-८ इञ्च लंबे, ऊर्ध्वतल पर गहरे चमकीले हरे होते हैं। पत्रवृन्त-$\frac{१}{२}$-१ इञ्च लम्बा होता है। उपपत्र-स्रुवाकार, भालाकार जो गिरने पर वार्षिक चिह्न छोड़ जाते हैं। **पुष्प**मुण्डक-उपपत्रकोषों में घिरे, अक्षीय या अन्त्य होते हैं। पुंपुष्प-बेलनाकार, २-६ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च व्यास के, वृन्तपत्रकरहित होते हैं। **फल**-१२-३० इञ्च लम्बे, ६-१८ इञ्च व्यास के, ग्रंथिल होते हैं। इनका वजन ५-२५ किलो तक होता है। कच्चे फल की मज्जा श्वेत तथा पके की पीतवर्ण होती है। **बीज**-लगभग १ इञ्च लम्बे, आयताकार या वृक्काकार होते हैं. बीजावरण चर्मवत् होता है। हेमन्तऋतु में पुष्प आते हैं तथा वर्षा में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में विशेषतः उष्णप्रदेश में केरल, बिहार, दक्षिण भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फल में आर्द्रता ७७·२, प्रोटीन १·६, वसा ०·१, कार्बोहाइड्रेट १८·६, सूत्र १·१, खनिज द्रव्य ०·८, कैल्शियम ०·०२, फास्फोरस ०·०३ प्रतिशत; लौह ०·५ मि० ग्रा०, विटामिन ए ५४० इ. यु., विटामिन सी १० मि.ग्रा. होता है। बीज फल के ५·१% होते हैं। इनमें आर्द्रता ५१·६, प्रोटीन ६.६, वसा ०·४, कार्बोहाइड्रेट ३८·४, सूत्र १·५, खनिज १·५, कैल्शियम ०·०५, फास्फोरस ०·१३ प्रतिशत, लौह १·२ मि.ग्रा.। प्रति १०० ग्राम होता है। काष्ठ से एक पीला रंजक पदार्थ मोरिन (Morin) और साइनोमैक्लुरिन (Cyanomaclurin) निकलते हैं। छाल में ३·३% टैनिन होता है। निर्यास में ४२.६-८६·४ प्रतिशत राल होता है। सूखे निर्यास से एक स्फटकीय पदार्थ आर्टोस्टिनोन (Artostenone) पाया गया है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध
रस—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल कषाय-मधुर तथा शीत-स्निग्ध होने से कफवातवर्धक और पित्तशामक है। पका फल वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध शोथहर और व्रणपाचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल गुरु होने से विष्टम्भी है। छाल-कषाय होने से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—पका फल मधुर-स्निग्ध होने से शुक्रवर्धक है।

त्वचा—पत्र तथा छाल त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—पका फल बल्य और बृंहण तथा पत्र विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पका फल वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—ग्रन्थिशोथ तथा व्रणों में इसका दूध लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल का क्वाथ अतिसार में देते हैं। फल विष्टंभी होने से उदररोगों में वर्जित है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल रक्तपित्त में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पका फल उपयोगी है।

त्वचा—पत्र तथा मूल का क्वाथ चर्मरोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—पका फल दौर्बल्य, कृशता में तथा पत्र का क्वाथ विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, पत्र, त्वक्।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मिलि.

× × × ×

'पनसः कण्टकिफलः पनसोऽतिबृहत्फलः। पनसं शीतलं पक्वं स्निग्धं पित्तानिलापहम् ॥
तर्पणं बृंहणं स्वादु मांसलं श्लेष्मलं भृशम्। बल्यं शुक्रप्रदं हन्ति रक्तपित्तक्षतव्रणान् ॥
आमं तदेव विष्टंभि वातलं तुवरं गुरु। दाहकृन्मधुरं बल्यं कफमेदोविवर्धनम् ॥
पनसोद्भूतबीजानि वृष्याणि मधुराणि च। गुरूणि बद्धविट्कानि सृष्टमूत्राणि संवदेत् ॥
मज्जा पनसजो वृष्यो वातपित्तकफापहः। विशेषात् पनसो वर्ज्यो गुल्मिभिर्मन्दवह्निभिः ॥

(भा. प्र.)

'पनसं सकषायं तु स्निग्धं स्वादुरसं गुरु।' (सु. सू. ४६)

W. I. I, 125-6.

B. B. O., III, 895.

F. I., V, 541.

१६८. लकुच

परिचय

कुल—वट-कुल (मोरेसी–Moraceae)।

नाम—लै०-आर्टोकार्पस लकूचा (Artocarpus lakoocha Roxb.); सं०-लकुच, ग्रन्थिफल (फल गाँठदार), हि०-बड़हर; बं०-डेफल मादार; म०-वोटोम्बा; ते०-क्रम्मारेगु; कन्न०-वेटहुलि; अं०-मंकी जैक (Monkey jack)।

स्वरूप—इसका वर्षायुपत्रक, सघन **वृक्ष** २५-३० फुट ऊँचा और ८ फीट तक मोटा होता है। **छाल** खुरदरी, धूसरवर्ण भीतर की ओर लाल होती है। शाखायें रोमश होती हैं। **पत्र**-अंडाकृति, या लट्वाकार ५-१२ इंच लम्बे, २-६ इंच चौड़े, अधस्तल पर रोमश होते हैं। पत्रसिरायें ८-१३ जोड़ी होती हैं। **पुष्पासन**-अक्षीय; पुंपुष्पासन प्रायः अवृन्त, गत वर्ष के अक्ष (Axil) से और स्त्रीपुष्पासन ह्रस्ववृन्त, वर्तमान वर्ष के अक्ष से निकलते हैं। पुंपुष्पासन-नारंगी पीले रंग के, अंडाकार, ¾-१ इंच व्यास के होते हैं। **फल**-प्रायः विषम गोलाकार, २-४ इंच व्यास के, पकने पर पीले, स्निग्धपृष्ठ होते हैं। छाल से श्वेत निर्यास निकलता है। **बीज**-अनेक, लम्बे, श्वेतवर्ण होते हैं। दिसम्बर और अप्रिल में पुष्प आते हैं और मई और अक्टूबर में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय के निचले भाग में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक कुमाऊँ से आसाम तथा विहार, उड़ीसा, मध्य भारत तथा दक्षिण भारत में होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष	**रस**—मधु, अम्ल, कषाय
विपाक—अम्ल	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—कच्चा फल रूक्षता से वायु, अम्ल उष्ण होने से कफ-पित्त का प्रकोप करता है, अतः त्रिदोषकोपक है।

संस्थानिक कर्म-नेत्र—पाचनसंस्थान—इसका पका फल अग्निनाशन और विष्टम्भी है। यह नेत्रों के लिए भी हानिकर है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तदूषक तथा रक्तपित्तकारक है।

प्रजननसंस्थान—अवृष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका फल उपर्युक्त दोषों के कारण फलों में निकृष्ट एवं अहिततम माना गया है। यह प्रायः अग्राह्य है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदररोगों में इसका प्रयोग निषिद्ध है।

अहितनिवारण—इससे उत्पन्न अहित प्रभावों के निवाकरण के लिए अदरख का सेवन करना चाहिए।

× × × ×

'आमं लकुचसुष्णं च गुरु विष्टम्भकृत्तथा। मधुरं च तथाम्लं च दोषत्रितयरक्तकृत् ॥
शुक्राग्निनाशनं वापि नेत्रयोरहितं स्मृतम्। सुपक्वं तत्तु मधुरमम्लं चानिलपित्तहृत् ॥
कफवह्निकरं रुच्यं वृष्यं विष्टम्भकं च तत्।' (भा. प्र.)
'लकुचं तुवरं चाण्णं फलेष्वप्यवरं गुरु। रक्तपित्तं बलासं च कुरुते हरतेऽनिलम्।
पक्वं तु स्वादु विष्टम्भि वृष्यं दोषाग्निवर्धनम्।' (कै. नि.)
'लकुचं फलानां (अहिततमम्)' (च. सू. २७)
'त्रिदोषविष्टम्भकरं लकुचं शुक्रनाशनम्'। (सु. सू. ४६)

W. I., I, 126-7.
F. I., V, 453.
B. B. O., III, 865.

रेचन

(क) मृदुविरेचन

१६९. फल्गु

परिचय

कुल—वट-कुल (मोरेसी-Moraceae)।

नाम—लै०-फाइकस कैरिका (Ficus carica Linn); सं०-फल्गु, राजोदुम्बर, अंजीर; हि०-अंजीर; ता०-ते०-मल०-शिमी-अट्टि; अ०-तीन; फा०-अंजीर; अ०-कामन फिग (Common Fig)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यमप्रमाण, वर्षायुपत्रक, १५-३० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-वटपत्र के समान चौड़े, चर्मवत्, अभिलट्वाकार या प्रायः वृत्ताकार, प्रायः ३-५ खण्डयुक्त, ऊपर रूक्ष और गहरे हरे, नीचे रोमश होते हैं। **पुंपुष्पासन**-दीर्घवृन्त तथा स्त्रीपुष्पासन ह्रस्ववृन्त होते हैं। **फल**-उदुम्बर के समान होता है। इसके पके सुखाये हुए फल माला में गुंथे बाजारों में मिलते है।

जाति—उत्पत्तिस्थान, आकृति तथा वर्णभेद से अनेक प्रकार का होता है। भारत में ब्लैक इश्चिया, ब्राउन टर्की, टर्किश ह्वाइट, काबुल और मार्सेलिस आदि जातियाँ उगाई जाती हैं। लैंगिक आधार पर कामन फिग, कैप्रिफिग, स्मर्ना फिग तथा सैन पेड्रो फिग ये चार जातियाँ होती हैं। भारत में कामन फिग ही होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह एशिया माइनर में कैरिका नामक स्थान का मूल निवासी है। इसी आधार पर इसका लैटिन नाम है। यह मुख्यतः भूमध्यसागरवर्ती देशों में

तुर्की से पुर्तगाल तक उगाया जाता है। अरब, ईरान, चीन, जापान तथा भारत में भी थोड़ा होता है। भारत में यह पूना तथा दक्षिण भारत में वेल्लरी और अनन्तपुर जिलों में इसे उगाया जाता है। पंजाब, उत्तरप्रदेश और मैसूर में भी कुछ लगाया मिलता है।

रासायनिक संघटन—अंजीर का ताजा फल सुस्वादु एवं उत्तम पौष्टिक होता है। इसमें आर्द्रता ८०.८, प्रोटीन १.३, खनिज ०.६, कार्बोहाइड्रेट १७.१, कैल्शियम ०.०६, फास्फोरस ०.०३ प्रतिशत, लौह १.२ मि० ग्रा०, कैरोटीन २७० इ० यु०, निकोटिनिक अम्ल ०.६ मि० ग्रा०, राइबोफ्लेविन ५० मा० ग्रा०, ऐस्कोर्बिक अम्ल २ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० होते हैं। ताजे फलों में १३-२०% तथा सूखे फलों में ४२-६२% शर्करा होती है। निम्बुकाम्ल, सिरकाम्ल आदि ०.१-०.४४%, गोंद, मुसिलेज और पेण्टोजन भी होते हैं। बीजों में ३०% स्थिर तैल होता है। इसके दूध में राल, शर्करा, प्रोटीनविश्लेषक आदि किण्वतत्त्व होते हैं।

हरे कच्चे फलों के स्पर्श से लालिमा और फोड़े उत्पन्न हो जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर-शीत होने से वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोथहर है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन और अनुलोमन है। यकृदुत्तेजक तथा प्लीहवृद्धिहर भी है। अधिक खाने से विष्टम्भी है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तहर है।
श्वसनसंस्थान—स्निग्ध होने से कफनिःसारक हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
त्वचा—वर्ण्य, दाहप्रशमन और विस्फोटशामक है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ में फलों का गरम लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य और विबन्ध को दूर करने के लिए यह प्रसिद्ध है। अर्श, यकृद्वृद्धि, एवं कामला में भी इसका प्रयोग होता है।

प्लीहावृद्धि में अञ्जीर को जामुन के सिरके में १ सप्ताह तक सन्धान करने के बाद सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, सन्धिवात, रक्तपित्त आदि में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में श्वासमार्ग की रूक्षता तथा वक्षदाह को दूर करने के लिए एवं कफ को आसानी से निकालने के लिए इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, वृक्कशूल तथा मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में अन्य शुक्रल द्रव्यों के साथ देते हैं।

त्वचा—वर्णविकार, दाह तथा मसूरिका आदि विस्फोटयुक्त विकारों में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य के लिए हितकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—२-३ दाने।

× × × ×

'तर्पणं बृंहणं फल्गु गुरु विष्टम्भि शीतलम्।' (च. सू. २७)

'विष्टम्भि मधुरं शीतं फल्गुजं तर्पणं गुरु।' (सु. सू. ४६)

'अञ्जीरं शीतलं स्वादु गुरु पित्तास्रवातजित्। तस्मादष्टगुणं ज्ञेयमञ्जीरं लघु तद्गुणैः ॥' (म. नि.)

W. I., IV. 26-32.

B. B. O., III, 879.

१७०. अतसी

परिचय

कुल—अतसी-कुल (लिनसी-Linaceae)।

नाम—लै०-लिनम् युसिटेटिसिमम् (Linum usitatissimum Linn.); सं०-अतसी, नीलपुष्पी, क्षुमा; हि०-तीसी, अलसी; बं०-मशिना; म०-जवसु; गु०-अलसी; ता०-आलिसिडिराई; ते०-अतसी; अ०-कत्तानः फा०-जागिरा; अं०-लिनसीड (Linseed), फ्लैक्स (Flax)

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-रेखाकार-आयताकार, आधार पर तीन सिरायुक्त होते हैं। **पुष्प**-अन्त्य मंजरियों में, नीलवर्ण, ·७-१ इञ्च व्यास के होते हैं। **फल**-बहिर्दल जितने लंबे, पंचकोष्ठीय होते हैं, प्रत्येक कोष्ठ में दो बीज होते हैं। **बीज**-कृष्णाभ भूरे रंग के, चपटे, अंडाकार, चमकदार होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल होते हैं। फरवरी-मार्च में फलों के सूखने पर संग्रह करते हैं।

जाति—देशभेद से इसकी दो जातियाँ हैं—१. उत्तरी (Gangetic type) यह उत्तरी भारत में होता है। इसका मूल छोटा, बीज छोटे और अल्पतैलीय होते हैं। २. दक्षिणी (Peninsular type)-यह दक्षिण में होता है। इसकी जड़ लंबी गहरी, बीज बड़े और बहुतैलीय होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत में मुख्यतः बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश में इसकी खेती की जाती है। बीजों से तैल और डंठल से सूत्र निकालते हैं।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३५-४५ प्रतिशत स्थिर तैल होता है। इसके अतिरिक्त, आर्द्रता ६·६, प्रोटीन २०·३, कार्बोहाइड्रेट २८·८, सूत्र ४·८, खनिज २४, कैलशियम ०·१७, फास्फरस ०·३७ प्रतिशत; लौह २·७ मि० ग्रा० / प्रति १०० ग्राम; विटामिन ए ५० इ० यु०, विटामिन ई ४·७ मि० ग्रा०/प्रति १०० ग्राम तथा कुछ विटामिन बी होता है। बीजों में एक विषाक्त ग्लुकोसाइड, लिनामेरिन (Linamarine) तथा दो अन्य ग्लुकोसाइड होते हैं। यह विषाक्त पदार्थ मूल, काण्ड, पत्र और पुष्प में भी पाया जाता है जिसके कारण इसे खानेवाले पशुओं की मृत्यु हो जाती है। इसकी राख (३·६९ प्रतिशत) में सोडियम, पोटाशियम, कैलशियम, मैगनिशियम, लौह, फास्फोरस, गन्धक आदि तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—मधुर, तिक्त

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-उष्ण होने से वातशामक तथा कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—अलसी का गरम लेप व्रणशोथ को शान्त करता है या उसको शीघ्र पका देता है। गम्भीर अवयवों में स्थित शोथ को भी यह शान्त करता है। इसका तैल स्नेहन और वातशामक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—भूनी हुई तीसी कषाय और ग्राही है। इसका तेल अनुलोमन होता है।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्य हैं।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण होने से उत्तेजक किन्तु शुक्रनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ में इसकी पुल्टिस बाँधते हैं। फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल आदि में भी इसका लेप करते हैं। तैल का अभ्यंग वातविकारों, चर्मरोगों

और दौर्बल्य में करते हैं। व्रणों में भी लगाते हैं। चूने के पानी के साथ मिलाकर अग्निदग्ध पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी आदि में भूनी हुई तीसी का चूर्ण देते हैं। विबन्ध, आनाह और अर्श में इसका तैल ५ मि० लि० की मात्रा में पिलाते हैं। अधरगुद के अवरोध में इसके तैल की बस्ति देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसके पुष्प हृद्रोगों में प्रयुक्त होते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में इसके बीजों का पानी में लुआब बना कर देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, बस्तिशोथ, पूयमेह आदि में इसका फाण्ट प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजक के रूप में इसके बीजों का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, तैल, पुष्प।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०, तैल ५–१० मि० लि०, पुष्पकल्क ३–६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—अतस्यादि लेप।

× × ×

अतसी मधुरा तिक्ता स्निग्धा पाके कटुर्गुरुः। उष्णा दृक्शुक्रवातघ्नी कफपित्तप्रकोपिणी॥'

(भा. प्र.)

आतस्यं मधुराम्लं तु विपाके कटुकं तथा। उष्णवीर्यं हितं वाते रक्तपित्तप्रकोपणम्॥

(च. सू. २७)

'अतसीतैलमाग्नेयं स्निग्धोष्णं कफपित्तकृत्। कटुपाकमचक्षुष्यं बल्यं वातहरं गुरु॥
मलकृद्रसतः स्वादु ग्राहि त्वग्दोषहृत् घनम्। बस्तौ पाने तथाभ्यंगे नस्ये कर्णस्य पूरणे॥
अनुपानविधौ चापि प्रयोज्यं वातशान्तये।' (भा. प्र.)

W. I., VI, 119–140

B. B. O., I, 155

१७१. अश्वगोल

परिचय

कुल—अश्वगोल-कुल (प्लैण्टेजिनेसी–Plantaginaceae)।

नाम—लै०-प्लैण्टेगो ओवेटा (Plantago ovata Forsk.)। सं०–अश्वगोल, ईषद्गोल (डिम्बाकृति बीज होने से); अश्वकर्ण–बीज (घोड़े के कान के सदृश बीज), शीतबीज (शीतलबीज), ईश्वरबोल। हि०–इसबगोल; गु०–उमतो जीरू, घोड़ा जीरू; ता०–इसकोल विरइ, ते०–इसपगोल विट्टुलु; कन्न०–इसपगोलु मल०–कर्कटशृङ्गी; अ०–बज्रकतूना; फा०–अस्पगोल; अं०–स्पोगल सीड्स (Spogel seeds)।

स्वरूप—यह एक प्रायः काण्डरहित रोमश वर्षायु क्षुप होता है। **पत्र**–३–९ इञ्च लंबे, अखण्ड या दूर-दूर पर दन्तुर होते हैं। इनमें तीन सिरायें होती हैं। पत्रकोष–चिकने या रोमश; **पुष्पध्वज**–अण्डाकार या बेलनाकार; कोणपुष्पक चौड़े किनारों वाले, लट्वाकार–आयताकार, गोलाग्र, चिकने होते हैं। बहिर्दल के खण्ड गोले, नतोदर, गोलाग्र होते हैं। **फल**–अण्डाकार, ८ मि.मी. लंबे, गोलाग्र, ऊपरी आधा भाग शंक्वाकार ढक्कन के रूप में हो जाता है। **बीजकोष**–द्विकोष्ठीय होता है और प्रत्येक कोष्ठ में एक बीज होता है बीज–नौकाकार होते हैं जो देखने में घोड़े के कान के सदृश मालूम होते हैं। इसी आधार पर इसका फारसी नाम अस्प (घोड़ा) गोल (कर्ण) है। बीजावरण श्वेत होता है किन्तु बीजमज्जा गहरे लाल होने के कारण बीज हलके गुलाबी रंग के दिखाई पड़ते हैं। पानी में भिगोने से ये गन्ध और स्वाद रहित प्रचुर लुआब से भर जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसबगोल भूमध्यसागरीय क्षेत्र तथा पश्चिमी एशिया का मूल निवासी है। भारत में इसकी खेती व्यापारिक स्तर पर उत्तरी गुजरात के मेहसाना और बनासकाठा जिलों में होती है। कुछ पंजाब (पटियाला और हिसार जिले) और उत्तर प्रदेश में भी होता है। अक्टूबर–दिसम्बर में बीज बोये जाते हैं और ३½–४ मास बाद जब फलमंजरी लाल पड़ जाती है तब उसे काट कर बीजों को पृथक् कर लेते हैं। बीजों में मुख्य भाग उसकी लुआबदार भूसी होता है जो एक पतली सफेद जाली के सदृश बीजों के नतोदर पृष्ठ को ढँके रहती है। अतः बीजों का मर्दन कर चलनी से भूसी को पृथक् कर लेते हैं। लगभग २६–२७ प्रतिशत भूसी निकलती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३०% म्युसिलेज (पिच्छिल द्रव्य) होता है जो पूरा भूसी में होता है। म्युसिलेज जाइलोज (Xylose), अरेबिनोज (Arabinose) और गैलेक्टुरोनिक अम्ल (Galecturonic acid) से बना होता है। रैमनोज (Rhanose) और गैलेक्टोज (Galactose) भी होते हैं। बीजों में म्युसिलेज के अतिरिक्त एक स्थिर तैल (५%), आकुबिन (Aucubin), टैनिन तथा एसिटिलकोलिन के सदृश क्रिया करने वाला एक तत्त्व होता है। बीजमज्जा में १४·७ प्रतिशत एक लिनोलिक अम्ल-बहुल तैल होता है जिसमें कोलेस्टरोल घटाने (मेदोहर) की क्षमता होती है। इसमें लुआब (म्युसिलेज) इतना होता है कि १ भाग बीज २० भाग जल में थोड़े ही समय रखने से पिच्छा (जेली) के रूप में परिणित हो जाता है।

अपमिश्रण—इसबगोल की अन्य प्रजातियाँ यथा P. major, P. lanceolata, P. arenaria आदि के बीज इसके साथ मिलाये जाते हैं। Salvia aegyptiaca Linn. के बीज जो लुआबदार होते हैं भी इसमें मिलाये जाते हैं।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु, पिच्छिल **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषप्रयोग—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा मधुर-शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और शामक है। स्निग्धता के कारण यह अन्ननलिका की रूक्षता को दूर करता है और पिच्छिलता के कारण अन्त्रगति बढ़ा कर मल को बाहर निकालने में सहायक होता है। यह जीवाणुओं की वृद्धि को रोकता है, जीवाणुज विषों का शोषण करता है और अन्त्रगत क्षतों के ऊपर एक पिच्छिल आवरण बना देता है जिससे उनके ऊपर क्षोभक पदार्थों का प्रभाव नहीं पड़ने पाता। भुना हुआ बीज ग्राही है। तृष्णा-निग्रहण भी है।

श्वसनसंस्थान—यह स्नेहन और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन और स्नेहन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और बृंहण है।

त्वचा—शीत होने से दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह वातपैत्तिक शिरोरोग, शोथ, विसर्प, विस्फोट आदि में लेप के रूप में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—थोड़ा सा गाय का घी लगा, जरा सा भून कर अतिसार और प्रवाहिका में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह शुष्क कास में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और कृशता में भी देते हैं।

त्वचा—दाह की शान्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है। ज्वर में विशेषतः पैत्तिक ज्वर में सन्ताप, तृष्णा, ज्वर आदि की शान्ति के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज और बीज का छिलका (भूसी)।

मात्रा—५-१० ग्रा०।

प्रयोगविधि—

१. बीजों या भूसी को साफ कर एक कप पानी में छोड़ देते हैं और इसे खूब हिला कर पी जाते हैं।

२. बीजों या भूसी को एक कप पानी में डाल कर लगभग २-३ घंटे तक छोड़ देते हैं। जब पूरा लुआब बन जाय तब चीनी मिला कर खा जाय।

अहित प्रभाव—अधिक प्रयोग से गुरुता के कारण इससे अग्निमान्द्य हो जाता है।

निवारण—इस दोष के निवारण के लिए इसके साथ अरिष्ट, आसव का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

अश्वगोल्मश्वकर्णबीजं च स्निग्धजीरकम्। अश्वगोलं गुरु स्वादु स्निग्धं शीतं च पिच्छिलम्॥
स्नेहनं मूत्रजननं श्लेष्मनिःसारणं परम्। दाहतृष्णाहरं बल्यं ज्वरघ्नं चाथ शस्यते॥
प्रवाहिकातिसारामदाहतृष्णाज्वरादिषु। वातपित्तामये कासे दौर्बल्ये मूत्रकृच्छ्रे॥ (स्व०)

W. I., III, 148-513.
F. J., IV, 707.
I. P., 379-80.

(ख) सुखविरेचन

१७२. स्वर्णपत्री

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—पूतिकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिऑयडी-Caesalpinioidae)।

नाम—लै०-कैसिया ऐंगुस्टिफोलिया (Cassia angustifolia Vahl.)। सं०-स्वर्णपत्री। हि०-सनाय, बं०-सन्नामक्की, सोनपात; म०-सोनामखी; गु०-मींढ की सना; ता०-निलाविराई; ते०-नेलतगेडु; कन्न०-नेलवरिके; मल०-निलवक; अ०-सनाय मक्की; अं०- इण्डियन सेन्ना (Indian Senna)।

स्वरूप—इसका सीधा **गुल्म** २-३ फुट ऊंचा होता है। **पत्र**-समपक्षवत्; **पत्रक**-५-८ जोड़े, आयताकार-भालाकार, तीक्ष्णाग्र, १-२ इंच लम्बे, ०·२-०·६ इंच चौड़े, चिकने, पीताभ हरित वर्ण होते हैं। **फली**-प्रायः सीधी, आयताकार, १·४-२·८ इंच लम्बी, ०·८ इंच चौड़ी, भूरे रङ्ग की होती है जिसमें ५-७ अभिलट्वाकार, गहरे भूरे प्रायः चिकने बीज होते हैं।

जाति—इसके अतिरिक्त बम्बई मक्का या अरबी सनाय अरब से आता है। इसकी पत्तियाँ लम्बी-सँकरी और भूरे रंग की होती है। एक सिकन्दरी सनाय भी

होता है जो अफ्रीका और सूडान से C. acutifolia Delile पौधे से प्राप्त होता हैं। इसकी पत्तियाँ छोटी होती हैं।

संग्रहविधि—तीन-पाँच मास का जब पौधा हो जाता है तो पुष्पदंडों को काट दिया जाता है जिससे अगल-बगल शाखायें निकलें। जब पत्तियाँ पूर्ण प्रौढ़ हो जाती हैं जिससे वे मोटी और नीलाभ हो जाँय तो उन्हें हाथ से तोड़ कर छाया में ७-१० दिनों तक सुखाकर रख लेते हैं। एक मास के बाद दुबारा पत्तियाँ तोड़ते हैं और उसके बाद पौधे को फूलने-फलने देते हैं।

उत्पत्तिस्थान—सनाय अफ्रीका (सोमालीलैंड) और अरब का मूल निवासी है। दक्षिण भारत में विशेषतः मद्रास के तिनेवेली, मदुरा, त्रिचनापल्ली जिले और मैसूर में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों से फ्लेवेनॉल और ऐन्थ्राक्विनोन ग्रूप के यौगिक पाये गये हैं। पहले ग्रूप में आइसोर्हैमनेटिन (isorhamnetin) और किम्फेराल (Kaempferol) तथा दूसरे में रीन (Rhein) और कुछ एमोडिन (emodin) होते हैं। इसमें दो ग्लाकोसाइड, सेनोसाइड ए और बी (Sennoside A & B) भी पाये गये हैं जो मुख्यतः विरेचक तत्त्व कहे जाते हैं। इनके अतिरिक्त, मैनिटाल, सोडियम पोटाशियम टार्टरेट, सैलिसिलिक एसिड, क्राइसोफेनिक एसिड, एक उड़नशील तैल, राल, कैलशियम आक्जलेट पाये जाते हैं। पुष्पों में क्राइसोफैनिक अम्ल होता है।

अपमिश्रण—सनाय में पत्तियों के डंठल, काण्ड तथा अन्य प्रजातियों, C. obovata आदि के पत्र और फल मिलाये जाते हैं। इनकी पहचान अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा हो जाती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त, मधुर, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशोधक तथा वातानुलोमन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप लेखन और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन और स्रंसन है। यकृत् को भी उत्तेजित करता है। इसके सेवन से अन्त्र की गति और स्राव दोनों बढ़ जाते हैं जिससे पीले पतले दस्त आते हैं। अधिक मात्रा में देने से आँतों में मरोड़ होने लगती है। इसको रोकने के लिए साथ में सौंफ आदि मिला कर देते हैं। यह क्रमिघ्न भी है और क्रमियों को मार कर बाहर निकाल देता है। फली की क्रिया पत्ती के समान होती है किन्तु इससे मरोड़ कम होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तरोगों में शोधनार्थ तथा वायु के अनुलोमनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसकी पत्ती सिरके में पीस कर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आनाह और विबन्ध को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः ज्वर, गुल्म, उदर, आमवात, वातरक्त तथा अन्य पैत्तिक विकारों में इसका जुलाब देते हैं। क्रमिरोग में भी यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र और फल।

मात्रा—चूर्ण-०·६-२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—षट्सकार चूर्ण; यष्ट्यादि चूर्ण।

प्रयोगविधि—सनाय के प्रयोग से हृल्लास, मरोड़, तृष्णा आदि उपद्रव होते हैं। इन्हें दूर करने के लिए उसके चूर्ण के साथ सोंठ, सौंफ, गुलकन्द, सेंधानमक या मिश्री मिलाते हैं।

वक्तव्य—यह शरीर के सभी स्रावों से बाहर निकलता है। माता के स्तन्य से भी बाहर निकलने के कारण शिशु पर इसका प्रभाव होता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। शिशु को यदि विरेचन कराना हो तो माता को सनाय का चूर्ण देने से काम चल जाता है।

× × × ×

कल्याणी हेमपत्री च रेचनी स्वर्णपत्रिका। विट्संगं वह्निमांद्यं च यकृद्दाल्युदरं तथा॥
प्लीहोदरं बद्धगुदमजीर्णं विषमज्वरम्। कामलां पाण्डुरोगं च कल्याणी नाशयेद् ध्रुवम्॥
(आ. वि.)

रूक्षोष्णा शोधनी वाढं वातश्लेष्मविरोधिनी। शस्ता सनायकी नाम मनाक् पीततनुच्छदा॥
(सि. भे. म.)

F. I., II, 264.
W. I., II, 93-96.
I. P., 647-49.

१७३. त्रिवृत्

परिचय

गण—भेदनीय (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—त्रिवृत्-कुल (कन्वॉल्वुलेसी-Convolvulaceae)।

नाम—लैं०-ओपर्क्युलिना टर्पेथम् (Operculina turpethum (Linn.) Silva Manso); सं०-त्रिवृत् (काण्ड त्रिकोणाकार तथा त्रिपक्ष युक्त होने से); त्रिभण्डी, त्रिपुटा, सरला, सुवहा, रेचनी। हि०-निशोथ, पितोहरी; बं०-तेउड़ी; म०-निशोत्तर; गु०-नसोतर; ता०-शिवर्द, चिवर्त; ते०-तेगड़; कन्न०-विलितिगडे; मल०-त्रिवक; उ०-दुधोलोमो; अ०-तुर्बुद; अं०-टर्पेथ (Turpeth); इण्डियन जालप (Indian jalap)।

स्वरूप—इसकी बड़ी, बहुवर्षायु, सदुग्ध वल्ली होती है। **काण्ड**-सरल, त्रिकोण या चतुष्कोण, पक्षयुक्त और रोमश होता है। **पत्र**-अनेक आकृति के लट्वाकार या आयताकार, २-५ इञ्च लम्बे, पत्रवृन्त १ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्पमञ्जरी**-१-४ इञ्च लम्बी ३-५ शाखायुक्त होती हैं जिसमें घंटिकाकार श्वेत पुष्प लगते हैं। कोण-पुष्पक-१ इञ्च लम्बे, आयताकार, प्रायः गुलाबी, कलिकायुष्क होते हैं। बहिर्दल ३/४ इञ्च लम्बे, लट्वाकार होते हैं जो फल में बड़े हो जाते हैं। अन्तर्दल-नलिका-११/२ इञ्च लम्बी और ११/२-२ इञ्च व्यास की होती हैं। परागाशय ऐंठे हुए होते हैं। **फल**-गोलाकार, १/२-३/४ इञ्च व्यास के, प्रायः ४ काले चिकने २ इञ्च लम्बे बीजों से युक्त होते हैं। फल बीच में फट जाता है जिससे गोलाकार पारदर्शक द्विकोष्ठीय अन्तर्मज्जा दिखने लगती है। **मूल**-स्थूल, शाखायुक्त, कृष्णाभ या अरुण होता है। पुष्प तथा फल मार्च-दिसम्बर में लगते हैं।

जाति—चरक के मत से इसका मूल दो प्रकार का होता है :—(१) अरुण और (२) श्याम/श्याम की अपेक्षा अरुणाभ त्रिवृत् उत्तम और सुखविरेचन मानी गई है। कृष्ण त्रिवृत् तीव्रविरेचन है। व्यवहार में आजकल दो प्रकार की निशोथ मिलती है एक काली और दूसरी सफेद। सफेद निशोथ वस्तुतः मूर्वा (Marsdenia tenacissima) का त्वक्रहित मूल और काण्ड हैं। इसमें विरेचन कार्य भी नहीं है। काली निशोथ वास्तविक त्रिवृत् है। अतः त्रिवृत् एक ही है, उसके मूल अवस्थाभेद से दो वर्ण के बतलाये गये हैं अत्यन्त प्रौढ़ कृष्णवर्ण तथा उससे कुछ न्यून अरुणाभ है। संहिताओं में जो त्रिवृत् के साथ श्यामा वनस्पति आती है वह पृथक् ओषधि है जो उसी कुल की श्याममूला कोई लता प्रतीत होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसकी मूलत्वक् में एक ग्लाइकोसाइडमय राल १०% तक होती है जो भूरे-पीले रंग की, निर्गन्ध तथा तिक्तकटुरस है। इसमें टर्पेथिन (Turpethin) नामक एक ग्लुकोसाइड होता है जिसके कारण रेचन की क्रिया होती है। इसके अतिरिक्त दो और ग्लाइकोसाइड, उड़नशील तैल, पीत रंजक द्रव्य, होते हैं। यह राल विदेशी जालप (Exogonium purga) की राल के समान कार्यकारी होता है और उसका उत्तम प्रतिनिधि है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह भेदन और रेचन है। सुखविरेचन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम माना गया है। यह जलापा के समान कर्म करता है और इससे पेट में मरोड़ होकर पीले रंग के पतले दस्त आते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—जीर्ण आनाह, विबन्ध, अर्श और कामला में इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः उदररोग, वातरक्त, आमवात, कास-श्वास और शोथरोग में रेचन के लिए दिया जाता है। इससे पुरीष के द्वारा दोष बाहर निकल जाते हैं। अर्श में इसके मूल का सेवन त्रिफलाक्वाथ से करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में यह उपयोगी है। इससे द्रवांश शरीर के बाहर निकल कर शोथ कम हो जाता है।

तापक्रम—ज्वर में इसका मूलचूर्ण मधु के साथ देते हैं।

सात्मीकरण—अतिस्थौल्य में इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण १-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—त्रिवृदादिचूर्ण, त्रिवृदादिगुडिका, त्रिवृदादिक्वाथ, त्रिवृदादि-घृत।

प्रयोगविधि—(१) कृष्ण त्रिवृत् तीव्र होने के कारण मूर्च्छा, दाह, भ्रम आदि उपद्रव करती है, अतः सावधानी से उसका प्रयोग करें।

(२) मूल के भीतर का काष्ठ भाग हटा कर त्वक्मात्र का प्रयोग करना चाहिए।

(३) मरोड़ न हो, इसके लिए उसके साथ सोंठ, सौंफ आदि सुगन्धित द्रव्य तथा सैन्धव या मिश्री मिलाते हैं।

संग्रहविधि—प्रशस्त भूमि में उत्पन्न, गम्भीर, श्लक्ष्ण तथा सरल मूल को लेकर उसके भीतरी काष्ठ को हटा दे और त्वचा को सुखा कर रख ले।

× × × ×

'त्रिवृत् सुखविरेचनानाम् ।' (च. सू. २५)

'विरेचने त्रिवृन्मूलं श्रेष्ठमाहुर्मनीषिणः ।' (च. क. ७)

'कषाया मधुरा रूक्षा विपाके कटुका च सा । कफपित्तप्रशमनी रौक्ष्याच्चानिलकोपनी ॥
सेदानीमौषधैर्युक्ता वातपित्तकफापहैः । कल्पे वैशेष्यमासाद्य सर्वरोगहरा भवेत् ॥
मूलं तु द्विविधं तस्याः श्यामं चारुणमेव च । तयोर्मुख्यतरं विद्धि मूलं यदरुणप्रभम् ॥
सुकुमारे शिशौ वृद्धे मृदुकोष्ठे च तच्छुभम् । मोहयेदाशुकारित्वाच्छ्यामा कण्ठं क्षिणोत्यपि॥
तैक्ष्ण्यात् कर्षति हृत्कण्ठमाशु दोषं हरत्यपि । शस्यते बहुदोषाणां क्रूरकोष्ठाश्च ये नराः॥
गुणवत्यां तयोर्भूमौ जातं मूलं समुद्धरेत् । उपोष्य प्रयतः शुक्ले शुक्लवासाः समाहितः ॥
गम्भीरानुगतं श्लक्ष्णमतिर्यग्विसृतं च यत् ।
तद् विपाट्योद्धरेद् गर्भं त्वचं शुष्कां निधापयेत् ॥' (च. क. ७)

श्वेता त्रिवृद्रेचनी स्यात् स्वादुरुष्णा समीरकृत् । रूक्षा पित्तज्वरश्लेष्मपित्तशोथोदरापहा ॥'
'श्यामा त्रिवृत्ततो हीनगुणा तीव्रविरेचनी । मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी ॥
(भा. प्र.)

'त्रिवृदुष्णा कटुस्तिक्ता रूक्षा स्वाद्वी विरेचनी । कषाया कटुका पाके वातला कफपित्तहा ॥'
ज्वरशोफोदरप्लीहपाण्डुव्रणविनाशिनी ।' (कै. नि.)

'त्रिवृता कटुरुष्णा च कृमिश्लेष्मोदरज्वरान् ।
शोफपाण्ड्वामयप्लीहान् हन्ति श्रेष्ठा विरेचने ॥' (ध. नि.)

W. I., VII, 96–97.
F. I, IV, 212.
B. B. O., II, 629.

१७४. कृष्णबीज

परिचय

कुल—त्रिवृत्-कुल (कॉन्वॉल्वुलेसी–Convolvulaceae) ।

नाम—आइपोमिया निल (Ipomoea nil (Linn.) Roth.); सं०-कृष्णबीज; हि०-काला दाना, झारमरिच; बं०-काला दाना; म०-गु०-काला दाणा; ता०-कक्कटन; ते०-कोल्लि; कन्न०-गनरीबीज; उ०-खनिखोंडो; अ०-हब्बुन्नील; फा०-तुख्मे नील; अं०-फार्बिटिस सीड्स (Pharbitis seeds) ।

स्वरूप—इसकी बड़ी, रोमश, कोमल वल्ली होती है। **काण्ड**-पतला होता है और उस पर पीछे की ओर मुड़े हुए सघन लम्बे रोम होते हैं। **पत्र**-रोमश, लट्वाकार-ताम्बूलाकार, ३-५ इञ्च लंबे, प्रायः त्रिखंड होते हैं। **पुष्प**-चमकीले

नीले या गुलाबी, १½-२ इञ्च लम्बे, फनेल के आकार के, बहुत लम्बे बहिर्दल से युक्त प्रायः एक साथ १-५ की संख्या में रहते हैं। बहिर्दल फल में बढ़े नहीं होते तथा परागाशय भी मुड़े नहीं होते। **फल**-अंडाकार, गोलाकार, चिकना, ३ इञ्च लम्बा होता है। **बीज**-४ या ६, काले (नाभि पर भूरे) चिकने, कोणीय, ⅓-¼ इञ्च लम्बे होते हैं। १०० बीजों का वजन ३-४ ग्राम होता है। इसका स्वाद पहले मधुर, फिर कटु और अरुचिकर होता है। बीजमज्जा श्वेतवर्ण होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तथा हिमालय में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में १४-१५% एक रालीय पदार्थ होता है जिसमें ग्लाइकोसाइडीय और अ-ग्लाइकोसाइडीय दो अंश होते हैं। रेचन शक्ति अग्लाइकोसाइडीय अंश में होती है जो २५० मि० ग्रा० की मात्रा में बहुत रेचन करता है। यह कार्यकारी अंश २% होता है। इस राल के अतिरिक्त, बीजों में १२.४% स्थिर तैल और कुछ सैंयोनिन, म्युसिलेज और टैनिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—कटु, मधुर
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह निशोथ के समान रेचन कर्म करता है और इससे पानी के समान दस्त आते हैं। साथ में हृल्लास और मरोड़ भी होते हैं। यह जालप के प्रतिनिधि के रूप में व्यवहृत होता है। यह कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह उदररोग, शोथ, ज्वर, विबन्ध, शिरःशूल, उदावर्त्त आदि रोगों में रेचनार्थ प्रयुक्त होता है। कृमिरोग में भी इसे देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात, शोथ आदि में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—चूर्ण-१–३ ग्रा०

विशिष्ट योग—कृष्णबाजादि चूर्ण ।

प्रयोगविधि—बीजों को पके बालू में भूनकर चूर्ण कर ले और चीनी मिला कर प्रयोग करे । हृल्लास और मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ गुलकंद, हरीतकी, सौंफ आदि मिलाना चाहिए ।

\+ \+ \+

'रेचनं श्यामबीजं स्याच्छोथोदरविनाशनम् । ज्वरे पुरीषसंगे च दारुणे शिरसो गदे । उदावर्त्ते तथानाहे बुधैरेतत् प्रयुज्यते ॥' (आ० वि०)

विड्जन्तुजालक्षपणान्यपानावर्त्तोदरातंकनिषूदनानि ।

कटूनि सोष्णानि विपाचनानि बीजानि कालाञ्जनिकाजनूंषि ॥ (सि० भे० म०)

W. I., V, 249-50.

B. B. O, II, 631.

१७५. स्वर्णक्षीरी

परिचय

गण—भेदनीय (च०); अधोभागहर, श्यामादि, व्रणशोधन (सु०) ।

कुल—अहिफेन-कुल (पापावरेसी-Papaveraceae) ।

नाम—लै०-आर्जिमोन मेक्सिकाना (Argemone mexicana Linn.); सं०-स्वर्णक्षीरी (सुवर्णसदृश पीतदुग्ध युक्त); काञ्चनक्षीरी, पीतदुग्धा, कटुपर्णी (पत्र कटुरस); हिं०-सत्यानाशी, भड़भांड़, कँटैला; बं०-शियालकाँटा; म०-कांटेधोत्रा; गु०-दारुडी; ता०-कुडियोट्टि; ते०-इट्टूरि; कन्न०-दत्तुरि; मल०-पोन्नुम्माट्टम अं०-मेक्सिकन पॉपी (Mexican Poppy) ।

स्वरूप—इसका वर्षायु क्षुप-२–३ फीट ऊँचा कंटकित होता है । इसे तोड़ने से पीतवर्ण दुग्ध निकलता है । **पत्र**-लंबे, कंटकित, अर्ध-काण्डसंसक्त और उनके किनारे कटे हुए होते हैं । पत्र में श्वेत रेखायें पाई जाती हैं । **पुष्प**—चमकीले रंग के, २ इञ्च व्यास के होते हैं । **फल**—१–१½ इञ्च लम्बे होते हैं । **बीज**—कृष्णवर्ण, राई के सदृश, अनेक होते हैं । इसके मूल को 'चोक' कहते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल निवासस्थान अमेरिका है, संप्रति समस्त भारत में पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—पौधे में बर्बेरिन (Berberine) और प्रोटोपिन (Protopine) नामक क्षाराभ होते हैं । बीजों में २२–३६ प्रतिशत अरुचिकर, तिक्त स्थिर तैल होता है । बीजों की मिलावट सरसों और राई में करते हैं । तेल में इसकी उपस्थिति होने पर सान्द्र नत्रकाम्ल डालने पर नारंगी लाल रंग उत्पन्न होता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—तिक्त
वीर्य—कटु	**विपाक**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका दूध, पत्रस्वरस तथा बीज तैल व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा कुष्ठघ्न है । इसके मूल का लेप शोथहर और विषघ्न है । बीज वेदनास्थापन है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका मूल तथा बीजों का तैल रेचन है । यह हृल्लासकारक है और कभी-कभी वमन हो जाता है । मूल कृमिघ्न है ।

रक्तवहसंस्थान—इसके मूल का स्वरस रक्तशोधक है तथा दुग्ध शोथहर है ।

त्वचा—कुष्ठघ्न है ।

तापक्रम—मूल तथा दुग्ध विषमज्वरघ्न है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा चर्मरोगों में स्वरस, दूध या बीजतैल लगाते हैं । शोथ और विष (बिच्छू आदि के) में मूल का लेप करते हैं । बीजों का लेप या बीजतैल का अभ्यंग सन्धिवात आदि में लाभकर है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध, आनाह, उदरशूल आदि में बीजतैल या मूल का प्रयोग होता है । मूल का चूर्ण ३–४ ग्रा० की मात्रा में कृमिरोग (विशेषतः स्फीतकृमि) में देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, उपदंश, शोथ में दुग्ध तथा मूलस्वरस का प्रयोग होता है ।

त्वचा—कुष्ठरोग में उपयोगी है ।

तापक्रम—विषमज्वर और दाह में दुग्ध और स्वरस प्रयुक्त होते हैं ।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, क्षीर, तैल ।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०, क्षीर-५–१० बूंद, तैल १०–३० बूंद, स्वरस ५–१० मि. लि. ।

वक्तव्य—सुश्रुत ने चि० ८ भगन्दर-प्रकरण में 'काञ्चनक्षीर्यौ' ऐसा द्विवचनान्त पाठ दिया है । इससे स्पष्टतः पीले दूध वाली दो ओषधियों का संकेत है । सत्यानाशी (A. mexicana) विदेशी पौधा है अतः यह संहितोक्त स्वर्णक्षीरी नहीं हो सकता । प्राचीन स्वर्णक्षीरी कश्मीर में होने वाली हिरवी (Euphorbia thom-

soniana Boiss.) है। सत्यानाशी उसके प्रतिनिधि रूप में व्यवहृत होती है। जहाँ द्विवचनान्त पाठ हो वहाँ इन दोनों का ग्रहण करना चाहिए।

× × ×

'हेमाह्वा रेचनी तिक्ता भेदन्युत्क्लेशकारिणी। कृमिककण्डूविषानाहकफपित्तास्रकुष्ठनुत्॥'

(भा० प्र०)

(ग) तीक्ष्णविरेचन

१७६. दन्ती

परिचय

गुण—विरेचन, मूलिनी, मूलासव (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफर्बिएसी–Euphorbiaceae)।

नाम—लै०-बेलिओस्पर्मम मोण्टेनम (Baliospermum montanum Muell.–Arg.); सं०-दन्ती (हाथी दाँत के समान मूल), उदुम्बरपर्णी (गूलर के सदृश पत्र); एरण्डफला (एरण्ड के सदृश फल); शीघ्रा (तीक्ष्ण और आशुकारी); निकुम्भ (कुम्भाकार फल या द्रवविरेचन होने से); प्रत्यक्श्रेणी (नीचे के पत्र बड़े और समूहबद्ध होने के कारण); हि०-दन्ती; बं०-हाफुन; म०-दांती; ते०-आमादाम्।

स्वरूप—इसका गुल्मवत् क्षुप ३–६ फुट ऊँचा होता है। बहुवर्षायु मुलस्तम्भ से अनेक कोमल काण्ड निकले रहते हैं। **पत्तियाँ**-ऊपर से नीचे तक विभिन्न आकार और प्रमाण की होती हैं। ऊपर की पत्तियाँ प्रायः २–३ इञ्च लम्बी, आयताकार, भालाकार और नीचे की पत्तियाँ ६–१२ इञ्च लम्बी, पाणिवत् और खण्डित होती हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, हरिताभ, अक्षीय और गुच्छों में होते हैं। **फल**-⅓–१ इञ्च लम्बे, त्रिकोष्ठीय होते हैं जिनमें तीन भूरे रंग के चित्रित बीज होते हैं। पुष्प दिसम्बर-मार्च में लगते हैं।

जाति—भावप्रकाश में 'दन्तीद्वय' कहा गया है। चरकसंहिता में दन्ती-द्रवन्ती का एक साथ वर्णन है। ये ही दन्तीद्वय हैं। द्रवन्ती का वर्णन आगे दिया गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः बंगाल, बिहार तथा दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राल और स्टार्च होता है। बीजों में तैल होता है। इसमें रेचन शक्ति होती है।

गुण

गुण—गुरु, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके मूल और बीज का लेप शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, विरेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसके पत्र श्वासहर हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विकाशी और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, अर्श आदि में दन्तीमूल का लेप करते हैं। बीजों का तैल वातव्याधि में अभ्यंग के लिए प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, उदररोग, अर्श एवं कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा सर्वांगशोथ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—पत्रक्वाथ श्वासरोग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीरोग में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—त्वचा के समस्त विकारों में दन्तीमूल देते हैं। इससे शरीरस्थ दोष बाहर निकल जाते हैं और रोग शान्त हो जाते हैं।

तापक्रम—विबन्धयुक्त ज्वर में भी लाभकर है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसके बीजों का अंजन नेत्र में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-१–३ ग्रा०; बीज-१२५–२५० मि० ग्रा०, पत्रक्वाथ-४०–८० मि० लि०।

विशिष्ट योग—दन्त्यरिष्ट, दन्त्यादि चूर्ण, दन्तीहरीतकी। इसके अनेक कल्प चरकसंहिता (काण्ड० १२) में दिये गये हैं।

प्रयोगविधि—इससे पेट में मरोड़ होती है तथा हृल्लास आदि लक्षण भी होते हैं अतः इसके साथ सौंफ आदि सुगन्धि द्रव्य मिला कर क्वाथ के रूप में देना चाहिए।

संग्रहविधि—दन्ती और द्रवन्ती के हाथीदाँत के सदृश कठिन, स्थूल और श्याम ताम्रवर्ण के मूल लेकर उस पर पिप्पलीचूर्ण और मधु का लेप करे और

तदनन्तर कुश के बीच में रख मिट्टी से लेप कर पुटपाक करे। फिर धूप में सुखावे। इस प्रकार अग्नि और धूप से इसकी विकारिता दूर हो जाती है।

अहित प्रभाव—अतिमात्रा में प्रयोग करने पर इसके क्षोभक और मादक लक्षण प्रकट होते हैं।

निवारण—अहित प्रभाव को दूर करने के लिए मधुरस्निग्ध पदार्थ, शर्बत, दूध आदि का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

दन्तीद्वयं सरं पाके रसे च कटु दीपनम्। गुदांकुराश्मशूलार्शःकण्डूकुष्ठविदाहनुत्॥
तीक्ष्णोष्णं हन्ति पित्तास्रकफशोथोदरकृमीन्।' (भा. प्र.)

'तीक्ष्णोष्णान्याशुकारीणि विकाशीनि गुरूणि च।
विलाययन्ति दोषौ द्वौ मारुतं कोपयन्ति च॥' (च. क. १२)

'तयोर्मूलानि संगृह्य स्थिराणि बहलानि च। हस्तिदन्तप्रकाराणि श्यावताम्राणि बुद्धिमान्॥
पिप्पलीमधुलिप्तानि स्वेदयेत् मृत्कुशान्तरे। शोषयेदातपेऽग्न्यर्कौ हतो ह्येषां विकाशिताम्॥'
(च. क. १२)

'दन्तीद्रवन्तीस्नेहास्तिक्तकटुकषायाः अधोभागदोषहरा कृमिकुष्ठकफानिलहराः दुष्टव्रणशोधनाश्च।' (सु. सू. ४५)

B. B O., I, 119.
F. I., V, 461.

१७७. द्रवन्ती

परिचय

कुल—एरण्ड-कुल (युफर्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लैं०-क्रॉटन टिगलियम (Croton tiglium Linn.)। सं०-द्रवन्ती (द्रवपुरीष निकालने से), जयपाल, जेपाल, दन्तिबीज (दन्ती के सदृश बीजवाला); हि०-जमालगोटा; बं०-जयपाल, पं०-जपोलोटा; गु०-नेपालो; ता०-नारचालाम्; ते० कन्न०-नेपाल; आ०-कोनीवीह (कोनी=बीजगर्भांकुर, वीह=विषाक्त); अ०-हब्बुस्सलातीन; फा०-बेदअंजीरखताई; अं०-पर्जिंग क्रोटन (Purging croton)।

स्वरूप—इसके सदाहरित छोटे **वृक्ष** १५-२० फीट ऊँचे होते हैं। **पत्र**-२-४ इञ्च लम्बे, चिकने, दीर्घवृन्त, लट्वाकार, लंबाग्र, आरावत् दन्तुरधार, ३-५ सिराओं से युक्त होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-२-३ इंच लम्बी जिसमें एकलिङ्गी, हरितपीताभ, पुष्प होते हैं। **फल**-लगभग १ इंच लम्बा, श्वेत, आयताकार, त्रिखण्डीय होता है। **बीज**-आयताकार, भूरे रंग के, ½-¾ इंच लम्बे, आयताकार, त्रिकोणीय एरण्ड

बीज के सदृश होते हैं। बीजमज्जा रक्ताभ भूरे रंग की तैलमय होती है। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आसाम, बंगाल, दक्षिणभारत तथा श्रीलंका और बर्मा में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक स्थिर तैल ३०-४५% होता है जिसमें १-३% एक विषाक्त राल होता है, इसके लगाने से त्वचा में विस्फोट उत्पन्न होते हैं। रेचक तत्त्व इससे पृथक् है क्योंकि राल को अलग करने पर भी उसमें रेचक कर्म रहता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, विदाही और स्फोटजनन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तीव्र रेचन और कृमिघ्न है। इससे आमाशय में क्षोभ होता है, पेट में मरोड़ होती है, अन्त्रकला में शोथ होता है और अधिक संख्या में पानी जैसे दस्त होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर है।

सात्मीकरण —विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों मे, चर्मरोगों में तथा खालित्य में इसके बीजों का लेप करते है। तिला के रूप में यह ध्वजभङ्ग में शिश्न पर लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—जीर्ण विबन्ध, कृमि, विशेषतः जलोदर आदि में रेचन के लिए इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—सर्वांगशोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—जांगम विषों (विशेषतः सर्पविष) में इसके बीजों को नींबू के रस में घिस कर आँख में अञ्जन करते हैं। इससे विष शीघ्र उतर जाता है।

प्रयोज्य अंग—बीज, बीजतैल।

मात्रा—बीज २५-५० मि. ग्रा., तैल-½-१ बूंद।

विशिष्ट योग—इच्छाभेदी, जलोदरारि, ज्वरमुरारि।

विषाक्त लक्षण—इसके अतियोग से पेट में दाह, मरोड़ और शूल होने लगता है। आमाशय आदि में तीव्र व्रणशोथ हो जाता है। दस्त रक्तमिश्रित आने लगते हैं। रोगी बहुत दुर्बल हो जाता है।

चिकित्सा—वातपित्तशामक स्निग्ध-मधुर-शीत द्रव्यों का प्रयोग करें। गोदुग्ध, घृत, दही की लस्सी, नींबू का शर्बत आदि पिलावे।

शोधन—जमालगोटे के बीजों के छिलके तथा गर्भांकुर निकालकर गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करें। पश्चात् गरम जल से धो, नींबू के रस से भावना देकर धूप में सुखा ले।

× × ×

'जयपालो दन्तिबीजं विख्यातं तिन्तिडीफलम्। जयपालो गुरुस्तीक्ष्णो रेची पित्तकफापहा॥

(भा. प्र.)

'जेपालः कटुरुष्णश्च कृमिहारी विरेचनः। दीपनः कफवातघ्नो जलोदरविनाशनः॥'

(रा. नि.)

'जयपालभवां मज्जां भावयेन्निम्बुकद्रवैः। एकविंशतिवेलं तु ततो वर्त्तिं प्रकल्पयेत्॥
मनुष्यलालया घृष्ट्वा ततो नेत्रे तयाऽञ्जयेत्। सर्पदष्टविषं जित्वा संजीवयति मानवम्॥'

(शा.)

F. I., V, 393.
W. I., II, 383–84.

१७७. स्नुही

परिचय

गण—विरेचन, षट्शोधनवृक्ष (क्षीराश्रय) (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरंड-कुल (युर्फाविएसी–Euphorbiaceae)।

नाम—लैं०–युर्फाबिया नेरिफोलिया (Euphorbia neriifolia Linn.); सं०–स्नुही (दोषों को बाहर निकालने वाली); स्नुक्, गुडा (गोलाकार); सुधा (श्वेत या गुणकारी दुग्धयुक्त); समन्तदुग्धा (समस्त अंगों में दुग्ध होने से); वज्री (वज्र के समान तीक्ष्ण); सेहुण्ड, निस्त्रिंशपत्र (तलवार के सदृश पत्र); हि०–सेहुण्ड, डंडा थूहर, सीज; पं०–मा०–गु०–थोर; बं०–मनसा सिज; म०–निवडुङ्ग; ता०–इलाइकल्लि; ते०–अकुजिमुडु, कन्न०–मालेकल्लि; मल०–इल्लाकल्लि, अ०–जकूम; अं०–कॉमन मिल्क हेज (Common milk hedge)।

स्वरूप—इसका छोटा वृक्ष या गुल्म मांसल ६–२० फीट तक ऊँचा होता है। **काण्ड और शाखाएँ** कंटकित, सन्धियुक्त, गोलाकार या अस्पष्ट पञ्चकोणीय होती हैं। कांटे-छोटे, उपपत्रीय, युग्म, अनुलम्ब या कुन्तली (spiral) रेखाओं पर स्थित

उभारों पर होते हैं। **पत्र**–६–१२ इञ्च लंबे, मांसल, वर्षायु, अभिलट्वाकार–आयताकार, शाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध होते हैं। **पुष्प**–हरितपीत, अधःपत्रावलि पीताभ ३–७ (प्रायः ३) एक मंजरी में, अत्यन्त छोटे, मांसल लगभग ·१५ इंच लंबे पुष्पदण्ड पर आते हैं। परागाशय–पुंखवत्, कुक्षिवृन्त त्रिविभक्त, कुक्षि कुछ फूली हुई तथा सूक्ष्मदन्तुर होती है। **फल**–½ इंच लम्बा, गहरे त्रिखण्डीय होता है। शीतकाल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वसन्त में पुष्प तथा फल लगते हैं।

जाति—इसकी त्रिधार (E. antiquorum Linn.) सप्तधार (E. royleana Boiss.), छीमिया (E. tirucalli Linn.) आदि अनेक जातियाँ होती हैं। E. nivulia Buch-Ham. को महावृक्ष कह सकते है क्योंकि इसके वृक्ष बड़े ३० फीट तक ऊँचे होते हैं। औषध में डंडा थूहर (मुठिया सीज) का ही विशेष प्रयोग होता है। चरक ने इसकी दो जातियों का उल्लेख किया है :—(१) अल्पकंटक (२) बहुकंटक। इनमें बहुकण्टक को श्रेष्ठ बतलाया है। बंगला में बहुकंटक स्नुही को 'मनसा सिज' और अल्पकंटक को 'सोहन्त' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त दक्षिण भारत में पथरीली जमीन में मिलता है। समस्त भारत में प्रायः बागों की चहारदीवारी के रूप में इसे रक्षार्थ लगाते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें युफर्बन (Euphorbon), राल, निर्यास, रबड़, कैलशियम मैलेट आदि पाये जाते हैं। इसका दूध कटु तथा त्वचा में लाली एवं शोथ उत्पन्न करने वाला होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण	**रस**—कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातहर है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—इसका कांड–पत्र वेदनास्थापन तथा क्षीर लेखन तथा रक्तिमाजनक है।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—यह रेचन है। तीक्ष्णविरेचन द्रव्यों में यह सर्वोत्तम माना है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पत्तियाँ गरम कर शोथवेदनायुक्त स्थानों पर बाँधते हैं। इनके स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं तथा इससे सिद्ध तैल का वातव्याधि में अभ्यंग करते हैं। दूध चर्मरोगों में लगाते हैं तथा दन्तशूल में रूई के फाहे में रखते हैं। क्लैब्य (ध्वजभंग) में इसका दूध अन्य औषधों के साथ मिला कर शिश्न पर लगाते हैं। इसके दूध का लेप अर्शांकुरों पर करते हैं या दुग्धभावित सूत्र से अंकुरों को बाँधते हैं। इससे अंकुर नष्ट हो जाते हैं। इससे भावित क्षारसूत्र से भगन्दर की भी चिकित्सा करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, गुल्म, यकृत्प्लीहवृद्धि में इसका दूध विरेचनार्थ देते हैं। पांडु, कुष्ठ, मधुमेह, शोथ, उन्माद आदि गम्भीर रोगों में संशोधनार्थ बलवान् रोगियों में इसके दूध का प्रयोग करते हैं। इससे पानी के समान दस्त होते हैं और कभी-कभी वमन भी होता है।

रक्तवहसंस्थान—उपदंश, आमवात, वातरक्त तथा शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, प्रतिश्याय आदि कफप्रधान रोगों में इसके काण्ड को गरम कर उसका स्वरस मधु टंकण मिला कर देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—जांगम विषों में इसके मूल का अन्तः और बाह्य प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, कांड, पत्र, क्षीर।

मात्रा—मूलचूर्ण-½-१ ग्रा०; कांडस्वरस-५-१० मि० लि०; क्षीर-१२५-२५० मि० ग्रा०।

विशिष्ट योग—वज्रक्षार, स्नुह्यादि तैल, स्नुह्यादि वर्ति। इसके विविध कल्प च० क० १० में देखें।

प्रयोगविधि—(१) एक चना स्नुहीक्षीर में डालकर कुछ देर छोड़ देते हैं जब वह दूध को आत्मसात् कर फूल जाता है तब उसे गरम जल से लेना चाहिए। (२) त्रिवृत्चूर्ण, त्रिफला या आँटे का चूर्ण स्नुहीदुग्ध से भावित कर १२५-२५० मि० ग्रा० की मात्रा में दे। (३) दशमूलक्वाथ और स्नुहीक्षीर समभाग ले अग्नि पर पकावे। जब गाढ़ा हो जाय तब चने के बराबर गोलियाँ बना ले। मात्रा-१ गोली गरम जल से। (४) स्नुहीक्षीर में समभाग सेंधा नमक मिलावे। जम जाने पर उसकी १२५-२५० मि० ग्रा० मात्रा ले।

संग्रहविधि—तीक्ष्ण और बहुकंटक सेहुँड के दो या तीन वर्ष के क्षुप में तीक्ष्ण शस्त्र से छेदकर शिशिर के अन्त में क्षीर का संग्रह करे।

× × ×

'सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः। शूलामाष्ठीलिकाध्मानकफगुल्मोदरानिलान्॥
उन्मादमेहकुष्ठार्शःशोथमेदोश्मपाण्डुताः। व्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत्॥
उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धं च कटुकं लघु। गुल्मिनां कुष्ठिनां चापि तथैवोदररोगिणाम्॥
हितमेतद्विरेकार्थे ये चान्ये दीर्घरोगिणः।' (भा. प्र.)

'स्नुक्पयस्तीक्ष्णविरेचनानाम्।' (च. सू. २५)

'विद्यात् स्नुहीक्षीरं विरेचने। (च. सू. १)

'विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतमा मता। संघातं हि भिनत्त्याशु दोषाणां कष्टविभ्रमा॥
तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन। न दोषनिचये चाल्पे सति मार्गपरिक्रमे॥
पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषार्दिते। श्वयथौ मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि॥
रोगैरेवंविधैर्ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्राणमातुरम्। प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यक् स ह्यवचारितः॥
सद्यो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम्।' (च. क. १०)

'द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कंटकैः। सुतीक्ष्णैः कंटकैरल्पैः प्रवरो बहुकंटकः॥
स नाम्ना स्नुग्गुडा नन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः। तं विपाट्याहरेत् क्षीरं शस्त्रेण मतिमान् भिषक्॥
द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः।' (च. क. १०)

B. B. O., I, 147.
F. I., V, 255.
W. I., III, 226.

१७९. अर्क

परिचय

गण—षट्शोधनवृक्ष (क्षीराश्रय) भेदनीय, वमनोपग, स्वेदोपग (च०); अधोभागहर, अर्कादि (सु०)

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लिपिएडेसी-Asclepiadaceae)।

नाम—लै०-कैलोट्रोपिस प्रोसरा (Calotropis procera (Ait) R. Br.) सं०-अर्क (सूर्य के समान तीक्ष्ण और उष्ण); तूलफल (रूईदार फल होने से); क्षीरपर्ण (पत्तों में दूध होने से); अर्कपर्ण, विकीरण (हवा के द्वारा इसकी रूई इधर-उधर बिखरती रहती है), आस्फोट (फल फटने वाला), हि०-अकवन, आक, मदार; बं०-आकन्द; म०-रूई, आकमदार, गु०-आकडो; पं०-अक, ता०-पेल्लेरुक्कु; ते०-मन्दाराम्; अ०-उशर; फा०-खरक; अं०-मदार (Madar)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** गुल्मजातीय प्रायः ४ फीट तक (कभी-कभी ६-८ फीट तक) ऊँचा होता है। काण्ड कठिन तथा काण्डत्वक् धूसर और सूत्रमय होती है। **पत्र**-४-६ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौड़े, स्थूल, आयताकार, हृद्वत् होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना किन्तु निचला पृष्ठ रोमश होता है। **पुष्पदंड**-पत्र-

कोणोद्भूत, युग्म, १–३ इंच लम्बा, रोमश, शाखायुक्त होता है जिस पर अनेक पुष्प गुच्छों में लगते हैं। **पुष्प**–श्वेत, ऊपरी अर्धभाग में बैंगनी धब्बों से युक्त, उत्थित दल युक्त, तीक्ष्णाग्र, ½ इंच व्यास के, सुगन्धित होते हैं। **फल**–लम्बे, टेढ़े ३ इंच लम्बे, १½ इंच चौड़े होते हैं जो सूखने पर फट जाते हैं और उनके भीतर से सफेद मुलायम रूई निकलती है। **बीज**–अभिलट्वाकार, ¼ इंच लम्बे, काले रंग के होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल लगते हैं। किसी किसी क्षुप पर एक प्रकार का द्रव संचित हो जाता है इसे 'अर्क-शर्करा' कहते हैं।

जाति—अर्क दो प्रकार का होता है—(१) श्वेत और (२) रक्त। रक्त जाति को सामान्यतः 'अर्क' कहते हैं जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। श्वेत-पुष्प अर्क का विशिष्ट नाम 'अलर्क' या राजार्क है। इसे 'मन्दार' भी कहते हैं तथा इसका लै० नाम कैलोट्रोपिस जाइगैण्टिया (C. gigantia (Linn.) R. Br. ex Ait,) है। इसका पौधा बड़ा, २० फीट तक ऊँचा होता है; इसके पुष्प निर्गन्ध, श्वेत या हलके बैंगनी रंग के तथा इसके अन्तर्दल फैले रहते हैं। पुष्प प्रायः बराबर देखे जाते हैं अतः यह सदापुष्प कहा गया है।

रासायनिक संघटन—इसके दूध में ट्रिप्सिन (प्रोटीन-पाचक) नामक किण्वतत्त्व तथा हृदय पर कार्य करने वाले तत्त्व–उस्कैरिन (Uscherin), कैलोट्रोपिन (Calotropin) तथा कैलोटोक्सिन (Calotoxin) होते हैं। राजार्क में भी प्रायः ये ही तत्त्व होते हैं। काण्ड तथा मूल की त्वक् में एमाईरिन (Amyrin), जाइगेण्टिआल (Giganteol) तथा कैलोट्रोपिओल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत की शुष्क और ऊसर भूमि में उत्पन्न होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है। रक्तार्कपुष्प तिक्तमधुर होने से रस के द्वारा कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणशोधन, कुष्ठघ्न और जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वमनोपग, दीपन, पाचन, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है। इसका वामक कर्म आमाशय में क्षोभ उत्पन्न करके तथा वामक केन्द्र को प्रभावित करने से होता है।

रक्तवहसंस्थान—मूलत्वक् हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है। इससे

हृदय की गति एवं संकोचशक्ति बढ़ती है तथा रक्तभार भी बढ़ता है। रक्तार्क पुष्प रक्तपित्तप्रशमन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासहर है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—मूल की छाल ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है। इससे शरीर के समस्त अवयव उत्तेजित होते हैं और शरीर का बल बढ़ता है। त्रिपघ्न तथा कैन्सर-प्रतिरोधी भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—मूलत्वक् और क्षीर कफवातजन्य रोगों में तथा रक्तार्कपुष्प कफपैत्तिक रोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ-वेदनायुक्त विकारों (श्लीपद, आमवात आदि) में अर्कपत्र गरम कर बाँधते हैं तथा उसके स्वरस से सिद्ध तैल का अभ्यङ्ग करते हैं। इस तैल को कर्णरोगों (कर्णशूल, बाधिर्य आदि) में डालते हैं। पत्र-चूर्ण व्रणों पर छिड़कने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है। व्रणों पर मूलत्वक् का भी लेप करते हैं। ग्रन्थिशोथ, गण्डमाला आदि में अर्कक्षीर का लेप करते हैं। श्वित्र कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में अर्कक्षीर सरसों के तैल में मिला कर लगाते हैं। श्वित्र में भी दूध का लेप करते हैं। खालित्य और अर्शांकुरों में भी क्षीर का लेप लाभकर है। दन्तशूल में इसकी दातून करते है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, विबन्ध, गुल्म, उदर, कृमि में मूलत्वक् का प्रयोग करते हैं। अर्कक्षीर वमन और रेचन के लिए दिया जाता है। मूलत्वक् विसूचिका में भी उपयोगी है। अर्कक्षार उदररोगों में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, श्लीपद, उपदंश तथा अन्य रक्तविकारों में मूल-त्वक् देते हैं। रक्तपित्त में रक्तार्कपुष्प प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में मूलत्वक् और पुष्प का प्रयोग होता है। श्वासरोग में अर्कमूल की भस्म का भी प्रयोग होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में मूलत्वक् देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में उपयोगी है। सर्पविष में इसके मूलस्वरस को काली मिर्च के साथ पिलाते हैं। कैन्सर में इसके मूल एवं पत्र लाभकर हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्, क्षीर, पुष्प, पत्र।

मात्रा—मूलत्वक्चूर्ण–½–१ ग्रा०; क्षीर–⅛–¼ ग्रा०; पुष्प–१–३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—अर्कलवण, अर्कतैल, अर्केश्वर।

अहित प्रभाव—मूलत्वक् ३–६ ग्रा० की मात्रा देने से आमाशय में दाह, क्षोभ और वमन होने लगता है।

निवारण—दूध, घी आदि स्निग्ध-शामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× × ×

'क्षीरमर्कस्य विशेषं वमने सविरेचने।' (च. सू. १)

अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषव्रणान्। निहन्ति प्लीहगुल्मार्शःश्लेष्मोदरशकृत्क्रिमीन्॥
अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम्। अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम्॥
रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठक्रिमिघ्नं कफनाशनं च।
अर्शोविषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वयथौ हितं तत्।
क्षीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु। कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद् विरेचनम्॥'
(भा. प्र.)

'अर्कस्तिक्तो भवेदुष्णः शोधन परमः स्मृतः। कण्डूव्रणहरो हन्ति जन्तुसन्ततिमुद्धताम्॥'
(ध. नि.)

'अर्कस्तु कटुरुष्णश्च वातजिद्दीपनीयकः। शोथव्रणहरः कण्डूकुष्ठक्रिमिविनाशनः॥'
(रा. नि.)

'मनःशिलाले मरिचानि तैलमार्कं पयः कुष्ठहरः प्रदेहः।' (च. सू. ३.)

'सप्तच्छदार्कदुग्धाभ्यां पूरणं क्रिमिदन्तनुत।' (च. द.)

W. I., II, 20–22.
M. P. I., I, 167–70.

१७०. इन्द्रवारुणी

परिचय

गण—विरेचन, मूलिनी (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucutrbitaceae)।

नाम—लै०–सिट्रुलस कोलोसिन्थिस (Cirullus colocynthis Schrad) सं०–इन्द्रवारुणी; गवाक्षी (गौ के अक्षिगोलक के सदृश फल); चित्रा (चित्रित फलयुक्त); हि०–इन्द्रायण; बं०–राखाल शसा; पं०–कौड़तुम्मा; म०–इन्द्रायण; गु०–इन्द्रावणा; ता०–मल०–पिक्कुमुट्टि; कन्न०–तुम्तिकयि; ते०–पापरबुडम्; अ०–हंजल; फा०–खरबुज ए-तल्ख; अं०–कोलोसिन्थ (Colocynth), बिटर एपल (Bitter apple)।

स्वरूप—इसकी प्रतानिनी या आरोहिणी **लता** वर्षायु या बहुवर्षायु रोमश और कर्कश होती है। **पत्र**–लट्वाकार या भालाकार–आयताकार, बहुखंडित, तरबूज की पत्तियों के सदृश, २–३ इञ्च लम्बे और २ इंच चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त १ इंच लंबा होता है उसके पास से पुष्प और सूत्र निकलते हैं। सूखने पर पत्तियों

में गोल-गोल सघन चिह्न उभर आते हैं। **पुष्प**–घंटाकार, ·५–·७ इंच व्यास के पीतवर्ण होते हैं। **फल**–गोल, १–४ इञ्च व्यास के, चिकने, चित्रित, कच्चे में सफेद हरे और पकने पर पीले रंग के हो जाते हैं। फलमज्जा कोमल स्पंजमय अत्यन्त तिक्त होती है जिसमें $\frac{1}{6}$–$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे, लट्वाकार, चपटे, **बीज** धूसर या कृष्णाभ होते हैं। नवम्बर में पुष्प और जनवरी में फल आते हैं।

जाति—इसकी एक बड़ी जाति होती हैं जिसे विशाला या महाकाल (हि०–महकार या माकाल) कहते हैं। इसका लैटिन नाम ट्राइकोसाइन्थस पामेटा (Trichosanthes palmata Roxb.) है। इसके पुष्प श्वेत, फल बड़े तथा पकने पर लाल होते हैं। फलमज्जा गहरे हरित वर्ण की होती है। इसमें फूल-फल कुछ पहले आ जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। विशेषतः दक्षिण, पश्चिम, मध्यभारत तथा पश्चिमोत्तर प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में कोलोसिन्थिन (Colocynthin) नामक तिक्त पदार्थ तथा एक राल होता है जिसके कारण इसकी रेचक क्रिया होती है। इसके अतिरिक्त, ए-इलेटरिन (a-elaterin), हेण्ट्रिएकोटेन (Hentriacontane), एक फाइटोस्टेराल और वसाम्ल होते हैं। मूल में सैपोनिन भी होते हैं। बीजों में २१ प्रतिशत तिक्त स्थिर तैल, इपुरैनॉल (ipuranol), दो फाइटोस्टेराल, दो हाइड्रोकार्बन, एक सैपोनिन, एक क्षाराभ, एक ग्लाइकोसाइड और टैनिन होते हैं। फल में मज्जा, बीज तथा छिलका क्रमशः १५, ६२ और २३ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मूल व्रणशोथहर तथा व्रणशोधन है। बीजतैल केश्य और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी फलत्वचा वामक है। फलमज्जा तथा मूल रेचन और क्रमिघ्न है। इसकी क्रिया अन्त्र और यकृत् पर होती है। अन्त्र की ग्रन्थियाँ उत्तेजित होती हैं और प्रतिहारिणी सिरा का अवरोध दूर होकर पित्त का स्राव बढ़ता है। तीक्ष्ण होने के कारण इससे मरोड़ होती है और दस्त पतले पानी के समान होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—इसकी फलत्वचा कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल तीव्र गर्भाशयसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल प्रमेहघ्न है।

तापक्रम—मूल ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में संशोधनार्थ प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, विद्रधि आदि में इसके मूल का लेप करते हैं। फलस्वरस व्रणों में लगाते हैं। बीजतैल का प्रयोग जांगम विषों (साँप, बिच्छू आदि में) तथा खालित्य-पालित्य आदि केशरोगों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—फलमज्जा तथा मूल का प्रयोग उदररोग, गुल्म, कामला, आमवात, कृमि आदि में करते हैं। मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ सोंठ, सौंफ, खुरासानी अजवायन आदि मिला कर देना चाहिए।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसके मूल का प्रयोग करते हैं। शोथरोग में इसके फल का रस चीनी या मधु मिलाकर देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में फलत्वचा का प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—इसका मूल रजोरोध, कष्टप्रसव आदि में योनि में रखते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसकी जड़ का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में मूल प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

मात्रा—फलचूर्ण-½-१ ग्रा०; मूलचूर्ण-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—नारायण चूर्ण।

वक्तव्य—इसका प्रयोग गर्भिणी स्त्रियों में, बच्चों में, दुर्बल व्यक्तियों में तथा ग्रहणी, आदि रोगों में नहीं करना चाहिए।

× × ×

'ऐन्द्रीन्द्रवारुणी चित्रा गवाक्षी च गवादनी। वारुणी चापरा शुक्ला सा विशाला महाफला॥
श्वेतपुष्पा मृगाक्षी च मृगैर्वारुर्मृगादनी। गवादनीद्वयं तिक्तं पाके कटु सरं लघु॥
वीर्योष्णं कामलापित्तकफप्लीहोदरापहम्। श्वासकासापहं कुष्ठगुल्मग्रन्थिव्रणप्रणुत्॥
प्रमेहमूढगर्भामगंडामयविषापहम्।' (भा. प्र.)

'इन्द्रवारुणिकाऽत्युष्णा रेचनी कटुका तथा।
कृमिश्लेष्मव्रणान् हन्ति हन्ति सर्वोदराण्यपि॥' (ध. नि.)

'मूलं गवाक्ष्याः स्मरमन्दिरस्थं पुष्पावरोधस्य वधं करोति।
अभर्तृकाणां व्यभिचारिणीनां योगोऽयमेव द्रुतगर्भपाते॥' (वै. जी.)

'इन्द्रवारुणिकाबीजतैलेनाभ्यङ्गमाचरेत्।
प्रत्यहं तेन कालाग्निसन्निभाः कुन्तला अलम्॥' (शो.)

F. I, II, 620.
B. B. O., II; 411.
W. I., II, 185–86.

१८०. कंकुष्ठ

परिचय

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टीफेरी-Guttiferee)

नाम—लै०-गार्सिनिया मोरेला (Garcinia morella Desr); वृक्ष सं०-तमाल, तापिच्छ, हि०-तमाल; ता०-मक्की; ते०-रेवलचीनी; क०-हरदल; मल०-चिगिरी, आ०-कुजी ठेकेरा; अं०-इण्डियन गैंबोज ट्री (Indian gambose tree)
निर्यास-सं०-कंकुष्ठ; रंगदायक (रंगने के काम में आने से); हि०-उशारे रेवंद; गु०-रेवंचीनी शीरो; अ०-फर्फीरान, गोतागंबा, उसारेरेवंद; अं०-गैम्बोज (Gambose)

स्वरूप—इसका छोटा या मध्यमप्रमाण सदाहरित वृक्ष ३०-५० फीट ऊंचा होता है। **पत्र**-चर्मवत्, ४-६ इञ्च लंबे, १½-३ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, अभिलट्वाकार, या भालाकार, गोलाग्र, दोनों किनारों पर पतले होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी; पुंपुष्प-प्रायः तीन एक साथ, गिरे हुए पत्तों के अक्ष में होते हैं। स्त्रीपुष्प-इनसे बड़े, एकल होते हैं। **फल**—गोलाकार, छोटे बेर के बराबर, चतुःखण्डीय, चतुःकोष्ठीय तथा चतुर्बीज होते हैं। **बीज**—कुछ चपटे, गहरे भूरे, अंडाकार या वृक्काकार होते हैं। इससे प्राप्त निर्यास ('कंकुष्ठ) लाल-पीले या भूरे नारंगी, चिकने बेलनाकार पिण्डों में मिलता है जो निर्गन्ध और कटु किंचित् अम्ल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आसाम, बंगाल तथा पश्चिमी घाट की पहाड़ियों पर ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके अतिरिक्त भारत में कंकुष्ठ बाहर से आता है जो हिन्दचीन देश में होने वाली G. hanburyi Hook f. नामक प्रजाति से प्राप्त होता है।

संग्रहविधि—निर्यास वृक्ष के सभी अवयवों-काण्ड, पत्र, पुष्प फल आदि-में होता है। इसे प्राप्त करने के लिए लगभग १० वर्ष पुराने वृक्ष की छाल में वर्षाऋतु में क्षत कर देते हैं और उसके नीचे बाँस की नली लगा देते हैं जिसमें निर्यास इकट्ठा होता है। जब लगभग एक मास में वह जम कर कड़ा हो जाता है तब नली को गरम कर उसे निकाल लिया जाता है। यह दण्ड के सदृश बेलनाकार १-२ इञ्च व्यास के टुकड़ों में प्राप्त होता है। कभी-कभी पिण्डाकार या कणाकार भी मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें तीन रालीय अम्ल (गार्सिनोलिक अम्ल) पाये जाते हैं जिनके कारण इसकी क्रिया होती है। बीजावरण, काण्डत्वक्, पत्र तथा फल में एक पीला रंजक द्रव्य मारेलिन (Morellin) पाया जाता है जो जन्तुघ्न है। बीजों में ३०% कोकम बटर के सदृश वसा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
कर्म—उष्ण
प्रभाव—रेचन

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न एवं व्रणहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह इन्द्रायण के समान तीव्र रेचन है। इससे पानी के समान पतले दस्त आते हैं। अधिक मात्रा में लेने पर इससे हृल्लास, वमन और मरोड़ उत्पन्न होती है। कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथहर तथा रक्तभार को कम करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैतिक रोगों में तथा कोष्ठगत वातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका मलहम बनाकर घाव में लगाते हैं। इससे उसका शोधन रोपण होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह विबन्धजन्य गुल्म, उदावर्त्त, शूल आदि रोगों में रेचनार्थ दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथ तथा रक्तभार को कम करने के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास

मात्रा—५०-१२५ मि० ग्रा०

अपमिश्रण—इसमें प्रायः गेहूँ या चावल का स्टार्च, बालू, अन्य वानस्पतिक पदार्थ मिला देते हैं।

निवारण—इसके अहित प्रभाव के निवारण के लिए शीतवीर्य, मधुर तथा स्निग्ध पदार्थों का प्रयोग करना चाहिए। बबूल की जड़ का क्वाथ जीरा और सोहागा मिला कर अच्छा लाभ करता है।

विमर्श—प्राचीन काल में कंकुष्ठ स्वर्णक्षीरी का निर्यास था, मध्यकाल में संभवतः रेवन्द चीनी (Rheum emodi) का सत्त्व इस नाम से व्यवहृत होने लगा। आजकल उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास कंकुष्ठ के नाम से आता है। रसशास्त्रियों ने कंकुष्ठ को उपरस में समाहित किया है।

× × ×

कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्ये चोष्णं प्रकीर्तितम्।
गुल्मोदावर्त्तशूलघ्नं रसरञ्जं व्रणापहम्॥ (ध. नि.)

हिमवत्पादशिखरे कंकुष्ठमुपजायते।
तत्रैकं नालिकाख्यं हि तदन्यद्रेणुकं मतम्॥
पीतप्रभं गुरु स्निग्धं श्रेष्ठं कंकुष्ठमादिमम्।
श्यामपीतं लघु त्यक्तसत्त्वं नेष्टं हि रेणुकम्॥
कंकुष्ठं तिक्तकटुकं वीर्योष्णं चातिरेचनम्।
व्रणोदावर्त्तशूलार्त्तिगुल्मप्लीहगुदार्तिनुत्॥ (र. र. स., ३)

W. I., IV, 105-107.
F. I., I, 264-65.

(घ) पित्तविरेचन

१८१. कटुका

परिचय

गण—भेदनीय, लेखनीय, स्तन्यशोधन, तिक्तस्कन्ध (च०); पटोलादि, पिप्पल्यादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—तिक्ता-कुल (स्कॉफुलेरिएसी–Scrophulariaceae)।

नाम—लै०–पिक्रोराइजा कुरो (Picrorhiza kurroa Royle ex Benth)। सं०–कटुका, तिक्ता, कटुरोहिणी, काण्डरुहा (काण्ड से उत्पन्न होने वाली); मत्स्यशकला (भौमिक काण्ड की त्वक् मछली की त्वचा के सदृश होने से); चक्रांगी (चक्राकार चिह्नयुक्त); कृष्णभेदा (तोड़ने पर भीतर कृष्णाभ); शतपर्वा (अनेक पर्ववाली) हि०–कटुका; बं०–कट्की, पं०–कौड़; म०–काली कटुकी, वालकडू; गु०–कडू; ते०–मल०–ता०–कडुगु–रोहिणी; अ०–फा०–खरबके हिन्दी; अं०–पिक्रोराइजा (Picrorhiza).

स्वरूप—इसका छोटा, बहुवर्षायु, प्रायः रोमश क्षुप होता है। मूलस्तम्भ (भौमिक काण्ड) दृढ, ६-१० इञ्च लंबा, छोटी अंगुलि जितना स्थूल, विशीर्ण पत्राधारों से आवृत, सर्पणशील होता है। **पत्र**–२-४ इञ्च लम्बे, प्रायः मूलीय, स्रुवाकार, गोलाग्र, आरावत् दन्तुर, पत्राधार संकीर्ण होकर एक सपक्ष कोषीय पत्रवृन्त से लगा रहता है। **पुष्पध्वज**–ऊपर की ओर उठा हुआ, दृढ, पत्तियों से

लम्बा, नग्न या कतिपय कोणपुष्पकों से युक्त होता है। **पुष्पमंजरी**–२–४ इञ्च लम्बी सघन होती है जिसमें सफेद या नीले बैंगनी अनेक पुष्प लगे रहते हैं। कोणपुष्पक–बाह्यकोश के बराबर, आयताकार या भालाकार होते हैं। **फल**–१/२ इञ्च लम्बा, अंडाकार होता है। बाजार में इसके भूरे रंग के १–२ इञ्च लम्बे, १/२–१ से० मी० व्यास के, बेलनाकार, लम्बाई में सिकुड़नयुक्त कुछ मुड़े हुए टुकड़े मिलते हैं। इसकी बाहरी त्वचा अत्यन्त पतली, छूटती हुई होती है और इसके ऊपर चक्राकार चिह्न होते हैं। ये भंगुर होते हैं और तोड़ने पर भीतर की ओर कृष्णवर्ण तथा स्वाद में अतितिक्त होते हैं। जून-जुलाई में पुष्प और अगस्त-सितम्बर में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में कश्मीर से सिक्किम तक ७–१४ हजार फीट की ऊंचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में दो तिक्त ग्लुकोसाइड पिक्रोराइजिन (Picrorhizin) और कुटकीन (Kutkin); डी-मैनिटाल, वैनिलिक अम्ल, कुटकिओल तथा कुटकी-स्टिरोल पाये जाते हैं। एक सुगन्धित तत्त्व भी पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह रोचन, दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा अधिक मात्रा में रेचन है। कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—मूल की क्रिया हृदय पर तिलपुष्पी (डिजिटेलिस) के समान होती है। इससे हृदय की गति शान्त होती, उसकी शक्ति बढ़ती और रक्तभार बढ़ता है। यह रक्तशोधक और शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—यह दाहप्रशमन और ज्वरघ्न विशेषतः षिवमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक तथा अतिमात्रा में लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह अरुचि, अग्निमान्द्य, यकृद्विकार, कमला आदि पित्तविकार तथा अधिक मात्रा में विबन्ध, आनाह और उदररोगों में रेचनार्थ देते हैं। इससे पित्त का स्राव बढ़ कर संचित मल का भेदन होता है और पीले पतले दस्त होते हैं जिससे पित्त बाहर निकलने के कारण पैत्तिक रोगों में विशेष लाभ होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार तथा शोथरोग में इसका प्रयोग करते हैं। हृद्रोग में यष्टीमधु और कुटकी समभाग ले मिश्री के साथ सेवन कराते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकारों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर, दाह एवं दाहयुक्त ज्वरों में प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में कटुपौष्टिक के रूप में प्रयोग करते हैं। अधिक मात्रा में मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल (भौमिक काण्ड)।

मात्रा—चूर्ण–१/२–१ ग्रा० (कटुपौष्टिक के लिए); ३–६ ग्रा० (रेचनार्थ)।

विशिष्ट योग—आरोग्यवर्धनी, कटुकाद्य लौह, तिक्तादि क्वाथ, तिक्ताद्य घृत।

विमर्श—त्रायमाणा (Gentiana kurroo) और कुटकी दोनों एक दूसरे में मिलाये जाते हैं और प्रतिनिधिरूप में भी प्रयुक्त होते हैं। P. Scrophulariaeflora Pennell, जो पूर्वी हिमालयक्षेत्र में नेपाल और सिक्किम में होता है, भी कुटकी के समान गुणकर्मवाली वनस्पति हैं।

× × ×

'कट्वी तु कटुका तिक्ता कृष्णभेदा कटंभरा। अशोका मत्स्यशकला चक्रांगी शकुलादनी॥
मत्स्यपित्ता काण्डरुहा रोहिणी कटुरोहिणी। कटुका कटुका पाके तिक्ता रूक्षा हिमा लघुः॥
भेदनी दीपनी हृद्या कफपित्तज्वरापहा। प्रमेहश्वासकासास्रदाहकुष्ठकृमिप्रणुत्॥'
(भा. प्र.)

'कटुका पित्तजित्तिक्ता कटुः शीतास्रदाहजित्।
बलासारोचकान् हन्ति विषमज्वरनाशिनी॥' (ध. नि.)

W. I., VIII, 29–50.
F. I., IV, 290.
V. N. Pandey : D. Ay. M. Thesis (B. H. U.), 1966.

१८२. अम्लपर्णी

परिचय

कुल—चुक्र-कुल (पॉलिगोनेसी–Polygonaceae)।

नाम—रियम एमोडि (Rheum emodi Wall.); सं०–अम्लपर्णी (पत्रवृन्त अम्ल होने से); पीतमूली (मूल पीतवर्ण) रेवतिका; हि०–रेवंदचीनी; (चीन देश से आनेवाला रेवंद); आर्चा; बं०–रेवान्दचीनी; पं०–रयोंदचीनी; (मूल), चुकी (पत्रवृन्त) गु०–रेवनचीनी; ता०–नट्टु-इरेवल-चिन्नी; ते०–नट्टु–रिवल–चिन्नि; कन्न०–रेवलचीनी, अ०–रावन्द; फा०–रेवन्द; अं०–इण्डियन रूबर्ब (Indian Rhubarb)।

स्वरूप—यह ५–६ फुट ऊँचा हरितधूसर क्षुप होता है। **काण्ड**–अतिदृढ, पत्रमय, हरी और भूरी धारियों से युक्त होता है। पत्रवृन्त–१२–१८ इञ्च लम्बा और कठिन होता है। **मूलीय पत्र**–बड़े, २ फीट व्यास के, चक्राकार या लट्वाकार, हृद्वत् होते हैं। **पुष्प**–२–३ फीट लम्बी अक्षीय मंजरियों में, ⅛ इञ्च व्यास के गहरे बैंगनी या हलके लाल होते हैं। **फल**–½ इञ्च लम्बे, बैंगनी रंग के अण्डाकार-आयताकार होते हैं। **मूल**–मोटा और दृढ़, भूरे-पीले रंग का होता है। मुंह में रखने से पीतवर्ण का लालास्राव होता है। बाजार में इसके २–२० से० मी० लम्बे और १½–२ से० मी० चौड़े टुकड़े प्रायः बेलनाकार या अनियमित आकार के, सिकुड़े हुए, हलके, आसानी से कटने वाले, निर्गन्ध या किंचित् सुगन्धित, तिक्त एवं कषाय स्वादयुक्त होते हैं। इसके पत्रवृन्त अम्लरस होते हैं। उन्हें वेणी की तरह गूँथ कर बाजार में अमलवेत के नाम से बेचते हैं। जुलाई-अगस्त में इसमें पुष्प और सितम्बर-अक्टूबर में फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक प्रजातियाँ हिमालयप्रदेश में होती हैं यथा R. webbianum Royle, R. moorcroftianum Royle, R. spiciforma Royle, R. nobile Hook. f. & Thomas जिनके भौमिक काण्ड और मूल रेवन्द चीनी के नाम पर चलते हैं या उनका मिश्रण किया जाता है।

व्यापारिक दृष्टि से तीन प्रकार की रेवन्द चीनी आती है:—(१) चीनी–यह R. Palmatum Linn. तथा R. officinale Baill. नामक प्रजातियों से प्राप्त होती है। स्थानभेद से इसके अनेक प्रकार होते हैं जिनमें शेन्सी प्रकार सर्वोत्तम माना जाता है। (२) भारतीय–यह चीनी प्रकार के स्थान पर चलता है। (३) रूसी–यह मूलतः साइबेरिया और चीन की प्रजाति है किन्तु अब भारत में भी इसकी खेती होती है। यह R. rhaponticum Linn. प्रजाति से प्राप्त होती है और रैपोन्टिक रूबर्ब (Rhapontic Rhubarb) कहलाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में कश्मीर से सिक्किम तक १०–१६ हजार फीट की ऊंचाई पर होती है।

संग्रहविधि—पौधे का ऊपरी भाग जाड़ों में नष्ट हो जाता हैं और वसन्त में फिर उग आता है। ३ से १० वर्ष की आयु के पौधों से सितम्बर मास में भौमिक काण्ड और मूल खोद कर निकालते हैं। उन्हें धोकर टुकड़ों में काटते हैं और धूप में सुखा कर पात्रों में रख लेते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके भौमिक काण्ड तथा मूल में एमोडिन (Emodin), क्राइसोफेनाल (Chrysophenol), रीन (Rhein), सेनोसाइड ए और बी (Sennoside A & B) होते हैं। कुल रेचक तत्त्व ३.५% होते हैं। कषाय घटकों मे मुख्य गैलिक अम्ल (ग्लुकोगैलिन के रूप में) होता है जिसके साथ कुछ टैनिन और कैटेचिन होते हैं। इनके अतिरिक्त, सिनेमिक और रिनोलिक अम्ल, स्टार्च तथा कैल्शियम ऑक्जलेट होते हैं। एक सुगन्धित तैल भी ०·०५% होता है जिसमें युजिनॉल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन एवं व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह लालाप्रसेकजनन, दीपन, यकृदुत्तेजक और ग्राही होता है। बड़ी मात्रा में आन्त्रग्रन्थियों के स्राव और आन्त्र की परिसरणगति को बढ़ा देता है और इस प्रकार रेचन कर्म करता है। इसके सेवन से ४–८ घंटे में मरोड़ के साथ पतले, पीले, दस्त आते हैं। रेचन के बाद इसमें स्थित कषाय द्रव्यों की क्रिया प्रारंभ होती है और दस्त अपने आप बन्द हो जाते हैं। क्षारों की उपस्थिति के कारण यह महास्रोत की अम्लता को भी कम करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में कटुपौष्टिक है।

उत्सर्ग—रेचन तत्त्व स्तन्य और मूत्र से उत्सृष्ट होता है और दोनों के रंग और स्वाद को बदल देता है। ग्राही तत्त्व पुरीष के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में तथा दन्तशोधन के लिए इसके चूर्ण का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार में अल्प मात्रा में देते हैं। ज्वर, वातरक्त, उदर, अर्श, कामला तथा शैशवातिसार के रोगियों में रेचन के लिए यह प्रशस्त माना जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में लाभकर है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—भौमिक काण्ड।

मात्रा—०.२–१ ग्रा०।

वक्तव्य—(१) मरोड़ को शान्त करने के लिए इसके साथ सुगंधि द्रव्य और सर्जिक्षार मिलाने चाहिए। (२) इसका विशेष प्रयोग बच्चों और वृद्धों में होता है। (३) इसमें ऑक्जलिक एसिड की उपस्थिति के कारण इसका प्रयोग सन्धिवात, आमवात, अपस्मार, अश्मरी आदि रोगों में निषिद्ध है।

× × × ×

'गन्धिनी पीतमूली च बल्या सा मृदुरेचनी। हन्त्यजीर्णमतीसारं वह्निमान्द्यमरोचकम्॥ विड्संगं शीतपित्तञ्च दुष्टव्रणविरोहिणी।' (आ० वि०)

विस्फोटरक्तातिसृतिप्रमेहव्रणज्वरग्रन्थिविषामहन्त्री।
भिनत्ति मूत्रस्य परं निरोधं गुर्वी हिमा रेवतिका प्रदिष्टा॥ (सि.भे.म.)

F. I., V, 56.
W. I., IX, 3–6.
I. P., 638–39.

१८३. कुमारी

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी–Lilliaceae)।

नाम—लै०–एलो वेरा (Aloe vera Tourn. ex Linn.); सं०–कुमारी; गृहकन्या; घृतकुमारिका (घृतवत् पिच्छिल पत्रमज्जा होने से); हि०–घीकुआँर, ग्वारपाठा, ढेकवार; पं०–कुवारगंदल; बं०–घृतकुमारी; म०–कोरफड; गु०–कुँवार पाठ; ता०–चिरुली; ते०–चिन्नकट बांदा; कन्न०–लोलिसार; मल०–कुमारी; अ०–सब्बारत; फा०–दरख्ते सिब्र; अं०–इण्डियन एलो (Indian aloe)।

स्वरूप—इसका **क्षुप**–१–२ फुट ऊँचा होता है। **पत्तियाँ**–१५ इञ्च लम्बी, ४ इञ्च चौड़ी, ¾ इञ्च मोटी, मांसल, कंटकित-दन्तुर, चक्राकार या दो

की पंक्तियों में सघन रूप से व्यवस्थित होती है। पत्तियों के भीतर घी के समान पिच्छिल मज्जा होती है। क्षुप के मध्य से लम्बा **पुष्पध्वज** निकलता है जिसमें रक्ताभ पुष्प आते हैं। शीत काल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

परिपुष्प के अवयव मिल कर एक बेलनाकार या घंटिकाकार नलिका बनाते हैं। पुंकेशर–परिपुष्प के बराबर या उससे अधिक लंबे, केशरसूत्र संयोजक के एक खात में निविष्ट रहते हैं। **फल**–कोष्ठस्फोटी (Loculicidal) होते हैं। इसके पत्र को काटने पर उससे एक पीले रंग का रस निकलता है जो ठंढा होने पर जम जाता है। उसे 'कुमारी-सार' कहते हैं। इसके विभिन्न नाम निम्नांकित हैं :—

सं०–कुमारीसार, सहासार, कन्यासार; हि०–मुसब्बर, एलुआ; म०–एलिया, काला बोल; गु०–एलियो; अ०–सिब्र; फा०–शबयार; अं०–एलोज (Aloes)।

प्रायः दो प्रकार से इसका निर्माण किया जाता है। जब रस को धूप में या मन्द आँच पर गरम किया जाता है तो उससे एक अपारदर्शक, मोमवत् सत्त्व प्राप्त होता है जिसे यकृद्वत् कुमारीसार (Hepatic aloes) कहते हैं। किन्तु जब रस को तीव्र आँच पर जल्दी सुखा लिया जाता है तो एक अर्धपारदर्शक सत्त्व मिलता है जिसे काचवत् कुमारीसार (Glassy aloes) कहते हैं। यह अलकोहल में विलेय होता है और इसमें ५% से अधिक राख नहीं होनी चाहिए।

जाति—भारतीय फार्माकोपिया में तीन प्रकार का मुसब्बर स्वीकृत किया गया है :—

१. कुराकाओ (Curaccao Aloes)—यह एलो वेरा पौधे से प्राप्त किया जाता है तथा अपारदर्शक, भूरे-काले रंग का होता है।

२. सकोतरी (Socotrine aloes)—यह एलो पैरी (A. perryi Baker) पौधे से प्राप्त होता है तथा रक्ताभ-काला या भूरा-काला, अपारदर्शक और चमकीला होता है।

३. अन्तरीपीय (Cape aloes)—यह एलो फेरोक्स (A. ferox Mill.) या उसके संकर पौधों से प्राप्त होता है। यह गहरे या हरिताभ भूरे रंग का चूर्ण होता है। ग्लिसरीन में मिलाकर देखने से इसमें भूरे माध्यम में असंख्य स्फटकीय कण दिखाई पड़ते हैं।

इनके अतिरिक्त नेटाल, मोका, जाफराबादी आदि अन्य जातियाँ भी होती हैं।

भारतीय प्रजाति के भी २–३ प्रकार पाये जाते हैं। Var.chinensis Baker दक्षिण भारत और मध्य भारत में होता है। इसका पत्राधार बैंगनी होता है तथा काँटे तीक्ष्ण नहीं होते। var. littoralis Koeing ex Baker मद्रास से रामेश्वर तक समुद्रतटवर्ती क्षेत्र में होता है जिसके पत्र छोटे और दन्तुरधार होते हैं। एक प्रकार काठियावाड़ क्षेत्र में होता है जिससे जाफराबादी मुसब्बर प्राप्त होता है। एक मिलता जुलता पौधा A. variegata Linn. महाराष्ट्र में होता है जिसके पत्ते बड़े, तीक्ष्णकंटक और पत्राधार पर सफेद धब्बों से युक्त होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल स्थान उत्तरी अफ्रीका, कनारी द्वीपसमूह तथा स्पेन है जहाँ से यह पश्चिमी द्वीपसमूह, भारत, चीन आदि देशों में फैला है। संप्रति भारत में सर्वत्र प्राप्त होता है। पहले अफ्रीका और जर्मनी से इसका आयात होता था किन्तु अब बन्द हो गया है।

रासायनिक संघटन—एलुआ में एलोइन (Aloin) नामक ग्लुकोसाइड समूह होता है जिसके कारण इसकी क्रिया होती है। कुराकाओ जाति में यह ३०% सकोतरी में उससे कम और अन्तरीपीय जाति में केवल १० प्रतिशत होता है। एलोइन का मुख्य घटक बार्वेलोइन नामक हलके पीले रंग का स्फटिकीय ग्लुकोसाइड है। इसके अतिरिक्त कुछ राल तथा एक सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण— गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—कटु
विपाक—तिक्त **वीर्य**—शीत

एलुआ लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण और उष्ण है।

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त होने से कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह दीपन, पाचन, भेदन, यकृदुत्तेजक तथा बड़ी मात्रा में विरेचन और कृमिघ्न है। इसकी कुछ क्रिया क्षुद्रान्त्र पर होती है जिससे पित्त का प्रवाह बढ़ जाता है किन्तु विशिष्ट क्रिया बृहदन्त्र की पेशियों पर होती है जिसमें प्रबल संकोच होने लगता है। कुछ ग्रन्थियों का स्राव भी बढ़ जाता है। इसकी क्रिया मन्द होती है और दस्त होने में प्रायः १०-१२ घंटे लग जाते हैं। अधिक मात्रा देने पर समय तो उतना ही लगता है और दस्त के साथ मरोड़, कुन्थन और कभी-कभी रक्त आ जाता है। सामान्य मात्रा में बँधे हुए, मुलायम और गहरे रंग के होते हैं किन्तु बड़ी मात्रा में देने पर पतले दस्त आते हैं। इसकी क्रिया में विलम्ब होने का कारण यह है कि क्षुद्रान्त्र में जाने पर जब पित्त के साथ मिलता है तभी अधिक क्रियाशील होता है। इससे गुद में रक्ताधिक्य भी होता है जिसके कारण इसका अधिक प्रयोग करने से अर्श होने की आशङ्का होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह स्निग्ध-पिच्छिल होने से वृष्य है। यह उष्ण होने से गर्भाशयगत रक्तसंवहन को बढ़ा देता है तथा गर्भाशय की पेशियों को उत्तेजित कर उसका संकोच बढ़ा देता है। इस कारण यह आर्त्तवजनन और गर्भस्रावकर है।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न हैं।

सात्मीकरण—पत्रमज्जा स्निग्ध-पिच्छिल होने से बल्य और बृंहण है।

उत्सर्ग—यह स्तन्य के द्वारा और कुछ मूत्र के द्वारा बाहर निकलता है।

शोषण—क्षत त्वचा के द्वारा भी इसका शोषण होता है और उससे भी रेचन हो सकता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में मुसब्बर का लेप करते हैं। जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। कुमारी की मज्जा पर हलदी का चूर्ण छिड़क कर गरम कर शोथ-वेदना तथा प्लीहावृद्धि में बाँधते हैं। इसका स्वरस नेत्राभिष्यन्द में डालते हैं। पत्रमज्जा दाहपीडायुक्त शिरोरोगों तथा नेत्ररोगों में बाँधते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग, गुल्म, प्लीहा-यकृत्-वृद्धि, उदरशूल, विबन्ध तथा कृमिरोग में इसका स्वरस प्रयोग करते हैं। कृमिरोग विशेषतः तन्तुकृमि में एलुआ की वस्ति भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में कुमारीस्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में इसका स्वरस तथा रजोरोध में एलुआ प्रयुक्त होता है। रजोरोध में एलुआ की वर्त्ति भी योनि में रखते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में यह लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में पत्रमज्जा का पाक बना कर देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पत्र।

मात्रा—पत्रस्वरस-१०-२० मिलि०; एलुआ-(चूर्ण)-०.१-०.३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—कुमार्यासव, कुमारिकावटी, रजःप्रवर्त्तनी वटी, कुमारीपाक।

प्रयोगविधि—१. रेचन के लिए इसके साथ क्षार तथा अन्य वातहर द्रव्यों को मिलावे जिससे मरोड़ न होने पावे।

२. आर्त्तवजनन के लिए रजःकाल से एक सप्ताह पूर्व से इसका सेवन प्रारम्भ करा देना चाहिए।

× × ×

'कुमारी क्षारभूद्देशे पङ्क्तिकन्ददला बला। विस्तारी बाढकन्दिनी विशाला पिच्छसंभृता॥ ध्वजाभमध्यदण्डा सारुणराजियुता पृथुः।' (शि.)

'कुमारी गृहकन्या च कन्या घृतकुमारिका । कुमारी भेदनी शीता तिक्ता नेत्र्या रसायनी ॥
मधुरा बृंहणी बल्या वृष्या वातविषप्रणुत् । गुल्मप्लीहयकृद्वृद्धिकफज्वरहरी हरेत् ॥
ग्रन्थ्यग्निदग्धविस्फोटपित्तरक्तत्वगामयान् ।' (भा. प्र.)

'गृहकन्या हिमा तिक्ता मदगन्धिः कफापहा । पित्तकासविषश्वासकुष्ठघ्नी च रसायनी ॥'
(रा. नि.)

'वीरास्रावः सहासारः कुमारीरससम्भवः । सहासारोऽग्निजननः पित्तनिर्हरणो मतः ॥
बलकृद्रेचनः पुष्पजननो गर्भपातनः । विट्सङ्गे कृमिरोगे च संन्यासेऽपस्मृतौतथा ॥
लुप्ते रजसि नारीणां शीतपित्ते शिरोरुजि । ज्वरे श्लेष्मोद्भवे प्लीह्नि मन्देऽग्नौ च प्रयुज्यते ॥
अर्शसरतं न सेवेत नान्तर्वत्नी न पुष्पिणी । न चासृग्दरिणी नापि यकृद्वृक्कादिरोगवान् ॥'
(आ. वि.)

यकृत्कृमिप्लीहविबन्धगुल्मशूलादिकेष्वैलमुशन्ति वैद्याः । (सि. भे. म.)

B. B. O., III, 1141.
W. I., I, 60–62.
I. P., 36–37.
M. P. I., I, 44–46.

विरेचनोपग

१८४. पीलु

परिचय

गण—विरेचन, विरेचनोपग, शिरोविरेचन, ज्वरहर, कटुकस्कन्ध (च०); शिरोविरेचन (सु०) ।

कुल—पीलु-कुल (साल्वेडोरेसी–Salvadoraceae) ।

नाम—लै०–साल्वाडोरा पर्सिका (Salvadora persica Linn.); सं०–पीलु, गुडफल (मधुर फल); स्रंसी (सारक); हि०–पीलु, झाक; पं०–पीलू; बं०–झाल; म०–पीलु, खाखण; गु०–खारी जाल; ता०–उघाईपुट्टाई; ते०–बारागोगु; कन्न०–गोनीमारा; अ०–आरक; फा०–दरख्ते मिसवक (मंजनवृक्ष); अं०–टूथ ब्रश ट्री (Tooth brush tree) ।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार छोटा **वृक्ष** ८–१० फुट ऊँचा होता है। इसका **कांड** छोटा, टेढ़ा तथा शाखायें पुष्कल, दुर्बल और नीचे झुकी हुई होती हैं। **पत्र**–अभिमुख, प्रायः मांसल, लट्वाकार या आयताकार, गोलाग्र, १–२ इञ्च लम्बे और १ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**–अक्षीय या शीर्षस्थ, २–५ इञ्च लम्बी प्रायः बहुविभक्त मंजरियों में, छोटे, सवृन्त, हरिताभ पीत होते हैं। बाह्यकोश–३/१० इञ्च लम्बे, लट्वाकार, खण्डयुक्त होते हैं। अन्तःकोश–१/१० इञ्च लम्बे प्रायः पञ्चधाविभक्त, पुंकेशरसूत्र छोटे, परागाशय लट्वाकार होते हैं। **फल**–१/८ इञ्च व्यास के, गोलाकार, चिकने, पकने पर लाल हो जाते हैं जिनके भीतर एक बीज होता है। फल को मसल कर सूंघने से तीक्ष्ण गन्ध आती है। फल मीठे होते हैं और खाये जाते हैं। वसन्त ऋतु में पुष्प आते हैं और ग्रीष्म में फल पकते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति साल्वाडोरा ओलिऑयडिस (Salvadora oleoides Decne) होती है। इसके पत्र भालाकार, तीक्ष्णाग्र, पुष्पमंजरी अक्षीय तथा फल गुच्छों में, कुछ बड़े होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पंजाब, राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत आदि शुष्क प्रदेशों में होता है। इसकी दूसरी प्रजाति पंजाब और सिन्ध में विशेषतः होती है।

रासायनिक संघटन—मूलत्वक् में राल, रंजक द्रव्य, टैनिन, सैपोनिन, क्षाराभ साल्वाडोरिन (Salvadorine), ट्राइमेथिलएमिन (Tri-methyl-amine) और लवण जिनमें क्लोराइड प्रचुर प्रमाण में होता है। फलों में शर्करा, वसा, रंजकद्रव्य और एक क्षाराभ होता है। बीजों से ठोस वसा ३९·३ प्रतिशत प्राप्त होती हैं। S. oleoides के बीजों में ४०–५०% बसा होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजतैल शोथहर और वेदनास्थापन तथा मूलत्वक् विस्फोटजनन है। इसकी शाखायें दन्तशोधन हैं। फल तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका पका फल अनुलोमन तथा बीज रेचक हैं।

रक्तवहसंस्थान—पत्र स्तम्भन और रक्तपित्तप्रशमन है।

श्वसनसंस्थान—इसका पत्र कासहर तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—फल मूत्रल एवं अश्मरीघ्न है।

प्रजननसंस्थान—छाल आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल सन्धिवात आदि में अभ्यंग के रूप

में प्रयुक्त होता है। आमवात, अर्श, अर्बुद आदि में पत्तों को गरम कर बाँधते हैं तीजचूर्ण और मूलत्वक् का लेप सर्पदंश में करते हैं। इसकी शाखाओं की दातून करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदर, गुल्म, अर्श आदि में इसका शोधनार्थ प्रयोग करते हैं। विरेचन द्रव्यों के साथ सहायक रूप में भी इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसके पत्र प्रयुक्त होते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास एवं श्वास में शोधनार्थ फलों को सूंघते हैं तथा पत्रस्वरस या क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में फल या मूलत्वक् देते हैं।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् का रजोरोध में करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में पत्र, फल आदि का प्रयोग होता है।

तापक्रम—फल का प्रयोग ज्वर में करते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में बीज का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, बीज, पत्र, मूलत्वक्।

मात्रा—बीजचूर्ण १–३ ग्रा०, क्वाथ ५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—पीलुतैल।

× × ×

'तिक्तं पित्तकरं तेषां सरं कटुविपाकि च। तीक्ष्णोष्णं कटुकं पीलु सस्नेहं कफवातजित्॥'
(सु. सू. ४६)

'पीलु······दोषघ्नं गरहारि च।' (च. सू. २७)

'पीलु श्लेष्मसमीरघ्नं पित्तलं भेदि गुल्मनुत्।
स्वादु तिक्तं च यत् पीलु तन्नात्युष्णं त्रिदोषहृत्॥' (भा. प्र.)

F. I, III, 619–20.
F. B. O., II, 556.
W. I., IX, 193–95.

संशोधन (उभयतोभागहर)

१८६. देवदाली

परिचय

गण—वमन, फलिनी (च०), उभयतोभागहर, ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-लफा एकिनाटा (Luffa echinata Roxb.); सं०-जीमूत, देवदाली, गरागरी, देवताडक; हि०-बन्दाल, घघरबेल; बं०-देवताड; म०-देवडांगरी; गु०-कुकुरवेल; ता०-पानिबिरा; अं०-ब्रिस्टली लफा (Bristly luffa)।

स्वरूप—इसकी बड़ी प्रतानिनी या कुछ आरोहिणी **लता** होती है। **काण्ड**—पतला, रोमश, परिखायुक्त, पंचकोण होता है। तन्तु (Tendrils) द्विविभक्त होते हैं। **पत्र**-लट्वाकार, हृद्वत्, दन्तुर, रोमश, ३–५ खण्डयुक्त, १–२½ इंच लम्बे और चौड़े होते हैं। सूखने पर छोटे चक्राकार चिह्न दिखाई पड़ते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, ½-१ इंच व्यास के होते हैं। पुंपुष्पदण्ड–प्रायः युग्म जिनमें एक में एक पुष्प तथा दूसरे में २–८ इञ्च लंबी मंजरी में शीर्षस्थ ५–१२ पुष्प आते हैं। स्त्रीपुष्प–एकल, '३–'८ इञ्च लंबे, सघन रोमश कण्टकों से व्याप्त पुष्पदण्ड पर होता है। **फल**–१–१'३ इञ्च लंबे, अंडाकार होते हैं जिनका अग्रभाग शंक्वाकार होता है और वे सघन कण्टकीय रोमों से आच्छादित होते हैं। **बीज**–⅙ इञ्च लंबे, भूरे काले, चपटे, अंडाकार अतितिक्त होते हैं। सितम्बर-नवम्बर में पुष्प तथा अक्टूबर-जनवरी में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति लफा ग्रेविओलेन्स (Luffa graveolens Roxb.) पीले फूल वाली होती है जिसके फल में कांटे भी कम और मृदु होते हैं। इसका एक प्रकार Var. longystyla Clarke बांदा की तरफ होता है। इसकी पुंपुष्पमंजरी छोटी होती है तथा फल पर कंटक कम होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः गुजरात, बंगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक तैल ११ % होता है। इसके अतिरिक्त, इसके फल में एक तिक्त पदार्थ एकिनेटिन (Echinetin) तथा एक सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, व्रणरोपण, लेखन और शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अल्प मात्रा में दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक तथा बड़ी मात्रा में वामक और रेचक है। कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों में इसका स्वरस देते हैं। फल को पीस कर टिकिया बना अर्शाङ्कुरों पर लेप करने से वे सूख जाते हैं। कामला, पीनस, अपस्मार और कफज शिरोरोगों में इसका नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला, अर्श तथा बड़ी मात्रा में जलोदर, पाण्डु, विष, कृमि आदि में देते हैं। इससे वमन और विरेचन होकर दोषों का संशोधन हो जाता है। कामला में वन्दाल-फल के हिम का नस्य देते हैं। इससे नाक द्वारा पीला पानी टपकता रहता है और आँखों का पीलापन दूर हो जाता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा कष्टप्रसव में यह लाभकर है। मूढगर्भ में भी इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में इसका प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—विषों में संशोधनार्थ देते हैं। वमन और विरेचन से विष निकल जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—१–३ ग्रा०

× × ×

'जीमूतकं त्रिदोषघ्नं यथास्वौषधकल्पितम्। प्रयोक्तव्यं ज्वरश्वासहिक्काद्ये-वामयेषु च ॥' (च. क. २)

'देवदाली तु तिक्तोष्णा कटुः पाण्डुकफापहा। दुर्नामश्वासकासघ्नी कामलाशोथनाशिनी ॥' (रा. नि.)

'देवदाली रसे पाके तिक्ता तीक्ष्णा विषापहा। वामनी हन्ति गुदजकफशोफामकामलाः ॥ ज्वरकासारुचिश्वासहिध्मापाण्डुक्षयकृमीन्।' (कै. नि.)

W. I., VI, 181.
B. B. O., II, 413.
F. I., II, 615.

ग्राही

१८६. बिल्व

परिचय

गण—शोथहर, अर्शोघ्न, आस्थापनोपग, अनुवासनोपग (च०); बृहत् पंचमूल, वरुणादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—जम्बीर-कुल (रूटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-ईग्ल मार्मेलस (Aegle marmelos Corr.); सं०-बिल्व (रोगान् विलति भिनत्ति-जो रोगों को नष्ट करे); शाण्डिल्य (पीड़ा को दूर करने वाला); शैलूष (सुन्दर फल या पहाड़ों पर होने वाला), श्रीफल (सुन्दर फल); मालूर (शरीर की शोभा बढ़ाने वाला); गन्धगर्भ (गन्धयुक्त); कण्टकी (कंटकयुक्त); सदाफल (सदा फल लगे होने के कारण); महाकपित्थ (बड़े कपित्थ के समान); ग्रन्थिल (शाखायें गाँठदार होने से); हि०-बेल; म०-बेल; गु०-बीली; पं०-बिल; बं०-बेल; मल०-विल्वम्; क०-बिलपत्रे; ते०-मोरेडु; सिं०-कठोरी; अ०-सफरजले हिन्दी; फा०-बेह हिंदी शुल्ल; अं०-बेल (Bael); इसकी मज्जा को बिल्वपेशिका, बिल्वकर्कटी कहते हैं। सूखे हुये गूदे को 'बेलसोंठ' या 'बेलगिरी' कहते हैं।

स्वरूप—इसका २५–३० फुट ऊँचा, ३–४ फीट मोटा, वर्षायुपत्रक, सीधे, तीक्ष्ण, अक्षीय, १ इंच लंबे कण्टकों से युक्त वृक्ष होता है। **पत्र**-संयुक्त, त्रिपत्रक और गंधयुक्त होते हैं। पत्रक-अण्डाकार या लट्वाकार-भालाकार, २–४ इञ्च लम्बे होते हैं जिनमें पार्श्विक पत्रक अवृन्त और अन्तिम दीर्घवृन्त होता हैं। पत्रवृन्त-१–२½ इञ्च लम्बा तथा मध्यदंड ½–१ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत सुगन्धि १½–३ इञ्च लम्बी, अनेकसंख्य पार्श्विक या शीर्षस्थप्राय मंजरियों में नये पल्लवों के उद्गम के साथ आते हैं। **फल**-२-४ इञ्च व्यास का, गोलाकार या अंडाकार, धूसर पीताभ होता है जिसके भीतरी भाग में ८–१५ खण्ड होते हैं। फलत्वक् कठिन चिकनी और सुगन्धित होती है। फलमज्जा-पीतवर्ण, मधुर और सुगन्धित होती है जिसमें पिच्छिल द्रव्य से आवृत **बीज**-छोटे, कड़े, अनेक होते हैं। गर्मियों में पत्ते झड़ जाते हैं। पुष्प मई-जून मास में तथा फल दूसरे वर्ष मई-जून मास में पकते हैं।

जाति—यह वन्य और ग्राम्य दो प्रकार का होता है। जंगली बेल में फल छोटा और कांटे अधिक तथा ग्राम्य में फल बड़ा और कांटे कम होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में, विशेषतः सूखे पहाड़ी क्षेत्रों में तथा हिमालय में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में म्युसिलेज, पेक्टिन, शर्करा (४.६%), टैनिन (९%), उड़नशील तैल, तिक्त सत्त्व, निर्यास तथा भस्म २ प्रतिशत होते

है। इसमें 'मार्मेलोसिन' (Marmelosin) नामक एक कार्यकारी द्रव्य होता है। ताजे पत्र से एक विशिष्ट गन्धयुक्त हरा-पीला तैल (०·६%) प्राप्त होता है। पत्र में ईगेलिन (Aegelin), ईगेलिनिन (Aegelinin) आदि अनेक क्षाराभ और कुमारिन पाये गये हैं। बीजों से भी एक हलके पीले रंग का तिक्त तैल (११·६%) निकलता है जिसमें रेचक गुण होता है। मूल एवं काण्ड की छाल में अम्बेलिफेरोन एवं अन्य कुमारिन तथा एक क्षाराभ ०·३% होता है। काण्डत्वक् से मार्मिन (Marmin) नामक एक कुमारिन पाया गया है। काण्ड की भस्म में सोडियम और पोटाशियम के लवण, कैल्शियम और लौह के फास्फेट, कैल्शियम कार्बोनेट, मैगनीशियम कार्बोनेट, सिलिका आदि होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**— कषाय, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, लघु, कषाय और तिक्त होने से कफ का तथा उष्ण होने से वात का शामक है। इस प्रकार यह कफ-वात को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका पत्र शोथहर एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मूल नाडीतन्तुओं का शामक है।

पाचनसंस्थान—कच्चा फल दीपन, पाचन, ग्राही एवं कृमिघ्न है। पका फल कषाय, मधुर और मृदुरेचन है। अधिक लेने से यह विष्टम्भ उत्पन्न करता है। पत्रस्वरस यकृदुत्तेजक और पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है। शोथ को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र को कम करता है तथा तद्‌गत शर्करा भी इससे कम होती है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय-शोथ को दूर करता है।

तापक्रम—इसका मूल एवं पत्र ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—पका फल मधुर होने से बल को बढ़ाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—नेत्राभिष्यन्द में पत्र का स्वरस नेत्र में डालते हैं तथा पत्तियों का लेप पलक पर लगाते हैं। पार्श्वशूल, शोथ आदि में पत्तियों से स्वेदन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—इसका मूल वातव्याधि, आक्षेपक, उन्माद, अनिद्रा आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मूलत्वक् एवं कच्चे फल का प्रयोग अग्निमान्द्य, अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में होता है। उदरशूल में भी लाभकर है। कच्चे फल का गूदा आग में पका कर पुराने गुड़ या मधु के साथ मिला कर देने से रक्तातीसार, रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श आदि में लाभ करता है। पका फल भी इन रोगों में देते हैं। विष्टम्भी होने के कारण पके फल का अधिक मात्रा में तथा अर्श आदि रोगों में अधिक उपयोग नहीं करना चाहिए। विबंध में पका फल देते हैं इससे मल साफ होता है। पत्रस्वरस काली मिर्च के साथ विबन्ध तथा कामला में देते हैं। विसूचिका के प्रतिषेध के लिए इसका फल नित्य खिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—इसका मूल हृद्दौर्बल्य तथा हृत्कम्प आदि में देते हैं। फल कषाय होने से रक्तस्तम्भन है। मूलत्वक् एवं पत्रस्वरस का शोथरोग में प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—पत्र का स्वरस प्रतिश्याय, कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—पत्रस्वरस का प्रयोग इक्षुमेह में करते हैं। ताजे फल का गूदा कबाबचीनी का चूर्ण मिला कर दूध के साथ पूयमेह में देते हैं। इससे शोथ और वेदना कम होती है। छाल का स्वरस जीरा का चूर्ण और दूध के साथ शुक्रमेह में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय-शोथ, श्वेतप्रदर तथा सूतिकारोग को दूर करता है।

तापक्रम—इसकी मूलत्वक् विषमज्वर में देते हैं। पत्रस्वरस भी ज्वरनाशक है।

सात्मीकरण—बलवृद्धि के लिए पके फल का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पत्र, फल। चूर्ण आदि के लिए कच्चा फल, मुरब्बे के लिए अधपका फल और पानक (शर्बत) के लिए पका फल लेना चाहिए। दशमूल आदि कषायों में मूल की त्वचा ली जाती है।

मात्रा—चूर्ण–३–६ ग्रा०; स्वरस–१०–२० मि.लि.; पानक–२०–४० मि.लि.

विशिष्ट योग—बिल्वपंचक क्वाथ, बिल्वादि चूर्ण, बिल्वादि घृत, बिल्वतैल, बिल्वमूलादि गुडिका।

× × ×

'बिल्वः शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि। गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः॥
श्रीफलस्तुवरस्तिक्तो ग्राही रूक्षोऽग्निपित्तकृत्। वातश्लेष्महरो बल्यो लघुरुष्णश्च पाचनः॥'
(भा. प्र.)

'कफानिलहरं तीक्ष्णं स्निग्धं संग्राहि दीपनम्। कटुतिक्तकषायोष्णं बालं बिल्वमुदाहृतम्॥
विद्यात्तदेव संपक्वं मधुरानुरसं गुरु। विदाहि विष्टम्भकरं दोषकृत् पूतिमारुतम्॥
(सु. सू. ४६)

'बिल्वं साङ्ग्राहिकदीपनीयवातकफप्रशमनानाम् ।' (च. सू. २५)
'बिल्वमज्जभवं तैलमुष्णं वातहरं परम् ।' (कै. नि.)

M. P. I., I, 25-26.
W. I., I, 33-35.
B. B. O., I, 173.
F. I., I, 516-17.

१८७. जातीफल

परिचय

कुल—जातीफल-कुल (मिरिस्टिकेसी-Myristicaceae)।

नाम—लै०-मिरिस्टिका फ्रैगरेन्स (Myristica fragrans Houtt); सं०-जातीफल (गंधयुक्त फल), जातिकोष (सुगन्धिकोषयुक्त) मालतीफल; हि०, बं०, म०, गु०-जायफल; ता०, ते०, कन्न०, मल०-जाजिकई; अ०-जौजबुवा; फा०-जौजबुया; अं०-नटमेग ट्री (Nutmeg tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** कोमलशाखायुक्त, सुगन्धित, ३०-४० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-३½ इञ्च लम्बे, चर्मवत्, अंडाकार-आयताकार या भालाकार, लंबाग्र, तीक्ष्णाधार, हलके पीले-भूरे रंग के, अधःपृष्ठ पर लाल-भूरी सिरायें होती हैं। पत्रवृन्त ¼-½ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-एकलिंगी, छोटे, सुगन्धित और पीतवर्ण, छत्राकार मंजरियों में होते हैं। **फल**-गोलाकार या अंडाकार, १½-३ इञ्च लम्बे, चिकने, छोटे नासपाती या अमरूद के सदृश नीचे लटकते हुए होते हैं। फलत्वचा-पीली और मोटी होती है जो पकने पर दो भागों में फट जाती है। फलमज्जा के भीतर आण्डाकार, कवचयुक्त, पिच्छिल, भूरे रंग का कठिन बीज होता है। बीज के ऊपर एक रक्ताभ पीले रंग का मांसल कवच (aril) होता है जो सूखने पर उससे पृथक् हो जाता है। इसे 'जातिपत्री' (हिं०-जावित्री; अं०-मेस-mace) कहते हैं। फल पकने पर स्वयं फट जाता है और जावित्री तथा बीज (जातीफल) बाहर निकल आते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति M. malabaricum Lam. दक्षिण भारत में होती है जिसके फल लम्बे, बीज और कवच निर्गन्ध और स्वादरहित होते हैं। ये बम्बइया जायफल या जावित्री (Bombay nutmeg, Bambay Mace.) कहे जाते हैं। एक दूसरी प्रजाति M. beddomei King भी है। इनका अपमिश्रण जायफल में किया जाता है।

व्यापार में इसकी दो मुख्य जातियाँ स्वीकृत हैं—१-पूर्व भारतीय (East Indian) २-पश्चिम भारतीय (West Indian) जो क्रमशः इण्डोनेशिया और ग्रिनाडा द्वीप से प्राप्त किये जाते हैं। पूर्व भारतीय जायफल भी तीन तरह का आता है—१. बांदा जायफल २. सियाव जायफल ३. पेनांग जायफल। इनमें पहला उत्तम होता है जिसमें ८% सुगन्धित तैल होता है। एक चौथी जाति पैंपुआ जायफल भी M. argentea Warb. नामक वृक्ष से आता है। यह अल्पगन्धि होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह मोलक्कस का मूल निवासी है किन्तु अब मलाया द्वीपपुंज, पेनांग, लंका तथा दक्षिण भारत में उगाया जाता है। पौधे बीज या कलम से उगाये जाते हैं। जायफल और जावित्री का बाहर से आयात होता है।

संग्रहविधि—लगभग ७ वर्ष की आयु से ७०-८० वर्ष तक पौधे फल देते हैं। वृक्ष में प्रायः साल भर फल लगे रहते हैं किन्तु मुख्य फसल जून-अक्तूबर में ली जाती है। पके हुए फल जब फट कर गिर जाते हैं तब उन्हें चुन लिया जाता है या पेड़ पर से ही अंकुशयुक्त छड़ी के सहारे उतार लेते हैं। बीजों को भी चुन लेते हैं। फलों से बीजों को पृथक् कर तथा ऊपरी कवच हटा कर सुखाते हैं। जब हिलाने से भीतर आवाज होने लगती है तब हथौड़ी से मारकर बीजावरण को पृथक् कर गिरी को निकाल लेते हैं। यही जायफल है। कवच को अलग से छाया में सुखाकर जावित्री बनाते हैं।

जायफल अण्डाकार २-२·५ से० मी० लम्बा, १·५-२·८ से० मी० व्यास का, धूसराभ भूरे रंग का, सूक्ष्म रक्ताभ, भूरे दागों और रेखाओं से युक्त, जालीदार परिखायुक्त होता है। काटने पर इसका पृष्ठ भाग मोम की तरह तथा चित्रित होता है। इसमें तीव्र गन्ध तथा कटु स्वाद होता है। फल का बाह्य भाग खट्टा, कषाय और सुगन्धित होता है। इसका अचार लगाते हैं।

रासायनिक संघटन—जायफल में उड़नशील तैल ६-१६% एक स्थिर तैल (३८-४०%), प्रोटीन (७·५%), स्टार्च (१४·६-२४·२%), खनिज द्रव्य १·७% होते हैं। जावित्री में जायफल के सदृश उड़नशील तैल ४-१५%, स्थिर तैल (२६%), रालीय रंजक द्रव्य, पेक्टिन, एमाइलोडेक्स्ट्रिन (२५%) होते हैं। स्थिर तैल 'जातीफल-नवनीत' (Butter of nutmeg) कहलाता है जिसमें ग्लिसराइड, राल तथा एक सुगन्धित तैल (६-१३%) होता है। उड़नशील तैल में मिरिस्टिसीन (myristicin) और मिरिस्टिक अम्ल (myristic acid), डी-पाइनीन, डी-कैम्फीन, जिरेनिआल, सैफ्रोल, युजिनॉल आदि पदार्थ होते हैं। पत्र और छाल में भी उड़नशील तैल थोड़ा होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, उत्तेजक, कुष्ठघ्न, दुर्गन्धनाशक एवं कीटनाशक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन, आक्षेपहर और वातशामक है। अतिमात्रा में यह मादक है। मस्तिष्क पर इसकी क्रिया कर्पूर के समान होती है।

पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, वातानुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है। पित्तसारक होने से पुरीष की दुर्गन्ध और कृष्णता को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य और आर्त्तवजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल, सन्धिशोथ आदि में इसका लेप करते हैं। चर्मरोगों में इसका मलहम बनाकर लगाते हैं। शैत्य और अवसादयुक्त अवस्था में इसका तैल त्वचा पर रगड़ते हैं। ध्वजभंग में इसका तैल शिश्न पर लगा कर पान के पत्ते से बाँधते है। दुर्गन्धयुक्त जीर्ण व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। बच्चों के प्रतिश्याय में इसको सरसों के तैल में घिस कर सिर पर लगाते हैं। कीड़े मारने के लिए इसके तैल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अनिद्रा, शूल, आक्षेप आदि वातिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखवैरस्य, अग्निमांद्य, अजीर्ण, यकृद्विकार, विष्टम्भ, अतिसार, ग्रहणी तथा कृमि रोगों में यह प्रशस्त माना गया है। तृष्णा और वमन को रोकने के लिए भी देते हैं। विसूचिका में इससे शृत जल पीने को देते हैं। इससे अतिसार, तृष्णा, वमन, अवसाद सबमें लाभ होता है। अतीसार में इसको घिसकर नाभि पर लेप भी करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—पीनस, कास, श्वास और हिक्का में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह कामोत्तेजना और स्तम्भन के लिए वाजीकरण योगों में दिया जाता है। रजोरोध कष्टार्त्तव में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर विशेषत; ज्वरातीसार में प्रयोग करते हैं

सात्मीकरण—अतिसार या ग्रहणी के बाद दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज (जायफल) और कोष (जावित्री)।

मात्रा—चूर्ण-½-१ ग्रा०, तैल-१-३ बूंद

विशिष्ट योग—जातीफलादि चूर्ण, जातीफलादि वटी;।

वक्तव्य—जावित्री के गुणकर्म जायफल के समान ही है किन्तु यह विशेषतः रोचन, वर्ण्य, वेदनास्थापन है। ग्राही कम है।

\+ + +

'जातीफलं जातिकोषं मालतीफलमित्यपि। जातीफलं रसे तिक्तं तीक्ष्णोष्णं रोचनं लघु ॥
कटुकं दीपनं ग्राहि स्वर्यं श्लेष्मानिलापहम्। निहन्ति मुखवैरस्यं मलदौर्गन्ध्यकृष्णताः ॥
कृमिकासवमिश्वासशोषपीनसहृद्रुजः।' (भा. प्र.)

'जातीफलस्य त्वक् प्रोक्ता जातिपत्री भिषग्वरैः।
जातिपत्री लघुः स्वादुः कटूष्णा रुचिवर्णकृत् ॥
कफकासवमिश्वासतृष्णाकृमिविषापहा।' (भा. प्र.)

'जतिकोशोऽथ कर्पूरं जातीकटुकयोः फलम्।.........तिक्तं कटु कफापहम् ॥
लघु तृष्णापहं वक्त्रक्लेददौर्गन्ध्यनाशनम्।' (सु. सू. ४६)

'तैलं जातीफलोद्भूतं समुत्तेजनमग्निदम्। जीर्णातिसारशमनमाध्मानाक्षेपशूलनुत ॥
आमवातहरं बल्यं दन्तवेष्टव्रणार्त्तिनुत्।' (आ. वि.)

W. I., VI, 473-80.
F. I., V, 102.
I. P., 470-91.

१८९. पर्णयवानी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लेबिएटी-Labiatae)।

नाम—लै०-कोलिअस अम्बोइनिकस (Coleus amboinicus Lour.); हि०-पत्ता अजवाइन; सं०-पर्णयवानी (पत्तियों में अजवाइन की सी गन्ध होने से); अं०-कण्ट्री बोरेज (Country borage)। बं०-पाथरचूर; म०-पान ओवा; गु०-ओवापान; ता०-कर्पूरवल्ली;

स्वरूप—इसका **क्षुप** रोमश तथा नीचे की ओर गुल्मवत् होता है। **काण्ड**—१–३ फुट का मांसल होता है। **पत्र**—१–२ इञ्च लम्बे, गोलदन्तुर, अतिस्थूल, गोलाकार, हृद्वत् और किञ्चित् रोमश होते हैं। इनसे अजवाइन की सी तीक्ष्ण गन्ध आती है। **पुष्प**—छोटे, नीले या बैंगनी रंग के, सघन किन्तु दूर-दूर स्थित चक्रों में होते हैं। कलिका में कोणपुष्पकों की चार पंक्तियाँ होती हैं। मई–जून में पुष्प आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम निवासस्थान मलक्का द्वीपसमूह है किन्तु सम्प्रति भारत में सर्वत्र उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल होता है जिसका प्रमुख घटक कार्वाक्रोल (Carvacrol) है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषप्रयोग—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह आक्षेपहर, वेदनास्थापन तथा मादक है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक, ग्राही और क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न, कफदुर्गन्धनाशन तथा श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीघ्न और मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल तथा जांगम विषों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि (आक्षेपक, अपतन्त्रक आदि) में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ, यकृद्विकार, उदरशूल, अतिसार, ग्रहणी, विसूचिका और कृमिरोग में इसका प्रयोग मुख्य रूप से होता है। यह विसूचिका के अतिसार को रोकने में सर्वोत्तम औषध सिद्ध हुई है। इसके लिए प्रथम मात्रा १२ मि० लि० की और फिर १–१ घंटे पर दो मात्रा ६ मि० लि० की देते हैं। यदि इससे बन्द न हो तो आठ घंटों के बाद पुनः इसी क्रम से देते हैं जब

तक कि पाखाना रुक न जाय। इससे विसूचिका के तण्डुलोदक जैसे दस्त कुछ ही घंटों में पीले हो जाते हैं और फिर गाढ़े, हरे रंग के होने लगते हैं तथा अन्त में बिलकुल कड़े हो जाते हैं। विसूचिका के जीवाणु भी इससे अल्प और मन्द हो जाते हैं यद्यपि पूर्णतः नष्ट नहीं होते। ग्रहणी रोग में इसके पत्तों की पकौड़ी बनाकर खिलाने की प्रथा है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास एवं हिक्का में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पत्र।

मात्रा—स्वरस–५–१० मि.लि.

\+ \+ \+ \+

ख्याता पर्णयवानी तु यवानीगन्धपर्णिका। जाता पूर्वीयद्वीपेषु भारते प्रसृता भृशम् ॥
तीक्ष्णा पर्णयवान्युष्णा कटुस्तिक्ता रसे लघुः। दीपनी पाचनी रुच्या मलसंग्राहिणी परम् ॥
अग्निमान्द्ये यकृद्रोगे ग्रहण्यामुदरक्रिमौ। विषूचिकायामश्मर्यां मूत्रकृच्छ्रे च शस्यते ॥
(स्व०)

W. I. II, 308.
B, B. O., II, 771.
F. I., IV, 625.

आमहर (उपशोषण)

१९०. कुटज

परिचय

गण—अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग, वमन (च०); आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, हरिद्रादि, लाक्षादि, ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी–Apocynaceae)।

नाम—लै०–होलेरीना ऐण्टीडिसेण्टेरिका (Holarrhena antidysenterica (Linn.) Wall.); सं०–कुटज (कुट–पर्वतशृङ्ग पर होने वाला); वत्सक (वत्सदेश-प्रयाग के पास का विन्ध्यक्षेत्र जिसकी राजधानी कौशाम्बी थी–में होने वाला); गिरिमल्लिका (बेला के सदृश श्वेत पुष्प होने के कारण); कालिंग (कलिंगदेश–उड़ीसा–में अधिक पाया जाने वाला), वृक्षक (छोटा वृक्ष), इन्द्रवृक्ष (कलिंग स्थित महेन्द्र पर्वत पर विशेष होने वाला); हिं०–कुड़ा, कुड़ैया; बं०–कुरची; म०–कुडा; गु०–कुडो; ता०–वेप्पलेई; ते०–कोडाग; कन्न०–कोरची; मल०–कोडगपल; उ०–खेरवा, पं०–केनर; आ०–दुदखुरी; अ०–तीवाजे हिन्दी, अ०–

शज्रलिसानुल असाफीरूल मुर्र; फा०—दरख्त जवान कुजिश्क तल्ख; अं०—कुर्ची (Kurchi)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** वर्षायुपत्रक ३०–४० फीट ऊँचा होता है। **कांडत्वक्**—पाण्डुधूसर रुखड़ी होती है। **पत्र**—६–१२ इञ्च लम्बे, १½–५ इञ्च चौड़े, कदम्ब-पत्र के सदृश लट्वाकार या अण्डाकार-आयताकार, अभिमुख क्रम में, ह्रस्ववृन्त होते हैं। इनमें १०–१६ जोड़ी अधस्तल पर उभरी हुई धनुषाकार सिरायें होती हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, ईषद्गन्धयुक्त, ३–६ इञ्च व्यास की अन्त्य मंजरियों में, लगभग १–१½ इञ्च व्यास के होते हैं। बहिर्दल-लंबाग्र, अन्तर्दलनलिका कोमल, ⅓–½ इञ्च लम्बी, दल आयताकार, गोलाग्र होते हैं। **फल**-शिम्बी के सदृश, बेलनाकार, ८–१६ इञ्च लम्बे, ·२–·४ इञ्च व्यास के, दो-दो एक साथ वृन्त की ओर मिले हुये तथा दूसरे सिरे पर पृथक् होते हैं। इन फलियों के ऊपर सफेद दाग होते हैं। **बीज**—यव के सदृश, धूसरवर्ण, ½ इञ्च लम्बे, एक शिम्बी में लगभग २५–३० होते हैं। इनके लम्बे सिरे पर मदार की तरह कोमल रोमगुच्छ (रूई) भूरे रंग का, १–२ इञ्च लम्बा लगा होता है। यव के समान होने से बीजों को 'इन्द्रयव' कहते हैं। मई-जुलाई में पुष्प और जाड़े में फल लगते हैं। फरवरी-अप्रैल में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

जाति—चरक ने इसकी दो जातियां बतलाई हैं :—(१) पुंकुटज, (२) स्त्रीकुटज। पुंकुटज के फल बड़े, पुष्प श्वेत तथा पत्र स्निग्ध होते हैं और स्त्रीकुटज की छाल श्यावर्ण, फल छोटे, तथा पुष्प अरुण कहे गये हैं। आधुनिक विद्वान् इसकी दो जातियाँ बतलाते हैं—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। संभवतः प्राचीनों का पुंकुटज श्वेत और स्त्रीकुटज कृष्ण जाति है। स्त्रीकुटज से *Wrightia tomentosa* Roem. & Schult का ग्रहण किया जा सकता है। इसके पुष्प अरुणवर्ण होते हैं। फलियाँ दूसरे सिरे पर परस्पर मिली रहती हैं जिनके पृष्ठ भाग पर सफेद ग्रन्थियाँ होती है। पत्रवृन्त को तोड़ने से पीले रंग का दूध निकलता है। *W. coccinea* Sims. प्रजाति में गहरे लाल रंग के पुष्प आते हैं। यह वृक्ष भारत के उत्तर पूर्वी भाग से होता है। *W. tinctoria* R. Br. प्रजाति में श्वेत सुगन्धित पुष्प आते हैं अतः यह चरकोक्त (अरुणपुष्प) स्त्रीकुटज नहीं हो सकता। पुंकुटज *H. antidysentrica* है। श्वेत और कृष्ण कुटज में निम्नांकित भेद हैं :—

श्वेत	कृष्ण
१. **त्वक्**—पांडुधूसर	अरुणाभ या कृष्णाभ
२. **पत्र**—सूखने पर पाण्डुवर्ण	सूखने पर कृष्ण, कुछ छोटे
३. **पुष्प**—श्वेत	अरुणाभ
४. **फलियाँ**—सिरों पर पृथक्	सिरों पर संसक्त
५. **बीज**—तिक्त	मधुर

श्वेत कुटज तथा तिक्त बीज (इन्द्रयव) अधिक गुणकारी होते हैं। आजकल बाजार में दोनों बीज मिले-जुले और अधिकांश मीठे बीज आते हैं। अतः औषध के लिए चुन कर सावधानी से तिक्त बीज ही लेना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। कृष्ण कुटज विशेषतः दक्षिण भारत और महाराष्ट्र में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में कोनेसिन (Conessin) तथा १७ अन्य क्षाराभ पाये गये हैं। कुल क्षारभ ०.२२–४.२% होता है। इसके अतिरिक्त गोंद ९.५६, राल ०.२ तथा टैनिन १.१४ प्रतिशत होता है। बीजों में भी ये ही पदार्थ किन्तु अल्प प्रमाण में होते हैं। बीजों से एक उग्रगन्धि तैल १९–३०% निकलता है।

संग्रहविधि—८ से १२ वर्ष की आयु के वृक्ष से छाल का संग्रह शरद् ऋतु में करना चाहिए। उस समय इसमें क्षाराभों की अधिकतम मात्रा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष, तिक्त, कषाय तथा शीत होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह वामक, दीपन, स्तम्भन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। यह अमीबिक प्रवाहिकानाशक तथा आम, रक्त एवं जलांश का शोषक (उपशोषण) है। कुटज सांग्राहिक एवं उपशोषण द्रव्यों में श्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह धातुशोषण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों को इसके क्वाथ से धोते हैं। फोड़े आदि पर इसकी छाल का लेप देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, अर्श (विशेषतः रक्तार्श) उदरशूल और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (वातरक्त, कुष्ठ आदि) और रक्तपित्त में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है। विषमज्वर में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—लेखन के लिए अतिस्थूल व्यक्तियों को दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज।

मात्रा—२०-३० ग्रा० (क्वाथार्थ), चूर्ण-३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—कुटजारिष्ट, कुटजावलेह, कुटजसुरा।

\+ \+ \+ \+

'शिबिफलः श्वेतपुष्पः कुटजो दीर्घपत्रकः।' (शि०)

'कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः। अर्शोऽतिसारपित्तास्रकफतृष्णामकुष्ठजित्॥'

'इन्द्रयवं त्रिदोषघ्नं संग्राहि कटु शीतलम्। ज्वरातीसाररक्तार्शःकृमिवीसर्पकुष्ठनुत्॥

दीपनं गुदकीलास्रवातास्रश्लेष्मशूलजित्।' (भा० प्र०)

'रक्तपित्तकफघ्नस्तु सुकुमारेष्वनत्ययः। हृद्रोगज्वरवातास्रग्वीसर्पादिषु शस्यते॥'

(च० क० ५)

'कुटजत्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम्।' (च० सू० २५)

W. I., V, 103–106.
F. I., III, 644–45.
B. B. O., II, 564–65.
I. P., 390–92.

१९१. अरलु

परिचय

गण—कषायस्कन्ध, पुरीषसंग्रहणीय (च०), अम्बष्ठादि (सु०), वत्सकादि (वा०)।

कुल—अरलु-कुल (साइमारूबेसी-Simaroubaceae)।

नाम—लै०-एइलेन्थस एक्सेल्सा (Ailanthus excelsa Roxb.); सं०-अरलु, कट्वंग (कड़ुआ होने से), दीर्घवृन्त (पत्रवृन्त लंबा होने), महानिम्ब (निम्बाकार बड़ा वृक्ष), पूतिवृक्ष (दुर्गन्धित होने से), हि०-अड़ू, घोड़ानीम, घोडकरञ्ज (नीम और करञ्ज के सदृश तिक्त एवं बड़ा वृक्ष तथा पशुचिकित्सा में उपयोगी), म०-महारुक् (महावृक्ष), गु०-अरडुसी; ता०-पेरुमरम; ते०-पद्दमनु; कन्न०-दोड्मर; मल०-मट्टी पोंगिल्यम्।

स्वरूप—इसका बड़ा दुर्गन्धयुक्त वर्षायुपत्रक वृक्ष ६०-८० फीट ऊँचा तथा ६-८ फीट मोटा होता है। इसकी छाल हलके धूसरवर्ण की, भीतर से पीली, खुरदरी होती है। टहनियों पर विशीर्ण पत्तियों के बड़े अवशेष चिह्न होते हैं। **पत्र**—२-३ फीट तक लंबे, पक्षवत्, रोमश जिनमें १०-१३ जोड़े पत्रक, ३½-६ इञ्च लम्बे,

२-३ इञ्च चौड़े, स्थूलदन्तुर, विषमाधार होते हैं। पत्रवृन्तक १-२ इञ्च लम्बा होता है तथा पत्राधार के निकट दो ग्रन्थियाँ होती हैं। देखने में नीम के बड़े पत्ते जैसे लगते हैं। **पुष्प**—बहुशाखीय शिथिल मंजरियों में, पीतवर्ण होते हैं। अन्तर्दल-लट्वाकार-भालाकार, प्रायः मुड़े हुए; केशरसूत्र लंबाई में परागाशय के आधा होता है। **फल**—२ इञ्च लंबे, ½ इञ्च चौड़े, दृढसिरा युक्त, ताम्रवर्ण, आधारभाग पर मुड़े होते हैं। पुष्प-जनवरी-मार्च में तथा फल मई में लगते हैं। अप्रिल से जून तक नई पत्तियाँ निकलती हैं।

जाति—इसकी एक और प्रजाति A. malabariea DC. विशेषतः पश्चिमी घाट में होती है। इसके पत्र चिकने, बड़े, आधार पर अत्यन्त विषम होते हैं। फूल बड़े होते हैं। फल भी गोल और बड़ा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः बिहार, मध्यप्रदेश, गुजरात, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेशों के जंगलों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके वृक्ष से एक गोंद निकलती है। इसकी छाल से बी-सिटोस्टेराल तथा वाइटेक्सिन (Vitexin) निकाले गये हैं।

गुण

गुण—रूक्ष　　**रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—तिक्त-कषाय होने से यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—त्वग्दोषहर तथा व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मानस दोषों को दूर करती है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, ग्राही, कृमिघ्न तथा अर्शोघ्न है। अरलु सांग्राहिक, दीपनीय तथा पाचनीय द्रव्यों में सर्वोत्तम माना गया है। यह एन्टमीबा हिस्टोलिटिका तथा जियार्डिया को नष्ट करती है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है तथा रक्तभार को कम करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर तथा संधानीय है।

मूत्रवहसंस्थान—रूक्ष, तिक्त-कषाय होने से मूत्र को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरनाशक है। विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन तथा माधुर्यनाशक है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में यह प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों तथा दुष्ट व्रणों में शोधनार्थ इसकी पत्तियों को पीस कर लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अपस्मार आदि मानस रोगों तथा विविध बालग्रहों में लाभकर है।

पाचनसंस्थान—अमीबिक प्रवाहिका तथा जियार्डिआसिस के लिए यह अत्यन्त लाभकारी है। इसके अतिरिक्त, अतिसार, ग्रहणी, अर्श, भगन्दर और कृमि के लिए लाभकर है। इससे पुरीष में आँव तथा रक्त का आना रुक जाता है। इन रोगों में छाल का पुटपाक-विधि से निकाला स्वरस अत्युपयोगी है। रसक्रियाविधि से इसका घनसत्त्व बना कर भी प्रयोग कर सकते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त, रक्तवात आदि रोगों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, उरःक्षत तथा क्षय में इसके प्रयोग से लाभ होता है। मुँह से रक्त आना भी रुक जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—योनिव्यापद् विशेषतः प्रदर में उपयोगी हैं।

त्वचा—विविध चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर विशेषतः विषमज्वरों में लाभकारी है।

सात्मीकरण—मेदोरोग और मधुमेह के लिए उत्तम ओषधि है। विषों के निवारण के लिए भी प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि. लि., घनसत्त्व-१ ग्रा०, चूर्ण-१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—अरलुपुटपाक।

वक्तव्य—संहिताओं में अरलु और श्योनाक स्पष्ट रूप से भिन्न द्रव्य हैं। चरक (चि० १५।१३४) में इन दोनों का एक साथ पृथक् उल्लेख है। कट्वंग, दीर्घवृन्त और महानिम्ब अरलु के ही प्राचीन पर्याय हैं। अष्टांगनिघण्टु में ये पर्याय मिलते हैं। बाद के ग्रन्थकारों ने अरलु को श्योनाक में मिलाकर एक कर दिया और दोनों पर्यायवाची बन गये। राजनिघण्टु में 'श्योनाकयुगल' का वर्णन है यहाँ सम्भवतः श्योनाक और अरलु दोनों अभिप्रेत हैं।

× × ×

निम्बाकारदलो विष्वक् भल्लूकः पंक्तिपत्रकः। प्रसिद्धो भंगुरोऽसारस्त्वङ्कूसो देशभाषया।।

(स० नि० ब०)

कट्वंगं सांग्राहिकपाचनीयदीपनीयानाम्—(च० सू० २५)

दीर्घवृन्तो महानिम्बो कट्वंगोऽरलुतिक्तकः—(अष्टांगनिघण्टु, १८।४४)

अरलुः कफहृद् ग्राही दीपनः कृमिकुष्ठनुत्—(शो.)

कट्वंगत्वग् घृतयुता स्वेदिता सलिलोष्मणा। सक्षौद्रा हन्त्यतीसारं बलवन्तमपि द्रुतम्॥

(अ० हृ० चि० ९)

अरलुत्वक्कृतश्चैव पुटपाकोऽग्निदीपनः। मधुमोचरसाभ्यां च युक्तः सर्वातिसारजित्॥

(शा०, म० १)

नागेश्वर मिश्र : डी० एवाई० एम० शोधप्रबन्ध (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), १९७३

F. I., I, 518.
B. B. O., I, 174.
W. I., I, 41.

१९२. श्योनाक

परिचय

गण—शोथहर, शीतप्रशमन, अनुवासनोपग (च०); बृहत् पञ्चमूल, रोध्रादि, वीरतर्वादि (सु०)

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी–Bignoniaceae)।

नाम—लै०–ओरोक्सिलम इण्डिकम् (Oroxylum indicum Vent.)

सं०–श्योनाक, टुण्टुक (घण्टाकार पुष्पों वाला) कुटन्नट, भल्लूक, पृथुशिम्ब (फल बड़ा और मोटा होने के कारण); हि०–सोनापाठा, (छाल का भीतरी अंश पीतवर्ण होने के कारण); बं०–शोणा; म०–गु०–टेंटू; ता०–आहूी; तें०–दुण्डिलम्, कन्न०–टिगडु; मल०–पलगपैमनि।

स्वरूप—इसका वर्षायुपत्रक वृक्ष २५-४० फीट ऊँचा होता है। छाल हलके धूसर-भूरे रंग की होती है। **पत्र**–२-४ फुट लंबे, चौड़े, द्विपक्षवत् या त्रिपक्षवत् शाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध होते हैं। **पत्रक**–५ इञ्च लंबे, ३-४ इञ्च चौड़े, लंबाग्र, लट्वाकार या अण्डाकार तरंगित-धार होते हैं। **पुष्पदण्ड**–प्रायः १ फुट लम्बा, बिगुल के आकार का, शाखाओं के अग्रभाग पर होता है जिस पर १० इंच लंबी मंजरियों में बैंगनी रंग के बड़े, मांसल, दुर्गन्धि पुष्प लगे रहते हैं। बहिर्दल–१ इञ्च लंबे, ¾ इञ्च चौड़े, मांसल, अन्तर्दल–२½ इञ्च लंबे, मांसल, मुख २-३ इंच व्यास का होता है। पुंकेशर कुछ बाहर निकले हुए, केशरसूत्रों के आधार ऊर्णिल; पाँचवा केशरसूत्र अन्य चार से छोटा; मण्डलक–बड़ा, मांसल; कुक्षिवृन्त २½ इंच लंबा, कुक्षि ¾ इञ्च चौड़ा जिसके दो अर्धवृत्ताकार अंश होते हैं। **फल**–१-३ फुट लंबे, २-४ इञ्च चौड़े, तलवार के सदृश किनारे कुछ भीतर की ओर मुड़े, कपाट काष्ठीय तथा पर्दे चपटे होते हैं। इनमें **बीज** चपटे और पंखयुक्त लगभग ३ इञ्च

लंबे और २ इञ्च चौड़े होते हैं। पंख सफेद आधार भाग को छोड़ सर्वत्र होता है। पुष्प-वर्षाकाल में आते हैं। दिसम्बर-मार्च में फल आते हैं। दिसम्बर-जून में पत्तियाँ झड़ जाती हैं। मूलत्वक् कोमल और रसदार, प्रायः निर्गन्ध, स्वाद में मधुर, तिक्तानुरस, होती है। काण्डत्वक् चिमड़ी होती है तथा उसमें रस और माधुर्य भी कम होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ४ हजार फीट की ऊँचाई तक जंगलों में नदी नालों के किनारे होता है। पश्चिमी शुष्क इलाकों में प्रायः नहीं पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मूल एवं काण्ड की छाल में तीन फ्लेवोन रंजक पदार्थ होते हैं—ओरोक्सिलिन ए (Oroxylin A); बैकेलीन (Baicalein) और क्राइसिन (Chrysin)। इनके अतिरिक्त, एक क्षाराभ, टैनिक एसिड, सिटास्टेराल, और गैलेक्टोज होते हैं। बीजों से २०% एक चमकीला पीला तेल प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—मधुर, तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण एवं वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातहर होने से वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तिक्त-उष्ण होने से यह दीपन, पाचन, रोचन, ग्राही तथा कृमिघ्न है। इसकी छाल में अमीबानाशक क्रिया पाई गई है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ को दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—यह सैलिसिलेट के समान स्वेदजनन है किन्तु उसके समान अवसादक नहीं है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह तिक्त होने से कटुपौष्टिक का कार्य करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक तथा आमज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, सन्धिवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में इसके क्वाथ से स्नान कराते हैं। व्रणों में इसकी छाल का स्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातव्याधि, आमवात-सन्धिवात आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका तथा कृमि में इसकी छाल का रस या क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—आमवात आदि में स्वेदजनन के लिए इसका प्रयोग होता है। इससे विबन्ध होता है अतः उसे दूर करने के लिए आवश्यकतानुसार एरण्डतैल देना चाहिए।

तापक्रम—ज्वरों विशेषतः सन्निपातज्वर में इसका प्रयोग होता है। इससे आमदोष का पाचन होता है, पसीना खूब आता है और मूत्र साफ आता है। इससे ज्वर शीघ्र उतरता है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में विशेष कर पेट की गड़बड़ी से उत्पन्न दुर्बलता में इसका प्रयोग करते हैं। इससे पेट ठीक होता है, अग्नि बढ़ती है और क्रमशः बल की वृद्धि होती है।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्।

मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा०, स्वरस-१०-२० मि.लि. क्वाथार्थ चूर्ण-२०-३० ग्रा०

विशिष्ट योग—श्योनाक-पुटपाक, बृ० पंचमूल्यादि क्वाथ।

वक्तव्य—शीतप्रशमन तथा शोथहर महाकषायों में पाठ होने से स्पष्टतः श्योनाक का वीर्य उष्ण सिद्ध होता है। इसका रस भी तिक्तानुरस है। इसके विपरीत, अरलु तिक्तप्रधान तथा शीतवीर्य है। इस प्रकार भी दोनों की भिन्नता स्पष्ट होती है। मध्यकाल में अरलु और श्योनाक का तादात्म्य हो जाने से दोनों के पर्याय और गुणकर्म निघण्टुओं में मिले-जुले दृष्टिगत होते हैं (देखें अरलु)।

× × × ×

'श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकट्वङ्गटुण्टुकः। मण्डूकपर्णपत्रोर्णशुकनासकुटंनटाः॥
दीर्घवृन्तोऽरलुश्चापि पृथुशिम्बः कटम्भरः। श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुवरोऽहिमः॥
ग्राही तिक्तोऽनिलश्लेष्मपित्तकासामनाशनः।' (भा. प्र.)
'टिण्टुकोऽशिशिरस्तिक्तो बस्तिरोगहरः परः। पित्तश्लेष्मामवातातीसारकासारुचीर्जयेत्॥'
(ध. नि.)

अनिरुद्धमिश्रः डी० एवाइ० एम० शोधप्रबन्ध (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय), १९७२
W. I., VII, 107-8.
F. I., IV, 378.
B. B. O., II, 681.

स्तम्भन

१९३. धातकी

परिचय

गण—पुरीषसंग्रहणीय, मूत्रविरजनीय, संधानीय (च०); प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—मदयन्तिका-कुल (लिथरेसी-Lytheraceae)।

नाम—लै०-वुडफोर्डिया फ्रुटिकोजा (Woodfordia fruticosa Kurz.) सं०-धातकी, धातुपुष्पी (रक्तवर्ण पुष्पवाली); वह्निज्वाला (पुष्प रक्तवर्ण आग की लपट के सदृश); हि०-धाय; पं०-धावी; बं०-धाई; म०-धालस; गु०-धावड़ी; ता०-धाथरी जर्गी; ते०-सिरींजी; फा०-धावा; अं०-फायर फ्लेम बुश (Fire flame bush).

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त गुल्म १० फीट तक ऊँचा होता है। छाल रक्ताभ भूरे रंग की पतले टुकड़ों में छूटती रहती है। **पत्र**—अभिमुख, २-४ इञ्च लंबे, प्रायः वृन्तरहित, भालाकार, लंबाग्र, अधस्तल पर सूक्ष्मरोमश तथा दागयुक्त होते हैं। **पुष्प**-चमकीले लाल रंग के, ½-¾ इञ्च लंबे, अक्षीय गुच्छबद्ध मंजरियों में होते हैं जिनसे प्रायः समस्त शाखायें भरी रहती है। **फल**-अण्डाकार, पतला होता है जिसमें भूरे रंग के, छोटे, चिकने, अभिलट्वाकार बीज होते हैं।

जनवरी-अप्रैल तक इसमें पुष्प आते हैं, फल अप्रैल-मई में लगते हैं। फरवरी-मार्च में जब यह फूलों से भरी रहती है, इसकी पत्तियाँ झड़ जाती हैं। फिर नये पल्लव निकलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। प्रायः बंगाल के जलीय प्रदेश और दक्षिण भारत में नहीं देखा जाता।

रासायनिक संघटन—इसके पुष्पों से एक लाल रंग निकाला जाता है जो रंगने के काम आता है। पुष्पों में टैनिन २४ तथा शर्करा ११.८% होती है। पत्तियों में १२-२० प्रतिशत टैनिन तथा मेंहदी का रंजक पदार्थ लॉसोन (Lawsone) होता है। छाल में २०-२७ प्रतिशत टैनिन होता है। इसके काण्ड से एक गोंद भी निकलती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, रक्तस्तम्भन, जन्तुघ्न तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—संधानीय और रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है। पित्तप्रकोप के कारण मूत्र में जो पीत, रक्त आदि विविध वर्ण आने लगते हैं, वे इससे दूर हो जाते हैं।

प्रजननसंस्थान—यह योनि से होने वाले विविध स्रावों को रोकता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न हैं।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, रक्तस्राव तथा व्रणों में इसके पुष्प का अवचूर्णन या प्रदेह करते हैं। अग्निदग्ध में इसका चूर्ण तिलतैल में मिला कर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतीसार, प्रवाहिका आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्रावयुक्त योनिव्यापद् (श्वेतप्रदर, रक्तप्रदर आदि) में यह देते हैं।

त्वचा—विसर्प तथा अन्य चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—पैत्तिक ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। कोंकणदेशीय लोग पित्त-ज्वर के रोगी के मुख में तिलतैल देकर सिर पर इसके पत्ते का रस देते हैं। इससे मुखस्थ तैल पीतवर्ण हो जाता है तब उसे फेंक देते हैं और दूसरा तैल लेते हैं। इस प्रकार २-३ बार करने से पित्त निकल जाता है और फिर तैल पीले रंग का नहीं होता। इससे ज्वर भी शान्त हो जाता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—धातक्यादि चूर्ण, धातक्यादि तैल।

वक्तव्य—इसके पुष्प आसव-अरिष्टों में मदकरणार्थ तथा रंजनार्थ डाले जाते हैं।

× × × ×

'धातकी दाडिमीपत्रा रक्तपुष्पा च मादिनी।' (शि.)

'धातकी कटुका शीता मदकृत्तुवरा लघुः। तृष्णातीसारपित्तास्रविषक्रिमिविसर्पजित्॥' (भा. प्र.)

'प्रवाहिकातिसारघ्नी विसर्पव्रणनाशिनी ।' (रा. नि.)
'धातकीकुसुमं शीतं रक्तपित्तातिसारजित् ।' (रा. व.)

W. I., X, 586–7.
F. I, II, 572.
B. B. O., II, 390.

१९४. बब्बूल

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल-(लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसायडी–Mimosoideae)।

नाम—लै०-एकेशिया अरेबिका (Acacia arabica Willd.)। सं०-बब्बूल, किङ्किरात, युग्मकण्ट (दो काँटे एक साथ होते हैं); दृढारुह (शाखायें मजबूत होती हैं); सूक्ष्मपत्र (छोटे पत्ते वाला); मालाफल (फल अनेक खण्डों से युक्त माला के सदृश)। हि०-बबूल, कीकर; पं०-किक्कर; बं०-बाबला; म०-बाभूल; गु०-बावल; ता०-करुवेल्; ते०-नल्लतुम्म; कन्न-जाली; मल०-करुवेलम्; अ०-अम्मुगीलाँ; फा०-मुगीलाँ; अं०-बबूल (Babul)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार, कंटकित, सदाहरित **वृक्ष** २५–३० फीट तक ऊँचा होता है। **काण्डत्वक्**-गहरे भूरे या काले रंग की, अनुलंब विदारयुक्त होती है। **शाखाएँ** सरल, झुकी हुई और कण्टकयुक्त होती है। काँटे ½–२ इंच लंबे, सीधे; सफेद, तीक्ष्णाग्र, उपपत्रीय, (पत्रवृन्त के नीचे) दो-दो होते हैं। **पत्र** में ½–२ इञ्च लंबे प्रायः ३–६ जोड़े पक्ष होते हैं जिनमें ⅙–¼ इञ्च लंबे **पत्रक**–१०–२० जोड़े होते हैं। पत्र के मध्यदंड पर सबसे ऊपर और सबसे निचले पक्षों के मूल में कटोरे के आकार की ग्रन्थि होती है। **पुष्पमुण्डक**-½ इञ्च व्यास के, छोटे अक्षीय पुष्पदंडों पर जिनमें पुष्प मधुरगंधि पीले रंग के आते हैं। पुष्पदंडों पर मध्यभाग के कुछ ऊपर दो कोणपुष्पक होते हैं। बहिर्दल-⅟₂₄ इञ्च लंबे, अतर्दल इससे दूने होते हैं। **फली**-३–६ इञ्च लंबी, ½ इञ्च चौड़ी, चपटी श्वेताभ, रोमश, अस्फोटी होती है। इसके भीतर ८–१२ बीज होते हैं। बीजों के बीच-बीच में फली अत्यधिक संकुचित होती है। अगस्त–सितम्बर में पुष्प और जनवरी–अप्रैल में फल होते हैं।

जाति—बबूल के तीन भेद पाये जाते हैं :—

(१) तेलिया बबूल–इसका वृक्ष मध्यमाकार होता है।

(२) कौड़िया बबूल (Var. vediana Cooke)–इसका वृक्ष छोटा होता है तथा छाल रुखड़ी होती है। यह विदर्भ और खानदेश में होता है।

(३) रामकाँटा बबूल (Var. cupressiformis Stewart)-इसकी शाखायें ऊपर की ओर उठी हुई झाड़ू के सदृश प्रतीत होती है। यह पंजाब, राजस्थान और दक्षिण में पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः रूक्ष जांगल प्रदेश में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ७–१२ प्रतिशत कषायद्रव्य होता है। फली में १२–१९ प्रतिशत टैनिन पाया जाता है। काण्ड से एक निर्यास निकलता है जो बबूलगोंद के नाम से प्रसिद्ध है। असली गम अरेबिक (Gum arabic) A. senegal नामक पौधे से प्राप्त होता है और अरब देशों तथा अफ्रीका से आयातित होता है। इण्डियन गम अरेबिक बबूल की गोंद को कहते हैं जिसमें समानप्रजातीय कुछ अन्य पौधों की गोंद भी मिली रहती है। गोंद का संग्रह मार्च-मई मास में किया जाता है। बबूलगोंद गोल या अण्डाकार लगभग ½ इञ्च के, हलके पीले से गहरे भूरे रंग के कणों के रूप में होती है। यह जल में पूर्णतः विलेय है। गोंद में मुख्यतः गैलेक्टोअरेबन (Galactoaraban) होता है। इसके जलाने पर १·८ प्रतिशत राख प्राप्त होती है जिसमें अरेबिक एसिड, कैल्शियम ५२·२ प्रतिशत, मैगनीशियम (१९·७ प्रतिशत) होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष	**रस**—कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

निर्यास स्निग्ध, मधुरकषायरस, मधरविपाक और शीतवीर्य होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। इसका निर्यास स्निग्ध-मधुर होने से वातपित्तशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह रक्तरोधक, व्रणरोपण, स्तम्भन एवं संकोचक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल और फली स्तम्भन तथा कृमिघ्न है और निर्यास स्नेहन तथा ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—गोंद मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—निर्यास मधुर-स्निग्ध होने से वृष्य है तथा फली स्तम्भन है। गर्भाशय के शोथ और स्राव को दूर करता है।

त्वचा—छाल कुष्ठघ्न है।

तापकर्म—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह विषघ्न है तथा निर्यास बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—छाल और फली का प्रयोग कफपैत्तिक रोगों में तथा गोंद का वातपैत्तिक रोगों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, अग्निदग्ध और व्रणों में पत्तियों का चूर्ण छिड़कते हैं। प्रदर में छाल के क्वाथ की बस्ति देते हैं। गुदभ्रंश में छाल के क्वाथ से परिषेक करते हैं। मुख, दन्त एवं गले के रोगों में छाल के क्वाथ से गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, अर्श तथा कृमि में त्वक् तथा फली का प्रयोग करते हैं। कोष्ठगत रौक्ष्य में गोंद लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल और फली देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—छाल का क्वाथ प्रमेह में तथा गोंद मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में निर्यास देते हैं। कच्ची फली को सुखा कर उसका चूर्ण चीनी मिला कर शीघ्रपतन, स्वप्नदोष आदि में देते हैं। रक्त तथा श्वेत प्रदर में छाल तथा फली का प्रयोग करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

तापक्रम—दाह तथा अन्य पैत्तिक विकारों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में गोंद का मोदक बनाकर तथा विषों में छाल का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, निर्यास।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५०–१०० मि. लि.; फलचूर्ण ३–६ ग्रा०; निर्यास ३–६ ग्रा०

विशिष्ट योग—बब्बूलारिष्ट, लवंगादि वटी।

\+ \+ \+ \+

'बब्बूलः कफनुद् ग्राही कुष्ठक्रिमिविषापहः।' (भा० प्र०)

'बब्बूलस्य तु निर्यासो ग्राही पित्तानिलापहः। रक्तातिसारपित्तास्रमेहप्रदरनाशनः॥
भग्नसंधानकः शीतः शोणितस्रुतिवारणः।' (आ० वि०)

'बब्बूलस्य फलं रूक्षं विशदं स्तम्भनं गुरु। कषायं मधुरं शीतं लेखनं कफपित्तहृत्॥'
(नि० र०)

W. I, I, 5–8.
F. I., I, 293.
B. B. O., II, 338.

१९५. आवर्तकी

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

नाम—लै०–कैसिया ऑरिकुलेटा (Cassia auriculata Linn.); सं०–आवर्तकी, चर्मरंगा (चमड़ा रंगने के काम में आता है), पीतपुष्पा; हि०–बं०–तरवर; म०–तरबड; गु०–आवल; ता०–आवरम्; ते०–कन्न०–तंगेडु; मल०–अवर; अं०–टैनर्स कासिया (Tanner's cassia)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार क्षुप–३–१० फुट ऊँचा रोमश, होता है। **पत्र**–प्रायः अवृन्त ३–४ इञ्च लंबे; **पत्रक**–अभिलट्वाकार–आयताकार, ¾–१ इञ्च लंबे, अग्रभाग पर गोल और रोमयुक्त ८–१२ जोड़े होते हैं। **उपपत्र**–बड़े, चौड़े, स्थायी होते हैं। **पुष्प**–बहुत बड़े, आकर्षक, चमकीले पीले रंग के, एक इञ्च गहरे, प्रभूत मंजरियों में आते हैं। **शिम्बी**–४–५ इञ्च लंबी, ½–⅝ इञ्च चौड़ी, सीधी, गहरे भूरे रंग की होती है जिसमें ६–१० बीज होते हैं। इसमें अक्टूबर–जनवरी में पुष्प तथा जनवरी–मार्च में फल आते हैं। इसकी छाल कपड़ा रंगने के काम में आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश में विशेष होती है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में १८ प्रतिशत टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह स्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह प्रबल स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—पुष्प शुक्रस्तम्भन और पञ्चांग गर्भाशयस्राव को दूर करता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप और अंजन करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव को रोकने के लिए देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में पुष्प या बीजों का चूर्ण देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शीघ्रपतन में पुष्प तथा प्रदर में पञ्चांग का प्रयोग करते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में भी लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पुष्प, बीज।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५०-१०० मि० लि०, पुष्पस्वरस १०-२० मि० लि०, बीजचूर्ण ३-६ ग्रा०।

× × × ×

'आवर्तकी कषायातिस्तम्भनी तिक्तशीतला। रक्तपित्तातिसारघ्नी कृमिकुष्ठविनाशिनी॥ नेत्ररोगे प्रमेहे च तत्पुष्पं तु प्रयुज्यते।' (स्व.)

F. I., II, 263.

W. I., II, 96.

१९६. धन्वन

परिचय

गण—अम्लस्कन्ध, आसवयोनि-फल (च०)।

कुल—परुषक-कुल (टिलिएसी–Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया टिलिफोलिया (Grewia tiliaefolia Vahl.); सं०-धन्वंग, धनुर्वृक्ष (इसकी शाखायें दृढ़ होने के कारण उनका धनुप बनाने में उपयोग होता है); हि०-धामन, धामिन; म०-गु०-धामण; ता०-उन्नु; ते०-एट्टातडा; कन्न०-बुट्टले; मल०-चडिचा।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ४०-५० फुट तक ऊँचा और प्रायः ७ फीट तक मोटा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर या गहरे भूरे रंग की होती है। शाखायें बैंगनी आभा लिये होती हैं। **पत्र**-एकान्तर, रोमश, फालसे के पत्र के सदृश किन्तु छोटे, लगभग २-५ इञ्च लम्बे और १-२ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, दन्तुर, पत्राधार विषम और हृद्वृंत्, अग्रभाग पर स्थूल होते हैं। उपपत्र-हंसुआकृति, लंबाग्र, कर्णिकायुक्त होते हैं। पत्रवृन्त-½-१ इञ्च लंबा होता है। **पुष्पदण्ड**-३-१०, पत्रवृन्त के बराबर या उससे लंबे, अक्षीय होते हैं जिनमें पुष्प-छोटे, पीताभ आते हैं। बहिर्दल-¼-½ इञ्च लंबे, आयताकार तथा अन्तर्दल आयताकार उससे लंबाई में आधे होते हैं। **फल**-मटर के सदृश, कृष्णवर्ण, १-४ खण्डयुक्त होते हैं। **बीज**-३-६ कोष्ठ का होता है। G. optiva Drummon. को भी पंजाब में धामन कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—शुष्क, उष्ण प्रदेश के जंगलों में, विशेषतः पश्चिम भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में १% टैनिन होता है। इसकी छाल से ४३·७ प्रतिशत सूत्र प्राप्त होते हैं जिनसे रस्सी बनती है।

गुण

गुण—लघु, पिच्छिल	**रस**—कषाय, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

कच्चा फल कषायाम्ल और पका फल मधुराम्ल होता है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कण्डूघ्न, सन्धानीय, व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल स्तम्भन है। काष्ठचूर्ण वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

सात्मीकरण—पिच्छिल होने से यह बल्य और बृंहण है। इसकी लकड़ी वामक है और अहिफेन-विष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कपिकच्छू से उत्पन्न कण्डू में इसकी छाल पानी में पीस कर लगाते हैं। व्रण तथा क्षतों में इसका स्वरस लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल का रस रक्तातिसार में देते हैं। इसकी छाल को पानी में भिगो कर मसलने से जो लुआब उत्पन्न होता है उसे प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में इसका लुआब मिश्री मिला कर देते हैं। इसके काष्ठ का अहिफेनविष में प्रयोग करते हैं। पिच्छाबस्ति में भी इसकी छाल तथा अंकुर का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि. लि

× × ×

'धन्वंगस्तु धनुर्वृक्षो गोत्रवृक्षः सुतेजनः। धन्वंगः कफपित्तास्रकासहृत्तुवरो लघुः॥
बृंहणो बलकृद्रूक्षः सान्धिकृद् व्रणरोपणः।' (भा. प्र.)
'......धन्वनम्। मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम्।' (च. सू. २७)
'फलं तस्य हिमं स्वादु कषायं कफवातजित्।' (कै. नि.)
'सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्।' (सु. सू. ४६)

W. I., IV, 264.
F. I., I, 386.

१९७. आवर्त्तनी

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी–Sterculiaceae)।

नाम—लै०–हेलिक्टेरस आइसोरा (Helicteres isora Linn.); सं०–आवर्त्तनी, आवर्त्तफला (फल पेंचदार); हि०–मरोड़फली; बं०–आँतमोरा; म०–केवनी; गु०–मरडाशिंग; ता०–वलम्पिरि; ते०–गुवादर्रा; कन्न०–पेदामुरि, मल०–ईश्वरमुरि; उ०–मुरमुरिया; अं०–इण्डियन स्क्रू-ट्री (Indian screw-tree)।

स्वरूप—इसका ५–१५ फुट ऊँचा **गुल्म** या छोटा वृक्ष होता है। छाल–धूसरवर्ण, नये अंगों में तारकाकृति रोगों से युक्त होती है। **पत्र**–फालसे के सदृश अभिलट्वाकार, विषम, हृद्वत्, ३–६ इञ्च लंबे, २½ इञ्च चौड़े, आरावत् दन्तुर, ऊपर रूक्ष तथा नीचे मृदुरोमश होते हैं। ५–७ पाणिवत् पत्रसिरायें होती हैं। पत्रवृन्त–¼ इञ्च लम्बा तथा उपपत्र उतने ही बड़े रेखाकार होते हैं। **पुष्पदण्ड**–कोणीय, अक्ष में २–३ एक साथ निकलते हैं जिनमें १½ इञ्च लंबे, अनियताकार, रक्तवर्ण पुष्प आते हैं। बहिर्दल–½–¾ इञ्च लंबे, विषम, किंचित् द्विओष्ठी, पार्श्व में दबे होते हैं। अन्तर्दल–विषमाकृति, निचले दो सबसे बड़े, मुड़े हुए, रक्तवर्ण, पुराना होने पर हलके नीले रंग के हो जाते हैं। पुंकेशर–१०, परागाशय लट्वाकृति होते है। **फल**–काष्ठीय, लंबगोल, चंचुयुक्त, हरिताभ भूरे रंग का १–२ इञ्च लंबा, पेंचदार पाँच स्त्री-केशरों का बना होता है जो पकने पर भीतरी किनारों पर फटते हैं जिससे बीज बाहर निकल आते हैं। पुष्प–अप्रिल-दिसम्बर तथा फल–अक्टूबर-जून में लगते हैं। मार्च में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और अप्रिल में नई निकलती हैं।

जाति—इसके दो प्रकार होते हैं—१. Var. tomentosa जिसके पत्र का अधस्तल सूक्ष्मरोमश होता है। यह अधिकतर पश्चिम और मध्य भारत में पाया जाता है। २. Var. glabrescens इसमें पत्र चिकने होते हैं। यह दक्षिण भारत में पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है। विशेषतः मध्य और पश्चिम भारत के उष्ण वनों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में रंजक द्रव्य, सैपोनिन, शर्करा, फ्लोबो-टैनिन तथा लिगनिन होते हैं। इसकी छाल से सूत्र (isora fibre) निकाले जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तरोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव और व्रणों में फल का चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, उदरशूल और कृमि में फल का चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तातीसार तथा अन्य अंगों से होने वाले रक्तस्राव में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में मूलत्वक् का क्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, फल।

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि. लि.; फलचूर्ण–३–६ ग्रा०

× × ×

'आवर्त्तनी लघुः शीता कषाया त्वतिसारनुत्। बलासपित्तशूलास्रकृमिरोगविनाशिनी॥' (स्व०)

W. I., V, 27–29.
F. I., I, 315.
B. B. O., I, 82.

१९७. शमी

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

नाम—लै०–प्रॉसोपिस साइनरेरिया (Prosopis cineraria Druce.)।

सं०–शमी (शामक), तुंगा (ऊँची); केशहन्त्री (केशनाशक); शंकुफला; हि०–छिकुर, छोंकर; बं०–शमी; पं०–जंड; म०–शमी; गु०–समडी; मा०–खेजड़ा, खेजड़ी; ता०–पेरुंबे; ते०–जम्मि चेट्टु; कन्न०–पेरुम्बइ; मल०–परंपु ।

स्वरूप—इसका छोटा या मध्यमप्रमाण कंटकित **वृक्ष** होता है। **काण्ड-त्वक्**-धूसर, रूक्ष, **शाखायें**-झुकी हुई, धूसरवर्ण होती हैं। **पत्र**-बबूल या खैर के सदृश छोटे, क्षोदलिप्त होते हैं जिनमें दो जोड़े, १–२ इञ्च लम्बे पक्ष तथा ⅙–⅓ इञ्च लम्बे, अवृन्त, जिह्वाकार, ८–१२ जोड़े पत्रक होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ, अक्षीय या अन्त्य २–८ इञ्च लम्बी मंजरियों में होते हैं। **फली**-४–६ इञ्च लम्बी, ⅙ इञ्च मोटी, सीधी, चिकनी, लंबगोल, बीच-बीच में संकुचित होती है जिसमें १०–१५ भूरे रंग के आयताकार चपटे बीज होते हैं। कच्ची फलियों का शाक मारवाड़ और पंजाब में खाते हैं। शीतकाल में पुष्प और वर्षा में फल होते हैं।

जाति—इसकी एक छोटी प्रजाति P. stephaniana Kunth. है जो पंजाब और गुजरात में पाई जाती है। निघण्टुओं ने इसे 'शमीर' (शमीरः साऽल्पिका स्मृता–भा० प्र०) कहा है।

उत्पत्तिस्थान—पंजाब, सिंध, गुजरात, राजस्थान आदि शुष्क प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में नाइट्रोजन २.९, फास्फोरस ०.४, पोटाशियम १.४ और कैल्शियम २.८ प्रतिशत होता है। पुष्पों से एक पैटुलिट्रिन (Patulitrin) नामक एक फ्लेवोन ग्लाइकोसाइड निकाला गया है। शाखाओं से एक पीताभ गोंद निकलती है जिसके जल में मिलाने पर एक गहरे रंग का स्वादरहित लुआब बनता है।

गुण

गुण–लघु, रूक्ष	**रस**–कषाय, मधुर
विपाक–कटु	**वीर्य**–शीत। फल उष्णवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल विषघ्न है। फल केशनाशन है।
नाडीसंस्थान—यह शामक और मेध्य है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन और क्रिमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
त्वचा—त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बिच्छू के दंश में इसकी छाल का लेप करते हैं। बालों को हटाने के लिए इसके फलों को जला कर उसकी राख रगड़ते हैं।

नाडीसंस्थान—भ्रम तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में उपयोगी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, अर्श और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में इसका प्रयोग होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि० लि०, फलचूर्ण ३–६ ग्रा०

× × × ×

'शमी तिक्ता कटुः शीता कषाया रोचनी लघुः।
कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शःक्रिमिजित् स्मृता॥' (भा. प्र.)
'गुरूष्णं मधुरं रूक्षं केशघ्नं च शमीफलम्।' (च. सू. २७)
'शमी रूक्षा कषाया च रक्तपित्तातिसारजित्॥' (रा. नि.)

W. I., VIII, 247-8.
F. I., II, 288.

१९८. मायाफल

परिचय

कुल—मायाफल-कुल (फैगेसी–Fagaceae)।

नाम—लै०–क्वर्कस इन्फेक्टोरिया (Quercus infectoria Oliv.) सं०–मायाफल (फलाभास, मायारचित फल), मायुक, मज्जफल, हि०–माजूफल; बं०–माजूफल; म०–मायफल; गु०–माजुफल; ता०–मचकाई; ते०–मचिकाय; कन्न०–मचिकाई; मल०–मजकानी; अ०–अफ्स (कषाय); फा०–माजू; अं०–गाल ओक (Gall-oak)।

स्वरूप—यह गुल्म या छोटा **वृक्ष** ७–१६ फीट तक ऊँचा होता है। **पत्ते**-तीक्ष्णदन्तुर, कर्कश, १½–२½ इञ्च लम्बे होते हैं। **फल**-छोटे, लंबगोल होते हैं। इनकी नई शाखाओं में ऐडलोरिया गैली टिंकटोरी (Adleria gallae tinctoriae Oliv.) नामक कीड़ा भीतर घुस कर अंडे देता है और उसके चारों ओर स्वरस एकत्रित होकर ग्रन्थि-सी बन जाती है। इसमें कीड़ा अपने अंडों के साथ

रहता है। यही गाँठ माजूफल के नाम से प्रसिद्ध है। फलवत् प्रतीत होने से इसे मायाफल, मैजिक (Magic nut) नट कहते हैं। यह गोलाकार या अंडाकार, ६-५० मि० मी० व्यास का, चिकना, चमकीला, धूसर भूरे रंग का होता है।

जाति—यूनानी में वर्णभेद से माजूफल चार प्रकार का माना जाता है—(१) नीला, (२) काला, (३) हरा और (४) सफेद। नीले, काले एवं हरे रंग का बड़ा, गोल, छिद्ररहित माजूफल औषध के लिए प्रशस्त होता है। सफेद और सछिद्र निकृष्ट माना जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह यूनान, एशिया माइनर, सीरिया और ईरान में होता है और वहीं से भारत में आता है। एलेप्पो गॉल सर्वोत्तम होता है। भारत में होने वाली प्रजातियों यथा Q. ilex Linn. तथा Q. incana Roxb. से प्राप्त कीटग्रन्थियाँ (Galls) असली माजूफल के प्रतिनिधि या मिलावट के रूप में प्रयुक्त होती हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें ५०-७० प्रतिशत गैलोटैनिक एसिड (Gallotannic acid) होता है। इसके अतिरिक्त, गैलिक एसिड, इलेगिक एसिड, गोंद, स्टार्च, शर्करा तथा सुगंधित तैल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह केशरंजन, स्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है। अतिमात्रा में देने से इससे वमन होने लगता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है तथा मूत्रमार्ग के स्राव को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—योनिस्राव को दूर करता है।

सात्मीकरण—यह लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—स्तम्भन होने से रक्तस्राव को बन्द करने तथा योनिशैथिल्य को दूर करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। गले, दाँत एवं -ख के रोगों में इसका गंडूष करते हैं तथा दंतमंजनों में डालते हैं। गुदभ्रंश, अर्श तथा व्रणों में इसका अवचूर्णन करते हैं। स्वेदाधिक्य में भी इसका चूर्ण त्वचा पर मलते हैं। केशों को काला करने के लिए इसे सिर में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी और रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह तथा पूयमेह आदि रोगों में स्राव को रोकने के लिए इसका चूर्ण देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में इसका अन्तःप्रयोग करते हैं तथा इसकी वर्त्ति भी योनि में रखते हैं। इनकी बस्ति भी दी जाती है।

सात्मीकरण—कुचला, धतूर, वत्सनाभ, अहिफेन तथा अंजन (ऐन्टीमनी) के विष में वमन कराने के बाद इसका क्वाथ बड़ी मात्रा में बार-बार देना चाहिए।

प्रयोज्य अंग—कीटगृह।

मात्रा—१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—वज्रदन्तमंजन, मायाफलादि मलहर।

> मायुकं शीतलं रूक्षं कषायं लघु दीपनम्।
> विपाके कटुकं ग्राहि कफपित्तहरं परम्॥ (शो.)
> कीटावासो मज्जफलं ग्राहि वल्यं ज्वरापहम्।
> शोणितस्रुतिहृद् हन्ति मुखदन्तगतान् गदान्॥
> श्वेतप्रदरमर्शांसि योनिकन्दं सुदारुणम्।
> अतीसारं महाघोरं ग्रहणीं सप्रवाहिकाम्॥ (आ. वि.)

W. I, VIII, 349-52.

१९९. मयूरशिखा

परिचय

कुल—हंसपदी-कुल (पौलिपोडिएसी-Polypodiaceae)।

नाम—लै०-ऐडिएन्टम् कॉडेटम् (Adiantum caudatum Linn.)। सं०-मयूरशिखा, मधुच्छदा; हि०-मयूरशिखा।

स्वरूप—यह हंसपदी की जाति का एक फर्न है। **पत्रदण्ड**-रेखाकार या रेखाकार-आयताकार, ६-१६ इञ्च लम्बा, रोमश, चमकीला, गहरे भूरे रंग का होता है। **पत्रक**-अवृन्त या ह्रस्ववृन्त, चौकोन या आयताकार, एक किनारे पर सीधे और दूसरे पर खण्डित या गहरे विदीर्ण होते हैं जो देखने में मोरपंख के सदृश प्रतीत होते हैं। पत्र के किनारों पर अधः पृष्ठ पर खण्डों के अन्त में बीजाणु होते हैं।

वक्तव्य—अनेक जाति के क्षुप जिनका आकार मयूरशिखा के सदृश होता है इस नाम पर वैद्यसमाज में प्रचलित हैं। इनमें ऐक्टिनोप्टेरिस डाइकोटोमा (Actinopteris dichotoma Bedd.), एलिफैण्टोपस स्कैबर (Elephantopus scaber Linn.), सिलोसिया क्रिस्टेटा (Celosia cristata Linn.) मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः आर्द्र पहाड़ियों पर नदी-नालों के किनारे होती है और जनवरी में सूख जाती है। फल जुलाई-दिसम्बर में लगते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष   **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर
विपाक—कटु   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तहर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

× × × ×

नीलकंटशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसारजित्॥' (भा० प्र०)

'मयूराह्वा शिखा शीता कषाया कटुपाकिनी। लघ्वी पित्तकफौ रक्तमतीसारं विनाशयेत्॥'
(कै० नि०)

B. B. O., III, 1254.

२००. आकाशवल्ली

परिचय

कुल—कर्पूर-कुल (लॉरेसी-Lauraceae)।

नाम—लै०-कैसिया फिलिफॉर्मिस (Cassytha filiformis Linn.); सं०-आकाशवल्ली (आकाश में पेड़ों पर फैली होने से); अमरवल्ली (बहुत दिनों तक रहने वाली); हि०-अमरबेल; आकाशबेल; बं०-स्वर्णलता, आलोकलता; म०-निर्मुली; गु०-अकासबेल; ते०-नुलु तेगा; ता०-एरुमैक्कोट्टन, कन्न० मल०-आकाशवल्ली, फा०-अफ्तीमून हिन्दी।

स्वरूप—इसकी पत्ररहित, कोमल, पीले हरे रंग की, रज्जुवत् पराश्रयी वल्ली, बेर, शाल, करौंदा आदि वृक्षों पर फैली रहती है। **पुष्पमञ्जरी**-मृदुरोमश. ½-1½ इञ्च लम्बी, शल्कपत्रों के अक्ष से निकलती है जिसमें अवृन्त, श्वेत पुष्प लगते हैं। **फल**-·२५-·४ इञ्च व्यास के होते हैं। पुष्प तथा फल प्रायः बराबर रहते है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः समुद्रतट पर होता है;

रासायनिक संघटन—इसके सुरासत्त्व से डल्सिटाल (Dulcitol) नामक तत्त्व पृथक् किया गया है। इसमें एक लारोटिटेनिन (Laurotetanine) नामक क्षाराभ भी होता है जिससे आक्षेप आते हैं और बड़ी मात्रा में लेने पर मृत्यु हो जाती है।

गुण

गुण—पिच्छिल   **रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—शोथहर है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—आमनाशन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथयुक्त विकारों तथा केशरोगों में इसका प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा व्रणों में इसका स्वरस डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—ग्रहणी, प्रवाहिका, अम्लपित्त तथा कृमि में इसका स्वरस देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है ।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है ।

सात्मीकरण—आमवात आदि आमजन्य रोगों में प्रयोग करते हैं ।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग ।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

वक्तव्य—कुस्कुटा रिफ्लेक्सा (Cuscuta reflexa Roxb.) भी आकाशवल्ली के नाम से प्रचलित है । यह भी एक पीले रंग की पराश्रयी लता है जो पेड़ों पर छायी रहती है किन्तु यह रेचक है । इसमें अमरवेलिन तथा कुस्कुटिन नामक तत्त्व होते हैं । बीजों से एक हरित-पीत तैल निकलता है । इसकी एक और प्रजाति C. chinensis Lam. भी होती है जो गुणकर्म में समान है ।

× × × ×

स्वल्ली ग्राहिणी तिक्ता पिच्छिलाचयामयापहा ॥
तुवराग्निकरी हृद्या पित्तश्लेष्मामनाशिनी ।' (भा० प्र०)

B. B. O., III, 838.
W. I., II, 99

पुरीषविरजनीय

२०१. शल्लकी

परिचय

गण—पुरीषविरजनीय, कषायस्कन्ध, शिरोविरेचन (च०) रोध्रादि, एलादि, कषायस्कन्ध (सु०) ।

कुल—गुग्गुलु-कुल (बर्सरेसी–Burseraceae) ।

नाम—लै०-बॉसवेलिया सिरेटा (Boswellia serrata Roxb.) सं०-शल्लकी, सुस्रवा (सुगन्धीत स्राव होने से); गजभक्ष्या (इसकी पत्तियाँ हाथी बड़े चाव से खाते हैं;); हि०-सलई; म०-सालई; म०-सालई; गु०-सालेडो, धूपडो, ता० ते०-परंगिसंव्रनी; कन्न०-मडी; अं०-इण्डियन ओलिबेनम ट्री (Indian olibanum tree) ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यमप्रमाण या और ऊँचा, ३-५ फीट मोटा होता है । **काण्डत्वक्**-हरित, धूसर या रक्ताभ, सुगन्धित, वृक्ष से पतले स्तरों में छूटती हुई प्रतीत होती है । **पत्र**-नीम के समान, १२-१८ इञ्च लंबे होते हैं जिनमें ६-१६ जोड़े

अभिमुख, स्थूल-दन्तुर, १½-३ इंच लंबे पत्रक होते हैं । **पुष्प**-छोटे, सुगन्धित और श्वेतवर्ण शाखाओं के अग्रभाग पर कोणीय मंजरियों में लगते हैं । बहिर्दल-५-६ खण्डयुक्त; अन्तर्दल-·२५ इञ्च लंबे, आयताकार-लट्वाकार, स्थूलाधार, मण्डलक-(Disc) बैंगनी रंग का मांसल, प्रवर्धनयुक्त, परागकोष पुंखवत् होते हैं । फल-½ इञ्च व्यास का, त्रिकोण होता है जिसमें तीन कपाट और तीन सपक्ष कड़े बीज होते हैं । पुष्प जनवरी-मार्च में प्रायः जब वृक्ष निष्पत्र होता है, आते हैं । फल जनवरी-मार्च में लगते हैं । इसका एक भेद Var. glabra होता है जिसमें पत्ते चिकने और अखण्ड होते हैं ।

इसकी छाल में चीरा लगाने से एक स्राव (oleo-gum resin) निकलता है जो जमकर गोंद के रूप में हो जाता है । इसे सं०-कुन्दुरू; हि०-कुन्दुरू; अ०-आल कुंदुर; फा०-कूंदुर कहते हैं । इसे जल में घोंटने से दूध जैसा मिश्रण तैयार होता है ।

जाति—यूनानी वैद्यक में आकृति और वर्ण के भेद से कुन्दुरु पाँच प्रकार का माना जाता है :—(१) नरकुन्दुर-इसके रक्ताभ पीत या कपिश, गोल दाने होते हैं । (२) मादा कुन्दुर—इसके दाने कुछ बड़े और पांडुवर्ण होते हैं । (३) गोल कुन्दुर—इसके दाने सुडौल गोल होते हैं । (४) किशार कुन्दुर—यह पर्पटी के आकार का निर्यास है । (५) दुक़ाक कुन्दुर—यह चूर्णरूप होता है । औषध में पीताभ और गोल निर्यास लेना चाहिए ।

उत्पत्तिस्थान—यह विदर्भ, मध्यप्रदेश, राजस्थान, दक्षिणभारत, छोटा नागपुर, उड़ीसा तथा गुजरात के वनों में पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—कुन्दुरू में आर्द्रता १०-११, उड़नशील तैल ८-९, राल ५५-५७, गोंद २०-२३ तथा अविलेय पदार्थ ४-५ % होते हैं । उड़नशील तैल (Boswellia oil) तारपीन तेल के समान होता है । राल (Rosin) सुनहले या गहरे भूरे रंग का होता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कुन्दुरु तीक्ष्ण और कटुतिक्त होता है ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण और चक्षुष्य है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य है ।

पाचनसंस्थान—कुन्दुरु दीपन, पाचन, ग्राही, पुरीषविरजनीय और वातानुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिवात, गंडमाला, पार्श्वशूल आदि में कुन्दुरु का गरम लेप करते हैं। जीर्णव्रण, प्रमेहपिडका आदि में इसका मलहम लगाते हैं। नेत्ररोगों में मधु के साथ इसका अंजन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अग्निमांद्य, अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी, आध्मान, अर्श तथा पुरीष के अनेक वर्णविकारों में इसका प्रयोग करते हैं। पित्त की विकृति से पुरीष के स्वाभाविक वर्ण में विकार आता है, यह पित्तशामक होने से उसे ठीक करता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास में इसका प्रयोग करते हैं तथा धूम्रपान भी कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा प्रदर में यह प्रयुक्त होता है।

त्वचा—त्वग्दोषों में लाभकर है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, निर्यास (कुन्दुरु)।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५०–१०० मि० लि०; निर्यास १–३ ग्रा०।

वक्तव्य—बाहर से जो द्रव्य कुन्दरु नाम से आता है वह अरब, अफ्रीका में होने वाली प्रजाति (बॉस्वेलिया फ्लरिबण्डा–Boswellia floribunda) का निर्यास है।

× × × ×

महेरुणा कुन्दुरुकी वल्लकी च बहुस्रवा ॥

'शल्लकी गजभक्षा च सुवहा सुरभी रसा । रक्तपित्तव्रणहरी पुष्टिकृत् समुदीरिता ॥'

शल्लकी तुवरा शीता पित्तश्लेष्मातिसारजित् । (भा. प्र.)

ज्वरस्वेदप्रहालक्ष्मीमुखरोगकफानिलान् ॥'

'कुन्दुरुर्मधुरस्तिक्तस्तीक्ष्णः त्वच्यः कटुर्हरेत् । (भा. प्र.)

कुष्ठास्रकफवाताशोंव्रणदोषार्त्तिनाशिनी ॥'

'शल्लकी तिक्तमधुरा कषाया ग्राहिणी परा । प्रदरामयशान्तिकृत् ॥'

'कुन्दुरुः कटुस्तिक्तो वातश्लेष्मामयापहः । पाने लेपे च शिशिरः (ध. नि.)

W. I., I, 208–10.

B. B. O., I, 177.

२०२. शाल्मली

परिचय

गुण—पुरीषविरजनीय, शोणितस्थापन, वेदनास्थापन, कषायस्कन्ध (च०), प्रियंग्वादि (सु०)।

कुल—शाल्मली-कुल (बोम्बेकेसी–Bombacaceae)।

नाम—लैं०–सलमलिया मलबारिका (Salmalia malabarica Schott & Endl.); सं०–शाल्मली, मोचा (रसस्रावी), पिच्छिल (निर्यासयुक्त), रक्तपुष्प, स्थिरायु (बहुवर्षायु), कंटकाढ्य, तूलिनी; हि०–सेमल, सेमर; बं०–शिमुल; म०–सांवर; गु०–शेमलो, सीमलो; ते० कन्न०–वूरुग; ता० मल०–मुल्लिलवु; अं०–सिल्क–काटन ट्री (Silk–cotton Tree)।

स्वरूप—इसके वृक्ष १२५ फीट तक ऊँचे और २० फीट तक मोटे होते हैं। काण्ड और शाखाओं पर दृढ़ शंक्वाकार कण्टक होते हैं। शाखायें अनुप्रस्थ दिशा में फैली प्रायः चक्रिक क्रम में होती है। **पत्र**–पाणिवत्, पत्रक–संख्या में ५–७, भालाकार, लम्बाग्र, ६–१२ इञ्च लम्बे, चिकने होते हैं। पत्रवृन्त पत्रकों से बड़ा होता है; पत्रकवृन्त १ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**–रक्तवर्ण, ४–५ इञ्च व्यास के, शाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध होते हैं। बहिर्दल–१ इञ्च लम्बे, प्याले के आकार के, किनारो पर किंचित् खंडित, अन्तर्दल–५, ६–७ इञ्च लम्बे, रक्तवर्ण, आयताकार, मुड़े हुए, मांसल, पुंकेशरों से लम्बाई में दूने होते हैं। पुंकेशरनलिका छोटी तथा केशरसूत्र अनेक होते हैं जिनमें सबसे भीतरी पाँच शीर्ष पर विभक्त, मध्यवर्त्ती दस छोटे होते हैं। कुक्षिवृन्त पुंकेशरों से बड़े होते हैं। **फल**-५–७ इञ्च लम्बे, आयताकार-अण्डाकार, काष्ठीय, गोलाग्र, पञ्चकपाटीय होते हैं। फल के भीतर काले रंग के, चिकने, अभिलट्वाकार, ६–९ मि० मी० लम्बे अनेक बीज

होते हैं जो सघन रेशमी रोमों (रूई) से आवृत रहते हैं। दिसम्बर-मार्च में पत्तियाँ झड़ जाने पर प्रायः इसमें पुष्प आते हैं। फल-मार्च-मई में लगते हैं।

इसकी छाल में कीड़ों के दंश, अन्य विकार या क्षय के कारण स्वाभाविक क्षत से एक निर्यास निकलता है जिसे मोचरस कहते हैं। यह भूरे रंग का, पोला और हलका होता है।

सेमल के १-२ वर्ष की आयु के वृक्षों के मूल का 'सेमल मुशली' के नाम से औषध में प्रयोग करते हैं।

जाति—इसकी एक जाति होती है जिसे 'कूटशाल्मली' (एरिओडेण्ड्रोन एन्फ्रक्टुओजम-Eriodendron anfructuosum DC.) कहते हैं। इसमें काँटे बहुत कम और पुष्प श्वेत भीतर पीताभ होते हैं। इसकी एक प्रजाति S. insignis (Wall.) Schott. & Endl. दक्षिण भारत और अण्डमान में होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत विशेषतः उष्ण वन्य क्षेत्रों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में स्थिर तैल होता है। मोचरस में ८-९% खनिज पदार्थ तथा कैटेकाल टैनिन होता है। इसमें टैनिक एसिड (Tannic acid) तथा गैलिक एसिड (Gallic acid) भी होते हैं। सेमलमुशली में स्टार्च ७१·२, शर्करा ८·२, प्रोटीन १·२, खनिज पदार्थ २·१ प्रतिशत तथा कुछ वसा, टैनिन और सेल्युलोज होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल   **रस**—मधुर (मोचरस कषाय)
विपाक—मधुर (मोचरस कटु)   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—सेमल स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शामक है। मोचरस कषाय होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—सेमल की छाल शोथहर, दाहप्रशमन, पुष्प रक्तरोधक, मोचरस स्तम्भन और व्रणरोपण है। कण्टक लेखन और वर्ण्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मोचरस स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—सेमल के पुष्प और निर्यास रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कच्चे फल कासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—कच्चे फल मूत्रल हैं।

प्रजननसंस्थान—सेमल-मुशली वृष्य तथा मोचरस शुक्रस्तम्भन तथा पुष्प आर्त्तवरोधी है।

सात्मीकरण—फल बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—सेमल के मूल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में और पुष्प, फल तथा मोचरस का प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सेमल की छाल व्रणशोथ और दाह में लगाते हैं। रक्तस्राव होने पर पुष्पस्वरस या चूर्ण लगाते हैं। दन्तमञ्जनों में मोचरस का योग करते हैं तथा मुखपाक, व्रण आदि में अवचूर्णन करते हैं। सेमल के काँटों को दूध में पीस कर मुख में लगाने से चेहरे का रंग साफ होता है और व्यङ्ग, न्यच्छ आदि रोग दूर होते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—मोचरस का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी और अर्श में करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में सेमल के फूल तथा मोचरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में कच्चे फलों का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, वृक्कशूल आदि रोगों में कच्चे फलों का चूर्ण या क्वाथ अतीव लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—सेमलमुशली शुक्रवर्धक वाजीकरण योगों में प्रयुक्त होती है। मोचरस शुक्रस्तम्भन योगों में डाला जाता है। श्वेत तथा रक्तप्रदर में भी मोचरस देते हैं। रक्तप्रदर में पुष्पस्वरस देते हैं या पुष्पों का शाक खिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कार्श्य में सेमलमुशली उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पुष्प, फल, निर्यास (मोचरस)।

मात्रा—मूलचूर्ण ५-१० ग्रा०; पुष्पस्वरस १०-२० मि० लि०; फलचूर्ण-३-६ ग्रा०, निर्यास १-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—शाल्मलीघृत।

वक्तव्य—कूटशाल्मली कटु-तिक्त, उष्णवीर्य और भेदन होता है।

× × ×

पंचषट्वरपर्णो सुवाहो रक्ताब्जपुष्पकः ॥
असारः शाल्मलीकूटो द्विधा स्थूलाणुकंटकः । षष्टिवर्षसहस्राणि वने जीवति शाल्मलिः ॥'
फलं सतूलं चैतस्य रसो मोचरसाभिधः । (शि०)

श्लेष्मला पित्तवातास्रहारिणी रक्तपित्तजित् ॥
'शाल्मली शीतला स्वाद्वी रसे पाके रसायनी । प्रवाहिकातिसारामकफपित्तास्रदाहनुत् ॥
मोचास्रावो हिमो ग्राही स्निग्धो वृष्यः कषायकः । प्लीहजठरयकृद्गुल्मविषापहः ॥
कूटशाल्मलिकस्तिक्तः कटुकः कफवातनुत् । भेद्युष्णः
भूतानाहविबन्धास्रमेदःशूलकफापहः ।' (भा० प्र०)
'शाल्मलिः पिच्छिलो वृष्यो बल्यो मधुरशीतलः ।
कषायश्च लघुः स्निग्धः शुक्रश्लेष्मविवर्धनः ॥' (रा० नि०)

'शाल्मलीपुष्पशाकं तु घृतसैन्धवसाधितम्। प्रदरं नाशयत्येव दुःसाध्यं च न संशयः ॥'
(भा० प्र०)

W. I., IX, 175–83.
F. I. I. 349–50.

शूलप्रशमन

२०३. यवानी

परिचय

गण—शीतप्रशमन (च०); चतुर्बीज (भा० प्र०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०-ट्रैकीस्पर्मम अम्मी (Trachyspermum ammi (Linn.) Sprague); सं०-यवानी (क्षुद्र यवसदृश क्षुप); अजमोदिका (छोटी अजमोदा), दीप्यका (दीपन); हि०-अजवायन; बं०-जोवान; म०-ओवा; गु०-अजमो; पं०-जवैण; क०-जविन्द; कन्न०-ओमा; मल०-ओमम् , ता०-आमम; ते०-वामु; अ०-क्यूनुल्मूलूकी; फा०-नानखाह; अं०-अजोवान (Ajowan)।

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त, चिकना या किंचित् मृदुरोमश, पत्रमय **क्षुप** १–३ फुट ऊँचा होता है। काण्ड-धारीदार होता है। पत्र-द्विपक्षवत् या त्रिपक्षवत् विभक्त, अन्तिम पत्रखण्ड १/२–१ इञ्च लंबे, रेखाकार होते हैं। कोणपुष्पक-अनेक, रेखाकार होते हैं। **पुष्प**-छत्राकार, श्वेत संयुक्त छत्रकों में होते हैं। पुष्पदंड-४–१२; १/८–१ १/२ इञ्च लंबे, पत्रवृन्त-६–१६, १/८–१/४ इञ्च लंबे होते हैं। वृन्तपत्रक-३–५, छोटे, रेखाकार होते हैं। **फल**-१/१२ इञ्च लंबे, अण्डाकार, धूसर-भूरे, सूक्ष्म कंटकित या रोमश होते हैं तथा पाँच स्पष्ट रेखाओं से युक्त होने के कारण पञ्च-कोणीय प्रतीत होते हैं। फल के एकबीजी दोनों खण्ड (mericarp) कुछ दबे होते हैं। प्रत्येक खण्ड में एक बीज होता है। मूल–मूलकाकार होता है। फरवरी-अप्रिल में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में विशेषतः मध्यप्रदेश, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र, गुजरात, महाराष्ट्र तथा कुछ राजस्थान, बिहार और पश्चिम बंगाल में इसकी खेती की जाती है। अच्छे किस्म की अजवायन इन्दौर, उज्जैन और ग्वालियर में होती है।

जाति—इसकी अनेक व्यापारिक जातियाँ है यथा देशी अजवायन (बड़ी), देशी अजवायन (छोटी), नडियाद अजवायन आदि।

रासायनिक संघटन—इसके फलों में एक सुगन्धित तैल (Ajowan oil) २–४% होता है जिसका मुख्य घटक थाइमॉल (३५–६०%) है तथा कुछ कार्वाक्रोल (Carvacrol) है। मानक अजवायन तैल में ४०% से कम थाइमोल नहीं होना चाहिए। तैल को ठंढा करने पर थाइमोल जम जाता है जो अजवायन का फूल या सत अजवायन (यवानीसत्त्व) कहा जाता है। इसके अतिरिक्त अवशिष्ट तैलांश थाइमीन (Thymene) कहलाता है। फल में इसके अतिरिक्त, आर्द्रता ७·४, प्रोटीन १७·१, वसा २१.८, सूत्र २१.२, कार्बोहाइडेट २४.६, खनिज ७.९ प्रतिशत तथा कैल्शियम १,५२५; कुल फास्फरस ४४५, लौह २७·७, सोडियम ५६, पोटाशियम १,३६०; थायमिन ०·२१, रिबोफ्लेविन ०·२८, निकोटिनिक एसिड २·१ मि० ग्रा० प्रतिग्राम होता है। कैरोटिन ७१ मा० ग्रा०। प्रति १०० ग्राम तथा आयोडिन ०·४५ मि० ग्रा० प्रति किलोग्राम होता है। इसके अतिरिक्त, शर्करा, टैनिन, ग्लाइकोसाइड, सैपोनिन, एक फ्लेबोन तथा एक स्टिरायड पदार्थ पाये जाते हैं। फलों से एक स्थिर तैल १४·८% निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तीक्ष्ण-उष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, अनुलोमन, जन्तुघ्न, वच्य और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उष्ण होने से हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, श्लेष्मपूतिहर और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रनाशक, स्तन्यनाशन तथा गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अजवायन का लेप या उसके तैल का अभ्यंग शोथ-वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। चर्मरोगों तथा बिच्छू आदि के दंश में उसका लेप करते हैं। सत अजवायन को गरम जल में मिला कर उससे व्रण धोते हैं। आध्मान

होने पर पेट पर अजवायन का लेप करते हैं या उसकी पोटली बना कर सेंकते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, आनाह, उदरशूल, गुल्म, प्लीहा और कृमिरोग में इसका प्रयोग करते हैं। सत अजवायन अन्त्रगत अंकुशकृमि में तथा अन्य जन्तुओं की वृद्धि को रोकने के लिए देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास और श्वास में इसका चूर्ण देते हैं और धूम्रपान भी कराते हैं। इससे कफ आसानी से निकलता है, कफ नष्ट होता है, कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है और तद्गत जीवाणुओं की वृद्धि रुकती है। श्वास का वेग भी कम हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा सूतिकारोग में यह उपयोगी है। इससे गर्भाशय का संशोधन होता है, वात का शमन होता है, अग्नि बढ़ती है तथा ज्वर आदि उपद्रव शान्त होते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—शीतज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—जीर्ण अहिफेन-विष में यह लाभकर है और इससे उसका अभ्यास छूट जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०; तैल १–३ बूंद; सत्त्व ३०–१२० मि० ग्रा०; अर्क २०–४० मि० लि०।

वक्तव्य—इसका क्वाथ नहीं करना चाहिए क्योंकि इससे इसका उड़नशील तैल नष्ट हो जाता है।

विशिष्ट योग—यवानिकादि क्वाथ; यवानिकादि चूर्ण, यवानीषाडव, यवान्यर्क।

× × ×

'यवानी पाचनी रुच्या तीक्ष्णोष्णा कटुका लघुः। दीपनी च तथा तिक्ता पित्तला शुक्रशूलहृत्॥
वातश्लेष्मोदरानाहगुल्मप्लीहकृमिप्रणुत्॥' (भा. प्र.)

'यवानी कटुतीक्ष्णोष्णा वातश्लेष्मद्विजामयान्।
हन्ति गुल्मोदरं शूलं दीपयत्याशु चानलम्॥' (ध. नि.)

I. P., 32.
W. I., X, 267–70.
F. I., II, 682.

२०४. अजमोदा

परिचय

गण—शूलप्रशमन, दीपनीय (च०); पिप्पल्यादि (सु०)।

कुल—शतपुष्पा-कुल (अम्बेलिफेरी–Umbelliferae)।

नाम—लै०-करम् रॉक्सबर्गियानम् (Carum Roxburghianum (DC) Craib.), सं०-अजमोदा (बकरे के सदृश गंधवाली), खराश्वा; हि०-अजमोद; बं०-राँधुनी; म०-अजमोदा; गु०-अजमोद; ता०-अशम्तवोवम; ते०-अजुमोदवायु; कन्न०-अजमोदवोमा; अ०-फा०-करफ्सेहिन्दी।

स्वरूप—इसका क्षुप अजवायन के सदृश लगभग १–३ फुट ऊँचा होता है। **मूल**-मूलकाकार होता है। **पत्र**-द्विपक्षवत्, पत्र के अन्तिम खण्ड रेखाकार-भालाकार होते हैं। **पुष्प**-संयुक्त छत्रकों में, छोटे, श्वेत या हरिताभ लगते हैं। **फल**-अंडाकार, पीताभ, अजवायन के फल से बड़े होते हैं। वर्षा से वसन्त (सितम्बर–मार्च) तक इसमें पुष्प और अप्रिल में फल लगते हैं।

अजमोदा T. stictocarpum (C. B. Clake) Wolff. से बहुत समानता रखती है और सम्भवतः उसी का एक कृषिज रूप है। केवल फल में थोड़ा अन्तर होता है। इसके फल पर भी रेखायें अधिक स्पष्ट और फल अधिक रोमश होता है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में विशेष कर महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तरप्रदेश में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक सुगन्धित तैल (२.५% तक), एक स्थिर तैल (४.५%) तथा एक स्फटिकीय केटान यौगिक (०.१%) पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन और विदाही है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह विदाही, दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न है। शूलप्रशमन कर्म केटोन यौगिक में विशेष रूप से पाया गया है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रप्रवर्तक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक और वाजीकरण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनायुक्त अंगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—वमन, अग्निमांद्य, आध्मान और उदरशूल, कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में इसका चूर्ण देते हैं तथा धूम्रपान करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशूल तथा मूत्राघात में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव और क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—अजमोदादि चूर्ण, अजमोदादि वटक।

× × ×

'अजमोदा कटुस्तीक्ष्णा दीपनी कफवातनुत्। उष्णा विदाहिनी हृद्या वृष्या बलकरी लघुः॥
नेत्रामयकफच्छर्दिहिक्काबस्तिरुजो हरेत्।' (भा. प्र.)
'अजमोदा तु शूलघ्नी तिक्तोष्णा कफवातजित्। हिक्काध्मानारुचीर्हन्ति कृमिजिद्वह्निदीपनी॥'
(ध. नि.)

२०५. चन्द्रशूर

परिचय

गण—चतुर्बीज (भा०)।

कुल—राजिका-कुल (क्रुसीफेरी-Cruciferae)।

नाम—लै०-लेपिडियम सेटाइवम (Lepidium sativum Linn.); सं०-चन्द्रशूर, चन्द्रिका, वासपुष्पा, पशुमेहनकारिका; हि०-चनसुर, हालिम; बं०-हालिम; पं०-हालियम, म०-अहर्लीव; गु०-अशेलियो; ता०-अलिविराई; ते०-अदेली; कन्न०-अल्लिविज; अ०-हब्बुर्रशाद; फा०-सिपंदान; अं०-गार्डेन क्रेस (Garden cress)।

स्वरूप—इसका शाकवत्, चिकना, वर्षायु **क्षुप** ½-1½ फुट ऊँचा होता है। मूलीय **पत्र**-दीर्घवृन्त, द्विधा पक्षवद्विभक्त; काण्डीय पत्र-अवृन्त, प्रायः अखण्ड, रेखाकार या रेखाकार-भालाकार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण, लंबी मंजरियों में होते हैं। फली-चक्राकार-लट्वाकार, अग्रभाग पर गहरे खात से युक्त, सपक्ष होते हैं। प्रत्येक कोष्ठ में एक बीज होता है। **बीज**-लाल रंग के नौकाकार होते हैं जिनको जल में भिगोने से लुआब उत्पन्न होता है।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत तथा तिब्बत में इसकी खेती होती है। इसकी पत्तियों का सलाद के रूप में व्यवहार होता है। घोड़े, ऊँट आदि पशुओं को इसका चारा दिया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके पञ्चांग में उड़नशील सुगन्धित तैल (Cress oil) ०·११५ % होता है जिसमें बेञ्जिल सायनाइड और बेञ्जिल आइसोथायोसायनेट होते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल पीताभ भूरे रंग का २५·५ % होता है। इसके अतिरिक्त इनमें प्रोटीन २३·५, वसा १५·६१, राख ५·७, फास्फोरस १·६५, कैल्शियम ०·३१ तथा गंधक ०·९ % होता है। इसके अतिरिक्त एक क्षाराभ (Glucotropaeolin), सिनापिन, सिनापिक एसिड, पिच्छिल पदार्थ (५ %) तथा युरिक आल (०·१०८ ग्रा०/प्रति कि० ग्रा०) होते हैं। बीजों में पंचांग के सदृश एक उड़नशील तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण
बीज—स्निग्ध-पिच्छिल हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप वेदनास्थापन, जतुघ्न तथा त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, शूलप्रशमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—हिक्कानिग्रहण और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य, आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है। बीजों के उड़नशील तैल में तीव्र ईस्ट्रोजन कर्म पाया गया है।

सात्मीकरण—स्निग्ध-पिच्छिल होने से बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कटिशूल, पार्श्वशूल, संधिवात तथा चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका चूर्ण एवं क्षीरपाक कर सेवन कराते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, गुल्म तथा अतिसार, प्रवाहिका में इसका चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकारों में प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास में यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, कष्टार्त्तव एवं सूतिका रोग में इसका प्रयोग करते हैं। प्रसव के बाद देने से इससे बल बढ़ता है, स्तन्य की वृद्धि होती है, गर्भाशय का संशोधन होता है तथा वायु के उपद्रव शान्त होते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—चतुर्बीज चूर्ण।

× × ×

चन्द्रशूरं हितं हिक्कावातश्लेष्मातिसारिणाम्। असृग्वातगदद्वेषि बलपुष्टिविवर्धनम्॥'
(भा. प्र.)

W. I., VI, 71–72.
F. I., I, 159–60.

२०६. धत्तूर

परिचय

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी–Solanaceae)।

नाम—लै०-दतूरा मेटल (Datura metel Linn.) सं०-धत्तूर, धुत्तूर, उन्मत्त (मादक), कनक (बीज पीतवर्ण), मातुल (मादक), शिवप्रिय (इसके फूल शिव पर चढ़ाये जाते हैं); हि० बं० म० गु०-धत्तूरा, ता० ते० कन्न० मल०-उम्मत्त; अ०-दातूर; फा०-तातूर; अं०-थार्न ऐपुल (Thorn apple)।

स्वरूप—इसका ३–५ फीट ऊँचा, किंचित् झाड़ीदार **क्षुप** होता है। **पत्र**–३–६ इंच लम्बे, अखण्ड या गोलखंडित, विषमाकार, मोटे तौर से त्रिकोण-लट्वाकार होते हैं। **पुष्प**–५–७ इंच लम्बे, प्रायः दो-दो या तीन-तीन एक साथ, श्वेत या बाहर से बैंगनी और भीतर श्वेत होते हैं। बाह्यकोष–३ इंच तक तथा अन्तःकोष ७ इंच लम्बा और मुख पर ५ इंच व्यास का होता है। **फल**–८ इञ्च लम्बे वृन्त पर लगा, गोलाकार, १½ इञ्च व्यास का, कंटकित तथा नीचे की ओर झुका होता है। काँटे कम तीक्ष्ण होते हैं। फल पकने पर विषम रूप से फटता है जिससे पीत या हलके भूरे रंग के चपटे बीजों का सघन पिण्ड बाहर आ जाता है। पुष्प मुख्यतः वर्षाऋतु में लगते हैं और उसके बाद फल आते हैं।

जाति—प्रस्तुत वनस्पति राजनिघण्टूक्त राजधत्तूर है क्योंकि इसका पौधा और पुष्प प्रायः बड़ा होता है। D, stramonium Linn. कृष्णधत्तूर है। इसके बीज कृष्ण होते हैं, फल ऊर्ध्वमुख तीक्ष्णकंटकों से व्याप्त होता है तथा चार खण्डों में फटता है। यह हिमालय में ८ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। एक और प्रजाति D. innoxia Mill. है जो मेक्सिको का मूल निवासी है किन्तु भारत में सर्वत्र देखा जाता है। इसका पौधा सघनरोमश, फल लम्बे दुर्बल कंटकों से युक्त तथा अन्तःकोष १०–दाँतयुक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें मुख्य क्षाराभ स्कोपोलेमिन (Scopolamine) तथा स्वल्प परिमाण में हायोसाइमिन (Hysciamine), ऐट्रोपिन (Atropine) तथा नौरहायोसाइमिन (Norhyosciamine) होते हैं। इस प्रजाति में विशेष रूप से मिटिओलोडिन (Meteolodine) नामक क्षाराभ मिलता है। नये पौधों के पत्र तथा पुष्प मे तथा फल पकने पर बीजों में विशेष रूप से क्षाराभ मिलते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल भी १२% होता है। कृष्णधत्तूर (D. stramonium) में मुख्य रूप से हायसाइमिन होता है। इसके अतिरिक्त क्लोरोजेनिक एसिड भी होता है। इसकी पत्तियों से एक उड़नशील तैल (०·०४५%) तथा बीजों से स्थिर तैल (१६·३%) निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, व्यवायी, विकासी
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—मादक

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, वेदनास्थापन तथा त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन तथा मादक है। स्वतन्त्र नाड़ी-मण्डलपर इसके क्षाराभों की क्रिया एसिटिलकोलीन-प्रतिरोधी (Cholenergic blocking) के रूप में होती है। नेत्रतारका को विस्फारित करता है।

पाचनसंस्थान—यह आमाशय और अन्त्र की गतियों को कम करता है तथा अत्यधिक गतिशील अन्त्र पर शामक प्रभाव डालता है, इस प्रकार शूलप्रशमन है। यह स्रावों को भी कम करता है। पित्त के स्राव को भी कम करता है। यह एक उत्तम शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह प्राणदा नाड़ी के प्रभाव को अवरुद्ध कर हृदय को उत्तेजित करता है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिका की पेशियों में संकोच को दूर करता है तथा श्लेष्मा के स्राव को भी कम करता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह बस्ति तथा गवीनी के संकोच को दूर करता है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय का प्रसार करता है। शुक्रस्तम्भन भी है।

त्वचा—यह स्वेदावरोधक है।

तापक्रम—स्वेदावरोध के कारण तापक्रम को बढ़ा देता है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

शोषण एवं उत्सर्ग—इसका शोषण त्वचा एवं श्लेष्मल कला द्वारा शीघ्र होता है। अपरा द्वारा भ्रूण के रक्त में भी पहुँच जाता है। उत्सर्ग मूत्र के द्वारा होता है। कुछ स्तन्य आदि अन्य स्रावों के साथ भी निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातजन्य रोगों में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—धत्तूरे का लेप या तैल बनाकर शोथवेदनायुक्त अवयवों पर लगाते हैं। इसकी वर्त्ति बनाकर अर्शरोग में लगाते हैं जिससे वेदना शान्त होती है। विविध चर्मरोगों में भी इसका लेप करते हैं। जूँ और लीख को मारने के लिए इसकी पत्तियों का रस लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—वेदना को शान्त करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। विविध वातविकारों में उपयोगी है।

नेत्र—नेत्र रोगों में नेत्रतारका को विस्फारित करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, परिणामशूल तथा पित्ताश्मरी में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृदय एवं नाड़ी की मन्दता को दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग के लिए यह एक उत्तम औषध है। इससे कफ का स्राव कम होकर तथा श्वासनलिकाओं के प्रसार से रोगी को आराम मिलता है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्कशूल, अश्मरी में यह लाभकर है। बच्चों के शय्यामूत्र में भी उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजःकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं। वाजीकरण के रूप में भी व्यवहृत होता है।

त्वचा—तापक्रम—स्वेदाधिक्य को रोकने के लिए उपयोगी है। स्वेद को रोक कर यह शरीर के तापक्रम को भी बनाये रखता है। इस प्रकार यह शीतप्रशमन का भी कार्य करता है।

सात्मीकरण—कुक्कुरविष में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प, बीज।

मात्रा—चूर्ण ५०-१०० मि० ग्रा०; द्रवसत्त्व-१-३ बूंद, धत्तूरसुरा-३-२ मि० लि०।

विशिष्ट योग—उन्मादगजांकुश, सूतशेखर, कनकासव।

धत्तूरबीज-शोधन—धत्तूरबीजों को पोटली में रखकर एक प्रहर तक गोदुग्ध में दोलायन्त्र में स्वेदन करे और फिर निकाल कर गरम जल से धो दे। इससे यह शुद्ध हो जाता है।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने पर शुखशोष, दृष्टिदोष, हृद्द्रव, भ्रम, प्रलाप, पेशी-असन्तुलन, त्वचा में लालिमा, ज्वर, संन्यास तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है।

चिकित्सा—विषाक्त लक्षणों के उत्पन्न होने पर वमन करा कर आमाशय की शुद्धि करे। फिर स्निग्ध पदार्थ की या दूध पिलावें और इसका प्रतिविष प्रयोग करे।

× × ×

धत्तूरः कटुरुष्णश्च कान्तिकारी व्रणार्तिनुत्।
त्वग्दोषकृच्छ्रकण्डूतिज्वरहारी भ्रमावहः॥ (ध. नि.)

धत्तूरफलचूर्णं तु काकोदुम्बरिकान्वितम्।
शीलितं तण्डुलाम्भोभिः सारमेयविषं हरेत्॥ (र. त.)

W. I.. III, 14-18.

F. I., IV, 242-3.

I. P., 224-26.

M. P. I., 333-38.

Krantz & Carr : Pharmocologic Principles of medical Practice (1969), 392-404

कृमिघ्न

२०७. विडङ्ग

परिचय

गण—कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, तृप्तिघ्न, शिरोविरेचन (च०); सुरसादि, पिप्पल्यादि (सु०), त्रिमद (भा० प्र०)।

कुल—विडङ्ग-कुल-(मर्सिनेसी-Myrsinaceae)।

नाम—लै०-इम्बेलिया रिब्स (Embelia ribes Burm. f.); सं०-विडंग, कृमिघ्न, चित्रतंडुल (बीजों पर सफेद दाग होते हैं); हि०-बायबिडंग,

भाभिरंग; पं०–बावडींग, बं०–बिडंग; म०–बावडिंग; गु०–बावडींग; ता० ते० कन्न०–वायु–विलंग; मल०–विझल।

स्वरूप—इसका बड़ा मृदुशाखी **गुल्म** होता है। **पत्र**–अंडाकार–भालाकार दोनों छोर पर संकीर्ण, अखंड, चिकने, ग्रन्थिचिह्नयुक्त, ह्रस्ववृन्त, ३ इञ्च लम्बे, १½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, छोटे, धूसर–रोमश, ३–४ लम्बी शाखाओं से युक्त मञ्जरियों में होते हैं। पुष्पवृन्त पुष्पों और फलों से बड़े होते हैं। **फल**–मरिच के सदृश गोलाकार, झुर्रीदार या ग्रन्थिल, रक्ताभ से कृष्ण तक, गुच्छों में लगते हैं। फल का बहिर्भाग भंगुर होता है जिसके भीतर एक झिल्लीदार बीज होता है जिसपर सफेद दाग होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के पार्वत्य प्रदेशों में ५ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। विशेषतः मेघालय तथा अन्य उत्तरपूर्वी प्रदेशों से प्राप्त होता है।

जाति—इसकी एक अन्य प्रजाति E. tsjeriam-cottam A. DC. (Syn. E. robusta C. B. Clarke) के फल भी विडंग के नाम से चलते हैं और प्रायः दोनों के फल मिले-जुले मिलते हैं। इस प्रजाति का पौधा तथा फल बड़ा होता है तथा फल पर लम्बाई में धारियाँ तथा तैलग्रन्थियाँ होती हैं।

अपमिश्रण—इसी कुल की Myrsine africana Linn. नामक वनस्पति के फल भी विडंग में मिलाये जाते हैं। ये स्वरूप तथा गुणधर्म में विडंग के समान हैं और पंजाब में इसे बेबरंग कहते भी हैं। विडंग के फलों का अपमिश्रण मरिच में भी किया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें इम्बेलिन (Embelin) २½–३ प्रतिशत, एक उड़नशील तैल, स्थिर तैल, टैनिन, राल, क्रिस्टेम्बिन (Christembine) नामक क्षाराभ, वसीय पदार्थ–५.२% तथा क्वर्सिटाल १% होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्णवीर्य होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, कुष्ठघ्न और शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क और नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है। कृमिघ्न द्रव्यों में यह श्रेष्ठ माना गया है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है तथा इसकी विशिष्ट क्रिया रसग्रन्थियों पर होती है और उनका शोथ नष्ट होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है। इससे मूत्र की अम्लता बढ़ती है।

प्रजननसंस्थान—इसमें गर्भनिरोधक क्रिया पाई गई है।

त्वचा—वर्ण्य और कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—यह रसायन है और इसकी उत्तेजक क्रिया शरीर के सब अंगों पर होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातविकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमिदंत, दंतशूल आदि में विडंगक्वाथ का गंडूष करते हैं। चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है। जीर्ण प्रतिश्याय, कामला तथा शिरोरोगों में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा नाडीदौर्बल्य से उत्पन्न वातव्याधि (आक्षेपक, अपस्मार, पक्षाघात आदि) में रसोन के साथ क्षीरपाक कर इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, वमन, उदरशूल, आध्मान, विबन्ध और अर्श में इसका प्रयोग उष्णोदक या तक्र के साथ किया जाता है। गण्डूपद, स्फीत तथा तन्तु कृमियों में खाली पेट १० ग्राम विडंग का चूर्ण देते हैं और उसके बाद जुलाब देते हैं। इससे कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं। गण्डूपद कृमि पर इसका विशेष प्रभाव देखा गया है। इसके बाद कुछ दिनों तक थोड़ी मात्रा में विडंग चूर्ण का इन्द्रयव, पलाशबीज, नीम की छाल आदि के साथ सेवन कराते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों तथा गंडमाला में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—पिप्पली के साथ विडंग का प्रयोग गर्भनिरोध के लिए विहित है। केवल विडंग के सत्त्व का भी प्रयोग होता है।

त्वचा—इससे कुष्ठ आदि समस्त चर्मरोग दूर होते हैं और त्वचा का वर्ण ठीक होता है।

सात्मीकरण—शरीर की वृद्धि के लिए, विशेषतः दुर्बल और क्षयग्रस्त शिशुओं में यह अत्यन्त उपयोगी औषध है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—५–१० ग्रा०।

विशिष्ट योग—विडंगादि चूर्ण, विडंगलौह, विडंगतैल।

× × × ×

'विडंगं कटु तीक्ष्णोष्णं रूक्षं वह्निकरं लघु। शूलाध्मानोदरश्लेष्मकृमिवातविबन्धनुत्॥'
(भा. प्र.)

'विडंग···तैलानि कटूनि कटुविपाकानि सरा-
ण्यनिलकफकृमिकुष्ठप्रमेहशिरोरोगापहराणि च।' (सु. सू. ४५)

'विडंगं कृमिघ्नानाम्।' (च. सू. २५)

'विडंगा कटुरुष्णा च लघुः वातकफार्तिनुत्। अग्निमांद्यरुचिभ्रान्तिकृमिदोषविनाशिनी॥'
(रा. नि.)

'विडंगतंडुलचूर्णमाहृत्य यष्टिमधुयुक्तं यथाबलं शीततोययोगेनोपयुञ्जीत शीततोयं चानुपिबेत्।······एते खलु अर्शांसि क्षपयन्ति, कृमीनुपघ्नन्ति, ग्रहणधारणशक्तिं जनयन्ति, मासे मासे प्रयोगे वर्षशतमायुषोऽभिवृद्धिर्भवति।' (सु. चि. २७)

W. I., III, 167-68. VI, 482.
F. I., III, 513.
M. P. I, I, 374-76.

२०८. पलाश

परिचय

गण—रोध्रादि, मुष्ककादि, अम्बष्ठादि, न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-ब्युटिआ मोनोस्पर्मा (Butea monosperma (Lam.) Kuntze) सं०-पलाश (पत्र-प्रधान या मांसवत् रक्तवर्ण पुष्प); किंशुक (शुकतुण्ड के सदृश पुष्प); रक्तपुष्पक; क्षारश्रेष्ठ; ब्रह्मवृक्ष, समिद्वर (यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला); हि०-ढाक, टेसू; बं०-पलाश; म०-पलस; गु०-खाखरो (वृक्ष), केसुडा (पुष्प); पलाशपापड़ा (बीज); ता०-परास; ते०-मोदुग, कन्न०-मुत्तुग; मल०-पलाशिन समत।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ४०-५० फीट ऊँचा तथा ५-६ फीट मोटा होता है। **कांड**-टेढ़ा-मेढ़ा तथा त्वचा नीलाभ, धूसर या हलके भूरे रंग की होती हैं। प्रशाखायें कृष्णवर्ण तथा पर्वयुक्त होती हैं। **पत्र**-त्रिपत्रक, पत्रक ४-८ इञ्च लम्बे, चर्मवत्, ऊपर चमकीले और नीचे धूसर रोमश होते हैं। अन्त्यपत्रक-अभिलट्वाकार, अग्रभाग पर गोल या द्विविभक्त, पार्श्विक पत्रक छोटे एवं विषम होते हैं। **पुष्प-मंजरी**-½ फीट लंबी, जिसमें चमकीले नारंगी-लाल पुष्प प्रभूत संख्या में प्रायः निष्पत्र शाखाओं पर लगते हैं। वाह्यकोष-½ इञ्च लंबा, मखमली काला, घंटिकाकार, चर्मवत्, ऊपरी ओष्ठ प्रायः द्विविभक्त, निचला ओष्ठ तीन त्रिकोणाकार

दाँतों से युक्त होता है। वहिर्दल-समान, बहिःपृष्ठ पर चमकीले सघन रोमश होते हैं। ध्वजदल-१ इञ्च चौड़ा, नौकादल अर्धवृत्ताकार, चंचुयुक्त, तीक्ष्णाग्र वाह्यकोष से लगभग चौगुना लंबा होता है। **फली**-६-८ इञ्च लंबी, १½ इञ्च चौड़ी, मखमली भूरे रंग की होती है जिसके भीतर अग्रभाग पर १½ इञ्च लंबा, चपटा, अण्डाकार, भूरे रंग का एक बीज होता है। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म में फल आते हैं। गर्मियों में त्वचा में क्षत करने से निर्यास निकलता है जो जमने पर लाल गोंद बन जाता है। इस गोंद को ब्युटिआ-गम (Butea-gum) या बंगाल-काइनो (Bengal-kino) कहते हैं। इसकी मूलत्वक् से सूत्र तथा फूलों से रंग प्राप्त होता है। इस पेड़ पर लाही लगाई जाती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल और गोंद में काइनोटैनिक एसिड (Kino-tannic acid) तथा गैलिड एसिड ५० %; पिच्छिल द्रव्य तथा क्षार २ % पाये जाते हैं। बीजों में पलासोनिन (Palasonin) नामक सक्रिय तत्त्व होता है जिसकी क्रिया गण्डूपद क्रिमि पर विशेष रूप से देखी गई है। इसके अतिरिक्त इसमें स्थिर तैल १८ % होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

इसके पुष्प मधुरविपाक और शीतवीर्य हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है। पुष्प कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पुष्प, छाल और गोंद स्तम्भन है तथा बीज लेखन है। पत्र शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही और यकृदुत्तेजक है। पुष्प तृष्णाशामक और स्तम्भन है। गोंद अम्लतानाशक और ग्राही है। बीज उत्तम भेदन और कृमिघ्न है। क्षार अनुलोमन और भेदन है।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प तथा गोंद रक्तस्तम्भन और बीज रक्तशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्प मूत्रल तथा बीज और त्वक् प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—पलाश की गोंद वृष्य और बीज उत्तेजक हैं। पुष्प स्तम्भन है।

त्वचा—पुष्प और बीज कुष्ठघ्न हैं।

तापक्रम—पुष्प ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—गोंद बल्य है। त्वक्, पुष्प और गोंद संधानीय है। बीज विषघ्न है। पंचांग रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। पुष्प कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मूत्रावरोध में फूलों को गरम कर बस्तिप्रदेश में बाँधते हैं। पत्तों को गरम कर शोथवेदनायुक्त विकारों में बाँधते हैं। व्रण, अर्श, योनिस्राव आदि में त्वक्क्वाथ से परिषेक करते हैं। बीजों का लेप चर्मरोगों में, नेत्ररोगों में करते हैं। इसका तैल ध्वजभंग में शिश्न में लगते हैं। बिच्छू के दंश में भी इसको घिस कर लगाते हैं। बीजों का नस्य अपस्मार में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल का क्वाथ अग्निमांद्य, ग्रहणी और अर्श में देते हैं। पुष्प तृष्णा और अतिसार में प्रयुक्त होता है। पलाशबीज का चूर्ण (३–६ ग्रा०) प्रातः सायं तीन दिनों तक सेवन कराने के बाद चौथे दिन प्रातः एरण्डतैल पिलाने से गण्डूपद कृमि (Round worms) मर कर निकल जाते हैं। पलाश के छोटे क्षुप का क्षार बनाकर उदररोग, गुल्म तथा शूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पुष्प तथा गोंद रक्तपित्त में और बीज रक्तविकार (वातरक्त आदि) में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में पुष्प तथा प्रमेह में बीजों का प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पलाश की गोंद तथा प्रदर में पुष्पों का प्रयोग होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में पुष्प और बीजों का प्रयोग होता है। क्षयरोग में अतिस्वेद को रोकने के लिए गोंद का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर और दाह में पुष्प लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में गोंद का प्रयोग करते हैं। अस्थिभग्न आदि में त्वक्, पुष्प और गोंद का प्रयोग होता है। विषों में बीजों का प्रयोग होता है। रसायन कर्म में पंचांग उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पुष्प, निर्यास, बीज।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५०–१०० मि० लि०; पुष्पचूर्ण ३–६ ग्रा०, निर्यास १–३ ग्रा०; बीजचूर्ण ३–६ ग्रा०

विशिष्ट योग—पलाशबीजादि चूर्ण, पलाशक्षारघृत।

× × ×

'पलाशपादपः सिद्धस्त्रिदलः शिशिरे क्षयः। कृष्णवृन्तोऽज्ज्वलद्रक्तपुष्पश्च तिक्तबीजकः। एकबीजायता शिम्बी त्रिपर्णश्च समिद्धवान्। गुणैः सर्वे समा ज्ञेयाः सितो विज्ञानदः परः॥'
(शि०)

'पलाशो दीपनो वृष्यः सरोष्णो व्रणगुल्मजित्। भग्नसंधानकृद्दोषग्रहण्यर्शः कृमीन् हरेत्॥

कषायः कटुकस्तिक्तः स्निग्धो गुदजरोगजित्। तत्पुष्पं स्वादु पाके तु कटु तिक्तं कषायकम्॥ वातलं कफपित्तास्रकृच्छ्रजित् ग्राहि शीतलम्। तृड्दाहशमनं वातरक्तकुष्ठहरं परम्॥ फलं लघूष्णं मेदार्शःकृमिवातकफापहम्। विपाके कटुकं रूक्षं कुष्ठगुल्मोदरप्रणुत्॥'
(भा. प्र.)

'क्षारश्रेष्ठः कृमिघ्नश्च संग्राही दीपनः परः। प्लीहगुल्मग्रहण्यर्शोवातश्लेष्मविनाशनः। किंशुकस्यापि कुसुमं सुगन्धि मधुरं च तत्। बीजं तु कटुकं स्निग्धमुष्णं कृमिबलासजित्॥'
(ध. नि.)

'पलाशतैलानि मधुरकषायाणि कफपित्तप्रशमनानि।' (सु. सू. ४५)

'किंशुकं कफपित्तघ्नम्।' (सु. सू. ४६)

'पलाशबीजानि विडंगयुक्तान्युन्मिश्रितान्यामलकीफलानाम्। रसेन मध्वाज्ययुतानि पीत्वा वृद्धोऽपि मासात्तरुणत्वमेति॥' (रा. मा.)

F. I., 194.
B. B. O., II, 292.
W. I., I, 251–52.
M. P. I, 154–57.

२०९. चौहार

परिचय

कुल—भृंगराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०–आर्टिमीसिया मैरिटिमा (Artemisia maritima Linn.) सं०–चौहार, कीटमारी यवानी; हि०–किरमानी अजवायन; किरमाला; म०–किरमाणी ओवा; गु०–करमाणी अजमा,, छुहारो; (पश्चिमोत्तरप्रदेश) स्पिराह तरवाह; फा०–दिर्मना; अ०–शीह; अं०–वर्मसीड (Worm–seed)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** झाड़ीदार, सुगन्धित, ३½ फीट तक ऊँचा होता है। मूलस्तम्भ–काष्ठीय, शाखायुक्त होता है। **पत्र**–½–२ इञ्च लम्बे, प्रायः श्वेत, बहुधा खण्डित, पत्रखण्ड रेखाकार, गोलाग्र होते हैं। **पुष्पमुण्डक**–३–८ शाखायुक्त गुच्छों में होते हैं। अधःपत्रावलिस्थ कोणपुष्पक रेखाकार–आयताकार होते हैं। मई के अन्त से इसमें पुष्प लगने लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी हिमालय में कुमाऊँ से काश्मीर तक, पश्चिमोत्तर प्रदेश, बलूचिस्तान, अफगानिस्तान, फारस और तिब्बत में ७–९ हजार फुट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल (२–३%) होता है। पुष्पों से १–२ प्रतिशत सैन्टोनिन (Santonin) प्राप्त होता है, कलिकोद्गम के पूर्व

सैन्टोनिन केवल पत्तियों में रहता है उसके बाद कलिकाओं में चला जाता है। विकसित होने के ठीक पहले इनमें इसका अधिकतम परिमाण होता है। अतः इसी समय पुष्पों का संग्रह किया जाता है। १० अगस्त से १० सितम्बर तक ऐसा समय रहता है। तुर्किस्तान में होनेवाली प्रजाति A. cina में सैन्टोनिन अधिक (२-३%) होता है। वहाँ जुलाई-अगस्त में इसका संग्रह किया जाता है।

इसमें सैन्टोनिन के अतिरिक्त, दो और स्फटिकीय पदार्थ तथा आर्टिमिसिन (Artemisin) नामक तिक्त घटक पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण-तीक्ष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, शोथहर, व्रणरोपण और रोमसंजनन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, वातानुलोमन, यकृदुत्तेजक और तीव्र कृमिघ्न है। इसका विशिष्ट प्रभाव गण्डूपद कृमियों और कुछ तन्तुकृमियों पर होता है। अधिक मात्रा में रेचन है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासहर और कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है। इससे अम्ल मूत्र हरितपीत वर्ण तथा क्षारीय मूत्र बैंगनी लाल रंग का हो जाता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकर और आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—शीतप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन है।

उत्सर्ग—यह मुख्यतः मूत्र से और कुछ पुरीष से बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसके पंचांग का लेप करते हैं। व्रणों में इसका तैल लगाते हैं। इसकी भस्म को तैल में मिला कर खालित्य रोग में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, उदररोग तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है। रात में खाली पेट इसकी एक मात्रा देकर सबेरे विरेचन देने से

कृमि मर कर बाहर निकल जाते हैं। जीर्णरोग में एक सप्ताह बाद पुनः दूसरी मात्रा देते हैं।

श्वसनसंस्थान—श्वास रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कामोत्तेजना के लिए तथा रजोरोध में प्रयोग होता है।

तापक्रम—शीतज्वर के लिए प्रशस्त है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचाङ्ग, सत्त्व (सैन्टोनिन)।

मात्रा—पञ्चाङ्ग चूर्ण ३–६ ग्रा०; सत्त्व ६०–१८० मि० ग्रा०।

विषाक्त लक्षण—अधिक मात्रा में देने पर इससे शिरःशूल, छर्दि, अतिसार, पीतदृष्टि, संज्ञानाश, वाक्स्तम्भ, शीतस्वेद, हृदय एवं श्वसन का अवसाद, गहरे पीले रंग का मूत्र, कम्प, आक्षेप और अन्त में मृत्यु होती है। कभी-कभी त्वचा पर चकत्ते भी निकलते हैं।

× × × ×

यवानिका यवानी स्याच्चौहारो जन्तुनाशनः।
चोहारस्तद्गुणः प्रोक्तो विशेषात् कृमिनाशनः॥ (रा. नि.)

F. I., III, 323–24.
W. I., I, 121–22.

२१०. इङ्गुदी

परिचय

गण—शिरोविरेचन (च०)।

कुल—इङ्गुदी-कुल (साइमारुबेसी–Simaroubaceae)।

नाम—लै०–बैलेनाइटिस ईजिप्टिआका (Balanites aegyptiaca (Linn.) Delile) सं०–इङ्गुदी, तापसद्रुम, अङ्गारवृक्ष (उष्ण होने या ईंधन में काम आने से)। हि०–इङ्गुन, हिङ्गोट, हिंगुआ; बं०–हिंग०; म०–हिंगण; गु०–इङ्गोरियो; ता०–नानजनदा; ते०–रिंगरी।

स्वरूप—इसका छोटा गुल्म या **वृक्ष** २० फुट तक ऊँचा धूसर-रोमश और कंटकित होता है। शाखाओं के अग्र में तीक्ष्ण ऊर्ध्वमुख कंटक होते हैं। **पत्र**–द्विपत्रक; **पत्रक**–अण्डाकार या अभिलट्वाकार, अखंड, चर्मवत्, $\frac{3}{4}$–$1\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्तियों में कोणीय या बहिःकोणीय, दृढ़, स्थूल कण्टक होते हैं। **पुष्प**–हरितपीत, $\frac{1}{3}$ इञ्च व्यास के और ४–१० के गुच्छों में होते हैं। बहिर्दल और अन्तर्दल–लट्वाकार, मखमली, मृदुरोमश होते हैं। पुंकेशरसूत्र–केशवत्, तीक्ष्णाग्र होते

हैं। कुक्षिवृन्त-दृढ, पांचपरिखायुक्त होता है। **फल**—अण्डाकार, लगभग १-२ इञ्च लम्बा, काष्ठीय, दोनों सिरों पर पञ्चपरिखायुक्त, पीतवर्ण होता है। फलत्वचा भंगुर, फलमज्जा रक्ताभ हरित, मधुर किन्तु दुर्गन्धित होती है। इसके बीजों से तैल निकालते हैं जिसकी गन्ध बड़ी तीक्ष्ण और अप्रिय होती है। फरवरी–मई में पुष्प आते हैं तथा नवम्बर–दिसम्बर में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह शुष्क जांगल प्रदेशों में विशेषतः काली मिट्टी में राजस्थान, गुजरात आदि में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में सैपोनिन (Saponin) होता है। फलमज्जा में १$\frac{1}{2}$ प्रतिशत सैपोनिन, १ प्रतिशत अम्लद्रव्य, शर्करा तथा पिच्छिल द्रव्य होते हैं। बीजों से ४३% पीतवर्ण स्वादरहित तैल निकलता है। यह तैल प्राचीन काल में आश्रमवासियों के लिए अभ्यंग, प्रकाश तथा औषध (व्रणरोपण आदि) में काम आता था। इसी कारण इसका नाम तापसद्रुम है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध   **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल जन्तुघ्न, केश्य और व्रणरोपण है। छाल तीक्ष्ण होने से शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, स्रंसन और कृमिघ्न है। इसकी क्रिया चिनेगा के समान होती है। बीज, छाल, पत्र और फल सभी कृमिघ्न हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका तैल अग्निदग्ध तथा व्रणों पर लगाते हैं। केश्य होने से शिरोरोगों में भी लगाते हैं। शिरोरोगों में छाल के चूर्ण का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, उदरशूल और कृमिरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास, श्वास में इसके फल की मज्जा देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, श्वित्र आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, बीज, बीजतैल, पत्र।

मात्रा—त्वक्क्वाथ ५०–१०० मि० लि०; फलमज्जा–३–६ ग्रा०; बीजचूर्ण–३–६ ग्रा०; बीजतैल–५–१० बूंद।

× × × ×

'इङ्गुदः कुष्ठभूतादिग्रहव्रणविषक्रिमीन्। हन्त्युष्णः श्वित्रशूलघ्नस्तिक्तकः कटुपाकवान्॥' (भा. प्र.)

'इङ्गुदी मदगन्धा स्यात् कटूष्णा फेनिला लघुः। रसायनी हन्ति जन्तुवातामयकफव्रणान्॥' (रा. नि.)

कृमिघ्नमिङ्गुदीतैलमीषत्तिक्तं तथा लघु। कुष्ठामयकृमिहरं दृष्टिशुक्रबलापहम्॥' (सु. सू. ४५)

W. I., I, 143–144.
B. B. O., I, 160.
F. I., I, 922–23.

२११. तुलसी

परिचय

गण—श्वासहर (च०), सुरसादि, शिरोविरेचन (सु०)।

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी–Labiatae)।

नाम—लै०–ऑसिमम सैंक्टम (Ocimum sanctum Linn.); सं०–तुलसी (तुलनारहित), सुरसा (रस उपयोगी होने अथवा देवताओं पर चढ़ने से); अपेतराक्षसी, भूतघ्नी (जन्तुघ्न होने के कारण), बहुमञ्जरी, देवदुन्दुभि (दुन्दुभि के समान लम्बी मञ्जरी होने से), सुलभा, ग्राम्या (घर-घर में लगाये जाने से); बं०–म०–गु०–ता०–ते०–तुलसी; कन्न०–श्रीतुलसी; मल०–मित्तवु; अं०–सैक्रेड बेसिल (Sacred Basil), होली बेसिल (Holy Basil)।

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त, रोमश, वर्षायु क्षुप २–४ फीट ऊँचा होता है। सारा क्षुप बैंगनी रंग का दिखता है। **पत्र**—१–२$\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे, अण्डाकार-आयताकार, लट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, तीक्ष्णाग्र या गोलाग्र, दोनों पृष्ठों पर

रोमश, अधःपृष्ठ पर सिराओं के बीच में ग्रन्थियुक्त होते हैं। बैंगनी रङ्ग के छोटे **पुष्प** ६–८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में सघन चक्रों में आते हैं। पुष्पवृन्त बाह्यकोष के बराबर होता है। बाह्यकोष–छोटा, भीतर की ओर चिकना, बाहर से ग्रन्थिल होते हैं। इसके निचले दो दाँत बहुत लम्बे शूक से युक्त तथा ऊपरी आयताकार दाँत से लम्बे होते हैं। पार्श्विक दाँत लट्वाकार, निचले दाँतों से छोटे होते हैं। अन्तः-कोष बहुत छोटा प्रायः बाह्यकोष के बराबर होता है। पुंकेशरसूत्र बाहर निकले होते हैं। **बीज**-अंडाकार या गोलाकार, कुछ चपटे, प्रायः चिकने, भूरे या रक्ताभ, छोटे काले धब्बों से युक्त होते हैं। पुष्प और फल–शीत ऋतु में आते हैं।

जाति—सुश्रुतसंहिता में सुरसा और श्वेत सुरसा ये दो शब्द मिलते हैं. फणिज्झक भी इसीका भेद प्रतीत होता है। भावप्रकाश-निघण्टु में शुक्ल और कृष्ण दो भेद किये गये हैं। O. canum Sims. जिसके पुष्प प्रायः श्वेत होते हैं श्वेत-सुरसा हो सकती है। O. gratissimum Linn. फणिज्झक हो सकता है। इसे रामतुलसी भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र मिलती है। हिमालय में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों तथा पुष्पमंजरी से एक लवंगगन्धि उड़नशील तैल (०.१–०.२३%) प्राप्त होता है। इसमें फेनोल ४५–७६% तथा अल्डीहाइड १५–२५% होता है। बीजों से एक स्थिर तैल १७.८% निकलता है। इनके अतिरिक्त पौधे में क्षाराभ, ग्लाइकोसाइड और टैनिन होते हैं। पत्तियों में ऐस्कार्बिक एसिड और कैरोटिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, वेदनाहर, शोथहर, त्वग्दोषहर तथा शिरोविरेचन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनाहर तथा आक्षेपशामक है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन, कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य है। रक्तशोधक भी है।
श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर तथा क्षयनाशक है। इसके उड़नशील

तैल में क्षयनाशक (Anti-tubercular) शक्ति स्ट्रेप्टोमाइसिन की अपेक्षा दशमांश तथा आइसोनियेजिड में चतुर्थांश है।
मूत्रवहसंस्थान—इसके बीज मूत्रल हैं।
प्रजननसंस्थान—बीज शुक्रल हैं।
त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।
तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा शीतप्रशमन है।
सात्मीकरण—विषघ्न है। बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातश्लैष्मिक विकारों के लिए प्रशस्त है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कच्छू, दद्रु आदि में इसकी पत्तियाँ पीस कर लगाते हैं। इसके पत्र का स्वरस का शिरोरोग में नस्य के रूप में प्रयुक्त होता है। कर्णशूल में भी पत्रस्वरस डालते हैं। यह मच्छड़ आदि कीड़ों का भी नाश करती हैं। कहते हैं, जहाँ तुलसी के पौधे होते हैं वहीं से मच्छरों का सफाया हो जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अनेक वेदना तथा आक्षेपयुक्त विकारों में प्रयुक्त होती है।
पाचनसंस्थान–अग्निमांद्य, विष्टम्भ तथा कृमिरोग के लिए उपयोगी है।
रक्तवहसंस्थान—हृदयदौर्बल्य तथा रक्तविकारों में लाभकर है।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, पार्श्वशूल तथा यक्ष्मा के लिए अतीव प्रशस्त है। इन रोगों में पत्रस्वरस का प्रयोग करते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसके बीजों का लुआब पिलाते हैं।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में बीजों का प्रयोग लाभकर है।
त्वचा—त्वचागत विकारों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—वातश्लैष्मिक ज्वर, प्रतिश्याय आदि में तुलसी प्रसिद्ध औषध है। मरिच के साथ तुलसी पत्ती चबा जाते हैं या पत्रस्वरस पीते हैं। विषमज्वर या शीतप्रधान ज्वर में विशेष रूप से लाभकर है।

सात्मीकरण—विभिन्न विषों के निवारण के लिए इसका प्रयोग होता है। बीजों का प्रयोग दौर्बल्य में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प, बीज, मूल

मात्रा—चूर्ण-१–३ ग्रा०, स्वरस ५–१० मि० लि०।

× × ×

तुलसी लघुरुष्णा च रूक्षा कफविनाशिनी।
कृमिदोषं निहन्त्येषा रुचिकृद् वह्निदीपनी ॥ (ध. नि.)

तुलसी सुरसा ग्राम्या सुलभा बहुमंजरी ।
अपेतराक्षसी गौरी भूतघ्नी देवदुन्दुभिः ।
तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत् ।
दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित् ॥
शुक्ला कृष्णा च तुलसी गुणैस्तुल्या प्रकीर्तिता ॥ (भा. प्र.)

W. I., VII, 87-88.
B. B. O., II, 764.
F. I., IV, 609.

२१२. बर्बरी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी-Labiatae) ।

नाम—लै०-ऑसिमम बैसिलिकम् (Ocimum basilicum Linn.); सं०-बर्बरी, तुंगी (बड़ी होने से), खरपुष्पा (पुष्पों में रोम होने के कारण); हि०-बवरी बवई, ममरी, वनतुलसी; बं०-बाबुई तुलसी; पं०-बबरी, क०-नियाजवो; म० गु०-सबजा; ता०-तिरनिरु, पाच्छाई; कन्न०-सज्जगिडा; उ०-कपूरकान्ति ते०-रुद्रजडा; अ०-बाजरूज; फा०-रैहाँ कोही; अं०-स्वीट बेसिल (Sweet basil) ।

स्वरूप—इसका मृदुरोमश शाखाप्रशाखायुक्त, उग्रगन्धि क्षुप ८-१८ इञ्च ऊँचा होता है । **काण्ड** की ग्रन्थियों पर बाल होते हैं । **पत्र**-१-३ इञ्च लम्बे, लट्वाकार-भालाकार, लंबाग्र, अखण्ड या दन्तुर, ग्रन्थियुक्त, सुगन्धित होते हैं । **पुष्प**-श्वेत या हलके बैंगनी रंग के अनेक सघन मंजरियों में होते हैं । कोणपुष्पक सवृन्त होते हैं । बाह्यकोष के निचले दो दांत लट्वाकार-भालाकार और शूकयुक्त तथा ऊपरी गोल, ओष्ठ से लंबे होते हैं । अन्तःकोष ⅓-½ इंच लंबा, निचला ओष्ठ ऊपरी चतुःखण्डीय कोष्ठ से लंबा होता है । **बीज**-काले रंग के, अंडाकार या आयताकार होते हैं जिन्हें जल में भिगोने पर लुआब होता है । इन्हें तुख्म शर्बती या तुख्मरैहाँ कहते हैं ।

जाति—भावमिश्र ने तीन प्रकार की बर्बरी का उल्लेख किया है:—(१) अर्जक—इसके पुष्प श्वेत होते हैं । (२) कुठेरक—इसके पुष्प कृष्ण (नीलाभ या बैंगनी) होते हैं । (३) वटपत्र—इसके पत्र वटपत्र के आकार के होते हैं । वानस्पतिक दृष्टि से O. basilicum के अनेक प्रकार (varieties) होते हैं यथा Var. basilicum, Var. pilosum, Var. majus आदि ।

उत्पत्तिस्थान—यह मध्य एशिया तथा पश्चिमोत्तर भारत का मूल निवासी है । संप्रति समस्त भारत में पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—इससे एक पीताभ हरित सुगन्धित तैल (·५ प्रतिशत) होता है जो कुछ समय तक रखने के बाद स्फटिकाकार हो जाता है इसे बेसिल कैम्फर (Basil-camphor) कहते हैं । बीजों में पिच्छिल द्रव्य ९·३ प्रतिशत होता है बीजों से भी एक तैल निकलता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

इसके बीज स्निग्ध और शीत होते हैं ।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक हैं किन्तु इसके बीज वातपित्तशामक हैं ।

संस्थानिक कर्म बाह्य—इसके पत्र शोथहर, वेदनास्थापन, शिरोविरेचन तथा बीज दाहप्रशमन और व्रणरोपण है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, विदाही, वातनुलोमन और कृमिघ्न हैं । बीज स्नेहन है ।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक और रक्तशोधक है । बीज-रक्तरोधक है ।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कफघ्न है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है । बीज वृष्य हैं ।

त्वचा—स्वेदजनन है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न है । बीज दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—विषघ्न है । बीज बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है । बीज-वातपैत्तिक रोगों में उपयोगी है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों का लेप शोथवेदनायुक्त स्थानों में करते हैं । पत्र का नस्य मूर्च्छा, शिरोरोग तथा पीनस में देते हैं । बीजों का लुआब दाह तथा शुष्क व्रणों में लगाते हैं ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विष्टम्भ और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है । बीज कोष्ठगत रौक्ष्य तथा प्रवाहिका में इसबगोल की तरह प्रयुक्त होते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है । बीजों का प्रयोग रक्तपित्त, रक्तार्श आदि में करते हैं ।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बीजों का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—पत्र कष्टार्त्तव आदि में लाभकर है। बीज बाजीकरणार्थ प्रयुक्त होते हैं।

त्वचा—कण्डू आदि त्वग्दोषों में उपयोगी है।

तापक्रम—विषमज्वर में दिया जाता है। बीजों का प्रयोग दाह में होता है।

सात्मीकरण—पत्र तथा मूल विषाक्त अवस्थाओं में दिये जाते हैं। बीजों का प्रयोग दौर्बल्य में होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, बीज।

मात्रा—फाण्ट-५०-१०० मि० लि०, बीजचूर्ण-१-३ ग्रा०

× × × ×

'बर्बरीत्रितयं रूक्षमुष्णं कटु विदाहि च। तीक्ष्णं रुचिकरं हृद्यं दीपनं लघुपाकि च॥ पित्तलं कफवातास्रकण्डूकृमिविषापहम्।' (भा. प्र.)

'बीजं चास्या दाहशोषनाशकं परिकीर्त्तितम्।' (कै. नि.)

W. I., VII. 81-84.
B. B. O., ii, 763-64.
F. I., IV, 608.

२१३. अफसन्तीन

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-आर्टिमीसिया ऐब्सिन्थियम (Artemisia absinthium Linn); हि०-अफसंतीन; कु०-तीतपाती; क०-टिटवीन; अ०-अफसंतीन, फा०-मरवा; अं०-वर्मवुड (Worm wood)।

स्वरूप—यह अतितीव्रगन्धि, तिक्त, श्वेतरोमश १-३ फीट ऊँचा **क्षुप** है। **काण्ड**-कोणीय तथा धारीदार होता है। **पत्र**-१-२ इञ्च लंबे, लट्वाकार या अभिलट्वाकार, द्विधा-त्रिधा पक्षवद्विभक्त; पत्रखण्ड रेखाकार या भालाकार, गोलाग्र होते हैं। मूलीय तथा निचली काण्डीय पत्तियाँ पीछे की ओर संकुचित होकर सपक्ष पत्रवृन्त से मिली रहती है। **पुष्पमुण्डक**-अनेक, ⅛-⅙ इञ्च व्यास के, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-छोटे अण्डाकार-आयताकार दानों के रूप में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह कश्मीर में ५-७ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कर्पूरगंधि सुगन्धित तैल, (०·३ प्रतिशत) तथा ऐब्सिन्थीन (Absinthin) नामक तिक्त ग्लुकोसाइड होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, यकृत्-प्लीहशोथ में इसका लेप करते हैं। कर्णशूल तथा अन्य वेदनायुक्त विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार तथा पक्षाघात आदि वातविकारों में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, उदररोग तथा कृमि (विशेषतः गंडूपद और तन्तु कृमियों) में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वरों तथा नियतकालिक ज्वरों में यह प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, पुष्प।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०।

२१४. कीटमारी

परिचय

कुल—ईश्वरी-कुल (एरिष्टोलोचिएसी-Aristolochiaceae)।

नाम—लै०-एरिष्टोलोचिया ब्रैक्टिएटा (Aristolochia bracteata Retz.); सं०-कीटमारी, धूम्रपत्रा; हि०-कीटमार; बं०-पादुवंग; म० गु०-

कीडामारी; उ०–पानिरी; ता० मल०–आदु–तिन्न–पलाई; ते०–गडिदगडप्पा; कन्न०–आदुमुत्तडगिडा; अं०–ब्रैक्टिएटेड बर्थवर्ट (Bracteated birthwort)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु, प्रसरी क्षुप १–१½ फुट लम्बा होता है। शाखायें कोणीय और धारीदार होती है। **पत्र**–१½–३ इंच लम्बे चौड़े, वृक्काकार या लट्वाकार, मूल में हृद्वत्, अधस्तल पर क्षोदलिप्त, महीन जालीदार होते हैं। पत्रवृन्त–१–१½ इंच लम्बा होता है। पुष्पदण्ड छोटे, कोणपुष्पक वृत्ताकार होते हैं। **पुष्प**–बैंगनी रंग का, एकल, १·३–१·७५ इञ्च लम्बा होता है। परिपुष्प–१–१¾ इंच लम्बा, मूल में गोलाकार, नलिका बेलनाकार, सीधी, दुन्दुभिमुखी, ओष्ठ सीधा, रेखाकार, गहरे बैंगनी रंग का, नलिका जितना लम्बा, किनारे मुड़े हुये, बैंगनी रोमों से युक्त होता है। **फल**–लगभग एक इञ्च लम्बा, आयताकार-अंडाकार, १२ पर्शुकायुक्त होता है। **बीज**–त्रिकोणाकार, मूल में किंचित् हृद्वत्, ·२५ इञ्च लम्बे होते हैं। अगस्त से नवम्बर तक फूल लगते हैं। समस्त क्षुप अत्यन्त तिक्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—गंगा का ऊपरी मैदान, पश्चिम भारत, पश्चिम बिहार, बुन्देलखण्ड तथा दक्षिणभारत में होता है। गुजरात तथा दक्षिण की काली मिट्टी में यह प्रचुरता से होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अप्रिय गन्धवाला एक उड़नशील तैल, एक क्षाराभ तथा लवण विशेषतः पोटाशियम क्लोराइड और नाइट्रेट होते हैं। तिक्त घटक अरिस्टोलोचिक एसिड (Aristolochic acid) है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रणों में इसकी पत्तियों का स्वरस लगाते हैं। विचर्चिका में इसकी पत्ती पीस कर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कृमिरोग में इसके मूल का क्वाथ देते हैं। इससे कृमि निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—शोथरोग में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में इसका सेवन कराते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में यह लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर में इसका प्रयोग कालीमिर्च के साथ करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल।

मात्रा—चूर्ण–१–३ ग्रा०; क्वाथ–५०–१०० मि० लि०; स्वरस–५–१० मि० लि०।

२१५. कम्पिल्लक

परिचय

गण—विरेचन (च०); अधोभागहर, श्यामादि (सु०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युर्फाबिएसी–Euphorbiaceae)।

नाम—लै०–मेलोटस फिलिपाइनेन्सि (Mallotus philippinensis Muell Arg.); सं०–कम्पिल्लक, कर्कश, रक्तांग, रेचन; हि०–कबीला; बं०–कमलागुँडि, म०–कपिला; शेन्दरी; गु०–कपीलो; ता०–कुंगुमम्; ते०–कुंकुम; कन्न०–कुंकुमडामर; मल०–कुरमडक्कु; उ०–कुंकुमो, कपिलो गुंडि; आ०–लोखन; अ०–कम्बील; अं०–कमला ट्री (Kamala tree)।

स्वरूप—इसका मध्यमाकृति सदाहरित **वृक्ष** २०–३० फुट ऊँचा होता है। छाल–पतली, धूसर, भीतर की ओर लाल होती है। **पत्र**–अनेक आकृति के, प्रायः लट्वाकार, लट्वाकार-आयताकार या लट्वाकार-भालाकार, ऊपर चिकने और नीचे मृदुरोमश, अनेक लाल ग्रन्थियों से युक्त, ३–६ इञ्च लम्बे होते हैं। पत्र के मूल भाग में तीन रक्तवर्ण सिरायें होती हैं। पत्रवृन्त–१–२ इञ्च लंबा दोनों सिरों पर मोटा होता है। **पुष्प**–छोटे, एकलिङ्गी, श्वेत-पीत होते हैं। पुंपुष्पमञ्जरी ६–१० इञ्च लंबी, अक्षीय तथा प्रशाखाओं के अग्रभाग पर समूहबद्ध होती है। स्त्रीपुष्पमंजरी २–३ इञ्च लंबी होती है। पुंपुष्प गुच्छबद्ध तथा स्त्रीपुष्प एकल होते हैं। पुंकेशर २०–३०, परागाशय अनुलंबतः स्फोटी होते हैं। परिपुष्प चतुर्धाविभक्त, अण्डाशय—लाल ग्रन्थियुक्त, कुक्षि ३, अवृन्त, पीतवर्ण होती है। **फल**–गोलाकार, ⅓–½ इञ्च व्यास के, लाल ग्रन्थिमय रोमों से सघन आवृत रहते हैं। यह रक्त आवरण धूलिवत् होने से 'फलरज' कहा जाता है जो मसलने पर फल से पृथक् हो जाता है। यही रक्तवर्ण चूर्ण 'कबीला' (Kamala powder or dye) के नाम से व्यवहृत होता है। **बीज**–गोलाकार, चिकने, कृष्णवर्ण होते हैं। पुष्प शरद् तथा फल वसन्त में लगते हैं। फरवरी-मार्च में फलों से कबीला का संग्रह किया जाता है। वह १·३–३–७% प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत, में हिमालय के बाह्य भाग में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके रज में दो सक्रिय रञ्जक तत्त्व रोटलेरिन (Rottlerin) तथा आइसोरोटलेरिन (Isorottlerin) होते हैं। ये दोनों मिल कर चूर्ण के ११ % होते हैं। इसके अतिरिक्त, होमोरोटलेरिन, गहरा लाल राल (६०%), पीला राल (५ प्रतिशत), मोम (२ प्रतिशत) कुछ उड़नशील तैल, टैनिन, गोंद, साइट्रिक और आक्जेलिक अम्ल होते हैं। मूल, काण्ड तथा पत्र में हाइड्रोसायनिक अम्ल होता है। बीजों में एक विषाक्त ग्लाइकोसाइड होता है। बीजमज्जा से ३५–३६ प्रतिशत एक गाढ़ा, भूरे रंग का तैल (Kamala seed oil) निकलता है।

परीक्षा—(१) शुद्ध कबीला जल में अविलेय है और आग लगाने पर बारूद जैसा जलता है। क्षार, ईथर और अलकोहल में विलेय है। गरम जल में अंशतः विलेय है।

(२) जलार्द्र अंगुलि से कबीला उठा कर सफेद कागज पर रगड़ने से पीले रंग की रेखा बन जाती है और स्पर्श मृदु होता है।

(३) शुद्ध कबीला हलका और स्वाद गन्धहीन होता है। अशुद्ध में भारीपन और कुछ स्वाद और गन्ध होती हैं।

(४) इसके जलाने पर ४–५ प्रतिशत से अधिक राख नहीं होनी चाहिए।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—कटु
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रेचन तथा कृमिघ्न है। यह उदरस्थ कृमियों को बाहर निकाल देता है। विशेषतः स्फीत कृमियों पर प्रभाव करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीभेदन।

प्रजननसंस्थान—गर्भनिरोधक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्डू, पामा, कुष्ठ आदि चर्मरोगों में तथा व्रणों और क्षतों में तैल में मिलाकर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदर, गुल्म और कृमिरोग में यह उपयुक्त होता है। बच्चों में H. nana कृमि के लिए यह लाभकर सिद्ध हुआ है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी रोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भनिरोध के लिए देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फलरज।

मात्रा—१–३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—क्रिमिघातिनी वटिका।

अहित प्रभाव—अधिक लेने से हृल्लास होता है।

× × × ×

'इष्टिकाचूर्णसंकाशः चन्द्रिकाढ्योऽल्परेचनः।
सौराष्ट्रदेशे वृक्षस्य फलरेणुः कपिल्लकः॥' (शि.)
'काम्पिल्लः कफपित्तास्रकृमिगुल्मोदरव्रणान्।
हन्ति रेची कटूष्णश्च मेहानाहविषाश्मनुत्॥' (भा. प्र.)
'कम्पिल्लको विरेची स्यात् कटूष्णो व्रणनाशनः।
गुल्मोदरविबन्धाध्मश्लेष्मकृमिविनाशनः॥' (ध. नि.)

W. I., VI, 229–32.
B. B. O., I, 110.
F. I., V, 442.

२१६. भाण्डीर

परिचय

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–Verbenaceae)।

नाम—लै०–क्लेरोडेड्रम इनफॉर्युनेटम (Clerodendrum infortunatum Linn.); सं०–भाण्डीर, भाण्डी; हि०–तितभाँट, भटेस; म०–भंडीर; ता०–करुकन्नी; ते०–गुर्रपुकट्टियाकु; मल०–पेरुकु; कन्न०–इब्बने।

स्वरूप—इसका गुल्म ४–६ फीट ऊँचा, रोमश, प्रायः समूहजात होता है। **पत्र**–लट्वाकार, हृद्वत्, लम्बाग्र, अखण्ड या दन्तुर, ४–८ इञ्च लम्बे-चौड़े होते हैं। इनके अधस्तल पर अनेक सूक्ष्म चमकदार ग्रन्थियाँ होती हैं। **पत्रवृन्त**–१–४ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्पमञ्जरी**–अन्त्य, ६–१२ इञ्च लम्बी, ४–८ इञ्च चौड़ी रक्ताभ होती हैं जिसमें सफेद गुलाबी धब्बेयुक्त या गुलाबी पुष्प लगते हैं। बाह्यकोष–पुष्प में $\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बा, पञ्चधाविभक्त, लम्बाग्र; फल में $1\frac{1}{4}$–$1\frac{1}{2}$ इंच व्यास का रक्तवर्ण होता है। अन्तःकोषनलिका–$\frac{3}{4}$ इञ्च लम्बी, पतली, बाहर की ओर मृदुरोमश, खण्ड

१/२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुंकेशर १½–२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प सायंकाल में सुगन्धित हो जाते हैं। **फल**–नीला–काला, १/३ इंच व्यास का, बाह्यकोष से आवृत होता है। पुष्प फरवरी–मई में तथा फल मई–जुलाई में लगते हैं। पत्तियां दुर्गन्धित और तिक्त होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत के उष्ण प्रदेशों में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में राख ८, प्रोटीन २१·२, मूत्र १४·८, रिड्युसिंग शर्करा ३ और कुल शर्करा १७ प्रतिशत होती है। पत्तियों से एक तिक्त पदार्थ क्लेरोडिन (Clerodin) निकलता है जिसमें कृमिघ्न शक्ति होती है। यह तत्त्व पत्तियों और कोमल टहनियों में विशेष होता है। काण्ड और मूल में अत्यल्प मिलता है। पत्तियों में एक स्थिर तैल तथा प्रोटीनेज और पेप्टाइडेज भी होते हैं।

गुण

गुण— लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तशोधक हैं।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथहर, जन्तुघ्न तथा त्वग्दोषहर है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह पित्तसारक, रेचन तथा कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।
तापक्रम—विषमज्वरघ्न है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—तिक्त होने के कारण आमदोष का पाचन करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज रोगों में लाभकर है। पित्तसंशोधन होने के कारण पैत्तिक रोगों में भी संशोधनार्थ दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ग्रन्थि, अर्बुद तथा चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं। दुष्टव्रण में पत्रस्वरस डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह यकृद्विकार तथा कृमिरोग में दिया जाता है। पत्रस्वरस इसमें लाभकर होता है। पत्रस्वरस की वस्ति भी कृमिनाशन के लिए देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर में इसका पत्रस्वरस पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—आमदोष का पाचन करने के कारण मधुमेह, आमवात आदि आमजन्य विकारों में लाभकर है। विषों के निवारणार्थ भी प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०।

× × ×

भाण्डीरः तिक्तभण्टाकः भाण्डी तिक्तवरा स्मृता।
भाण्डीरः लघुतिक्तोष्णः कफवातविनाशकृत्॥
पित्तरेची कृमिघ्नश्च सरो ज्वरनिषूदनः।
कुष्ठे ज्वरे त्वामवाते मधुमेहे प्रशस्यते॥
(स्व.)

भाण्डी–कटुतुम्बी–कटभीस्नेहाः प्रमेहेषु—(सु. चि. ३१)

विनोदकुमार जोशी : एम०डी०(आयु०) शोधप्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७८

W. I., II, 232
F. I., IV, 594.
B. B. O. II, 756.

२१६. आखुकर्णी

परिचय

गण—क्रिमिघ्न (च०), सुरसादि (सु०)

कुल—त्रिवृत्-कुल (कन्वाल्वुलेसी–Convolvulaceae)

नाम—लै०–मेरेमिया इमार्जिनेटा Merremia emarginata (Burm. f.) Hallier f. syn. Ipomoea reniformis Choisy. सं–आखुपर्णी, आखुकर्णी, उन्दुरुकर्णिका, मूषिककर्णी; हि०–मूसाकानी, चूहाकन्नी, बं०–इन्दुरकानी; म०–उदिरमानी; ता०–एलिकातु कीरई; ते०–एलिका–जेमुदु।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु शाखाप्रशाखायुक्त प्रसरी क्षुप है। प्रायः इसकी प्रत्येक ग्रन्थि से मूल निकल कर भूमि में लगे रहते हैं। **पत्र**-१-१½ इञ्च लम्बा, प्रायः चौड़ाई कुछ अधिक, वृक्काकृति या लट्वाकार, हृद्वत्, गोलदन्तुर, पत्रवृन्त-प्रायः पत्रफलक के बराबर या उससे दूना होता है। **पुष्प**-१/२–३/४ इञ्च लम्बे, पीतवर्ण, नलिकाकार-घंटिकाकार होते हैं। पुष्पदण्ड–प्रायः अस्पष्ट १–३ पुष्पयुक्त होता है। बहिर्दल–१/६ इञ्च लम्बे, दो बाहरी दल छोटे, भालाकार तथा तीन भीतरी दल काफी बड़े, लम्बे रोमयुक्त होते हैं। अन्तःकोष-घंटिकाकार, १/२–३/४ इञ्च

लम्बा होता है। परागाशय-आयताकार, कुक्षि बहुत बड़ी होती है। **फल**—·१५-·२ इञ्च लम्बे, प्रायः गोलाकार, द्विकोष्ठीय होते हैं। **बीज**—चिकने, गहरे भूरे या काले, छोटे होते हैं। सितम्बर से दिसम्बर तक इसमें पुष्प-फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकांश आर्द्र भूमि में देखा जाता है। ऊपरी गंगा के मैदान, बिहार, बंगाल, गुजरात, तामिलनाडु, पश्चिमी घाट आदि में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कटु

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

प्रभाव—कृमिघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनाशामक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसस्थान—यह दीपन, रेचन, मूलघ्न तथा कृमिघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रेमहघ्न है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह आमपाचन तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त स्थानों में इसका लेप करते हैं। कर्णशूल में इसका स्वरस गरम कर डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शिरःशूल, अर्धावभेदक, नाड़ीशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—विबन्ध, यकृद्विकार, उदरशूल तथा कृमि में इसका प्रयोग लाभकर है। चरक ने क्रिमिरोग में इसके प्रयोग का विधान इस प्रकार बतलाया है—मूषाकर्णी का पञ्चांग लेकर उसका स्वरस निकाले। उस रस से लाल चावल का पिसान (आँटा) सान कर रोटी बना ले और उसमें विडंगतैल तथा नमक मिलाकर रोगी को खाने का दे। अनुपान में खट्टी काँजी या तक्र में पञ्चकोलचूर्ण और नमक मिला कर पिलावे (च० वि० ७।२२)।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहरोग में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में इसे पिलाते हैं तथा लेप भी करते हैं।

तापक्रम—विविध ज्वरों में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—आमवात आदि आमजन्य रोगों में देते हैं। चूहा, साँप आदि के काटने पर इसका स्वरस पिलाते हैं तथा इसका लेप दंशस्थान पर करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

वक्तव्य—मूषाकर्णी के नाम से तत्सदृश अन्य वनस्पतियाँ भी प्रचलित हैं। I. maxima (Linn. f.), G. Don. Syn. I. sepiaria Koeing ex Roxb. को भी मूषाकानी कहते हैं। Evolvulus nummularius Linn. भी इस नाम से प्रयुक्त होती है किन्तु यह बाहर से आई वनस्पति कही जाती है।

× × ×

आखुकर्णी कटुस्तिक्ता लघ्व्युष्णा कफवातहृत्।
कुष्ठामज्वरशूलार्तिप्रमेहक्रिमिनुत् सरा ॥ (स्व.)

W. I., VI, 347.

F. I., IV, 206.

B. B. O., II, 625-26.

I. M. M., I, 690.

षष्ठ अध्याय
अर्शोघ्नादि वर्ग
अर्शोघ्न
२१८. महानिम्ब
परिचय

गण—अधोभागहर, पिप्पल्यादि (सु०) ।

कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliaceae) ।

नाम—लै०-मेलिया एजेडरैक (Melia azedarach Linn.); सं०-महानिम्ब, रम्यक, द्रेक; हि०-बकायन; पं०-धरेक; क०-द्रेक; बं०-महानिम, घोड़ानिम; म०-बकाणा निंब; पेजरी; गु०-बकान लिंबडो; ता०-मलइ वेम्बु; ते०-तुरकवेपा, मल०-कसिवेम्बु, कन्न०-आरेबेवु; अ०-हर्बीत; फा०-आजाददरख्त अं०-पर्सियन (Persian lilac), बीड ट्री (Bead Tree) ।

स्वरूप—इसका मध्यम प्रमाण का वृक्ष नीम के सदृश, ३०-४० फुट ऊंचा होता है। **पत्र**-१-२ फुट लम्बे, प्रायः द्विधा-पक्षवत्, कभी-कभी प्रायः त्रिधापक्षवत्, शाखाओं के अग्र पर समूह में लगे होते हैं। **पत्रक**-½-३ इञ्च लम्बे, ½-१½ इञ्च चौड़े, लम्बाग्र, लट्वाकार या भालाकार, प्रायः आरावत् दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-नीलवर्ण, सुगंधित, लगभग ¾ इञ्च लम्बे अक्षीय मञ्जरियों में होते हैं। बाह्यकोष गहरे विभक्त भालाकार-आयताकार खण्डों से युक्त, पुंकेशरनलिका गहरे बैंगनी रंग की, रेखाकार दांतों से युक्त होती है। अण्डाशय पञ्चकोष्ठीय होता है। **फल**-½-¾ इञ्च व्यास के, निम्बफलवत्, गुच्छों में, कच्चे में हरे और पकने पर पीले होते हैं। फलमज्जा-अत्यन्त कठिन होती है जिसके भीतर ५-६ लंबे भूरे बीज होते हैं। वृन्त की छाल गहरे धूसर वर्ण की, लंबे खातों से युक्त होती है। मई-जून में पुष्प और शीतकाल में फल पकते हैं। दिसम्बर-अप्रैल में पत्ते झड़ जाते हैं।

जाति—इसकी एक और प्रजाति (M. composita Willd.) होती है। इसके पत्र और फल बड़े होते हैं तथा पुष्प हरिताभ श्वेत होते हैं। यह आसाम, बंगाल, उड़ीसा तथा पश्चिमी घाट में पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश में २-३ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। बलूचिस्तान, चीन, इरान में भी होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी अन्तस्त्वक् में क्रियाशील तत्त्व (एक हलका पीला, अस्फटिकीय, तिक्त, रालीय पदार्थ) होता है। बाह्यत्वक् में शर्करा और

टैनिन होते हैं। छाल में एज्वारिडिन तथा पैरेसिन नामक क्षाराभ भी होते हैं। फल के बाह्य अंश में बकायनिन् नामक एक तिक्त पदार्थ होता है। इसके अतिरिक्त; फल में एजारिडिन (मार्गोसिन), एक भूरा रालीय पदार्थ, एक अम्लीय पदार्थ; स्टिराल, टैनिन, ग्लुकोज तथा स्टार्च होते हैं। बीजों से ४० % एक तैल निकलता है। छाल से एक गोंद भी नीम के सदृश निकलती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कटु
विपाक—तिक्त, कटु, कषाय	**वीर्य**—उष्ण (ईषद्)
प्रभाव—अर्शोघ्न	

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय होने से कफपित्त का शामक है। उष्ण होने से वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, जन्तुघ्न है। यह कीड़ों को भी दूर भगाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। बाह्यत्वक् कषायाधिक्य से स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में पत्तों और पुष्पों का लेप करते हैं। व्रणों में पत्र कुष्ठ, अन्य चर्मरोग तथा गण्डमाला में पत्र एवं छाल का लेप करते हैं। व्रणों में पत्र का लेप एवं स्वरस का परिषेक करते हैं। संक्रामक रोगों से बचने के लिए इसके बीजों का धारण करते हैं। पुष्पों का लेप शिर में यूका, लिक्षा आदि को मारने के लिए तथा फोड़े-फुन्सी में करते है। पत्तियों को पुस्तकों और गरम कपड़ों में रखने से कीड़े नहीं लगते।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गृध्रसीरोग में मूलत्वक् का प्रयोग लाभकर होता है।

पाचनसंस्थान—इसका प्रयोग अर्श एवं कृमिरोग में करते हैं। अर्श में गुठली का तथा कृमि में त्वक् का प्रयोग करते हैं। इसके प्रयोग के बाद रेचन अवश्य देना चाहिए। गडूपद कृमि में यह विशेष कार्यकारी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में यह उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण एवं चातुर्थिक ज्वरों में इसका प्रयोग होता है।

सात्मीकरण—यह सामान्य दौर्बल्य में तथा मूषकविष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, फलास्थि।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, फलास्थिचूर्ण १-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—अर्शोघ्नी वटी।

अहित प्रभाव—बीजों का अधिक मात्रा में (७-८ बीज) प्रयोग करने पर उदरशूल, वमन, अतिसार, मादकता, पक्षाघात एवं अन्त में मृत्यु हो जाती है।

× × ×

'महानिम्बोऽहिमो रूक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः। कफपित्तभ्रमच्छर्दिकुष्ठहृल्लासरक्तजित्॥
प्रमेहश्वासगुल्मार्शोमूषिकाविषनाशनः।' (भा. प्र.)

'महानिम्बस्त्वशिशिरः कषायः कटुतिक्तकः। अस्रदाहबलासघ्नो विषमज्वरनाशनः॥'
(रा. नि.)

'लवणोत्तमहिंगुकलिंगयवांश्चिरबिल्वमहापिचुमन्दयुतान्।
पिब सप्तदिनं मथितालुडितान् यदि मर्दितुमिच्छसि पायुरुहान्॥' (अ. हृ. चि. ८)

बृहन्निम्बतरोर्मूलं वारिणा परिपेषितम्।
तत् पीतं नाशयेत् क्षिप्रमसाध्यामपि गृध्रसीम्॥ (ग. नि.)

F. I., I, 544.
B. B. O., I, 183.
W. I., IV, 323-25.

२१९. करीर

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैप्परिडेसी-Capparidaceae)।

नाम—लै०-कैप्परिस डेसीडुआ (Capparis decidua Edgew.) सं०-करीर, अपत्र (पत्रहीन, अल्पपत्र) ग्रन्थिल (गाँठदार); मरुभूरुह (जाङ्गलप्रदेश में होने वाला); हि०-करील, व्रज-टेंट; टेंटी; पं०-करीं; म०-नेबती; गु०-केर; ता०-सेंगम; ते०-करीरमु; कन्न०-चिप्पुरि।

स्वरूप—इसका सघन शाखायुक्त कंटकित **गुल्म**-५-६ फुट तक फैला रहता है। **शाखाएँ**-कण्टकित, कोमल और चिकनी होती हैं। काँटे सीधे, युग्म होते हैं। **पत्र**-केवल नई शाखाओं पर रेखाकार, चिकने, कट्ठ होते हैं। पुष्पकलिका-रोमश, **पुष्प**-गुलाबी-भूरे रंग के, १ इञ्च व्यास के, गुच्छों में होते हैं। **फल**-½-¾ इञ्च गोलाकार, चिकने, चंचुयुक्त, गुलाबी रंग के होते हैं। वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल लगते हैं। पुष्पकलिका और फलों का अचार और शाक बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह रूक्ष-उष्ण प्रदेश तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश, राजस्थान, पञ्जाब, दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल से दो क्षाराभ तथा अनेक अन्य पदार्थ निकाले गये हैं। पुष्पों और फलों से भी अनेक पदार्थ निकले हैं। बीजों से ग्लुकोकैपरिन नामक ग्लुकोसाइड निकला है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कटु, तिक्त
वीर्य—कटु	**विपाक**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने से कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—जन्तुघ्न, व्रणशोधन और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, पाचन, भेदन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—उत्तेजक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—श्वासहर है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रणों तथा सन्धिरोगों में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसके अंकुर या नवीन पत्तियाँ और टहनियाँ चबाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, आमदोष, विबन्ध, उदरशूल, अर्श और कृमि में यह अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा शोथ में प्रयुक्त होता है। आमवात, सन्धिवात आदि में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—श्वासरोग में दिया जाता है।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य और विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; चूर्ण १-३ ग्रा०।

× × ×

'करीरः कटुकस्तिक्तः स्वेद्युष्णो भेदनः स्मृतः। दुर्नामकफवातामगरशोथव्रणप्रणुत्॥'
(भा. प्र.)

'करीरः कटुकस्तिक्तो लघूष्णो भेदनो जयेत्। दुर्नामकफवातामगरशोफकृमिव्रणान्॥'
(कै. नि.)

'करीरकुसुमानि कटुविपाकानि वातहराणि सृष्टमूत्रपुरीषाणि च।'
'करीरफलानि च स्वादुतिक्तकटूष्णानि कफवातहराणि च'॥ (सु. सू. ४६)
'लवणं ह्यर्कपत्राणि करीरतरुजान्यपि। मद्यैरम्लैश्च युक्तानि युक्त्या क्षारं दहेत् पुटे॥
सुखोदकेन मद्यैर्वा रसैरम्लैश्च पाययेत्। पीतः क्षारो ह्ययं हन्याद् वाताशांस्यचिरेण तु॥'
(ग. नि.)

W. I., II, 67.
F. I, I, 174.
M. P. J., I, 180–81.

२२०. सूरण

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी–Araceae)।

नाम—लै०-एमॉर्फोफैलस कैम्पेन्युलेटस (Amorphophallus campanulatus Blume.); सं-सूरण, ओल, कण्डूल, अर्शोघ्न, कन्दनायक; हि०-सूरन, ओल, जमीकन्द; बं०-ओल; म०-गु०-सूरण; ता०-करनई-किलंगु; ते०-कन्द; कन्न०-मुवर्णगड्डे; मल०-चेना।

स्वरूप—इसका दृढ क्षुप १-३ फुट ऊँचा होता है। पत्र एक, कभी-कभी दो, १-३ फुट चौड़ा, तीन में विभक्त, अनियताकार खण्डों या पत्रकों से युक्त होता है। **पत्रवृन्त**-१-३ फुट लम्बा, गहरे हरे रंग का, हलके हरे धब्बों तथा छोटी ग्रन्थियों से युक्त होता है। **पत्रकोष**-घंटिकाकार नलिका से युक्त, ऊपर की ओर अचानक चौड़ी (६-१० इञ्च), हरा बैंगनी रंग का, प्रायः नीचे की ओर सफेद धब्बों से युक्त होता है। पुष्पदण्ड पत्रकोष से छोटा, फल में ५-६ इञ्च निकला होता है। पुष्पध्वज (Spadix) अतिदृढ होता है। स्त्रीपुष्पव्यूह ३ इञ्च लम्बा, २½ इञ्च व्यास का, बैंगनी रङ्ग की कुक्षियों से युक्त; पुंपुष्पव्यूह-हलके पीले परागाशयों से

युक्त होता है। **फल**-३-४ इञ्च लम्बे दण्ड पर लाल रंग के, ½ इञ्च लम्बे होते हैं जिसमें २-३ बीज होते हैं। अप्रिल-जून में पुष्प और नवम्बर में फल आते हैं। **कन्द** (Corm)-ऊपर के भाग में दबा हुआ, ६-१० इञ्च व्यासवाला, भूरे रंग का, अर्धगोलाकार होता है।

जाति—सूरण के अनेक ग्राम्य और वन्य प्रकार होते हैं। ग्राम्य सूरण लगाया होता है और वन्य सूरण वन में स्वयंजात होता है। इसकी अनेक प्रजातियाँ भी होती हैं। बम्बई में Var. blumei Prain ओल के नाम से चलता है। समस्त कन्दशाकों में सूरण श्रेष्ठ माना गया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत तथा श्रीलंका में होता है।

रासायनिक संघटन—कन्द में कैलशियम ऑक्जलेट होने के कारण कण्डू, दाह आदि उत्पन्न करता है। वन्य ओल में यह अधिक होता है। कन्द में आर्द्रता ७८·७, प्रोटीन १·२, वसा ०.१, कार्बोहाइड्रेट १८·४, खनिज द्रव्य ०·८, कैलिशयम ०·०५, फास्फोरस ०·०२ प्रतिशत, लौह ०·४ मि० ग्रा०, विटामिन ए ४३४ युनिट, विटामिन बी१ २० युनिट। प्रति १०० ग्राम होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—अर्शोघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रुचिवर्धक, दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, शूलप्रशमन, अर्शोघ्न और कृमिघ्न है। यकृत् की क्रिया ठीक करने, वायु का अनुलोमन करने तथा अर्शांकुरों को संकुचित करने से यह अर्श में लाभकर होता है। अधिक खाने से यह विष्टम्भ करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—कन्द वृष्य, आर्त्तवजनन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में इसका प्रयोग करते हैं। आमवात में भी लाभकर है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सन्धिशोथ, श्लीपद, अर्बुद आदि में सूरण को पीस कर घी और मधु के साथ लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विबन्ध, उदरशूल, गुल्म, यकृत्प्लीहा, अर्श और कृमि में विशेष उपयोगी है। विशेषतः कफवातज अर्श में यह लाभ करता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा रजोरोध में इसका मोदक बनाकर सेवन कराते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—सूरणमोदक।

प्रयोग-निषेध—रक्तपित्त के रोगियों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए। कारण यह है कि तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह रक्तपित्तकोपक है।

प्रयोगविधि—सूरण को गीली मिट्टी की मोटी तह में लपेट कर आग में रख दे। जब मिट्टी लाल हो जाय तब ठंढा होने पर मिट्टी धोकर अलग कर दे। फिर धूप में खूब सुखा कर चूर्ण कर ले। अथवा यदि शाक में प्रयोग करना है तो इस प्रकार पुटपक्व सूरण के यथेच्छ व्यञ्जनकल्प बना कर प्रयोग करे। पुटपक्व ओल को यदि कांजी आदि में कुछ काल तक संधान करने के बाद प्रयोग किया जाय तो उसका गुण बढ़ जाता है। संप्रति गाँवों में सूरण के कन्दे के चारों ओर मिट्टी खोद कर भात रख देते हैं और फिर मिट्टी से ढँक देते हैं। यह सूरण श्रेष्ठ माना जाता है। इसे 'भत–ओल' कहते हैं।

अहित प्रभाव—वन्य सूरण का प्रयोग करने से मुखपाक, कंठदाह, कण्डू आदि उपद्रव होते हैं।

निवारण—इन उपद्रवों के निवारण के लिए नीबू, इमली आदि अम्ल पदार्थों का सेवन करे।

× × ×

'सूरणो दीपनो रूक्षःकषायः कण्डुकृत् कटुः। विष्टम्भी विशदो रुच्यः कफार्शःकृन्तनो लघुः॥
विशेषादर्शसे पथ्यः प्लीहगुल्मविनाशनः। सर्वेषां कन्दशाकानां सूरणः श्रेष्ठ उच्यते॥
दद्रूणां कुष्ठिनां रक्तपित्तिनां न हितो हि सः। सन्धानयोगं संप्राप्तः सूरणो गुणवत्तरः॥'
(भा. प्र.)

'सूरणो गुदकीलहा।' (सू. सु. ४६)

'सूरणः कटुको रुच्यो दीपनः पाचनस्तथा। कृमिदोषहरो वातशूलगुल्मार्शसां हितः॥
श्वासं कासं च प्लीहानं निवारयति सेवितः।' (ध. नि.)

'वनसूरणकन्दस्तु विशेषादर्शसां हितः। गुल्मे स्थौल्ये तथा वाते श्लेष्मवाते हितः परम्॥'
(कै. नि.)

'मासमेकमनन्नाशी सूरणं भक्षयेत् सुखम्। तक्रानुपानमाश्वर्शोनिर्मूलोन्मूलनोत्सुकः॥'
(वै. म.)

'मृल्लिप्तं सौरणं कन्दं पक्त्वाग्नौ पुटपाकवत्। अद्यात् सतैललवणं दुर्नामविनिवृत्तये॥
(ग. नि.)

F. I., VI, 13–14.
B. B. O., III, 903.
W. I., I, 69–70.

२२९. सुनिषण्णक

परिचय

कुल—सुनिषण्णक-कुल (मार्सिलिएसी–Marsileaceae)

नाम—लै०–मार्सिलिया माइनुटा (Marsilea minuta Linn.); सं०–सुनिषण्णक, स्तुष्पत्री; हि०–चौपतिया, सुनसुनिया; बं०–सुसनी शाक, ता०–अरइ-कीरई; ते०–मुडुगो-तामरा; कल०–चिटिगिना सोप्पु; क०–पप्लु; पं०–गोधी।

स्वरूप—इसका कोमल छोटा क्षुप होता है। भौमिक काण्ड–अनेकशाखायुक्त; बहुशः प्रसरणशील होता है जिसका वर्धमान अग्रभाग रोमश होता है। पत्रदण्ड पर चार पत्रक स्वस्तिक क्रम से होते हैं। पत्रसिरायें तिर्यक् रूप से स्थित तटीय सिरा से मिलती हैं। पुष्पदण्ड–प्रायः युग्म होते हैं जिन पर १२–१८ इञ्च लम्बे; कुछ चपटे, अण्डाकार बीजाणुफल (Sporocarp) होते हैं। नवम्बर-जनवरी में बीजाणुफल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह तालाबों के किनारे तथा जलीय एवं आदि स्थानों में प्रायः समस्त भारत में मिलता है।

जाति—इसकी एक प्रजाति M. quadrifolia Linn. केवल कश्मीर में होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—कषाय, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत
प्रभाव—त्रिदोषघ्न	

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध होने से वात का, कषाय होने से कफ का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है। इस प्रकार त्रिदोषघ्न है।

संस्थानिक कर्म–नाडीसंस्थान—यह मेध्य, वेदनाहर तथा निद्राजनन है। चक्षुष्य भी है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही, तथा अर्शोघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधन है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषघ्न होने के कारण यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—यह मानस रोगों में तथा निद्रा लाने के लिए प्रयुक्त होता है। ऊरुस्तम्भ तथा वातरक्त में भी लाभकर है। तिमिररोग में भी दिया जाता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, ग्रहणी और अर्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—वातिक कास तथा श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय में लाभकर है।

सात्मीकरण—विषों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०।

विशिष्ट योग—सुनिषण्णकचांगेरीघृत,

वक्तव्य—निघण्टुओं में प्रमादवश सुनिषण्णक शितिवारक का पर्याय दिया है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं।

× × ×

......................सुनिषण्णकम्।

विबाद् ग्राहि त्रिदोषघ्नं—(च. सू. २७)

अविदाही त्रिदोषघ्नः संग्राही सुनिषण्णकः। (सु. सू. ४६)

सुनिषण्णो हिमो ग्राही लघुः स्निग्धस्त्रिदोषहृत्।

अविदाही रसे स्वादुः कषायो वह्निदीपनः॥

वृष्यो ग्राही विषघ्नः स्यान् मेध्यो निद्राप्रदः परम्।

चक्षुष्यस्तिमिरे रक्तपित्ते चार्शसुः शस्यते। (स्त्र.)

B. B. I., iii, 1232.

W. I., VI, 306.

यकृत् पर कर्म करने वाले द्रव्य

२२२. दारुहरिद्रा

परिचय

गण—अर्शोघ्न, कण्डूघ्न, लेखनीय (च०); हरिद्रादि, मुस्तादि, लाक्षादि (सु०)।

कुल—दारुहरिद्रा-कुल (बर्बेरिडेसी–Berberidaceae)।

नाम—लै०-बर्बेरिस एरिस्टेटा (Berberis aristata DC); सं०-दारुहरिद्रा (हलदी के समान पीली लकड़ी); दार्वी, कटंकटेरी. (कंटकित) पचंपचा; (इसे पका कर रसाञ्जन बनाते हैं); हि०-दारुहलदी; बं०-दारुहरिद्रा, पं०-दारहल्दी; जौनसार०-काशमोई; गढ़वाल-किंगोरा; म०-दारुहलद; गु०-दारुहलदर; ता०-मरमंजल; ते०-कस्तूरीपुष्प; फा०-दारचोबा; अं०-इण्डियन बर्बेरी (Indian Barberry)।

स्वरूप—इसका कंटकित **गुल्म** ६-१८ फीट ऊंचा होता है। **पत्र**-दृढ, चर्मवत्, अभिलट्वाकार या आयताकार, अखण्ड या दूर दूर पर स्थित कंटकीय दांतों से युक्त, १-३ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्पमञ्जरी**-२-३ इञ्च लम्बी, संयुक्त होती है जिसमें पीतवर्ण वृहत् पुष्प लगते हैं। पुष्पवृन्त रक्ताभ होता है। **फल**-अण्डाकार, नीले बैंगनी रंग के चमकीले होते हैं। इसे हकीम लोग 'झरिष्क' कहते हैं। पुष्प अप्रिल-जून तथा बाद में फल आते हैं। काष्ठ गहरे पीले रंग का स्वल्पगन्धि होता है। उबलने के बाद भी काष्ठ का पीलापन बना रहता है। दारुहरिद्रा से रसक्रिया-विधि द्वारा जो घन सत्त्व प्राप्त होता है वह रसांजन कहलाता है।

जाति—बर्बेरिस की लगभग १३ प्रजातियाँ भारत में पाई जाती हैं जिनमें B. aristata के अतिरिक्त, B. asiatica Roxb. B. lycium Royle मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेश में ६-१० हजार फीट की ऊंचाई पर तथा नीलगिरि और श्रीलंका में पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में एक पीतवर्ण तिक्त क्षाराभ बर्बेरिन (Berberine) नामक (२-३ प्रतिशत) होता है। बर्बेरिस एशियाटिका में इसके अतिरिक्त ऑक्सिएकेन्थीन क्षाराभ होता है। बर्बेरिस लाइसियम में अम्बेलेटिन प्रमुख क्षाराभ होता है। फल में चित्राम्ल और सेवाम्ल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

इसका फल मधुराम्ल और शीतवीर्य होता है।

कर्म

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन, व्रणरोपण और चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और ग्राही है। फल रोचन और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है। रसाञ्जन रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ और स्राव को रोकता है।

त्वचा—यह स्वेदजनन और वर्ण्य है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथवेदनायुक्त स्थानों पर लेप के रूप में प्रयुक्त होता है। नेत्राभिष्यन्द में इसका द्रव (२५० मिग्रा० रसौत २५ मिलि० गुलाब जल में मिला कर) नेत्र में डालते हैं। नेत्रशोथ में पलकों पर रसौत का लेप करते हैं। कर्णशूल तथा कर्णस्राव में यह द्रव कानों में डालते हैं। मुख तथा गले के रोगों में रसाञ्जनद्रव से गण्डूष करते हैं। व्रणों पर रसौत का लेप करते हैं या उसके द्रव से धोते हैं। रक्तविकारजन्य शोथ, फिरङ्ग-उपदंश, गण्डमाला, भगन्दर, विसर्प आदि में भी इसका लेप करते हैं। प्रदर में योनि में इसकी उत्तरबस्ति देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, प्रवाहिका, कामला तथा यकृद्विकारों में यह अतीव उपयोगी है। फल का प्रयोग अरुचि एवं तृष्णा में करते हैं। रसांजन को मूलकस्वरस से भावित कर चने के बराबर गोलियाँ बना रक्तार्श में प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—फिरंग आदि रक्तविकारों में दारुहरिद्रा का क्वाथ देते हैं। रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर में रसौत अकेले या अन्य स्तम्भन द्रव्यों के साथ देते हैं। इससे रक्त रुक जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—श्वेतप्रदर तथा रक्तप्रदर में यह लाभकर है।

त्वचा—त्वचा तथा वर्ण के विकारों (कण्डू, स्फोट आदि) में यह प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—स्वेदजनन होने से यह सामान्य ज्वर में प्रयुक्त होता है। जीर्ण ज्वर और विषमज्वर में इससे बहुत लाभ होता है। विषमज्वर में जब जीवाणु

यकृत् में स्थित हो जाते हैं तब औषधों का प्रभाव नहीं होता। ऐसी स्थिति में रसौत देने से जीवाणु बाहर निकल आते हैं और उन पर औषधों की क्रिया ठीक से होती है। इस प्रकार यह मलेरिया के निदान में भी सहायक है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक होने से सामान्य दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, काण्ड, फल।

मात्रा—क्वाथ–५–१० मि०लि०; रसाञ्जन–१–३ ग्रा०; फल–५–१० ग्रा०

विशिष्ट योग—दार्व्यादि क्वाथ, दार्व्यादि लेह, दार्व्यादि तैल।

अपमिश्रण—दारुहलदी के साथ अन्य वनस्पतियों के तत्सदृश टुकड़े पीले रंग में रंग कर मिलावट की जाती है किन्तु इन लकड़ियों को उबालने से इसका पीलापन गायब हो जाता है जबकि दारुहलदी को कितना भी उबालें उसका सहज पीतवर्ण बना रहता है।

कलम्बक (Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colebr.) का काण्ड भी कहीं कहीं इसके स्थान पर चलाते हैं।

रसाञ्जन-निर्माणविधि—दारुहरिद्रा के मूलभाग तथा निचले स्थूल काण्ड को १६ गुने जल में उबाले, जब चतुर्थांश अवशिष्ट रहे तब उतार कर छान ले। इस क्वाथ में समभाग गोदुग्ध या अजादुग्ध मिला कर पुनः मन्दाग्नि पर पाक करे, जब गाढ़ा हो जाय तो उतार ले। यही रसाञ्जन है। सम्प्रति व्यापारी वर्ग इसके निर्माण में दुग्ध का प्रयोग नहीं करता और उसमें अनेक अपद्रव्य भी मिले रहते हैं, अतः प्रयोग के पूर्व बाजारू रसौत का शोधन कर लेना आवश्यक है।

रसाञ्जन-शोधन—बाजार में प्राप्त होने वाले रसाञ्जन को चौगुने गरम जल में घोल कर कपड़े से छान ले। तदनन्तर उसमें दुग्ध मिला कर मन्द आँच में पाक कर ले या धूप में सुखा ले।[1]

× × × ×

'तिक्ता दारुहरिद्रा स्याद्रूक्षोष्णा व्रणमेहनुत्। कर्णनेत्रमुखोद्भूतां रुजं कण्डूं च नाशयेत्॥

(ध. नि.)

'दार्वीक्वाथसमं क्षीरं पादं पक्त्वा यदा घनम्। तदा रसाञ्जनं ख्यातं नेत्रयोः परमं हितम्॥
रसाञ्जनं कटु श्लेष्मविषनेत्रविकारनुत्। उष्णं रसायणं तिक्तं छेदनं व्रणदोषहृत्॥'

(भा. प्र.)

W. I., I, 176–79.
F. I., I, 110.

---

१. तोयेऽष्टगुणे परिक्षिप्य द्रवीकुर्याद्रसाञ्जनम्। वाससा स्रावयित्वा च पयसा मिश्रयेत् पुनः॥
मन्दाग्निना पचेद्वापि शोषयेद् सूर्यरश्मिना। एवं विशोधितं तार्क्ष्यशैलं कर्मसु योजयेत्॥'

(स्व.)

२२३. काकमाची

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी–Solanaceae)।

नाम—लै०–सोलेनम नाइग्रम (Solanum nigrum Linn.); सं०–काकमाची; हिं०–मकोय; बं०–गुड़कामाई; पं०–मको; गु०–पीलुडी; ता०–मुन्नाताकालि; ते०–कच्छीपुण्डु; अ०–इनबुस्सालब; रूबाह तुर्बुक; अं०–ब्लैक नाइटशेड (Black night-shade)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** शाखायुक्त १–१½ फुट ऊँचा होता है। शाखाओं पर उभरी हुई रेखायें होती हैं। **पत्र**-लट्वाकार या आयताकार, दन्तुर या खण्डित, २–३ इञ्च लम्बे, १–१½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रवृन्त ½–१ इञ्च लंबा तथा पर्णफलक का मूलभाग वृन्तससक्त होता है। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण, बहिःकक्षीय पुष्पदंडों पर, ३–८ के गुच्छों में, नीचे झुके होते हैं। बाह्यकोष–¼ इञ्च व्यास का, चौड़े, गोले खण्डों से युक्त होता है। अन्तःकोष–½ इञ्च व्यास का होता है। अण्डाशय चिकना किन्तु कुक्षिमूल रोमश होता है। परागाशय छोटे होते हैं। **फल**-छोटे लगभग ¼ इञ्च व्यास के, स्निग्ध, गोलाकार, कच्चे में हरे और पकने पर नील या बैंगनी रंग के, कभी-कभी पीले या लाल होते हैं। **बीज**-छोटे, चिकने, पीले रंग के, हलके खातयुक्त होते हैं। प्रायः वर्ष भर इसमें पुष्प-फल देखे जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के छायायुक्त स्थानों में ७ हजार फीट की ऊंचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में प्रोटीन ५·६, वसा १, खनिज २·१, कार्वोहाइड्रेट ८·९ प्रतिशत; कैलशियम ४१०, फास्फोरस ७०, लौह २०·५ मि० ग्रा०। प्रति १०० ग्राम होते हैं। इसके अतिरिक्त, रिबोफ्लेबिन ०·५९, निकोटिनिक अम्ल ०·९२, विटामिन सी ११ तथा बी–कैरोटीन ०·७४ मि० ग्रा०। प्रति १०० ग्राम होता है। कच्चे हरे फलों में चार स्टिरोयडी ग्लाइको–अलकलायड, सोलामार्जिन (Solamargine), सोलेसोनिन (Solasonine) तथा ए और बी सोले–नाइग्रिन (So!anigrine) होते हैं। पहले दो पत्तियों में भी होते हैं। कुल क्षाराभ ०·१०१–०·४३१% होता है। पके फलों में ग्लुकोज और फ्रक्टोज (१५–२०%), विटामिन सी तथा बी कैरोटीन होता है। बीजों से एक हरिताभ पीत तैल (१५–२०%) निकलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—अनुष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। स्निग्धता और किञ्चित् उष्णता के कारण वात का, तिक्त-कटु होने से पित्त और कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणशोधन, वेदनास्थापन तथा सवर्णीकरण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक और शोथहर है। यह रक्तभार को कम करता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न, हिक्कानिग्रहण और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह बाह्य तथा आभ्यन्तर अवयवों के शोथ में प्रयुक्त होता है। सन्धिवात, व्रण, वृषणशोथ, यकृच्छोथ, उदररोग में इसका लेप करते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से गण्डूष करते हैं। कर्णशूल में इसका रस गरम कर देते हैं। नासारोगों में यह नाक में देते हैं। नेत्ररोगों में भी देते हैं। इससे तारका का विस्फार होता है। श्वित्र में इसकी पत्तियाँ रगड़ते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, यकृद्विकार तथा तज्जन्य यकृद्वृद्धि, अर्श, उदर और जीर्ण प्रवाहिका आदि रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। प्लीहावृद्धि में भी लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, शोथ एवं कुष्ठ, वातरक्त, आमवात आदि रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है। शोथरोग में पत्र का शाक भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, कास, हिक्का और श्वास में इसका फलचूर्ण लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—वृक्करोग, पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में यह दिया जाता है।

त्वचा—त्वचा के रोगों में यह उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में यह प्रयुक्त होता है। इससे ज्वर शान्त होता है, यकृत्प्लीहा के विकार नष्ट होते है और रोगी के बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है। विषों में इसका प्रयोग

करने से पुरीष तथा मूत्र के द्वारा शरीरस्थ विषों का निर्हरण हो जाता है। अहिफेन-विष में प्रतिविष के रूप में तथा क्षयरोग में पुष्पों का प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग, फल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि०लि०; फलचूर्ण-१-३ ग्रा०, अर्क-२०-५० मि०लि०

विशिष्ट योग—काकमाची अर्क (अर्क-मकोय)।

विषाक्त प्रभाव—इसका फल अधिक मात्रा में देने से छर्दि, अतिसार, तृष्णा, उदरशूल, तारकाविस्फारण, शिरःशूल, भ्रम, प्रलाप, आक्षेप, संन्यास और अन्त में मृत्यु होती है।

निवारण—इसके विष में धतूरविष के समान चिकित्सा की जाती है।

× × ×

'काकमाची त्रिदोषघ्नी स्निग्धोष्णा स्वरशुक्रदा। तिक्ता रसायनी शोथकुष्ठार्शोज्वरमेहजित्॥
कटुर्नेत्रहिता हिक्काछर्दिहृद्रोगनाशिनी।' (भा. प्र.)

'त्रिदोषशमनी वृष्या काकमाची रसायनी। नात्युष्णशीतवीर्या च भेदिनी कुष्ठनाशिनी॥'
(च. सू. २७)

'ईषत्तिक्तं त्रिदोषघ्नं शाकं कटु सतीनजम्। नात्युष्णशीतं कुष्ठघ्नं काकमाच्यास्तु तद्विधम्॥'
(सु. सू. ४६)

W. I., IX, 391-92.
F. I., IV, 239.

२२४. अपामार्ग

परिचय

गण—शिरोविरेचन, कृमिघ्न, वमनोपग (च०); अर्कादि (सु०)।

कुल—अपामार्ग-कुल (अमरैण्टेसी-Amaranthaceae)।

नाम—लै०-एकाइरैन्थस ऐस्परा (Achyranthes aspera Linn.); सं०-अपामार्ग (दोषों का मार्जक या संशोधक), शिखरी (पुष्प-फल शिखरतुल्य मंजरी में होने से); अधःशल्य (अधोमुख कंटक); मयूरक, खरमंजरी (पुष्पमंजरी खर होने से), प्रत्यक्पुष्पा (पुष्प अधोमुख होने से), आघाट, हि०-चिड़चिड़ी, चिरचिटा, चिचड़ा लटजीरा; बं०-अपाङ्; पं०-पुठकंडा; म०-आघाड़ा; गु०-अघेड़ो; ता०-नाजुरिवि; ते०-अपामार्ग; उत्तरेन; कन्न०-उत्तरेन; मल०-कटलती, अ०-अल्कुम; फा०-खारेवाजगून; अं०-प्रिकली चाफ फ्लावर (Prickly chaff flower)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** १-३ फुट ऊँचा, **काण्ड** सरल या शाखायुक्त होता है। **शाखायें** पर्वों पर मोटी होती हैं। **पत्र**-अंडाकार या अभिलट्वाकार, लंबाग्र, १-५ इञ्च लंबे, रोमश होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-लगभग १ फुट लंबी, खर और दृढ़ तथा अग्रभाग पर स्थूल और झुकी हुई होती है जिसमें अधोमुख, ⅙-¼ इञ्च लंबे पुष्प लगते हैं। वृन्तपत्रक-लट्वाकार, गुलाबी रंग के, काँटेदार; प्रायः काँटे से आधे या बराबर लंबे होते हैं। फलीय परिपुष्प-·१८-·२ इञ्च लंबा, हरितवर्ण गुलाबी आभा लिए, वृन्तपत्रकों के साथ पृथक् हो जाता है, केवल मुड़ा हुआ कोणपुष्पक रह जाता है। परिपुष्प के दल भालाकार, बाहरी त्रिशेष तीक्ष्णाग्र होते हैं। पुंकेशर-पाँच होते हैं। कण्टकीय वृन्तपत्रकों तथा तीक्ष्णाग्र परिपुष्प के कारण फल कपड़ों में चिपक जाते हैं और हाथ में भी गड़ जाते हैं। पके फलों के भीतर से चावल के समान दाने निकलते हैं जिन्हें 'अपामार्गतण्डुल' कहा गया है। शीतकाल में पुष्प और फल लगते हैं तथा ग्रीष्म में फल पक कर गिर जाते हैं।

जाति—निघण्टुओं में यह दो प्रकार का कहा गया है :—(१) श्वेत और (२) रक्त। रक्त अपामार्ग का काण्ड और शाखायें रक्ताभ होती है। पत्रों पर भी लाल दाग होते हैं। यह उपर्युक्त प्रजाति का ही एक रूप प्रतीत होता है।

हिमालय में ४-६ हजार फीट की ऊँचाई पर A. bidentata Blume प्रजाति होती है जिसके वृन्तपत्रक के मूल में दो कर्णिकायें होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के शुष्क प्रदेशों में स्वयं होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी राख में विशेषतः पोटाश होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा कफपित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, लेखन, विषघ्न; त्वग्दोषहर और व्रणशोधन है। शिरोविरेचन भी है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक और कृमिघ्न है। बीज दुर्जर और विष्टम्भी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक, रक्तवर्धक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल, अश्मरीनाशन और मूत्राम्लतानाशक है।

त्वचा—स्वेदजनन, कुष्ठघ्न और कण्डूघ्न है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

उत्सर्ग—इसका क्षार त्वचा, फुफ्फुस, आमाशय, यकृत् और पित्त के द्वारा बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है। कफरोगों में संशोधनार्थ इसके तण्डुल का नस्य देते हैं और पैत्तिक रोगों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों, विशेषतः अव्रण शुक्ल (फूली) में इसकी जड़ मधु में घिस कर अञ्जन लगाते हैं। व्रणों में इसका स्वरस लगाते हैं। वृश्चिक और सर्प के दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं। कर्णशूल में इसके क्षार से सिद्ध तैल डालते हैं। नस्य के लिए इसके तण्डुल के चूर्ण का प्रयोग होता है। पामा आदि चर्मरोगों में इसकी जड़ पीस कर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, छर्दि, अग्निमांद्य, शूल, उदररोग, आध्मान, अर्श, पित्ताश्मरी, कृमि रोगों में यह प्रयुक्त होता है। बीजों की खीर बना कर भस्मक रोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार, पाण्डु, गण्डमाला, आमवात और शोथरोग में उपयोगी है। रक्ताम्लता में भी प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में इसका क्षार कफ निकालने के लिए प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ, वृक्कशोथ, अश्मरी आदि रोगों में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, चर्मरोग, वर्णविकार आदि में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में इसका सेवन कराते हैं। सर्पविष में इसका मूल कालीमिर्च के साथ पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, तण्डुल, पत्र, पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि.लि.; क्षार-½-२ ग्रा०

विशिष्ट योग—अपामार्गक्षारतैल

× × ×

'अपामार्गः सरस्तीक्ष्णो दीपनस्तिक्तकः कटुः। पाचनो रोचनश्छर्दिकफमेदोनिलापहः॥
निहन्ति हृद्रुजाध्मानकण्डूशूलोदरापचीः।' (भा. प्र.)

'अपामार्गस्तु तिक्तोष्णः कटुकः कफनाशनः। अर्शःकण्डूदरामघ्नो रक्तहृद्ग्राहिवान्तिकृत्।' (ध. नि.)

'प्रत्यक्पुष्पा शिरोविरेचनानाम्।' (च. सू. २५)

F. I., IV, 730.

B. B. O., ii, 805.

२२५. भूनिम्ब (कालमेघ)

परिचय

कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी-Acanthaceae)।

नाम—लै०-ऐण्ड्रोग्राफिस पैनिकुलेटा (Andrographis paniculata Nees.)। सं०-भूनिम्ब; कालमेघ; हि०-कालमेघ; कल्पनाथ; बं०-कालमेघ; म०-

ओलि-किरिआत; गु०-करियातु; ता० ते०-नेलवेमु; कन्न०-नेलबेरु; मल०-नेलवेपु; उ०-भूइनिमो; फा०-नैने-हवन्दी; अं०-कालमेघ (Kalmegh)।

स्वरूप—इसका क्षुप १-३ फुट ऊँचा वर्षायु होता है। **काण्ड**-चतुष्कोण, नीचे चिकना और ऊपर रोमश होता है। **पत्र**-अभिमुख, रेखाकार-भालाकार या भालाकार, चिकने, १½-२½ इञ्च लंबे और ½-¾ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-छोटे सवृन्त, श्वेत, हलके बैंगनी या बैंगनी धब्बों से युक्त; २-४ इञ्च लंबी विभक्त पुष्पमञ्जरी में लगते हैं। बहिर्दल-⅛ इञ्च लंबे, रेखाकार-भालाकार, रोमश; अन्तःकोष-½ इञ्च लंबा, रोमश, आधी दूरी तक द्वि-ओष्ठी; केशरसूत्र ऊपर रोमश, परागाशय बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-यवाकार, ¾ इञ्च लंबे, ⅛ इंच चौड़े, नये रोमश और प्रौढ़ चिकने होते हैं। **बीज**-प्रायः चतुष्कोण, सिकुड़नयुक्त, पीले या भूरे रंग के होते हैं। इसका पंचांग अत्यन्त तिक्त होता है। सितम्बर-मई में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के मैदानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके पत्र में 'कालमेघिन' (Kalmeghin) तथा ऐण्ड्रोग्राफोलिड (Andrographolid) नामक तिक्त पदार्थ पाया जाता है। मानक के अनुसार यह १ प्रतिशत से कम नहीं होना चाहिए।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और विषमज्वरप्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

स्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्वृद्धि, विबन्ध और कृमिरोग में यह उपयोगी है। यकृद्रोगों में इसका भूरिशः प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—इसका चूर्ण मरिचचूर्ण के साथ मलेरिया में देते हैं। जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। इससे यकृत् ठीक होता है, ज्वर शान्त होता है और बल की वृद्धि होती है।

सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०; स्वरस ५–१० मि० लि०; क्वाथ २०–४० मि० लि० तरल सत्त्व ½–१ मि० लि०।

विशिष्ट योग—कालमेघ तरलसत्त्व (Liquid Extract Kalmegh)।

संग्रहविधि—वर्षा ऋतु के अन्त में या शीत के आरम्भ में इसका संग्रह कर छाया में सुखा कर सुरक्षित रख देना चाहिए।

वक्तव्य—फल यवाकार तथा क्षुप तिक्त होने के कारण इसे सामान्यतः 'यवतिक्ता' के नाम से गहण करते हैं, किन्तु यह वस्तुतः भूनिम्ब है। उड़िया नाम 'भूईनिमो' इसका स्मारक है।

कालमेघ तिक्त होने से चिरायता के प्रतिनिधि रूप में लिया जाता है तथा उसमें इसकी मिलावट भी की जाती है।

× × × ×

**कालमेघस्तु भूनिम्बो यवाकारफलस्तथा। सुतिक्तः लघुरुक्षोष्णः कफपित्तविनाशनः ॥
दीपनः स्वेदनो ज्ञेयः कृमिघ्नः पित्तसारकः। यकृद्रोगे क्रिमौ कुष्ठे ज्वरे चासौ प्रशस्यते ॥**
(स्व.)

W. I., I, 77–78.
I. P., 385–86.
B. B. O., II, 733.
F. I., IV, 501.
G. I. M., 18.

२२६. दुग्धफेनी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०–टैरेक्सेकम ऑफिसिनेल (Taraxacum officinale Weber ex Wiggers); सं०–दुग्धफेनी, लूतारि, पयस्विनी; हि०–दुधल, दुघली; सि०–बुथुर; म०–बाथुर; गु०–पथरडी; क०–हुंड; अं०–कॉमन डैण्डीलियन (Common dandelion)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप वनगोभी के सदृश विविधाकृति होता है। **पत्र**–मूलस्तम्भ से निकले, अवृन्त, प्रायः चिकने, आयताकार, अनियमित कटे हुए

(खण्ड रेखाकार या त्रिकोणाकार, दन्तुर), २–८ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्पमुण्डक**–¾–२ इञ्च व्यास के, चमकीले पीले, एकल, पोले पुष्पदण्डों पर होते हैं। **फल**–चिकने, चपटे, तकुये के आकार के, अनेक श्वेत रोमकण्टकों से व्याप्त होते हैं। **मूल** (भौमिक काण्ड)–प्रायः ६ इञ्च लम्बा, ½–१ इञ्च व्यास का, बेलनाकार, माँसल, ताजी अवस्था में पीताभ श्वेत तथा सूखने पर गहरे भूरे या कृष्णाभ अनुलम्ब झुर्रियों से युक्त होता है। इसके शीर्षभाग पर पत्तियों के अनेक छोटे, स्थूल अवशेष तथा उपमूलों के चिह्न होते है। समस्त क्षुप में श्वेत, गाढ़ा दुग्ध होने से इसे 'दुग्धफेनी' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय प्रदेश, तिब्बत, मेघालय, अरुणाचल और नीलगिरि में १८ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। किन्तु अधिकांश बाहर से आता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल, सुगन्धित तैल, पेक्टोज, किण्वतत्त्व, वसाम्ल, बी–सिटोस्टेराल, स्टिग्मास्टेराल, सैपोनिन, टैरेक्सास्टेराल, इन्युलिन, लेव्युलिन, शर्करा तथा मोम होता है। पत्तियों में प्रोटीन ३·६, कार्बोहाइड्रेट ३·७ प्रतिशत होते हैं। फास्फोरस, कैलशियम, लौह, विटामिन ए, बी और सी भी होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण | **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रणों में शोधनार्थ इसका स्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, यकृद्वृद्धि, कामला, विबन्ध, उदर रोग और कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है ।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है ।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं ।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य तथा विषों में यह लाभकर है ।

प्रयोज्य अंग—मूल तथा भौमिक काण्ड ।

मात्रा—चूर्ण ३-१ ग्रा०; क्वाथ-२५-५० मि० लि० ।

वक्तव्य—इसमें कासनी की मिलावट करते हैं किन्तु कासनी में दुग्धवह नलिकायें पार्श्विक क्रम से होती हैं जब कि दुग्धफेनी में वृत्ताकार व्यवस्थित होती हैं ।

कश्मीर में इसके पत्तों का शाक खाते हैं ।

× × ×

'दुग्धफेनी कटुस्तिक्ताऽशिशिरा विषनाशिनी ।
व्रणापसारिणी रुच्या युक्त्या चैव रसायनी ॥' (रा. नि.)

W. I., X, 129-30.

२२७. कासनी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae) ।

नाम—लै०-साइकोरियम इण्टिबस (Cichorium intybus Linn.); हि०-कासनी; अ०-हिंदुबा; फा०-कासनी; अं०-एण्डिव् (Endive), चिकोरी (Chicory) ।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु **क्षुप** १-३ फीट ऊँचा होता है । काण्ड-कोणीय, खातयुक्त और नीचे रोमश तथा शाखायें कठोर होती हैं । **पत्र**-आयताकार-भालाकार, ऊपरी पत्र हृदवत् काण्डसंसक्त होते हैं । इनका स्वाद किञ्चित् तिक्त होता है । **पुष्प**-नीलवर्ण के, १-१½ इञ्च व्यास के, पुष्पवृन्त बीच में स्थूल होता है । फल-कोणीय, हलके रङ्ग के, चित्रित होते हैं । **मूल**-गोपुच्छाकार, मांसल, बाहर से धूसर और भीतर से सफेद, तिक्त और पिच्छिल २½ फीट तक लम्बा होता है ।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं :—(१) वन्य, (२) ग्राम्य । वन्य जाति का वर्णन ऊपर किया गया है । ग्राम्य जाति का क्षुप बागों में लगाया मिलता है । इसका लैटिन नाम साइकोरियम एण्डिविवा (Cichorium endivia Linn.) है । यह भूमध्यसागरीय क्षेत्र का मूल निवासी है और वहीं से फारस, मिस्र, उत्तरी भारत तथा चीन में फैला है ।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर भारत, कश्मीर, पंजाब, दक्षिण भारत में होती है ।

रासायनिक संघटन—बीजों में एक तैल होता है । मूल में गोंद ७.५, ग्लुकोज १.१, तिक्तपदार्थ ४, वसा ०.६; सेल्युलोज, इन्युलिन, सूत्र ६ तथा राख ०.८ प्रतिशत होता है । राख में पोटाश अधिक होता है । इसमें एक वर्णरहित, स्फटिकीय ग्लुकोसाइड, साइकोरिन (Cichorin) तथा लैक्टचुसिन (Lactucin) और इण्टिबिन (Intybin) नामक तिक्त पदार्थ (१०० ग्रा० में ०.०१ मि० ग्रा०) होते हैं । जड़ को भूनने पर एक विशिष्ट गंध आती है । सूखी जड़ों को भून चूर्ण कर कॉफी में मिलाते हैं । चुकन्दर में भी जड़ों की मिलावट करते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शामक, दाहप्रशमन और शोथहर है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह शामक और निद्राजनन है ।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक और तृष्णानिग्रहण है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तशोधक है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

प्रजननसंस्थान—मूल आर्त्तवजनन है ।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न तथा शीत होने से दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ, शिरःशूल, यकृच्छोथ, शीतपित्त, वातरक्त, दाह आदि में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कोद्वेग तथा अनिद्रा में इसके बीजों का पानक देते हैं ।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला, पित्तोदर, तृष्णा आदि रोगों मे प्रयुक्त होता है । यकृत् और प्लीहा के रोगों में यह विशेष उपयोगी माना जाता है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्द्रव तथा रक्तविकारों में उपयोगी है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसके मूल और बीजों का प्रयोग करते हैं ।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में इसका मूल प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर, पित्तज्वरों में तथा दाहसंशमनार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज,

मात्रा—पत्रस्वरस–१०–२० मिलि०, मूलचूर्ण–३–६ ग्रा०, बीजचूर्ण–३–६ ग्रा०

विशिष्ट योग—अर्क कासनी (मात्रा–५०–१०० मि० लि०)

× × ×

कासनी लघुतिक्तोष्णा कफपित्तहरी कटुः।
यकृद्विकारे हृद्रोगे मूत्रकृच्छ्रे च शस्यते॥ (स्व.)

F. I., III, 391.
W. I., II, 161–62.
G. I. M., I, 64.

२२८. पारिजात

परिचय

कुल—पारिजात-कुल (ओलिएसी–(Oleaceae)।

नाम—लै०–निक्टैन्थिस आर्बर ट्रिस्टिस (Nyctanthes arbor-tristis Linn.); सं०–परिजात, शेफालिका। हि०–हरसिंगार, परजात; बं०–शेफालिका, शिउली; म०–पारिजात; गु०–हारशणगार, ता०–मज्जपु; ते०–पारिजातमु; कन्न०–हरसिंग, पारिजात; मल०–पारिजातकोय, अं०–नाइट जैस्मिन (Night jasmine), कोरल जैस्मिन (Coral jasmine)

स्वरूप—इसका बड़ा गुल्म या छोटा **वृक्ष** १०–१५ फूट ऊँचा, कभी-कभी २५–३० फुट ऊँचा भी होता है। प्रशाखायें नीचे की ओर झुकी हुई, चतुष्कोण, कर्कश होती हैं। **पत्र**–अभिमुख, नीचे रोमश और ऊपर खर, ३–५ इञ्च लंबे, २–२½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, अखण्ड या दन्तुर, तीक्ष्णाग्र या लम्बाग्र होते हैं। पत्रवृन्त ¼ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**–½–१ इञ्च व्यास के, सुगन्धित, ३–७ की संख्या में एक साथ त्रिधाविभक्त मंजरियों में होते हैं। कोणपुष्पक–⅛–⅙ इञ्च लंबे अंडाकार होते हैं। अन्तःकोपनलिका–½–¾ इञ्च लंबी, नारंगी रंग की; ४–८ अंडाकार, श्वेतवर्ण खण्डों से युक्त होती है। पुष्प–शाम को खिलते हैं और प्रातः झड़ जाते हैं। **फल**–¾–१ इञ्च लंबा–चौड़ा, ⅛–⅙ इंच मोटा चपटा होता है जो दो एकबीजी खण्डों में विभक्त हो जाता है। शरद् ऋतु में पुष्प तथा हेमन्त में फल लगते हैं। अप्रिल–मई में पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में ३ हजार फीट की उँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में एक सुगन्धित तैल होता है। रंगीन पुष्प-नलिका में निक्टैन्थीन (Nyctanthine) नामक रंगद्रव्य ग्लुकोसाइड के रूप में ०·१% होता है जो केशर में स्थित ए-क्रोसेटिन के सदृश होता है। बीजमज्जा से १२–१६% पीले–भूरे रंग का स्थिर तैल निकलता है। पत्र में टैनिक एसिड, मेथिल सैलिसिलेट, एक ग्लाइकोसाइड (१%), मैनिटाल (१·३%), एक राल (१·२%), कुछ उड़नशील तैल, विटामिन सी और ए पाया जाता है। छाल में एक ग्लाइकोसाइड और दो क्षाराभ होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष   **रस**—तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातहर है। पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और केश्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के शोथ को दूर करता है तथा वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है। पित्तविकारों में संशोधनार्थ देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का लेप खालित्य रोग में करते हैं।

नाडीसंस्थान—गृध्रसी रोग के लिए यह उत्तम औषध है। इसमें पत्रस्वरस पिलाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पत्रस्वरस अग्निमांद्य, विबन्ध, यकृद्विकार, पित्त-विकार, अर्श तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में इसके पत्र या त्वचा का चूर्ण पान के रस में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—त्वग्दोषों में उपयोगी है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सर्पविष में पत्तियों का रस देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पत्र, त्वक्।

मात्रा—स्वरस १०-२० मिलि०; चूर्ण-१-३ ग्रा०।

× × ×

'शेफालिः कटुतिक्तोष्णा रूक्षा वातक्षयापहा। स्यादङ्गसंधिवातघ्नो गुदवातादिदोषनुत्॥'
(रा. नि.)

'प्राजक्तः पारिजातश्च हारश्रृङ्गारपुष्पकः। नालकुंकुमको रागपुष्पी च खरपत्रकः॥'
'रसः प्राजक्तपत्रस्य ज्वरघ्नो तिक्तकः स्मृतः। पर्णखण्डसमायुक्ता त्वचा कासविनाशिनी॥'
(नि. सं.)

शेफालिकादलैः क्वाथो मृद्वग्निपरिसाधितः।
दुर्वारं गृध्रसीरोगं पीतमात्रं समुद्धरेत्॥ (च. द.)

W. I., Vii, 69-70.
F. I., iii, 604.
B. B. O., ii, 552.

प्लीहा पर कर्म करने वाले द्रव्य

२२९. रोहीतक

परिचय

कुल—श्योनाक-कुल (बिगनोनिएसी-Bignoniaceae)।

नाम—लै०-टेकोमा अण्डयुलेटा (Tecoma undulata G. Don.); सं०-रोहीतक (रक्तपुष्प वाला); दाडिमपुष्प (अनार की तरह पुष्प); दाडिमच्छद (अनार की तरह पतली लम्बी पत्तियाँ); प्लीहघ्न (प्लीहावृद्धि में प्रयुक्त होने वाला); हिं०-रोहेड़ा; रगतरोरा; म०-रोहिड़ा; गु०-रोहिडो।

स्वरूप—इसका गुल्म या छोटा वृक्ष १०-१५ फुट (कभी-कभी ४० फीट तक) ऊँचा होता है। **पत्र**-५-६ इञ्च लम्बे और १½ इञ्च चौड़े, प्रायः आयताकार, गोलाग्र, अखण्ड और लहरदार किनारे के होते हैं। देखने में ये अनार की पत्तियों के सदृश मालूम होते हैं। **पुष्प**-पीले या गहरे नारंगी रंग के, अल्पपुष्पक मञ्जरियों में, प्रायः छोटी पार्श्विक शाखाओं पर लगते हैं। पुष्पवृन्त-¼-½ इञ्च लम्बा, बाह्यकोष-½ इञ्च लम्बा, इसके खंड, चौड़े, गोलाग्र; अन्तःकोष-१½ इञ्च लम्बा, ५ गोल खण्डों से युक्त होता है। परागाशय-लटकते हुए तथा कुक्षि स्रुवाकार होती है। **फली**-पतली, कुछ टेढ़ी, ८ इञ्च लम्बी और ½ इञ्च चौड़ी चिकनी होती है। **बीज**-सपक्ष, १ इञ्च लम्बे और ½ इञ्च चौड़े होते हैं। अप्रिल-मई में पुष्प उसके बाद फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः राजस्थान, पञ्जाब, गुजरात आदि पश्चिम भारत के स्थानों तथा हिमालय क्षेत्र में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टेकोमिन (Tecomin) नामक सक्रिय पदार्थ पाया जाता है। छाल से एक भूरे रंग की गोंद भी निकलती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत
प्रभाव—प्लीहघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तनाशन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—चक्षुष्य और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, कृमिघ्न तथा प्लीहा का संकोचक है। इससे पित्त का स्राव बढ़ता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य एवं रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहण है।

प्रजननसंस्थान—योनिस्राव को रोकता है।

सात्मीकरण—लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नेत्ररोगों और व्रणों में इसका स्वरस डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, गुल्म, उदररोग, विशेषतः यकृत् और प्लीहा की वृद्धि, कामला, अर्श और कृमि में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (उपदंश, फिरंग, वातरक्त आदि) में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—कफपैत्तिक प्रमेह में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—श्वेत प्रदर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०, क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—रोहितकारिष्ट, रोहीतकाद्यचूर्ण, रोहीतकघृत, रोहीतकलौह।

वक्तव्य—अमूरा रोहीतका (Amoora rohituka W. & A., Fam.—Meliaceae) भी रोहीतक के नाम से चलता है किन्तु दाडिमच्छद, दाडिमपुष्प आदि लक्षण उसमें नहीं मिलते।

× × ×

'रोहीतको रोहितको रोही दाडिमपुष्पकः। रोहीतकः प्लीहघाती रुच्यो रक्तप्रसादनः॥'

(भा. प्र.)

'रोहीतको यकृत्प्लीहगुल्मोदरहरः सरः।' (ध. नि.)

'रोहीतकौ कटुस्निग्धौ कषायौ च सुशीतलौ। कृमिदोषव्रणप्लीहरक्तनेत्रामयापहौ॥'

(रा. नि.)

W. I., X, 135–136.
F. I., IV, 378.

२३०. शरपुंखा

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminoseae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-टेफ्रोजिया पर्प्युरिया (Tephrosia purpurea Pers.) सं०-शरपुंखा (पत्तियों को तोड़ने से बाण के अग्रभाग के समान नुकीले टूटते हैं); प्लीहशत्रु (प्लीहावृद्धिनाशक); नीलवृक्षाकृति (नील के क्षुप के सदृश); हि०-सरफोंका; बं०-बननील; म०-उन्हाली; गु०-शरपंखो; पं०-सरपंख; ता०-कोलिंगि; ते०-वेंपलि; कन्न०-एग्यलि; मल०-काटामिरि; पं०-झोझरू; फा०-वर्गसूफार; अं०-पर्पल टेफ्रोजिया (Purple tephrosia.); वाइल्ड इंडिगो (Wild indigo)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु बहुशाखायुक्त अर्ध-उत्थित **क्षुप**-१-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-३-६ इञ्च लम्बे, विषमपक्षवत् होते हैं। **पत्रक**-१९-२१ की संख्या में अभि-भालाकार, गोलाग्र या रोमशाग्र, ¾-१ इञ्च लम्बे, ऊपर चिकने और नीचे रोमश होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-३-६ इञ्च लम्बी, पत्राभिमुख, ३-४ पर्वयुक्त होती है जिसमें ½ इञ्च लम्बे, बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं। वाह्यकोष-⅙-⅕ इञ्च लम्बा, रोमश लम्बे दाँतों से युक्त; अन्तःकोष-⅓-⅖ इञ्च लम्बा होता है। कुक्षिवृन्त अनुप्रस्थतः चपटा होता है। **फली**-१-२ इञ्च लम्बी, ⅙ इञ्च चौड़ी कुछ मुड़ी होती है जिसमें ६-१० हरिताभ भूरे रंग के बीज होते हैं। पुष्प वर्षा ऋतु में तथा फल जाड़े में लगते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति T. procumbens Buch.-Ham. में श्वेत पुष्प आते हैं। T. candida DC. में भी श्वेत पुष्प आते हैं। इनमें से कोई

श्वेत शरपुंखा हो सकती है। T. villosa Pers. का क्षुप रोमावृत तथा पुष्प हलके गुलाबी या नीले होते है। राजनिघंटु ने कण्टपुंखा (कंटकित शरपुंखा) का भी वर्णन किया हैं जो T. spinosa Pers. हो सकती है, यह दक्षिण भारत में होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तथा हिमालय में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों मे नाइट्रोजन तथा पोटाशियम प्रचुर परिमाण (क्रमशः ७·२५ और ३·३८%) में होते हैं। इसके अतिरिक्त, रुटिन और रोटिनायड (Rutin & Rotenoid) नामक पदार्थ होते हैं। बीजों से एक तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—प्लीहघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, विषघ्न, जन्तुघ्न, व्रणरोपण, रक्तरोधक और दन्त्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, कृमिघ्न और प्लीहघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, चर्मरोग, गंडमाला, श्लीपद, अपची में इसके मूल का लेप करते हैं। क्षत में पत्रस्वरस देते हैं। दन्तरोगों में इसकी दातून करते हैं या मूलचूर्ण का मंजन। बीजों या उनके तैल का लेप भी चर्मरोगों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विबन्ध, शूल, गुल्म, यकृद्विकार,

प्लीहावृद्धि, अर्श और कृमि में अतीव लाभकर है। इनमें शरपुंखा मूल या क्षार का विशेष प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह प्रयुक्त होता है। इनमें शरपुङ्खा-चूर्ण का धूमपान भी करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—मूढगर्भ, कष्टार्त्तव में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—मूषकविष तथा धातुज विष में इसके बीजचूर्ण का प्रयोग तक्र के साथ करते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल, पंचांगक्षार।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०; स्वरस १०–२ मि० लि०; क्षार १–३ ग्रा०

× × ×

'नीलिकाकृतिपत्रा च प्रसिद्धा भूमिमंडले। शिंवीफला रक्तपुष्पा नीलवर्णा महौषधिः॥
शरपुंखेति विख्याता श्वेतपुष्पा क्वचिद् भवेत्।
तस्याः पत्रं यदाकृष्य गृह्यते त्रोट्यते करात्॥
तत्पत्रं जायते साक्षादूर्ध्वं सच्छरपुङ्खवत्। इयमास्ते परीक्षास्या ओषधेः दिव्यतेजसः॥'
(शि.)

'शरपुङ्खा प्लीहशत्रुर्नीलवृक्षाकृतिश्च सा। शरपुंखा यकृत्प्लीहगुल्मव्रणविषापहः॥
तिक्तः कषायः कासास्रश्वासज्वरहरो लघुः।' (भा. प्र.)

'शरपुंखा कटूष्णा कृमिवातरुजापहा। श्वेता त्वाशुगुणाढ्या स्यात् प्रशस्ता च रसायने॥
कण्टपुंखा कटूष्णा च कृमिशूलविनाशिनी।' (रा. नि.)

'शरपुंखायाः कल्कः तक्रेण निषेवितो यथाग्निबलम्।
यदि न जयति प्लीहानं शैलोऽपि तदा जले प्लवते॥' (ग. नि.)

'या विशालविटपा शरपुंखा मूलमात्मदशनैः मुहुरस्याः।
चर्वितं निगिरितं विनिहन्ति प्लीहवृद्धिमकठोरभुजश्च॥' (रा. मा.)

W. I., X, 145–55.
F. I., II, 112–113.

२३१. झावुक

परिचय

कुल—झावुक-कुल (टैमरीकेसी–Tamaricaceae)।

नाम—लैं०-टैमरिक्स ट्रूपियाई (Tamarix troupii Hole); सं०-झावुक; हि०-झाऊ, फरास, झउवा; पं०-फरवां; उ०-जौला; क०-तर्फा; फा०-गज; अं०-टैमरिस्क (Tamarisk)।

स्वरूप—इस झाड़ीदार गुल्म या छोटा वृक्ष होता है जिसकी शाखायें कोमल और प्रायः लटकती होती हैं। **पत्र**–छोटे, लम्बे, पतले तीक्ष्णाग्र और चिकने होते हैं। **पुष्प**–श्वेत या गुलाबी, लम्बी, कोमल, अन्त्य मञ्जरियों में होते हैं। **बहिर्दल**–त्रिकोणाकार–लट्वाकार, अन्तर्दल से बहुत छोटे होते हैं। **फल**–शंक्वाकार, किञ्चित् त्रिकोण, हलके गुलाबी रंग का होता है जिसमें श्वेतरोमावृत बीज होते हैं। इसकी पत्तियों एवं शाखाओं पर एक कीड़े के द्वारा उसके चारों ओर ग्रन्थि-सी बन जाती है। इसे 'बडी माई' (Tamarix gall) कहते हैं। यह हरिताभ पीत या कपिश वर्ण की तथा आकृति में मटर से लेकर रीठे के बराबर तक होती हैं। इसकी शाखाओं में यवासशर्करा की भाँति एक शर्करा भी निकलती है जिसे झावुकशर्करा (गजङ्गबीन–Tamarix manna) कहते हैं। देर तक रखने पर यह पिघल कर मधु के समान हो जाती है।

जाति—इसकी अनेक प्रजातियाँ होती हैं यथा T. aphylla (Linn.) Karst; T. dioica Roxb., T. ericoides Rottl, T. indica Roxb.। ये सब झाऊ के नाम से प्रचलित हैं और इनकी कीटग्रन्थि 'माई' कहलाती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह नदियों के किनारे बालुकामय तथा समुद्रवर्त्ती प्रदेशों में होता है। विशेष कर उत्तर भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी मांई में कषायद्रव्य (टैनिन) ४५% पाया जाता है। झावुकशर्करा में इक्षुशर्करा, ग्लुकोज और द्राक्षाशर्करा पाई जाती है। पत्तियों में टैमेरिक्सिन (Tamarixin) नामक ग्लुकोसाइड पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—कषाय होने से यह स्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

प्लीहा—यह प्लीहा को संकुचित करता है तथा उसकी वृद्धि और काठिन्य को दूर करता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक और शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—स्तम्भन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्लीहावृद्धि, शोथ में पत्र का लेप करते हैं। पत्रक्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं तथा उसमें प्रदर और गुदभ्रंश के रोगियों को अवगाहन कराते हैं। शीताद तथा दन्तपूय में पत्रक्वाथ से गंडूष कराते हैं। रक्तस्राव तथा व्रणों में शुष्क पत्रों का अवचूर्णन भी करते हैं। व्रणों तथा अर्शांकुरों में पत्र की धूनी देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार और प्रवाहिका में त्वक् या माँई का प्रयोग करते हैं।

प्लीहा—प्लीहावृद्धि में पत्रक्वाथ देते हैं और इसकी लकड़ी के बने प्याले में रखा जल पीने को देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में माँई का प्रयोग करते हैं। कुष्ठ एवं शोथ में मूलक्वाथ देते हैं।

प्रजननसंस्थान—श्वेत और रक्तप्रदर में माँई का प्रयोग करते हैं। उसकी वर्त्ति बनाकर योनि में भी रखते हैं। पत्रक्वाथ की उत्तरबस्ति भी देते हैं। शुक्र-दौर्बल्य, शीघ्रपतन में माँई का चूर्ण या पत्रस्वरस देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, माँई, शर्करा।

मात्रा—चूर्ण-१–३ ग्रा०।

× × ×

F. I., I, 248.

W. I., X, 124–25.

सप्तम अध्याय

वृष्यादि वर्ग

(प्रजनन संस्थान पर कर्म करनेवाले द्रव्य)

शुक्रजननन

२३२. मुशली

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी–Liliaceae)।

नाम—लै०–एस्पेरेगस ऐडसेन्डेन्स (Asparagus adscendens Roxb,); सं०–मुशली; हि०–सफेद मुसली; म०–सफेद मुसली; गु०–धोली मुसली; ता०–तन्निर विट्टंग; ते०–सल्लोगड्डा; अ० फा०–शकाकुले हिन्दी।

स्वरूप—इसका अर्ध-उत्थित, बहुशाखायुक्त कण्टकित **क्षुप** होता है। **काण्ड**–लम्बा, गोल, दृढ, चिकना. श्वेताभ होता है। **शाखायें**–धूसरवर्ण, परिखायुक्त, कोणीय तथा आरोहणशील होती हैं। पर्वान्तराल बहुत छोटे होते है। समस्त क्षुप में १/२–३/४ इञ्च लम्बे, दृढ और सीधे काँटे होते हैं। पत्राभास काण्ड–१/२–२ इञ्च लम्बे, केशाकृति, गोल, अर्ध-उत्थित या टेढ़े और ६–२० की संख्या में एक साथ गुच्छों में होते हैं। **पुष्पमञ्जरियाँ**–अनेक १–२ इंच लम्बी, प्रायः शीर्षभाग पर विभक्त और पत्रयुक्त होती हैं जिनमें १/६ इंच व्यास के पुष्प लगते हैं। पुष्पवृन्त–१/१२–१/४ इंच लम्बा, मध्यभाग के ऊपर या नीचे पर्वयुक्त होता है। **फल**–१/४–१/३ इञ्च व्यास के, एकबीजी होते हैं। मूलस्तम्भ से श्वेत, लम्बगोल रोमश मूलों का गुच्छा निकला रहता है। ये पिच्छिल होते हैं और जल में देने से फूल जाते हैं।

जाति—मुशली दो प्रकार की होती है–(१) श्वेत और (२) कृष्ण। श्वेत मुशली का वर्णन यहाँ किया गया है। कृष्ण मुशला को 'तालमूली' तथा हिन्दी में स्याह मुशली कहते हैं। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

इसी कुल के Chlorophytnm arundinaceum Baker. नामक पौधे के कन्द का भी प्रयोग सफेद मुशली के रूप में होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमी हिमालय में ५३०० फीट तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ऐस्पैरेगिन, अलब्युमिनयुक्त पदार्थ, पिच्छिल द्रव्य तथा सेल्युलोज होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्धता एवं मधुरता के कारण कफवर्धक तथा वात-पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—यह शुक्रल है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः वातपैत्तिक रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय और क्लैब्य में यह अतीव उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका प्रयोग मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह आदि में करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में प्रयुक्त होता है। इसमें स्टार्च नहीं होता अतः इक्षुमेह के रोगियों को पथ्यरूप में दिया जा सकता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—मुशलीपाक, मुशल्यादि योग।

× × × ×

मुशली मधुरा शीता वृष्या पुष्टिबलप्रदा।
पिच्छिला कफदा पित्तदाहश्रमहरा परा॥ (रा. नि.)

F. I., VI, 317–18.

२३३. तालमूली

परिचय

कुल—तालमूली-कुल (एमारिल्लिडेसी–Amaryllidaceae)

नाम—लै०-कर्कुलिगो ऑर्किआयडिस (Curculigo orchioides Gaertn.); सं०-तालमूली, तालपत्री; हि०-स्याह मुसली, काली मुसली; बं०-तल्लूर; उ०-कुआकेन्दा, ते०-नेल ततिगड्डा; कन्न०-नेल-ततिगड्डे।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु छोटा कोमल **क्षुप** होता है। **पत्र**–तालपत्र के सदृश ६-१८ इञ्च लम्बे, १/२-१ १/२ इञ्च चौड़े, रेखाकार-भालाकार होते हैं। पत्रवृन्त-६ इञ्च लंबा होता है। **पुष्पध्वज**-१ इंच लंबा, भूमिगत; लंबे भालाकार, रोमश कोण-

पुष्पकों से आवृत रहता है जिस पर १/२-३/४ इञ्च व्यास के छोटे, चमकीले पीले पुष्प जमीन से थोड़ा ऊपर लगते हैं। **फल**-१/२ इञ्च लंबा, आयताकार, चंचुयुक्त, १-४ बीजयुक्त होता है। **बीज**—चमकीले काले, १/८ इञ्च लंबे, धारीदार, चंचुयुक्त होते हैं। कन्दीय मूलस्तम्भ-१ फीट तक लंबा, मांसल होता है। पुष्प मई-अगस्त में निकलते हैं। पत्ते जून में निकलते हैं और शीतकाल में नष्ट हो जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक, छोटानागपुर तथा दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्टार्च ४३·४८, टैनिन ४·१५, सूत्र १४·१८, तथा राख ८·६ % होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह मधुर-स्निग्ध होने से वातपित्तशामक एवं कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह त्वग्दोहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन तथा यकृत् के लिए हितकर है।

श्वसनसंस्थान—कासहर तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य एवं बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कण्डू आदि चर्मविकारों में इसका कन्द पीसकर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—ग्रहणी, अर्श तथा कामला के लिए लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में उपयुक्त होता है। चरक ने तालमूली, मनःशिला आदि द्रव्यों का धूमपान कास में विहित किया है (च. चि. १८।७५)

प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय तथा क्लैब्य में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य एवं कृशता को दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द

मात्रा—३-६ ग्रा० (चूर्ण)

× × ×

मुशली मधुरा वृष्या वीर्योष्णा बृंहणी गुरुः ।
तिक्ता रसायनी हन्ति गुदजान्यनिलं तथा ।। (भा. प्र.)

F. I., VI, 279.
W. I., II, 400-401.
B. B. O., III, 1162.

२३४. शतावरी

परिचय

गण—बल्य, वयःस्थापन, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगंधादि, कटकपंचमूल, पित्तप्रशमन (सु०) ।

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae) ।

नाम—लै०-ऐस्पेरेगस रेसिमोसस (Asparagus racemosus Willd); सं०-शतावरी, शतमूली (गुच्छे में अनेक मूल होने से), शतवीर्या, बहुसुता, अतिरसा; हि०-सतावर; बं०-शतमूली; म०-गु०-शतावरी; ता०-सडावरी; ते०-चल्ला गड्डा; कन्न०-मज्जिगे-गड्डे ।

स्वरूप—इसकी कण्टकयुक्त झाड़ीदार आरोहिणी **लता** होती है । शाखायें त्रिकोणयुक्त, स्निग्ध और रेखान्वित होती हैं । काँटे ¼-½ इञ्च लंबे, सीधे या कुछ वक्र होते हैं । **पत्राभास कांड**-½-१ इञ्च लंबे, २-६ एक साथ गुच्छों में तथा हँसिया के आकार के, नीचे की ओर नलिकायुक्त होते हैं । **पुष्पमञ्जरी**-१-२ इञ्च लंबी, एकल या गुच्छबद्ध; सरल या शाखायुक्त होती है जिसमें सुगन्धित छोटे पुष्प लगते हैं । पुष्पवृन्त-⅙ इञ्च लंबा, बीच में पर्वयुक्त होता है । परागाशय-बैंगनी रंग के होते हैं। **फल**-मटर के आकार के, ⅙-¼ इञ्च व्यास के, पकने पर लाल रंग के होते हैं जिनमें १-२ बीज होते हैं । मूलस्तम्भ से स्थूल, लंबगोल, दोनों सिरों पर नुकीले, श्वेत मूलों का गुच्छा निकलता है । ग्रीष्मऋतु में प्रायः इसका ऊपरी भाग नष्ट हो जाता है । वर्षा के प्रारम्भ में इसके मूल से नवीन शाखायें निकलती हैं और सितंबर-दिसम्बर में पुष्पों का आविर्भाव होता है । उसके बाद फल आते हैं ।

जाति—इसकी एक और बड़ी जाति होती है जिसे महाशतावरी, सहस्रमूली, सहस्रवीर्या आदि कहते हैं । इसकी लता बड़ी होती है तथा कन्द लंबे और संख्या में अधिक होते हैं । इसका लैटिन नाम A. sarmentosa Linn. है । एक और जाति कंटकरहित होती है जो हिमालय में ४-६ हजार फीट की ऊँचाइ तक मिलती है । इसका लैटिन नाम A. filicinus Ham. है ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में तथा हिमालय में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द से अनेक सैपोनिन निकाले गये हैं जो गर्भाशयसंकोच का शमन करते हैं ।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शामक और बल्य है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य, वेदनास्थापन तथा नाड़ीबलदायक है ।

पाचनसंस्थान—पित्तशामक, शूलहर और ग्राही है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक है । रक्तभार को कम करता है ।

प्रजननसंस्थान—शुक्रल, गर्भपोषक, स्तन्यजनन है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है ।

सात्मीकरण—यह बल्य, रसायन तथा चक्षुष्य है

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इससे सिद्ध तैलों का प्रयोग शिरोरोग, वातव्याधि तथा दौर्बल्य में करते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार, मूर्च्छा और वातव्याधि में यह प्रयुक्त होता है ।

पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, शूल, ग्रहणी और अर्श में यह उपयोगी है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त में देते हैं । रक्तचाप में भी उपयोगी है ।

प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय, गर्भस्राव, रक्तप्रदर, स्तन्यक्षय में इसका प्रयोग करते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है ।

सात्मीकरण—क्षयरोग एवं दौर्बल्य में उपयोगी है तथा दृष्टिमांद्य में इसका सेवन कराते हैं ।

प्रयोज्य अङ्ग—कन्द ।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि०लि०, क्वाथ-५०-१०० मि०लि०, चूर्ण-३-६ ग्रा० ।

विशिष्ट योग—शतावरीघृत, नारायणतैल, विष्णुतैल, शतमूल्यादिलौह, शतावरीपानक।

× × ×

'शतावरी गुरुः शीता तिक्ता स्वाद्वी रसायनी।
मेधाग्निपुष्टिदा स्निग्धा नेत्र्या गुल्मातिसारजित्॥
शुक्रस्तन्यकरी बल्या वातपित्तास्रशोथजित्।
महाशतावरी मेध्या हृद्या वृष्या रसायनी॥
शीतवीर्या निहन्त्यर्शोग्रहणीनयनामयान्।
तदंकुरस्त्रिदोषघ्नो लघुरर्शःक्षयापहा॥' (भा. प्र.)

'वातपित्तहरी वृष्या स्वादुतिक्ता शतावरी। महती चैव हृद्या च मेध्याग्निबलवर्धिनी॥
ग्रहण्यर्शोविकारघ्नी वृष्या शीता रसायनी। कफपित्तहरास्तिक्तास्तस्या एवांकुरा स्मृताः॥'
(सु. सू. ४६)

'शतावरी हिमा तिक्ता रसे स्वादुः क्षयास्रजित्। वातपित्तहरी वृष्या रसायनवरा स्मृता॥'
(ध. नि.)

'भुक्त्वा वरीं क्षीरयुतां विलासी भुंक्ते शतं सुन्दरि! सुन्दरीणाम्।' (वै. जी.)

२३४. मखान्न

परिचय

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी–Nymphaeaceae)।

नाम—लै०–इयुरिएल् फैरोक्स (Euryale ferox Salisb); सं०–मखान्न (यज्ञ में प्रयुक्त अन्न); पद्मबीजाभ–(कमलगट्टे के सदृश); पानीयफल (जल में होने वाला फल); अङ्कलोड्य (तालाबों की तली में लोटनेवाला), हि०–मखाना; बं०–माखना; पं०–जैवर; म०–मकाणे; गु०–मखाणा; उ०–काँटापद्म; ते०–मेल्लुनिपद्मनु; अं०–फॉक्स नट (Fox nut)।

स्वरूप—यह काण्डहीन, कण्टकित जलज **क्षुप** है। इसके सर्वांग में काँटे होते हैं। **मूल**–छोटा एवं स्थूल होता है। **पत्र**–१–४ फुट व्यास के, वृत्ताकार या अंडाकार, कण्टकित दृढ पर्शुकाओं से युक्त, ऊर्ध्वतल में हरे और अधस्तल में लाल या बैंगनी होते हैं। **पुष्प**–१–२ इञ्च लम्बे, बाहर से हरे रंग के तथा भीतर रक्तवर्ण या नीलाभ होते हैं। **फल**–गोल या अण्डाकार, कंटकित, नारंगी के बराबर होता है जिसमें ८–२० कवचयुक्त (arilled) कृष्णवर्ण बीज होते हैं। इन्हीं बीजों को भूनकर हथौड़ी से पीटते हैं जिससे बीजावरण फट जाता है और इस प्रकार प्रस्तुत लावा बाजार में मखाना के नाम से मिलता है। जनवरी–फरवरी में पौधा तैयार हो जाता है और मई–जून में फल तैयार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः उत्तर बिहार (मिथिला) और बंगाल के तालाबों में होता है। उत्तर भारत में भी होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक हैं।
संस्थानिक कर्म-रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितस्थापन है।
प्रजननसंस्थान—यह शुक्रजनन, शुक्रस्तम्भन, प्रजास्थापन है।
सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है। दाहप्रशमन भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैतिक रोगों में दिया जाता है।
संस्थानिक प्रयोग-रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह, गर्भावस्था, प्रदर और प्रसवोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं। दाह को शान्त करने के लिए भी उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—फल।
मात्रा—५–१० ग्रा०।
विशिष्ट योग—पौष्टिक चूर्ण।

× × × ×

मखान्नं स्निग्धवृष्यं च गर्भसंस्थापकं परम्। वातपित्त हरं बल्यं शीतं पित्तास्रदाहनुत्॥ (स्व.)

F. I, I, 115.
W. I., III, 232.
B. B. O., I, 22.
प्रियव्रत शर्माः अङ्कलोड्य, आयुर्वेद विकास, जनवरी, १९७८

२३५. कोकिलाक्ष

परिचय

गण—शुक्रशोधन (च०)।
कुल—वासा-कुल (एकैन्थेसी–Acanteaceae)।
नाम—लै०–ऐस्टराकैन्था लॉंगिफोलिया (Asteracantha longifolia

Nees.); सं०–कोकिलाक्ष, इक्षुरक; हि०–तालमखाना; बि०–गोखुला; बं०–कुलिमाखाडा, कांटाकलिया; म०–तालिमखाना; गु०–एखरो; ता०–निर्मूल्लि; ते०–नीरुगुब्बी।

स्वरूप—इसका **क्षुप** २–४ फुट ऊँचा समूहबद्ध, रोमश होता है। **काण्ड**–ईख के सदृश पर्वयुक्त, शाखारहित, चतुष्कोण होता है। पर्वग्रन्थि पर चारों ओर ५–६ अवृन्त प्रायः भालाकार, लम्बे सफेद बालों से युक्त, ४–६ इञ्च लम्बे, १/२–३/४ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र, सघन पत्र होते हैं तथा पीताभ १/२–१ १/२ इञ्च लम्बे छः तीक्ष्ण कंटक होते हैं। पत्रों के ऊपर चक्रक्रम से बैंगनी ओष्ठ वाले १ १/४ इञ्च लम्बे पुष्प लगते हैं। बहिर्दल–१/३–१/२ इञ्च लम्बे, अग्रिम दल द्विदन्तुर, अन्तःकोष–१/२–१ इञ्च लम्बा, अधरोष्ठ तीन बड़े खण्डों से युक्त, तालुभाग पीतवर्ण दो नारंगी रंग की रेखाओं से युक्त होता है। **फल**–बहिर्दल से छोटे, रेखाकार-आयताकार जिनमें छोटे लाल रंग के ४–८ बीज होते हैं। बीजों को मुंह में रखने से चिपकदार पिच्छिल हो जाते हैं। अक्टूबर–दिसम्बर में पुष्प और फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह जलासन्न पदेश में, तालाबों या नहरों के किनारे तथा धान के खेत के पास समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में ३१ प्रतिशत अलब्युमिनॉयड, कुछ क्षाराभ तथा २३ प्रतिशत एक पीताभ, मधुर, तैल होता है। इसके अतिरिक्त, डायस्टेज, लाइपेज और प्रोटिएज होते हैं। पौधे में भी अनेक क्षाराभ और तैल पाये गये हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल	**रस**—मधुर
विपाक—मधुर	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—बीज नाडीबल्य है।
पाचनसंस्थान—यकृदुत्तेजक तथा अनुलोमन है।
रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूल, तथा बीज मूत्रल हैं।
सात्मीकरण—बीज बल्य और बृंहण है।
दोषप्रयोग—यह वातपित्तजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—बीजों का प्रयोग नाडीदौर्बल्य, वातरक्त तथा वातव्याधि में होता है।
पाचनसंस्थान—कामला, यकृदुदर तथा आनाह में मूल का प्रयोग करते हैं।

उदररोग में क्षार भी देते हैं। पित्ताश्मरी में पञ्चांग का क्षार बना कर देने से लाभ करता है।

रक्तवहसंस्थान—शोथ में मूल क्वाथ या पंचांगक्षार गोमूत्र से देते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीजों का चूर्ण शुक्रदौर्बल्य तथा क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी, बस्तिशोथ में मूल एवं बीजों का प्रयोग करते हैं। पंचांग का क्षार भी मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में देते हैं। बीजों में पिच्छिल द्रव्य तथा पोटाशियम लवण आदि होने से मूत्रल क्रिया होती है। इसके कारण शोथ भी दूर होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में बीजों का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल, बीज, पञ्चांग (क्षार)

मात्रा—क्वाथ—५–१० मिलि०, बीजचूर्ण—३–६ ग्रा०, क्षार—१–२ ग्रा०

विशिष्ट योग—पौष्टिक चूर्ण।

× × ×

'कण्टकी दीर्घपत्रश्च पल्वलेषु प्ररोहति।' (शि.)

'क्षुरकः शीतलो वृष्यः मधुरः पिच्छिलो हिमः।
स्निग्धःपित्तामशोथाश्मतृष्णादृष्ट्यनिलास्रजित्॥' (स्व०)

'कोकिलाक्षस्तु मधुरः शीतः पित्ताश्मरिप्रणुत्। वृष्यः कफहरो बल्यो रुच्यः संतर्पणः परः॥' (रा. नि.)

'स्वयंगुप्तेक्षुरकयोः फलचूर्णं सशर्करम्। धारोष्णेन नरः पीत्वा पयसा न क्षयं व्रजेत्॥' (सु. चि. २६)

'कोकिलाक्षकनिर्यूहः पीतस्तच्छाकभोजिना। कृपाभ्यास इव क्रोधं वातरक्तं नियच्छति॥' (अ. हृ. चि. २२)

'शोथनुत् कोकिलाक्षस्य भस्ममूत्रेण वाम्भसा॥' (च.द.)

W. I., I, 133.
F. I., IV, 409.
B. B. O., II, 704.
M. P. I., I, 107–8.

२३६. मुञ्जातक

परिचय

कुल—मुञ्जातक-कुल (ऑर्किडेसी–Orchidaceae)।

नाम—लै०–ऑर्किस लैटिफोलिया (Orchis latifolia Linn.); सं०–मुञ्जातक; हि०–सालम; सालमपञ्जा; ते०–गोरु चेट्टु; अ०–सालब; अं०–सालेप (Salep)।

स्वरूप—इसका काण्ड १–३ फीट ऊँचा, पोला होता है जिसके ऊपरी में २–६ इञ्च लम्बे, अनेक आयताकार या भालाकार पत्र होते हैं। पुष्पदण्ड १–६ इञ्च लम्बा होता है जिसमें ¾ इञ्च इम्बे बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं। इसका **कन्द** गोल, लट्वाकार या करतलाकार; पीताभ या धूसर, पारभासक, निर्गन्ध और प्रायः स्वादरहित होता है।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिमी हिमालय और तिब्बत में ८–१२ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। भारत में अधिकाँश ईरान और अफगानिस्तान से आता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में प्रचुर पिच्छिल द्रव्य एक तिक्त पदार्थ तथा उड़नशील तैल होता है। रूसी फार्माकोपिया के अनुसार इसमें आर्द्रता १४% तथा राख ३% से अधिक नहीं होनी चाहिए। पत्तियों में लोरोग्लॉसिन (Loroglossin) नामक ग्लुकोसाइड होता है।

कन्द का चूर्ण पानी में भिगोने पर पर्याप्त लुआब बनता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक होता है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क एवं नाडियों के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—कोष्ठ का स्नेहन एवं अनुलोमन है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होना है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मस्तिष्क तथा नाड़ियों के दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका में इसका लुआब इसबगोल की तरह दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय, प्रसवोत्तर दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और कृशता में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—३–६ ग्रा०

वक्तव्य—Eulophia campestris Wall. का कन्द भी सालम के नाम से लिया जाता है। E. herbacea Lindl. का भी प्रयोग इसके स्थान पर होता है। ईरान, अफगानिस्तान में होने वाले रसोन प्रजाति के एक पौधे का कन्द लहसुनिया सालम के नाम से चलता है। मुशली, शतावरी, तालमूली आदि के कन्द भी सालम में मिलाये जाते हैं।

× × ×

'बल्यः शीतो गुरुः स्निग्धस्तर्पणो बृंहणात्मकः।
वातपित्तहरः स्वादुर्वृष्यो मुञ्जातकः परम् ॥' (च. सू. २७)

F. I., VI, 1209.
W. I., VI, 104.

२३७. कपिकच्छू

परिचय

गण—बल्य, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि, वातसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०–म्युकुना प्रुरिटा (Mucuna prurita Hook.); सं०–कपिकच्छू (इसके रोम शरीर पर लगने से खुजली होती है); आत्मगुप्ता (रोमों से स्वयं सुरक्षित) मर्कटी (वानर के सदृश रोमश); कण्डुरा (कण्डू उत्पन्न करने वाली); शूकशिम्बी; (शूकयुक्त शिम्बी); हि०–केवाँच, कौंच; पं०–आलकुशी; म०–खाजकुहिली; गु०–कौचा, कवच; ता०–पुनाइक-काली; ते०–पिलियाडुगु; कन्न०–नसुकुन्नी; मल०–नइकोरना; उ०–बाइ खुजनी; अं०–काउहेज (Cowhage), कॉविच (Cowitch)।

स्वरूप—इसकी वर्षायु, रोमश **लता** सेम के सदृश होती है। **पत्र**–६–९ इञ्च लम्बे, त्रिपत्रक होते हैं। पत्रक-लट्वाकार, अर्धहृद्वत्, ३–६ इञ्च लम्बे, ६–७ स्पष्ट पार्श्विक सिराओं से युक्त होते हैं। अग्रच पत्रक-पतंगाकार, दोनों पार्श्व पत्रकों से छोटा होता है। **पुष्पमञ्जरी**–½–१ फुट लम्बी, कक्षीय, झुकी हुई होती है जिसपर १–१½ इञ्च लम्बे नील या बैंगनी रंग के पुष्प लगते हैं। **शिम्बी**–२–४ इञ्च लम्बी, लगभग ½ इञ्च चौड़ी होती है जिसके दोनों सिरे विपरीत दिशाओं में मुड़े होते हैं। फली पर अनुलम्ब पर्शुक होते हैं तथा इसके पृष्ठभाग पर सघन रोम होते हैं जो शरीर से स्पर्श होते ही तीव्र कण्डू, दाह और शोथ उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक शिम्बी में ५–६ चमकीले काले, अण्डाकार, चपटे बीज होते हैं, बीजमज्जा श्वेतवर्ण होती है। वर्षाऋतु में लता उत्पन्न होती है और सितम्बर–नवम्बर में पुष्प और जनवरी–अप्रिल में फल लगते हैं। इसकी फलियों का शाक और अचार बनाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में आर्द्रता ९·१, प्रोटीन २५·०३, सूत्र ६·७५ तथा खनिज पदार्थ ३·९५ प्रतिशत होते हैं। कैल्शियम ०·१६, फास्फोरस ०·४७, लौह ०·०२ प्रतिशत; गन्धक और मैंगनीज भी होते हैं। बीजों में डोपा (१·५%), ग्लुटाथायोन, लेसिथिन, गैलिक एसिड, एक ग्लुकोसाइड तथा अनेक क्षाराभ (कुल ०·५३%)—निकोटिन, प्रुरियेनिन, प्रुरियेनिडिन आदि पाये जाते हैं। बीज-मज्जा से एक गहरे भूरे रंग का गाढा तैल निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध	**रस**—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह वातशामक तथा कफपित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके रोमों के लगने से मुकुनेन (Mucunain) नामक तत्त्व के कारण हिस्टेमिन का निर्गम होता है जिससे कण्डू होती है। रोमों में ०·०१५% सिरोटोनिन भी होता है जिससे पीड़ा होती है किन्तु कण्डू नहीं होती।

नाड़ीसंस्थान—मूल और बीज नाडीसंस्थान के लिए बल्य है।

पाचनसंस्थान—इसके फलरोम कृमिघ्न हैं।

प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य है तथा मूल आर्त्तवजनन तथा योनिसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—मूल और बीजचूर्ण नाड़ीदौर्बल्य और वातव्याधि में प्रयुक्त होते हैं।

पाचनसंस्थान—गण्डूपद कृमि (Round worm) को मारने के लिए १२५ मिग्रा० फलरोम गुड़, मधु या मक्खन में मिला कर देते हैं और उसके बाद विरेचन देते हैं। इससे कृमि मर कर निकल जाते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीज क्षय और क्लैब्य में प्रयुक्त होता है। मूल कष्टार्तव में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूल का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र तथा अन्य वृक्करोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—बीज दौर्बल्य और कृशता में अतीव उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—बीज, मूल, रोम।

मात्रा—बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०; मूलक्वाथ-५०-१० मि. लि.; रोम-१२५ मि.ग्रा.

विशिष्ट योग—वानरी गुटिका, माषबलादि पाचन।

× × ×

'कपिकच्छुर्भृशं वृष्या मधुरा बृंहणी गुरुः। तिक्ता वातहरी बल्या स्निग्धा पित्तबलासकृत॥
(स्व.)

तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम्।' (भा. प्र.)

'कपिकच्छूभवं मूलं क्वाथयेत् विधिना भिषक्।
योनिः संकीर्णतां याति क्काथेनानेन धारयेत्॥' (भा. प्र.)

W. I., VI, 442–43.

B. B. O., II, 216.

२३८. उटङ्गन

परिचय

कुल—वासक-कुल (एकैन्थेसी–Acanthaceae)।

नाम—लै०–ब्लेफरिस इडचुलिस (Blepharis edulis Pers,); हि०–उटङ्गन, उतङ्गन; म०–उटङ्गन; गु०–उटीङ्गण।

स्वरूप—यह एक क्षुप है। इसका काण्ड लगभग १ फुट ऊँचा शाखायुक्त होता है। **पत्र**–अण्डाकार या आयताकार, क्षोदलिप्त या मृदुरोमश, प्रायः ½ इञ्च चौड़े, कंटकित होते हैं। पुष्प नीलवर्ण होते है। इसका फल छोटा, बादामी रंग का, स्निग्ध चमकदार और द्विबीजयुक्त होता है। **बीज**–हृदयाकृति, चपटे, रोमश होते हैं। जल में भिगोने पर ये रोम जल सोख कर फूल जाते हैं और लुआबदार हो जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकांश ईरान, अफगानिस्तान से आता है और पंजाब में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में अलण्टॉयन (२·१%) तथा ब्लेफरीन नामक एक ग्लुकोसाइड होता है। इनसे एक तैल भी प्राप्त होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल	**रस**—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह वातहर है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—यह शुक्रजनन, शुक्रस्तम्भन तथा कामोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

प्रयोग

दोषकर्म—यह वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रक्षय तथा क्लैब्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—३–६ ग्रा०

वक्तव्य—आजकल 'उच्चटा' से उटंगन के बीजों का ग्रहण करते हैं यद्यपि मूलतः वह भिन्न द्रव्य का वाचक है।

× × ×

उटंगनस्य बीजं तु गुरु स्निग्धं सुपिच्छिलम्।
मधुरं तिक्तमुष्णं च वृष्यं मूत्रलमुच्यते ॥ (स्व.)

F. I., IV, 479.
W. I., I, 197.

शुक्रशोधन

२३९. कुष्ठ

परिचय

गण—शुक्रशोधन, लेखनीय, आस्थापनोपग (च०); एलादि (सु०)।

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)

नाम—लै०-सॉसुरिया लैप्पा (Saussurea lappa C. B. Clarke); सं०-कुष्ठ, वाप्य, उत्पल (जलार्द्र प्रदेश में उत्पन्न होने वाला), काश्मीर (कश्मीर में होने वाला); हि०-कूठ, बं०-कूड़; गु०-कुडु, उपलेट; ता०-कोष्टम्, ते०-कुष्ठम्; मल०-सेयुड्डी; कन्न०-कोष्ट; फा०-कुस्त-इ-तल्ख; अ०-कुस्ते हिन्दीं; अं०-कॉस्टस (Costus), कुठ (Kuth)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु **क्षुप** ६–७ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-नीचे कनिष्ठिका अंगुलि के सदृश स्थूल, दृढ़ एवं सूत्रमय होता है। मूलीय **पत्र** वृन्तसहित २–३ फीट लंबे, त्रिकोणाकार, पत्रवृन्त लंबा सपक्ष होता है। काण्डीय पत्र–६–१२ इञ्च लंबे, ह्रस्ववृन्त या अवृन्त, फलकमूल अधिकाण्डसंसक्त एवं कर्णिकायुक्त होते हैं। **पुष्पमुण्डक**-प्रायः गोलाकार, १–१½ इञ्च व्यास के, दंडरहित, बहुत कड़े होते हैं जिनमें गहरे नीले-बैंगनी या कृष्णाभ पुष्प होते हैं। **फल**–३ मि. मी. लंबे, चपटे और मुड़े हुए होते हैं। **मूल**-स्थूल और बहुवर्षायु होता है। प्रतिवर्ष जाड़ों में वायव्य भाग नष्ट हो जाता है और जब वसन्त में बर्फ पिघल जाता है तब नया पौधा उगता है। शरद् ऋतु में पुष्प और फल आते हैं, उसी समय इसके मूल का संग्रह करते हैं। ताजे मूल ०·६ मि०मि० लंबे, ०·३ मि०मि० मोटे, गाजर के सदृश, विशिष्ट उग्रगन्धि होते हैं। सूखे मूल तीक्ष्ण-मधुरगन्धि, तिक्तरस, धूसर या हलके भूरे, मोटे, हलके, दृढ, मूलकाकार से बेलनाकार तक, ७–१५ सें०मी० लंबे, और १–५ सें०मी० मोटे, कभी-कभी परिखायुक्त, तोड़ने पर छोटे और शृङ्गाकार टुकड़े होते हैं।

जाति—यूनानी में कुष्ठ के दो भेद मानते हैं:—(१) कुस्त-इ-तल्ख (कटु), (२) कुस्त-इ-शीरीं (मधुर)। लोक में क्रमशः इन्हें कडुआ और मीठा कूठ कहते हैं। शास्त्र में यह वर्गीकरण नहीं मिलता। मधुर कूठ का वर्णन भी आयुर्वेदीय निघण्टुओं में नहीं मिलता। व्यवहार में मधुर कुष्ठ के नाम पर पुष्कर-मूल, इरसा या कूठ का अपक्व मूल लिया जाता है। वस्तुतः कुष्ठ कटु ही होता है, उसका अन्य कोई भेद नहीं।

उत्पत्तिस्थान—जम्मू-कश्मीर की किशनगंगा तथा चेनाब नदियों की घाटियों में यह वन्य रूप में उगता है। कश्मीर-हिमाचल प्रदेश तथा उत्तरप्रदेश के गढ़वाल क्षेत्र में इसकी खेती भी की जाती है।

संग्रह—तीन से पाँच साल के पौधों की जड़ का संग्रह अक्टूबर में करते हैं। इसको सुखा कर, ४ इञ्च लम्बे टुकड़े काट कर पुनः धूप में सुखाते हैं। इस प्रकार यह तैयार हो जाता है।

रासायनिक संघटन—मूल में रेजिनॉयड (६%), तीक्ष्ण सुगन्धि तैल १.५%, सॉस्युरिन (Saussurine) नामक क्षाराभ ०.०५%, टैनिन, इन्युलिन १८%, एक स्थिर तैल, शर्करा आदि होते हैं। पत्र में किञ्चित् क्षाराभ तथा टैरेक्सेस्टिराल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—तिक्त, कटु, मधुर
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दुर्गन्धनाशन, जन्तुघ्न, वेदनास्थापन, वर्ण्य तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह अवसादक, आक्षेपशामक और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन और शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न, कफनिःसारक और श्वासहर है। इसका क्षाराभ, सासुरीन, सुषुम्नाशीर्षक में स्थित प्राणदा-केन्द्र के माध्यम से श्वास प्रणालिकाओं की माँसपेशियों का प्रसार करता है। इससे इसकी श्वासहर क्रिया होती है। इसका उत्सर्ग फुफ्फुस से होता है अतः वहाँ कफघ्न कार्य करता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रशोधन, वृष्य, गर्भाशयोत्तेजक, आर्त्तवजनन, स्तन्य-जनन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसका कुछ अंश वृक्कों द्वारा उत्सृष्ट होने से मूत्रल कर्म करता है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रण, शिरशूल, दन्तशूल, सन्धिशोथ आमवात तथा चर्मरोगों में कुष्ठ का चूर्णन, लेप तथा धूपन करते हैं। वर्ण-विकार तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं। कपड़ों को कीड़ों से बचाने के लिए इनमें कूठ रखते हैं तथा इसका धूप भी देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि तथा अपस्मार, आक्षेपक आदि आक्षेपप्रधान रोगों में यह प्रयुक्त होता है। अफीम के स्थान पर कूठ का धूम्रपान भी करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ और शूल में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात आदि रक्तविकार में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, पार्श्वशूल, कुकुरखाँसी, हिक्का तथा श्वास में प्रयुक्त होता है। तमकश्वास में श्वासनलिकाओं के प्रसार द्वारा आराम मिलता है। तमकश्वास में इसका धूम्रपान कराते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रशोधन एवं वाजीकरण के लिए इसका प्रयोग होता हैं। रजोरोध तथा कष्टार्त्तव में तथा प्रसूति के बाद स्तन्यशुद्धयर्थ इसका प्रयोग करते है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—¼-१ ग्रा०

विशिष्ट योग—कुष्ठादि चूर्ण, कुष्ठादि क्वाथ, कुष्ठादि तैल।

परीक्षा—जिसे तोड़ने पर कुछ भी कणवत् भाग न निकले और जो मृगश्रृंग के सदृश दृढ़ और चिकना हो वही कूठ उत्तम और ग्राह्य है।[२]

× × ×

२. 'भंगे मनागपि न चेन्निपतन्ति ततः कणाः। मृगश्रृङ्गोपमं कुष्ठम्' (च. द.)

'कुष्ठमुष्णं कटु स्वादु शुक्रलं तिक्तकं लघु। हन्ति वातास्रवीसर्पकासकुष्ठमरुत्कफान्॥' (भा. प्र.)

'कुष्ठं वातकफश्वासकासहिक्काज्वरापहम्।' (रा. व. नि.)

'कुष्ठं वातहराभ्यंगोपयोगिनाम्।' (च. सू. २५)

'यः कुष्ठचूर्णं रजनीविरामे मध्वाज्यसंमिश्रितमत्ति नित्यम्।
स मत्तमातंगबलः सुगन्धिर्वाग्मी चिरायुश्च भवेन्मनुष्यः॥' (रा. मा.)

W. I., IX, 240–43
F. I, III, 376.
I. P., 647.

२४०. कट्फल

परिचय

गण—शुक्रशोधन, सन्धानीय, वेदनास्थापन (च०), लोध्रादि, सुरसादि (सु०)।

कुल—कट्फल-कुल (मिरिकेसी-Myricaceae)।

नाम—लै०-मिरिका एस्युलेण्टा (Myrica esculenta Buch-Ham.); सं०-कट्फल, महावल्कल (मोटी छाल वाली), हि० म० गु०—कायफल; बं०-कायछाल, कट्फल; ता०-मरुदम्; ते०-कैदरयमु; कन्न०-किरिशिवानी; मल०-मारुत, अ०—अजूरी, उदुलबर्क, कन्दूल, फा०-दारशीश् आन; अं०-बॉक्स मिर्ट्ल (Box myrtle)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** छोटा या मध्यम प्रमाण का १०-५० फीट ऊँचा, सदा-हरित, छायायुक्त होता है। इसकी **छाल**-धूसर या भूरे रंग की, रुखड़ी, भारी, ½ इञ्च मोटी होती है और इसमें लम्बाई में गहरी झुर्रियाँ होती हैं। टहनियाँ रोमश होती हैं। **पत्र**-३-६ इञ्च लम्बे, भालाकार, आयताकार-अभिलट्वाकार; नये पत्र आरावत् दन्तुर होते हैं। इनके अधस्तल में रालीय ग्रन्थियाँ होती हैं। स्त्री और पुरुष पुष्प भिन्न-भिन्न वृक्षों पर अक्षीय मञ्जरियों में लगते हैं, ये छोटे, लाल और सुगन्धित होते हैं। **फल**-½-¾ इञ्च लम्बे, खिरनी के समान अण्डाकार, पृष्ठ पर दानेदार, पकने पर रक्ताभ या बादामी रंग के और खटमिठे होते हैं। बीज झुर्रीदार होता है। फल खाये जाते हैं तथा इनसे पानक बनाये जाते हैं। फलों के ऊपर एक सफेद मोमसदृश पदार्थ का आवरण चढ़ा रहता है जिस पर भूरे और काले धब्बे होते हैं। शरद् ऋतु में फूल लगते हैं और ग्रीष्म ऋतु में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर पञ्जाब, गढ़वाल, कुमाऊँ, खासिया पर्वत और सिलहट में विशेषतः ३-६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में पीत रञ्जक पदार्थ, मिरिसेटिन, जो मिरिसाइट्रिन (myricitrin) नामक ग्लाइकोसाइड के रूप में रहता है। एक और ग्लाइकोसाइड अत्यल्प मात्रा में होता है। इसके अतिरिक्त, टैनिन ३२% होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण **रस**—कषाय, तिक्त, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्ण होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसकी छाल तीव्र शिरोविरेचन है और सूंघने से बहुत छींकें आती हैं। इसके अतिरिक्त यह कण्डूघ्न, शोथहर, कोथप्रशमन और गर्भाशयसंकोचक भी है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और नाडियों के लिये बलप्रद है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, ग्राही एवं शूलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह संधानीय एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक और श्वासहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रशोधन हैं।

त्वचा—यह त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातहर होने से इसका प्रयोग कफवातजन्य विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—

(१) शिरोविरेचन होने से मूर्च्छा, प्रतिश्याय और शिरःशूल में इसका नस्य देते हैं।

(२) कृमिघ्न और स्तम्भन होने से व्रण में इसकी छाल का चूर्ण छिड़कने से शीघ्र शोधन और रोपण होता है।

(३) उष्ण और स्तम्भन होने से अवसाद की अवस्था में शरीर ठंढा हो जाने पर चूर्ण का उद्घर्षण करते हैं।

(४) वातहर होने से तैल में मिलाकर या तैलपाक कर पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में अभ्यंग करते हैं।

(५) शोथहर तथा कोथप्रशमन होने से मुखपाक तथा दन्तशूल में इसका गण्डूषधारण या मञ्जन का प्रयोग करते हैं। गलगण्ड में इसके चूर्ण का घर्षण करते हैं।

(६) गर्भाशयसंकोचक होने से इसके चूर्ण की पोटली योनि में रखते हैं। चर्मरोगों में इसकी छाल का लेप या अवचूर्णन करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन एवं नाडीबल्य होने से इसका प्रयोग अर्दित, पक्षघात, शिरःशूल आदि में करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अतिसार, उदरशूल तथा अर्श में इसका प्रयोग होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और संधानीय होने से यह हृदयशैथिल्य, रक्तष्ठीवन और शोथ में उपयोगी होता है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और श्वासहर होने के कारण प्रतिश्याय, कास और श्वास रोगों में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय होने से प्रमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रदोष और क्लैब्य में दिया जाता है।

त्वचा—कण्डू आदि चर्मरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण—३-५ ग्रा०

विशिष्ट योग—कट्फलादि क्वाथ। हकीम लोग इसके पुष्पों का तैल (दुहुनुल् कंदूल्) का भी प्रयोग करते हैं।

× × × ×

'कट्फलस्तुवरस्तिक्तः कटुर्वातकफज्वरान्। हन्ति श्वासप्रमेहार्शःकासकण्ड्वामयारुचीः॥' (भा. प्र.)

'कट्फलः कटुरुष्णाश्च कफश्वासज्वरापहः। प्रतिश्यायहरो रुच्यो मुखरोगशमप्रदः॥' (रा. नि.)

'कटुफलं मधुयुक्तं वा मुच्यते जठरामयात्।' (च. चि. २०)

'प्रियंगुकाकट्फलशंखगैरिकाः पृथक्-पृथक् चन्दनतुल्यभागिकाः।
सशर्करास्तण्डुलधावनाप्लुताः रक्तं सपित्तं शमयन्ति योगाः॥' (च. चि. ४)

'घ्रेयं कट्फलचूर्णं वा।' (सु. उ. २६)

'कट्फलचूर्णान्तर्गलघर्षो गलगण्डमपहरति।' (च. द.)

F. I., V, 597.
W. I., VI, 472.

शुक्रस्तम्भन

२४१. आकारकरभ

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी—Compositae)।

नाम—लै०-एनासाइक्लस पाइरेथम (Anacyclus pyrethrum DC.) सं०-आकारकरभ, अकल्लक। हि०-अकरकरा, बं०-आकरकरा, म०-अक्कलकरा; गु०-अकोरकरो; ता०-अक्किरकरम; ते०-अकरकरम; अं०-पेलिटरी (Pellitory)।

स्वरूप—यह झाड़ीदार रोमश क्षुप होता है। इसके काण्ड पर दूर-दूर पर ग्रन्थियां होती हैं। छाल-धूसरवर्ण और तिक्त होती है। **मूल**—२-४ इञ्च लम्बा और ½-¾ इंच मोटा होता है। इसका वीर्य ७ वर्षों तक नष्ट नहीं होता। **पुष्प**-श्वेत, बैंगनी पीतवर्ण होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—प्राचीन संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता, मध्यकालीन गदनिग्रह, भावप्रकाश आदि ग्रन्थों में इसका वर्णन पाया जाता है। यह ओषधि मूलतः अरब की है और वहाँ से भारत में आई।

यह उत्तर अफ्रीका, अरब और सीरिया में उत्पन्न होता है। भारत में कहीं-कहीं लगाया मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक उड़नशील तैल तथा पाइरेथ्रीन (Pyrethrin) नामक क्षाराभ पाया जाता है।

गुण

गुण—रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—रूक्ष-तीक्ष्ण और कटु होने से कफ तथा उष्ण होने से वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह उत्तेजक, वेदनास्थापन, शोथहर और जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बल्य और उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह तीव्र क्षोभक है। इसके जिह्वा पर रखते ही चुनचुनाहट, दाह और ऐंठन होने लगती है और लालास्राव अधिक होने लगता है। खाने पर आमाशय में भी प्रदाह होने लगता है।

रक्तवहसंस्थान—उष्ण होने से यह तीव्र उत्तेजक, रक्तशोधक एवं शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कफघ्न और कण्ठ्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्र को कम करता है।

प्रजननसंस्थान—उष्ण और उत्तेजक होने से यह वाजीकरण तथा शुक्रस्तम्भन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजनित रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पक्षाघात, नाडीदौर्बल्य आदि रोगों में तैल में मिश्रित कर मर्दन करते हैं। इसके मूल के क्वाथ का गण्डूष, दन्तक्रिमि, दन्तशूल कण्ठशालूक आदि मुखरोगों में करते हैं। विद्रधि पर लेप करने से उसका पाचन और दारण शीघ्र होता है। त्वचा पर लेप करने से त्वचा लाल रंग की हो जाती है और अधिक देर तक रखने से स्फोट उत्पन्न होता है। कहीं वेदना होने पर इसका लेप करते हैं। पीनस और प्रतिश्याय में इसका नस्य देते हैं। वाजीकर तिलाओं में भी दिया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अपस्मार, कम्पवात, आमवात तथा सामान्य नाडीदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। इससे हृदय की गति तीव्र होती है और रक्तसंचार बढ़ता है। फिरंगरोग में भी यह प्रयुक्त होता है। शोथ रोग में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—यह कफजन्य कास, स्वरभेद आदि विकारों में दिया जाता है। दक्षिण में यह वचा के समान बच्चों के कण्ठरोगों में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में इसका प्रयोग होता है।

प्रजननसंस्थान—नाडीदौर्बल्यजनित ध्वजभंग तथा शीघ्रस्खलन में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—½-१ ग्रा०।

विशिष्ट योग—आकारकरभादि चूर्ण।

अहित प्रभाव—लालाप्रसेक, रक्तपित्त, नाडी की तीव्रता एवं संज्ञाहीनता ये लक्षण अधिक मात्रा में देने पर होते हैं।

निवारण—अहित प्रभाव के निवारण के लिए कतीरा, दूध आदि पित्तशामक द्रव्यों का प्रयोग करना चाहिए।

× ×

'आकारकरभश्चैव कल्लकोऽथ ह्यकल्लकः। अकल्लककोष्णो वीर्येण बलकृत् कटुको मतः॥
प्रतिश्यायं च शोथं च वातं चैव विनाशयेत्।' (शा. नि.)

प्रजास्थापन

२४२. दूर्वा

परिचय

गण—प्रजास्थापन, वर्ण्य (च०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Graminae)।

नाम—लै०-साइनोडन डैक्टिलन (Cynodon dactylon Pers.) सं०-दूर्वा, शतपर्वा (काण्ड में अनेक पर्व होने से), हि०-दूब; बं०-दूर्वा; पं०-दुबड़ा; म०-हरली, गु०-धो; ता०-अरुगम-पुल्लु; ते०-गोरिया गड्डी; कन्न०-गरिकाई-हल्लु; अ०-उश्ब; फा०-मर्ग; अं०-कौञ्च ग्रास (Conch grass)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप प्रायः जमीन पर फैला रहता है। **काण्ड** में अनेक पर्व होते हैं और प्रत्येक पर्व से मूल निकल कर जमीन से लगे रहते हैं जिसके कारण भूमि पर चटाई सी बिछ जाती है। शाखायें छोटी जमीन से उठी रहती है। **पत्र**-½-४ इञ्च लम्बे, रेखाकार होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-हरित या बैंगनी रंग की, २-८, ½-३½ इञ्च लंबी होती है। **बीज**-सूक्ष्म आयताकार या आयताकार-मूलकाकार, भूरे रंग के होते हैं।

जाति—निघण्टुओं में दो प्रकार की दूर्वा कही गई है—(१) श्वेत और (२) नील। श्वेत दूर्वा औषधकर्म में प्रशस्त मानी जाती है। हूकर ने एक ही प्रजाति भारतीय बतलाई है, शेष तीन प्रजातियाँ आस्ट्रेलिया से आई हैं। अतः श्वेत-नील एक ही पौधे के रूपविशेष हो सकते हैं। हेन्स ने इसके एक प्रकार (Var. sub-erectum) का वर्णन किया है जिसका क्षुप उत्थित १०-१५ इञ्च ऊँचा होता है और पत्तियाँ भी बड़ी होती हैं। निघंटुओं में एक 'गंडदूर्वा' का भी वर्णन है जो भिन्न वनस्पति है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—हरी दूब में प्रोटीन १०.४७, सूत्र २८.१७ और राख ११.७५ प्रतिशत होती है। राख में कैलशियम ०.७७, फास्फोरस ०.५६, मैगनीशियम ०.३४, सोडियम ०.२३ और पोटाशियम २.०८ प्रतिशत होता है। सूखी दूब में प्रति ४०० ग्राम-प्रोटीन ६.०४, कार्बोहाइड्रेट ३६.१६ प्रतिशत होता है। इसमें कुछ क्षाराभ और ग्लाइकोसाइड भी होते हैं।

गुण

गुण—लघु
रस—कषाय, मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन, व्रणरोपण, दाहप्रशमन और वर्ण्य है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य तथा शामक है।
पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन और रक्तशोधक है।
प्रजननसंस्थान—प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—यह जीवनीय और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रण, अर्श में इसका लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस डालते हैं तथा पलकों पर लेप करते हैं। दाह को शान्त करने के लिए पैत्तिक शिरोरोग, विसर्प, शीतपित्त आदि में लेप करते हैं। वर्णविकारों तथा चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद, अपस्मार आदि मानस रोगों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

पाचनसंस्थान—छर्दि, तृष्णा, अतिसार, प्रवाहिका, अर्श में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त और उपदंश आदि रक्तविकारों में दिया जाता है। कहीं से भी रक्तस्राव होता हो, दूब का रस लगाने और पिलाने से रक्त रुक जाता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदररोग में तथा गर्भस्राव, गर्भपात आदि योनिव्यापदों में इसका प्रयोग करते हैं। इससे रक्त रुकता है, गर्भाशय को शक्ति प्राप्त होती है तथा गर्भ को पोषण मिलता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि त्वग्दोषों में लाभकर है।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में तथा विषों में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

विशिष्ट योग—दूर्वादि क्वाथ, दूर्वाद्य घृत, दूर्वाद्य तैल।

× × × ×

'दूर्वा शीता कषाया च रक्तपित्तकफापहा।' (ध. नि.)
'दूर्वाः कषायाः मधुराश्च शीताः पित्ततृषारोचकवान्तिहन्त्र्यः।
सदाहमूर्च्छाग्रहभूतशान्तिश्लेष्मश्रमध्वंसनतृप्तिदाश्च ॥' (रा. नि.)
दूर्वा स्वाद्वी हिमा तिक्ता कषाया जीवनी जयेत्। कफपित्तास्रवीसर्पतृष्णादाहत्वगामयान् ॥'
(कै. नि.)

'वृषादनी पयस्या च लता चोत्पलसारिवा। यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः गर्भस्रावे पयोयुताः॥'

(सु. शा० १०)

F. I., VII, 288-89.
B. B. O., III, 1012.
M. P. I., I, 322.

२४३. कमल

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय (च०); उत्पलादि (सु०)।

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphaeaceae)।

नाम—लै०-नेलम्बो न्यूसीफेरा (Nelumbo nucifera Gaertn.)। सं०-कमल (जल को शोभित करने वाला), पद्म (मनोहर), नलिन (सुगंधित), अरविन्द (अराकार-चक्राकार पत्र वाला), महोत्पल (जल में पलने वाला), सहस्रपत्र (अनेक दलयुक्त), शतपत्र (सौ दलों वाला), कुशेशय (जलज), पंकेरुह (पंक में उत्पन्न), तामरस (मनोहर और सरस), सारस (तालावों में होने वाला), बिसप्रसून (मृणाल में लगने वाला पुष्प), राजीव (केशरसमूह से युक्त), पुष्कर (पौष्टिक), अम्भोरुह (जलज); हि०-कमल, पुरइन; बं०-पद्म; म०-गु०-कमल; ता०-तामरै; ते०-एर्रा तामर; कन्न०-कमल; मल०-तामर; क०-पम्पोश; अ०-कातिलुनहल; अं०-सैक्रेड लोटस (Sacred lotus)।

स्वरूप—यह जल में होने वाला सुन्दर क्षुप है। इसका मूल एवं प्रसरी भौमिक काण्ड जल के नीचे पंक में रहता है। **पत्र**-चिकने, क्षोदयुक्त, गोलाकार, चक्र के सदृश, १-३ फुट व्यास के, पानी की सतह से कुछ उठे हुए, ३-६ फुट लंबे, चिकने या कंटकित वृन्त पर लगे होते हैं। **पुष्प**-बड़े, एकल, श्वेत या रक्त, सुगन्धित ४-१० इञ्च व्यास के, ३-६ फुट लम्बे पुष्पदण्ड पर जल के कुछ ऊपर लगा रहता है। अन्तर्दल-अंडाकार नतोदर तथा सिरायुक्त होते हैं। पुंकेशर अनेक होते हैं। स्त्रीकेशर अंडाकार १०-३०, कर्णिका के ऊर्ध्वभाग में पृथक् पृथक् खातों में निमग्न रहते हैं। कर्णिका (बीजाधार) लट्वाकार, २-४ इञ्च व्यास की स्पंजी होती है जिसमें ½ इञ्च लम्बे, गोल और गहरे भूरे, चिकने बीज रहते है।

कमल के विभिन्न अवयवों के नाम नीचे दिये जा रहे हैं :—

पुष्प-पद्म आदि उपरोक्त नाम। **बीज**-सं०-पद्मबीज, कमलाक्ष, हि०-कमलगट्टा। **कमलनाल**-सं०-मृणाल; हि०-मुरार, **भौमिककाण्ड**-सं०-बिस; पद्मकर्कटी; हि०-भेन, भसीड, भिसाँड़; म० गु०-भिसें, कमलकाकड़ी, भसींड। **कमलकन्द**-सं०-शालूक, करहाटक; गु०-लोढ। **कमलबीजकोश**-सं०-कर्णिका, वराटक, बीजकोश; हि०-कमल का छत्ता; म०-धांगुड, ढांपणी; गु०-घीतेलां। **नवपल्लव**-सं०-संवर्तिका। **पञ्चाङ्ग**-सं०-पद्मिनी, कमलिनी।

पुष्प के पल्लव, कमलनाल, बिस, शालूक, पद्मबीज तथा पुष्पों का शाक के रूप में प्रयोग होता है। पुष्प देवार्चन में चढ़ाये जाते हैं। कमलपुष्प शोभा एवं समृद्धि का प्रतीक है।

जाति—वर्णभेद से निघंटुओं में इसके तीन भेदों का उल्लेख है :—(१) श्वेत (पुण्डरीक), (२) रक्त (कोकनद) और (३) नील (इन्दीवर)। आधुनिक वनस्पतिशास्त्र के अनुसार कमल में केवल श्वेत और रक्त दो ही जातियाँ होती हैं, नील जाति उनमें नहीं होती। नील जाति कुमुद में होती है, प्राचीन आचार्यों ने सम्भवतः कमल के भेदों में इसका समावेश कर इसे नीलकमल के रूप में स्वीकृत किया।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है। चीन, जापान में इसकी विशेष खेती होती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीज तथा भौमिक काण्ड में अनेक क्षाराभ होते हैं। पत्र में न्युसिफेरिन, रोमेरिन तथा नौरन्युसिफेरिन नामक क्षाराभ होते हैं। नेलम्बिन नामक हृदय के लिए विषाक्त क्षाराभ पत्रवृन्त, पुष्पवृन्त तथा बीजभ्रूण से निकाला गया है। सूखे कमलबीज में प्रोटीन १७.२%, वसा २.४, कार्बोहाइड्रेट ६६.६ प्रतिशत होते हैं। इसके अतिरिक्त कैलशियम, फास्फोरस, लौह, ऐस्कार्बिक एसिड और शर्करा होती है। ताजे बिस (भौमिक काण्ड) में जल ८३.८०, प्रोटीन २.७०; वसा ०.११, स्टार्च ९.२५, सक्रोज ०.४१ प्रतिशत तथा कैलशियम; विटामिन बी, सी तथा ऐस्पेरिन (२%) होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल
रस—कषाय, मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और वर्ण्य है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मेध्य और शामक है।

पाचनसंस्थान—छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य तथा शोणितस्थापन है।

प्रजननसंस्थान—यह प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरेचनीय और मूत्रविरजनीय है।

त्वचा—वर्ण्य और त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य विकारों से प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह तथा वर्णविकारों में इसका लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, मानसिक उद्वेग तथा तज्जन्य अनिद्रा में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा और अतिसार, प्रवाहिका आदि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में तथा अन्य तीव्र व्याधियों में हृदय पर आघात न हो इसके लिए इसका प्रयोग करते हैं। रक्तस्तम्भन के लिए रक्तातिसार, प्रदर, रक्तार्श एवं रक्तपित्त में यह अतीव प्रशस्त है। रक्तविकारों (वीसर्प, विस्फोट आदि) में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था में देने से यह गर्भाशय के स्राव को बन्द करता है, उसे बल प्रदान करता है और गर्भ का भी पोषण करता है। इस प्रकार यह गर्भावस्षा के लिए बड़ा उपयोगी है। इस समय इसका केशर मक्खन के साथ या कमलगट्टे की पेया का प्रयोग करना चाहिए।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—वर्णविकार तथा अनेक चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—तीव्र ज्वर तथा दाह में इसका प्रयोग करते हैं। इससे ज्वर शान्त होता है, दाह आदि उपद्रव दूर होते हैं, विषों का निर्हरण होता है तथा हृदय को शान्ति मिलती है। ज्वर में दाह, तृष्णा होने पर बीजों से शृत जल पिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में विशेषतः दुर्बल तथा क्षयग्रस्त बच्चों में इसका प्रयोग होता है। सामान्यतः ऐसे बच्चों का पाखाना भी पतला होता है और दिनों दिन बच्चा कमजोर होता जाता है। इसके प्रयोग से पाखाना ठीक होता है और बल की वृद्धि होती है। विषों में भी यह प्रयुक्त होता।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग विशेषतः पुष्प, बीज एवं मूल।

मात्रा—बीजचूर्ण–३–६ ग्रा०; मूलस्वरस–१०–२० मिलि०

विशिष्ट योग—अरविन्दासव।

× × × ×

'कमलं शीतलं वर्ण्यं मधुरं कफपित्तजित्। तृष्णादाहास्रविस्फोटविषवीसर्पनाशनम् ॥'
(भा. प्र.)

'उत्पलकुमुदपद्मकिंजल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

उत्पलानि कषायानि रक्तपित्तहराणि च।' (च. सू. २७)

'सतिक्तं मधुरं शीतं पद्मं पित्तकफापहम्।' (सु. सू. ४६)

'पद्मबीजं हिमं स्वादु कषायं तिक्तकं गुरु। विष्टम्भि वृष्यं रूक्षं च गर्भसंस्थापकं परम् ॥

कफवातहरं वल्यं ग्राहि पित्तास्रदाहनुत्।' (भा. प्र.)

W. I., VII, 7–9.

F. I., I, 116.

२४४. कुमुद

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय (च०), उत्पलादि (सु०)।

कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी–Nymphaeaceae)।

नाम—लै०–निम्फिया नौचाली (Nymphaea nouchali Burm. f.); सं०–कुमुद, उत्पल, हि०–कुई, कोई; भेट; बं०–कुमुद, म०–कमोद; गु०–पोयणुं; ता०–अलिल-तमराई; ते०–अलिल-तामर; कन्न०–निपादले हुवु; मल०–पेरियम्बल; अं०–इण्डियन रेड वाटर लिलि (indian red water lily)।

स्वरूप—इसका क्षुप कमल के सदृश जलज और बड़ा होता है। पत्ते कुछ छोटे ६–१० इञ्च व्यास के, चक्राकार या वृक्काकार, वृन्तगोलायत, पल्लवावस्था में बाणवत्, तीक्ष्णदन्तुर अधस्तल पर रोमश होते हैं। **पुष्प**–एकल, २–१० इञ्च व्यास के, श्वेत से गहरे रक्त तक अनेक वर्णों में होते हैं। बहिर्दल–आयताकार, ५–१० पर्णकयुक्त; अन्तर्दल–रेखाकार या लट्वाकार–आयताकार; पुंकेशर मूलभाग में फैले हुए, स्त्रीकेशर चक्राकार स्थित, कुछ परस्परसंसक्त और कर्णिका में कुछ दबे रहते हैं। पत्रनाल तथा पुष्पनाल प्रायः पानी की सतह तक ही होते हैं जिससे पत्तियाँ पानी पर तैरती रहती हैं और पुष्प भी प्रायः उसी के समानान्तर होते हैं। इसके **बीज फल**–स्पंजसदृश, लगभग १ इञ्च व्यास का, जल में ही पक जाता है। इसके बीज छोटे, गोल, या अण्डाकार कच्चे में लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। इसे 'भेट' या 'बेरा' कहते हैं। इसे भूनने पर रामदाने के सदृश किन्तु उससे छोटा बहुत हलका सफेद लावा होता है। इसका पथ्य ज्वर आदि में देते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ हैं। एक प्रमुख प्रजाति N. stellata Willd. है जो नीलोत्पल (नीलोफर) नाम से प्रसिद्ध है। इसके पुष्प प्रायः नील (कभी कभी श्वेत या गुलाबी भी) होते हैं। नीलोत्पल चरक के दाहप्रशमन महाकषाय तथा सुश्रुत के अञ्जनादि गण में पठित हैं। N. alba Linn. के पुष्प अत्यन्त धवल होते हैं। यह कश्मीर में होता है। N. tetragona Georgi का पौधा अत्यन्त

छोटा, पत्र–१-२ इञ्च लम्बे होते हैं। यह हिमालय प्रदेश में तथा खासिया पहाड़ियों में ४–६ हजार फीट की ऊँचाई पर होता है। इन प्रजातियों में कुछ के पुष्प प्रातः खिलते हैं और कुछ के रात में।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेशों में सर्वत्र तालावों और गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके भौमिक काण्ड में आर्द्रता ५३·६५, प्रोटीन ५·८७, वसा १·०६, स्टार्च २७·३७, सूत्र १·५५, अन्य कार्बोहाइड्रेट ९·०७ और राख १·१३ प्रतिशत होती हैं। बीजों में प्रोटीन ७·०५, वसा ०·९४ तथा कार्बोहाइड्रेट ७७·८६ प्रतिशत होते हैं।

गुण-कर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग कमल के समान ही हैं।

विशिष्ट योग—नीलोत्पलादि हिम, शर्बत नीलूफर।

× × ×

'श्वेतं कुवलयं प्रोक्तं कुमुदं कैरवं तथा। कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम् ॥'
(भा. प्र.)

'पतिष्यति गर्भे···क्षीरमुत्पलादिसिद्धं पाययेत।···पयसा पाययेत् उत्पलादिकल्कं वा।'
(सु. शा. १०)

W. I., VII, 70–73.
F. I., I, 114–15.

२४५. कशेरुक

परिचय

कुल—मुस्तक-कुल (साइपरेसी–Cyperaceae)।

नाम—लै०-सर्पस ग्रॉसस (Scirpus grossus Linn. f,); सं०-कशेरुक; हि०-कसेरू; बं०-केशुर; म०-कसरा; कचेरा; गु०-गुन्दरो; ते०-गुण्डातुङ्गागड्डि; ता०-गुंडातिगागड्डी।

स्वरूप—यह बहुवर्षायु बड़ा चिकना पौधा जलीय भूमि में होता है। **कांड**-३–६ फीट ऊँचा, स्थूलाधार और त्रिकोणीय या त्रिपक्षयुक्त होता है। **पत्र**—काण्ड जितने या ३/४ लम्बे, १ इञ्च तक चौड़े, दृढ़, आरावत् दन्तुर होते हैं। अधःपत्रावलि के कोणपुष्पक तीन, १½ फीट तक लम्बे होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**–८–१६ इञ्च लम्बी, बहुविभक्त, उत्छत्र जिसमें भूरे रंग के, अंडाकार, ·१५–·३ इञ्च लम्बे पुष्प लगते हैं। **फल**–छोटे, अभिलट्वाकार, भूरे रंग के होते हैं। मूलस्तम्भ–दृढ़, कभी-कभी अन्तर्धावी काण्डयुक्त होता है जिसमें जायफल के बराबर, कुछ गोलाकार, ऊपर से कृष्णवर्ण और रोमश तथा भीतर से सफेद कन्द होते हैं। ये स्वाद

में मधुर और सुगन्धि होते हैं। सितम्बर या अक्टुबर में पुष्प और फल आते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कन्दों का संग्रह किया जाता है।

जाति—भावप्रकाश में यह दो प्रकार का कहा गया है—(१) राजकशेरुक (बड़ा कसेरू) और (२) लघु कशेरुक (छोटा कसेरू)। लघुकशेरुक को चिच्चोडक (चिचोड़ा) भी कहते हैं। यह S. articulatus Linn. है। राजकसेरुक का कन्द बड़ा और मोटा होता है। यह सर्पस टयुबरोसस (S. tuberosus Desf.) है। इसके भौमिक काण्ड की गाँठे बढ़ कर कन्द का रूप ले लेती हैं। इसमें एक सुगन्धित तथा एक स्थिर तैल भी होता है। इस प्रकार कशेरूक तीन प्रकार का हो जाता है—कशेरुक, राजकशेरुक और लघुकशेरुक।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में जलीय स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में कार्बोहाइड्रेट ६२–७६%, प्रोटीन ७·५–११·५% होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष   **रस**—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशामक और कफवातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह चक्षुष्य, दाहप्रशमन तथा व्रणशोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, विष्टम्भी और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य, प्रजास्थापन तथा स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पित्तज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—नेत्ररोगों में मुलेठी के साथ इसका लेप करते हैं। दाह, विस्फोट तथा व्रणशोथ में भी इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, छर्दि तथा अतिसार में प्रयुक्त होता है। विसूचिका में इसको गुलाबजल में पीसकर पिलाते हैं। इससे तृष्णा, वमन,

अतिसार शान्त होते हैं और हृदय को शक्ति मिलती है। कसेरु के फूल को कामला में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भावस्था में इसका प्रयोग करते हैं। प्रसव के बाद स्तन्यजननार्थ भी देते है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में यह लाभकर है।

तापक्रम—पित्तज्वर में दाह, तृष्णा आदि के शमनार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—५–१० ग्रा०

विशिष्ट योग—कशेर्वादि पय, कशेर्वादि लेप।

× × × ×

'कशेरु त्रिविधं मध्यं महद्राजकशेरुकम्। मुस्ताकृति लघु स्याद्यत्तच्चिचोढमिति स्मृतम्॥
कशेरुकत्रयं शीतं मधुरं तुवरं गुरु। पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्॥
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मारुचिस्तन्यकरं स्मृतम्।' (भा. प्र.–किञ्चित् परिवर्तित)

'गुरु विष्टम्भिशीतौ च श्रृङ्गाटककशेरुकौ।' (सु. सू. ४६)

'कशेरुकं हिमं रूक्षं मधुरं तुवरं गुरु। संग्राहि शुक्रलं स्तन्यकफमारुतवर्धनम्॥
पित्तशोणितदाहघ्नं नयनामयनाशनम्। वृष्यं मेहं तृषां हन्याद्विष्टम्भि कृमिकारि च॥
कशेरुकस्य पुष्पं तु पित्तघ्नं कामलापहम्।' (कै. नि.)

'तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे···पयसा पाययेत् कशेरुश्रृङ्गाटकशालूककल्कं वा।' (सु. शा. १०)

W. I., IX, 257–59.
F. I., VII, 659.
B. B. O., III, 971.

२४६. शृंगाटक

परिचय

कुल—श्रृङ्गाटक-कुल (ट्रैपेसी–Trapaceae)

नाम—लै०–ट्रैपा नैटान्स (Trapa natans Linn. Var. bispinosa (Roxb.) Makino); सं०–श्रृङ्गाटक (फलों में श्रृङ्गाकार कंटक होने से), जलफल, पानीयफल, त्रिकोणफल, हि०–सिंघाड़ा; बं०–पानिफल; म०–शेंगाडा; गु०–शीघोडाँ; ता०–सिंगेड़ा; ते०–पारिगाद्दा; मल०–करिमपोलम; क०–गार; अं०–कैल्टॉप्स (Caltrops), वाटर चेस्टनट (Water chestnut), सिंघारा नट (Singhara nut)

स्वरूप—यह पानी में होने वाला एक क्षुप है। इसका काण्ड लंबा, टेढ़ा-मेढ़ा, पानी के ऊपर उठा होता है। इसके अन्तर्जलीय भाग मे पत्रावशेषचिह्नों के नीचे थोड़ी-थोड़ी दूर पर हरे उपपत्रों के जोड़े होते हैं। **पत्र**–पानी पर तैरते हुए, ·८–२·५ इञ्च व्यास के, प्रायः त्रिकोणाकार, चौड़ाई लंबाई से अधिक, दन्तुर, प्रायः त्रिखण्डीय, फलकमूल अखण्ड, अधस्तल में रक्तावर्ण या बैंगनी और रोमश, काण्ड के ऊपरी भाग में समूहबद्ध होते हैं। पत्रवृन्त–४–७ इञ्च लंबा, ऊपरी भाग लगभग १ इञ्च फूला हुआ और रोमश होता है। **पुष्प**–श्वेतवर्ण, ¾ इंचे व्यास का, जल के ऊपर, अपराह्नविकासी होता है। परागण के बाद पुष्पवृन्त नीचे झुक जाते हैं जिससे पुष्प जल में निमग्न हो जाते हैं। **फल**–कठिन, १–१½ इंच लंबा-चौड़ा, त्रिकोणाकार जिसके ऊपरी दो कोणों पर दो बड़े काँटे होते हैं। फल के भीतर एक पिष्टमय सफेद बीज निकलता है। इसीका प्रयोग होता है। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः बिहार, उड़ीसा, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश में, तालाबों या पानी भरे गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—सिंघाड़े में प्रोटीन ४·७, वसा ०·३, कार्बोहाइड्रेट २३·३, खनिज द्रव्य १·१ % होता है। खनिजों में कैल्शियम, फास्फोरस, लौह, ताम्र, मैंगनीज, मैगनीसियम, सोडियम, पोटाशियम और आयोडिन होते हैं। विटामिन ए, बी और सी भी होते हैं। थोड़ा ऑक्जलेट भी होता है। सिंघाड़े के आँटे में प्रोटीन ८, वसा ०·६, खनिज २·६ % तथा कैल्शियम, फासफोरस, लौह थायमिन होता है।

गुण

गुण–गुरु, रूक्ष
रस–मधुर, कषाय
विपाक–मधुर
वीर्य–शीत

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह पैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा और ग्रहणी में देते हैं। ग्रहणीरोग में शुष्क सिंघाड़े के आंटे का हलुवा बनाकर पथ्य देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा गर्भावस्था में इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में इसका क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—संताप तथा दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—बीज (फलमज्जा)।

मात्रा—५-१० ग्रा०

× × × ×

'शृङ्गाटकं जलफलं त्रिकोणफलमित्यपि। शृङ्गाटकं हिमं स्वादु गुरु वृष्यं कषायकम्॥
ग्राहि शुक्रानिलश्लेष्मप्रदं दाहास्रपित्तनुत्।' (भा. प्र.)

शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्याः गर्भस्रावे पयोयुताः॥ (सु. शा. १०)

W. I., X, 274-77.

B. B. O., II, 400.

२४७. पुत्रजीवक

परिचय

कुल—एरण्ड-कुल (युफार्बिएसी-Euphorbiaceae).

नाम—लै०-पुत्रंजीव रॉक्सबर्गाई (Putranjiva roxburghii Wall.); सं०-गर्भकर, गर्भद (गर्भस्थापन); हि०-जियापोता, पितौज़िया; न०-पुतजन; गु०-पुत्रजीव; ता०-इरुकोल्लि; ते०-पुत्रजीविक, कुदुरु; कन्न०-पुत्रजीव; मल०-पोंगलम्।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण, सदाहरित, अवनतशाख वृक्ष होता है। **पत्र**-१-३½ इञ्च लंबे-चौड़े, भालाकार या आयताकार-भालाकार, तरंगित या दन्तुरधार, ह्रस्ववृन्त, चमकीले होते हैं। पुंपुष्प-छोटे, पीतवर्ण, सघन अक्षीय गुच्छों में तथा स्त्रीपुष्प-हरितवर्ण, एकल या युग्म होते हैं। **फल**-गोल या अंडाकार, श्वेतरोमश, ·६-·७ इञ्च लंबा होता है जिसके शीर्षभाग पर कुक्षिवृन्त के मूल लगे रहते हैं। फलास्थि नुकीला, झुर्रीदार, अतिकठिन होती है जिसके भीतर एक

पिच्छिल बीज होता है। मार्च-अप्रिल में पुष्प आते हैं तथा उसके बाद शीतकाल (जनवरी-मार्च) में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में प्रायः सर्वत्र ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। इसकी एक प्रजाति P. zeylanica Muell-Arg. श्रीलंका में होती है।

रासायनिक संघटन—फलमज्जा में अधिक परिमाण में मैनिटाल तथा अल्प मात्रा में सैपोनिन, ग्लुकोसाइड और एक क्षाराभ होता है। बीजों से एक स्थिर तैल लगभग ४२% निकलता है। बीजमज्जा से ०·५% एक उग्रगंधि सर्षपतैल सदृश सुगंधित तैल निकलता है जिसमें अनेक ग्लुकोसाइड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, पिच्छिल
रस—मधुर, कटु
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत
प्रभाव—गर्भकर

कर्म

दोषकर्म—यह गुरु, पिच्छिल, शीत होने से कफवर्धक तथा वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसके पत्र और बीज दाहशामक तथा बीज चक्षुष्य हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णाशामक तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—यह वृष्य तथा प्रजास्थापन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों तथा बीजों को पीस कर दाह में लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसके बीज को घिस कर अञ्जन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, विबन्ध आदि में बीजों का चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—श्लीपद में इसकी पत्ती का रस मिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रक्षय तथा गर्भस्राव, वन्ध्यात्व आदि विकारों में उपयोगी है। इनमें इसके बीजों का प्रयोग करते हैं। रुद्राक्ष के समान इसके बीजों की माला भी धारण करते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, पत्र।

मात्रा—बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०; पत्रस्वरस-१०-२० मि० लि०।

× × ×

पुत्रजीवो हिमो वृष्यः श्लेष्मदो गर्भजीवकः । चक्षुष्यः पित्तशमनो दाहतृष्णानिवारणः ॥
(रा. नि.)

'पिबेत् सर्षपतैलं वा श्लीपदानां निवृत्तये । पूतीकरञ्जपत्राणां रसं वापि यथाबलम् ॥
अनेनैव विधानेन पुत्रञ्जीवकजं रसम् । (सु. चि. १९।५७-५८)

F. I., 336-37.
B. B. O., I, 140.
W. I., VIII, 325-26.

गर्भरोधक

२४८. जपा

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaccae) ।

नाम—लैं०-हिबिस्कस रोजा-साइनेन्सिस (Hibiscus rosa-sinensis Linn.); सं०-जपा, औण्ड्रपुष्प; हि०-ओड़हुल, गुड़हल, जवा; बं०-जबा; पं०-गुड़हल; जासुस; म०-जास्वंद; गु०-जासुस, जासुंद; ता०-शेमपरुति; ते०-दासनमु; कन्न०-दासवल; मल०-चेम्बराति; अ० फा०-अंगिरा हिन्दी; अं०-शू फ्लावर (Shoe flower), चाइनीज हिबिस्कस (Chinese hibiscus) ।

स्वरूप—अनेक शाखाप्रशाखायुक्त इसका गुल्म ५-८ फीट ऊँचा होता है । **पत्र**-लट्वाकार, शहतूत के पत्र जैसे, चिकने, चमकीले, लंबाग्र, नीचे अखण्ड और ऊपर स्थूलदन्तुर होते हैं । **पुष्प**-अनेक प्रकार के, प्रायः लाल रंग के, घंटाकार, एकल, अक्षीय, ४-६ इञ्च व्यास के होते हैं जिनसे पुंकेशर तथा स्त्रीकेशर बाहर निकले रहते हैं । वृन्तपत्रक ६-७, रेखाकार-भालाकार, मूल में संसक्त; बाह्यकोष-आधे पर पाँच भालाकार खण्डों में विभक्त होते हैं जो फल को आवृत किये रहते हैं । **फल**-लंबगोल, अनेकबीजयुक्त, ¾ इञ्च लंबे होते हैं । इसमें पुष्प प्रायः बराबर देखे जाते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है । चीन का मूल निवासी है ।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में अल्प परिमाण में नत्रजन, वसा तथा सूत्रों के अतिरिक्त, कैलशियम ४·०४, फास्फोरस २६·६८, लौह १·६९ मि० ग्रा० । १०० ग्रा० तथा विटामिन बी और सी होते हैं । पुष्पों को पीसने पर एक गहरा बैंगनी रंग निकलता है जो केश रंगने के काम में आता है तथा जिससे पहले जूते रंगते थे (इसी कारण इसका नाम 'शू फ्लावर' (उपानह-पुष्प) है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक और केश्य है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह सौमनस्यजनन और मस्तिष्कबल्य है ।

पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितस्थापन है ।

प्रजननसंस्थान—यह प्रदरनाशक तथा गर्भनिरोधक है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत में इसके पुष्पों का स्वरस देते हैं । खालित्य-पालित्य में इसके फूलों को गोमूत्र में पीसकर लगाते हैं । फूलों से सिद्ध तैल शिरोरोग में लगाते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद आदि में इसका प्रयोग करते हैं ।

पाचनसंस्थान—रक्तातीसार, रक्तार्श में इसको देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है ।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर में पुष्पकलिका दूध में पीसकर देते हैं । गर्भनिरोध के लिए इसके फूलों का प्रयोग होता है ।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में यह प्रयुक्त होता है ।

प्रयोज्य अंग—पुष्प

मात्रा—५-१० ग्रा०

× × ×

'जपा संग्राहिणी केश्या ।' (भा. प्र.)
जपापुष्पं लघु ग्राहि तिक्तं केशविवर्धनम् ।' (नि. र.)
आरनालपरिपोषितं त्र्यहं या जपाकुसुममत्ति पुष्पिणी ।
सत्पुराणगुडमुष्टिसेविनी सा दधाति नहि गर्भमङ्गना ॥ (यो. र.)

B. B. O., I, 72.
W. I., V, 91-92.
Kurup & Raghunathan, सचित्र आयुर्वेद, मार्च, १९७८

गर्भाशय-संकोचक

२४९. ईश्वरी

परिचय

कुल—ईश्वरी-कुल (एरिस्टोलोचिएसी-Aristolochiaceae)।

नाम—लै०-ऐरिस्टोलोचिया इण्डिका (Aristolochia indica Linn.); सं०-ईश्वरी, नाकुली (नकुलवत् सर्पविष का शत्रु या नकुलों को प्रिय); हि०-ईश्वरमूल, इसरमूल, इसरॉल; बं०-ईशेरमूल; म०-सापसण; गु०-रूहिमूल; ता०-पेरुमारिन्दु; ते०-दुलागवेला; अ० फा०-जरवन्दे हिन्दी; अं०-इण्डियन बर्थवर्ट (Indian birthwort)।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु लता होती है। मूलस्तम्भ काष्ठीय तथा काण्ड पतले और नलीदार होते हैं। शाखायें कोमल होती हैं। **पत्र**-प्रायः २–४ इञ्च लम्बे, १–२ इञ्च चौड़े, लम्बाग्र होते हैं और अग्रभाग के पास सबसे अधिक चौड़े और उसके ऊपर सहसा संकीर्ण होते हैं। इनके मूल भाग से ३–५ सिरायें पाणिवत् निकली होती हैं। **पुष्प**-½–१½ इञ्च लम्बे, २–७ की संख्या में प्रायः गुच्छबद्ध या छोटी मञ्जरी में निकलते हैं। कोणपुष्पक छोटे, भालाकार, लंबाग्र होते हैं। परिपुष्प सर्पफणाकार, नीचे गोलाकार, मध्य में नलिकाकार, मुख पर बिगुल के आकार के, बैंगनी रंग के, सामने खातयुक्त होते हैं जिनके पीछे आयताकार, स्फीतसदृश, भूरे-बैंगनी रंग का, लगभग ½ इञ्च लम्बा, मुड़े हुये किनारों का एक पुच्छ भाग निकला रहता है। **फल**-लगभग गोलाकार और फटने पर छत्राकार हो जाता है। फल वृन्त तक ६ भागों में विदीर्ण हो जाता है जो ऊपरी भाग में जुड़े रहते हैं। **बीज**-त्रिकोणाकार, चपटे और सपक्ष होते हैं। वर्षा ऋतु (जून-अक्टूबर) में पुष्प और (नवम्बर-मार्च) में फल लगते हैं। मूल अत्यन्त तिक्त होता है तथा उससे कपूर के समान गन्ध आती है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषकर नेपाल दक्षिणभारत और बंगाल तथा श्रीलंका में ३००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में एरिस्टोलोचिन (Aristolochin) नामक क्षाराभ, आइजो-एरिस्टोलोचिक एसिड (Iso-aristolochic acid) नामक पीतवर्ण तिक्त पदार्थ और अलण्ट्वायन (Allantoin) पाये जाते हैं। सुगन्धित तैल ०·५% पाया जाता है जिसमें सेस्क्विन टर्पिनायड (Sesqi-terpenoid) यौगिक तथा कुछ कर्पूर पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष | **रस**—तिक्त, कटु, कषाय
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह विषघ्न, व्रणशोधन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक और नाडियों का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, शूलप्रशमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक और शोथहर है। रक्तशोधक भी है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय-संकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सर्पविष में, व्रणों में तथा शोथवेदनायुक्त विकारों (सन्धिवात, आमवात आदि) में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि तथा मानस रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, विष्टम्भ, उदरशूल, तथा कृमिरोग में उपयोगी है। विसूचिका तथा शिशुओं के दन्तोद्भेद में भी इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ, सन्धिवात तथा आमवात में इसका प्रयोग होता है। रक्तविकारों में भी देते हैं।

श्वसनसंस्थान—बालकों के प्रतिश्याय और कास में पत्रस्वरस देते हैं। इससे वमन होकर सब कफ निकल जाता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव तथा प्रसव के बाद गर्भाशय-संशोधन के लिए ईश्वरमूल पिप्पलीमूल के साथ देते हैं। रजोरोध और कष्टार्तव में भी प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ आदि त्वचा के रोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—विषमज्वर, त्रिदोषज्वर तथा प्रसूतिज्वर में यह विशेषतः प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सर्प, विच्छू, लूता, मूषक आदि प्राणियों के विष में इसका पत्रस्वरस या मूल पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—मूलचूर्ण-१–३ ग्रा०, पत्रस्वरस-५–१० मिलि०

× × × ×

'नाकुली तुवरा तिक्ता कटुकोष्णा नियच्छति। भोगिलूतावृश्चिकाखुविषज्वरकृमिव्रणान्॥'

(भा. प्र.)

B. B. O., II, 824.
W. I., I, 118.
I. P., 830.

२५०. कालाजाजी

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)।

नाम—लै०-नाइगेला सेटाइवा (Nigella sativa Linn.); सं०-कालाजाजी, उपकुंचिका, हि०-कलौंजी, मंगरैल; बं०-मुगरेला कालाजीरा; म०-कलोंजी; गु०-कलोंजी; ता०-करुनजीरगम्; ते०-नल्लजिलकॅर; कन्न०-करेजिरगे; मल०-करुनचिरगम्; अ०-शोनीज; फा०-स्याहदान; अं०-स्मॉल फनेल (Small fennel)।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप लगभग १½ फुट ऊँचा खेतों में स्वयं होता है या उगाया जाता है। **पत्र**–पक्षवत्, द्विधा या त्रिधा विभक्त, १–२ इञ्च लम्बे होते हैं। खण्ड रेखाकार-भालाकार होते हैं। **पुष्प**–हलके नीले, लगभग १ इञ्च व्यास के, एकल, लंबे पुष्पदंडों पर निकलते हैं। **फल**–गोलाकार होते हैं जिसमें त्रिकोणाकार, कृष्णवर्ण, सुगन्धित, सिकुड़नयुक्त, ग्रन्थिमय, अनेक बीज होते हैं। बीजमज्जा श्वेत होती है। पुष्प शरद् ऋतु में तथा फल शीतकाल में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका मूल वासस्थान दक्षिण यूरोप है। संप्रति समस्त भारत में विशेषतः पश्चिम भाग में होता है। पंजाब, हिमाचल प्रदेश, बिहार और आसाम में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक पीताभ भूरा उड़नशील तैल ०·५–१·६ प्रतिशत और एक रक्ताभ भूरे रंग का स्थिर तैल ३१ प्रतिशत होते हैं। इनके अतिरिक्त, अलब्यूमिन, शर्करा, कार्बनिक अम्ल, विषाक्त सैपोनिन मेलान्थिन (Melanthin), अरेबिक अम्ल (Arabic acid), एक तिक्त पदार्थ नाइगेलिन (Nigellin), राल, टैनिन और भस्म ७ प्रतिशत होती है। उड़नशील तैल में कार्बोन (Carvone) ४५–६०%, डी-लाइमोनिन और साइमिन (Cymine) [illegible]मक तत्त्व होते हैं। नाइगेलॉन (Nigellone) नामक तत्त्व भी होता है जो श्वास-[illegible]न का-प्रसारक होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण

रस—कटु, तिक्त

विपाक—कटु

वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उत्तेजक और वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—दुर्गन्धनाशन, रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन, ग्राही और कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयसंकोचक और स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

उत्सर्ग—त्वचा, स्तन तथा वृक्कों से इसका उत्सर्ग होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातरोगों में दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में तथा खालित्य में बीजों का लेप करते हैं। शिरःशूल तथा कामला में इसके चूर्ण का नस्य देते हैं। प्रतिश्याय और अर्शांकुरों में इसकी धूनी देते हैं। वातव्याधि में इसके तैल का अभ्यंग करते हैं और संधिशोथ आदि में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—मुखदुर्गन्ध, अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, आध्मान, उदरशूल, अतिसार, ग्रहणी और कृमिरोग में यह प्रयुक्त होता है। विशेषतः गण्डूपद कृमि में देते हैं। विरेचन द्रव्यों के साथ मरोड़ को बन्द करने के लिए इसे मिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और पार्श्वशूल में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव तथा प्रसवोत्तर काल में इसका सेवन कराते हैं। इससे गर्भाशय का संशोधन होता है, दूध बढ़ता है और स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। रजोरोध और कष्टार्तव में भी उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—त्वग्दोषों में दिया जाता है।

तापक्रम—विषमज्वर विशेषतः शीताभिप्राय में बीजों का चूर्ण गुड़ के साथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ ग्रा०

× × × ×

'......कुञ्चिका......। रोचनं दीपनं वातकफदौर्गन्ध्यनाशनम् ॥' (च. सू. २७)
कस्वञ्चिका पाचनदीपनी परं सन्धानयोग्या कफवातवारिणी।
प्रवर्त्तयत्यार्त्तवमुष्णवीर्या भक्तेऽपि भक्तिं बहुलीकरोति ॥—सि० भे० म०
'जीरकत्रितयं रूक्षं कटूष्णं दीपनं लघु। संग्राहि पित्तलं मेध्यं गर्भाशयविशुद्धिकृत् ॥
ज्वरघ्नं पाचनं वृष्यं बल्यं रुच्यं कफापहम्। चक्षुष्यं पवनाध्मानगुल्मच्छर्द्यतिसारहृत् ॥'
(भा. प्र.)

W. I., VII, 63-65.

२५१. अन्नामय

परिचय

कुल—अन्नामय-कुल (हाइपोक्रिएसी–Hypocreaceae)।

नाम—लै०-क्लैविसेप्स पर्प्युरिया (Claviceps purpuea Fr. Tul.)
सं०-अन्नामय; स्राविका; म०-तांब; गु०-गेरवो; अं०-अर्गट (Ergot)।

स्वरूप—यह जौ, मकई, गेहूँ आदि अन्नों में तथा घासों में, विशेषतः राई (Rye) नामक पौधे पर होने वाला एक प्रकार का फंगस है। यह ⅓-१ इञ्च लम्बा, गहरे बैंगनी रंग का या कृष्णाभ, मूलकाकार, किञ्चित् वक्र, कुछ त्रिकोण, दोनों सिरों पर नुकीला, दुर्गन्धयुक्त और अप्रिय स्वाद वाला होता है। लम्बाई में इसमें खात होता है और अनुप्रस्थ दिशा में विदार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मुख्यतः मध्य युरोप, स्पेन और पुर्तगाल से आता है। भारत में जम्मू-कश्मीर तथा नीलगिरि में इसे उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अनेक क्षाराभ होते हैं जिनमें अर्गोटॉक्सिन (Ergotoxine), अर्गोमेट्रिन (Ergometrine) तथा अर्गोटेमिन (Ergotamine) प्रमुख हैं। फार्माकोपिया के अनुसार इसमें कुल क्षाराभ (अर्गोटाक्सिन के रूप में) ०·१९% से कम नहीं होनी चाहिए जिसके १५% से कम जलविलेय क्षाराभ (अर्गोमेट्रिन के रूप में) नहीं हों। इसमें ५% से अधिक राख नहीं होनी चाहिए।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्तरस के कारण कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—तीक्ष्ण होने से यह उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अधिककाल तक सेवन करने से मस्तिष्कशक्ति का ह्रास होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृत्पेशी तथा सांवेदनिक नाडियों पर क्रिया होने से यह हृदयसंकोच को प्रबल बनाता है। यह सर्वांगीण सूक्ष्म धमनियों का संकोच करती है जिससे रक्तभार बढ़ जाता है। अतः यह रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का तीव्र संकोच होता है। जिससे उसके भीतर के पदार्थ बाहर निकल जाते हैं। यह क्रिया शीघ्र लगभग २० मिनट के बाद प्रारम्भ हो जाती है। गर्भाशय-पेशियों के संकुचित होने से तद्गत रक्तवह स्रोतों का मुख भी बन्द हो जाता है जिससे रक्तस्राव रुक जाता है। यह वाजीकरण भी है।

श्वसनसंस्थान—इसका प्रभाव श्वसनकेन्द्र पर होने के कारण श्वसन की संख्या और शक्ति बढ़ जाती है। अधिक मात्रा से केन्द्र अवसादित होता है और श्वसन मन्द और क्षीण हो जाता है।

नेत्र—क्षणिक प्रसार के बाद नेत्रकनीनिका का प्रबल संकोचन होता है।

शरीरस्थ स्राव—सर्वांगीण रक्तवाहिनियों का संकोच होने से ग्रन्थियों में रक्त की कमी हो जाती है जिसके कारण लाला, स्वेद, स्तन्य और मूत्र का स्राव कम हो जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ध्वजभङ्ग में इसको पीस कर शिश्न पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—प्रसवोत्तर रक्तस्राव को रोकने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। प्रदर में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में तथा प्रसवोत्तरकाल में यह अतीव प्रशस्त है। इसके प्रयोग से प्रसव सुविधा से हो जाता है तथा प्रसव के बाद रक्तस्राव नहीं होता, पेट का दर्द शान्त हो जाता है, गर्भाशय अपनी पूर्व स्थिति में चला आता है तथा ज्वर आदि उपद्रव नहीं होने पाते। प्रसव के बाद, विशेषतः बहुप्रजाताओं में इसका प्रयोग ५-६ दिनों तक प्रातः सायं करना चाहिए।

गर्भपात के बाद भी इसका प्रयोग करते हैं। नपुंसकता, स्वप्नदोष तथा शीघ्रपतन में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—समस्त।

मात्रा—१–२ ग्रा० (फाण्टरूप में); शोधित अर्गट–०·१५–०·५ ग्रा०

विशिष्ट योग—अर्गटवटी (Ergot tablets)

वक्तव्य—यदि योनिद्वार संकीर्ण या किसी अर्बुद आदि से अवरुद्ध हो तो इसका प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि इस प्रकार प्रबल गर्भाशयसंकोच से दबकर बच्चे की मृत्यु की आशंका होती है या गर्भाशय के ही विदीर्ण होने का भय रहता है।

तीव्र विषलक्षण—मन्द क्षीण नाडी, झुनझुनी, कण्डू, तृष्णा, आमाशय तथा अंत्र में क्षोभ, गर्भाशय से रक्तस्राव, गर्भपात, संज्ञानाश और अवसादन।

जीर्ण विषलक्षण—अधिक दिनों तक प्रयोग से पूतिकोथ या स्पर्शसंज्ञानाश, जाड्य, इन्द्रियदौर्बल्य आदि लक्षण होते हैं।

× × ×

सर्षपी पाटला रौद्री स्राविका धन्वजापि सा ।
रजःप्रवर्त्तिनी रौद्री मूढगर्भविकर्षिणी ॥
गर्भपातानन्तरोत्थशोणितस्रुतिशारिणी ।
वारयेच्छोणितोद्वाहिं रक्तमूत्रादिकं तथा ॥
श्वेतप्रदरमेकांगं शुक्रमेहञ्च दारुणम् ।
मात्रातिरेकाद् विषवत् क्रियां संजनयेद् ध्रुवम् ॥ (आ. वि.)

W. I., II, 212–214.
I. P., 275–276.

२५२. कार्पास

परिचय

गण—बृंहणीय (च०), वातसंशमन (सु०)।

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी–Malvaceae)।

नाम—लै०-गॉसिपियम हर्बेसिअम (Gossypium herbaccum Linn.)। सं०-कार्पासी, तुण्डिकेरी, समुद्रान्ता (समुद्रतटवर्त्ती प्रदेशों में उत्पन्न होने से); हि०-कपास; म०-कापसी; गु०-कपास, वोण; पं०-कपास; ता० मल०-रंजी; कन्न०-हनी, ते०-कार्पासिमु; अं०-कॉटन प्लाण्ट (Cotton Plant)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार **क्षुप**–२–८ फुट ऊँचा होता है। काण्ड स्थूल एवं दृढ तथा कोमल टहनियाँ रोमश होती हैं, **पत्र**–एरण्डपत्र के समान उत्तान मध्य तक ३–७ खण्डों में विभक्त होते हैं। पत्रखण्ड लट्वाकार-गोलाकार, आधार पर किंचित् संकुचित होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण जिनके मध्यभाग बैंगनी होते हैं। **फल**–गोलाकार, श्लक्ष्ण, चंचुयुक्त, कुछ तैलग्रन्थियों के सहित, ३–४ कोष्ठीय होता है जो पकने पर किंचित्स्फोटी होता है। **बीज**–धूसर या कृष्णवर्ण होते हैं, जिन पर रोम (रूई) की दो पर्तें होती हैं। बीजों से तैल निकलता है। **मूल**–बाहर से पीताभ तथा भीतर श्वेत होता है। शीतकाल में पुष्प आते हैं तथा ग्रीष्मऋतु में फल पक कर फट जाते हैं।

जाति—कपास की अनेक प्रजातियाँ होती हैं यथा G. arboreum Linn. G. barbadense Linn., G. hirstum Linn.। इनके पुनः अनेक प्रकार होते हैं। एक पौधा जो जंगलों में स्वयं उत्पन्न होता है उसे अरण्यकार्पासी या भारद्वाजी कहते हैं। हिन्दी में इसे बनकपास तथा लैटीन में थेस्पेसिया लैम्पस (Thespasia lampas Dalz & Gibs.) कहते हैं। एक और जाति जो उद्यानों में लगाई जाती है उसे उद्यानकार्पास या देवकर्पास कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में विशेषतः महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश, पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश, आसाम, आन्ध्र, मैसूर तथा मद्रास में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में शर्करा (३४·६५%), प्रोटीन (१२·४९%), खनिज (फास्फोरस, कैल्शियम, लौह, ताम्र आदि) तथा विटामिन ए, बी, सी, डी और ई पाये जाते हैं। इसका प्रमुख रंजक द्रव्य गॉसिपॉल (Gossypol) ·४–२% होता है। बीजों से १३·१–२४·५% एक लाल या कृष्णाभ विशिष्टगन्धि तैल निकलता है। मूलत्वक् में हलकी गन्ध तथा कटु-कषाय स्वाद होता है। इसमें ८% एक पीताभ अम्ल-राल होता है। इसके अतिरिक्त, डाइ-हाइड्रॉक्सि-बेंजोइक अम्ल, सैलिसिलिक अम्ल, दो फैनोलिक पदार्थ, बिटेन तथा कुछ अलकोहल पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण (मूलत्वक्)
स्निग्ध (बीज)

रस—कटु, कषाय (मूलत्वक्)
मधुर (बीज)

विपाक—कटु (मूलत्वक्)
मधुर (बीज)

वीर्य—किंचित् उष्ण

कर्म

दोषकर्म—बीज मधुर-स्निग्ध होने से वातपित्तशामक है। मूलत्वक् वात-पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—कपास के बीज नाडीसंस्थान के लिए पौष्टिक हैं। पुष्प उत्तेजक और सौमनस्यजनन है।

पाचनसंस्थान—बीज स्नेहन और स्रंसन है। पत्रस्वरस पिच्छिल और पुष्प यकृदुत्तेजक है।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् गर्भाशयसंकोचक और आर्त्तवजनन हैं। इसकी क्रिया अर्गट के समान होती है। बीज स्तन्यजनन और वृष्य हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बीज तथा पत्र मूत्रजनन है।

तापक्रम—बीज विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बीज बल्य तथा विषघ्न है। पत्र रक्तवर्धक है। पुष्प विषघ्न हैं।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातव्याधि में इसका प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का लेप शोथवेदनायुक्त विकारों, विषों, अग्निदग्ध, व्रण और क्षतों में करते हैं। बीजों के तैल का अभ्यंग सन्धिवात शिरःशूल आदि में करते हैं। रूई जलाकर क्षत तथा व्रणों में रखते हैं। पत्र-स्वरस कर्णरोगों में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—नाडीसंस्थान के दौर्बल्य से उत्पन्न विकारों यथा उन्माद, अपस्मार आदि में बीजों का प्रयोग करते हैं। मानसरोगों में पुष्प का पानक भी देते हैं।

पाचनसंस्थान—बीजों का प्रयोग विबन्ध में करते हैं। पत्रस्वरस प्रवाहिका में देते हैं। पुष्प का पानक यकृद्विकार और कामला में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव और अनार्त्तव में मूलत्वक् का क्वाथ या चूर्ण देते हैं। क्वाथ में सोया, कलौंजी और पुराना गुड़ मिलाने से अच्छी क्रिया होती है। प्रसव के बाद यह क्वाथ देने से गर्भाशय संकुचित होता है। रक्तस्राव बन्द होता है और ज्वर आदि उपद्रव नहीं होने पाते। १ घंटे में इसका प्रभाव होता है। अधिक मात्रा में देने से गर्भपात होता है। बिनौले का प्रयोग स्तन्यवृद्धि तथा वाजीकरण के लिए करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में बीजचूर्ण तथा पत्रस्वरस देते हैं।

तापक्रम—बीजों का फाण्ट शीतज्वर में ज्वर आने से पूर्व देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में बीजों का प्रयोग करते हैं। पाण्डु में पत्रस्वरस देते हैं। सर्पविष में बीज प्रयुक्त होते हैं तथा धतूरा के विष में पुष्प तथा बीजों का फाण्ट देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, त्वक्, पुष्प, बीज।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०।

× × ×

'कार्पासको लघुः कोष्णो मधुरो वातनाशनः। तत्पलाशं समीरघ्नं रक्तकृन्मूत्रवर्धनम्॥
तत्कर्णपिडकानादपूयस्रावविनाशनम्। तद्बीजं स्तन्यदं वृष्यं स्निग्धं कफकरं गुरु॥'

W. I., IV, 170-251. (भा. प्र.)

२५३. लांगली

परिचय

गण—उपविष।

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-ग्लोरिओजा सुपर्बा (Gloriosa superba Linn.); सं०-लांगली (हलाकार कन्द); कलिहारी (कष्टकर शल्य को हरने वाली), अग्निशिखा (रक्तपुष्पवाली); गर्भनुत् (गर्भपातिनी); हि०-कलिहासी, कलियारी; बं०-उलटचंडाल, विलांगुलि; म०-कललावी; खड्या नाग; गु०-दूधियो बछनाग; ता०-कलाई-पाई-कि-जंगु; ते०-आदाविनाभि; कन्न०-अग्निशिखे, मल०-मेदोनि; अं०-मलाबार ग्लोरी लिलि (Malabar Glory Lily)।

स्वरूप—यह एक सुन्दर बहुवर्षायु वृक्षारोही **लता** होती है। इसका **काण्ड** पतला, २० **फुट** तक लम्बा प्रतिवर्ष कन्दवत् मांसल बहुवर्षायु भौमिक काण्ड से निकलता है। भौमिक कांड हलाकार, वक्र, स्थान-स्थान पर संकुचित लगभग १ फुट तक लम्बा और १½ इञ्च व्यास का, सिरों पर नुकीला होता है। **पत्र**-प्रायः वृन्तरहित, लट्वाकार-भालाकार, ६-८ इञ्च लम्बे तथा अग्रभाग पर सूत्राकार होते हैं जिसके सहारे वह वृक्षों पर चढ़ती है। **पुष्प**-बड़े आकर्षक, एकल या गुच्छबद्ध होते हैं। परिपुष्प के दल २-३ इञ्च लम्बे, ½ इञ्च चौड़े, तरंगितधार; प्रारम्भ में हरे, फिर पीले और अन्त में रक्तवर्ण हो जाते हैं। पुष्पदंड प्रायः ७ इञ्च लम्बा होता है। **फल**-२ इञ्च लम्बे होते हैं जिनमें अनेक गोलाकार बीज होते हैं। **मूलस्तम्भ**-आलू के समान, बड़ा बीच-बीच में संकीर्ण होता है। पुष्प-फल वर्षा ऋतु में होते हैं और शीत ऋतु के बाद लता सूख जाती है।

उत्पत्तिस्थान—प्रायः समस्त भारत में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होती है।

रासायनिक संघटन—भौमिक काण्ड में कौल्चिकिन (Colchicine) नामक क्षाराभ (०·२-०·३%) होता है जिसके कारण इसकी विषाक्त क्रिया होता है। इसी से मिलता-जुलता एक और क्षाराभ ग्लोरिओसिन (Gloriosine) नामक होता है। इनके अतिरिक्त, एक सुगन्धित तैल, बेंजोइक अम्ल, सैलिसिलिक एसिड, कोलिन, शर्करा, वसाम्ल तथा कुछ रालीय पदार्थ होते हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—गर्भपातन

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, क्षोभक, क्रिमिघ्न तथा गर्भपातन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में यह दीपन, पित्तसारक और कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में यह वामक और रेचक होता है तथा इससे आमाशय में तीव्र दाह और क्षोभ उत्पन्न होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक है।

तापक्रम—यह विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में देने से यह बल्य और रसायन है।

विषाक्त प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से वमन, विरेचन, उदरशूल तथा अन्त में हृदयावरोध से मृत्यु हो जाती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, व्रण, गंडमाला, अर्श, चर्मरोग तथा वृश्चिक, सर्प आदि के दंश पर इसका लेप करते हैं। शरीर के भीतर कोई शल्य (काँटा, तीर आदि) घुसा हो तो त्वचा पर लेप करने से वह ऊपर आ जाता है। सुखप्रसव और अपरापातन के लिए इसके कन्द का लेप हाथ और पैर के तलवों पर तथा नाभि, वस्तिप्रदेश और वंक्षण पर किया जाता है। गर्भनिष्कासनार्थ इसका कन्द योनि में रखते हैं। पत्रस्वरस बालों में जूँ मारने के लिए लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अल्प मात्रा में इसका चूर्ण अग्निमांद्य, पित्तविकार तथा कृमि में प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—कुष्ठरोग में यह लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में गर्भनिष्कासनार्थ इसका चूर्ण देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—अल्पमात्रा में यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—२५०–५०० मिग्रा० (कटुपौष्टिक); ३–६ ग्रा० (गर्भनिष्कासनार्थ)।

विशिष्ट योग—कासीसादि तैल, लांगलीरसायन।

× × ×

'कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोव्रणशूलजित्। सक्षारा श्लेष्मजित्तिक्ता कटुका तुवरापि च॥
तीक्ष्णोष्णा कृमिहृल्लघ्वी पित्तला गर्भपातिनी। (भा. प्र.)

'लांगली कटुरुष्णा च कफवातविनाशिनी। तिक्ता सरा च श्वयथुगर्भशल्यव्रणापहा॥'
(ध. नि.)

'पाठालांगलिसिंहास्यमयूरकजटाः पृथक्। नाभिवस्तिभगालेपात् सुखं नारी प्रसूयते॥'
(च. द.)

'लांगलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्।' (सु. शा. १०)

W. I., IV, 139–40.
B. B. O., III, 1153.
F. I., VI, 358.

२५४. केबुक

परिचय

गण—क्रिमिघ्न, तिक्तस्कन्ध (च०)।

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी–Zingiberaceae)।

नाम—लै०–कॉस्टस स्पीसिओसस (Costus speciosus (Koeing) Sm.); सं०–केबुक, केम्बुक; हि०–केबु, पेऊँ; ते०–कन्न०–चेंगलवा–कोष्टु।

स्वरूप—इसका क्षुप ४–१० फुट ऊँचा अदरख के सदृश होता है। **पत्र**–बड़े, भालाकार या अंडाकार-आयताकार, ६–१२ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**–बहुत बड़े (३–४ इञ्च व्यास के), श्वेत, २–४ इञ्च लम्बी अन्त्य सघन शीर्ष गुच्छों में लगते हैं। कोणपुष्पक-रक्तवर्ण, लट्वाकार, १–१½ इञ्च लम्बे होते हैं। जुलाई से सितम्बर तक इसमें पुष्प आते हैं। इसका कन्द पिच्छिल एवं किंचित् कषाय होता है तथा शाक में व्यवहृत होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। विशेषतः बंगाल और कोंकण में होता है।

रासायनिक संघटन—इससे अनेक क्षाराभ, स्टिरॉयड तथा सैपोनिन निकाले गये हैं। कन्द में ⅓ भाग स्टार्च होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत
प्रभाव—गर्भाशयसंकोचक

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय होने से कफ-पित्तशामक तथा वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, ग्राही तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—यह कासहर तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—यह तीव्र गर्भाशयसंकोचक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मेदोहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, ग्रहणी तथा कृमिरोग में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्विकार, रक्तविकार तथा श्लीपद में लाभकर है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव में देने से गर्भाशय के संकोच को तीव्र कर प्रसव में सहायक होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—स्थौल्य तथा अन्य संतर्पणजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०; स्वरस-१०-२० मि० लि०।

× × ×

केबुकं कटुकं पाके तिक्तं ग्राहि हिमं लघु।
दीपनं पाचनं हृद्यं कफपित्तज्वरापहम्॥
कुष्ठकासप्रमेहास्रनाशनं वानलं कटु। (भा. प्र.)

W. I., I, 361.
B. B. O. iii, 1196.
P. V. Tewari : Effect of certain indigenous drugs on uterine activities (Ph. D. Thesis, B. H. U., 1970).
Tewari, Sharma et al : J. R. I. M., 7 : 2 (1972)
Bhattacharya et al : J. R. I. M., 8 : 1 (1973)
Ibid : Rheumatism, 6,55 (1971)

२५५. हरमल

परिचय

कुल—गोक्षुर-कुल (जाइगोफाइलेसी-Zygophyllaceae)।

नाम—लै०-पेगानम हरमल (Paganum harmala Linn.); हि०-हरमल, इस्बंद; बं०-इस्वांध; म०-हरमल; गु०-हरमर; पं०-हुर्मुल; ता०-विराति, ते०-सिमागोरन्ति विल्ललु; अ०-हरमल; फा०-इस्पंद; अं०-हरमल (Harmal), सीरियन रू (Syrian Rue)।

स्वरूप—यह गुल्मजातीय बहुवर्षायु **क्षुप** १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-२-३ लम्बे तथा बहुखंडित होते हैं। खण्ड पतले रेखाकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, पत्रकोण से निकलते हैं। पुष्पबाह्यदल आभ्यन्तर दलों से बड़े तथा पुंकेशर १२-१५ दो चक्रों में स्थित होते हैं। **फल**-गोलाकार, ऊपर दबा हुआ, गहरे खण्डयुक्त होता है जिसमें धूसरवर्ण, कोणयुक्त, चपटे अनेक बीज होते हैं। बीजों को मसलने पर उनसे तमाखू के समान गन्ध आती है और उसका स्वाद तिक्त होता है। जुलाई में पुष्प तथा सितम्बर में फल आते हैं।

जाति—वर्णभेद से यह दो प्रकार का होता है:—(१) श्वेत-इसे 'इस्पंद अरबी' कहते हैं। (२) रक्त-इसे 'इस्पंद सोख्तनी' कहते हैं। रक्त का ही प्रयोग विशेष होता है तथा यही उत्तम भी है।

उत्पत्तिस्थान—यह अरब, ईरान, सिंध, कश्मीर, लदाख, पंजाब, पश्चिमोत्तर भारत, पश्चिमी बिहार, राजस्थान, गुजरात, दक्षिण भारत, कोंकण तथा उत्तरी अफ्रीका में होता है। ईरान से ही इसका प्रसार हुआ है।

रासायनिक संघटन—(१) बीजों में हरमलोल (Harmalol), (२) हरमलिन (Harmaline), (३) हरमिन (Harmine), (४) वासिकिन (Vasicine) क्षाराभ (३·८-५·८%) होते हैं जो मुख्यतः बीजावरण में स्थित होते हैं। इन सबमें प्रथम सबसे कम तथा द्वितीय सबसे अधिक परिमाण में होता हैं। हरमलिन ओजःसारीय विष (Portoplasmic poison) के वर्ग का है और कुनैन के समान कार्य करता है। बीजों से एक भूरे पीले रंग का तैल ११·१% निकलता है। पत्तियों की गन्ध अप्रिय तथा स्वाद तिक्त होता है। इनमें विटामिन सी तथा एक हरिताभ भूरे रंग का सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—उष्णवीर्य होने से यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वेदनास्थापन तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन, निद्राजनन तथा मादक है।

पाचनसंस्थान—यह वातानुलोमन, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशयसंकोचक, आर्त्तवजनन तथा स्तन्यजनन है। उत्तम वाजीकरण भी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वातव्याधि में इसका धूपन तथा लेप करते हैं। कर्णशूल और बाधिर्य में इसका तैलपाक कर कान में डालते हैं। दन्तशूल में इसका धूपन करते हैं। दुष्टव्रणों में तथा बाह्यकृमियों में इसे तैल में मिला कर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गृध्रसी आदि वातव्याधि में वेदनाशमन के लिए देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदरशूल तथा कृमिरोग में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा हिक्का में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध, कष्टार्त्तव में तथा स्तन्यवृद्धि के लिए देते हैं। वाजीकरण में भी विशेष प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में विशेषतः विषमज्वरों में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में भी उपयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—१-३ ग्रा०,

अहित प्रभाव—इसके अतियोग से दाह, मद, मोह तथा हृल्लास होते हैं।

निवारण—इसके निवारण के लिए मधुर पानक तथा अम्ल द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है।

× × × ×

मतं रूक्षं तिक्तं पचति कटु वीर्योष्णमिति च,
समीरं श्लेष्माणं शमयति तथा पित्तबहुलम्।

परं वृष्यं स्तन्यं गमयति तथा गर्भशयनम्,
ज्वरं जन्तून् कुष्ठं हरति बहुशूलं हरमलम्॥ (स्व०)

W. I.. VI, 285-87.

२५६. सिताब

परिचय

कुल—जम्बीर-कुल (रुटेसी-Rutaceae)।

नाम—लै०-रुटा ग्रैविओलेन्स (Ruta graveolens Linn.); हि०-सिताब, म०-सताप; गु०-सताव; ता०-अरूवदाण; ते०-सदापाक; अ०-सुजाब, फैजन; फा०-सुद्दाब; अं०-गार्डेन रू (Garden rue)।

स्वरूप—इसका उग्रगंधि क्षुप १-३ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-द्विधा-त्रिधा पक्षवत्; पत्रखण्ड आयताकार से स्रुवाकार तक, क्षोदयुक्त होते हैं तथा उनका स्वाद तिक्त और गन्ध तीक्ष्ण होती है। **पुष्प**-पीतवर्ण, छोटे, मंजरियों में होते हैं। **फल**-गोलाकार खण्डों से युक्त, छोटे अन्तर्दल-दन्तुरधार या तरंगितधार होते हैं। होते हैं।

जाति और उत्पत्तिस्थान—यह पौधा भूमध्यसागरवर्ती क्षेत्रों में होता है। भारत में इसका प्रतिनिधि R. chalepensis Linn. है जो भारतीय उद्यानों में उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक ग्लुकोसाइड, रुटिन (Rutin), एक कुमारिनसदृश गंधयुक्त पदार्थ, तथा एक सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक, वेदनास्थापन, जन्तुघ्न और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह आक्षेपहर तथा अधिक मात्रा में मादक विष है।

पाचनसंस्थान—सुगन्धित तैल के कारण तथा तिक्तरस से यह दीपन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का संकोच तीव्र होता है तथा आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—यह तीक्ष्ण, उष्ण होने से स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातजन्य विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पक्षाघात आदि वातविकारों में इसकी पत्तियों को मद्य में पीस कर लेप करते हैं। शोथ में भी इसका लेप देते हैं। कर्णशूल तथा कर्णस्राव में इसका स्वरस कान में देते हैं। सर्प, विच्छू आदि के दंशस्थान पर भी लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आक्षेपक, अपस्मार तथा अपतन्त्रक रोगों में इसका प्रयोग करते हैं। विशेषतः स्त्रियों और बालकों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—आध्मान, अजीर्ण, उदरशूल तथा कृमिरोग में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय एवं कास में इसका स्वरस प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टप्रसव, रजोरोध एवं कष्टार्त्तव में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है। इससे मूत्र और स्वेद का निःसरण होता है तथा नाड़ी की गति भी ठीक होती है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग (विशेषतः पत्र)।

मात्रा—स्वरस-५-१० मि० लि०; चूर्ण-१-३ ग्रा०; फाण्ट-१०-२० मि० लि०; तैल १-५ बूंद।

× × × ×

सन्तापं कटूष्णं परं तिक्तयुक्तं तथैवोग्रगन्धि प्रभूताग्निकारि।
मदाक्षेपशूलक्रिमिघ्नं प्रयुक्तं रजःस्रावकं गर्भपातापकारि ॥ (स्व.)

W. I., IX, 94–95.

आर्त्तवजनन

२५७. उलटकम्बल

परिचय

कुल—पिशाचकार्पास-कुल (स्टर्कुलिएसी–Sterculiaceae)।

नाम—लै०-एब्रोमा ऑगस्टा (Abroma augusta Linn. f.) सं०-

पिशाचकार्पास, पीवरी; हि०-उलटकम्बल, बं०-ओलटकम्बल; अं०-डेविल्स कॉटन (Devil's cotton)।

स्वरूप—इसका रोमश गुल्म या छोटा वृक्ष लगभग १० फुट ऊँचा होता है। **कांडत्वक्** से रेशम के सदृश सूत्र निकलते हैं। **पत्र**-४-६ इञ्च लम्बे, ४-५ इञ्च चौड़े एवं दन्तुरधार होते हैं। ऊपर की पत्तियाँ कुछ छोटी एवं अखण्ड होती हैं। उपपत्र पत्रवृन्त के बराबर ½-१ इञ्च लम्बा होता है। **पुष्प**-गुच्छों में, बैंगनी रङ्ग के, अधोमुख, २ इञ्च व्यास के होते हैं। पुष्पदंड १½ इञ्च लम्बा, अक्षीय होता है। आभ्यन्तर दल ५ होते हैं। **फल**-पञ्चकोणीय तथा पुष्प के बाह्यदल ४ तथा पञ्चकोष्ठीय, १½ इञ्च लम्बा होता है जिसके भीतर मूली के जैसे कृष्णवर्ण अनेक बीज होते हैं। अगस्त-सितम्बर में पुष्प तथा अक्तूबर से जनवरी तक फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह बङ्गाल, खासिया पहाड़ तथा सिक्किम में प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—मूलत्वक् में निर्यास, अस्फटिकीय सत्त्व तथा ११ प्रतिशत भस्म होती है। मूल में स्थिर तैल, राल तथा अल्प प्रमाण में क्षाराभ होते हैं। इसमें मैगनीशियम भी होता है। जल में मिलाने पर प्रभूत पिच्छिल द्रव्य प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—इसकी विशिष्ट क्रिया गर्भाशय पर होती है। यह गर्भाशयबल्य, गर्भाशयोत्तेजक, आर्त्तवजनन तथा वेदनास्थापन है। इससे आर्त्तव साफ आता है, नियमित होता है तथा आर्त्तवकाल की पीड़ा शान्त होती है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव और अनियमित ऋतुस्राव में यह अतिशय लाभकर है। यह मासिक के तीन दिन पूर्व से दो दिन बाद तक दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—मूलत्वक्चूर्ण-१-३ ग्रा०; ताजा मूल-४-८ ग्रा०; मूलस्वरस-५-१० मि० लि०।

वक्तव्य—अन्य कल्पों की अपेक्षा स्वरस अधिक गुणकारी होता है, अतः उसी का प्रयोग यथासम्भव करना चाहिए।

× × × ×

'पीवरी योषिणी सा स्याद् योनिव्यपद्विनाशिनी।
रजोदोषप्रशमनी" (आ. वि.)

F. I., I, 375.
W. I., I, 2.

२५८. वंश

परिचय

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी–Graminae)।

नाम—लै०–बम्बुसा अरुण्डिनेसिया (Bambusa arundinacea Willd.) सं०–वंश, वेणु, त्वक्सार (दृढ़ त्वचा वाला); तृणध्वज (तृणों में श्रेष्ठ ऊँचा); शतपर्वा (अनेक पर्वों वाला); यवफल (यवाकार फल)। हि०–बांस; बं०–बाँश; केटुआ; म०–वांबू; गु०–वाँस; ता० मल०–मुङ्गिल; ते०–बोंगु-वेदुरु; आ०–कोटोहा, अ०–कसब; फा०–नै; अं०–थार्नी बम्बू (Thorny bamboo)।

नाम-वंशलोचन—सं०–वंशरोचना, हि०–वंशलोचन; गु०–वंशलोचन, वांस-कपूर; अ० फा०–तबाशीर; अं०–बम्बू मन्ना (Bamboo manna)।

स्वरूप—यह ४०–४५ फुट से १०० फीट तक होता है। दृढ़ मूलस्तम्भ से चमकीला हरा **काण्ड** ६–७ इञ्च व्यास का निकलता है और उसमें स्पष्ट अनेक पर्व होते हैं। पर्वों के बीच का भाग पोला लगभग १½ फीट तक लंबा होता है। **पत्र**–लगभग ८ इञ्च लंबे और १ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र होते हैं। प्राय ३० वर्ष की आयु में पुष्प और फल आते हैं। **पुष्पदण्ड**–लम्बा, शाखा-प्रशाखायुक्त होता है तथा पुष्प समूहबद्ध होते हैं। **फल**–यव के सदृश होते हैं जिन्हें 'वंशयव' कहते हैं। ग्रीष्म ऋतु में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ और प्रकार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः पश्चिमी और दक्षिण भारत में अधिक होता है। इसके अतिरिक्त श्रीलंका, वर्मा में प्रचुर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—स्त्रीजाति के बाँस में एक प्रकार का रस जम कर पोले भाग में सञ्चित हो जाता है उसे वंशलोचन कहते हैं। सम्प्रति कृत्रिम वंशलोचन बाजारों में आता है। प्राचीन काल से ही वंशलोचन असली मिलने में कठिनाई होने के कारण उसके प्रतिनिधिरूप में तवक्षीरी (तिखुर–Curcuma angustifolia Roxb.) का प्रयोग होने लगा था जो आगे चलकर 'तवक्षीरी' 'तुगाक्षीरी' आदि वंशलोचन के पर्यायों में मिल गया।

वंशलोचन में ९० प्रतिशत सिलिका, लौह का पेरॉक्साइड, पोटाश, चूना, अलुमिनियम, कार्बोहाइड्रेट, अनेक किण्वतत्त्व (Enzymes) तथा ग्लुकोसाइड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष, लघु, तीक्ष्ण
रस—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

बीज—स्निग्ध-पिच्छिल हैं।
पत्रांकुर और वंशयव उष्णवीर्य है।
वंशलोचन कषाय-मधुर, मधुरविपाक तथा शीतवीर्य है।

कर्म

दोषकर्म—वंशमूल कफपित्तशामक है। पत्राङ्कुर तथा फल पित्तवर्धक है। वंशलोचन वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—वंशमूल वर्ण्य और कुष्ठघ्न तथा पत्राङ्कुर शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—पत्राङ्कुर दीपन, पाचन, कृमिघ्न तथा विदाही है। फल कृमिघ्न है। वंशलोचन शामक, तृष्णानिग्रहण और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—वंशलोचन हृद्य और रक्तस्तम्भन तथा वंशमूल रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—वंशलोचन कफनिःसारक और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—पत्र आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—वंशमूल तथा वंशलोचन मूत्रल है। फल मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—वंशलोचन ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—वंशलोचन बल्य और बृंहण है। फल लेखन और विषघ्न है। मूल भी विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वंशमूल और फल का प्रयोग कफपित्तज विकारों में; वंशलोचन का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वंशमूल का लेप वर्णविकारों में करते हैं। इसको जला कर दद्रु, कुष्ठ, खालित्य आदि पर लेप करते हैं। पत्राङ्कुरों का व्रणशोथ और व्रणों पर लेप किया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण तथा कृमि रोग में पत्राङ्कुर का अन्य सुगन्धि द्रव्यों के साथ क्वाथ कर देते हैं। वंशलोचन वमन, अतिसार और तृष्णा रोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वंशलोचन हृद्रोग और रक्तपित्त में तथा मूल रक्तविकारों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—वंशलोचन कास, श्वास और यक्ष्मा में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में तथा प्रसवोत्तर गर्भाशयशोधन के लिए पत्रक्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में वंशमूल तथा वंशलोचन लाभकर हैं। प्रमेह रोग में वंशयव का भात रोगी को खिलाते हैं।

तापक्रम—वंशलोचन जीर्णज्वर तथा क्षयज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—सामान्य दौर्बल्य में वंशलोचन देते हैं। फल का प्रयोग मेदोरोग तथा विषों में करते हैं। मूल और अंकोठ का क्वाथ कुक्कुरविष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पत्राङ्कुर, फल, वंशलोचन।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; वंशलोचन-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—सितोपलादि चूर्ण, तालीशाद्य चूर्ण।

× × × ×

'वंशः सरो हिमः स्वादुः कषायो बस्तिशोधनः। छेदनः कफपित्तघ्नः कुष्ठास्रव्रणशोथजित्॥
तत्करीरः कटुः पाके रसे रूक्षो गुरुः सरः। कषायः कफहृत् स्वादुर्विदाही वातपित्तलः॥
तद्यवास्तु सरा रूक्षा कषायाः कटुपाकिनः। वातपित्तकरा उष्णा बद्धमूत्राः कफापहाः॥'
(भा. प्र.)

वंशजा बृंहणी वृष्या बल्या स्वाद्वी च शीतला। तृष्णाकासज्वरश्वासक्षयपित्तास्रकामलाः॥
हरेत् कुष्ठं व्रणं पाण्डुं कषाया वातकृच्छ्रजित्।' (भा. प्र.)

F. I., VI, 395.
W. I., I, 153-55.

२५९. शण

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

नाम—लै०-क्रॉटेलेरिया जन्सिया (Crotalaria juncea Linn); सं०-शण; हि०-सन; सनई; बं०-शण; म०-ताग; गु०-शण; ता०-सानल; ते० सनमु; कन्न०-सनबु; मल०-वुक्कुनर; अं०-सन (Sunn), सन हेम्प (Sunn hemp)।

स्वरूप—इसका वर्षायु झाड़ीदार **क्षुप** ४-१० फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-१-३ इंच लंबे, रोमश होते हैं। **पुष्प**-गुच्छबद्ध, बड़े, चमकीले, पीतवर्ण होते हैं। **शिम्बी**-लगभग १ इञ्च लंबी, रोमश होती है। प्रत्येक शिम्बी में १०-१५ बीज होते हैं। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल आते हैं। इसके सूत्रों से रस्सी आदि बनायी जाती है।

उत्पत्तिस्थान—प्रायः समस्त भारत में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में प्रचुर पिच्छिल द्रव्य, वसा तथा राख होती है।

गुण

गुण—स्निग्ध (पत्र); रूक्ष, तीक्ष्ण (बीज) **रस**—कषाय, अम्ल, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत (पत्र); उष्ण (बीज)

कर्म

दोषकर्म—बीज कफवातशामक तथा पत्र वातपित्तशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पत्रलेप दाहप्रशमन तथा त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—बीज दीपन, पाचन, अनुलोमन है। अतिमात्रा में वामक और विरेचन होते हैं।

रक्तवहसंस्थान—पत्र रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—बीज आर्त्तवजनन हैं।

त्वचा—पत्र त्वग्दोषहर है।

सात्मीकरण—बीज लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—बीज कफवातज रोगों में तथा पत्र वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह तथा चर्मरोगों में पत्तियों का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण एवं विबन्ध में बीजों का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में पत्र का फांट देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध में बीजों का चूर्ण प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोग में पत्र का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में बीजों का प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र, बीज।

मात्रा—पत्रस्वरस-१०-२० मि० लि०; बीजचूर्ण-३-६ ग्रा०।

× × × ×

'शणस्त्वम्लः कषायश्च मलगर्भास्रपातनः। वान्तिकृद् वातकफनुत् ज्ञेयस्तीव्राङ्गमर्दनुत्॥'
(रा. नि.)

W. I., II, 337-81.

आर्त्तवसंग्रहणीय

२६०. लोध्र

परिचय

गण—शोणितस्थापन, सन्धानीय, पुरीषसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); लोध्रादि, न्यग्रोधादि (सु०)।

कुल—लोध्र-कुल (सिम्प्लोकेसी-Symplocaceae)।

नाम—लै०-सिम्प्लोकस रेसिमोसा (Symplocos racemosa Roxb.) सं०-लोध्र, स्थूलवल्कल (मोटी छाल वाला); हि०-लोध्र; बं०-लोध्र; म०-लोध्र; गु०-लोधर; ता०-वेल्लि लेठि; ते०-लोधुग; कन्न०-पचेट्टु; मल०-पचोट्टि।

स्वरूप—इसका सदाहरित मध्यमप्रमाण **वृक्ष** होता है। **पत्र**-लंबे, गोलाकार या अण्डाकार-आयताकार, चर्मवत्, ३-५ इञ्च लंबे होते है। **पुष्पदण्ड**-२-४ इञ्च लंबे होते हैं जिन पर सुगन्धित पीताभ श्वेत पुष्प अक्षीय मञ्जरियों में लगते हैं। **फल**-½ इञ्च लंबा, कड़ा, चिकना, बैंगनी कृष्णवर्ण, १-३ बीजयुक्त होता है। छाल धूसर रक्तवर्ण होती है।

जाति—इसकी अनेक प्रजातियाँ यथा S. laurina Wall ex Rehd. & E. H., S. paniculata Miq., S. sumuntia Buch. Ham ex D. Don. आदि लोध्र के नाम पर चलती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तर तथा पूर्व भारत (दक्षिण में छोटा नागपुर तक) तथा मालावार में विशेष पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ये क्षाराभ होते हैं :—(१) लाटचुरिन (Loturine) ०·२४ प्रतिशत, (२) कॉलॉटचुरिन (Colloturine) ०·०२ प्रतिशत, (३) लॉटचुरिडिन (Loturidine) ०·०६ प्रतिशत। इनके अतिरिक्त, दो ग्लाइकोसाइड भी निकाले गये हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
वीर्य—कटु **विपाक**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कषाय और शीत होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, कुष्ठघ्न, रक्तस्तम्भन, व्रणरोपण और संकोचक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोषक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह गर्भाशय के शोथ और स्राव को शान्त करता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथ, चर्मरोग, रक्तस्राव, व्रण में लेप के रूप में देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप पलकों पर करते हैं। इससे पीड़ा और शोथ शान्त हो जाते हैं। कर्णस्राव में इसका अवचूर्णन कान में करते हैं तथा दन्तमंजनों में भी इसका प्रयोग होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन होने से अतिसार, रक्तातिसार तथा प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ रोगों में यह प्रयुक्त होता है। यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है जिससे रक्तस्राव बन्द होता है और शोथ शान्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथ, प्रदर (रक्त और श्वेत) में इसका प्रयोग होता है। इन रोगों में इसके क्वाथ की योनिबस्ति भी देते हैं। गर्भस्राव में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में यह उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—चूर्ण-१-३ माशे; क्वाथ-५-१० तोला।

विशिष्ट योग—लोध्रासव, लोध्रादि क्वाथ।

× × ×

'लोध्रो ग्राही लघुः शीतः चक्षुष्यः कफपित्तनुत्। कषायो रक्तपित्तासृग्ज्वरातीसारशोथहृत्॥'
(भा. प्र.)

W. I., X, 89-91.
F. I, III, 379.

२६१. अशोक

परिचय

गण—कषायस्कन्ध, वेदनास्थापन (च०), लोध्रादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—कण्टकीकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिआयडी–Caesalpinoidae)।

नाम—लै०–सराका अशोका (Saraca asoca (Roxb.) De Wilde); सं०–अशोक, हेमपुष्प (स्वर्णवर्ण पुष्प वाला), ताम्रपल्लव; हि०–म०–गु०–अशोक; बं०–अशोक; ता०–अशोघम्; ते०–अशोकमु।

स्वरूप—इसका सदाहरित **वृक्ष** आम के सदृश २५–३० फुट तक ऊँचा होता है। **पत्र**–प्रायः अवृन्त, गहरे हरे रंग के; **पत्रक**–३–६ जोड़े, आयताकार, या भालाकार, ३–६ इञ्च तक लंबे लौर २½ इञ्च तक चौड़े होते हैं। **पल्लव**–ताम्रवर्ण और कोमल, अवनत गुच्छों में बीच-बीच में निकलते रहते हैं। **पुष्प**–सघन गुच्छों में, सुगन्धि, चमकीले सुनहले रंग के रक्ताभ, ३–४ इञ्च व्यास के होते हैं जिनसे लाल रंग के पुंकेशर बाहर निकले रहते हैं। **शिम्बी**–४–१० इञ्च लम्बी, १½–२ इञ्च चौड़ी, चपटी होती हैं जिसमें ४–८, १½ इञ्च लम्बे, चपटे **बीज** होते हैं। वसन्त में पुष्प तथा शरद् में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—मध्य एवं पूर्वी हिमालय में होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में हीमैटॉक्सिलिन (Haematoxylin) टैनिन (६%), कैटेकाल, एक सुगंधित तैल, केटोस्टेरॉल, ग्लाइकोसाइड, सैपोनिन, कार्बनिक कैल्शियम तथा लौह के यौगिक पाये जाते हैं। मुख्य क्रिया स्टिरॉयड और कैल्शियम लवणों के कारण होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनास्थापन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन, कृमिघ्न और तृष्णाशामक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन, रक्तशोधक तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशय के शैथिल्य, पीड़ा तथा स्राव को दूर करता है। यह गर्भाशय को उत्तेजित करता है तथा उसके संकोच को बढ़ाता है जिससे उसकी क्रिया ठीक होने लगती है और रक्तस्राव भी रुक जाता है। गर्भाशय की अन्तःकला तथा बीजकोष (ovary) पर भी उत्तेजक प्रभाव होता है।

मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रल और अश्मरीनाशन है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पीड़ा तथा विष में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, कृमि तथा तृष्णा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है। पुष्पों का प्रयोग रक्तपित्त में करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, कष्टार्त्तव तथा गर्भाशयशैथिल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बीजों का चूर्ण मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में देते हैं।

तापक्रम—दाह में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज, पुष्प।

मात्रा—त्वक्-क्वाथ ५० मि०लि०; बीजचूर्ण ३–६ ग्रा०, पुष्पचूर्ण–३–६ ग्रा०।

वक्तव्य—क्षीरपाक के रूप में छाल का प्रयोग प्रदर में विशेष उपयोगी है।

विशिष्ट योग—अशोकारिष्ट, अशोकघृत।

× × ×

'अशोकः शीतलस्तिक्तो ग्राही वर्ण्यः कषायकः। शोषापचीतृषादाहकृमिशोथविषास्रजित्॥
(भा. प्र.)

'अशोकवल्कलक्वाथशृतं दुग्धं सुशीतलम्। यथाबलं पिबेत्प्रातस्तीव्रासृग्दरनाशनम्॥
(च. द.)

'अशोकस्य त्वचा रक्तप्रदरस्य विनाशिनी।' (शो०)

W. I., IX, 232–34.
F. I., II, 271.
B. B. O., II, 326.
Satyavati et al : J. R. I. M, 4 : 1 (1969)

२६२. पत्रांग

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—कण्टकीकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिऑयडी–Caesalpinoidae)।

नाम—लै०–सीजलपिनिया सैप्पन (Caesalpinia sappan Linn.); सं०–पत्रांग, पत्तंग, पट्टरञ्जक (इसकी लकड़ी के लाल रंग से कपड़े रंगे जाते हैं); हि०–पतंग, बकम; म० गु०–पतंग; ता०–पतुंगम्; ते०–वकमु; कन्न०–पत्तंग; मल०–सप्पन्नम्; फा०–बकम; अ०–बग्गम; अं०–सैप्पन (Sappan.)।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार छोटा वृक्ष होता है। काँटे छोटे और स्वल्प होते हैं। पत्र की मध्यसिरा ½–१ फुट लंबी होती है जिसमें २०–२४ पक्ष होते हैं। पत्रक सघन, अवृन्त, ½–¾ इञ्च लम्बे, आयताकार, तिर्यक्, संख्या में २०–३० होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-पत्र के बराबर लम्बी होती है। कोणपुष्पक-बड़े, भालाकार, जातच्युत होते हैं। पुंकेशर-कुछ बाहर निकले होते हैं, पुंकेशरसूत्र निचले अर्धभाग में सघन ऊर्णायुक्त होते हैं। **फली**-३–४ इञ्च लम्बी, १½ इञ्च चौड़ी, तिरछी आयताकार, काष्ठीय, चिकनी, ऊपर की ओर कठिन, मुड़े हुए चंचु से युक्त होती है। इसमें ३–४ बीज होते हैं। इसका सारभाग नारंगी–लाल रंग का होता है (अतः 'रक्तसार' भी इसका एक पर्याय है)।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण भारत, बंगाल, श्रीलंका, बर्मा तथा मलयेशिया में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसका रंजकद्रव्य ब्रेजिलिन (Brazilin) नामक होता है जो वायु के संपर्क से ब्रेजिलीन (Brazilien) में बदल जाता है। फलियों तथा काण्ड की त्वचा में प्रभूत टैनिन (४०%) होता है। पत्तियों में एक सुगंधित तैल ०·१६–०·२५% होता है।

गुण

गुण—रूक्ष
विपाक—कटु
रस—कषाय, तिक्त, मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष तथा मुख्यतः तिक्त–कषाय होने के कारण कफपित्त-शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका बाह्य प्रयोग व्रणरोपण, रक्तस्तम्भन तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कशामक तथा आक्षेपहर है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितस्थापन है।

प्रजननसंस्थान—योनिगत स्राव को रोकता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—पत्रांग का प्रयोग विशेषतः कफपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणों तथा चर्मरोगों में इसका लेप लगाते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए इसका चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार में लाभकर है।

नाडीसंस्थान—यह उन्माद, अपस्मार आदि विकारों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—इसका विशेष प्रयोग अनेक योनिव्यापदों में विशेषतः रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में करते हैं। इन रोगों में क्वाथ, अरिष्ट पिलाने के साथ-साथ उसके क्वाथ की उत्तरबस्ति भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में प्रयुक्त होता है। इससे मूत्र की मात्रा कम होती है।

त्वचा—कुष्ठरोग में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—सार।

मात्रा—क्वाथ-५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—पत्रांगासव।

वक्तव्य—धन्वन्तरि तथा राजनिघण्टु ने इसका वर्णन 'कुचन्दन' नाम से किया है।

× × ×

कुचन्दनं तु तिक्तं स्यात् सुगन्धि व्रणरोपणम्। (ध. नि.)
वातपित्तज्वरघ्नं च विस्फोटोन्मादभूतहृत्। (रा. नि.)
पतंगं मधुरं शीतं पित्तश्लेष्मव्रणास्रनुत्। हरिचन्दनवद् वेद्यं विशेषाद् दाहनाशनम्॥
(भा. प्र.)

F. I., II, 255.
W. I., II, 5.

स्तन्यजनन

२६३. नल

परिचय

गण—तृणपंचमूल (सु०)

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी–Gramineae)।

नाम—लै०-अरुण्डो डोनेक्स (Arundo donax Linn.); सं०-नल, पोटगल, शून्यमध्य (पोला होने से), धमन (इसके पोले काण्ड की नलिकायें बनाते हैं); हि०-नरकट; बं०-नल; म-नल, गु०-नाली; अं०-ग्रेट रीड (Great reed).

स्वरूप—इसका पौधा ६–१२ फुट ऊँचा होता है तथा काण्ड पतला ईख के सदृश होता है। **काण्ड**-पर्व पीताभ तथा पर्वान्तर भाग खोखला होता है। **पत्र-**

बांस के सदृश १–२ फुट लंबे, १–२ इंच चौड़े, मूल भाग पर काण्डसंसक्त तथा जिह्विका पर लंबे बालों से युक्त होते हैं। **पुष्पदण्ड**–१–२ फुट लम्बा, धूसरवर्ण होता है। बीज आयताकार होते हैं। भौमिक काण्डों द्वारा इस पौधे की वृद्धि होती है और शीघ्र बढ़कर यह झाड़दार हो जाता है। इसके पर्वान्तर के खोखले भाग से हुक्के तथा वाद्ययंत्र की नलिकायें बनाई जाती हैं।

जाति—इसी कुल का एक पौधा फ्रैगमाइटिस कर्का (Phragmites karka Trin. Ex. Steud) है। इसका पौधा बड़ा १०–२० फीट ऊँचा होता है तथा इसके पर्व छोटे होते हैं। निघण्टुओं में नल तथा महानल (या देवनल) ये दो जातियाँ कही गई हैं। इन्हीं दो पौधों में से एक को नल और दूसरे को महानल लेना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय के निचले भाग में कश्मीर से आसाम और नेपाल तक ८ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा दक्षिण भारत में नीलगिरि और कुर्ग में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें दो क्षाराभ–ग्रामिन (डोनाक्सिन) Gramine (Donaxine) तथा डोनाक्सेरिन (Donaxerine) पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, कषाय, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। स्निग्ध होने से वात, मधुर-शीत होने से पित्त तथा कषाय–तिक्त होने से कफ का शामक है। विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप दाहप्रशमन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक तथा रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थन—स्तन्यजनन तथा रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज, विशेषतः वातपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—विसर्प तथा अन्य चर्मरोगों में इसक लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा अन्य रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्ध्यर्थ इसके मूल का क्वाथ देते हैं। शुक्रदौर्बल्य में भी लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—बस्तिशोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि. लि.

विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ, पंचतृणक्षीर।

× × ×

'वंशपत्रो मृदुच्छदः। छिद्रांत्रो नर्तको रन्ध्री सूक्ष्मपुष्पो विभीषणः॥'
'नलस्तु मधुरस्तिक्तः कषायः कफरक्तजित्।' (भा. प्र.)
'नलः शीतः कषायश्च पित्तमूत्रविनाशनः।' (ध. नि.)
'देवनलोऽतिमधुरो वृष्य ईषत् कषायकः। नलः स्यादधिको वीर्ये शस्यते रसकर्मणि॥'
(रा. नि.)

W. I., I, 127; VIII, 33.
B. B. O., iii, 998.

२६४. रोहिष

परिचय

गण—स्तन्यजनन।

कुल—यव–कुल (ग्रामिनी–Gramineae)।

नाम—लॅ०साइम्बोपोगन मार्टिनि (Cymbopogon martini (Roxb.) Wats; सं०–रोहिष; हि०–रूसा घास, मिरचागंध; बं०–अगियाघास; म०–रोहिष गवत; गु०–रोंसडो; अं०–रूसा ग्रास (Rusa grass)।

स्वरूप—इसका सुगन्धित बहुवर्षायु **क्षुप** ५–८ फुट ऊँचा होता है। **कांड**–चिकना, पत्रयुक्त, प्रायः पाण्डुवर्ण होता है। **पत्र**–अग्र की ओर क्रमशः पतले, ८–९ इञ्च लंबे, ½–१ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र होते हैं। पत्तियों से गुलाब के समान सुगन्ध आती है। **पुष्पमंजरी**–पत्रकोप से आवृत होती है। अक्टूबर से दिसंबर तक इसमें पुष्प–फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः शुष्क प्रदेशों में, पंजाब, राजस्थान, उत्तरप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, दक्षिण भारत में होता है।

जाति—व्यवहार में इसके दो प्रकार माने जाते हैं—१. मोतिया २. सोफिया। यद्यपि इसमें वानस्पतिक भेद नहीं होता तथापि इनकी प्रकृति में अन्तर पाया जाता है। मोतिया कुछ दूर-दूर पर होता है जबकि सोफिया समूहबद्ध होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी पत्तियों में एक सुगन्धि तैल (१·४ प्रतिशत) होता है। फूल और डंठल में भी यह होता है। इन सबसे ऊर्ध्वपातन द्वारा तैल निकाला जाता है। मोतिया घास से निकाला तैल पामारोजा ऑयल (Palmarosa oil) या रूसा आयल (Rusa oil) या ईस्ट इण्डियन जिरेनियम आयल (East Indian geranium oil) कहलाता है तथा सोफिया घास से निकला तैल जिंजर ग्रास ऑयल (ginger grass oil) कहलाता है। रोहिषतैल का मुख्य घटक जिरेनिआल (Geraniol) ८०-९५ प्रतिशत है। यह तैल सुगन्ध द्रव्यों में उपयुक्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण | **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप रक्तोत्क्लेशक तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—आमवात, चर्मरोग तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, अजीर्ण, विसूचिका, शूल तथा कृमि में यह प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा वातरक्त आदि रक्तविकारों में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और प्रतिश्याय में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्ध्यर्थ यह प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में देते हैं।

त्वचा—त्वग्दोषों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—कांड, पत्र, पुष्प, तैल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, तैल-१-३ बूंद।

× × × ×

'रोहिषं तुवरं तिक्तं कटुपाकं व्यपोहति। हृत्कण्ठुव्याधिवातास्रशूलकासककज्वरान् ॥' (भा. प्र.)

W. I., II, 416-18.
B. B O., III, 1093-95.

स्तन्यसंग्रहणीय

२६५. मल्लिका

परिचय

कुल—पारिजात-कुल-(ओलिएसी-Oleaceae)।

नाम—लै०-जैस्मिनम् सैम्बक (Jasminum sambac Linn.); सं०-मल्लिका, शीतभीरु (शीतकाल में नष्ट हो जाने से); हि०-बेला, मोगरा, मोतिया; बं०-मोतिया, मोगरा; म०-मोगरा; गु०-मोगरो; ता०-गुण्डुमल्लि; ते०-गुण्डुमल्ले; कन्न०-कोलुमल्लिगे; मल०-नल्लमुल्ल; अं०-अरेबियन जैस्मिन (Arabian jasmine)।

स्वरूप—इसका क्षुप २-४ फुट ऊँचा झाड़ीदार होता है। शाखायें रोमश और **पत्र**-प्रायः लट्वाकार या अंडाकार, दृढ पार्श्विक सिराओं से युक्त, अभिमुख क्रम से निकलते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, सुगन्धि, एकल या तीन-तीन एक साथ निकलते हैं। बाह्यकोष-५-५ दाँतयुक्त, अन्तर्दल-प्रायः आयताकार, तीक्ष्णाग्र या लंबाग्र। **फल**-½ इञ्च लम्बा होता है जिसमें १-२ कृष्णवर्ण बीज होते हैं।

जाति—इसके चार प्रकार होते हैं:—(१) मोतिया बेला-युग्म पुष्प, अर्न्तदल गोल (२) बेला-युग्मपुष्प, अर्न्तदल लंबे (३) हजारा बेला-एकल पुष्प; (४) मुंगरा-गोल अर्न्तदल अनेक चक्रों में व्यवस्थित।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में प्रायः सर्वत्र उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों का पेट्रोलियम ईथर में सत्त्वपातन करने से कंक्रीट ०·४३% तथा ऐबसोलुट २६·३९% निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष | **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—पुष्प-शोथहर, स्तन्यसंग्रहणीय तथा पत्र-व्रणरोपण और कुष्ठघ्न है।

पाचनसंस्थान—पत्र ग्राही है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—मूल रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—मूल गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है। वृष्य भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग त्रिदोषज विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—स्तनशोथ पर पुष्पों का कल्क बांधते हैं और ४-४ घंटे पर बदलते हैं। इससे स्तन्य कम होता है, शोथ तथा पूय की क्रिया बन्द होती है। पत्र का लेप व्रणों में तथा चर्मरोगों में करते हैं। मुखपाक में पत्रक्वाथ से गंडूष करते हैं। नेत्ररोगों में पुष्प एवं पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—३-४ कोमल पत्तियों को पीस मिश्री मिला कर रक्तज प्रवाहिका में पिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—मूल रक्तविकारों में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में मूल का क्वाथ देते हैं। ध्वजभंग में भी मूल का क्वाथ देते हैं और पुष्पों का कल्क बस्तिप्रदेश पर रखते हैं। पुष्पों की मनोहर गन्ध से भी कामशक्ति जाग्रत होती है, अतः इसका माल्य धारण करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र, पुष्प।

मात्रा—क्वाथ ५०-१०० मि. लि.

× × ×

'मल्लिकोष्णा लघुर्वृष्या तिक्ता च कटुका हरेत्। वातपित्तास्यदृग्व्याधिकुष्ठारुचिविषव्रणान्॥'
(भा. प्र.)

'मालतीमल्लिके तिक्ते सौरभ्यात् पित्तनाशने।' (सु. सू. ४६)

W. I., V, 289-90.

स्तन्यशोधन

२६६. पाठा

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, ज्वरहर, संधानीय (च०); आरग्वधादि, पिप्पल्यादि, बृहत्यादि, पटोलादि, अम्बष्ठादि, मुस्तादि (सु०)।

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी-Menispermaceae)।

नाम—लै०-सिसेम्पेलस परेरा (Cissampelos pareira Linn); सं०-पाठा, अम्बष्ठा, वरतिक्ता, अविद्धकर्णी, पीलुफला, हि०-पाढ़, पाढ़ी; बं०-आकनादि; म०-पाडवेल; गु०-वेनीवेल; ता०-अप्पाट्टा; ते०-पाडा; कन्न०-पाडवलि; मल०-कट्टुवल्लि।

स्वरूप—इसकी वृक्षों के सहारे चढ़ने वाली या जमीन पर फैलने वाली लता होती है। **पत्र**-एकान्तर, वृत्ताकार या लट्वाकार, सूक्ष्मरोमशाग्र, १-४ इञ्च लंबे होते हैं। पत्रवृन्त लगभग १-३ इंच लंबा होता है। मुख्य पत्रसिरायें-५-७ होती हैं। पत्र एवं शाखायें मृदु श्वेत रोमों से आवृत होती है। **पुष्प**-एकलिंगी, पीताभ श्वेत होते हैं। पुंपुष्प सघन मंजरियों में प्रायः दलवत् कोणपुष्पकों के कक्ष से निकलते हैं। स्त्रीपुष्पमंजरी प्रायः ६ इंच लम्बी होती है जिसमें कोणपुष्पक ·५-·७ इञ्च व्यास के होते हैं। **फल**-मटर के सदृश, रक्तवर्ण या नारंगी रंग के होते हैं। **बीज**-वक्राकृति होते हैं। पुष्प जून-नवम्बर तथा फल उसके बाद आते हैं। इसका भौमिक काण्ड एवं मूल लंबा, कोमल, प्रायः शाखायुक्त, लगभग ½ इञ्च व्यास का, बाहर की ओर हलका भूरा, भीतर की ओर पीताभ भूरा, लंबाई में दरारों तथा अनुप्रस्थ दिशा में संकोचों से युक्त होता है। स्वाद में तिक्त होता है।

जाति—इसकी एक और जाति होती है जिसे राजपाठा कहते हैं। इसका लैटिन नाम-साइक्लिया आर्नोटी (Cyclea arnotii Miers) है। स्टिफेनिया ग्लैब्रा (Stephania glabra Miers), स्टिफैनिया जैपोनिका (Stephania japonica Miers) नामक पौधे भी राजपाठा के नाम पर लिये जाते हैं। राजपाठा की पत्तियाँ बड़ी होती हैं तथा कन्द भी बड़ा होता है। S. japonica के दो प्रकार भारत में पाये जाते हैं :—(१) Var. japonica-यह दक्षिण भारत में पाया जाता है। (२) Var. discolor-यह आसाम, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा तथा उत्तरी आन्ध्रप्रदेश में पाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत और श्रीलंका में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—मूल में पेलोसिन या बेबीरिन (pelosine or Bebeerine) नामक तत्त्व ·५ प्रतिशत पाया जाता है। इसके अतिरिक्त, सैपोनिन भी होता है। C. arnottii में साइक्लीन (Cyclein) नामक तिक्त क्षाराभ होता है। S. japonica में अनेक क्षाराभ पाये गये हैं।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण | **रस**—तिक्त
विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषशामक विशेषतः कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण, विषघ्न और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—विषघ्न और बल्य है।

उत्सर्ग—मूत्रमार्ग से यह बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में विशेषतः कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दुष्टव्रण, नाडीव्रण, कण्डू, कुष्ठ तथा सर्पदंश में इसके पत्र और मूल का लेप करते हैं। अधकपारी में पाठामूल के स्वरस या चूर्ण का नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, अतिसार और प्रवाहिका में यह अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, हृद्रोग और शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यदोषों के निवारणार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में उपयोगी है।

तापक्रम—शीतज्वर तथा ज्वरातिसार में देते हैं। दाह की शान्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, भौमिक काण्ड।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, चूर्ण-१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—षड्धरण योग (सु०)

× × ×

'पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः। हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः।
दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्।' (भा. प्र.)

'पाठा तिक्तरसा बल्या विषघ्नी कुष्ठकण्डुनुत्। छर्दिहृद्रोगज्वरजित्त्रिदोषशमनी परा॥
पाठातिसारशूलघ्नी कफपित्तज्वरापहा।' (ध. नि.)

'पाठा······शाकं······विषाद् ग्राहि त्रिदोषघ्नम्।' (च. सू. २७)

W. I., II, 183; 410; X, 42–43,

B. B. O., ii, 17.

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण, विषघ्न और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—विषघ्न और बल्य है।

उत्सर्ग—मूत्रमार्ग से यह बाहर निकलता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में विशेषतः कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दुष्टव्रण, नाडीव्रण, कण्डू, कुष्ठ तथा सर्पदंश में इसके पत्र और मूल का लेप करते हैं। अधकपारी में पाठामूल के स्वरस या चूर्ण का नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, उदरशूल, अतिसार और प्रवाहिका में यह अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, हृद्रोग और शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यदोषों के निवारणार्थ इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—वस्तिशोथ तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में उपयोगी है।

तापक्रम—शीतज्वर तथा ज्वरातिसार में देते हैं। दाह की शान्ति के लिए भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—कटु पौष्टिक के रूप में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, भौमिक काण्ड।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, चूर्ण-१-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—षड्धरण योग (सु०)

× × ×

'पाठोष्णा कटुका तीक्ष्णा वातश्लेष्महरी लघुः। हन्ति शूलज्वरच्छर्दिकुष्ठातीसारहृद्रुजः।
दाहकण्डूविषश्वासकृमिगुल्मगरव्रणान्।' (भा. प्र.)

'पाठा तिक्तरसा वश्या विषघ्नी कुष्ठकण्डुनुत्। छर्दिहृद्रोगज्वरजित्त्रिदोषशमनी परा॥
पाठातिसारशूलघ्नी कफपित्तज्वरापहा।' (ध. नि.)

'पाठा······शाकं······विद्याद् ग्राहि त्रिदोषघ्नम्।' (च. सू. २७)

W. I., II, 183; 410; X, 42–43,

B. B. O., ii, 17.

अष्टम अध्याय

मूत्रलादि वर्ग

(मूत्रवह संस्थान पर कर्म करने वाले द्रव्य)

मूत्रविरेचनीय

२६७. पुनर्नवा

परिचय

गण—वयःस्थापन, कासहर, स्वेदोपग, अनुवासनोपग (च०), विदारिगंधादि (सु०)।

कुल—पुनर्नवा-कुल (निक्टेजिनेसी–Nyctaginaceae)।

नाम—लै०-बोर्हेविया डिफ्युजा (Boerhavia diffusa Linn.); सं०-पुनर्नवा (पुनः पुनर्नवा भवति–जो फिर से प्रतिवर्ष नवीन हो जाय; शरीरं पुनर्नवं करोति–जो रसायन एवं रक्तवर्धक होने से शरीर को पुनः नया बना दे), शोथघ्नी (शोथनाशक); हि०-गदहपुरना, गदहबिण्डो; बं०-पुनर्नवा, गदापुण्या; पं०-इटसिट; म०-घेटुली; गु०-साटोडी, बसेडो; ता०-सुकुएट्टि; ते०-आतातासामिदि; अ०-हन्दकूकी; अं०-स्प्रेडिंग हॉगवीड (Spreading hogweed)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु प्रसरणशील क्षुप २-३ फुट लम्बा होता है। वर्षा में इसके नये पौधे निकलते हैं और ग्रीष्म में सूख जाते हैं। **पत्र**–१-१½ इञ्च लम्बे, गोल या अण्डाकार, मांसल, मृदुरोमश, अभिमुख क्रम से होते हैं। **पुष्प**–सूक्ष्म, गुलाबी या श्वेत, प्रायः अवृन्त, छोटे मुण्डकों में होते हैं। परिपुष्प घण्टिकाकार, पुंकेशर–२-३; फल ·१२ इञ्च लम्बे, मुद्गरवत्, पंचरेखीय, ग्रंथियुक्त होते हैं। **मूल**–स्थूल, दृढ़ और श्वेत होता है। वर्षाकाल में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—निघण्टुओं में यह दो प्रकार की कही गई है—१. श्वेत २. रक्त। राजनिघण्टु ने एक नील जाति का भी उल्लेख किया है। वानस्पतिक दृष्टि से इसकी एक और प्रजाति B. repanda Willd है जिसका मूल भंगुर, शाखायें छः फीट तक लम्बी तथा पत्ते त्रिकोण–लट्वाकार होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में उत्पन्न होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें पुनर्नवीन (Punarnavine) नामक एक किञ्चित् तिक्त क्षाराभ (०·०४ प्रतिशत), पोटाशियम नाइट्रेट ०·५२ प्रतिशत पाये जाते हैं। भस्म में सलफेट, क्लोरायड, नाइट्रेट और क्लोरेट पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—मधुर, तिक्त, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। मधुर-तिक्त-कषाय होने से पित्त का तथा उष्ण होने से कफ-वात का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, रेचन है। बड़ी मात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तवर्धक और शोथहर है। इससे हृदय की क्रिया तीव्र होती है तथा रक्तभार बढ़ता है।

श्वसनसंस्थान—कासहर है।

प्रजननसंस्थान—इसके बीज वृष्य हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है। रक्तभार बढ़ने से मूत्रनिर्माण अधिक होता है।

त्वचा—स्वेदजनन है। कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथरोग में पुनर्नवा से स्वेदन, उपनाह, लेप या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। नेत्ररोगों में इसका स्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदररोग तथा विबन्ध में पुनर्नवा पिलाते हैं। वमन के लिए ६ ग्रा० की मात्रा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, पांडु और शोथ के लिए यह अतीव उपयोगी है। शोथ में इसके पत्र का शाक भी खिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और उरःक्षत में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर में रक्तपुनर्नवा का मूलस्वरस तथा वाजीकरणार्थ बीजों का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः चतुर्थक में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। सर्प, मूषिक आदि विषों में पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज, पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस—५-१० मि० लि०, बीजचूर्ण—१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—पुनर्नवाष्टक, पुनर्नवासव, पुनर्नवाम्बु, पुनर्नवादिमंडूर।

× × ×

'कटुः कषायानुरसा पाण्डुघ्नी दीपनी परा। शोफानिलगरश्लेष्महरी ब्रध्नोदरप्रणुत्॥'

(भा. प्र.)

'पुनर्नवा भवेदुष्णा तिक्ता रूक्षा कफापहा। सशोथपांडुहृद्रोगकासोरःक्षतशूलनुत्॥'

(ध. नि.)

'उष्णानि स्वादुतिक्तानि वातप्रशमनानि च। तेषु पौनर्नवं शाकं विशेषाच्छोथनाशनम्॥'

(सु. सू. ४६)

'पुनर्नवस्यार्धपलं नवस्य पिष्टं पिबेद्यः पयसार्धमासम्।
मासद्वयं तत्त्रिगुणं समां वा जीर्णोऽपि भूयः स पुनर्नवः स्यात्॥'

(अ. हृ., उ. ३९।१५५)

W. I., I, 199.
F. I., IV, 709.
B. B. O. II, 795.
R. H. Singh : Ph. D. Thesis (B H. U.), 1969.

२६८. गोक्षुर

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, शोथहर, कृमिघ्न, अनुवासनोपग (च०); विदारिगन्धादि, वीरतर्वादि, लघुपञ्चमूल, कण्टकपञ्चमूल, वाताश्मरीभेदन (सु०)।

कुल—गोक्षुर-कुल (जाइगोफिलेसी-Zygophyllaceae)।

नाम—लै०-ट्रिबुलस टिरेस्ट्रिस (Tribulus terrestris Linn.); सं०-गोक्षुर (छुरे की तरह तेज कांटे खेतों में चरने वाले पशुओं के पैर में गड़ते हैं और क्षत करते हैं); श्वदंष्ट्रा (कुत्ते की दंष्ट्रा–canine teeth के सदृश तीक्ष्ण कंटक युक्त); स्वादुकंटक (मधुर कंटक वाला); त्रिकंटक (तीन कांटों वाला); वनशृङ्गाट (वनों में होने वाला सिंघाड़े की आकृति का फल); चणद्रुम (चने के सदृश पत्रयुक्त); इक्षुगन्धिका (ईख के समान मधुर गंध वाला); हि०-गोखरू, छोटा गोखरू; बं०-गोखरी, गोक्षुर; म०-सराटे, कांटेगोखरू; गु०-न्हाना गोखरू; पं०-भखड़ा; ता० मल०-नेरुनजि; ते०-पाल्लेरुमुल्लु; कन्न०-सन्ना नेग्गुलु; फा०-खोरखसक; अ०-हसक; अं०-लैंड कैल्ट्राप्स (Land caltrops); पंक्चर वाइन (Puncture vine)।

स्वरूप—यह जमीन पर फैलने वाला **क्षुप** है। २-३ फुट लम्बी इसकी **शाखायें** चारों ओर फैली रहती हैं। **पत्र**—चने के पत्तों की तरह, समपक्षवत्, पत्रक ५-८ जोड़े, विषमाकार होते हैं। **पुष्प**—छोटे, पीतवर्ण, पत्तियों के अभिमुख होते हैं। **फल**—गोलाकार, ५-१२ काष्ठीय खण्डयुक्त; प्रत्येक खण्ड में २ जोड़े तीक्ष्ण कांटे होते हैं जिनमें एक जोड़ा कुछ लम्बा होता है। प्रत्येक खण्ड में **बीज** होते हैं। बीजों में एक सुगन्धित तैल होता है। **मूल**—४-५ इञ्च लम्बा, धूसरवर्ण, सूत्रमय तथा ईषत् सुगन्धि होता है। शरद् ऋतु में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

जाति—एक और बृहत् गोक्षुर (बड़ा गोखरू) तिलकुल (पिडैलिएसी-Pedaliaceae) का क्षुप है, इसका लैटिन नाम है—पिडैलियम म्युरेक्स (Pedalium murex Linn.)। इसके फल गोखरू से बड़े होते हैं। यह समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों में होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—फल में क्षाराभ, ३·५-५ प्रतिशत स्थिर तैल, सुगन्धित तैल, राल, टैनिन, किंचित् ग्लाइकोसाइड, स्टिरोल तथा नाइट्रेट होते हैं। क्षुप में हर्मन (Harman) तथा बीजों में हर्मिन (Harmine) नामक क्षाराभ तथा कुछ सैपोनिन होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध　　**रस**—मधुर
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—यह आमाशय के लिए बल्य, अनुलोमन तथा अधिक मात्रा में सारक है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन तथा वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीनाशन तथा मूत्रल है। पर्याप्त प्रमाण में स्थित पोटाशियम लवण तथा क्षाराभ के कारण मूत्रल क्रिया होती है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, वेदनायुक्त विकार, वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निदौर्बल्य, अर्श तथा विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भपात, योनिव्यापत् तथा क्लैब्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र तथा बस्तिशोथ में दिया जाता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल, मूल।

वक्तव्य—चूर्ण के लिए फल तथा क्वाथ के लिए मूल लेते हैं। दशमूल में मूल का ही ग्रहण करना चाहिए।

मात्रा—फलचूर्ण ३–६ ग्रा०, क्वाथ ५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—गोक्षुरादि चूर्ण, गोक्षुराद्यवलेह, गोक्षुरादि गुग्गुलु, गोक्षुरादि क्वाथ, दशमूलारिष्ट।

× × ×

'गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्वस्तिशोधनः। मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः॥ प्रमेहश्वासकासार्शःकृच्छ्रहृद्रोगवातनुत्।' (भा. प्र.)

'गोक्षुरको मूत्रकृच्छ्रानिलहराणाम्।' (च. सू. २४)

'त्रिकण्टकस्य बीजानां चूर्णं माक्षिकसंयुतम्। अविक्षीरेण सप्ताहमश्मरीभेदनं पिबेत्॥' (सु. चि. ७)

'चूर्णं श्वदंष्ट्राफलवाजिगन्धाविनिर्मितं माक्षिकसंप्रयुक्तम्। क्षीरेण सार्धं परिपीयमानं शोथं च कासं च निहन्ति पुंसाम्।' (रा. मा.)

W. I., X, 283–4.

B. B. O., I, 159.

२६९. कुश

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, स्तन्यजनन, मधुरस्कन्ध (च०), तृणपंचमूल (सु०)

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी–Gramineae)।

नाम—लै०–डेस्मोस्टैशिया बाइपिन्नाटा (Desmostachya bipinnata Stapf.); सं०–कुश (कौ गम्भीरं शेते–भूमि में गहराई तक इसकी जड़ जाती है); सूच्यग्र (पत्राग्र सूचीमुख के सदृश तीक्ष्ण); यज्ञभूषण (यज्ञ में बहुशः प्रयुक्त होने वाला)। हि०–कुश।

स्वरूप—यह १–३ फीट ऊँचा, दृढ बहुवर्षायु **क्षुप** होता है। **मूल** दृढ और गहराई तक होता है। मूलस्तम्भ से लगभग १८ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े, अग्रभाग पर सुई के सदृश तीक्ष्ण पत्र निकलते हैं। पत्रधार पर सूक्ष्म, दृढ रोम होते हैं जिनके कारण यह तीक्ष्ण होता है। **पुष्पदण्ड**–६–१८ इञ्च लम्बा, सीधा होता है। **बीज**–⅛ इञ्च लम्बे, अण्डाकार, चपटे होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीत ऋतु में फल लगते हैं।

जाति—कुशद्वय या दर्भद्वय में कुश और दर्भ आते हैं। अनेक निघण्टुकारों ने कुश और दर्भ को पर्यायवाची माना है किन्तु संहिताओं में स्पष्टतः इनका पृथक् उल्लेख है। वस्तुतः ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। दर्भ इम्परेटा सिलिण्ड्रिका (Imperata cylindrica Beauv. है। इसे दाभ या उलू कहते हैं। इसके मूल से अनेक उपमूल निकल कर चारों ओर फैले रहते हैं और मिट्टी को बाँधते हैं (दृभ्नाति ग्रथ्नाति भूमिम् इति दर्भः)।

उत्पत्तिस्थान—यह खुले मैदानों में भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न है। स्निग्धता के कारण वात का, माधुर्य और शैत्य के कारण पित्त का तथा कषाय के कारण कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—स्तम्भन, तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन एवं मूत्रल हैं।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—रक्तातीसार, प्रवाहिका एवं तृष्णा में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा स्तन्यक्षय में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, अश्मरी तथा बस्तिशूल में दिया जाता है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—दाह में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि० लि० ।

विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ, कुशावलेह, कुशाद्य घृत ।

× × × ×

'दर्भद्वयं त्रिदोषघ्नं मधुरं तुवरं हिमम् । मूत्रकृच्छ्राश्मरीतृष्णाबस्तिरुक्प्रदरास्रजित् ॥'

(भा. प्र.)

'दर्भः स्निग्धो हिमः स्वादुः कषायः कफपित्तहा ।
विसर्पदाहकृच्छ्राश्मतृष्णाबस्तिविकारनुत् ॥'

(कै. नि.)

'कुशमूलं समुद्धृत्य पेषयेत्तण्डुलाम्बुना । एतत् पीत्वा त्र्यहाच्चारी प्रदरात् परिमुच्यते ॥'

(वृन्द)

K. C. Chunekar : Ph. D. Thesis (B. H. U.), 1975.

२७०. काश

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय, स्तन्यजनन (च०), तृणपंचमूल (सु०) ।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Gramineae) ।

नाम—लै०-सैकरम स्पॉन्टेनियम (Saccharum spontaneum Linn.) । सं०-काश, श्वेतचामर, (चामरवत् श्वेतपुष्प होने से) । हि०-कास; बं०-केशे; म०-कसई; गु०-कांसड़ो; अं०-थैच ग्रास (Thatch-grass) ।

स्वरूप—यह ५–७ फुट (कभी कभी १५–२० फीट तक भी) लम्बा होता है । **काण्ड** ठोस होता है । **पत्र**-पतले होते हैं और उनका किनारा मुड़ा होता है । **पुष्पदण्ड**-१–२ फुट लम्बा होता है जिस पर श्वेतवर्ण, मृदु पुष्प गुच्छों में होते हैं । शरद् ऋतु में पुष्प और शीत ऋतु में फल होते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह ५ हजार फीट की ऊँचाई तक भारत में प्रायः सर्वत्र पाया जाता है ।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरेचनीय तथा अश्मरीभेदन है ।

तापक्रम—दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—बल्य है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त उरःक्षत आदि में प्रयुक्त होता है ।

पाचनसंस्थान—पैत्तिक अजीर्ण, रक्तातीसार तथा रक्तार्श में देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यवृद्ध्यर्थ तथा रक्तप्रदर में देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा अश्मरी में देते हैं ।

तापक्रम—दाह में प्रयुक्त होता है ।

सात्मीकरण—क्षयरोग में उपयोगी है ।

प्रयोज्य अंग—मूल ।

मात्रा—क्वाथ-५०–१०० मि० लि० ।

विशिष्ट योग—तृणपञ्चमूल क्वाथ, कुशावलेह, कुशाद्य घृत ।

× × × ×

'काशः स्यान्मधुरस्तिक्तः स्वादुपाको हिमः सरः ।
मूत्रकृच्छ्राश्मदाहास्रक्षतपित्तास्रिरोगजित् ॥' (भा० प्र०)

२७१. शर

परिचय

गण—तृणपञ्चमूल (सु०) ।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Gramineae) ।

नाम—लै०-सैकरम मुञ्ज (Saccharum munja Roxb.); सं०-शर, बाण, मुञ्ज; हि०-सरपत, मूंज, कण्डा; बं०-शर; पं०-काना; म०-तिरकांडे; गु०-तीरकांस ।

स्वरूप—नदियों के किनारे होने वाला यह एक बहुवर्षायु **क्षुप** है । यह देखने में ईख के समान होता है । **काण्ड**-१०–१२ फुट ऊँचा, ग्रंथियुक्त होता है । ग्रंथियों के बीच के पर्व लम्बे और पतले होते हैं । **पत्ती**-पतली, चपटी, ३-५ फुट लम्बी; २-३ इञ्च चौडी, तीक्ष्णाग्र होती है । **पुष्प**-गुच्छों में तथा पुष्पदण्ड १-२ फुट लम्बा होता है । शरद् ऋतु में पुष्प आते हैं । काण्ड, पत्र एवं पत्रकोष से निकाले हुए सूत्रों से रस्सी बनाते हैं ।

जाति—इसकी बड़ी जाति को भद्रमुञ्ज कहते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है ।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—त्रिदोषहर है। स्निग्ध होने से वात, शीत होने से पित्त तथा कषाय होने से कफ का शामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तहर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन तथा वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

नेत्र—चक्षुष्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—तृष्णा, अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा विसर्प आदि रक्तविकारों मे प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में तथा स्तन्यवृद्धयर्थ देते हैं। शुक्रदौर्बल्य में भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

तापक्रम—दाह में देते हैं।

नेत्र—नेत्ररोगों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—तृणपञ्चमूल क्वाथ।

× × ×

'मुञ्जद्वयं तु मधुरं तुवरं शिशिरं तथा। दाहतृष्णाविसर्पास्त्रमूत्रकृच्छ्राक्षिरोगहृत् ॥
दोषत्रयहरं वृष्यं मेखलासूपयुज्यते।' (भा. प्र.)

२७२. इक्षु

परिचय

गण—तृणपंचमूल (सु०)।

कुल—यव-कुल (ग्रामिनी-Gramineae)।

नाम—लै०-सैकरम ऑफिसिनेरम (Saccharum officinarum Linn.); सं०-इक्षु, दीर्घच्छद, भूरिरस, असिपत्र, मधुतृण, गुडमूल; हि०-ईख, गन्ना; बं०-इक्षु, आक, म०-ऊँस; गु०-शेरडी; ता०-कारुम्बु; ते०-चेरकु; अ०-कसबुस्सुक्कर; फा०-नैशकर; अं०-सुगर केन (Sugar-cane)।

स्वरूप—ईख का क्षुप सर्वप्रसिद्ध है। इसका **काण्ड**-६-१२ फुट ऊँचा, स्थूल एवं ग्रंथियुक्त होता है। **पत्र**-पतले, चपटे ३-४ फुट लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पों** का गुच्छा बड़ा और अनेकशाखायुक्त होता है। वर्षा में पुष्प और शीतकाल में फल होते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ संप्रति होती हैं। भावप्रकाश ने १३ जातियों का वर्णन किया है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्णप्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इक्षु में शर्करा, जल, पिच्छिल द्रव्य, राल, वसा, अलब्युमिन, ग्वैनिन तथा कैल्शियम ऑक्जलेट पाया जाता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक तथा कफवर्धक है। ईख का रस अतिशैत्य के कारण वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—सारक और कृमिकर है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—श्लेष्मनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

सात्मीकरण—बल्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—विबन्ध तथा कामला में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा स्तन्यवर्धनार्थ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा वृक्करोगों में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, कृशता में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, स्वरस, शर्करा।

मात्रा—स्वरस-२०-४० मि० लि०, मूलक्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—तृणपंचमूल क्वाथ।

× × ×

'इक्षवो रक्तपित्तघ्ना बल्या वृष्या कफप्रदाः।
स्वादुपाकरसाः स्निग्धाः गुरवो मूत्रलाः हिमाः॥ (भा. प्र.)

'इक्षवो मधुरा मधुरविपाका गुरवः शीताः स्निग्धा बल्या वृष्या मूत्रला रक्तपित्तप्रशमनाः कृमिकराश्चेति।' (सु. सू. ४५)

'मत्स्यण्डिका-खण्ड-शर्करा विमलजाता उत्तरोत्तरं शीताः स्निग्धा गुरुतरा मधुरतरा वृष्या रक्तपित्तप्रशमनास्तृष्णाप्रशमनाश्च।' (सु. सू. ४५)

२७३. भूम्यामलकी

परिचय

गण—कासहर, श्वासहर (च०)।

कुल—एरण्ड-कुल (युफार्बिएसी-Euphorbiaceae)।

नाम—लैं०-फिलैन्थस युरिनेरिया (Phyllanthus urinaria Linn.); सं०-भूम्यामलकी, भूधात्री, तामलकी, बहुपत्रा, बहुफला; हि०-भुईं आँवला; बं०-भुईं आम्ला; म०-भुई आँवली; गु०-भोंय आँवली।

स्वरूप—इसका शाखाप्रशाखायुक्त **क्षुप**-½-१ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-आँवले की तरह किन्तु कुछ चौड़े होते हैं। **पुष्प**-छोटे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**-आँवले के सदृश, गोलाकार होते हैं। **बीज**-अनुप्रस्थतः खातयुक्त होते हैं। वर्षा-ऋतु में यह क्षुप उत्पन्न होता है। शरदृतु में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं। ग्रीष्म में यह सूख जाता है।

जाति—अनेक प्रजातियाँ यथा P. fraternus Webster, P. simplex Retz., P. madraspatensis Linn. भूम्यामलकी के नाम से चलती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक तिक्त घटक तथा एक क्षाराभ होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय, मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप व्रणरोपण, शोथहर और कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, और तृष्णानिग्रहण है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तहर है।

श्वसनसंस्थान—कासहर और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वर-प्रतिबन्धक है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रणशोथ और चर्मरोगों में लेप करते हैं। इसकी पत्तियों का लेप लवण के साथ अस्थिभग्न में करते हैं। इसका मूल कांजी में पीस कर सेंधानमक के साथ नेत्ररोगों में नेत्र पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, तृष्णा, कामला, अम्लपित्त में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कास, श्वास में देते हैं। हिक्का में इसका मूलस्वरस चीनी के साथ पिलाते हैं या नस्य देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में यह उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—जीर्ण विषमज्वर में इसके पञ्चांग का क्वाथ देते हैं। इससे ज्वर रुकता है और यकृत्प्लीहा की वृद्धि शान्त होती है।

सात्मीकरण—यह दौर्बल्य और विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि० लि०, चूर्ण ३-६ ग्रा०।

× × × ×

'भूधात्री वातकृत्तिक्ता कषाया मधुरा हिमा। पिपासाकासपित्तास्रकफपाण्डुक्षतापहा॥' (भा. प्र.)

'तामलकी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा लघुः। रोचनी पांडुपित्तास्रकफकुष्ठविषापहा। जयेच्छ्वासतृषादाहहिध्माकासक्षतक्षयान्।' (कै. नि.)

'भूधात्री तु कषायाम्लपित्तमेहविनाशिनी। शिशिरा मूत्ररोगार्तिशमनी दाहनाशिनी॥' (रा. नि.)

'भूम्यामलकीबीजं तु पीतं तण्डुलवारिणा। दिनद्वयत्रयेणैव क्षीरोत्थं नाशयेद् ध्रुवम्॥' (बं. से.)

२७४. कंकोल

परिचय

कुल—पिप्पली-कुल (पाइपरेसी–Piperaceae)।

नाम—लै०–पाइपर क्युबेबा (Piper cubeba Linn. f.); सं०–कंकोल, गन्धमरिच; हि०–कबाबचीनी, शीतलचीनी; बं०–कबाबचिनि; म०–हिंसिमिरे; गु०–तडमिरे; ता० मल०–वलमिलाकू; ते०–टोकामिरियालू, बला मेनासु; अ०–कबाबेसीनी, हब्बुल-उरुस;[1] फा०–कबाबचीनी; अं०–क्युबेब (Cubeb)।

स्वरूप—इसकी वृक्षारोहिणी **लता** होती है। **पत्र**–५–६ इञ्च लम्बे, लट्वाकार आयताकार, तीक्ष्णाग्र, पान के सदृश होते हैं। **पुष्प**–छोटे, गुच्छों में, एकलिंगी होते हैं। **फल**–गोलाकार, मरिच के सदृश, वृन्तयुक्त, ६–८ मि० मि० व्यास के, उग्रगंधि, कटु होते हैं तथा इन्हें मुख में रखने पर ठंढक का अनुभव होता है। वृन्तयुक्त होने से इसे सपुच्छ मरिच (tailed pepper) भी कहते हैं। शरदृतु में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—P. ribesioides Wall. तथा P. sumatrana DC. के फल कंकोलवत् किन्तु बड़े होते हैं। इसे बृहत् कंकोल (कटुक ?) कह सकते हैं।

प्रतिनिधि या अपमिश्रण—P. crassipes Korth, P. cannum Blume, P. baccatum Blume, Litsea cubeba Pers. के तथा अफ्रीका में होने वाले P. clusii DC. और P. guineense DC. के फल कंकोल के प्रतिनिधि रूप में तथा इसमें मिलावट के लिए व्यवहृत होते हैं।

परीक्षण—असली कंकोल की पहचान सूक्ष्म निरीक्षण तथा रासायनिक विधि द्वारा की जाती है। असली कंकोल के चूर्ण में गन्धकाम्ल डालने पर चमकीला लाल रंग आता है जब कि नकली या मिलावट में बैंगनी या भूरा रंग होता है।

उत्पत्तिस्थान—इण्डोनेशिया तथा मलयेशिया में यह होता है। भारत में मैसूर में इसकी खेती होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक नीलाभ हरिताभ सुगंधित तैल ५–२० प्रतिशत, रालीय पदार्थ (६·४–८·५%), गोंद, रंजक द्रव्य, स्थिर तैल, स्टार्च तथा नत्रजनयुक्त पदार्थ होते हैं। रालीय पदार्थ में अनेक घटक होते हैं जिनमें क्युबेबिन (Cubebin), क्युबेबॉल (Cubebol) तथा क्युबेबिक अम्ल (Cubebic acid) मुख्य हैं। अन्तिम घटक द्रव्य का प्रमुख कार्यकारी तत्त्व है।

---

[1] शिश्न पर लेप करने से संभोग में हर्षजनक होने से इसे हब्बुल-उरुस (नवपरिणीतावधूफल–Bridegroom's berry.) कहते हैं।

व्यापारिक मानक के अनुसार कंकोल का निम्नांकित स्वरूप होना चाहिए :—

शीर्ण एवं अपक्व फल	१०%
काण्ड	५%
बाह्य कार्बनिक पदार्थ	२%
अम्ल-अविलेय भस्म	२%

तथा १०० ग्रा० द्रव्य से न्यूनतम १३ मि० लि० उड़नशील तैल निकलना चाहिए।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तोत्क्लेशक, उत्तेजक, शोथहर, दुर्गन्धनाशन कृमिघ्न और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन तथा अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—श्लेष्मनिःसारक और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त स्थानों पर इसका लेप करते हैं। व्रणों में इसका तैल लगाते हैं। मुख तथा गले के रोगों में इसे मुँह में रखते हैं। दाँत के रोगों के लिए इसे दन्तमञ्जनों में मिला कर प्रयोग करते हैं। नपुंसकता में इसका लेप शिश्न पर करते हैं। शिरोगत श्लेष्मा तथा शिरःशूल में इसका नस्य देते हैं। शरीर की दुर्गन्ध नष्ट करने के लिए लेपों में इसे डालते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अरुचि, विष्टम्भ, अर्श में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्तव, रजोरोध तथा ध्वजभङ्ग में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह तथा मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०, तैल-१-३ बूंद।

× × × ×

'कङ्कोलं कटु तीक्ष्णोष्णं वक्त्रजाड्यहरं परम्। दीपनं पाचनं रुच्यं कफवातनिकृन्तनम्॥'

(रा. नि.)

'कङ्कोलकं······कटुतिक्तं कफापहम्। लघु तृष्णापहं वृष्यं वक्त्रदौर्गन्ध्यनाशनम्॥'

(सु. सू. ४६)

W. I., iii, 94-96.

२७५. हपुषा

परिचय

कुल—सरल-कुल (पाइनेसी-Pinaceae)।

नाम—लै०-ज्युनिपेरस कॉम्युनिस (Juniperus communis Linn.)। सं०-हपुषा, हवुषा; हि०-हाऊबेर; पं०-क०-वेतर, हाउलबेर; अ०-अबहल, हब्बुल अरअर; फा०-समरसरोकोही; अं०-कामन जुनिपर (Common juniper)।

स्वरूप—यह सघन गुल्म या छोटा **वृक्ष** होता है। छाल रक्ताभ भूरे रंग की कागज की तरह छूटती रहती है। **पत्र**-तीन के चक्रों में, रेखाकार, ०·२-०·६ इञ्च लम्बे, तीक्ष्णाग्र, ऊपरी पृष्ठ क्षोदयुक्त नतोदर नीलाभ श्वेत होता है। **पुष्प**-एकलिंगी अलग-अलग वृक्षों पर, अक्षीय होते हैं। **फल**-भूरे काले रंग का, छोटे बेर के सदृश, प्रायः गोलाकार, ०·४-०·५ इञ्च व्यास का, मोमदार क्षोद से आवृत एवं सुगन्धि होता है। इसके भीतर प्रायः तीन लंबे, अण्डाकार बीज होते हैं। पुष्प वसन्त में तथा फल दूसरे वर्ष वर्षा में पकते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति जुनिपेरस मैक्रोपोडा (J. macropoda Boiss) का वृक्ष बड़ा होता है। फल के आकार में भी अन्तर होता है। भावप्रकाश ने भी दो भेद बतलाये हैं:—(१) अश्वत्थफल, (२) प्रथमफल (बृहत्फल)[1]।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयक्षेत्र में कुमाऊँ से पश्चिम की ओर ५-१४ हजार फुट की ऊँचाई पर पाया जाता है। बड़ी जाति का वृक्ष नेपाल से पश्चिम की ओर हिमालय में उसी ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—वृक्ष के सभी भागों में उड़नशील तैल होता है। पके फलों से ०·८-१·६% तैल निकलता है जो हलके पीले रंग का तथा फल के समान गन्धयुक्त कटुतिक्तरस होता है। यह जुनिपर ऑयल (Juniper oil) के नाम

[1] तन्मध्ये प्रथमफलं मत्स्यवद्विस्रगंधकम्। द्वितीयमश्वत्थफलसदृशं मत्स्यगंधि च॥

(भा. प्र.)

से प्रचलित है। इसमें प्रमुख घटक d-a-pinene के अतिरिक्त, camphene, cadinene तथा जुनिपर कैम्फर होते हैं। वृक्ष से एक तारपीनसदृश निर्यास भी निकलता है जो छाल पर जमा रहता है। पत्तियों में ऐस्कौर्बिक एसिड प्रचुर (८८ मि० ग्रा० १०० ग्रा०) होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन, शोथहर, व्रणरोपण और उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, किंचित् ग्राही और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह उत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन और गर्भाशयशोथहर है। अधिक प्रयोग से गर्भपात हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीव्र मूत्रजनन है। इसका अधिक प्रयोग होने से मूत्र में रक्त आने लगता है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, चर्मरोग तथा व्रणों में लेप किया जाता है। ध्वजभंग में शिश्न पर लेप करते हैं। बाधिर्य में इसका रस कान में डालते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात आदि वातव्याधियों में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, उदरशूल, गुल्म, अर्श, ग्रहणी तथा कृमि में देते हैं। उदररोगों में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध तथा श्वेतप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह तथा बस्तिशोथ में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—चूर्ण-३-५ ग्रा०; तैल-१-२ बूंद (दीपनार्थ), ४-६ बूंद (मूत्रजननार्थ)।

× × ×

'हपुषा दीपनी तिक्ता कटूष्णा तुवरा गुरुः। पित्तोदरसमीरार्शोग्रहणीगुल्मशूलहृत्॥

(भा. प्र.)

'हपुषा कटुतिक्तोष्णा गुरुर्वातबलासजित्। प्रदरोदरविड्बन्धशूलगुल्मार्शसां हिता॥'

(रा. नि.)

W. I., V, 306-8.

२७६. अनानास

परिचय

कुल—अनानास-कुल (बोमिलिएसी-Bromeliaceae)।

नाम—लै०-अनानास कोमोसम (Ananas comosus (Linn.) Merr.) सं०-बहुनेत्र (फल में अनेक नेत्राकार रचनायुक्त); हि०-अनानास, कटहल सफरी; बं०-आनारस; म०-अन्नास; गु०-अनन्नास; ता०-अनाशपाझम; ते०-अनानाश; अ०-ऐनुन्नास; अं०-पाइन-ऐपुल (Pine-apple)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु ह्रस्वकाण्ड पत्रमय **क्षुप** होता है। **पत्र**-२-३ फीट लम्बे, कण्टकितधार तथा कण्टकिताग्र चक्राकार व्यवस्थित होते हैं। **पुष्प**-काण्ड के ऊपरी भाग में लगता है। **फल**-लम्बगोल, कटहल के आकार का, कच्चे में हरा और पकने पर पीताभ हो जाता है। इसके खुरदरे पृष्ठ भाग पर अनेक नेत्राकार चिह्न तथा शीर्षभाग पर छोटे पत्र होते हैं। **बीज**-अण्डाकार, चपटे होते हैं। काण्ड में एक ही फल लगता है। ग्रीष्म के अन्त और वर्षा में पुष्प तथा फल होते हैं।

जाति—इसके प्रायः ६० भेद होते हैं जिन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया गया है—१. क्वीन २. केपीन ३. स्पेनिश। प्रथम दो भारत में प्रचलित हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण अमेरिका (ब्राजिल) का आदिवासी है। यूरोप में यह १५१३ ई० में गया और भारत में सर्वप्रथम १५६४ ई० में पुर्तगालियों द्वारा मालाबार प्रदेश में लाया गया। संप्रति बंगाल, आसाम, उड़ीसा, पश्चिमी समुद्र तट पर विशेषतः इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—इसमें 'ब्रॉमेलिन' (Bromelin) नामक मांसतत्त्व को पचाने वाला एक किण्वतत्व होता है जो अम्ल और क्षारीय माध्यम में समान रूप से कार्यकारी है। दूध को जमाने वाला भी एक किण्वतत्त्व है। इसकी भस्म में स्फुरकाम्ल, गन्धकाम्ल, चूना, मैगनीशियम, सिलिका, लौह, सोडियम तथा पोटाशियम क्लोराइड होते हैं।

गुण

गुण— गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर, (पका फल), अम्ल (कच्चा फल)

विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, अनुलोमन है। अपक्व फल का स्वरस तीव्र रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—कच्चे फल का स्वरस तीव्र गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है। अतिमात्रा में इससे गर्भपात होता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीभेदन और मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—अरुचि, उदरशूल, अम्लपित्त, कामला तथा विबन्ध में फलस्वरस देते हैं। कृमिरोग में कच्चे फल का रस देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में इसक शर्बत और मुरब्बा बना कर सेवन कराते हैं। रक्तपित्त में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में कच्चे फल का रस देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में तृष्णा, दाह तथा सन्ताप की शान्ति के लिए इसका रस पिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—फलस्वरस-२५-५० मि० लि०।

× × × ×

बहुनेत्रफलं चाम्लं कृमिघ्नं मधुरं सरम्। बल्यं वातहरं हृद्यं श्लेष्मलं तर्पणं गुरु॥

(राजवल्लभनिघण्टु, फलवर्ग)

W. I., I, 75-77.

२७७. बन्दाक

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय (च०); वीरतर्वादि (सु०) ।

कुल—बन्दाक-कुल (लॉरेन्थेसी-Loranthaceae) ।

नाम—लै०-डेण्ड्रोफ्थी फालकेटा (Dendrophthoe falcata (Linn. f.) Ettingshaysen); सं०-बन्दाक, वृक्षादनी वृक्षरुहा; हि०-बाँदा; बं०-मान्दा; म०-बांडगुल; गु०-बांदो; ता०-पुल्लुरि; ते०-बदनिका; मल०-इतिल; कन्न०-बदनिके; उ०-वृषोंगो; अ०-खरकतान ।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार **क्षुप** आम, बबूल आदि के वृक्षों पर पराश्रयी के रूप में होता है । **शाखायें** पतली धूसरवर्ण होती हैं । **पत्र**-२-६ इञ्च लम्बे, १-२ इञ्च चौड़े, अण्डाकार, लसोडे के पत्र के सदृश होते हैं । **पुष्प**-नारंगी या रक्तवर्ण होते हैं । **फल**-छोटे, रक्तवर्ण, खिरनी के तुल्य, गुच्छों में होते हैं ।

जाति—अन्य प्रजातियाँ यथा D. elastica (Desr). Danser.) D. Pentandra (Linn.) Miq. भी वन्दाक नाम से प्रचलित हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र होता है ।

रासायनिक संघटन—नये क्षुप में १०% टैनिन होता है ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
विपाक—कटु
रस—कषाय, तिक्त, मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न विशेषतः कफपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और व्रणरोपण है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबलदायक, आक्षेपशामक है ।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक तथा शोथहर है ।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है ।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रजनन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह विशेषतः कफपित्तज व्याधियों में देते हैं ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, व्रण एवं क्षत में इसका लेप करते हैं ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—उन्माद, अपस्मार तथा आक्षेपक में प्रयुक्त होता है ।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका, अतिसार, रक्तातिसार में देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है ।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में प्रयोग करते हैं ।

प्रजननसंस्थान—उदुम्बर वृक्ष पर उत्पन्न बन्दाक गर्भस्थापन के लिए देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी और मूत्रकृच्छ्र में देते हैं ।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चांग ।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि० ।

× × × ×

'बन्दाकः स्याद्धिमः तिक्तः कषायो मधुरो रसे । मांगल्यः कफपित्तास्रज्वरव्रणविषापहः ॥'
(भा. प्र.)

'वृक्षादनी हिमा तिक्ता कषाया मधुरा रसे । अश्मरीकफपित्तास्रज्वरव्रणविषापहा ॥'
(कै. नि.)

'बन्दाकमौदुम्बरमादरेण बन्ध्यांगना पुष्पविशुद्धिवारे ।
पूर्वं विरिक्ता लभते कुमारं छागस्य दुग्धेन सह प्रपीय ॥' (वै. म.)

२७८. त्रपुष

परिचय

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae) ।

नाम—लै०-कुकुमिस सेटाइवस (Cucumis sativus Linn.); सं०-त्रपुष, हि०-खीरा; बं०-शशा; म०-तवसें, खिरा; गु०-तांसली; ता०-मुहीबेट्टि; ते०-उजाकाइपा; अ०-कसद; फा०-खियार; अं०-कुकुम्बर (Cucumber) ।

स्वरूप—यह वर्षायु रोमश **लता** होती है । **पत्रदंड**-२-३ इञ्च लम्बा होता है जिस पर गोल पंचकोणविशिष्ट, ३-६ इञ्च व्यास के पत्र लगते हैं । **पुष्प**-पीतवर्ण, एकलिंगी होता है । **फल**-हरिताभ श्वेत या हरिताभ पीत, मुख पर कृष्णाभ, रोमश, कटकित, ४-१२ इञ्च लम्बे, १-१½ इञ्च मोटे होते हैं । **बीज**-अनेक, लम्बे-चपटे, दोनों सिरों पर नुकीले, स्निग्ध और श्वेतवर्ण होते हैं ।

जाति—कालभेद से इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है—१. ग्रीष्मजात २. वर्षाजात । पहले में फल छोटे और दूसरे में बड़े होते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है । विशेषतः उष्ण बालुकामय प्रदेशों में होता है ।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में प्रोटीन ४२, स्नेह ४२·५ प्रतिशत होता है । राख में फास्फेट प्रचुर होता है । बीजमज्जा से एक स्वच्छ हलके पीले रंग का तेल निकलता है । फल में निम्नांकित घटक होते हैं—आर्द्रता ९६·४,

प्रोटीन ०·४, वसा ०·१, कार्बोहाइड्रेट २·८, खनिज ०·३, कैल्शियम ०·०१, फास्फरस ०·०३ प्रतिशत। लोह १·५ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा०, विटामिन बी०, सी तथा कुछ प्रोटीन विश्लेषक किण्वतत्त्व भी होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह पित्तशामक तथा वातकफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, विष्टम्भी तथा पित्तशामक है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, अनिद्रा और शिरःशूल में इसके बीजों का तैल लगाते हैं और फल का कल्क लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा और कमला में दिया जाता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।
तापक्रम—दाहप्रशमन के लिए इसके बीज गर्मियों में ठंढाई में दिये जाते हैं।
सात्मीकरण—बीजों का चूर्ण दौर्बल्य में देते हैं।
प्रयोज्य अंग—फल, बीज।
मात्रा—फल स्वरस २५–५० मि० लि०, बीजचूर्ण ३–६ ग्रा०

× × ×

'स्वादु पित्तापहं शीतं रक्तपित्तहरं परम्। तद्बीजं मूत्रलं शीतं रूक्षं पित्तास्रकृच्छ्रजित्॥'

W. I., II. 391–92. (भा. प्र.)

अश्मरीभेदन

२७९. पाषाणभेद

परिचय

गण—मूत्रविरेचनीय (च०), वीरतर्वादि (सु०)।

कुल—पाषाणभेद-कुल (सैक्सिफ्रेगेसी–Saxifragaceae)।
नाम—लै०–बर्जिनिया लिग्युलेटा (Bergenia ligulata (Wall.) Engl.)। सं०–पाषाणभेद, अश्मघ्न (पत्थरों को फोड़ कर उत्पन्न होने तथा अश्मरी का भेदन करने वाला); हि०–पखानभेद, सिलफड़ा, पथरचूर; म० गु०–पखानभेद; क०–पहांड़।

स्वरूप—इसका छोटा बहुवर्षायु **क्षुप** पहाड़ की चट्टानों पर फैला होता है। चट्टानों के बीच में जो दरारें होती हैं उनमें से इसका **काण्ड** बाहर निकलता है। **मूल**–रक्तवर्ण, स्थूल, लगभग १–२ इञ्च लंबा होता है। इससे अनेक उपमूल निकल कर चारों ओर फैले रहते हैं। **पत्र**–गोलाकार, प्रायः ५–१० इञ्च व्यास के, मांसल, किनारों पर दाँत युक्त, ऊपरी पृष्ठ पर हरे तथा निचले पृष्ठ पर रक्ताभ होते हैं। एकत्र ३–४ पत्तियों से अधिक नहीं होती। **पुष्प**–श्वेत, गुलाबी अप्रिल–मई में होते हैं। इसकी एक और प्रजाति B. stracheyi H. f. & T. पाषाणभेद के नाम से प्रयुक्त होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह ७–१० हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय प्रदेश में कश्मीर से भूटान तक तथा खासिया पहाड़ियों में ४ हजार फीट की ऊँचाई पर पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में टैनिक एसिड (१४·२%), गैलिक एसिड, स्टार्च १९%, खनिज लवण, मेटार्बिन, अल्ब्युमिन ७$\frac{3}{8}$%, ग्लुकोज ५$\frac{1}{2}$%, पिच्छिल द्रव्य २$\frac{1}{8}$%, मोम, सुगन्धिद्रव्य होते हैं। भस्म १२·८७% होती है जिसमें कैल्शियम ऑक्जलेट अधिक मिलता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत
प्रभाव—अश्मरीभेदन

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक और हृद्य है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ तथा नेत्राभिष्यन्द में इसका लेप करते हैं। बच्चों में दन्तोद्भेद के समय इसे मधु के साथ लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका, और अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—योनिव्यापद् (श्वेत और रक्त प्रदर तथा कष्टार्त्तव) में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र में यह अतीव उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में भी प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—यह अहिफेन-विष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०, क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

विशिष्ट योग—पाषाणभेदादि क्वाथ, पाषाणभेदाद्य घृत।

× × ×

'अश्मभेदो हिमस्तिक्तः कषायो बस्तिशोधनः। भेदनो हन्ति दोषार्शोगुल्मकृच्छ्राश्महृद्रुजः। योनिरोगान् प्रमेहांश्च प्लीहशूलव्रणानि च।' (भा. प्र.)

F. I., I, 398.

J. K. ojha : Ph. D. Thesis (B. H. U.), 1971

२८०. वरुण

परिचय

गण—वरुणादि, वाताश्मरीनाशन, कफाश्मरीनाशन (सु०)।

कुल—वरुण-कुल (कैप्परिडेसी-Capparidaceae)।

नाम—लै०-क्रेटिवा नुर्वला (Crataeva nurvala Buch-Ham.); सं०-वरुण, तिक्तशाक; हि०-बरुना, बर्ना; बं०-बरुण; म०-हाडवर्णा; गु०-वरणे; ता०-मार्लिंगम्; ते०-उरुमत्ति; अं०-थ्रीलीव्ड केपर (Three-leaved caper)।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष**-२५-३० फुट ऊँचा होता है। **छाल**-धूसरवर्ण और तिक्त होती है तथा उस पर अनुप्रस्थ दिशा में चीरे होते हैं। टहनियों पर सफेद चिह्न होते हैं। **पत्र**-लगभग ३-५ इञ्च लम्बे, बेलपत्र के सदृश त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**-लट्वाकार से भालाकार तक, लंबाग्र होते हैं तथा उनको मसलने से

एक प्रकार की तीक्ष्ण गन्ध निकलती है। **पुष्प**-२-३ इञ्च व्यास के, श्वेत या पीताभ, बैंगनी पुंकेशरयुक्त, सुगन्धित, अन्त्य मञ्जरियों में लगते हैं। **फल**-नींबू के सदृश, १ इञ्च व्यास के, पकने पर लाल हो जाते हैं, पुष्प वसन्त में नवीन पल्लवों के साथ या कुछ पूर्व आते हैं। फल [illegible]न में लगते हैं। जनवरी से मार्च तक वृक्ष निष्पत्र रहता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में सैपोनिन तथा टैनिन पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—अश्मरीभेदन

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप राई के समान रक्तोत्क्लेशक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन, मूत्रल और संक्रमणप्रतिरोधी है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, विद्रधि तथा गंडमाला में इसकी छाल या पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, यकृद्विकार तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, अन्तर्विद्रधि, गण्डमाला आदि में छाल का क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, मूत्रकृच्छ्र, बस्तिशूल तथा मूत्रमार्गसंक्रमण (U. T. I.) में इसकी छाल का प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ ५०-१०० मि. लि.

× × ×

'वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान् । निहन्ति गुल्मवातास्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः । कषायो मधुरस्तिक्तः कटुको रूक्षको लघुः । (भा. प्र.)

'वरुणः शीतवातघ्नः तिक्तो विद्रधिजन्तुजित् । तथा च कटुरुष्णश्च रक्तदोषहरः परः ।'

(ध. नि.)

'माक्षिकाढ्यः सकृत्पीतः क्वाथो वरुणमूलजः । गण्डमालां हरत्याशु चिरकालानुबन्धिनीम् ॥

(वृन्द)

"...मूलं वरुणकस्य च । जलेन क्वथितं पीतमपक्वं विद्रधिं जयेत् ॥' (वृन्द)

B. B. O., I, 31.

W. I., II, 366.

२८१. कुलत्थ

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae) ।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-Papilionatae) ।

नाम—लै०-डॉलिकस बाइफ्लोरस (Dolichos biflorus Linn.) सं०-कुलत्थ; हि०-कुलथी; बं०-कुथिकलाई; म०-कुलथी; गु०-कलथी, ता०-कोल्लु; ते०-उलावालु; मल०-मुतेर; कन्न०-हुरलि; अं०-हार्स ग्राम (Horse-gram) ।

स्वरूप—यह एक त्रिपर्ण वर्षायु क्षुप है । **पत्रक**-१-२ इञ्च लंबे, अण्डाकार होते हैं । **पुष्प**-१/२-१ इञ्च लंबे, हलके पीतवर्ण, ध्वजक पर रक्तविन्दुयुक्त तथा १-४ एक साथ होते हैं । **शिम्बी**-१-२ इञ्च लम्बी, चपटी, टेढी, अग्रभाग पर स्थायी कुक्षिवृन्त से युक्त होती है जिसमें ५-६ धूसरवर्ण, चपटे, अंडाकार, १/८-१/४ इञ्च लंबे बीज होते हैं । सितम्बर-नवम्बर में पुष्प और अक्टूबर-दिसम्बर में फल आते हैं । इसके बीज दक्षिण भारत में दाल तथा पशुओं के आहार के रूप में व्यवहृत होते हैं ।

जाति—चक्रपाणि ने श्वेत रक्त, कृष्ण और चित्र ये चार प्रकार कुलत्थ के कहे हैं । वन्य और ग्राम्य भेद से भी यह दो प्रकार का होता है ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत विशेषतः मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र और आन्ध्र में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है ।

रासायनिक संघटन—बीजों में प्रोटीन (२२-%), कार्बोहाइड्रेट (५७·३%) वसा (०.५%), सूत्र, फास्फोरस तथा युरिएज (urease) पाये जाते हैं ।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण

रस—कषाय

विपाक—अम्ल

वीर्य—अश्मरी-भेदन

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा रक्तपित्तकोपक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्वेदापनयन तथा शोथहर है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह विदाही, अनुलोमन, भेदन और कृमिघ्न है ।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है ।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न है ।

सात्मीकरण—लेखन और शुक्रनाशन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अवसाद की अवस्था में जब अतिस्वेद होता है तब कुलथी का चूर्ण शरीर की त्वचा पर मलते हैं । शोथ में इससे स्वेदन करते हैं । सन्निपात में कर्णमूलशोथ होने पर इसका लेप प्रसिद्ध है । नेत्ररोगों में इसका अञ्जन करते हैं ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आनाह, यकृत्प्लीहा, शूल, गुल्म, अर्श तथा कृमि में देते हैं । अधिक लेने पर अम्लपित्त उत्पन्न करता है । अतः इसका प्रयोग सावधानी से करना चाहिए ।

श्वसनसंस्थान—पीनस, कास, श्वास और हिक्का में प्रयुक्त होता है । हिक्का में इसका धूम्रपान भी करते हैं ।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के बाद गर्भाशयशोधन के लिए तथा कष्टार्तव में यह उपयोगी है ।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, बस्तिशूल तथा मूत्रकृच्छ्र में कुलथी का पानी (हिम) पिलाते हैं । अश्मरी में इसका चूर्ण मूली के पत्रस्वरस के साथ भी देते हैं ।

तापक्रम—ज्वर में भी देते हैं

सात्मीकरण—मेदोरोग में लाभकर है ।

प्रयोज्य अंग—बीज ।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—कुलत्थादि प्रलेप, कुलत्थयूष, कुलत्थाद्य घृत । हिम के रूप में इसका प्रयोग अधिक होता है ।

× × ×

'कुलत्थः कटुकः पाके कषायः पित्तरक्तकृत् । लघुर्विदाही वीर्योष्णः श्वासकासकफानिलान् ॥ हन्ति हिक्काश्मरीशुक्रदाहानाहान् सपीनसान् । स्वेदसंग्राहको मेदोज्वरक्रिमिहरः सरः ॥'

(भा. प्र.)

'उष्णाः कषायाः पाकेऽम्लाः कफशुक्रानिलापहाः ।
कुलत्थाः ग्राहिणः कासहिक्काश्वासार्शसां हिताः ॥' (च.)
'कषायस्वादुरूक्षोष्णाः कुलत्था रक्तपित्तलाः । पीनसश्वासकासार्शोहिध्मानाहकफानिलान् ॥
घ्नन्ति शुक्राश्मरीं शुक्रं दृष्टिं शोथं तथोदरम् ।
ग्राहिणो लघवस्तीक्ष्णाः विपाकेऽम्लाःविदाहिनः ॥' (अ. सं., सू. ७)

W. I., III, 101–3.
B. B. O., II, 305–6.

२८२. वीरतरु

परिचय

गण—वीरतर्वादि, वातसंशमन (सु.)

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसी–Mimosae).

नाम—लै०–डाइक्रोस्टैकिस साइनेरिया (Dichrostachys cineria W. & A.); सं०–वीरतरु, वेल्लन्तर; हि०–वुर्तुली; म० सेगुमकटी; ते०–वेलतुर, ता०–विडट्टलई; कन्ना०–ओउटरे

स्वरूप—इसका कंटकित गुल्म या वृक्षक कुटिल काण्डयुक्त होता है। शाखायें कंटकित एवं कण्टकान्त होती हैं। **पत्र**–३–१२ जोड़े, पक्षयुक्त, पत्रक–·०५–·१ इंच लंबे होते हैं। **पुष्प**–सुन्दर, सवृन्त मुण्डकों में, ऊपरी गुलाबी रंग के तथा निचले पीले रंग के होते हैं। **फलियाँ**–ऐंठी हुई, ३–४ इंच लंबी, गुच्छों में होती हैं जिनमें ६–१० बीज होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प और उसके बाद फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर, मध्य तथा दक्षिण भारत के शुष्क जंगलों एवं पहाड़ियों में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनाहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—दीपन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीनाशन तथा मूत्रल है।

प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।

सात्मीकरण—यह आमदोष को नष्ट करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है। विशेषतः वातव्याधि के लिए प्रशस्त है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—संधिशोथ, शूल आदि में इसकी पत्ती या छाल को पीस कर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शोथवेदनाप्रधान रोगों में इसका प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य तथा ग्रहणी में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोथ, श्लीपद आदि में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी, शर्करा, मूत्रकृच्छ्र तथा मूत्राघात के लिए यह परम प्रशस्त है।

प्रजननसंस्थान—वातिक योनिरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—यह आमवात, संधिशोथ आदि में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—वीरतर्वादि क्वाथ।

× × ×

'वेल्लन्तरो जगति वीरतरुः प्रसिद्धः, श्वेतासितारुणाविलोहितनीलपुष्पः ।
स्याज्जातितुल्यकुसुमः शमिसूक्ष्मपत्रः, स्यात् कण्टकी विजलदेशज एष वृक्षः ॥'
वेल्लन्तरो रसे पाके तिक्तस्तृष्णाकफापहः ।
मूत्राघाताश्मजिद् ग्राही योनिमूत्रानिलार्त्तिजित् ॥ (भा. प्र.)
'वीरतर्वादिरित्येष गणो वातविकारनुत् । अश्मरीशर्करामूत्रकृच्छ्राघातरुजापहः ॥'
(सु. सू. ३८)

'बिल्वान्तरः कटूष्णश्च कृच्छ्रघ्नः संधिशूलनुत् ।
वह्निदीप्तिकरः पथ्यो वातामयविनाशनः ॥' (रा. नि.)

W. I., III, 56.
B. B. O., II, 334.

२८३. गोरक्षगञ्जा

परिचय

कुल—अपामार्ग–कुल (अमरैण्टेसी–Amaranthaceae)

नाम—लै०-ईर्वा लनाटा (Aerva lanata Juss.); सं०-गोरक्षगञ्जा; हि०-गोरखगांजा, ठिकरीतोड़, दक्षिणभारत-पाषाणभेद,

स्वरूप—इसका क्षुप उत्थित या प्रसरी होता है। **शाखायें**-अनेक, ६-१० इंच लंबी, रोमश क्षुप के मूल काष्ठीय भाग से निकलती हैं। **पत्र**-½-१ इंच लंबे, अभिलट्वाकार, वृत्ताकार या अंडाकार, रोमश होते हैं। **पुष्प**-सघन गोलाकार गुच्छों में, पत्रों के अक्षभाग में हरितश्वेत होते हैं। **फल**-चर्मवत् तथा बीज काले होते हैं। मूल कर्पूरगन्धि होता है। पुष्प-फल नवम्बर-जनवरी में आते हैं।

जाति—इसकी एक और प्रजाति A. javanica Juss. भी प्रचलित है। इसका काण्ड २-३ फुट लंबा होता है, पत्र-१-४ इंच लंबे होते हैं तथा पुष्पमंजरी १-६ इंच लंबी होती है।

उत्पत्तिस्थान—भारत के उष्ण प्रदेशों में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—अश्मरीभेदन

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरीभेदन तथा मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-मूत्रवहसंस्थान—यह अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि. लि.

वक्तव्य—दक्षिण भारत में पाषाणभेद के नाम से इसी का व्यवहार होता है। इसमें उत्तम अश्मरीघ्न कर्म पाया भी गया है (झारखंडे ओझा, पी. एच. डी.; शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १९७१)।

× × ×

गोरक्षगञ्जा तुवरा सतिक्ता, लध्वी च तीक्ष्णा परमोष्णवीर्या।
कफार्त्तिहन् मूत्रविरेचनीया, प्रभावतोऽप्यश्मरिनाशनी स्यात्॥ (स्व.)

F. I, IV, 728.
B. B. O., II, 804.

मूत्रसंग्रहणीय

२८४. जम्बू

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषविरजनीय, छर्दिनिग्रहण (च०), न्यग्रोधादि (सु०), पंचपल्लव।

कुल—लवंग-कुल (मिर्टेसी-Myrtaceae)।

नाम—लै०-सिजिगियम क्युमिनि (Syzygium cumini (Linn) Skeels. सं०-जम्बू, महाफला, फलेन्द्रा; हि०-जामुन; बं०-काल जाम; पं०-जामलु; म०-जांभूल; गु०-जांबू; ता०-शवल नावल्; ते०-नेरेडु; मल०-नवल्; कन्न०-नेरले; अं०-जामन (Jaman)।

स्वरूप—इसका चिरहरित बड़ा **वृक्ष** १०० फीट तक ऊंचा और १२ फीट तक मोटा होता है। **पत्र**-३-६ इञ्च लंबे, २-३ इञ्च चौड़े, भालाकार या लट्वाकार-अंडाकार, चर्मवत्, ग्रन्थिबिंदुकित, चिकने, चमकीले होते हैं। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत, सुगंधित, त्रिधाविभक्त मंजरियों में होते हैं। **फल**-½-१½ इञ्च लंबे, अंडाकार, कच्चे में हरित, प्रौढावस्था में रक्त और बैंगनी तथा परिपक्वावस्था में गाढ़ नील वर्ण हो जाते हैं। फल के भीतर १-२ से० मी० लंबी एक अस्थि होती है। **पुष्प**-अप्रिल-जून तथा फल-जून-जुलाई में लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियां होती हैं जिनमें राजजम्बू, क्षुद्रजम्बू (नदीजम्बू या काकजम्बू) और भूमिजंबू ये तीन जातियां मुख्य हैं। राजजम्बू का वर्णन ऊपर किया गया है। इसे 'फलेन' (फलेन्द्र) भी कहते हैं। क्षुद्रजम्बू-इसे 'कठजामुन' कहते हैं। इसके फल छोटे होते हैं तथा उनका मांसल भाग कम एवं अम्ल होता है। भूमिजम्बू का वृक्ष झाड़ीदार और छोटा होता है इनके अतिरिक्त गुलाबजामुन (S. jambos (Linn.) Alston.)-यह विदेशी जामुन है जो बर्मा और बंगाल में होता है। इसका फल अस्थिरहित, गोलाकार, पीताभ या गुलाबी रंग का होता है। इन सब में राजजंबू सर्वोत्तम होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—फल में आर्द्रता ८३·७%, प्रोटीन ०·७%, वसा ०·३%, कार्बोहाइड्रेट १४%, खनिज द्रव्य, विटामिन ए, बी, सी, मेलिक एसिड, ऑक्जेलिक एसिड, गैलिक एसिड, टैनिन, एक सुगंधित तैल और नील रंजक द्रव्य (Cyanidin diglycosides) होते हैं। बीजों में कैल्शियम और प्रोटीन विशेष रूप से होता है। इनके अतिरिक्त टैनिन (१९ प्रतिशत), इलैगिक एसिड, गैलिक एसिड (१-२ प्रतिशत) एक ग्लाइकोसाइड (Jamboline), स्टार्च तथा हलके पीले रंग का सुगंधित तैल (०·०५ प्रतिशत) होता है। काण्ड की छाल में

बेटुलिनिक एसिड, बी-सिटोस्टेराल, फ्राइडेलिन, टैनिन (१०-१२ प्रतिशत), गैलिक एसिड, इलैगिक एसिड, मिरिसेटिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय, मधुर, अम्ल
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष-कषाय होने से कफ का तथा शीत-कषाय होने से पित्त का शमन करता है। रूक्ष-शीत कषाय होने से यह प्रबल वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्तम्भन, त्वग्दोषहर और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक तथा स्तम्भन है। पत्र-छर्दिनिग्रहण है तथा छाल भी स्तम्भन है। फल अधिक लेने से विष्टम्भजनक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके फल की गुठली शर्करा की पाचनक्रिया को सुधारता है। अतः इससे रक्तगत तथा मूत्रगत शर्करा कम होती है और मूत्र का प्रमाण भी कम होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों में इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं। दाह में फलों का सिरका तिलतैल में मिला कर लगाते हैं। सन्निपातज्वर में जब सन्ताप अधिक होता है तथा दाह, प्रलाप आदि उपद्रव होने लगते हैं तब जामुन का सिरका तिलतैल में मिला कर कपड़े में भिगो मस्तक पर रखते हैं और ललाट पर इसकी पट्टी देते हैं। उपदंश, फिरंग आदि चर्मविकारों में इसके पत्र से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल तथा फलों का सिरका अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में देते हैं। जामुन की गुठली का चूर्ण तथा छाल का क्वाथ भी जीर्ण अतिसार, प्रवाहिका में लाभकर है। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—पत्रस्वरस रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। गुठली रक्तप्रदर, रक्तातिसार आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—फल की गुठली का चूर्ण मधुमेह तथा उदकमेह के लिए अत्युत्तम औषध है। फलों का सिरका भी प्रमेह में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, फलास्थि, त्वक्, पत्र।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि० लि०; चूर्ण-३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—जम्ब्वाद्य तैल, पंचपल्लवयोग।

× × ×

'जम्बू संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित्।' (भा. प्र.)
'जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम्।' (च. सू. २७)
'अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित्।' (सु. सु. ४६)
'जाम्बवं वातजननानाम्।' (च. सू. २५)
'ग्राही कषायस्तन्मज्जा विशेषान्मधुमेहहा।' (नि. र.)
'जम्बूः कषायमधुरा श्रमपित्तदाहकंठार्तिशोषशमनी क्रिमिदोषहन्त्री।
श्वासातिसारकफकासविनाशिनी च विष्टम्भिनी भवति रोचनपाचनी च॥ (रा. नि.)

W. I., X, 100-104.

२८५. आम्र

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषसंग्रहणीय, छर्दिनिग्रहण, हृद्य, कषायस्कन्ध, अम्लस्कन्ध (च०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-मैंगिफेरा इण्डिका (Mangifera indica Linn.)। सं०-आम्र, चूत, रसाल, सहकार, पिकवल्लभ, मधुदूत; हि०-आम; बं०-आम्र; प०-अंब; म०-आंब; गु०-अमरी; ता०-मांग; ते०-मावि; मल० कन्न०-मावु; अ०-अंबज; फा०-अंबज; अं०-मैंगो (Mango)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०-४० फुट से १००-१२० फीट तक ऊंचा होता है। **पत्र**-४-१२ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौड़े, भालाकार-आयताकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं जिनके मसलने पर सुगंध आती है। **पुष्प**-छोटे, हरित-पीत, लंबी मंजरी में आते हैं जिससे मादक सुगन्ध आती है। **फल**-अनेक आकृति के, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ या रक्ताभ हो जाते हैं। **फलमज्जा**-पीतवर्ण या नारंगी रंग की, मधुर या मधुराम्ल, सुगन्धित होती है। फल के भीतर बड़ी गुठली (बीज) तथा उसके भीतर बीजमज्जा होती है। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म-वर्षा में फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। व्यवहार में कलमी और बीजू ये दो भेद मुख्य माने जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—कच्चे फल में जल २१%, जलीय सत्त्व ६१·५%, सेल्युलोज ५%, अविलेय भस्म १·५% और विलेय भस्म १·६% (जिसमें पोटाश,

बेटुलिनिक एसिड, बी-सिटोस्टेराल, फ्राइडेलिन, टैनिन (१०-१२ प्रतिशत), गैलिक एसिड, इलैगिक एसिड, मिरिसेटिन होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय, मधुर, अम्ल
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह रूक्ष-कषाय होने से कफ का तथा शीत-कषाय होने से पित्त का शमन करता है। रूक्ष-शीत कषाय होने से यह प्रबल वातवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—स्तम्भन, त्वग्दोषहर और दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक तथा स्तम्भन है। पत्र-छर्दिनिग्रहण है तथा छाल भी स्तम्भन है। फल अधिक लेने से विष्टम्भजनक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—इसके फल की गुठली शर्करा की पाचनक्रिया को सुधारता है। अतः इससे रक्तगत तथा मूत्रगत शर्करा कम होती है और मूत्र का प्रमाण भी कम होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव होने पर तथा व्रणों में इसकी छाल का अवचूर्णन करते हैं। दाह में फलों का सिरका तिलतैल में मिला कर लगाते हैं। सन्निपातज्वर में जब सन्ताप अधिक होता है तथा दाह, प्रलाप आदि उपद्रव होने लगते हैं तब जामुन का सिरका तिलतैल में मिला कर कपड़े में भिगो मस्तक पर रखते हैं और ललाट पर इसकी पट्टी देते हैं। उपदंश, फिरंग आदि चर्मविकारों में इसके पत्र से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसका फल तथा फलों का सिरका अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि में देते हैं। जामुन की गुठली का चूर्ण तथा छाल का क्वाथ भी जीर्ण अतिसार, प्रवाहिका में लाभकर है। कोमल पत्र वमन में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—पत्रस्वरस रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। गुठली रक्तप्रदर, रक्तातिसार आदि में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—फल की गुठली का चूर्ण मधुमेह तथा उदकमेह के लिए अत्युत्तम औषध है। फलों का सिरका भी प्रमेह में देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—फल, फलास्थि, त्वक्, पत्र।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि० लि०; चूर्ण-३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—जम्ब्वाद्य तैल, पंचपल्लवयोग।

× × ×

'जम्बू संग्राहिणी रूक्षा कफपित्तास्रदाहजित्।' (भा. प्र.)
'जाम्बवं कफपित्तघ्नं ग्राहि वातकरं परम्।' (च. सू. २७)
'अत्यर्थं वातलं ग्राहि जाम्बवं कफपित्तजित्।' (सु. सु. ४६)
'जाम्बवं वातजननानाम्।' (च. सू. २५)
'ग्राही कषायस्तन्मज्जा विशेषान्मधुमेहहा।' (नि. र.)
'जम्बूः कषायमधुरा श्रमपित्तदाहकंठार्तिशोषशमनी क्रिमिदोषहन्त्री।
श्वासातिसारकफकासविनाशिनी च विष्टम्भिनी भवति रोचनपाचनी च॥ (रा. नि.)

W. I., X, 100-104.

२८५. आम्र

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, पुरीषसंग्रहणीय, छर्दिनिग्रहण, हृद्य, कषायस्कन्ध, अम्लस्कन्ध (च०)।

कुल—आम्र-कुल (एनाकार्डिएसी-Anacardiaceae)।

नाम—लै०-मैंगिफेरा इण्डिका (Mangifera indica Linn.)। सं०-आम्र, चूत, रसाल, सहकार, पिकवल्लभ, मधुदूत; हि०-आम; बं०-आम्र; प०-अंब; म०-आंब; गु०-अमरी; ता०-मांग; ते०-मावि; मल० कन्न०-मावु; अ०-अंबज; फा०-अंबज; अं०-मैंगो (Mango)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०-४० फुट से १००-१२० फीट तक ऊँचा होता है। **पत्र**-४-१२ इञ्च लम्बे, १-३ इञ्च चौड़े, भालाकार-आयताकार, तीक्ष्णाग्र होते हैं जिनके मसलने पर सुगंध आती है। **पुष्प**-छोटे, हरित-पीत, लंबी मंजरी में आते हैं जिससे मादक सुगन्ध आती है। **फल**-अनेक आकृति के, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ या रक्ताभ हो जाते हैं। **फलमज्जा**-पीतवर्ण या नारंगी रंग की, मधुर या मधुराम्ल, सुगन्धित होती है। फल के भीतर बड़ी गुठली (बीज) तथा उसके भीतर बीजमज्जा होती है। वसन्त में पुष्प तथा ग्रीष्म-वर्षा में फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। व्यवहार में कलमी और बीजू ये दो भेद मुख्य माने जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में विशेषतः उष्ण प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—कच्चे फल में जल २१%, जलीय सत्त्व ६१·५%, सेल्युलोज ५%, अविलेय भस्म १·५% और विलेय भस्म १·९% (जिसमें पोटाश,

टार्टरिक, साइट्रिक तथा मैलिक एसिड होते हैं) होती हैं। पके फल में पीत रञ्जक द्रव्य, पर्णहरित द्रव्य, कार्बन बाइसफ्लाइड, बेञ्जोल, गैलिक एसिड, साइट्रिक एसिड तथा गोंद होती है। छाल में टैनिन (१६–२०%) होता है। इससे मैंगिफेरिन (Mangiferin) भी निकाला गया है। बीजमज्जा में गैलिक और टैनिक एसिड, वसा, शर्करा, गोंद, भस्म तथा प्रचुर स्टार्च (७२·८%) होते हैं। बीजमज्जा से सत्त्वपातन द्वारा ६–१२% एक ठोस वसा (Mango butter) प्राप्त होती है। फल में विटामिन ए और सी प्रचुर मात्रा में होता है। आम्र के पुष्पों से एक सुगंधित तैल (सहकारतैल) प्राप्त होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

यह छाल का गुण है। पका फल गुरु-स्निग्ध तथा मधुर और कच्चा फल अम्ल होता है।

कर्म

दोषकर्म—इसकी छाल, पत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा कफपित्तशामक है। पका फल वातपित्तशामक तथा कच्चा फल त्रिदोषकारक होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—छाल, पुष्प, पत्र तथा बीजमज्जा रक्तरोधक तथा व्रणरोपण है। कच्चा फल आग में पकाने पर दाहप्रशमन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कच्चा फल रोचन, दीपन है। पका फल स्नेहन; अनुलोमन, सारक है। पत्र-छर्दिनिग्रहण है। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा स्तम्भन है। बीजमज्जा कृमिघ्न भी है।

रक्तवहसंस्थान—पका फल हृद्य और शोणितस्थापन है। कच्चा फल रक्तपित्तकोपक है।

प्रजननसंस्थान—पका फल वृष्य है। त्वक् तथा बीजमज्जा गर्भाशयशोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—बीजमज्जा मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—कच्चा फल आग में पका पानक बना कर देने से दाहप्रशमन होता है।

सात्मीकरण—पका फल बल्य, वर्ण्य और बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—छाल, प्रत्र, पुष्प तथा बीजमज्जा का प्रयोग कफपैत्तिक विकारों में करते हैं। पका फल वातपैत्तिक विकारों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, क्षत तथा व्रण में छाल, पुष्प, पत्र तथा बीजमज्जा का चूर्ण लगाते हैं। लू लगने पर तथा दाह में कच्चे फल को आग में पका कर त्वचा पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य में कच्चे फल की चटनी देते हैं। पका फल विबन्ध, कोष्ठगत रौक्ष्य में देते हैं। पत्र का स्वरस वमन को रोकने के लिए देते हैं। पुष्प, त्वक् तथा बीजमज्जा का प्रयोग अतिसार, प्रवाहिका में करते हैं। बीजमज्जा का चूर्ण कृमि में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्ताल्पता, रक्तपित्त में पका फल देते हैं। रक्तपित्त में छाल, पुष्प तथा बीजमज्जा का भी प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में पका फल देते हैं। रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर में बीजमज्जा प्रयुक्त होती है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह तथा पूयमेह में बीजमज्जा देते हैं। पूयमेह में पल्लव-स्वरस भी दिया जाता है।

तापक्रम—लू लगने पर (अंशुघात में) कच्चे फल को आग में पका कर पानक बना कर पिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, वर्णविकार तथा कृशता में पका आम खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—छाल, पत्र, पुष्प, फल, बीजमज्जा।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०; क्वाथ–५०–१०० मि० लि०; चूर्ण–३–६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—पुष्यानुग चूर्ण, आम्रपानक।

अतियोग से हानि—आम का कच्चा फल अधिक खाने से मन्दाग्नि, विषमज्वर, रक्तविकार, विबन्ध तथा नेत्ररोग उत्पन्न होते हैं।

उपचार—उपर्युक्त उपद्रव होने पर सोंठ का चूर्ण जल से या जीरा का चूर्ण काला नमक मिला कर देना चाहिए।

× × ×

'आम्रपुष्पमतीसारकफपित्तप्रमेहनुत्। असृग्दरहरं शीतं रुचिकृद् ग्राहि वातलम् ॥'
'आम्रं बालं कषायाम्लं रुच्यं मारुतपित्तकृत्। तरुणं तु तदत्यम्लं रूक्षं दोषत्रयास्रकृत् ॥'
पक्वं तु मधुरं वृष्यं स्निग्धं बलसुखप्रदम्। गुरु वातहरं हृद्यं वर्ण्यं शीतमपित्तलम् ॥
कषायानुरसं वह्निश्लेष्मशुक्रविवर्धनम्।'
'मन्दानलत्वं विषमज्वरं च रक्तामयं बद्धगुदोदरं च।
आम्रातियोगो नयनामयं च करोति तस्मादति तानि नाद्यात् ॥'
शुण्ठ्यंभसोऽनुपानं स्यादाम्राणामतिभक्षणे। जीरकं वा प्रयोक्तव्यं सह सौवर्चलेन च ॥'

'आम्रबीजं कषायं स्याच्छर्दतीसारनाशनम् । ईषदम्लं च मधुरं तथा हृदयदाहनुत् ॥'
आम्रस्य पल्लवो रुच्यः कफपित्तविनाशनः ।' (भा. प्र.)
'रक्तपित्तकरं बालमापूर्णं पित्तवर्धनम् । पक्वमाम्रं जयेद्वायुं शुक्रमांसबलप्रदम् ॥'
(च. सू. २७)
'पित्तानिलकरं बालं पित्तलं बद्धकेशरम् । हृद्यं वर्णकरं रुच्यं रक्तमांसबलप्रदम् ॥
कषायानुरसं स्वादु वातघ्नं बृंहणं गुरु । पित्ताविरोधि संपक्वमाम्रं शुक्रविवर्धनम् ॥'
(सु. सू. ४६)
'त्वङ्मूलपल्लवं ग्राहि कषायं कफपित्तजित् ।' (ध. नि.)
'आम्रत्वचा कषाया च मूलं सौगन्धि तादृशम् ।
रुच्यं संग्राहि शिशिरं पुष्पं रोचनदीपनम् ॥' (रा. नि.)

W. I., VI, 265-84.

२८६. वट

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष, पञ्चवल्कल (भा० प्र०) ।

कुल—वट-कुल (मोरेसी-Moraceae)

नाम—लै०-फाइकस बंगालेन्सिस (Ficus bengalensis Linn.); सं०-वट, न्यग्रोध, बहुपाद, हि०-बड़, बरगद; बं०-बट; पं०-बोड़; म०-वड; गु०-वड; ता०-आल; ते०-पेद्दमारी; मल० कन्न०-आला; अ०-कबिरुल् अश्जार; फा०-दरख्ते रीश; अं०-बैनियन (Banyan) ।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष** होता है तथा **शाखाएँ** बहुत दूर तक चारों ओर फैली रहती हैं जिनसे प्ररोह (वायव्य मूल) निकल कर लटकते रहते हैं और बढ़ कर भूमि में लग जाते हैं । **काण्डत्वक्**-श्वेत-धूसर, मोटी होती है । **पत्र**-मोटे, लट्वाकार या अण्डाकार, ४-६ इञ्च लम्बे-चौड़े चर्मवत् होते हैं । पत्रमूल में ३-५ सिराएँ होती हैं । **फल**-गोलाकार, अवृन्त, युग्म, $\frac{1}{2}$-$\frac{3}{4}$ इञ्च व्यास के, पकने पर रक्तवर्ण होते हैं । तथाकथित फल (कुम्भाभ व्यूह-Hypanthodium) के भीतर छोटे-छोटे पुष्प होते हैं इसलिए अदृश्य पुष्प होने के कारण इसे वनस्पति कहा गया है । मई-जून में नई पत्तियाँ निकलती हैं । फल प्रायः वर्ष भर दृष्टिगत होते हैं किन्तु दो बार परिपक्व होते हैं एक ग्रीष्म में तथा दूसरा हेमन्त में ।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है ।

रासायनिक संघटन—छाल और शुङ्ग में १० प्रतिशत टैनिन होता है ।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, व्रणरोपण, रक्तरोधक, शोथहर और चक्षुष्य है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तहर है ।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथहर और शुक्रस्तम्भन है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है ।

तापक्रम—दाहप्रशमन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वट का दूध व्रण, क्षत, विपादिका तथा सन्धिशोथ, आमवात, वंक्षणशोथ, ग्रन्थिशोथ आदि में लगाते हैं । कर्णस्राव तथा दन्तशूल में भी वट का दूध लगाते हैं । नेत्राभिष्यन्द, अर्म तथा शुक्र रोगों में वटदुग्ध लगाते हैं । स्तनशैथिल्य में वटजटा का लेप करते हैं । चर्मरोगों तथा व्रणाधिकारों में भी वटजटा का लेप लाभकर है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छर्दि, अतिसार, रक्तातिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—वर्णविकार, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर में यह उपयोगी है । इन रोगों में छाल के क्वाथ की उत्तरबस्ति भी देते हैं । शुक्रस्तम्भन के लिए बट का दूध बताशे से खाते हैं । गर्भस्थापन के लिए भी स्त्रियों को वटशुंग का प्रयोग करते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं तथा फल खिलाते हैं । इसका दूध भी प्रमेहघ्न है ।

तापक्रम—दाह में भी देते हैं ।

प्रयोज्य अंग—त्वक् , क्षीर, पत्र, प्ररोह, फल ।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; चूर्ण-३-६ ग्रा०; क्षीर-५-१० बूंद ।

विशिष्ट योग—न्यग्रोधादि चूर्ण, न्यग्रोधाद्य घृत ।

× × ×

'वटः शीतो गुरुर्ग्राही कफपित्तव्रणापहः। वर्ण्यो विसर्पदाहघ्नः कषायो योनिदोषहृत्॥'
'वटांकुरा मसूराश्च प्रलेपाद् व्यंगनाशनम्।'

(भा. प्र.)

वटः शीतः कषायश्च स्तम्भनो रूक्षणात्मकः। तथा तृष्णाच्छर्दिमूर्च्छारक्तपित्तविनाशनः॥'

(ध. नि.)

'गर्भदं वटशुंगं तु पिबेद्वन्ध्या रजस्वला। वारिणा शुक्लपक्षे हि पुष्येण च समाहृतम्॥'

(शो.)

W. I., IV, 24-26.
B. B. O., III, 874.

२८७. उदुम्बर

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०), न्यग्रोधादि (सु०) क्षीरिवृक्ष, पंचवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (मोरेसी-Moraceae)।

नाम—लै०-फाइकस ग्लोमरेटा (Ficus glomerata Roxb.) सं०-उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञांग, हेमदुग्धक (दूध श्वेत किन्तु हवा लगने पर थोड़ी देर में पीला हो जाता है); हि०-गूलर; बं०-यज्ञडुम्बुर; म०-उम्बर; गु०-उम्बरो, उमरडो; ता० मल० कन्न०-अति; ते०-अत्ति; उ०-डिमरी; अ०-जम्मेज; फा०-अंजीरे आदम; अंजीरे अहमक्; अं०-क्लस्टर फिग (Cluster fig.), कण्ट्री फिग (Country fig.)।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** ३०-५० फीट ऊँचे होते हैं। **छाल**-रक्ताभ धूसर होती है। **पत्र**-३-४ इञ्च लम्बे, लट्वाकार-भालाकार, तीक्ष्णाग्र, तीन सिराओं से युक्त होते हैं। **फल**-१-२ इञ्च व्यास के, प्रायः गोलाकार या शुण्डाकार, बड़े गुच्छों में, निष्पत्र शाखाओं पर लगते हैं। ये कच्चे में हरे तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। मार्च-जून में फल लगते हैं। दिसम्बर-जनवरी में नई पत्तियाँ निकलती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—फल में आर्द्रता १३·६, अलब्युमिनायड ७·४, वसा ५·६, कार्बोहाइड्रेट ४६, रंजकद्रव्य ८·५, सूत्र १७·६, भस्म ६·५, सिलिका ०·२५ तथा फास्फोरस ०·९१ प्रतिशत होता है। छाल में १४% टैनिन होता है। दूध में ४-७·४% कॉउचुक (रबड़) होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निसादक, स्तम्भन है। पका फल कृमिकारक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयशोथहर और शुक्रस्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना, व्रण पर दूध लगाते हैं तथा वर्ण विकारों में उदुम्बर के शुंग का लेप करते हैं। पत्रक्वाथ से व्रणप्रक्षालन एवं गण्डूष करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रक्तातिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी में छाल का क्वाथ देते हैं तथा कच्चे फलों का शाक खिलाते हैं। बच्चों के अतिसार तथा दन्तोद्भेद में दूध देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल और फल का प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में छाल का क्वाथ देते हैं। इन रोगों में उत्तरवस्ति भी देते हैं। गर्भपोषणार्थ भी देते हैं। शुक्रदौर्बल्य में दूध का प्रयोग होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल का क्वाथ देते हैं और पका फल खिलाते हैं।

तापक्रम—दाहरोग में पका फल देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, फल, क्षीर।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०, क्वाथ-५०-१०० मि. लि.; क्षीर-५-१० बूंद।

विशिष्ट योग—उदुम्बरसार।

× × ×

'उदुम्बरः क्षीरवृक्षो हेमदुग्धः सदाफलः। अपुष्पफलसंबद्धो यज्ञांगः शीतवल्कलः॥
'उदुम्बरः क्षीरवृक्षो हेमदुग्धः सदाफलः। अपुष्पफलसंबद्धो यज्ञांगः शीतफलः पवित्रः सुप्रतिष्ठितः॥'
कृमिवृक्षो जन्तुफलो मशकी जघनेफलः। पुष्पशून्यः शीतफलः पवित्रः सुप्रतिष्ठितः॥'
'उदुम्बरो हिमो रूक्षो गुरुः पित्तकफास्रजित्। मधुरस्तुवरो वर्ण्यो व्रणशोधनरोपणः॥'

(भा. प्र.)

'औदुम्बरं कषायं स्यात् पक्वं तु मधुरं हिमम्। कृमिकृत् रक्तपित्तघ्नं मूर्च्छादाहतृषापहम्॥'

(ध. नि.)

'उदुम्बरक्काथयुतं सिताढ्यं सुगंधशालिप्रभवं सितं च।
या पिष्टमश्नाति न गर्भपातपीडामसौ विन्दति जातु नारी ॥'। (शो.)
'नारीस्तन्येन संयुक्तां पिबेदौदुम्बरीं त्वचम्। आभ्यां वा पायसं सिद्धं दद्यादस्रग्निशान्तये॥'
(च. चि. ११)

W. I., IV, 35-36.
B. B. O., III, 880.

२८८. अश्वत्थ

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष पंचवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (मोरेसी–Moraceae)।

नाम—लै०-फाइकस रिलिजिओसा (Ficus religiosa Linn.), सं०-अश्वत्थ, पिप्पल, चलपत्र, बोधिद्रु; हि०-पीपल; बं०-अश्वत्थ, आशुद; मं०-पिंपल; गु०-पीप्लो; ता०-अश्वत्थम्; ते०-अश्वत्थमु; मल०-अश्वत्थम्; कन्न०-अश्वत्थ; अ०-शज्रतुल मुर्तअश; फा०-दरख्ते लर्जा; अं०-सैक्रेड फिग (Sacred fig.), पीपल (Peepal)।

स्वरूप—इसका वर्षायुपत्रक **वृक्ष** बड़ा होता है। पुराने वृक्ष की छाल फटी सी, श्वेतधूसर होती है। **पत्र**-पतले, चिकने, ५–७ सिरायुक्त, लट्वाकार, लंबाग्र नीचे की ओर लटकते होते हैं। **फल**-छोटे, ½ इंच व्यास के, अक्षीय युग्मों में, अवृन्त, गोलाकार, दबे हुए, कच्चे में हरे और पकने पर बैंगनी या काले हो जाते हैं। ग्रीष्म में फल लगते हैं और वर्षा में पकते हैं। पुराने पीपल के वृक्ष पर लाह लगती है। हिन्दुओं के समाज में इसका अत्यधिक धार्मिक महत्त्व है। बौद्धों का तो यह प्रतीकवृक्ष ही है।

उत्पत्तिस्थान—भारत में यह सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में टैनिन (४%) होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष
रस—कषाय, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वर्ण्य, व्रणरोपण, वेदनास्थापन, शोथहर तथा रक्तशोधक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल स्तम्भन है। पका फल मधुर होने से स्नेहन, अनुलोमन और मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—छाल कफघ्न तथा फल श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—छाल, मूल, फल तथा त्वक् गर्भस्थापन और वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वर्णविकारों में अश्वत्थ-शुंग का लेप करते हैं। व्रणों में छाल का अवचूर्णन करते हैं। वेदना, शोथ तथा रक्तस्राव में दूध लगाते हैं। व्रणशोथ, भगन्दर तथा मुखपाक में भी छाल का प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छाल छर्दि, अतिसार, प्रवाहिका में देते हैं। पका फल उदरशूल, विबन्ध में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकारों में छाल का क्वाथ मधु मिला कर पिलाते हैं। रक्तपित्त में छाल तथा फल देते हैं।

श्वसनसंस्थान—छाल का क्वाथ या स्वरस कुकुरखाँसी में तथा फल का चूर्ण श्वासरोग में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन के लिए फल का चूर्ण देते हैं। वाजीकरण के लिए फल, मूल, त्वक् तथा शुङ्ग से सिद्ध क्षीर का चीनी और मधु मिला कर सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में छाल तथा फल देते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—छाल, फल, शुंग, क्षीर।

मात्रा—क्वाथ-५०–१०० मि.लि.

× × ×

'पिप्पलो दुर्जरः शीतः पित्तश्लेष्मव्रणास्रजित्। गुरुस्तुवरको रूक्षो वर्ण्यो योनिविशोधनः॥'
(भा. प्र.)

'पिप्पलः सुमधुरस्तु कषायः शीतलश्च कफपित्तविनाशी।
रक्तदाहशमनः स हि सद्यो योनिदोषहरणः किल पक्वः॥' (रा. नि.)

'बोधिद्रुमकषायन्तु पिबेत्तं मधुना सह। वातरक्तं जयत्याशु त्रिदोषमपि दारुणम्॥'
(च. चि. २९)

'अश्वत्थफलमूलत्वक्शुङ्गसिद्धं पयो नरः। पीत्वा सशर्कराक्षौद्रं कुलिङ्ग इव हृष्यति॥'
(सु. चि. ११)

F. I., IV, 38-39.

२८९. प्लक्ष

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०); न्यग्रोधादि (सु०); क्षीरिवृक्ष, पञ्चवल्कल (भा०)।

कुल—वट-कुल (मोरेसी–Moraceae)।

नाम—लै०–फाइकस लैकर (Ficus lacor Buch.–Ham.), सं०–प्लक्ष, पर्कटी; हि०–पाकर, पकड़ी; बं०–पाकुड़; म०–बस्सारी; गु०–पेपरी; ता०–जोवि; ते०–बडिजुव्वि; मल०–चेला; कन्न०–बसरी, जुव्वि।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** बड़ा होता है। **छाल**–हरिताभ धूसर होती है। **पत्र**–४–५ इञ्च लंबे, लट्वाकार–आयताकार, झिल्लीदार, लंबाग्र, सरल या तरंगितधार होते हैं तथा इसमें ४–१० जोड़ी सिरायें होती हैं। शुंग खट्टे होते हैं। **फल**–श्वेत वर्ण या रक्ताभ और बिन्दुकित, प्रायः गोलाकार, छोटे, अक्षीय युग्मों में होते हैं। ग्रीष्म–वर्षा में पुष्प–फल आते हैं।

जाति—इसके निम्नांकित तीन भेद होते हैं :—

१. Var. infectoria
२. Var. lambertiana
३. Var. wightiana

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तशोधक, शोथहर तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—शामक है।

पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तहर तथा रक्तशोधक है।

प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, शोथ, विसर्प तथा व्रणों में इसकी छाल

का अवचूर्णन या लेप करते हैं। मुखपाक में इसकी छाल के काढ़े से कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मूर्च्छा, प्रलाप, भ्रम आदि मानसिक विकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका आदि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा अन्य रक्तविकारों में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर तथा श्वेतप्रदर में दिया जाता है। श्वेतप्रदर में छाल के काढ़े की उत्तरबस्ति तथा वर्त्ति भी लगाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

तापक्रम—दाह में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि. लि.

× × ×

'प्लक्षः कषायः शिशिरो व्रणयोनिगदापहः। दाहपित्तकफास्रघ्नं शोथहा रक्तपित्तहृत्॥ रक्तदोषहरो मूर्च्छाप्रलापभ्रमनाशनः।' (भा. प्र.)

F. I., IV, 36–97.

२९०. शाल

परिचय

गुण—वेदनास्थापन, कषायस्कन्ध, आसवयोनिवृक्ष (च०), सालसारादि, रोध्रादि (सु०)

कुल—शाल-कुल (डिप्टरोकार्पी–Dipterocarpeae)।

नाम—लै०–शोरिया रोबस्टा (Shorea robusta Gaertn.); सं०–शाल (शोभायमान), सालसार (सालेषु वृक्षेषु सार श्रेष्ठः सारवान्–वृक्षों में उत्तम-सारवान्), धूपवृक्ष (रालयुक्त); हि०–साल, साखू, सखुआ; बं०–शाल, म०–गु०–शालवृक्ष; ते०–जलरीचेट्टू; ता०–तालूर, कुंगिलियम; म०–कारिमरुथु; क०–बाइलबोबु; अं०–शाल ट्री (Sal tree)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** १५० फीट तक लम्बा और १५ फीट तक मोटा, सीधा और अल्पछाय होता है। छोटे वृक्ष की छाल कोमल और बड़े वृक्ष की १–२ इञ्च मोटी, ऊबड़खाबड़ और फटी हुई होती है। **कांड** अतिदृढ़, सारबहुल और रक्ताभ कपिश होता है। **पत्र**–एकान्तर, लट्वाकार या अयताकार, ४–१२ इञ्च लम्बे और २–८ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्रमूल हृदयाकृति तथा पत्रवृन्त लगभग १ इञ्च लम्बा होता है। पुष्प–५–६ इञ्च लम्बी अक्षीय या शाखाग्र मंजरियों में एक पार्श्विक, हरित–पीत वर्ण के होते हैं। अन्तर्दल–भालाकार, लम्बाग्र, ½ इञ्च के होते

हैं। फल–३ इञ्च, अण्डाकार, श्वेतवर्ण और कोमल होता है तथा पकने पर धूसरवर्ण हो जाता है। इसके साथ २–४ इञ्च लम्बे चमसाकार ५ पक्ष लगे रहते हैं। मार्च मास में पुष्प और मई–जून में फल लगते हैं। इसका निर्यास पारदर्शक और स्वच्छ होता है इसे राल या धूना कहते हैं। संस्कृत में इसे शालनिर्यास, सर्जरस और यक्षधूप कहते हैं। इसके गुणकर्म प्रायः गन्धाबिरोजा के समान होते हैं।

जाति—राजनिघण्टु में 'सर्जयुग्म' से शाल और सर्ज का ग्रहण किया है। टीकाकारों ने एक 'शालभेद' का भी उल्लेख किया है जो संभवतः टर्मिनेलिया एलेटा (Terminalia alata Heyne ex Roth) है। यह असना, सैन या साज के नाम से प्रसिद्ध है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की तराई में विशेष होता है। उत्तर भारत में कांगड़ा से आसाम तक तथा दक्षिण में पश्चिम बंगाल से उड़ीसा, आंध्र और मध्यप्रदेश तक अधिक देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ७–१२ प्र० श० कषायद्रव्य होते हैं जो जल में उबालने पर खदिरसार के समान प्राप्त होते हैं।

गुण

गुण—रूक्ष **रस**—कषाय (त्वक्), कषाय–मधुर (राल)
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत
प्रभाव—वेदनास्थापन

कर्म

दोष कर्म—यह कषाय होने से पित्त और कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—राल व्रणशोधन, व्रणरोपण, संधानीय तथा जन्तुघ्न है। यह कर्णरोगों को दूर करता है।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—कषाय होने से यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्तम्भन है।

श्वसनसंस्थान—इसकी छाल कफघ्न है। राल कफनिःसारक और कफदुर्गन्धिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रसंग्रहणीय है। राल मूत्रगत जीवाणुओं को नष्ट करता है।

प्रजननसंस्थान—इससे गर्भाशय का शोथ एवं योनिस्राव दूर होता है।

त्वचा—यह कुष्ठघ्न और स्वेदापनयन है।

सात्मीकरण—यह कषाय होने से सन्धानीय है। रूक्षता के कारण इससे मेद का शोषण भी होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—छाल विशेषतः कफपित्तजनित रोगों में प्रयुक्त होती है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण एवं वेदनाशोथयुक्त रोगों में इसकी त्वचा एवं राल का लेप किया जाता है। पूतिहर एवं जन्तुनाशन कर्म के लिए राल का मलहम लगाते हैं। फोड़े, विद्रधि, अग्निदग्ध, दद्रु, विपादिका आदि चर्मरोगों में भी राल का लेप करते हैं। राल का धूप भी देते हैं। कर्णपूय में इसकी छाल के क्वाथ से कान धोते हैं।

आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—शरीर में कहीं पर वेदना हो तो इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं। विशेष कर अभिघात, व्रण आदि से उत्पन्न वेदना में यह लाभकर होता है।

पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन होने से अतिसार, रक्तप्रवाहिका और रक्तार्श आदि में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तस्राव तथा रक्तस्रावजन्य पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न होने से कासश्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में जन्तुघ्न होने के कारण तथा प्रमेह में स्तम्भन होने के कारण इसे देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रदर (रक्त और श्वेत) आदि योनिव्यापद में त्वक्क्वाथ एवं राल का प्रयोग किया जाता है।

त्वचा—यह अतिस्वेद एवं कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न, व्रण एवं मेदोरोग में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, निर्यास (राल)।

मात्रा—त्वक् क्वाथ–५०–१०० मि० लि०, रालचूर्ण—१–३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—सालसारादि क्वाथ, सर्जरसादि मलहर, अतस्यादि लेप।

× × ×

'शालः कषायो ग्राह्यसृग्दधरुक्कफजिद्धिमः। कर्णरोगहरो रूक्षो विषहा व्रणशोधनः॥'
(कै. नि.)

सालसारादिरित्येष गणः कुष्ठविनाशनः।
मेहपाण्ड्वामयहरः कफमेदोविशोषणः॥ (सु. सू. ३८।१०)

'कुष्ठकण्डूकृमिश्लेष्मवातपित्तरुजो जयेत्। सर्जयुग्मं कषायं स्याद्वर्ण्यं रुच्यं कफापहम्॥'
(ध. नि.)

'रालः स्वादुः कषायश्च स्तम्भनो व्रणरोपणः। विपादीभूतहन्ता च भग्नसंधानकृन्मतः॥'
(रा. नि.)

W. I., IX, 313–20.

२९१. सर्ज

परिचय

गण—कषायस्कन्ध (च०)

कुल—शाल-कुल (डिप्टोकार्पी–Dipterocarpeae)।

नाम—लै०–वेटिरिया इण्डिका (Vateria indica Linn.); सं०–सर्ज (सृजति निर्यासम्–जिससे गोंद निकले), हि०–कहरुवा, सफेद डामर; संद्रस, बं०–चन्द्रस; ते०–तेल्लदामरु; ता०–वेलै कुन्दरुक्कम्; मल०–पयिन।

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष होता है। **पत्र**–५–८ इंच लंबे और २½–३½ इञ्च चौड़े, आयताकार या अण्डाकार–आयताकार, गोलाग्र या हलके लम्बाग्र होते हैं। पत्रसिरायें १४ जोड़ी, हलकी, पत्रवृन्त १½ इञ्च लंबा होता है। उपपत्र–½ इञ्च लंबा, तिरछे भालाकार तथा लंबाग्र होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**–६–८ इञ्च लंबी, शाखाग्रीय, शाखायुक्त होती है। पुष्पदण्ड–½ इञ्च लंबा, पुष्प ¾ इञ्च व्यास के होते हैं। बहिर्दल–भालाकार, गोलाग्र होते हैं। अन्तर्दल–अण्डाकार–आयताकार, गोलाग्र तथा सफेद होते हैं। पुंकेशर अनेक (प्रायः ५०), **फल**–२½ इञ्च लंबे, १½ इञ्च चौड़े, आयताकार, गोलाग्र, मांसल तथा त्रिकपाटीय होते हैं। प्रत्येक कपाट में एक बीज होता है। इसका निर्यास चन्द्रस या सफेद डामर कहलाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह दक्षिण–पश्चिम भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों से ४९·२ प्रतिशत एक तैल प्राप्त होता है जो हरिताभ पीत, सुगन्धि और जमा हुआ होता है। इसमें ओलिक एसिड तथा अन्य वसाम्ल होते हैं।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म प्रायः शाल के समान हैं। इसका तैल स्नेहन, उत्तेजक और वेदनास्थापन है तथा जीर्ण आमवात में प्रयुक्त होता है। इसका निर्यास धूप में प्रयुक्त होता है।

× × ×

'सर्जस्तु तुवरस्तिक्तः हिमः स्निग्धोऽतिसारजित्।
पित्तास्रदोषकुष्ठघ्नः कण्डूविस्फोटवातजित्॥' (रा. नि.)

W. I., X, 436–40.

२९२. धव

परिचय

गण—सालसारादि, मुष्ककादि (सु०); असनादि, मुष्ककादि (वा०)।

कुल—हरीतकी–कुल (कॉम्ब्रेटेसी–Combretaceae)।

नाम—लै०–एनोजीसस लैटिफोलिया (Anogeissus latifolia Wall.) सं०–धव, धुरन्धर, (इसकी लकड़ी मजबूत होने से पहिए बनाये जाते हैं); हि०–धवः बाकली; बं०–दाओया म०–धावड़ा; गु०–धावड़ो; ता०–विल्लाइनाग; ते०–चिरिमनु; मल०–मरुकिन–चिरम्; कन्न०–डिंडुगा; अं०–ऐक्सल–वुड (Axle-wood)

स्वरूप—इसके **वृक्ष** ८० फुट तक ऊँचे समूह में होते हैं। **छाल**–धूसर श्वेत होती है। बाह्य काष्ठ पीताभ होता है। **पत्र**–१½–३ इञ्च लंबे, १–२ इञ्च चौड़े, चिकने, आयताकार, दोनों सिरों पर गोलाग्र होते हैं। **पुष्प**–छोटे, सघन, अक्षीय गोलाकार मुण्डकों में होते हैं। **फल**–छोटे, चंचुयुक्त एवं सपक्ष होते हैं। इस वृक्ष से एक निर्यास निकलता है। फरवरी में पत्तियाँ झड़ जाती हैं और वृक्ष अप्रिल–मई तक निष्पत्र रहता है। सितम्बर–जनवरी में पुष्प तथा दिसम्बर–मार्च में फल पकते हैं।

उत्पत्तिस्थान—समस्त भारत में (आसाम को छोड़ कर) यह शुष्क पार्वत्य प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों, टहनियों और छाल में प्रचुर टैनिन होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—रक्तरोधक, व्रणरोपण और शोथहर है।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में देते हैं।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—क्षत, व्रण तथा शोथ में इसका लेप या प्रक्षालन करते हैं।

आभ्यन्तर–पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा रक्तार्श में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में काण्डसार का क्वाथ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं। इसका निर्यास वृश्चिक और सर्पविष में उपयोगी है।

प्रयोज्य अङ्ग—त्वक्, काण्डसार, निर्यास।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि.लि.; निर्यास १–२ ग्रा०

× × ×

'धवो दृढतरुः गौरः कषायो मधुरत्वचः। पाण्डुतरुः पीतफलो धवलश्च भरोद्वहः॥'

(शि.)

'धवः शीतः प्रमेहार्शः पाण्डुपित्तकफापहः। मधुरस्तुवरस्तस्य फलं तु मधुरं मनाक्॥'

(भा. प्र.)

W. I., I, 81–82.

२९३. तिनिश

परिचय

गण—सालसारादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०–ऑउजिनिया ऊजिनेन्सिस (Ougenia oojeinensis (Roxb.) Hochr.; सं०–तिनिश, स्यन्दन, रथद्रु (लकड़ी मजबूत होने से पहिये आदि बनाते हैं); हि०–सन्दन, छानन; बं०–तिनिश; म०–तिनस्, स्यन्दन; गु०–तणछ; ते०–तेल्ल मोट्कु; ता०–नरिवेंगइ; मल०–मलावेन्ना; कन्न०–कुरीमुतल; उ०–बंजन।

स्वरूप—इसका **वृक्ष**–२०–४० फुट ऊँचा और लगभग ५ फीट मोटा होता है। **काण्डत्वक्**-धूसर या भूरे रंग की, गहरे फटी होती है। त्वचा में क्षत करने से दानेदार रक्तवर्ण गोंद निकलती है। **पत्र**–पक्षवत्, त्रिपर्ण होते हैं। **पत्रक**-लट्वाकार, पलाशपत्र के सदृश, चर्मवत् ३–६ इञ्च लम्बे होते हैं। आगे का पत्रक सबसे बड़ा होता है। **पुष्प**–गुच्छों में, रक्ताभ या गुलाबी, ईषत् सुगन्धित होते हैं। **शिम्बी**–२–३ इञ्च लंबी, चपटी, भूरे रंग की, मूँगफली के सदृश होती है जिसके भीतर २–५ चपटे बीज होते हैं। वसन्त में पुष्प और ग्रीष्म में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालयप्रदेश में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा दक्षिण भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में ७% टैनिन तथा काण्डसार में होमोफेरीरिन (Homoferreirin) तथा आउजेनिन (Oujenin) नामक घटक होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—शोथहर, कुष्ठघ्न, व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, कुष्ठ, श्वित्र एवं व्रणों में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—रक्तविकार और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, त्वक्

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०

× × ×

'तिनिशः श्लेष्मपित्तास्रमेदःकुष्ठप्रमेहजित्। तुवरः श्वित्रदाहघ्नो व्रणपांडुक्रिमिप्रणुत्॥'

(भा. प्र.)

W. I., VII, 195–97.

२९४. अश्मन्तक

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध, अम्लस्कन्ध (पत्र) (च०)।

कुल—वट-कुल (मोरेसी–Moraceae)

नाम—लै०–फाइकस रम्फिआई (Ficus rumphii Blume); सं०–अश्मन्तक; हि०–गजना; बं०–गायश्वत; म०–अष्ट; क०–वेट्टाराली।

स्वरूप—इसका मध्यमप्रमाण का या बड़ा वर्षायुपत्रक वृक्ष होता है। **पत्र**-४-६ इञ्च लंबे, आयताकार-लट्वाकार, लंबाग्र, पीपल के पत्ते के सदृश होते हैं किन्तु पीपल के पत्ते की अपेक्षा इसका वृन्त छोटा तथा अग्रभाग कम लंबा होता है। **फल**-अवृन्त, अक्षीय जोड़ों में, गोलाकार, ½ इञ्च व्यास के, कच्चे में श्वेतवर्ण बिन्दुकित और पकने पर काले रंग के हो जाते हैं। वर्षा और जाड़े में फल पकते हैं। इसकी छाल से मूल निकाले जाते हैं और पेड़ पर लाही लगाई जाती है।

उत्पत्तिस्थान—पंजाब, पूर्वी, पश्चिमी तथा मध्यभारत, आसाम और बंगाल में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—वृक्ष से दूध निकलता है जिसमें ७% रबड़ होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—क्षीर वामक है। त्वक् एवं फल कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है। क्षीर वामक होने से दोष-संशोधनार्थ दिया जाता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—वमनार्थ क्षीर का प्रयोग करते हैं। कृमिरोग में फल या छाल दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय होने के कारण प्रमेह में प्रयुक्त होता है। सुश्रुत ने प्रमेह में अश्मन्तक का फल खाने का विधान किया है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में लेखनार्थ दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, क्षीर, फल

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, क्षीर-१०-२० बूंद

× × × ×

अश्मन्तकः कषायस्तु हिमः पित्तकफापहः।
कषायः शीतसंग्राही कफपित्तास्रदोषनुत् ॥ (ध. नि.)

F. I., V, 512-13.
W. I., IV, 39-40.

२९५. विकंकत

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०)

कुल—विकंकत-कुल (फ्लैकोर्टिएसी-Flacourtiaceae)

नाम—लै०-फ्लैकोर्टिया रैमोंट्चाइ (Flacourtia ramontchi L' Herit); सं०-विकंकत, स्रुववृक्ष (इसकी लकड़ी से यज्ञ की स्रुवा बनती है); गोपकण्टा, हि०-कटाई; बं०-बैंची; म०-ककेट; गु०-कंकोड; ता०-कटुकल, ते०-कन्द्रेगु; कन्न०-हुनमुनकी; अ०-गवर्नर्स प्लम (Governor's Plum)।

स्वरूप—इसका गुल्म या छोटा वृक्ष प्रायः कंटकित होता है। **पत्र**-अनेक आकृति के, आरावत या गोलदन्तुर होते हैं। **पुष्प**-पीत-हरित, ¼ इञ्च व्यास के, गुच्छों या मंजरियों में और कभी-कभी एकल भी पत्तियों के अक्षभाग से निकलते हैं। **फल**-गोलाकार, ½ इञ्च व्यास के, गहरे बैंगनी या लाल रंग के, सरस मांसल होते हैं जिसमें अनेक बीज होते हैं। शिशिर में पत्तियाँ झड़ जाती हैं, वसन्त में पुष्प आते हैं तथा उसके बाद फल लगते हैं।

जाति—आकृति आदि के अनुसार इसके अनेक वानस्पतिक भेद होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय क्षेत्र में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है विशेषतः छोटा नागपुर और दक्षिण भारत में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसके फल में प्रोटीन ०·३७, कार्बोहाइड्रेट २४·२० तथा खनिज पदार्थ ०·३६% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त; (फल) मधुर, अम्ल, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्तरस होने के कारण कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन तथा यकृद्बल्य है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, अपची, ग्रन्थि, अर्बुद आदि में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य तथा कामला में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहरोग में उपयोगी है।
त्वचा—त्वचा के रोगों में लाभकर है।
प्रयोज्य अंग—त्वचा, फल
मात्रा—त्वक्क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

× × ×

गोपकण्टा रसे तिक्ता शीतला शोफनाशिनी।
हन्ति श्लेष्माणमत्युग्रमुद्रक्तं हन्ति योगतः॥ (ध. नि.)
विकंकतोऽम्लो मधुरः पाकेऽतिमधुरो लघुः।
दीपनः कामलास्रघ्नः पाचनः पित्तनाशनः॥ (रा. नि.)

सु. चि. ११।७.
W. I., IV, 43–44.
B. B. O., I, 38.

२९६. कपीतन (पारीष)

परिचय

गण—मूत्रसंग्रहणीय, कषायस्कन्ध (च०) न्यग्रोधादि (सु०)

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी–Malvaceae)

नाम—लै०-थेस्पेसिया पॉपुलनिया (Thespesia populnea Soland. ex Correa.): सं०-कपीतन, पारीष, पार्श्वपिप्पल, गर्दभाण्ड; हि०-पारसपीपल; म०-परसचा झाड; ते०-गंगरावी; ता०-चीलन्ति; मल०-पूवरसु; कन्न०-हूवरसे; अं०-पोर्शिया ट्री (Portia tree)।

स्वरूप—इसका सदाहरित वृक्ष ४० फीट ऊँचा और ४ फीट मोटा होता है। **पत्र**-लट्वाकार-हृद्वत्, ३-६ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्प**-२-३ इञ्च व्यास के, पीले रंग के, बैंगनी आधार युक्त होते है, विशीर्ण होने के समय तक पूरे बैंगनी रंग के हो जाते हैं। **फल**-भूरे रंग के, गोल या आयताकार, १-१½ इञ्च व्यास के होते हैं जिनमें स्थायी बाह्यकोष लगा होता है। **बीज**-चपटे, अंडाकार होते हैं। वर्षाकाल में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं। पेड़ से भूरे रंग की चमकीली गोंद भी निकलती है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में विशेषतः समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में होता है।

रासायनिक संघटन—त्वचा और काण्डसार में टैनिन (७%) तथा एक लाल रंजक द्रव्य होता है। बीजों से लाल रंग का गाढ़ा तैल २०% निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—कषाय
विपाक—कटु　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—कषाय होने के कारण यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह संधानीय, शोथहर, कुष्ठघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक तथा रक्तशोधक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।
प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।
त्वचा—कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—विषघ्न, मेदोहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण, कण्डू, पामा आदि चर्मरोग तथा शोथ में इसका लेप किया जाता है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार तथा अर्श में प्रयोग करते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा रक्तविकारों में यह उपयोगी है।
मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में प्रयुक्त होता है।
प्रजननसंस्थान—प्रदर आदि योनिरोगों में इसका प्रयोग करते हैं।
त्वचा—चर्मरोगों में दिया जाता है।
तापक्रम—दाह की शान्ति के लिए देते हैं।
सात्मीकरण—विषों में तथा मेदोरोग में लेखनार्थ प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—त्वक्
मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

× × ×

कपीतनस्तु पारीषः सुपार्श्वः पार्श्वपिप्पलः।
गर्दभाण्डश्च विज्ञेयः समुद्रतटशोभनः॥
कपीतनो लघू रूक्षः कषायः शिशिरो हरेत्।
कफपित्तप्रमेहास्रकुष्ठयोनिगदव्रणान्॥ (स्व.)

W. I., X, 223–25.
B. B. O., I, 72.

२९७. बीजक

परिचय

कुल—शिम्वी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लैं०-टेरोकार्पस मार्सुपियम् (Pterocarpus marsupium Roxb.); सं०-बीजक, असन, पीतशाल; हि०-विजयसार, बीआ; बं०-पीतशाल, पियासाल; म०-विवला; गु०-बीयो; ता०-वेगइ; ते०-पेद्दगि; मल०-वेंग; कन्न०-बगे; अं०-इण्डियन काइनो ट्री (Indian kino tree) मलाबार काइनो ट्री (Malabar kino tree)।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** १०० फुट तक ऊँचे, ८ फीट तक मोटे होते हैं। **छाल**-धूसरवर्ण तथा उस पर लम्बाई में चीरे होते हैं। बाहरी लकड़ी गुलाबी रंग की, सफेद चिह्न युक्त होती है। पुराने वृक्षों से लाल रङ्ग की गोंद निकलती है। **पत्र**-विषमपक्षवत् ; **पत्रक**-५-७, आयताकार, लहरदार किनारे के होते हैं। **पुष्प**-लम्बी पंजरियों में, सुगन्धित, पीताभ होते हैं। **फल**-१½-२ इञ्च व्यास के, चक्राकार, चपटे, सपक्ष होते हैं जिनके भीतर १-२, कठिन, उन्नतोदर, बीज होते हैं। कम तथा छोटे बीज होने के कारण इसकी संज्ञा 'बीजक' है। शीतकाल के आरम्भ में पुष्प आते हैं तथा पौष-माघ में फल पकते हैं। इसकी लकड़ी पानी में डालने से पहले पीला फिर नीलाभ हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह मध्य एवं दक्षिण भारत, मध्य भारत, विहार, उड़ीसा आदि प्रदेशों के पार्वत्य क्षेत्रों में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी गोंद में विशिष्ट कषायद्रव्य–काइनोटैनिक एसिड (Kino-tannic acid) ७०-८५ प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त, पायरो कैटेचिन (Pyro-catechin), गैलिक एसिड, पेक्टीन, राल, प्रोटोकैटेचुइक एसिड, काइनॉयन, काइनो-रेड पाये जाते हैं। छाल में epicatechin और एक रक्ताभ भूरा रंजक पदार्थ पाया जाता है। काण्डसार में लिक्विरिटिजेनिन,आइसो-लिक्विरिटिजेनिन, क्षाराभ और राल पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, सन्धानीय, कुष्ठघ्न, केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय एवं मधुमेहहर है।

प्रजननसंस्थान—योनिदोषहर है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—सन्धानीय, लेखन एवं रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, विसर्प, श्वित्र, कुष्ठ, उदर्द आदि चर्म-रोगों में पत्र का लेप करते हैं। दन्तशूल में गोंद चबाने को देते हैं। इसके काण्डसार को घिस कर आघातजन्य पीडा में लगाते हैं। पालित्य रोग में इससे सिद्ध तैल बालों में लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार और प्रवाहिका में गोंद तथा छाल का प्रयोग करते हैं विशेषतः बच्चों और स्त्रियों में व्यवहृत होता है। कृमिरोग में छाल का क्वाथ या चूर्ण देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार (वातरक्त, आमवात, सन्धिवात आदि) तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मधुमेह में काण्डसार का क्वाथ पिलाते हैं। इससे मूत्र की मात्रा कम होती है, रक्तगत शर्करा घटती है तथा अन्य उपद्रव शान्त होते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, उदर्द, विसर्प आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—संधानीय होने से यह अभिघातज वेदना, भग्न आदि को ठीक करता है। इसके लिए इसके काण्डसार का क्वाथ दूध और चीनी मिला कर देते हैं। लेखन होने के कारण मेदोरोग में लाभकर है। स्थौल्य, प्रमेह आदि को दूर कर शरीर को स्वस्थ बनाने के कारण नैमित्तिक रसायन का कार्य करता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, निर्यास।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, चूर्ण-३-६ ग्रा०; निर्यास-१-३ ग्रा०।

'बीजकः कुष्ठवीसर्पश्वित्रमेहव्रणक्रिमीन्।
हन्ति श्लेष्मास्त्रपित्तं च त्वच्यः केश्यो रसायनः॥' (भा. प्र.)
'यथा सर्वाणि कुष्ठानि हतः खदिरबीजकौ।' (सु. चि. ६)
'बीजकः सकषायश्च कफपित्तास्त्रनाशनः।' (ध. नि.)

M. C. pandeya. D. AY, M. Thesis (B. H. U.), 1974
W. I., VIII, 302-5.
B. B. O., II, 310-11.

२९८. कारवेल्लक

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च.) ।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसे-Cucurbitaceae).

नाम—लैं०-मर्मोडिका चैरण्टिया (Momordia charantia Linn.); सं०-कारवेल्लक; हि०-करेला; बं०-करला, उच्छे; म०-कारलें; गु०-कारेली; ता०-पवक्का पाकल् ; ते०-काकर, मल०-कैप्पा; कन्न०-हागल; अं०-बिटर गोर्ड (Bitter gourd).

स्वरूप—इसकी वर्षायु आरोहिणी लता होती है। **पत्र**-१-३ इञ्च व्यास के, रोमश, ५-७ असमान खण्डों में विभक्त होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, एकलिंगी होते हैं। **फल**-२-१० इञ्च लम्बे, हरितवर्ण, बीच में मोटे तथा दोनों सिरों पर क्रमशः नुकीले, चंचुयुक्त होते हैं। उनके पृष्ठ भाग पर त्रिकोणाकार उभार होते हैं। **बीज**-½ इञ्च लम्बे, भूरे, चपटे होते हैं। फल शाकार्थ व्यवहृत होता है।

जाति—आकृति के अनुसार इसकी दो जातियाँ होती हैं :—(१) बड़ी और (२) छोटी। बड़ी जाति को कारवेल्लक तथा छोटी को कारवेल्ली (करैली) कहते हैं। उद्भवकाल के अनुसार जेठुआ और बरमसिया दो जातियाँ होती है। पहला गर्मियों में होता है और दूसरा बरसात में फलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—फल में ऐसकोर्बिक एसिड पर्याप्त (१८८ मि० ग्रा० १०० ग्रा०) होता है। फल और पत्तों में दो क्षाराभ होते हैं जिसमें एक मोमोर्डिकिन (Momordicine) है। पौधे में एक तिक्त ग्लुकोसाइड, एक राल, सुगन्धित तैल, सैपोनिनसदृश पदार्थ तथा म्युसिलेज होते हैं। बीजों में एक क्षाराभ तथा एक कृमिघ्न घटक होता है। बीजों से रक्ताभ भूरे रंग का एक तैल (२६.५%) भी निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है किन्तु उष्ण होने से वात को नहीं बढ़ाता।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, व्रणशोधन, व्रणरोपण, दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, पित्तसारक, भेदन तथा कृमिघ्न है,

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यशोधन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न हैं।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—मेदोनाशक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, व्रण तथा अर्श में इसका लेप करते हैं। दाह में पत्रस्वरस और उसका फेन लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, विबन्ध, अर्श तथा कृमि में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—शोथ और रक्तविकारों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध तथा स्तन्यविकार में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मधुमेह में यह उत्तम कार्य करता है। इससे रक्तगत शर्करा कम होती है, आमदोष का पाचन होता है, यकृत् तथा आमाशय की क्रिया सुधरती है तथा अग्न्याशय को उत्तेजित कर इन्सुलीन के स्राव को बढ़ाता है।

त्वचा—उदर्द, कुष्ठ आदि में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है। ज्वर में करैले का शाक पथ्य में देते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, फलत्वक्।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०।

वक्तव्य—करैले के अतियोग से उपद्रव होने पर चावल और घी खिलाते हैं।

× × ×

कारवेल्लं सकटुकं कटुपाकमवातलम्। दीपनं भेदनं तिक्तमवृष्यमहिमं लघु ॥
हन्त्यरोचकपित्तास्रकफपाण्डुव्रणक्रिमीन्। श्वासकासप्रमेहाश्मकोठकुष्ठज्वरानपि ॥
(कै० नि०)

W. I., VI, 408-11.

२९९. सप्तचक्रा

परिचय

कुल—सप्तचक्रा-कुल (हिपोक्रेटिएसी–Hippocrateaceae).

नाम—लै०-सैलेसिया चाइनेन्सिस (Salacia chinensis Linn.) सं०-सप्तचक्रा (मूल काटने पर उसमें सात चक्र दीखते हैं), स्वर्णमूल (मूल की बाह्य त्वचा स्वर्णवर्ण होती है), हि०-सप्तरंगी, बं०-डिमल; म०-इंगली; मल०-चेरुकुरण्टी; गोवा-सतगुंडा, ।

स्वरूप—इसका सदाहरित छोटा वृक्ष या बड़ा काष्ठीय लतागुल्म होता है। **पत्र**-लट्वाकार से भालाकार, ३–६ इञ्च लंबे, ¾–२ इञ्च चौड़े, अखण्ड या सूक्ष्मदन्तुर होते हैं। **पुष्प**-पीताभ, प्रत्येक अक्ष में ३–६, गुच्छ होते हैं। **फल**-छोटे, गोलाकार, ½–१ इञ्च व्यास के, पकने पर लाल, एकबीजी होते हैं। फलमज्जा श्वेत खाने योग्य होती है। दिसंबर–जनवरी में पुष्प तथा अप्रिल में फल लगते हैं। मूल की बाह्य त्वचा सुनहले रंग की तथा मूल काटने पर भीतर सात चक्र दिखाई पड़ते हैं। ताजे मूल में इन्द्रधनुष के सदृश भिन्न-भिन्न वर्ण दिखाई देते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मलाबार, बम्बई से कुर्ग तक समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में, नदी-नालों के किनारे तथा जङ्गलों में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में दो १, ३–डाइकेटोन, वसा, रबर, Dulcitol, मैंगिफेरिन, फ्लोबेटैनिन, ग्लाइकोसाइडल टैनिन, Leucopelargonidin पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण	**रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक और वातोदासीन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा पित्तसारक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधन और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय तथा मधुमेहहर है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवजनन तथा गर्भाशयोत्तेजक है।

त्वचा—यह स्वेदापनयन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में तथा संशोधनार्थ पित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके मूल का लेप अर्शांकुरों पर करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यकृद्विकार तथा अर्श में यह लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, प्रमेहपिडका तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मधुमेह में इसका प्रयोग करते हैं। इससे मूत्र कम आता है और उसमें शर्करा भी कम होती है। रोगी का साधारण स्वास्थ्य भी इससे अच्छा होता है।

प्रजननसंस्थान—यह आर्त्तवरोध तथा कष्टार्त्तव में लाभकर है। अधिक देने से गर्भपात भी हो जाता है।

त्वचा—अतिस्वेद में इसका प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०

× × × ×

सप्तचक्रा लघू रूक्षा तीक्ष्णा तिक्तकषायका।
वीर्योष्णा मधुमेहघ्नी यकृद्रोगहरा परम् ॥
रजोरोधं रजःकृच्छ्रं कफं पित्तं च नाशयेत् ॥ (स्व.)

W. I., IX, 168.
F. I., III, 627.
B. B. O., I, 197.

३००. बिम्बी

परिचय

गण—मूलिनी (च०); ऊर्ध्वभागहर (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी–Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-कॉक्सिनिया इण्डिका (Coccinia indica W. & A.); सं०-बिम्बी, तुण्डिका (शुकतुण्डवत् फल), तुण्डिकेरी; हि०-कुंदरू, तिरकोल; बं०-तेलाकूचा; म०-तडली; गु०-टिंडोरा, घोवे; पं०-कन्दुरी; ता०-कोबई काई; ते०-डोंडाकापा; कन्न०-तोंडेकाइ।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु प्रताननी या आरोहिणी **लता** होती है। **काण्ड**-पंचकोण होता है। **पत्र**-विच्छेदयुक्त, त्रिकोण या पंचकोणाकार, दन्तुर, लट्वाकार या अण्डाकार २–४ इञ्च लम्बे तथा लगभग २ इञ्च व्यास के होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, बड़े, २–४ के गुच्छों में, श्वेत होते हैं। **फल**-स्निग्ध, मांसल, बेलना-

कार, १-२ इञ्च लम्बा, कच्चे में हरा तथा पकने पर सुन्दर चमकीले लालरंग का हो जाता है। इसके पृष्ठ पर दस श्वेत धारियाँ होती हैं। फल में अनेक बीज होते हैं। मूल लम्बा कन्दवत् होता है।

जाति—यह कटु और मधुर दो प्रकार की होती है। कटु जंगली और मधुर ग्राम्य होती है। कटु जाति का पञ्चांग तिक्त होता है और इसका औषधार्थ उपयोग होता है। मधुर जाति के फल का शाक में व्यवहार करते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में वन्य रूप से होता है। बंगाल बिहार में बहुत होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में राल, एक क्षाराभ, स्टार्च, शर्करा, गोंद, वसा, कार्बनिक अम्ल तथा भस्म १६ प्रतिशत होती हैं। इनके अतिरिक्त, एक किण्वतत्त्व भी पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण   **रस**—तिक्त
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है। वमन के द्वारा कफ का तथा रेचन के द्वारा पित्त को बाहर निकालता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण, शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, वमन, रेचन, यकृदुत्तेजक तथा प्रवाहिका के कृमि (E. H.) को भी नष्ट करता है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय तथा मधुमेहहर है।

त्वचा—स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसकी पत्तियों को गरम कर शोथ में बाँधते हैं। पत्रस्वरस व्रणों में देते हैं। कच्चा फल मुखपाक में चबाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृद्विकार, कामला तथा प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं। वमन और रेचन के लिए कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में इसके मूल और फल का प्रयोग होता हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः मधुमेह में यह लाभकर है। इसका पत्र या मूलस्वरस एतदर्थं दिया जाता है। ओजोमेह में भी उपयोगी है। पूयमेह में भी देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल।

मात्रा—स्वरस–१०–२० मि० लि०।

× × ×

'तुण्डिका कफपित्तासृक्शोथपांडुज्वरापहा। श्वासकासापहं स्तन्यं फलं वातकफापहम् ॥'

'तिक्तं प्रसूनं पित्तघ्नं तत्परं कामलापहम्।' (कै. नि.)

'तिक्तबिम्बीफलं तिक्तं पित्तघ्नं वातकोपनम्। विषघ्नमतिरुच्यं स्यात् गुरु श्लेष्मकरं न च॥

शोफास्रपाण्डून् जयति न मेध्यं छर्दिकृत् परम् ॥' (कै. नि.)

W. I., II, 257.

M. P. I, I, 261–63.

नवम अध्याय

ज्वरघ्नादि वर्ग

ज्वरघ्न

३०३. सहदेवी

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

नाम—लै०-वर्नोनिया साइनेरिया (Vernonia cineria Less); सं०-सहदेवी; हि०-सहदेई; बं०कुकसिम; म०-सदोड़ी; गु०-सदोरी; ता०-सिरासंगलामीर; ते०-गरिटी कम्मा; कन्न०-सहदेवी; मल०-पुवनकोडन्तेल; अं०-पर्पल फ्लीबेन (Purple fleabane)।

स्वरूप—इसका कोमल **क्षुप** ६ इञ्च से ३ फीट तक ऊंचा होता है। **काण्ड**-पतला, परिखायुक्त तथा शाखायें रोमश होती हैं। **पत्र**-अनेक आकार के (भालाकार, अंडाकार); रोमश, अवृन्त या सूक्ष्मवृन्त, १-२ इञ्च लम्बे-चौड़े, मंजरियों के अग्रभाग में होते हैं। **पुष्प**-गुलाबी या बैंगनी रंग के सूक्ष्म मुण्डकों में होते हैं। **फल**-१·२५ मि० मी० लम्बे, आयताकार होते हैं। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें क्षाराओं की उपस्थिति पाई गई है। बीजों में ३८% एक तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन तथा ज्वरघ्न है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन, कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।
मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीभेदन और मूत्रल है।
त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वेदना में इसका लेप करते हैं। ज्वर में इसका मूल शिखा में बांधते हैं तथा इसका स्वरस शरीर में मलते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा स्नायुक कृमि में इसके पत्रकल्क का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अर्श और कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, श्लीपद में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरी तथा मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ तथा अन्य चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं। कुनैन के साथ विषमज्वर में भी यह अच्छा लाभ करता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०, क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

× × × ×

'दण्डोत्पला सहदेवी विषमज्वरनाशिनी। सहदेवी द्विधा प्रोक्ता श्वेता नीला य पुष्पतः॥
द्वयं चैकान्तरं हन्ति भक्षणात् धारणादपि। निद्राकरा धृता शीर्षे नीला सिध्मविनाशिनी॥'
'सहदेवीकृता पिण्डो सर्वविस्फोटनाशिनी।' (शो.)
'स्वरसैः सहदेव्या वा सिद्धं तैलं ज्वरं जयेत्।'
'सहदेवीशिफा बद्धा श्वेतसूत्रेण कन्यया। निहन्ति दक्षिणे पाणौ ज्वरभूतग्रहादिकान्॥'
(वै. म.)

ज्वरं हन्ति शिरोबद्धा सहदेवीजटा यथा।' (च. सू. २६)

W. I., IX, 448-49.

३०४. किराततिक्त

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, स्तन्यशोधन, तृष्णानिग्रहण (च०) आरग्वधादि (सु०)।

कुल—भूनिम्ब-कुल (जेन्शिएनेसी-Gentianaceae)।

नाम—लै०-स्वर्शिया चिरायिता (Swertia chirayita (Roxb. ex Flem.) Karst.); सं०-किरात, किराततिक्त (वनों में होनेवाला तिक्त द्रव्य); हि०-चिरायता; बं०-चिरेता; पं०-चरैता; म०-किराईत; गु०-करियातुं; ता०-नीलवेम्बु; ते०-नीलवेमु; कन्न०-नीलबेवु; मल०-नीलवेप्पा; अं०-कसबुजजरीरा; फा०-नैनिहाबंदी; अं०-चिरेट्टा (Chiretta)।

स्वरूप—इसका वर्षायु **क्षुप**-२–४ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-स्थूल नीचे गोलाकार तथा ऊपर की ओर चतुष्कोण होता है। **पत्र**-अभिमुख, २–३ इञ्च लंबे, ½–¾ इञ्च चौड़े, भालाकार नोकदार पांचसिरायुक्त, प्राय: अवृन्त होते हैं। नीचे की पत्तियाँ बड़ी और ऊपर की छोटी होती हैं। **पुष्पमञ्जरी**-अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त होती है जिसपर हरित-पीत, बैंगनी आभायुक्त छोटे पुष्प आते हैं। **फल**-अंडाकार, ६ मि० मी० व्यास के, नुकीले तथा बीज चिकने एवं बहुकोणीय होते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प आते हैं। फल पक्व होने पर इसका संग्रह करते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ पाई जाती हैं जिनमें तिक्तता का भी अन्तर होता है। इनमें S. ciliata (G. Don.) Burtt, S. paniculata Wall; S. lawii Burkill.. S. alata (D. Don.) Royle ex C. B. Clarke प्रमुख हैं। वे किरात के प्रतिनिधि या अपद्रव्य के रूप में प्रचलित हैं। काण्ड के भीतर निरन्तर बड़े स्पंजी तन्तुसमूह, भूरे रंग तथा अतितिक्त रस से असली चिरायता (S. chirayata) की पहचान की जा सकती है। भावप्रकाश ने इसी के अनुसार तिक्त और अर्धतिक्त ये दो भेद किये हैं। अर्धतिक्त प्रकार को मीठा चिरायता भी कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में कश्मीर से भूटान तक ४ हजार से १० हज़ार फीट की ऊँचाई पर होता है। नेपाल में विशेष होता है। व्यापार में चिरायता प्राय: वहीं से आता है। मध्यप्रदेश, दक्षिण भारत में भी होता है।

अपमिश्रण—चिरायते में उपर्युक्त प्रजातियों के अतिरिक्त S. angustifolia तथा कालमेघ (Andrographis paniculata) और मञ्जिष्ठा (Rubia cordifolia) की मिलावट की जाती है।

रासायनिक संघटन—इससे ९ जैन्थोन निकाले गये हैं। मैंगिफेरिन (Mangiferin) नामक ग्लुकोसाइड तथा जेन्शयनिन (Gentianine) नामक क्षाराभ भी होता है। I. P. के अनुसार चिरायता में तिक्त घटक १·३% से कम नहीं होना चाहिए। भस्म ४–६ प्रतिशत होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त होने से कफ-पित्त तथा उष्णवीर्य होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार यह त्रिदोषशामक है। विशेषत: कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणशोधन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—आक्षेपहर तथा निद्राजनन है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, तृष्णानिग्रहण, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, रक्तशोधक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यशोधन है।

त्वचा—स्वेदजनन तथा कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों विशेषत: कफपैत्तिक रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसके क्वाथ से व्रणों को धोते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, तृष्णा, यकृद्विकार, कामला, विबन्ध तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार तथा शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—कास और श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकार में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, चर्मरोग में देते हैं।

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में चिरायता देते हैं। इससे ज्वर, दाह, यकृत्प्लीहा आदि शान्त होते हैं और रोगी का दौर्बल्य दूर होता है। ज्वर में चिरायते का काढ़ा अतिप्रसिद्ध है। दाह में भी देते हैं।

सात्मीकरण—अन्न न पचने से जो दौर्बल्य होता है तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—क्वाथ ५०-१०० मि. लि., चूर्ण १–३ ग्रा०

विशिष्ट योग—सुदर्शन चूर्ण, किरातादि क्वाथ।

× × × ×

'किरातः सारको रूक्षोऽशीतलस्तिक्तको लघुः। सन्निपातज्वरश्वासकफपित्तास्रदाहनुत्॥
कासशोथतृषाकुष्ठज्वरव्रणकृमिप्रणुत्।' (भा. प्र.)

'किरातको रसे तिक्तः सरोऽशीतो लघुस्तथा। श्लेष्मपित्तास्रशोफार्शःकासतृष्णाज्वरापहः॥' (ध. नि.)

W. I., X, 78–80.
F. I., IV, 124.
I. P., 163–64.
Prem Vrata Sharma : Ph. D. (pharmaceutics) thesis. (B. H. U.). 1974.

३०५ हरिद्रु

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी-Rubiaceae)।

नाम—लै०-एडिना कॉर्डिफोलिया (Adina cordifolia Benth & Hook. f.); सं०—हरिद्रु, पीतदारु, कदम्बक; हि०—हल्द; बं०—केलिकदम्ब, धूलिकदम्ब, दाकम्; म०—हेद; हलदरवा; गु०—हलदरवो; ता० मल०—मञ्जकदम्ब; ते०—पसुपु-कदम्ब; कन्न०—अरसिटेगा; उ०—हलन्द।

स्वरूप—इसके **वृक्ष** बहुत ऊँचे होते हैं। **पत्रवृन्त**–१–२ इञ्च लंबा, **पत्र**-अभिमुख, ४–६–इञ्च व्यास का, प्रायः वृत्ताकार या लट्वाकार, आधार पर हृद्वत्, तीक्ष्णाग्र होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण, अक्षीय, $\frac{3}{4}$–१ इंच व्यास के, प्रायः लबाई में एक पंक्ति में तीन होते हैं। **फल**–सुपारी के सदृश, प्रायः $\frac{1}{2}$ इंच व्यास के होते हैं जिसमें ५ बीज होते हैं। **पुष्प**–जून-जुलाई में तथा फल फरवरी-मई में लगते हैं। काण्ड त्वक् श्वेत या धूसर होती है। **काष्ठ**–कठिन, दृढ़, पीतवर्ण होता है किन्तु कुछ काल बाद रक्ताभ भूरे रंग का हो जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की निचली पहाड़ियों में नेपाल से आसाम तक तथा दक्षिण भारत (विशेषतः पूर्वी घाट, कर्नाटक तथा कोंकण) में मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक तिक्त पदार्थ, टैनिन ७·२७–९·६% तथा एक पीत रंजक पदार्थ (Adinin) होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, वर्ण्य, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, स्तम्भन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितस्थापन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, वर्णविकार तथा व्रणों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, वमन, तृष्णा, यकृद्विकार, ग्रहणी तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर में उपयोगी है। इससे ज्वर, दाह शान्त होते हैं, यकृद् की क्रिया ठीक होती है तथा बल बढ़ता है।

सात्मीकरण—पाण्डु तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि० लि०

× × ×

'हरिद्रुको महावृक्षः कदम्बाभफलो गिरौ। भवेत् वृत्तदलः पीतकाष्ठः श्रीमान् सुदारकः॥'
(शि.)

'हरिद्रुः शीतलस्तिक्तो मंगल्यः पित्तवान्तिजित्।
अंगकान्तिकरो बल्यो नानात्वग्दोषनाशनः॥' (रा. नि.)

W. I., I, 32–33.
B. B. O., II, 441–42.

३०६ त्रायमाणा

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध (च०); लाक्षादि (सु०)।

कुल—भूनिम्ब-कुल (जेन्शिएनेसी-Gentianaceae)।

नाम—लै०-जेन्शियाना कुरो (Gentiana kurroo Royle); सं०—त्रायमाणा, त्रायन्ती, गिरिसानुजा; हि०—(सोलन) कड़ू, (कश्मीर) नीलकण्ठ, तीता; अं०—इण्डियन जेन्शियन (Indian gentian)।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु **क्षुप** १ फुट तक ऊंचा पहाड़ के चट्टानों के बीच-बीच गढों में होता है। पौष्पिक काण्ड २–१२ इंच ऊँचे होते हैं जिन पर १–४ नीले रंग के **पुष्प** लगे होते हैं। **मूलीय पत्र**–३ इंच लंबे, $\frac{1}{3}$ इंच चौड़े, आयताकार-भालाकार, समूहबद्ध होते हैं। काण्डीय पत्र–रेखाकार, १ इंच लंबे, युग्म होते हैं जो मूलभाग में ससक्त होकर नलिकाकार हो जाते हैं। **फल**–$\frac{3}{4}$ इञ्च लंबे, $\frac{1}{6}$ इञ्च चौड़े होते हैं। **बीज**–छोटे, चौड़ाई से दूने लंबे होते हैं। **मूल**–दृढ़, बेलनाकार, भूरे रंग के, १–३ इञ्च लंबे, लगभग $\frac{1}{2}$ इञ्च व्यास के टुकड़ों में मिलते हैं जिन पर लम्बाई में झुर्रियाँ होती हैं। शरद् में पुष्प आते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति जो ईरान में होती है G. olivieri Griseb है। जिसके फूल 'गुल-ए-गाफिस' के नाम से प्रचलित हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह पश्चिमोत्तर हिमालय तथा कश्मीर में ५ से १० हजार फीट की ऊँचाई पर होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें जेन्शियोपिक्रिन (Gentiopicrin) नामक तिक्त द्रव्य, जेन्शियनिक अम्ल (Gentianic acid); पेक्टिन, अस्फटिकीय शर्करा होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, रोपण, कुष्ठघ्न और केश्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन तथा स्तन्यशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न और स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण, चर्मरोग तथा खालित्य में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, अर्श, आध्मान, शूल, गुल्म, विबन्ध, उदररोग तथा कृमि में उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव तथा स्तन्यविकार में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में अतीव प्रशस्त माना गया है।

सात्मीकरण—पाण्डु तथा ज्वरोत्तर दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण १–३ ग्रा०

वक्तव्य—त्रायमाणा के मूल कुटकी के साथ मिलाये जाते हैं तथा उसके प्रतिनिधि रूप में भी व्यवहृत होते हैं।

× × ×

'त्रायन्ती तुवरा तिक्ता सरा पित्तकफापहा। ज्वरहृद्रोगगुल्मास्रभ्रमशूलविषप्रणुत् ॥' (भा. प्र.)

'त्रायमाणाश्रृतं वापि पयसा ज्वरितः पिबेत्।' (च. चि. ३)

W. I., IV, 124–25.

F. I., IV, 117.

३०७. पटोल

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण (च०); पटोलादि, आरग्वधादि (सु०)।

कुल—कोशातकी-कुल (कुकुर्बिटेसी-Cucurbitaceae)।

नाम—लै०-ट्राइकोसैन्थस डायोका (Trichosanthes dioica Roxb.); सं०-पटोल, कुलक, कर्कशच्छद, राजीफल, बीजगर्भ, हि०-परवल, बं०-पटोल; म०-गु०-परवल; ता०-कम्बुपुदालाई; ते०-कोम्मुपोटला; कन्न०-कादु-पडवल; मल०-पटोलम्; अं०-प्वायंटेड गोर्ड (Pointed gourd)।

स्वरूप—इसकी आरोहिणी **लता** बड़ी लम्बी होती है जो बहुवर्षायु मूलस्तम्भ से निकलती है। **पत्र**-हृदयाकार या लट्वाकार-आयताकार, कर्कश, ३–४ इञ्च लम्बे और २ इंच चौड़े, नुकीले होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, श्वेतवर्ण होते हैं। पुंपुष्प-युग्म दंडों पर एक-एक निकलते हैं। स्त्रीपुष्प एकल होते हैं। **फल**-लम्बगोल, दोनों सिरों पर नुकीले, २–४ इञ्च लम्बे होते हैं। कच्चे फलों के ऊपर हरी धारियाँ तथा पके फल पर लाल धारियाँ होती हैं। फल कच्चे में श्वेताभ हरित तथा पकने पर पीले या रक्ताभ हो जाते हैं।

जाति—इसकी दो जातियाँ होती हैं :—(१) ग्राम्य (मधुर), (२) वन्य (तिक्त)। ग्राम्य जाति का फल मधुर होने से शाक में व्यवहृत होता है तथा वन्य जाति का प्रयोग औषध में होता है। यह सर्वाङ्ग तिक्त होता है। तिक्त जाति का क्षुप स्वयं जंगलों में होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकतर गंगा के तीरवर्ती प्रदेशों बिहार, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल में होता है।

रासायनिक संघटन—फलों में प्रोटीन २, वसा ०·३, कार्बोहाइड्रेट २·२ तथा खनिज ०·५ प्रतिशत होते हैं। पत्र में प्रोटीन ५·४, वसा १·१, कार्बोहाइड्रेट

५·८ तथा खनिज द्रव्य ३ प्रतिशत होते हैं। बीजों में २९·३% एक गहरे रंग का रक्ताभ हरित तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह वेदनास्थापन, केश्य, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, तृष्णानिग्रहण, पित्तसारक, अनुलोमन, रेचन तथा कृमिघ्न है। अधिक मात्रा में देने से वामक और रेचक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों से प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शिरःशूल में मूल का लेप करते हैं। व्रण तथा खालित्य में पत्रस्वरस लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमान्द्य, अजीर्ण, तृष्णा, अम्लपित्त, यकृद्विकार, कामला, उदररोग, अर्श तथा कृमिरोगों में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि में दिया जाता है।

तापक्रम—पित्तज्वर, जीर्णज्वर आदि ज्वरों में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पत्र।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०, क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—पटोलादि क्वाथ, पटोलाद्य चूर्ण।

× × × ×

'कफपित्तहरं वर्ण्यमुष्णं तिक्तमवातलम्। पटोलं कटुकं पाके वृष्यं रोचनदीपनम्॥' (सु. सू. ४६)

'पटोलं कटुकं तिक्तमुष्णं पित्ताविरोधि च। कफासृक्कण्डुकुष्ठानि ज्वरदाहौ च नाशयेत्॥' (ध. नि.)

'पटोलस्य भवेन्मूलं विरेचनकरं सुखात्। नालं श्लेष्महरं पत्रं पित्तहारि फलं पुनः॥
दोषत्रयहरं प्रोक्तं तद्वत्तिक्तपटोलिका।' (भा, प्र.)

'पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा। फलं तस्य त्रिदोषघ्नं मूलं तस्य विरेचनम्॥' (रा. व.)

W. I., X, 289–90.

३०८. मूर्वा

परिचय

गण—तृप्तिघ्न, स्तन्यशोधन, तिक्तस्कन्ध (च०) पटोलादि, पित्तसंशमन (सु०)

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लिपिएडेसी–Asclepiadaceae)

नाम—लै०–मार्सडीनिया टिनेसिस्सिमा (Marsdenia tenacissima W. & A.); सं०–मूर्वा, (दृढ सूत्रों से युक्त जिनसे धनुष की डोरी 'मौर्वी' बनती थी)। तिक्तवल्ली; हि०–मरुवा बेल (मूर्वावल्ली ?), जरतोर (ज्वरत्रोटिनी ?), चिन्हारु (चोरस्नायु ?); ने०–बहुनी लहरा; सुनामरई; मध्यप्रदेश-बाबल जाक।

स्वरूप—यह दृढ़सूत्रमय क्षीरिणी एवं रोमश वल्ली है। **पत्र**-दोनों ओर मखमली, लट्वाकार, आधार पर गहरे हृद्वत्, लंबाग्र, ४–७ इञ्च लम्बे, ३–५ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**–२–४ इञ्च व्यास की विभक्त मंजरियों में, हरितवर्ण, प्रायः घंटिकाकार लगते हैं। **फल**-लगभग ५ इञ्च लम्बे, १–१½ इञ्च व्यास के, मखमली, मूल से ⅓ दूरी पर स्थूलतम होते हैं। **बीज**-चपटे, किनारे पर दो इञ्च लम्बे बाल से युक्त होते हैं। अप्रैल-जून में पुष्प तथा जनवरी-मार्च में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक अन्य प्रजाति M.roylei Wight भी मरुआ बेल (मूर्वा) के नाम से प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय में कुमाऊँ से आसाम तक ५ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा दक्षिण भारत में पाया जाता है।

गुण

गुण–गुरु, रूक्ष **रस**–तिक्त, कषाय
विपाक–कटु **वीर्य**–उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह उष्ण होने के कारण कफवातशामक तथा तिक्त होने से पित्तशामक है। इस प्रकार त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, पित्तसारक, अनुलोमन, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा हृद्य है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—यह स्तनशोधन है।

त्वचा—स्वेदजनन एवं कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषकर्म—यह कफवातिक तथा पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—चर्मरोगों में इसके मूल को पीस कर उसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आमदोष, अम्लपित्त, विबन्ध, कामला, शूल तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृदय तथा रक्त के विकारों में लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यविकारों में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर विशेषतः विषमज्वर में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०।

वक्तव्य—इसके मूल की त्वचा हटा कर 'सफेद निशोथ' के नाम से यह बाजार में बिकता है।

× × × ×

मूर्वा तिक्ता कषायोष्णा हृद्रोगकफवातहृत्। वमिप्रमेहकुष्ठार्तिविषमज्वरहारिणी ॥

(रा. नि.)

W. I., VI, 305–6.
B. B. O., II, 585.

३०९. काष्ठदारु

परिचय

कुल—सीताफल-कुल (एनोनेसी–Annonaceae)

नाम—लै०–पौलिऐल्थिया लौंगिफोलिया (Polyalthia longifolia Thw.); हि०–नकली अशोक, देवदारी; गु०–असोपलव; ते०–नारा मामिदि; ता०–नेट्टिलिंगम्; मल०–अराना; कन्न०–उब्बिना; उ०–असुपल, अं०–मास्ट ट्री (Mast tree).

स्वरूप—इसका ऊँचा, सदाहरित, सरल, सुन्दर वृक्ष होता है जो प्रायः सड़कों के किनारे और बागों में लगाया मिलता है। इसकी छाल चिकनी, भूरे रंग की, मोटी होती है। **पत्र**—चमकीले हरे, भालाकार, तरंगितधार, लंबाग्र, ३–८ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**—हरितवर्ण, गुच्छों में होते हैं जिनके अन्तर्दल भालाकार, लम्बाग्र, लगभग ½ इञ्च लम्बे होते हैं। **फल**—अण्डाकार, ¾ इञ्च लम्बे, दोनों सिरों पर गोलाग्र होते हैं। पुष्प–वसन्त में नई पत्तियों के साथ निकलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह श्रीलंका का निवासी कहा जाता है। समस्त भारत में लगाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कटु

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभारशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह आमदोष, विबन्ध तथा कृमिरोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभाराधिक्य होने पर दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०,

वक्तव्य—अशोक (Saraca indica) के स्थान पर अनेक वैद्य इसकी छाल का व्यवहार करते हैं।

× × ×

काष्ठदारुः लघू रूक्षस्तिक्तः सकटुकोऽहिमः। दीपनः क्रमिहृन् मेहे ज्वरे कुष्ठे च शस्यते॥ (स्व.)

W. I., VIII, 187-88.

B. B. O., I, 12.

F. I., I, 62.

विषमज्वरघ्न

३१०. सप्तपर्ण

परिचय

गण—तिक्तस्कन्ध, कषायस्कन्ध, कुष्ठघ्न, उदर्दप्रशमन, शिरोविरेचन (च०); आरग्वधादि, लाक्षादि, अधोभागहर (सु०)।

कुल—कुटज-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)।

नाम—लै०-ऐल्स्टोनिया स्कॉलरिस (Alstonia scholaris R. Br.); सं०-सप्तपर्ण, विशालत्वक्, शारद (शरद्ऋतु में पुष्पित होने वाला); विषमच्छद, हि०-छितवन, सतौना; बं०-छातिम; पं०-सतौना; म०-सातवीण, गु०-सातवण; ता०-मल०-पाला; ते०-एडाकुलरिटि। कन्न०-मड्डाले; अं०-डिटा (Dita)।

स्वरूप—इसका चिरहरित **वृक्ष** ४०-५० फुट ऊँचा तथा ८ फुट मोटा होता है। **त्वक्**-स्थूल, भंगुर, बाहर की ओर श्वेत, भीतर की ओर पीली होती है तथा इसके काटने पर श्वेत दुग्ध निकलता है। **पत्र**-लगभग ७ की संख्या में, ४-६ इञ्च लंबे तथा १-१½ इञ्च चौड़े होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध-हरित तथा निम्न पृष्ठ श्वेताभ होता है। पत्तियों को तोड़ने से भी दूध निकलता है। **पुष्प**-हरिताभ श्वेत, उत्छत्र शाखीय मंजरियों में होते हैं। **फलियाँ**-लगभग १-२ फुट लम्बी, कुछ टेढ़ी और चपटी, युग्म होती है। **बीज**-छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं जिनके दोनों किनारों पर रूई सी लगी होती है। फल पकने पर फट जाते हैं और ये बीज हवा में उड़ कर बिखर जाते हैं। शरद्ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ३ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। बंगाल तथा दक्षिण भारत विशेषतः पश्चिमी घाट में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—छाल में डिटेमिन (Ditamine), एकिटेमिन (Echitamine), एकिटेनिन (Echitanine), एकिकाँउचिन (Echicaoutchien), एकिसरीन (Echicerin), एकिटिन (Echitin), एकिटीन (Echitein), एकिरेटिन (Echiretin), वसाम्ल तथा वसायुक्त रालमय पदार्थ पाये जाते हैं। कुल क्षाराभ ०·१६-०·२७% होते हैं जिनमें एकिटेमिन प्रमुख है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध | **रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु | **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय होने से कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और व्रणशोधन-रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, यकृद्वल्य तथा क्रमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक और हृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कुष्ठघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

प्रजननसंस्थान—स्तन्यजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसका प्रयोग कफपित्तज रोगों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ तथा जीर्णव्रणों में छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, प्रवाहिका, यकृद्दौर्बल्य तथा कृमि में छाल का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा हृद्रोग में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है। प्रमेह में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—प्रसूता स्त्रियों को इसका सेवन कराते हैं। इससे अग्नि और बल की वृद्धि होती है, ज्वर का प्रतिषेध होता है तथा स्तन्य की वृद्धि होती है।

त्वचा—कुष्ठ, उदर्द आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर में, विशेषतः विषमज्वर में इसकी क्रिया बहुत उत्तम होती है और इससे उपद्रव भी नहीं होते।

सात्मीकरण—ज्वरजन्य दौर्बल्य में यह लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्।

मात्रा—क्वाथ।

विशिष्ट योग—सप्तच्छदादि क्वाथ, सप्तच्छदादि तैल, सप्तपर्णसत्त्वादि वटी।

× × ×

'सप्तपर्णः शाल्मलीसदृशपत्रो गजमदगन्धपुष्पः शरदि विकसनशीलः उच्चैर्वृक्षः।'

(डल्हण)

'सप्तपर्णो गुच्छपुष्पो बहुत्वक् शाल्मलिच्छदः।' (शि.)

'त्रिदोषशमनो हृद्यः सुरभिर्दीपनः सरः। शूलगुल्मकृमीन् हन्ति कुष्ठं शाल्मलिपत्रकः॥'

(ध. नि.)

'सप्तपर्णो व्रणश्लेष्मवातकुष्ठास्रजन्तुजित्। दीपनः श्वासगुल्मघ्नः स्निग्धोष्णस्तुवरः सरः॥'

(भा. प्र.)

W. I., I, 63-64.

B. B. O., II, 566.

३११. नाही

परिचय

कुल—भूनिम्ब-कुल (जेन्शियनेसी-Gentianacea)

नाम—लै०-एनिकोस्टेमा लिटोरेल (Enicostemma littorale Blume); सं०-नाही, मामज्जक, नागजिह्वा, तीक्ष्णपत्रा; म०-कड़वी नाई; गु०-मामेजवा; त०-मल०-वल्लरि।

स्वरूप—इसका **क्षुप** ४-२० इञ्च ऊँचा होता है। **कांड**-वर्तुल या चतुष्कोणाकार तथा पर्वान्तराल छोटे होते हैं। **पत्र**-अभिमुख, अवृन्त, अण्डाकार-भालाकार, २ इञ्च लंबे, ½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या पीताभ अक्षीय चक्रकाकार गुच्छों में होते हैं। **फल**-⅛-⅙ इञ्च लंबे तथा बीज सूक्ष्म होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में १५०० फीट की ऊँचाई तक विशेषतः समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ओफेलिक एसिड, एक तिक्त ग्लाइकोसाइड तथा स्वर्शियामेरिन (Swertiamarine) नामक पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　　**रस**—तिक्त

विपाक—कटु　　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—तिक्त होने के कारण कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, सारक, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह लेखन तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—यह आमदोष, विबन्ध, यकृद्दौर्बल्य तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह विशेषतः मधुमेह के लिए उत्तम है।

त्वचा—चर्मरोगों मे लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग तथा विषों में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०; क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

वक्तव्य—यह चिरायता के प्रतिनिधिरूप में भी व्यवहृत होता है

× × × ×

नाही च नागजिह्वाख्या तीक्ष्णपत्रा वितीक्ष्णिका।
कृमिहृत् क्षारकर्मा च तथा मामज्जकः स्मृतः॥ (सो. नि.)

नाही तु कथिता तिक्ता लघ्वी पित्तकफापहा।
मधुमेहे तथा कुष्ठे शस्यते विषमज्वरे॥ (स्व.)

F. I., IV, 101.

W. I., III, 174.

३१२. कण्टकी करञ्ज

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—कण्टकीकरञ्ज-उपकुल (सीजलपिनिऑयडी–Caesalpinioideae)।

नाम—लै०-सीजलपिनिया क्रिस्टा (Caesalpinia crista Linn.)। सं०-कण्टकी करञ्ज, लताकरञ्ज, करञ्जी, हि०-कँटकरेज, करञ्जुवा; बं०-नाटाकरञ्ज; म०-सागरगोटा; गु०-कांकच; ता०-काजिचिकाय; ते०-गच्छाकाया; मल०-कजनचिक्कुरु; कन्न०-गजगकायि; अं०-फीवर नट (Fever nut)।

स्वरूप—इसका बड़ा प्रसरणशील, कंटकित गुल्म होता है। काण्ड तथा शाखाओं पर काँटे सीधे किन्तु पत्र पर के टेढ़े होते हैं। **पत्र**–पक्षवत्, स्थायी उपपत्रयुक्त, पक्ष ६–८ जोड़े, पत्रक प्रायः ८ जोड़े आयताकार या लट्वाकार, १/२–१ इञ्च लंबे, १/२ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**–हलके पीतवर्ण, १/२–३/४ इञ्च व्यास के, लंबी मंजरियों में होते हैं। निचले पुष्प ही फल में परिणत होते हैं। **फल**–२–३ इञ्च लम्बे, चपटे, कण्टकावृत, स्फोटी होते हैं जिनके भीतर एक या दो बीज होते हैं। **बीज**–गोलाकार, १/२–३/४ इञ्च व्यास के, कठिन तथा चमकीले चिकने होते हैं। बीजावरण नीलाभ धूसर होता है और बीजमज्जा पीताभ श्वेत होती है। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल या वसन्त में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में २५०० फीट की ऊँचाई तक विशेषतः समुद्र के तटवर्ती प्रदेश (बम्बई, बंगाल तथा दक्षिण भारत) में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में बोण्डुसिन (Bonducin) नामक तिक्त ग्लाइकोसाइड, स्थिर तैल २०%, क्षार ३ ३/४%, प्रोटीन २०%, स्टार्च ३५ १/२% होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, यकृदुत्तेजक, ग्राही, शूलप्रशमन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भनिरोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफ, पित्त, वात इन तीनों से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका लेप शोथ तथा वेदनायुक्त विकारों में करते हैं। आमवात, सन्धिवात में इसका तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, प्रवाहिका, अर्श, यकृत्प्लीहा रोग तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भनिरोधक के रूप में उपयोगी है। इसका सेवन कराते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर में बीजों का चूर्ण काली मिर्च के साथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज।

मात्रा—बीजमज्जाचूर्ण–१–३ ग्रा०

विशिष्ट योग—विषमज्वरघ्नी वटी।

× × × ×

करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी।
वीर्योष्णा वमिपित्तार्शःकृमिकुष्ठप्रमेहजित् ॥ (भा. प्र.)

W. I., II, 3–4.
B. B. O., II, 331–32.
M. P. I., I, 161.

३१३. द्रोणपुष्पी

परिचय

कुल—तुलसी-कुल (लैबिएटी–Labiatae)।

नाम—लै०-ल्युकस किफेलोटस (Leucas cephalotes Spreng.); सं०-द्रोणपुष्पी (प्याले या मटके के सदृश पुष्प वाला); फलेपुष्पा (फल पर पुष्प होने के कारण); हि०-गूमा; बं०-हलकसा, घलघसे; म०-तुंबा, कुंमा; गु०-कूबो; ता०-तुम्बारी; ते०-पेद्दातुमनि।

स्वरूप—यह वर्षायु क्षुप वर्षाऋतु में उगता है। **काण्ड**–१–३ फुट लम्बा, चतुष्कोण और रोमश होता है। **पत्र**–२–३ इञ्च लंबे, १ इञ्च चौड़े, दन्तुरधार और

रोमश होते हैं। **पुष्प**—छोटे, श्वेतवर्ण, १–२ इञ्च व्यास के, शीर्षस्थ सघन गोल चक्रकों में होते हैं जो बड़े भालाकार या अण्डाकार, लगभग ½ इञ्च लंबे, रोमश कोणपुष्पकों से घिरे होते हैं। पुष्पगुच्छ के ऊपर प्रायः दो पत्तियाँ लगी रहती हैं (देहातों में गूमा के विषय में 'फूल के ऊपर पत्ता' प्रहेलिका प्रसिद्ध है)। पुष्प आकृति में द्रोण (प्याला या मटका–Cup or bucket) के सदृश होते हैं। बीज छोटे, चिकने, भूरे रंग के होते हैं। पुष्प एवं फल शरद् और हेमन्त में लगते हैं। गरमी में क्षुप सूख जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ४ हजार फीट की ऊँचाई तक तथा भारत से लंका तक सर्वत्र होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्पों में एक सुगन्धि तेल तथा एक क्षाराभ होता है। बीजों से स्थिर तैल निकलता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, तीक्ष्ण　　**रस**—कटु
विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कफघ्न, जन्तुघ्न और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, रेचन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में शमनार्थ तथा पित्तविकारों में शोधनार्थ दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—प्रतिश्याय तथा शिरःशूल में इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। व्रणों को इसके क्वाथ से धोते हैं। सर्पविष आदि में भी लगाते हैं। कामला में इसके स्वरस का अंजन नेत्रों में करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—आध्मान, शूल, विबन्ध, कामला तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार और शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास और श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध और कष्टार्त्तव में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः विषमज्वर तथा वातश्लैष्मिक ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग (विशेषतः पत्र)।

मात्रा—स्वरस।

वक्तव्य—इसकी अन्य प्रजातियाँ यथा L.aspera Spreng, L.lavandulaefolie Rees आदि भी द्रोणपुष्पी के नाम से प्रचलित हैं।

× × ×

'द्रोणपुष्पी कटुः सोष्णा रुच्या वातकफापहा।
अग्निमांद्यहरा चैव कामलाज्वरहारिणी॥' (रा. नि.)
'द्रोणपुष्पीरसो वापि निहन्ति विषमज्वरान्।' (भा. प्र.)
'अंजने कामलार्त्तानां द्रोणपुष्पीरसो हितः।' (वृन्द)

W. I., VI, 79–80.
B. B. O., II, 787.

३१४. तुलसी

परिचय

गण—सुरसादि (सु०)।

कुल—तुलसी-कुल (लेबिएटी–Labiatae)।

नाम—लै०–ऑसिमम सैंक्टम (Ocimum sanctum Linn.); सं०–तुलसी, सुरसा, अपेतराक्षसी, देवदुन्दुभि; हि०–तुलसी; म०–तुलसा, ते० ता०–तुलसी; मल०–त्रित्तवु; कन्न०–श्रीतुलसी; अं०–होली बेसिल (Holy basil)।

स्वरूप—यह गुल्मवत् क्षुप १–३ फुट ऊँचा, शाखाप्रशाखायुक्त, रोमश, प्रायः बैंगनी आभा लिये होता है। **पत्र**–१–२ इञ्च लम्बे, लट्वाकार या अण्डाकार-आयताकार, दोनों पृष्ठों पर रोमश, सुगन्धित होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**–३–८ इञ्च लंबी होती है जिस पर बैंगनी या रक्ताभ, बहुत छोटे पुष्प चक्रकों में लगते हैं। कोणपुष्पक प्रायः हृद्वत्, मुड़े होते हैं। **बीज**–चपटे, रक्ताभ या पीतवर्ण, छोटे काले चिह्नों से युक्त, अंडाकार होते हैं। शीतकाल में पुष्प और फल आते हैं।

जाति—मुख्यतः इसके दो भेद होते हैं :—(१) श्वेत और (२) कृष्ण। कृष्ण के पत्र बैंगनी रंग के होते श्वेत के पत्र हरितवर्ण तथा शाखायें श्वेताभ और

हैं। गुण में काली तुलसी उत्तम मानी जाती है। O. americanum Linn. भी श्वेत तुलसी के नाम से ली जाती है। इनके अतिरिक्त, रामतुलसी O. gratissimum Linn. और कपूरी तुलसी O. kilimandscharicum Guerke. भी इसके भेद हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के घरों और मन्दिरों में लगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्र से एक पीतवर्ण लवंगगन्धि उड़नशील तैल (०·१–०·३३ प्रतिशत) निकाला जाता है। इसमें फैनोल ४५–७६ प्रतिशत होता है। बीजों में लुआब होता है तथा इनसे एक हरितपीत स्थिर तैल (१७·८ प्रतिशत) निकलता है।

गुण

गण—लघु, रूक्ष　　**रस**—कटु, तिक्त
वीर्य—कटु　　**विपाक**—उष्ण

बीज स्निग्ध, पिच्छिल और शीत हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न, दुर्गन्धनाशन, उत्तेजक, वातहर और शोथघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है।

श्वसनसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, विशेषतः विषमज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बीज बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—जीर्ण व्रण, शोथ, पीडा में इसका लेप करते हैं। अवसाद की अवस्था में इसको त्वचा पर मलते हैं। बाह्य कृमियों में भी इसका प्रयोग करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, उदरशूल तथा कृमि में प्रयुक्त होता है। बीज पिच्छिल होने से प्रवाहिका में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार, शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास तथा पार्श्वशूल में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—तुलसी के बीज पूयमेह, मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह, बस्तिशोथ तथा अश्मरी में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में इसका मूल एवं पत्र प्रयुक्त होता है। विषमज्वर का यह प्रतिषेधक भी है। इसका क्षुप लगाने से मच्छडों तथा मलेरिया के जीवाणुओं से रक्षा हो जाती है।

सात्मीकरण—बीजों का प्रयोग दौर्बल्य में करते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, मूल, बीज।

मात्रा—स्वरस–१०–२० मि० लि०; मूलक्वाथ–५०–१०० मि० लि०; बीजचूर्ण—३–६ ग्रा०।

× × ×

'तुलसी कटुका तिक्ता हृद्योष्णा दाहपित्तकृत्। दीपनी कुष्ठकृच्छ्रास्रपार्श्वरुक्कफवातजित्॥'
(भा. प्र.)

'हिक्काकासविषश्वासपार्श्वशूलविनाशनः। पित्तकृत् कफवातघ्नः सुरसः समुदाहृतः॥'
(च. सू. २७)

'कफानिलविषश्वासकासदौर्गन्ध्यनाशनः। पित्तकृत् पार्श्वशूलघ्नः सुरसः समुदाहृतः॥'
(सु. सू. ४६)

W. I., VII, 87–89.
B. B. O., II, 764.

३१५. कुनयन

परिचय

कुल—मञ्जिष्ठा-कुल (रुबिएसी–Rubiaceae)।

नाम—लै०–सिनकोना ऑफिसिनेलिस (Cinchona officinalis Linn.); हि०–कुनैन; अं०–सिनकोना (Cinchona)।

स्वरूप—इसका चिरहरित **वृक्ष**–२०–३० फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**–गोलाकार और लम्बा, छाल बाहर से धूसर, सफेद और काले दागों से युक्त तथा भीतर पीतवर्ण होती है। **पत्र**–अभिमुख, ३–४ इञ्च लम्बे, लट्वाकार-१७–२० मि० लि०, अण्डाकार-आयताकार, लम्बा होता है। **पुष्पदण्ड**–अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त मालाकार तथा पत्रवृन्त रक्ताभ होता है। **फल**–होता है जिसमें गुच्छों में गुलाबी रंग के, कुछ सफेदी लिए फूल होते हैं।

जाति—इस वृक्ष की अनेक प्रजातियाँ (लगभग ३०–४०) होती हैं जिनमें पीत कुनैन (C. calisaya Wedd.), रक्त कुनैन (C. succirubra Pav. ex Klotzsch) आदि मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका आदिम वासस्थान दक्षिण अमेरिका है। १६३९ ई० में पेरू देश की रानी काउण्टेस सिनकॉन (Countess Cinchon) ने इसका व्यवहार किया और ज्वरमुक्त हुई। तब से इसका प्रचार बढ़ा और यूरोप में फैला। क्रमशः भारत में भी इसका प्रवेश हुआ और अब नीलगिरि, आसाम, दार्जिलिंग में इसकी खेती होती है। बर्मा, जावा में भी यह प्रचुर होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में मुख्य क्षाराभ होता है क्विनीन (Quinine)। इसके अतिरिक्त २० अन्य क्षाराभ निकाले गये हैं जिनमें प्रमुख सिनकोनिन (Cinchonine), क्विनिडिन (Quinidine), सिनकोनिडिन (Cinchonidine) हैं। क्विनिक अम्ल (Quinic acid), सिनकोफुलविक अम्ल (Cincofulvic acid) और सिनको-टैनिन एसिड (Cincho-tannic acid) ये तीन अम्ल; एक ग्लुकोसाइड एक्विनोविन (a.-quinovin); लाल रञ्जक द्रव्य तथा किंचित् उड़नशील तैल होते हैं। बीजों से स्थिर तैल (१३·३ प्रतिशत) निकलता है।

क्षाराभों की उपस्थिति पर ही छाल की कार्यकारिता निर्भर है। क्विनीन सबसे अधिक रक्त जाति (Red cinchona) में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह जन्तुघ्न और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, आमपाचन, स्तम्भन, कृमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक तथा रक्तशोधक है। प्लीहा को संकुचित करता है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।
प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है। विशेषतः विषमज्वरप्रतिबन्धक है।
सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक है।
उत्सर्ग—इसका मुख्य उत्सर्ग मूत्र से होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक विकारों में इसका प्रयोग करते हैं।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बाह्यकृमियों में तथा वेदनाप्रधान रोगों में छाल

का लेप करते हैं। कर्णस्राव में कान में डालते हैं। मुखपाक तथा गलशोथ में इससे कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, यकृद्विकार, प्रवाहिका तथा कृमि में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।
श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय तथा कास में दिया जाता है।
प्रजननसंस्थान—यह रजोरोध में तथा गर्भाशयशोधन के लिए प्रसव के बाद देते है।

तापक्रम—विषमज्वर में यह श्रेष्ठ औषध है। ज्वर आने के पूर्व देने से ज्वर का वेग रुक जाता है। जीर्ण विषमज्वर में देने से ज्वर उतरता है, यकृत्प्लीहा की वृद्धि शान्त होती है, रोगी की अग्नि और बल की वृद्धि होती है।
सात्मीकरण—ज्वरोत्तर दौर्बल्य में दिया जाता है।
प्रयोज्य अंग—त्वक्, सत्त्व (कुनैन)।
मात्रा—त्वक्चूर्ण १-२ ग्रा०, सत्त्व १२५-५०० मि० ग्रा०।
वक्तव्य—सत्त्व को किसी अम्ल में विलीन कर देने से लाभ अधिक होता है।
विषाक्त लक्षण—इसकी अधिक मात्रा देने से वात की वृद्धि हो जाति है। उदावर्त्त, पाचनविकार, विबन्ध, दौर्बल्य, कर्णनाद, बाधिर्य, दृष्टिमांद्य, भ्रम आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।
उपचार—वातशामक स्निग्ध-मधुर द्रव्यों (दूध, फल आदि) का सेवन करना चाहिए।

× × × ×

लघु रूक्षश्चोष्णः सपदि कफपित्तप्रशमनः, ज्वरोच्छायं तिक्तो हरति विषमाख्यं कुनयनः।
परं मात्राधिक्यादजनयति बहूपद्रवभरम्, भ्रमं मूर्च्छामान्ध्यं श्रुतिबधिरतां कर्णविरुतम् ॥ (स्व.)

W. I., II, 163-72.

दाहप्रशमन

३१६. उत्पल

परिचय

गण—दाहप्रशमन, मूत्रविरजनीय (च०) उत्पलादि (सु०)।
कुल—कमल-कुल (निम्फिएसी-Nymphoeaceae)।
नाम—लै०-निम्फिया स्टिलेटा (Nymphoea stellata Willd.); सं०-उत्पल, कुमुदः हि०-कुईं; बं०-कुमुद, शंधि, शालूक; मं०-कमोद; गु०-पोयणु;

ता०-नल्ल कलव; ते०-अल्लिकाडा; फा०-नीलोफर; अं०-इण्डियन ब्लू वाटर लिलि (Indian blue water lily)।

स्वरूप—यह एक जल में होने वाला बहुवर्षायु **क्षुप** है जिसका मूल छोटा; अंडाकार, तीक्ष्णाग्र होता है। **पत्र**-पानी में तैरते हुए, चक्राकार, ५-८ इञ्च व्यास के, अखण्ड या गोलदन्तुर, दोनों पृष्ठों पर चिकने होते हैं। निचले पृष्ठ पर कुछ बैंगनी की आभा रहती है। **पुष्प**-३-१० इञ्च व्यास के, एकल, श्वेत, गुलाबी या नीलवर्ण होते हैं। आभ्यन्तर दल १०-३०, पुंकेशर १०-५०, कुक्षिरश्मियाँ १०-३० की संख्या में होती हैं। **फल**-१¼ इञ्च व्यास के, हरितवर्ण, होते हैं। **बीज**-छोटे, गोलाकार, लम्बाई में धारीयुक्त, कच्चे में लाल और पकने पर काले हो जाते हैं। इन्हें 'बेरा या भेंट' कहते हैं। इनको भून कर लावा बनाते हैं। पुष्प विशेषतः शरद् ऋतु में होते हैं।

जाति—पुष्प के वर्णभेद से उत्पल श्वेत, रक्त और नील—तीन प्रकार का होता है। सुश्रुत ने उत्पलादि गण में उत्पल, रक्तोत्पल और कुमुद—इन तीन का उल्लेख किया है। उत्पल संभवतः नीलोत्पल है जिसका वर्णन यहाँ किया गया है। रक्तोत्पल N. nouchali Burm. f. तथा कुमुद N. alba Linn. है।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में तालाबों और गढ़ों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, पाये जाते हैं। बीजों में कार्बोहाइड्रेट ७०·५९% तथा प्रोटीन ११·३१% होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल
रस—मधुर, कषाय, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य है।

पाचनसंस्थान—छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और विषघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों विशेषतः वातपित्तरोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह में पुष्प का स्पर्श एवं लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, मूर्च्छा, अपस्मार आदि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—वमन, तृष्णा, अतिसार, रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—गर्भावस्था में इसका सेवन करने से गर्भस्राव आदि का भय नहीं रहता।

मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेह में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है। ज्वर में बीजों की लाजा का पथ्य देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य और विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—मूल, पुष्प, बीज।

मात्रा—स्वरस १०-२० मि० लि०; हिम-५०-१०० मि०, चूर्ण ३-६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—उत्पलादि चूर्ण, उत्पलादि हिम।

× × × ×

'कुमुदं पिच्छिलं स्निग्धं मधुरं ह्लादि शीतलम्।' (भा. प्र.)
'पद्मिन्या ये गुणाः प्रोक्ताः कुमुदिन्याश्च ते स्मृताः।' (भा. प्र.)
'उत्पलकुमुदपद्मकिंजल्कः सांग्राहिकरक्तपित्तप्रशमनानाम्।' (च. सू. २५)

W. I.. VII, 70-72.
F. I., I, 114
B. B. O., I, 22.

३१७. चन्दन

परिचय

गण—दाहप्रशमन, अंगमर्दप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, वर्ण्य, कण्डूघ्न, विषघ्न, तिक्तस्कन्ध (च०), सालसारादि, पटोलादि, सारिवादि, प्रियंग्वादि, गुडूच्यादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—चन्दन-कुल (सैण्टलेसी-Santalaceae)।

नाम—लै०-सैण्टलम ऐलबम (Santalum album Linn.); सं०-चन्दन, श्रीखण्ड, गन्धसार, मलयज, हि०-सफेद चंदन; गु०-सुखड; ता०-सन्दनम्; ते०-चन्दनम्; मल०-चन्दनम्; कन्न०-श्रीगन्ध; अ०-संदले अब्यज; फा०-संदले सफेद, अं०-सैण्डल वुड (Sandal wood)।

स्वरूप—इसका चिरहरित ३०-४० फीट ऊँचा अर्धपराश्रयी **वृक्ष** होता है। **छाल**-बाहर से धूसर, कृष्णाभ और भीतर से रक्ताभ भंगुर होती है तथा उस पर लम्बे चीरे होते हैं। बाहरी काष्ठ श्वेत और निर्गन्ध तथा भीतरी काण्डसार धूसर, अतिशय सुगंधि, कठिन और तैलयुक्त होता है। **पत्र**-१-२ इञ्च लम्बे, अण्डाकार या लट्वाकार होते हैं। **पुष्प**-पीताभ बैंगनी होते हैं। **फल**-गोलाकार, ⅓ इञ्च व्यास के, पकने पर बैंगनी कृष्णवर्ण होते हैं। इसके पत्र, त्वचा एवं पुष्प निर्गन्ध होते हैं। जून से सितम्बर और फिर नवम्बर से फरवरी तक पुष्प और फल लगते हैं। चन्दन का वृक्ष लगभग ५० वर्षों के बाद परिपक्व होता है।

जाति—चन्दनद्वय से श्वेतचन्दन (S. album) तथा रक्तचन्दन (Pterocarpus santalinus) का ग्रहण करते हैं। पीतचन्दन और हरिचन्दन का भी उल्लेख है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। फिजी द्वीपों में होने वाली S. yasi Seem. इसकी एक अन्य प्रजाति है।

उत्पत्तिस्थान—यह मैसूर, कुर्ग, तामिलनाडु और मालाबार में अधिक होता है। पहाड़ों की कंकरीली जमीन में होने वाला वृक्ष उर्वरा भूमि में होने वाले वृक्ष से उत्तम होता है तथा उसमें तैल भी अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—काण्डसार तथा मूल में ४½-६¼ प्रतिशत उड़नशील तैल होता है जिसे परिस्रवणविधि से प्राप्त करते हैं। मूल में तैल अधिक (१०% तक) होता है। प्रायः १ किलो चन्दन की लकड़ी से १०० मि० लि० तेल निकलता है। तैल-पीताभ, गाढ़ा, तीक्ष्णगंधि एवं स्वाद में कटुतिक्त होता है। चन्दनतैल में सैण्टलोल (Santalol) नामक तत्त्व ९० प्रतिशत होता है। बीजों से ५०-५५% लाल रंग का एक गाढ़ा स्थिर तैल प्राप्त होता है।

परीक्षा—जो चंदन स्वाद में तिक्त, घिसने पर पीला, काटने में लाल, ऊपर से श्वेत, गाँठदार और कोटरयुक्त हो, वह उत्तम माना जाता है।[1]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शामक, दुर्गन्धहर, दाहप्रशमन, वर्ण्य तथा त्वग्दोषहर है।

१. स्वादे तिक्तं कषे पीतं छेदे रक्तं तनौ सितम्। ग्रंथिकोटरसंयुक्तं चंदनं श्रेष्ठमुच्यते॥' (भा. प्र.)

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—सौमनस्यजनन तथा मेध्य है।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण तथा पित्तशामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक तथा श्लेष्मपूतिहर है।

मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रजनन तथा मूत्रमार्ग के लिए कोथप्रशमन है।

त्वचा—स्वेदजनन और कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—अंगमर्दप्रशमन तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चन्दन का लेप पैत्तिक शिरःशूल, दाह, विसर्प तथा अन्य चर्मरोग, वर्णविकार तथा अतिस्वेदजन्य दुर्गन्ध को नष्ट करने के लिये करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मानसिक व्यग्रता तथा दौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा अम्लपित्त, कामला में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार तथा रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास में उपयोगी है। इससे कफ आसानी से निकल जाता है तथा कफ में रक्त तथा पूय आना बन्द होता और कफ की दुर्गन्ध नष्ट होती है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर तथा शुक्रमेह में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा बस्तिशोथ में देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयोग होता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—अंगमर्द तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, तैल।

मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा०; तैल ५-२०।

विशिष्ट योग—चन्दनादि चूर्ण, चन्दनादि वटी, चन्दनासव।

× × ×

'चन्दनं दुर्गन्धहरदाहनिर्वापणलेपनानाम्॥' (च. सू. २५)

'चन्दनं शीतलं रूक्षं तिक्तमाह्लादनं लघु। श्रमशोषविषश्लेष्मतृष्णापित्तास्रदाहनुत्॥' (भा. प्र.)

W. I., IX, 208-24.

३१८. रक्तचन्दन

परिचय

गण—पटोलादि, सारिवादि, प्रियंग्वादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-टेरोकार्पस सैण्टेलिनस् (Pterocarpus santalinus Linn. f.) सं०–रक्तचन्दन, हि०–लालचन्दन; गु०–रतांजली, लालचन्दन; ता०–शिवप्पु चन्दनम् ; ते०–पेर्रा चंदनमु; मल०–तिलपर्णी; कन्न०–होन्ने; अ०–सन्दल अहमर; फा०–सन्दल सुर्ख; अं०–रेड सैण्डर्स (Red sanders)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** १५–३० फुट ऊँचा होता है। **त्वक्** कृष्णाभ भूरे रंग की होती है जो चौकोर पर्तों में गहरे कटी होती है। त्वचा में क्षत करने पर लाल रस निकलता है। **काष्ठ**–बाहर की ओर श्वेतवर्ण तथा भीतरी काण्डसार बैंगनी रक्तवर्ण होता है। **पत्र**–विषमपक्षवत् , पत्रक ३, कभी-कभी ५; २–४ इञ्च लम्बे, दोनों सिरों पर गोलाकार होते हैं। **पुष्प**–पीतवर्ण, मंजरियों में होते हैं। **फली**–२ इञ्च व्यास की, सपक्ष होती है जिसमें रक्ताभ भूरे, चिकने, चर्मवत् बीज होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह आन्ध्र, तामिलनाडु और कर्नाटक में होता है।

रासायनिक संघटन—एक लाल रंजक पदार्थ सैण्टलिन (Santalin), टेरोकार्पिन (Pterocarpin), टेरोस्टिलबिन (Pterostilbene) तथा होमोटेरोकार्पिन (Homopterocarpin) होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष
रस—तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहशामक, स्तम्भन, शोथहर और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण और स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक और रक्तशोधक है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तरोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, क्षत, शोथ, शिरःशूल तथा चर्मरोगों में इसका लेप किया जाता है। नेत्ररोगों में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—छर्दि, तृष्णा और अतिसार में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ में देते हैं।

तापक्रम—दाह और ज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—विषों में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार।

मात्रा—चूर्ण–३–६ ग्रा०।

× × × ×

'रक्तं शीतं गुरु स्वादु च्छर्दितृष्णास्रपित्तहृत्। तिक्तं नेत्रहितं वृष्यं ज्वरव्रणविषापहम् ॥' (भा. प्र.)

रक्तचन्दनमतीव शीतलं तिक्तमीक्षणगदास्रदोषनुत्।
भूतपित्तकफकासज्वरभ्रान्तिजन्तुवमिजित्तृषापहम् ॥' (रा. नि.)

W. I., VIII, 305–6.
F. I., II, 239.

३१९. एला

परिचय

गण—कटुकस्कन्ध, श्वासहर, अंगमर्दप्रशमन, शिरोविरेचन (च०); एलादि (सु०)।

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी–zingiberaceae)।

नाम—लै०–एलिटेरिआ कार्डेमोमम् (Elettaria cardamomum Maton.); सं०–एला, त्रिपुटा, त्रुटि, सूक्ष्मैला, द्राविड़ी, हि०–छोटी इलायची, गुजराती; बं०–छोट एलाच; म०–वेलची, वेलदोडे; गु०–एलची; ता०–येलाक्कु; ते०–येलाक्कपालु; मल०–येलम्; कन्न०–येलाक्कि; अ०–काकुल; फा०–हीलबक, इलायची खुर्द; अं०–लेसर कार्डेमम (Lesser cardamom)।

स्वरूप—यह पत्रमय बहुवर्षायु **क्षुप** होता है। इसके भूमिशायी शाखायुक्त मूलस्तंभ से अनेक ५–१८ फीट ऊँचे पत्रमय **काण्ड** निकलते हैं जिनपर १–३ फुट लम्बे, एकान्तर, अण्डाकार या भालाकार, कोषमय **पत्र** निकलते हैं। **पुष्पमंजरी**–२–४ फीट लम्बी, काण्ड के मूलभाग से निकलती है जिसमें $1\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, श्वेत

हलके हरे रंग के द्विलिंगी पुष्प लगते हैं। **फल**—त्रिकोष्ठीय, मूलकाकार से अण्डाकार तक हलके हरे या पीले रंग के होते हैं जिसके भीतर १५-२० कड़े, भूरे काले, कोणीय, सिकुड़नयुक्त बीज होते हैं।

जाति—फल की आकृति के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं :—

(1) Var. major Thw.—इसमें फल बड़े आते हैं। श्रीलंका की वन्य जाति इसके अन्तर्गत आती है।

(2) Vas minor Watt.—इसमें फल छोटे आते हैं। भारत में उगाई जाने वाली जातियाँ इसी के अन्तर्गत आती हैं। भारतीय जाति मुख्यतः दो प्रकार की होती है :—

१—मालाबारी इलायची
२—मैसूरी इलायची।

मलाबारी इलायची का पौधा अपेक्षाकृत छोटा, पत्तियाँ छोटी, पुष्पमञ्जरी भूमिशायी, फल गोलाकार या अण्डाकार होता है। मैसूरी इलायची का पौधा बड़ा, १७ फीट तक ऊँचा, पत्तियाँ बड़ी, पुष्पमंजरी उत्थित तथा फल मूलकाकार, त्रिकोणीय और पर्शुकी होते हैं।

व्यापार में भी दो प्रकार की इलायची चलती है :—

१. कुर्ग-मैसूर, २. टूरिकोरिन। पहली कुर्ग-मैसूर में होने वाली मलाबारी इलायची है और दूसरी तामिलनाडु के दक्षिणी क्षेत्र तथा ट्रावनकोर-कोचीन में होने वाली मैसूरी इलायची है।

उत्पत्तिस्थान—मैसूर, कुर्ग, ट्रावनकोर-कोचीन तथा लंका और बर्मा में विशेष होती है। पश्चिमी घाट के सदाहरित वनों में २५०० से ५००० फीट की ऊँचाई तक वन्य रूप से पाई जाती है।

रासायनिक संघटन—बीजों में उड़नशील तैल २-८%, पोटाशियम लवण ३%, स्टार्च ३%, पिच्छिल द्रव्य २%, पीत रंजक द्रव्य, भस्म ६-१०%, (जिसमें मैंगनीज होता है) रहते हैं। तैल में मुख्य घटक cineol, terpineol; terpinene, limonene तथा sabinene होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—कटु, मधुर,
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है। गुण और रस से कफ का, विपाक से वात का तथा वीर्य से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—मुखशोधन, दुर्गन्धनाशन, छर्दिनिग्रहण, तृष्णानिग्रहण, रोचन, दीपन, पाचन, और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।
तापक्रम—दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वात, पित्त और कफ से उत्पन्न विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—मुखरोग, वमन, हृल्लास, तृष्णा, अरुचि; अग्निमांद्य, उदरशूल, आध्मान तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में देते हैं।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास मे प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।
तापक्रम—दाहरोग में देते हैं।
सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा क्षय में प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—बीज।
मात्रा—·५-१ ग्राम।
विशिष्ट योग—एलादिचूर्ण, एलाद्यरिष्ट, एलादिगुटिका, एलाद्यमोदक, एलादिक्वाथ।

× × × ×

'रसे तु कटुका शीता लध्वी वातहरी मता। एला सूक्ष्मा कफश्वासकासार्शोमूत्रकृच्छ्रहृत्॥'
(भा. प्र.)

सूक्ष्मैला मूत्रकृच्छ्रघ्नी श्वासकासक्षये हिता। सूक्ष्मैला शीतला स्वाद्वी हृद्या रोचनदीपनी॥'
(ध. नि.)

'सूक्ष्मैला मूत्रकृच्छ्रार्शःश्वासकासक्षये हिता।' (शो.)
'सूक्ष्मैलामागधीमूलं प्रलीढं सर्पिषा सह। नाशयत्याशु हृद्रोगं गुल्मानपि विशेषतः॥'

W. I., III, 149-60.

३२१. चम्पक

परिचय

कुल—चम्पक-कुल (मैगनोलिएसी-Magnoliaceae)।

नाम—लैं०-माइकेलिया चम्पक (Michelia champaca Linn.); सं०-चम्पक, चाम्पेय; हि०-चम्पा, बं०-चाँपा; पं०-चंबा; म०-सोना चंपा; गु०-चंपो; ता०-सेंबुगम; ते०-चंपकम्; मल०-चंपकम्; कन्न०-संपिगे, अं०-गोल्डेन चम्पा (Golden champa)।

स्वरूप—यह चिरहरित, सुन्दर, प्रायः १०० फीट तक ऊँचा **वृक्ष** होता है। **पत्र**-एकान्तर, ८–१२ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौड़े, लंबे, लट्वाकार-भालाकार, चर्मवत् होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, १–२ इञ्च व्यास के, मधुरगन्धि होते हैं। **फल**-प्रायः अवृन्त, अंडाकार, २–४ इञ्च लंबे दण्ड पर गुच्छबद्ध होते हैं। इनमें १–४ भूरे बीज होते हैं जिन पर गुलाबी रंग का मांसल आवरण (Aril) होता है। काण्डत्वक् बाहर से धूसर तथा भीतर से रक्ताभ होती हैं। अप्रिल–मई में पुष्प तथा फल जुलाई में लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह नेपाल, बंगाल, आसाम, नीलगिरि, त्रावनकोर में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एक क्षाराभ (०·३%) तथा टैनिन होता है। पुष्पों से २६·३% उड़नशील तैल प्राप्त होता है। पत्तों से भी एक उड़नशील तैल बर्बरीगन्धि (०·०४%) प्राप्त होता है। बीजों से ३२·२% स्नेह, एक राल तथा राल-अम्ल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—तिक्त, कटु, कषाय
विपाक—कटु	**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, त्वग्दोषहर तथा व्रणशोधन और रोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, आमपाचन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है। मूल विरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न तथा श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—छाल ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरप्रतिबन्धक है। पुष्प दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—दाह, कण्डू आदि चर्मरोग, व्रण तथा शिरःशूल में छाल एवं पुष्प का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, आमदोष, शूल, आध्मान तथा कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (उपदंश, गंडमाला, आमवात आदि), रक्तपित्त तथा शोथ में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—मूलत्वक् रजोरोध और कष्टार्तव में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्प मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में देते हैं।

त्वचा—त्वचा का प्रयोग कुष्ठ में करते हैं।

तापक्रम—छाल का फांट जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में प्रयुक्त होता है। पुष्पों का दाह में प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, पुष्प।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५०–१०० मि० लि०; चूर्ण-३–६ ग्रा०

× × ×

'चम्पकः कटुकस्तिक्तः कषायो मधुरो हिमः। विषक्रिमिहरः कृच्छ्रकफवातास्रपित्तजित्॥'
(भा. प्र.)

'चम्पकः कटुकस्तिक्तः शिशिरो दाहनाशनः। कण्डूकुष्ठव्रणहरः कफपित्तविनाशनः॥'
(रा. नि.)

'चम्पकं कटुकं तिक्तं कषायं मधुरं हिमम्। निहन्ति कफपित्तास्रमूत्रकृच्छ्रविषक्रिमीन्॥'
(कै. नि.)

W. I., VI, 370–72.
B. B. O. I, 8.

३२१. शैवाल

परिचय

कुल—शैवाल-कुल (सिरेटोफाइलेसी–Ceratophyllaceae)।

नाम—लै०-सिरेटोफाइलम सबमर्सम (Ceratophyllum demersum Linn.); सं०-शैवाल, शैवल, जलनीली; हि०-सेवार, काई; बं०-शेओआला; म०, गु०-शैवाल; अ०-तुहलब; फा०-पश्म वज़ग।

स्वरूप—इसका जलीय क्षुप ८ इञ्च से ३ फीट तक लंबा सघनपत्रमय हरितवर्ण होता है। पत्ते लगभग १ इञ्च लंबे होते हैं जिनके खण्ड जल में फैले रहते हैं। पानी के ऊपर बाहर निकलने पर ये आपस में संसक्त होकर जाल सा बनाते हैं।

इसका ऐसा सघन आवरण बन जाता है कि पानी बिलकुल ढँक जाता है और नीलाभ हरित हो ताता है। इसीलिए इसे 'जलनीली' कहते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र तालाबों और गढ़ों में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध **रस**—कषाय, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। विशेषतः पित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और रक्तस्तम्भन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णाहर और स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन हैं।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में, विशेषतः पैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग बाह्य—दाह और रक्तार्श में इसका लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा और रक्तातिसार में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वर और दाह में दिया जाता है।
प्रयोज्य अंग—पञ्चाग।
मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

× × ×

'शैवालं तुवरं तिक्तं मधुरं शीतलं लघु। स्निग्धं दाहतृषापित्तरक्तज्वरहरं परम्॥' (भा. प्र.)

'शैवालं शीतलं स्निग्धं सन्तापव्रणनाशनम्।' (रा. नि.)

F. I., V, 639.

३२२. शैलेय

परिचय

कुल—शैलेय-कुल (पार्मिलिएसी--Parmeliaceae)।

नाम—लै०-परमिलिया पर्लेटा (Parmelia perlata, Ach.); सं०-शैलेय (चट्टानों पर होने के कारण); शिलापुष्प (चट्टानों पर पुष्प के

सदृश होने से), हि०-छड़ीला; कु०-झोलो; मा०-छाड़छड़ीला; म०-दगडफूल; गु०-छडीलो; अ० फा०-उश्न; अं०-स्टोन फ्लावर्स (Stone flowers)।

स्वरूप—यह छोटा क्षुप पुराने वृक्षों, मकान की दीवालों तथा पत्थर की चट्टानों पर पाया जाता है। इसका ऊपर का पृष्ठ हरा, काला सा और भीतर का श्वेत होता है। समस्त क्षुप में एक विशिष्ट गन्ध होती है। नया और सुगन्धित क्षुप औषध में ग्रहण करना चाहिए।

उत्पत्तिस्थान—यह अधिकतर हिमालयप्रदेश तथा पश्चिम बंगाल में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें लेकानोरिक एसिड (Lecanoric acid) तथा ऐट्रानोरिन (Atranorin) नामक पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त-कषाय होने से कफ और शीत होने से पित्त का शामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण, वेदनास्थापन और कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तिक्त होने से दीपन और कषाय होने से ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय-बलकारक तथा शोथहर है। रक्तविकारों को भी दूर करता है।

श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल और अश्मरीनाशन है।
त्वचा—यह कुष्ठघ्न है।
तापक्रम—यह दाहप्रशमन तथा ज्वरघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तजन्य रोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ, शिरःशूल तथा कण्डू आदि चर्मविकारों में इसका लेप करते हैं। इसको गरम कर मूत्राघात में बस्ति, कटि तथा वृक्क के प्रदेश में लेप करते हैं। व्रणों में इसका चूर्ण लगाते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णा, वमन, अग्निमान्द्य, अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, शोथ एवं रक्तविकारों में इसका प्रयोग होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में यह लाभकर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में १० ग्रा० छड़ीले का क्वाथ मिश्री और जीरे का चूर्ण मिला कर पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, कण्डू आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर एवं दाह में सेवन कराते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—चूर्ण-१-३ ग्रा०।

× × ×

'शैलेयं तु शिलापुष्पं वृद्धं कालानुसार्यकम्। शैलेयं शीतलं हृद्यं कफपित्तहरं लघु।
कण्डूकुष्ठाश्मरीदाहविषहृच्छ्वासरक्तजित्' (भा. प्र.)
शैलेयं शिशिरं तिक्तं सुगन्धि कफपित्तजित्। दाहतृष्णावमिश्वासव्रणदोषविनाशनम्॥'
(रा. नि.)

शीतप्रशमन

३२३. अगुरु

परिचय

गण—शीतप्रशमन, श्वासहर, शिरोविरेचन, तिक्तस्कन्ध (च०); एलादि, सालसारादि, श्लेष्मसंशमन (सु०)।

कुल—अगुरु-कुल (थाइमेलिएसी-Thymelaeaceae)।

नाम—लै०-एक्विलेरिया अगलोचा (Aquilaria agallocha Roxb.); सं०-अगुरु, लोह (लोहवद् भारी तथा कृष्ण होने के कारण), कृमिज, कृमिजग्ध (कृमियों के द्वारा वृक्ष में ग्रंथि बनने से अगुरुसार उत्पन्न होता है)। हि०-म० गु०-अगर; बं०-अगरु; ता०-आगलि चन्द, ते०-अगुई; अ०-ऊद; अं०-एलो वुड (Aloe wood), ईग्ल वुड (Eagle wood)।

स्वरूप—इसका चिरहरित ६०-७० फीट ऊँचा तथा ५-८ फीट मोटा **वृक्ष** होता है। **काण्डत्वक्**-बाहर से बिलकुल कागज के समान पतली होती है जिसे प्राचीनकाल में लोग भोजपत्र के समान लिखने के काम में लाते थे। काष्ठ श्वेत या पीताभ, कोमल होता है जिसमें कोई विशिष्ट गन्ध नहीं होती है। पुराने वृक्षों का अन्तःकाष्ठ कीटजग्ध होने पर कृष्णवर्ण हो जाता है, जिससे अगुरु की विशिष्ट गन्ध आती है। **पत्र**-चमड़े की तरह पतले, चमकीले, भालाकार या अभिभालाकार, २-३ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, गुच्छों में होते हैं। **फल**-१-२ इञ्च लम्बा, अभिभालाकार, लम्बाग्र, चिकना, पतला चर्मवत् होता है।

पुराने वृक्ष का कीटजग्ध अन्तःसार अगुरु के नाम से व्यवहृत होता है। जो कृष्णाभ, सुगन्धि और भारी होता है तथा पानी में डूब जाता है, वह अगुरु उत्तम माना जाता है। पुराने वृक्ष के भीतर एक प्रकार के कृमि (Fungus) प्रविष्ट हो जाते हैं और वहाँ इनके कारण तैलीय राल (Oleo-resin) उत्पन्न होती है जिससे अगुरु में सुगन्ध, कृष्णता और भारीपन आता है। इसी से आचार्यों ने इसे 'कृमिजग्ध' कहा है। ५० वर्ष पुराने वृक्ष से ३-४ कि० अगुरु प्राप्त होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी हिमालयप्रदेश, आसाम, मणिपुर, चटगाँव, भूटान, बर्मा, सुमात्रा तथा मलयद्वीप में होता है।

जाति—राजनिघण्टु ने अगुरु चार प्रकार का बतलाया है—(१) कृष्णागुरु, (२) काष्ठागुरु (पीत), (३) दाहागुरु तथा (४) मंगल्यागुरु। इनमें मंगल्यागुरु सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यूनानी विद्वानों ने इसके गुरुत्व के अनुसार तीन भेद किये हैं:—(१) गर्की (जल में डूबने वाला), (२) नीम गर्की (आधा डूबनेवाला), (३) समलः (तैरनेवाला)। देशभेद से भी अनेक प्रकार किये गये हैं। वानस्पतिक दृष्टि से अगुरु एक ही है। ये भेद अवस्थानुसार किये गये हैं। इनमें कृष्णागुरु जो जल में डूब जाता हो वही श्रेष्ठ है।

रासायनिक संघटन—इसमें ४८% अलकोहल-विलेय पदार्थ होता है। एक Sesquiterpene alcohol तथा कुछ अम्ल भी पाये गये हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप उत्तेजक, शीतप्रशमन, दुर्गन्धहर, कुष्ठघ्न, शोथहर तथा वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीसंस्थान का उत्तेजक तथा वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह मुखदुर्गन्धनाशन, दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राशय की शिथिलता दूर करता है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शैत्य, दुष्ट व्रण, चर्मरोग, शोथ, वेदनायुक्त विकार (संधिवात, आमवात आदि) में अगुरु का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—मुख की दुर्गन्ध नष्ट करन के लिए इसे चबाते हैं। अग्निमांद्य, आमदोष तथा कोष्ठगत वात के शमन के लिए यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकार (वातरक्त आदि) में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, हिक्का में प्रयुक्त होता है। श्वास में अगुरु का तैल १–२ बूंद पान में रख कर खिलाते हैं। कफरोगों में इसका नस्य भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—शय्यामूत्र तथा हस्तिमेह में यह उपयोगी है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में उपयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—काण्डसार, तैल।

मात्रा—चूर्ण-१–३ ग्रा०; तैल १–५ बूंद।

विशिष्ट योग—अगुर्वादि तैल।

× × ×

'अगुरूष्णं कटु त्वच्यं तिक्तं तीक्ष्णं च पित्तलम्। लघु कर्णाक्षिरोगघ्नं शीतवातकफप्रणुत्॥ कृष्णं गुणाधिकं तत्तु लोहवद् वारि मज्जति। अगुरुप्रभवः स्नेहः कृष्णागुरुसमः स्मृतः॥' (भा. प्र.)

'रास्नागुरुणी शीतापनयनप्रलेपनानाम्।' (च. सू. २५)

'अगुरुसारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः क्रमिकफकुष्ठानिलहराश्च।' (सु. सू. ४५)

काकतुंडाकृतिः स्निग्धो गुरुश्चैवोत्तमोऽगुरुः। असारपाण्डुरं रूक्षं लघु चाधममादिशेत्॥ नादेयं नाप्युपादेयं तित्तिरिपक्षकागुरुः। शाल्मलीकाष्ठसंकाशो नैव ग्राह्यः कदाचन॥' (भै. र.)

W. I., I, 89–90.
F. I, V, 199–200.

३२४. बृहदेला

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजिबरेसी–Zingiberaceae)।

नाम—लै०–ऐमोमम् सबुलेटम (Amomum subulatum Roxb.); सं०–बृहदेला, स्थूलैला, भद्रैला, बहुला; हि०–बड़ी इलायची; बं०–बड़ एलाच, नेपाली एलाच; गु०–एलचा; ता०–एलम्; ते०–तेंगुएलाकुलु; अ०–काकुले कुबार, फा०–हील कलाँ; इलायची सुर्ख; अं०–ग्रेटर कार्डेमम् (Greater cardamom) नेपाल कार्डेमम् (Nepal cardamom)।

स्वरूप—इसका क्षुप २–३ फीट ऊँचा होता है। **पत्तियाँ**–१–२ फीट लंबी, ३–४ इञ्च चौड़ी, दोनों पृष्ठों पर चिकनी होती है। **पुष्पमञ्जरी**-अत्यन्त सघन, २–३ इञ्च लंबी होती है। कोणपुष्पक–लाल-भूरे होते हैं। **पुष्प**–पीताभ श्वेत तथा **फल** लगभग १ इञ्च लंबा, रक्ताभ भूरा, गोलाकार, सघन कठिन रोमों से आवृन्त होता जिसके प्रत्येक कोष्ठ में अनेक बीज सान्द्र मधुर मज्जा में संसक्त रहते हैं।

जाति—इसकी एक प्रजाति A. aromaticum Roxb. 'मोरंग इलायची' (Bengal cardamom) के नाम से प्रचलित है। यह पूर्वी बंगाल और आसाम में होती है। एक विदेशी प्रजाति (A. xanthioides Wall.) मलाबार या टेवॉय कार्डेमम (Malabar or Tavoy cardamom) है जो वर्मा, वियतनाम तथा मलयेशिया से आता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पूर्वी हिमालयप्रदेश में विशेगतः नेपाल, बंगाल, सिक्किम, आसाम में अदि स्थानों में लगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके बीजों में एक सुगन्धित तैल होता है जिसमें सिनिओल (Cineole) की प्रचुर मात्रा होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक तथा पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दुर्गन्धनाशन, शूलहर, त्वग्दोषहर और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—यह रोचन, दीपन, पाचन, पीत्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखरोगों तथा दन्तरोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। शिरःशूल में इसका लेप करते हैं। कण्डू आदि चर्मरोगों में लेप देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, हृल्लास, वमन, तृष्णा, अग्निमांद्य, शूल, आध्मान, यकृद्विकार तथा अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में प्रयोग करते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा शीत में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—विष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज

मात्रा—१–३ ग्रा०

× × ×

'स्थूला च कटुका पाके रसे चानलकृल्लघुः। रूक्षोष्णा श्लेष्मवातास्रकण्डूश्वासतृषापहा ॥
हृल्लासविषबस्त्यास्यशिरोरुग्वमिकासनुत्।' (भा. प्र.)

'भद्रैला कटुका पाके रसे पित्ताग्निकृल्लघुः। रूक्षोष्णा रोचनी श्वासकासवातास्रश्लेष्महा ॥
न्ति हृल्लासतृट्कण्डूशिरोबस्त्यास्यरुग्वमीः।' (कै. नि.)

W. I., I, 68–69.
B. B. O., III, 1191.
F. I., VI, 240.

३२५. समुद्रनारिकेल (दरियाई नारियल)

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी–Palmae)।

नाम—लै०–लोडॉयसिया मालडिविका (Lodoicea maldivica (Poir.) Pers); सं०–समुद्रनारिकेल; हि०–दरियाई नारियल; म०–दर्याचा नारल; गु०–झेरी नारियेल; ता०–कदलतेंगाई; ते०–समुद्रपुटंकाया; अ०–नारजीले बहरी; फा०–नारगीले दरियाई; अं०–सी कोकोनट (Sea coconut)।

स्वरूप—यह नारिकेल जाति का **वृक्ष** है जो ४०–१०० फीट तक ऊँचा होता है। इसके शीर्ष पर १२–२० बड़ी ताड़ के सदृश **पत्तियाँ** होती हैं। **फल**-आकृति में नारियल के सदृश, बड़े, ४ फीट तक परिधि के तथा १२–१३ किलो भार (कभी-कभी ३० किलो तक) के, हरितवर्ण, एकबीजी होते हैं। गिरी (Nut) बड़ी, गहरे द्विखण्डीय, अस्थिवत् कठिन, स्थूल तथा कृष्ण आवरण से ढँकी होती है। बाजार में इसके सूखे मग्ज के कटे हुए बेडौल सफेद टुकड़े प्राप्त होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह सिचेलीज टापू, अफ्रीका तथा अमेरिका के समुद्रतट पर होता है। समुद्र के द्वारा ही यह भारत के पश्चिमी समुद्रतट और श्रीलङ्का तक फैला है। संप्रति भारत में यत्र-तत्र लगाया प्राप्त होता है। अधिकतर बाहर से आता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—मधुर, कटु
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन और विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण और वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रगत शर्करा को कम करता है।

तापक्रम—यह शीतप्रशमन तथा प्राकृत देहाग्नि का संरक्षक है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—ग्रन्थिशोथ तथा साँप, बिच्छू आदि के दंशस्थान पर इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विसूचिका में इसको गुलाबजल में घिस कर पिलाते हैं। इससे वमन होता है और उसके द्वारा संपूर्ण विष निकल जाता है। प्यास भी शान्त हो जाती है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य में जहरमोहरा खताई के साथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—इक्षुमेह में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वरों में इसका प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—अहिफेन और वत्सनाभ के विष में इसे घिस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मज्जा।

मात्रा—५–१० ग्रा०।

विशिष्ट योग—जवाहरमोहरा।

× × × ×

समुद्रनारिकेलस्तु मधुरः कटुको लघुः। वीर्योष्णः कफवातघ्नः शीतप्रशमनो मतः॥
हृद्यो विषघ्नोऽनलकृत् तृष्णानिग्रहणः परम्। विषूचिकायां हृद्रोगे ज्वरे शीते च शस्यते।
(स्व.)

W. I., VI, 169–70.

कोथप्रशमन

३२६. अश्वकर्ण

परिचय

कुल—शाल-कुल (डिप्टरोकार्पी–Dipterocarpaceae)।

नाम—लै०-डिप्टरोकार्पस टर्बिनेटस (Dipterocarpus turbinatus Gaertn. f.); सं०-अश्वकर्ण; बं०-तेलिया गर्जन; आ०-गर्जन कुरोइलसाल; अं०-कॉमन गर्जन ट्री (Common gurjun tree)।

स्वरूप—यह १२५–१५० फीट तक ऊँचा तथा १०–१५ फीट मोटा **वृक्ष** है। पत्रवृन्त रोमश, १½–२ इञ्च लम्बा, **पत्र**–५–१२ इञ्च लम्बे, २½–७ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या भालाकार, १४–१८ जोड़ी पार्श्विक सिराओं से युक्त होते हैं। **पुष्पमञ्जरी** में ३–५ पुष्प, ३ इञ्च व्यास के लगते हैं। अन्तर्दल गुलाबी श्वेत होते हैं। फल में अश्वकर्णवत् दो पंख ५ इञ्च लम्बे, १ इञ्च चौड़े, गोलाग्र होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—पूर्वी बंगाल, आसाम, अण्डमान तथा वर्मा, सिंगापुर और मलयेशिया में इसके वृक्ष होते हैं।

रासायनिक संघटन—इसके काष्ठ से एक तैलीय राल निकलता है जिसे 'गर्जन तेल' कहते हैं। यह गहरे रक्ताभ भूरे रंग का मधु के सदृश गाढ़ा होता है। इसके ऊर्ध्वपातन से ३७–८२% उड़नशील तैल तथा एक राल प्राप्त होता है। तैल प्राप्त करने के लिए वृक्ष के काण्ड में क्षत कर एक कोटर सा बना देते हैं जिसके मुँह पर आग लगाने से तैल बहने लगता है। नवम्बर से मई तक तैल का संग्रह किया जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर-मूत्रवहसंस्थान—मूत्रवह संस्थान पर इसकी विशिष्ट क्रिया 'कोपेबा' के समान होती है। यह श्लेष्मल कला को उत्तेजित करता, मूत्र का प्रमाण बढ़ाता तथा मूत्रगत जीवाणुओं को नष्ट करता है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातविकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में इसका तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-मूत्रवहसंस्थान—जीर्ण पूयमेह में इसका तैल दूध के साथ दिन में २-३ बार देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में भी तैल खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—तैल।

मात्रा—३–६ ग्रा०

वक्तव्य—अन्य प्रजातियाँ यथा D. macrocarpus Vesque, D. alatus Roxb. भी गर्जन के नाम से चलती हैं और व्यापारिक गर्जनतैल में इनका भी स्नेहांश रहता है।

× × ×

अश्वकर्णः कटुस्तिक्तः स्निग्धः पूयास्रनाशनः।
ज्वरविस्फोटकण्डुघ्नः शिरोदोषार्त्तिकृन्तनः॥ (रा. नि.)

W. I., iii, 94–95.

F. I., I, 295.

व्रणशोधन

३२७. गांगेरुकी

परिचय

कुल—परुषक-कुल (टिलिएसी–Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया टिनैक्स (Grewia tenax (Forsk.) Aschers. & Schwf); सं०-गांगेरुकी; हि०-गंगेरन; गु०-गंगेटी।

स्वरूप—इसका गुल्म ५–१० फुट ऊँचा होता है इसमें अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं जो परस्पर उलझी होती हैं। **पत्र**–½–1½ इञ्च लम्बे, १¼ इञ्च चौड़े, चर्मवत्, अनेक आकार के होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, किञ्चित् सुगन्धि, ग्रीष्मकाल में

आते हैं। शीतकाल में फल पकते हैं। पकने पर फल नारंगी लाल रंग के, प्रायः द्विखंडीय होते हैं जो खाये जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः पश्चिम तथा दक्षिण भारत के शुष्क प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों से २% तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय, मधुर
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणशोधन, व्रणरोपण और रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रण तथा सद्यःक्षत में इसके मूल या छाल का स्वरस देते हैं। इससे शोधन, रोपण तथा रक्तस्तम्भन होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रक्तप्रवाहिका में यह उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, मूल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि.लि., क्वाथ-५०-१०० मि.लि.

× × ×

'गांगेरुकं……। मधुरं सकषायं च शीतं पित्तकफापहम् ॥' (च. सू. २७)
'सकषायं हिमं स्वादु धान्वनं कफवातजित्। तद्वद् गांगेरुकं विद्यात् ॥' (सु. सू. ४६)
'खड्गादिच्छिन्नगात्रस्य तत्कालं पूरितो व्रणः। गांगेरुकीमूलरसैर्जायते गतवेदनः ॥'
(शा.)

F. I., I, 385.
W. I., IV, 266.

बल्य

३२८. बला

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, प्रजास्थापन, मधुरस्कन्ध (च०); वातसंशमन (सु०)

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी–Malvaceae)।

नाम—लै०–सिडा कॉर्डिफोलिया (Sida cordifolia Linn.); सं०–बला, वाट्यालिका, खरयष्टिका; हि०–वरियार, खिरैंटी, पं०–खरयटी; बं०–बेड़ेला; म०–चिकणा; गु०–बल, वला, खरेटी; ता०–पनियार तुट्टि; ते०–तेलाआन्टिस; कन्न०–हेट्टुति; मल०–वेल्लुरम; अं०–कण्ट्री मैलो (Country mallow)।

स्वरूप—इसका **क्षुप** या गुल्म २–५ फीट ऊँचा होता है। मूल और काण्ड दृढ़ होता है, इसलिए इसे बला नाम दिया गया है। **पत्र**-एकान्तर, १–३ इञ्च लंबे, १–२ इञ्च चौड़े, रोमश, ७–९ पार्श्विक सिराओं से युक्त, लट्वाकार या हृद्वत्–आयताकार, गोलदन्तुर होते हैं। **पुष्प**-पत्रकोणोद्भूत, पीतवर्ण या श्वेत होते हैं। पुष्प के बाह्य और आभ्यन्तर दल संख्या में ५–५ होते हैं। फल में स्त्रीकेशर (carpels) लगभग दस होते हैं जिनमें प्रत्येक पर दो शूक होते हैं। **बीज**-छोटे, भूरे या काले रंग के दानों के रूप में होते हैं। इन बीजों को 'बीजबन्द' कहते हैं। अगस्त-दिसम्बर में पुष्प तथा अक्टूबर-जनवरी में फल लगते हैं।

जाति—बलाद्वय में बला और अतिबला; इनमें नागबला मिलाने पर बलात्रय होता है। भावप्रकाश में एक और महाबला मिला कर बलाचतुष्टय किया गया। राजबला (प्रसारणी) को भी इसमें समाविष्ट किया जाय तो पञ्चबला हो जाती है। वानस्पतिक आधार पर S. cordifolia के अतिरिक्त, S. spinosa Linn., S. acuta Burm f.) आदि अनेक क्षुप बला के अन्तर्गत आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में ३५०० फीट की ऊचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें ०·०८५% क्षाराभ होता है। बीजों में सबसे अधिक (०·३२%) क्षाराभ होता है। मुख्य क्षाराभ 'इफैड्रीन' (Eqhedrine) है। इसके अतिरिक्त स्टिरॉयड, फाइटोस्टिरॉल, राल, राल-अम्ल, म्युसिन तथा पोटाशियम नाइट्रेट होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह स्निग्ध-मधुर होने से वात का तथा शीत होने से पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—लेप वेदनास्थापन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ियों के लिए बल्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रल और प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और ओजोवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणशोथ तथा नेत्ररोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—ग्रहणी में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त तथा उरःक्षत में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह, प्रदर तथा गर्भाशयदौर्बल्य में गर्भपोषणार्थ प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षयरोग, कृशता आदि में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल, बीज।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०; चूर्ण ३–६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—बलादि क्वाथ, बलाद्य घृत, बलाद्यरिष्ट, चन्दनबलालाक्षादि तैल।

× × × ×

'बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। स्निग्धं ग्राहि समीरास्रपित्तास्रक्षतनाशनम्॥'
(भा. प्र.)

'बला सांग्रहिक-बल्य-वातहराणाम्।' (च. सू. २५)

'बला स्निग्धा हिमा स्वादु वृष्या बल्या त्रिदोषनुत्।
रक्तपित्तं क्षयं हन्ति बलौजो वर्धयत्यपि॥' (ध. नि.)

W. I., IX, 323–24.

B. B. O., I, 61.

३२९. अतिबला

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, मधुरस्कन्ध (च०), वातसंशमन, मधुर (सु०)।

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-एब्युटिलन इण्डिकम (Abutilon indicum (Linn.) Sw.); सं०-अतिबला, कंकतिका, हि०-कंघी, ककही; बं०-पेटारि, झांपी; म०-मुद्रा; गु०-खपाट, डाबली, कांसकी, ता०-पनियारा हुट्टि; ते०-तुत्तुराबेंदा; मल०-वेल्लुल; कन्न०-तुट्टि; अ०-मश्तुल गोला; फा०-दरख्तशान। अं०-कण्ट्री मैलो (Country mallow)।

स्वरूप—इसका मखमली गुल्मक होता है। **पत्र**-दन्तुर और मृदुरोमश होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण, लगभग १ इञ्च व्यास के होते हैं जिसमें पुष्पदण्ड पत्रवृन्त से दूना या तिगुना बड़ा होता है। स्त्रीकेशर १५ या इससे अधिक होते हैं। **फल**-गोलाकार किन्तु ऊपर की ओर कंघी की तरह दाँत होते हैं। **बीज**-१५–२० की संख्या में भूरे या काले होते हैं। इसके बीजों को भी 'बीजबन्द' कहते हैं। वर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—अतिबला दो प्रकार की होती है :—१. छोटी। २. बड़ी। बड़ी जाति (A. hirtum G. Don) है, इसका क्षुप बड़ा होता है तथा शाखाओं और पुष्पदण्डों पर लम्बे रोम होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों में पिच्छिल द्रव्य, टैनिन, कार्बनिक अम्ल, कुछ ऐस्पैरेगिन (Asparagin) तथा भस्म (जिसमें क्षारीय सलफेट, क्लोराइड, मैगनीशियम फास्फेट और कैल्शियम कार्बोनेट होते हैं) पाये जाते हैं। मूल में भी ऐस्पैरेगिन होता है। बीजों में भी म्युसिलेज होता है।

गुण-कर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग बला के समान हैं।

३३० महाबला

परिचय

कुल—कार्पास-कुल (मालवेसी-Malvaceae)।

नाम—लै०-सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida rhombifolia Linn. Mast.) सं०-महाबला, पीतपुष्पा, सहदेवा, क्षेत्रबला; हि०-पीला बरियार; बं०-पीत बेड़ेला, हल्दे बेड़ेला; गु०-खेतराऊ बल।

स्वरूप—इसका क्षुप ३–५ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-एकान्तर, लट्वाकार भालाकार या विषम चतुर्भुजाकार होते हैं। **पुष्प**-पीतवर्ण या श्वेतवर्ण, छोटे, पुंकेशर अनेक होते हैं। **फल**-छोटे जिनमें दोनों ओर दो शृंगाकार भाग होते हैं। **बीज**-चिकने, काले रंग के होते हैं। वर्षा और शीतकाल में फूल और फल होते हैं।

जाति—इसके अनेक भेद होते हैं जिनमें Var rhomboidea (Roxb.), Mast. प्रमुख है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म और प्रयोग बला के समान होते हैं।

३३१. राजबला

परिचय

कुल—कोर्पास-कुल (मालवेसी–Malvaceae)।

नाम—लै०-सिडा वेरोनिसिफोलिया (Sida veronicaefolia Lann.); सं०-राजबला, भूमिबला, प्रसारिणी, सुप्रसरा (जो जमीन पर फैले); हि०-फरीद बूटी; बं०-जोंका; म०-भुईबल, भुईचिकण; गु०-भोंयबल; ता०-वेभिला।

प्रसारिणी वस्तुतः राजबला है जिसका वर्णन यहाँ किया गया है। गन्धप्रसारिणी भिन्न द्रव्य (Paedria foetida Linn.) है (देखें पृ० ६२)

परिचय—यह झाड़ीदार रोमश वनस्पति जमीन पर फैलने वाली है। २-३ फुट तक यह सांप की तरह टेढ़ी-मेढ़ी फैलती है। काण्ड की प्रत्येक ग्रन्थि में मूल निकलते हैं। पत्र-½-१ इञ्च लम्बे, लट्वाकार या हृदयाकार, कंगूरेदार और रोमश होते हैं। पुष्प पीतवर्ण होते हैं। वर्षा के बाद पुष्प और फल आते हैं।

संग्रहविधि—माघ-फाल्गुन मास में जब इसके पत्ते झड़ गये हों और नये पत्ते न निकले हों उसी समय इसके प्रौढ मूलों को निकाल ले। फिर जल से धो, छाल अलग कर ले और छाया में शुष्क कर सुरक्षित शुद्ध पात्र में रख ले।

गुणकर्म और प्रयोग

इसके गुणकर्म और प्रयोग बला के समान है।

× × ×

प्रसारिणी सुप्रसरा सरणी सारणी च सा। चारुपर्णी राजबला भद्रपर्णी प्रतानिका॥
प्रसारिणी गुरुस्तिक्ता सरा सन्धानकृन् मता। त्रिदोषशमनी वृष्या तेजःकान्तिबलप्रदा॥
(ध. नि.)

३३१. विदारी

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, वर्ण्य, कण्ठ्य, स्नेहोपग, मधुरस्कन्ध (च०); विदारिगन्धादि, वल्लीपञ्चमूल, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

नाम—लै०-प्युरेरिआ ट्यूबरोजा (Pueraria tuberosa DC.); सं०-विदारी, स्वादुकन्दा, इक्षुगन्धा, गजवाजिप्रिया, कन्दपलाश, भूमिकूष्माण्ड; हि०-विदारीकन्द, बिलाईकन्द, सुराल, पतालकोहड़ा; बं०-शीमिया; म०-बेंदरिया बेल, वींदरी; गु०-खाखरवेल, विदारी; मा०-घोड़बेल; ते०-दरीगुम्मडि; मल०-गुमडिगिडा; अं०-इण्डियन कुडजु (Indian kudju).

स्वरूप—यह आवर्त्तिनी मोटी लता होती है जो बहुत दूर तक फैली रहती है। **काण्ड**-५ इञ्च व्यास तक का होता है। **पत्र**—पलाश के समान त्रिपत्रक

होते हैं, अतः इसे कन्दपलाश कहते हैं। **पत्रक**-४-६ इञ्च लम्बे, ३-४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार और तीक्ष्णाग्र होते हैं। पत्र के निम्न पृष्ठ पर सघन रोम होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-६-१८ इञ्च लम्बी होती है जिसमें बैंगनी या नीले रंग के पुष्प आते हैं। **फली**-२-३ इञ्च लम्बी, रोमश होती है जिसमें ३-६ बीज होते हैं। मूल में १-२ फीट लम्बे और १ फुट मोटे **कन्द** होते हैं। इन कन्दों में मुलेठी का सा मधुर स्वाद आता है अतः इसे 'स्वादुकन्दा' 'इक्षुविदारी' कहते हैं। लतायें घोड़े बहुत चाव से खाते हैं अतः इसका 'गजवाजिप्रिया' नाम है। कन्द के काटे हुए सुखाये सफेद टुकड़े बाजार में मिलते हैं।

जाति—इसकी एक दूसरी जाति 'क्षीरविदारी'' कहलाती है जिसके 'क्षीरवल्ली' 'पयस्विनी' आदि पर्याय हैं। इसका लैटिन नाम 'आइपोमिया डिजिटेटा' (Ipomoea digitata Linn.; Fam. convolvulaceae) है। हिन्दी में इसे 'भुई कोहड़ा' कहते हैं। इसकी बड़ी लता आरोहिणी या प्रतानिनी होती है। पत्र-पाणिवत्, पञ्चधा या सप्तधा खण्डित होते हैं। पुष्प घंटिकाकार, गुलाबी या बैंगनी रंग के वर्षा में आते हैं। कन्द ऊपर से पीला या भूरे रंग का, कूष्माण्ड के सदृश किन्तु भीतर से श्वेत होता है। काटने पर प्रचुर क्षीर निकलता है। यह पिच्छिल एवं तिक्त होता है।

बंगाल-आसाम में एक दूसरा कन्द भी 'भुईकुम्हड़ा' के नाम से मिलता है। यह पीताभ, तिक्त होता है। यह ट्राइकोसैन्थस कॉर्डेटा (Trichosanthes cordata Roxb.; Fam. Cucurbitaceae) नामक लता का कन्द है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में प्रायः सर्वत्र तथा हिमालयप्रदेश में ४००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसके कन्दों में कार्बोहाइड्रेट ६४·६, प्रोटीन १०·६ प्रतिशत होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध | **रस**—मधुर
विपाक—मधुर | **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—स्नेहन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—वर्ण्य है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण और रसायन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य, पित्तविकार, यकृत्प्लीहावृद्धि, विबन्ध में देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा रक्तविकारों में प्रयुक्त होता है ।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद एवं वातपैत्तिक कास में देते हैं ।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा स्तन्यवृद्ध्यर्थ इसका प्रयोग करते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में देते हैं ।

त्वचा—वर्णविकारों में किया जाता है ।

तापक्रम—विषमज्वर और दाह में प्रयुक्त होता है

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय तथा शोष में देते हैं ।

प्रयोज्य अंग—कन्द ।

मात्रा—चूर्ण ३–६ ग्रा०

× × ×

'विदारी मधुरा स्निग्धा बृंहणी स्तन्यशुक्रदा । शीता स्वर्या मूत्रला च जीवनी बलवर्णदा ॥
गुरुः पित्तास्रपवनदाहान् हन्ति रसायनम् ।' (भा. प्र.)

'मधुरो बृंहणो वृष्यः शीतः स्वर्योऽतिमूत्रलः । विदारीकन्दो बल्यस्तु वातपित्तहरश्च सः ॥
(सु. सू. ४६)

'चूर्णं विदार्याः सुकृतं स्वरसेनैव भावितम् । सर्पिर्मधुयुतं लीढ्वा दश स्त्रीरधिगच्छति ॥'
(सु. चि. २६)

'पयस्तैलं घृतं चैव विदारीक्षुरसं मधु । संमूर्च्छ्य पाययेदेतत् विषमज्वरनाशनम् ॥'
(च. द.)

W. I., iii, 316.

३३३. वाराही

परिचय

कुल—वाराही-कुल (डायोस्कोरिएसी–Dioscoreaceae) ।

नाम—लैं०-डायोस्कोरिया बल्बिफेरा (Dioscorea bulbifera Linn.); सं०-वाराहीकन्द; हि०-वाराहीकन्द, गेंठी; म०-कुकरकन्द; गु०-डुक्करकन्द ।

स्वरूप—इसकी आरोहिणी वामावर्त्त **लता** होती है । **काण्ड**—चिकने होते हैं तथा पत्रकोणों में लगभग १ इञ्च व्यास के कन्दसदृश उभार होते हैं । **पत्र**—एकान्तर २–६ इञ्च लंबे, १½–४ इंच चौड़े, तीक्ष्णाग्र, लट्वाकार-हृदयाकार होते हैं। पत्राधार पर ६ सिरायें होती हैं । **पुंपुष्प** की मंजरी २–४ इंच लम्बी तथा स्त्रीपुष्प की मंजरी ४–१० इञ्च लम्बी होती है । **फल**–तीन पंखवाले तथा बीज भी आधार पर पंखयुक्त होते हैं । **कन्द**–छोटे आकार का, भूरे रंग का होता है जिस पर वराह-रोमवत् सघन, लम्बे रोम होते हैं । काटने पर कन्द भीतर पीताभ श्वेत होता है ।

जाति—Dioscorea की अनेक प्रजातियों का वर्णन प्राचीनों ने 'आलुक' के अन्तर्गत किया है । वाराहीकन्द के लगभग १० भेद होते हैं जिनमें ४–५ प्रमुख भेद भारत में उगाये जाते हैं ।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में ६ हजार फीट की ऊंचाई तक पाया जाता है ।

रासायनिक संघटन—इसके कन्द में अलब्युमिनॉयड ७.३६–१३.३१, कार्बोहाइड्रेट ७५.११–८१.३९, वसा ०.७५–१.२८ पाया जाता है ।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध　　**रस**—कटु, तिक्त, मधुर

विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—व्रणरोपण है ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन तथा कृमिघ्न है ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है ।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है ।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है ।

त्वचा—कुष्ठघ्न है ।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है ।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—नाडीव्रण में इससे सिद्ध तैल देते हैं ।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल तथा कृमिरोग में देते हैं ।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, गंडमाला आदि में प्रयुक्त होता है ।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ देते हैं ।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है ।

त्वचा—कुष्ठ, उपदंश आदि त्वग्दोषों में लाभकर है ।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं ।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्राम।

× × × ×

'श्यामकर्कशवाराहवृषणाकारकंदका। ताम्बूलवल्लीछदना वाराही गृष्टिरुच्यते॥' (कै.नि.)
'वाराहमूर्धवत् कंदो वाराहीकन्दसंज्ञितः। भिषजां तदलाभेन चर्मकारालुको मतः॥'
(वृन्द)
'शौकरो मधुरस्तिक्तः कटुको रसपाकयोः। शुक्रायुःस्वरवर्णाग्निबलपित्तविवर्धनः॥
कफकुष्ठमरुन्मेहकृमीन् हन्ति रसायनम्।' (कै. नि.)
'वाराहकन्दः श्लेष्मघ्नः कटुको रसपाकतः। मेहकुष्ठकृमिहरो बल्यो वृष्यो रसायनः॥'
(सु. सू. ४६)
'वाराहीमूलचूर्णस्य पलं मधुयुतं क्रमात्। युवा स्यात् पयसा पीत्वा क्षीराज्याज्यभुगादृतः॥
(ग. नि.)

W. I., iii, 71–72.

३३४. तवक्षीर

परिचय

कुल—आर्द्रक-कुल (जिंजीबरेसी–Zingiberaceae)।

नाम—लै०-कर्कुमा ऐंगुस्टिफोलिया (Curcuma angustifolia Roxb.); सं०-तवक्षीर, तवक्षीरी; हि०-तेखुर; बं०-टिकुर, एरारूट; म०-तवकीर; ता०-किसांगु; ते०-गद्दालु; अं०-कर्क्युमा स्टार्च (Curcuma starch.), ईस्ट इण्डियन एरोरूट (East Indian arrowroot)।

स्वरूप—यह छोटा **क्षुप** होता है। **पत्र**-हलदी के सदृश, १-१½ फुट लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्पदंड**-½-१ फुट लम्बा होता है। कोणपुष्पक-१ इञ्च लंबे, लट्वाकार, हरे या गुलाबी होते हैं। अन्तर्दल के खंड हलके पीले होते हैं। कन्द गोलाकार, अनेक, छोटे मूलस्तम्भ से निकले लंबे सूत्रों के अग्रभाग पर लगे होते हैं। कन्द को सुखाकर उसका श्वेत चूर्ण तेखुर के नाम से व्यवहृत होता है। यह असली आरारोट (Maranta arundinacea Linn.) के प्रतिनिधि के रूप में भी प्रचलित है। वंशलोचन के अभाव में भी यह लिया जाता रहा है, इसी कारण तवक्षीरी उसके पर्यायों में आ गया। ग्रीष्म में पुष्प और बाद में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह कुमाऊं से नेपाल तक ३-४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें स्टार्च, शर्करा, गोंद तथा वसा होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—कासश्वासहर है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थनिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत वात, प्रवाहिका और ग्रहणी में इसका पथ्य देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग और रक्तपित्त में देते हैं।
श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र मूत्रदाह तथा बस्तिशोथ में दिया जाता है।
तापक्रम—ज्वर तथा दाह में देते हैं।
सात्मीकरण—क्षय एवं दौर्बल्य में उपयोगी है।
प्रयोज्य अङ्ग—कन्दचूर्ण।
मात्रा—१०-२० ग्रा० पेया के रूप में दिया जाता है।

× × × ×

तवक्षीरी क्षयश्वासकासघ्नी मधुरा हिमा (अ. सं. सू. १२)

W. I., II, 401.
F. I., VI, 210.

जीवनीय

३३५. जीवन्ती

परिचय

गुण—जीवनीय, मधुरस्कन्ध (च०); काकोल्यादि (सु०)।
कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लीपिएडेसी–Asclepiadaceae)।

नाम—ल०-लेप्टाडीनिआ रेटिकुलेटा (Ledtadenia reticulata W. & A.); सं०-जीवन्ती, शाकश्रेष्ठा, हि०-डोडी शाक; म०-खानदोडकी, शिरदोडी; गु०-दोडी, डोडी।

स्वरूप—यह एक शाखाप्रशाखायुक्त गुल्मवत् वल्ली है। **पत्र**-लट्वाकार, हृदयाकृति, चर्मवत्, ऊपर चिकने और नीचे रोमश होते हैं। **पुष्प**-हरिताभ पीत, मंजरियों में गुच्छबद्ध होते हैं। **फली**-शृंगाकार, २-४ इञ्च लंबी होती हैं। कच्ची फलियों का शाक बनाते हैं। यह शाकों में श्रेष्ठ मानी गई है।

जाति—यह दो प्रकार की कही गई हैं :—'जीवन्ती' और 'स्वर्णजीवन्ती'। राजस्थान और गुजरात में इसकी एक प्रायः निष्पत्र प्रजाति (L. pyrotechnica (Forsk. Decne) 'खींप' नाम से प्रसिद्ध है। उसमें पीतवर्ण पृष्प होते हैं। वह स्वर्णजीवन्ती हो सकती है।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः पश्चिम और दक्षिण भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में अनेक स्टेरॉल् पाये गये हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध — **रस**—मधुर
विपाक—मधुर — **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य एवं स्तन्यजनन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।
नेत्र—दृष्टिशक्तिवर्धक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पैत्तिक शोथ में इसका लेप करते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—कोष्ठगत रौक्ष्य, विष्टम्भ तथा ग्रहणी में भी देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में उपयोगी है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा स्तन्याल्पता में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्रदाह और पूयमेह में प्रयुक्त होता है।
तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।
सात्मीकरण—क्षय, शोष, यक्ष्मा में दिया जाता है।
नेत्र—दृष्टिशक्ति मन्द होने पर इसका प्रयोग करते हैं।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा०; क्वाथ ५०-१०० मि० लि०।
विशिष्ट योग—जीवन्त्याद्य घृत, जीवनीयादि तैल।

× × ×

'जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा।
रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः॥' (भा. प्र.)
'जीवन्ती मधुरा शीता रक्तपित्तानिलापहा।
क्षयदाहज्वरान् हन्ति कफवीर्यविवर्धनी॥' (रा. नि.)
'जीवन्ती मधुरा शीता सुस्निग्धा ग्राहिणी लघुः।
चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी बल्या वृष्या रसायनी॥' (कै. नि.)
'चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती मधुरा हिमा। शाकानां प्रवरा' (ध. नि.)
'चक्षुष्या सर्वदोषघ्नी जीवन्ती समुदाहृता।' (सु. सू. ४६)
'जीवन्तीशाकं शाकानाम्।' (च. सु. २५)

W. I., VI. 73-74.

३३६. मुद्गपर्णी

परिचय

गण—जीवनीय, शुक्रजनन, मधुरस्कन्ध (च०); काकोल्यादि, विदारिगंधादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-papilionatae)।

नाम—लै०-फैसिओलस ट्राइलोबस (Phaseolus trilobus Ait.); सं०-मुद्गपर्णी, क्षुद्रसहा, काकमुद्गा, हि०-मुँगवन; बं०-मुगानी; म०-रानमुग; गु०-अडबाउ मग, जंगली मग।

स्वरूप—इसका प्रसरणशील क्षुप १-२ फीट लंबा होता है। काण्ड की प्रत्येक ग्रन्थि से मूल बाहर निकलते हैं। **पत्र**-पत्रवृन्त से छोटे, प्रायः त्रिखण्डीय; उपपत्र लगभग ½ इञ्च लंबे, आयताकार या लट्वाकार होते हैं। **पुष्प**-लंबे पुष्पदंडों पर

प्रायः ½ इञ्च लंबे, पीतवर्ण होते हैं। **फल**–१–२ इञ्च लम्बी, चपटी, कभी-कभी मुड़ी होती है जिसमें ६–१२ तक धूसरवर्ण बीज होते हैं। वर्षाकाल में पुष्प और उसके बाद फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक विशेषतः वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, रक्तस्तम्भन और चक्षुष्य है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक, रक्तपित्तशामक तथा शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—वृष्य है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—जीवनीय तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विशेषतः वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, क्षत तथा नेत्ररोगों में इसका लेप करते हैं। रक्तप्रदर में इसका पिचु योनि में धारण कराते हैं।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, ग्रहणी और अर्श में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—वातरक्त आदि रक्तविकार, रक्तपित्त तथा शोथ में है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।
सात्मीकरण—क्षयरोग में प्रयुक्त होता है। मूषिकविष में मूल का चूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग, मूल।
मात्रा—क्वाथ-५०–१०० मि० लि०

× × ×

'अरण्यमुद्गजा वल्ली सशिम्बा पीतपुष्पका। मुद्गवल्ल्याभपर्णा या मुद्गपर्णीति सा स्मृता॥' (शि.)

'मुद्गपर्णी हिमा रूक्षा तिक्ता स्वाद्वी च शुक्रला। चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्रहणीज्वरदाहनुत्॥ दोषत्रयहरी लघ्वी ग्रहण्यर्शोतिसारहृत्।' (भा. प्र.)

मुद्गपर्णी हिमा स्वादुर्वातरक्तक्षयापहा। पित्तदाहज्वरान् हन्ति चक्षुष्या कफशुक्रला॥' (रा. नि.)

F. I., II, 201–2.
B. B. O., III, 301.

३३७. माषपर्णी

परिचय

गण—जीवनीय, शुक्रजनन, मधुरस्कन्ध (च); काकोल्यादि, विदारिगन्धादि (सु०)

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-Papilionatae)

नाम—लै०-टिरैमनस लैबियलिस (Teramnus labialis Spreng.); सं०-माषपर्णी, महासहा, हि०-मषवन, बनउड़द; बं०-माषानी; बनकलाई; म०-रान उड़द; गु०-जंगली अड़द।

स्वरूप—इसकी उड़द की सी वल्ली या प्रताननी **लता** होती है। **पत्र**–२–४ इञ्च लम्बे, त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**-अनेक आकृतियों के रोमश होते हैं। पार्श्विक पत्रक प्रायः टेढ़े तथा अन्तिम पत्रक सबसे बड़ा होता है। **पुष्पमञ्जरी**–१½–५ इञ्च लम्बी होती है जिस पर गुलाबी या सफेद रंग के पुष्प लगते हैं। **शिम्बी**–१–२ इञ्च लम्बी, कुछ टेढ़ी और रोमश होती है जिसमें ८–१० बीज आर्द्रावस्था में लाल और सूखने पर काले होते हैं। वर्षा में फूल और उसके बाद फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक और कफवर्धक है।
संस्थानिक कर्म-पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन, अनुलोमन और ग्राही है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक, रक्तशोधक और शोथहर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—जीवनीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह अर्दित, पक्षाघात, सन्धिवात आदि वातव्याधियों मे तथा रक्तपित्त आदि पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-पाचनसंस्थान—उदरशूल, विष्टम्भ तथा ग्रहणी में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तविकार और शोथ में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर एवं दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—क्षयरोग में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, मूल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, चूर्ण-३-६ ग्रा०

× × ×

'माषपर्णसहक्पर्णा रोमालुर्वनसम्भवा। मार्जारमोदनी माषपिण्डी च वक्रनालका॥
हयपुच्छसमाकारा मधुरा पर्वतोद्भवा।' (+श.)

'माषपर्णी हिमा तिक्ता स्निग्धा शुक्रबलासकृत्।
मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरास्रजित्॥' (भा. प्र.)

'माषपर्णी रसे तिक्ता वृष्या दाहज्वरापहा। शुक्रवृद्धिकरी बल्या शीतला पुष्टिवर्धनी॥' (रा. नि.)

'सहाद्वयं……ज्ञेया विपाके मधुरा रसे च बलप्रदाः पित्तनिबर्हणाश्च। (सु. सू. ४६)

'माषपर्णभृतां धेनुं गृष्टिं पुष्टां चतुःस्तनीम्। समानवर्णवत्सां च जीवद्वत्सां च बुद्धिमान्॥
इक्ष्वादामर्जुनादां वा सान्द्रक्षीरां च धारयेत्।
केवलं तु पयः तस्याः श्रृतं वा श्रृतमेव वा॥
शर्करामधुसर्पिर्भिः युक्तं तद्वृष्यमुत्तमम्।' (च. चि. २)

W. I., X, 157.
B. B. O., I, 289.

सन्धानीय

३३८. लज्जालु

परिचय

गण—सन्धानीय. पुरीषसंग्रहणीय (च०); प्रियंग्वादि, अम्बष्ठादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसॉयडी-Mimosoidae)।

नाम—लै०-माइमोसा प्युडिका (Mimosa pudica Linn.)। सं०-लज्जालु, नमस्कारी, शमीपत्रा, खदिरका, समङ्गा, रक्तपादी। हि०-लजालु, लजौनी; लज्जावन्ती, छुईमुई; बं०-लाजक, लज्जावती; म०-लाजालू, लाजरी; गु०-रीसामणी; ता०-तोट्टलवाडी; ते०-अत्तापत्ती; कन्न०-लज्जा; मल०-तिन्तरमनी; उ०-लजकुरी; अं०-सेन्सिटिव प्लाण्ट (Sensitive plant)।

स्वरूप—इसका गुल्मजातीय प्रसरणशील कण्टकित **क्षुप** २-४ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-द्विपक्षवत्, पक्ष २-४, पाणिवत् निकले रहते हैं। **पत्रक**-खदिरपत्र के सदृश, १०-२० जोड़े होते हैं। स्पर्श से पत्तियाँ संकुचित हो जाती हैं इसीलिए इसे 'लज्जालु' 'नमस्कारी' आदि नाम दिए गए हैं। पत्रकोणीय पुष्पदण्ड के अग्र भाग पर गोलाकार गुलाबी **पुष्प**मुंडक रूई के सदृश मृदु होता है। पुंकेशर-संख्या में चार, बहुत बड़े होते हैं। **फली**-१/२-३/४ इञ्च लम्बी होती है जिसकी सेवनियों पर सूक्ष्म धूसरवर्ण काँटे होते हैं। **बीज**-प्रत्येक फली में ३-५ होते हैं। वर्षाऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—इस प्रजाति में अनेक रूप के पौधे मिलते हैं। मुख्यतः तीन भेद हैं—

१. Var. hispida Brenan.
२. Var. tetranda DC.
३. Var. unijuga Griseb.

उत्पत्तिस्थान—यह पौधा ब्राजिल का आदिवासी है और अब भारत के समस्त उष्ण प्रदेशों में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में १० प्रतिशत टैनिन तथा ५५ प्रतिशत भस्म होती है। इसमें माइमोसिन (Mimosine) नामक विषाक्त क्षाराभ भी होता है। बीजों में म्युसिलेज होता है तथा इनसे १७% हरितपीत तैल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह सन्धानीय, रक्तस्तम्भन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है। यह छोटी रक्तवाहिनियों को संकुचित करता है और रक्तरोधक है। रक्तशोधक और शोथहर भी है।

प्रजननसंस्थान—बीज वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—सन्धानीय और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह क्षत, व्रण, भगन्दर में लगाया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका तथा रक्तार्श में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—उरःक्षत, रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है। कुष्ठ और शोथ में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में दिया जाता है। बीज शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह, विशेषतः सिकतामेह में देते हैं।

सात्मीकरण—धातुओं के क्षत तथा भग्न में इसका प्रयोग करते हैं। सर्पविष में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग, मूल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि.लि.

× × ×

'रक्तपादी शमीपत्रा स्पृक्का खदिरपत्रिका। स्पर्शात् संकोचतां याति पुनश्च प्रसृता भवेत्॥'

(कै. नि.)

'लज्जालुः शीतला तिक्ता कषाया कफपित्तजित्। रक्तपित्तमतिसारं योनिरोगान् विनाशयेत्॥'

(भा. प्र.)

'रक्तपादी कटुः शीता पित्तातिसारनाशिनी।
शोफदाहश्रमश्वासव्रणकुष्ठकफास्रनुत्॥' (रा. नि.)

W. I. VI, 382.

B. B. O., ii, 336.

विकासी

३३९. पूग

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-एरिका कैटेचु (Areca catechu Linn.); सं०-पूग, क्रमुक, गुवाक; हि०-सुपारी; बं०-शुपारी; म०-सुपारी, पोफल; गु०-सोपारी; ता०-पक्कु गफकू; ते०-पोका-वाक्का, कन्न०-अदिके; मल०-अदक्का, अ०-फोफल; फा०-पोपल; अं०-बेटल नट (Betel nut)।

स्वरूप—यह शाखारहित **वृक्ष** ४०-६० फीट ऊँचा होता है। **काण्ड**-चिकना तथा श्वेताभ होता है। **पत्र**-४-६ फुट लंबे, पक्षवत् होते हैं। पत्रवृन्त का निचला

हिस्सा फैलकर दृढ कोशवत् हो जाता है। पुष्पध्वज पत्रकोश में आवृत होता है जिसमें **पुष्पदण्ड** कठिन अनेक शाखा-प्रशाखायुक्त तथा पुंपुष्पों और स्त्रीपुष्पों से युक्त होता है। पुंपुष्प छोटे किन्तु स्त्रीपुष्प बहुत बड़े होते है। **फल**-गुच्छों में लगते हैं जो २-२½ इञ्च लम्बे, अंडाकार, चिकने, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ अथवा रक्तवर्ण हो जाते हैं। इसका ऊपरी आवरण सौत्रिक कोश (६५%) का होता है जिसे हटाने पर सुपारी (३५%) निकलती है। इसके पत्ते जो प्रायः ४-७ होते हैं, दिसम्बर से गिरना प्रारंभ करते हैं और जून तक सब गिर जाते हैं। ऐसी स्थिति में ही पत्तों के अक्षों से पुष्पव्यूह निकलते हैं। इसके बाद १०-११ मास में फल पक जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—भारत के समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में विशेषतः कर्नाटक, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, आसाम और बंगाल में होता है। यह मलयेशिया का मूल निवासी कहा जाता है जहाँ बड़े पैमाने पर यह उगाया जाता है।

रासायनिक संघटन—सुपारी में प्रोटीन ४.९, वसा ४.४, कार्बोहाइड्रेट ४७.२ तथा खनिज द्रव्य १ प्रतिशत होता है। इसके अतिरिक्त कैटेचिन (Catechin), टैनिन १५%, गैलिक एसिड, एरिकोलिन (Arecoline) ०.१७%, एरिकेडिन (Arecaidine), गुवाकोलिन (Guvacoline), गुवाकिन (Guvacine) नामक क्षाराभ पाये जाते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष

रस—कषाय, मधुर

विपाक—कटु

वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। उबालने पर त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है।

रक्तवहसंस्थान—सुपारी में स्थित एरिकोलिन नामक क्षाराभ की क्रिया मस्केरिन, पैलिटिअरीन तथा पाइलोकार्पीन के समान होती है। यह हृदय से संबद्ध प्राणदा नाडी के सूत्रों को उत्तेजित कर हृदय को अवसादित करता है तथा रक्तभार को कम करता है। रक्तपित्तशामक भी है।

पाचनसंस्थान—यह लालास्राव को बढ़ाता है तथा दुर्गन्ध को नष्ट करता है। फलतः मुखवैशद्यकारक, रोचन, मुखवैरस्यनाशन और दीपन है। कषाय रस के कारण यह स्तम्भन है किन्तु अधिक मात्रा में देने पर यह अन्त्रगति को तीव्र करता है फलतः, मरोड़, क्षोभ और पतले दस्त आते हैं। एरिकोलिन नामक तत्त्व

के कारण यह तीव्र कृमिघ्न है और इसकी विशिष्ट किया गण्डूपद और स्फीत कृमियों पर होती है।

श्वसनसंस्थान—यह श्वासनलिका की पेशियों को संकुचित करता है।

प्रजननसंस्थान—यह शुक्रस्तम्भन है तथा गर्भाशयशोथहर है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रसंग्रहणीय है।

त्वचा—यह स्वेदजनन है।

सात्मीकरण—यह ओजोनाशक, विकासी तथा धातुओं में शैथिल्य उत्पन्न करने वाला है। अधिक खाने से भ्रम उत्पन्न करता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह उबाल कर त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—मुखपाक, शीताद तथा गले के रोगों में इसके क्वाथ से कुल्ला करते हैं। श्वेतप्रदर में इसके क्वाथ की उत्तरबस्ति देते हैं तथा पिचुधारण करते हैं। व्रणों पर इसका अवचूर्णन करते हैं। सुपारी की अन्तर्दग्ध भस्म दन्तमञ्जनों में डालते हैं। कटिशूल और वातव्याधि में इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अतिसार, प्रवाहिका तथा कृमिरोग में देते हैं। ३ ग्रा० सुपारी का चूर्ण २० मि०लि० नींबू के रस में या २५० मि० लि० दूध में मिला कर १२-१४ घण्टे उपवास मिले हुए रोगी को देते हैं। इससे गण्डूपद तथा स्फीत कृमि मर कर निकल जाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा श्वेतप्रदर में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—बहुमूत्र में लाभकर है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—पूगखण्ड।

विकासी होने से इसका सेवन दूध, घी आदि स्निग्ध पदार्थों के योग में करना उत्तम है।

शोधन—बालू में भूनने या जल में उबाल कर सूखा देने से सुपारी शुद्ध हो जाती है।

अहित प्रभाव—अधिक खाने से नशा आता है और चक्कर आते हैं।

निवारण—पानी पीने से तथा स्निग्ध पदार्थों के सेवन से ठीक हो जाता है।

× × × ×

'पूगं गुरु हिमं रूक्षं कषायं कफपित्तजित्। मोहनं दीपनं रुच्यमास्यवैरस्यनाशनम्॥
आर्द्रं तद् गुर्वभिष्यन्दि वह्निदृष्टिहरं स्मृतम्। स्विन्नं दोषत्रयच्छेदि दृढमध्यं तदुत्तमम्॥
(भा. प्र.)

'गव्यकरीषघ्राणाज्जलपानाल्लवणभक्षणाद्वापि।
शाम्यति पूगीफलमदश्चूर्णरजःशर्कराकवलात्॥' (ग. नि.)

W. I., I, 110–114.

रसायन

३४०. हरीतकी

परिचय

गण—त्रिफला, आमलक्यादि, परुषकादि (सु०); प्रजास्थापन, ज्वरघ्न, कुष्ठघ्न, कासघ्न, अर्शोघ्न (च०)।

कुल—हरीतकी-कुल (कॉम्ब्रेटेसी-Combretaceae)।

नाम—लै०-टर्मिनेलिया चेबुवा (Terminalia chebula Retz.); सं०-हरीतकी[1], अभया, पथ्या; हि०-हर्रे, हरड़; बं०-हरीतकी; म०-हरडे, गु०-हरडे; ता०-कदुक्काई; ते०-करक्काई; उ०-कारेवी; अ०-हलीलज; फा०-हलीलः अं०-चेबुलिक मिरोबेलन (Chebulic myrobalan)।

स्वरूप—यह ५०-८० फुट तक ऊंचा **वृक्ष** होता है। छाल गहरे भूरे रंग की, प्रायः लम्बाई में फटी होती है। **पत्र**-३-८ इञ्च लम्बे, २-४ इञ्च चौड़े, लट्वाकार या अंडाकार होते हैं। पत्रवृन्त के शीर्ष भाग पर दो बड़ी ग्रन्थियाँ होती हैं। पत्रसिरायें ६-८ जोड़ी होती हैं। **पुष्प**-छोटे, पीताभ श्वेत, अन्त्य मंजरियों में होते हैं। **फल**-१-२ इञ्च लम्बा, अंडाकार, कठिन होता है जिसके पृष्ठभाग पर पांच रेखायें होती हैं। ये कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ धूसर हो जाते हैं। **बीज**-प्रत्येक फल में एक होता है। फरवरी-मार्च में पत्तियाँ झड़ जाती हैं, अप्रैल-मई में नये पल्लवों के साथ पुष्प आते हैं। फल-शीतकाल में लगते हैं। पक्व फलों का संग्रह जनवरी से अप्रिल तक करते हैं।

जाति—भावप्रकाश में हरीतकी की सात जातियाँ बतलाई गई हैं:—(१) विजया (२) रोहिणी (३) पूतना (४) अमृता (५) अभया (६) जीवन्ती और (७) चेतकी।[2] चेतकी भी दो प्रकार की मानी गई हैं:—(१) श्वेत

---

१. 'हरस्य भवने जाता हरिता च स्वभावतः।
हरते सर्वरोगांश्च तस्मात् प्रोक्ता हरीतकी॥' (म. नि.)

२. 'विजया रोहिणी चैव पूतना चामृताभया।
जीवन्ती चेतकी चेति पथ्यायाः सप्त जातयः॥' (भा. प्र.)

(२) कृष्ण । श्वेत चेतकी लम्बी छः अंगुल की तथा कृष्ण छोटी एक अंगुल की होती है। संभवतः यह वर्गीकरण देशभेद और गुणकर्मभेद के आधार पर किया गया है।[1] निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा:—

जाति	स्वरूप	प्रयोग	उत्पत्तिस्थान
१. विजया	अलाबुवृत्त	सर्वरोग	विन्ध्य
२. रोहिणी	वृत्त	व्रण	प्रतिष्ठानक ((पैठन)
३. पूतना	सूक्ष्म, अस्थिमय	प्रलेप	सिन्ध
४. अमृता	मांसल	शोधन	चम्पा (भागलपुर)
५. अभया	पंचरेखायुक्त	नेत्ररोग	चम्पा (भागलपुर)
६. जीवन्ती	स्वर्णवर्ण	सर्वरोग	सौराष्ट्र
७. चेतकी	त्रिरेखायुक्त	रेचन	हिमाचल

व्यावहारिक दृष्टि से यह तीन प्रकार की है :—(१) छोटी हर्रे (हलीलः स्याह), (२) पीली हर्रे (हलीलः जर्द); (३) बड़ी हर्रे हलीलः कांबुली)। ये तीनों वस्तुतः एक ही वृक्ष के फल हैं जो अवस्थाभेद से भिन्न हो जाते हैं। हरीतकीवृक्ष से कच्चे कोमल फल (गुठली होने से पूर्व) स्वयं गिर जाते हैं या तोड़ कर सुखा लिए जाते हैं वे 'छोटी हर्रे' कहलाते हैं। गुठली होने के बाद प्रौढा-वस्था में जो अपरिपक्व फल लिए जाते हैं वे 'पीली हर्रे' कहलाते हैं और हरीतकी के पूर्ण परिपक्व फल 'बड़ी हर्रे' के नाम से लिए जाते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र विशेषतः निचले हिमालयक्षेत्र में रावी से पूर्व पश्चिम बंगाल और आसाम तक ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—फल में टैनिन (२४·६–३२·५) होता है। टैनिन के घटकों में चेबुलेजिक एसिड (Chebulagic acid), चेबुलिनिक एसिड (Chebulinic acid), कोरिलेजिन (Corilagin) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त शर्करा, १८ एमिनो एसिड तथा अल्प मात्रा में फास्फरिक, सक्सिनिक, क्विनिक, शिकिमिक अम्ल होते हैं। फल के परिपाक-काल में टैनिन घटता जाता है तथा अम्लता बढ़ती जाती है। बीजमज्जा से एक पीतवर्ण तैल (३६.४%) निकलता है। पेड़ से एक गोंद भी निकलती है।

---

१. 'विन्ध्याद्रौ विजया हिमाचलभवा स्याच्चेतकी पूतना ।
सिन्धौ स्यादथ रोहिणी तु विजया जाता प्रतिस्थानके ॥
चम्पायाममृताभया च जनिता देशे सुराष्ट्राह्वये ।
जीवन्ती च हरीतकी निगदिताः सप्त प्रभेदा बुधैः ॥'(रा. नि.)

परीक्षा—नवीन, स्निग्ध, ठोस, वृत्त, भारी जो पानी में डालने पर डूब जाय तथा वजन में २० ग्राम की हो वह हरीतकी श्रेष्ठ मानी जाती है।[1]

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—पञ्चरस[2] (लवणवर्जित), कषायप्रधान
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—त्रिदोषहर

कर्म

दोषकर्म—यह मधुरतिक्तकषाय होने से पित्त, कटुतिक्तकषाय होने से कफ तथा अम्लमधुर होने से वात का शमन करता है। इस प्रकार त्रिदोषहर है।[3] विशेषतः वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप शोथहर, वेदनास्थापन, व्रणशोधन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का बल्य और मेध्य है। चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति को भी बढ़ाता है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, यकृदुत्तेजक, अनुलोमन, मृदुरेचन तथा कृमिघ्न है। स्विन्न हरीतकी ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, शोणितास्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य, गर्भाशयशोथहर एवं प्रजास्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषजन्य विकारों में विशेषतः वातव्याधि में प्रयुक्त होता

---

१. नवा स्निग्धा घना वृत्ता गुर्वी क्षिप्ता च याऽम्भसि ।
निमज्जेत् सा सुप्रशस्ता कथितातिगुणप्रदा ॥
नवादिगुणयुक्तत्वं तथैवात्र द्विकर्षता ।
हरीतक्याः फले यत्र द्वयं तच्छ्रेष्ठमुच्यते ॥ (भा. प्र.)

२. पथ्याया मज्जनि स्वादुः स्नायावम्लो व्यवस्थितः ।
वृन्ते तिक्तस्त्वचि कटुरस्थिस्थस्तुवरो रसः ॥ (भा. प्र.)

३. स्वादुतिक्तकषायत्वात् पित्तहृत् कफहृत्तु सा ।
कटुतिक्तकषायत्वादम्लत्वाद् वातहृच्छिवा ॥ (भा. प्र.)

है। विशेषकर, लवण के साथ कफज, शर्करा के साथ पित्तज, घृत के साथ वातज तथा गुड़ के साथ त्रिदोषज विकारों में देते हैं।[1]

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त स्थानों में हर्रे का लेप करते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पलकों पर लगाते हैं। व्रणों का प्रक्षालन इसके क्वाथ से करते हैं और इसका मलहम लगाते हैं। इसके क्वाथ से मुख और गले के रोगों में कुल्ला करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा मस्तिष्कदौर्बल्य में इसका प्रयोग करते हैं। वातव्याधि में यह अत्यन्त प्रशस्त माना जाता है। दृष्टिमांद्य आदि इन्द्रियदौर्बल्य में देते हैं।

पाचनसंस्थान—यह अग्निमांद्य, शूल, आनाह, गुल्म, विबन्ध, उदररोग, अर्श, कामला, यकृत्प्लीहा तथा कृमि में प्रयुक्त होता है। ग्रहणीरोग में उबाल कर देते हैं। अग्निमांद्य में मुंह में रख कर चबाते हैं, विबन्ध में चूर्ण खाते हैं, ग्रहणी में उबाल कर लेते हैं तथा त्रिदोषज विकारों में भून कर सेवन करते हैं।[2] स्रोतःशोधन के लिए हरीतकी सर्वश्रेष्ठ है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, वातरक्त आदि रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, स्वरभेद, हिक्का और श्वास में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह, श्वेतप्रदर तथा गर्भाशयदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात, अश्मरी और प्रमेह में देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वग्दोषों में सेवन कराते हैं।

तापक्रम—विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में दिया जाता है।

सात्मीकरण—रसायनकर्म में यह प्रयुक्त होता है। इसके लिए विभिन्न ऋतुओं में अनुपानभेद से इसका प्रयोग करते हैं यथा—

ऋतुहरीतकी[3]

ऋतु	अनुपान
१. वर्षा	सैन्धव
२. शरद्	शर्करा
३. हेमन्त	शुंठी
४. शिशिर	पिप्पली
५. वसन्त	मधु
६. ग्रीष्म	गुड़

१. लवणेन कफं हन्ति पित्तं हन्ति सशर्करा।
घृतेन वातजान् रोगान् सर्वरोगान् गुणान्विता॥ (भा. प्र.)

२. चर्विता वर्धयत्यग्निं पेषिता मलशोधनी।
स्विन्ना संग्राहिणी पथ्या भृष्टा प्रोक्ता त्रिदोषनुत्॥ (भा. प्र.)

३. सिन्धूत्थशर्कराशुण्ठीकणामधुगुडैः क्रमात्।
वर्षादिष्वभया प्राश्या रसायनगुणैषिणा॥ (भा. प्र.)

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—३–६ ग्रा०

विशिष्ट योग—अभयामोदक, अभयारिष्ट, पथ्यादिवटी, पथ्यादि क्वाथ, व्याघ्री-हरीतकी, चित्रकहरीतकी, अगस्तिहरीतकी, दन्तीहरीतकी, हरीतकी खंड, पथ्यादि चूर्ण।

प्रयोग निषेध—अतिखिन्न, अतिक्षीण, रूक्ष, अतिकृश, लंघनकर्शित, विमुक्त-रक्त, पित्ताधिक्ययुक्त, गर्भवती ये हरीतकी का सेवन न करें। तृष्णा, मुखशोष, नवज्वर तथा हनुस्तम्भ में भी नहीं देना चाहिए। कषायप्रधान तथा उष्णवीर्य होने से इन रोगों में वर्जित है।[1]

× × × ×

'वासादलो द्रुमोऽद्रिस्थः फलं तस्य हरीतकी।' (शि.)

'व्रण्यमुष्णं सरं मेध्यं दोषघ्नं शोथकुष्ठनुत्। कषायं दीपनं चाम्लं चक्षुष्यं चाभयाफलम्॥'
(सु. सू. ४६)

'हरीतकी पञ्चरसाऽलवणा तुवरा परम्। रूक्षोष्णा दीपनी मेध्या स्वादुपाका रसायनी॥
चक्षुष्या लघुरायुष्या बृंहणी चानुलोमनी। श्वासकासप्रमेहार्शःकुष्ठशोथोदरक्रिमीन्॥
विसर्पग्रहणीरोगविबन्धविषमज्वरान्। गुल्माध्मानव्रणच्छर्दिहिक्काकण्ठहृदामयान्॥
कामलां शूलमानाहं प्लीहानं च यकृद्गदम्। अश्मरीं मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातं च नाशयेत्॥'

'उन्मीलिनी बुद्धिबलेन्द्रियाणां निर्मूलिनी पित्तकफानिलानाम्।
विस्रंसिनी मूत्रशकृन्मलानां हरीतकी स्यात् सह भोजनेन॥'
'अन्नपानकृतान् दोषान् वातपित्तकफोद्भवान्।
हरीतकी हरत्याशु भुक्तस्योपरि योजिता॥! (भा. प्र.)
'हरीतकी पंचरसा च रेचनी कोष्ठामयघ्नी लवणेन वर्जिता।
रसायनी नेत्ररुजापहारिणी त्वगामयघ्नी किल योगवाहिनी॥' (रा. नि.)
'हरीतकी पथ्यानाम्॥' (च. सू. २५)

'हरीतकीं पञ्चरसामुष्णामलवणां शिवाम्। दोषानुलोमनीं लघ्वीं विद्याद्दीपनपाचनीम्॥
आयुष्यां पौष्टिकीं धन्यां वयसः स्थापनीं पराम्। सर्वदोषप्रशमनीं बुद्धीन्द्रियबलप्रदाम्।

१. 'अजीर्णिनो रूक्षभुजः स्त्रीमद्यविषकर्शिताः।
सेवेरन्नाभयामेते क्षुत्तृष्णोष्णार्दिताश्च ये॥' (च. चि. १.)
'तृष्णायां मुखशोषे च हनुस्तम्भे गलग्रहे।
नवज्वरे तथा क्षीणे गर्भिण्यां न प्रशस्यते॥' (ध. नि.)
अध्वातिखिन्नो बलवर्जितश्च रूक्षः कृशो लंघनकर्शितश्च।
पित्ताधिको गर्भवती च नारी विमुक्तरक्तस्त्वभयां न खादेत्॥' (भा. प्र.)

कुष्ठं गुल्ममुदावर्त्तं शोथं पाण्ड्वामयं मदम् । अर्शांसि ग्रहणीदोषं पुराणं विषमज्वरम् ॥
हृद्रोगं सशिरोरोगमतिसारमरोचकम् । कासं प्रमेहमानाहं प्लीहानमुदरं नवम् ॥
कफप्रसेकं वैस्वर्यं कामलां क्रिमीन् । श्वयथुं तमकं छर्दिं क्लैब्यमंगावसादनम् ॥
स्रोतोविबन्धान् विविधान् प्रलेपं हृदयोरसोः ।
स्मृतिबुद्धिप्रमोहं च जयेच्छीघ्रं हरीतकी ॥' (च. चि. १.)

'प्रपथ्या लेखनी लघ्वी मेध्या चक्षुर्हिता सदा । मेहकुष्ठव्रणच्छर्दिशोफवातास्रकृच्छ्रजित् ॥
वातानुलोमनी हृद्या सेन्द्रियाणां प्रसादनी ।
संतर्पणकृतान् रोगान् प्रायो हन्ति हरीतकी ॥' (ध. नि.)

W. I., X, 171–77.
B. B. O., II, 368.

३४१. आमलकी

परिचय

गण—वयःस्थापन, विरेचनोपग (च०); त्रिफला, परूषकादि (सु०) ।

कुल—एरण्ड-कुल (युफॉर्बिएसी–Euphorbiaceae) ।

नाम—लै०–एम्ब्लिका ऑफिसिनेलिस (Emblica officinalis Gaertn.) सं०–आमलकी, धात्री, हि०–आँवला; बं०–आमलकी, आमला; म०, गु०–आँवला; ता०–नेल्लिकाई; ते०–उशीरिकई; कन्न० मल०–नेल्लि; फा०–आम्लज, आमलः; अं०–एम्ब्लिक मिरोबेलन (Emblic myrobalan) ।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का २०–२५ फुट ऊँचा होता है । काण्डत्वक् हरिताभ धूसर, पतली, पत्तं छोड़ती हुई होती है । पत्रदंड लम्बा, **पत्र**-आयताकार, पंखवत् व्यवस्थित, इमली के पत्तों की तरह होते हैं । पुष्पदण्ड लम्बा होता है जिसमें छोटे, पीतवर्ण **पुष्प** गुच्छों में लगते हैं । **फल**-गोलाकार, ½–१ इञ्च व्यास का, मांसल, पीताभ हरित पकने पर रक्ताभ होते हैं जिनके बाह्य पृष्ठ पर छः रेखायें छः खण्डों के द्योतक होती हैं । भीतर षट्कोण बीज होता है । पुष्प फरवरी–मई में तथा फल अक्टूबर से अप्रिल तक मिलते हैं । मार्च–अप्रिल में पत्तियाँ आ जाती हैं ।

जाति—वन्य और ग्राम्य भेद से आँवला दो प्रकार का होता है । वन्य आँवला छोटा, कठिन, अष्ठिल तथा ग्राम्य आँवला, बड़ा, मृदु और मांसल होता है ।

उत्पत्तिस्थान—भारत में सर्वत्र ४५०० फीट की ऊँचाई तक होता है ।

रासायनिक संघटन—इसके फल में गैलिक एसिड, टैनिक एसिड, निर्यास, शर्करा, अलब्युमिन, सेल्युलोज तथा खनिज द्रव्य (मुख्यतः कैलशियम) होते हैं । इसमें विटामिन सी प्रचुर मात्रा में पाया जाता है । विटामिन सी का यह सर्वोत्तम वानस्पतिक स्रोत है । आमलकी-स्वरस में नारंगी के रस से २० गुना अधिक

विटामिन सी होता है । फल के कल्क और स्वरस में क्रमशः ७२० और ९२१ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्रा० पाया गया है । इसमें अन्य घटक निम्न प्रकार से है :—

आर्द्रता ८१·२, प्रोटीन ०·५, वसा ०·१, खनिज द्रव्य ०·७, सूत्र ३·४, कार्बोहाइड्रेट १४·१, कैलशियम ०·०५, फास्फोरस ०·०२ प्रतिशत; लौह १·२ मि० ग्रा०, निकोटिनिक एसिड ०·२ मि० ग्रा० प्रति १०० ग्राम । टैनिन फल में २८, शाखात्वक् २१, काण्डत्वक् ८·९ तथा पत्र में २२ प्रतिशत होता है । फल में दो टैनिन होते हैं एक जलीय विश्लेषण के बाद गैलिक एसिड, इलेगिक एसिड तथा ग्लुकोज और दूसरा इलेगिक एसिड और ग्लुकोज में परिणत होता है । बीजों से भूरे पीले रंग का एक स्थिर तैल (१६%) निकलता है ।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष, शीत
रस—पञ्चरस (लवणरहित), अम्लप्रधान
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषहर है । अम्ल से वात, मधुर-शीत से पित्त तथा रूक्ष-कषाय से कफ का शमन करता है ।[1] विशेषतः पित्तशामक है ।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन, चक्षुष्य और केश्य है ।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य, नाडियों के लिए बल्य तथा इन्द्रियों की शक्ति का वर्धक है ।

पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, अनुलोमन, अम्लतानाशक और यकृदुत्तेजक है । अल्पमात्रा में स्तम्भन तथा बड़ी मात्रा में स्रंसन है ।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितस्थापन है ।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है ।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और गर्भस्थापन है ।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और प्रमेहघ्न है ।

त्वचा—कुष्ठघ्न है ।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है ।

सात्मीकरण—रसायन है ।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह तीनों दोषों से उत्पन्न विशेषतः पैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है ।

१. हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यतः ।
कफं रूक्षकषायत्वात् फलं धात्र्यास्त्रिदोषजित् ॥ (भा. प्र.)

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, पैत्तिक शिरःशूल तथा मूत्रावरोध में इसका लेप करते हैं। नेत्ररोगों में इसका स्वरस डालते तथा लगाते हैं। खालित्य और पालित्य रोगों में आँवले से सिर धोते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, दृष्टिमांद्य आदि इन्द्रियदौर्बल्य में यह प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, विवन्ध, यकृद्विकार, अम्लपित्त, परिणामशूल, उदावर्त्त, उदररोग तथा अर्श में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, यक्ष्मा में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रमेह तथा प्रदर और गर्भाशयदौर्बल्य में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेहों में ताजे आँवले का रस पिलाते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—जीर्णज्वर, तृष्णा, दाह आदि में आँवला लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोथ में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मिलि०; चूर्ण—३-६ ग्रा०

विशिष्ट योग—च्यवनप्राश, ब्राह्मरसायन, धात्रीलोह, धात्रीरसायन।

× × ×

'हरीतकीसमं धात्रीफलं किन्तु विशेषतः। रक्तपित्तप्रमेहघ्नं परं वृष्यं रसायनम्॥
(भा. प्र.)

'विद्यादामलके सर्वान् रसान् लवणवर्जितान्।' (च. सू. २७.)

'तान् गुणांस्तानि कर्माणि विद्यादामलकीष्वपि।
यान्युक्तानि हरीतक्या वीर्यस्य तु विपर्ययः॥' (च. चि. ३.)

'अम्लं समधुरं तिक्तं कषायं कटुकं सरम्। चक्षुष्यं सर्वदोषघ्नं वृष्यमामलकीफलम्।
हन्ति वातं तदम्लत्वात्पित्तं माधुर्यशैत्यतः। कफं रूक्षकषायत्वात्फलेभ्योऽभ्यधिकं च तत्॥'
(सु. ४६.)

'कटुमधुरकषायं किंचिदम्लं कफघ्नम् रुचिकरमतिशीतं हन्ति पित्तास्रतापम्।
श्रमवमनविबन्धाध्मानविष्टम्भदोषप्रशमनममृताभं चामलक्याः फलं स्यात्॥'
(रा. नि.)

W. I., iii, 168–70.
B. N. Singh. D. Ay. M. thesis, B. H. U., 1969.

३४२. गुडूची

परिचय

गण—वयःस्थापन, दाहप्रशमन, तृष्णानिग्रहण, स्तन्यशोधन, तृप्तिघ्न (च०); गुडूच्यादि, पटोलादि, आरग्वधादि, काकोल्यादि, वल्लीपञ्चमूल (सु०)।

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी–Menispermaceae)।

नाम—लै०–टिनोस्पोरा कॉर्डिकोलिया (Tinospora cordifolia (Willd) Miers ex Hook. f. & Thoms.); सं०–गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, छिन्नरुहा, वत्सादनी, तन्त्रिका, कुण्डलिनी, चक्रलक्षणिका; हि०–गिलोय, गुडिच; बं०–गुलञ्च; म०–गुलवेल; गु०–गलो; ता०–शिण्डिलकोडि; ते०–टिप्पाटिगो; अ०–गुलञ्च।

स्वरूप—यह एक बहुवर्षायु[1] झाड़ीदार **लता** है जो नीम, आम आदि वृक्षों पर कुण्डलाकार चढ़ती है। काण्ड मांसल होता है तथा शाखाओं से अनेक मांसल सूत्रवत् वाताशन मूल निकल कर नीचे की ओर झूलते रहते हैं। **त्वचा**-ऊपर की धूसरवर्ण, या पीताभ श्वेत, बहुत पतली होती है जिसे हटाने पर नीचे हरित-मांसल भाग दिखाई पड़ता है। **पत्र**-हृदयाकार, एकान्तर, जालीदार और स्निग्ध होते हैं। **पुंपुष्प**-छोटे, पीतवर्ण या हरिताभ पीत, अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में पौधे की पत्तियाँ झड़ने पर निकलते हैं। पुंपुष्प-गुच्छों में होते हैं। **स्त्रीपुष्प**-प्रायः एकल होते हैं। **फल**-मटर के समान या अंडाकार, चिकने, मांसल होते हैं जो पकने पर लाल हो जाते हैं। बीज मुड़े होते हैं। बर्षा ऋतु में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक जाति 'पद्मगुडूची' या 'कन्दगुडूची' कहलाती है। इसके पत्र बड़े तथा त्रिकोण या त्रिखण्ड होते हैं। यह T. sinensis (Lour.) Merrill है। एक अन्य प्रजाति T. crispa (Linn.) Miers ex. Hook f. & Thoms. आसाम में होती है। इसके काण्ड में जगह-जगह उत्सेध होते हैं। यह तीव्र ज्वरघ्न होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र १००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें बर्बेरिन (Berberine) आदि क्षाराभ, तिक्त ग्लुकोसाइड गिलोइन (Giloin), एक उड़नशील तैल तथा वसाम्ल पाये जाते हैं। इसके काण्ड से एक स्टार्च (गुडूचीसत्त्व) निकलता है (ताजे से ०·४८ तथा सूखे से १·२%)।

---

१. 'ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रात् परिच्युताः।
पीयूषबिन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका॥' (भा. प्र.)
बहुवर्षायु तथा अमृततुल्य गुणकारी (रसायन) होने से इसका नाम 'अमृता' है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात, तिक्त-कषाय होने से कफ और पित्त का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, दीपन, पाचन, पित्तसारक, अनुलोमन और कृमिघ्न है। आमाशयगत अम्लता इससे कम होती है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य, रक्तशोधक एवं रक्तवर्धक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—यह प्रमेहहर है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न तथा दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है। घृत के साथ वात, शर्करा के साथ पित्त तथा मधु के साथ कफ के विकारों में दिया जाता है।[1]

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कुष्ठ, वातरक्त आदि में गुडूची से सिद्ध तैल लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि, अग्निमांद्य, शूल, यकृद्विकार, कामला, अम्लपित्त, प्रवाहिका, ग्रहणी तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (वातरक्त, आमवात आदि) तथा पाण्डु में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह विशेषतः मधुमेह में इसका प्रयोग करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में दिया जाता है। फिरंग की द्वितीयावस्था में जब विकार त्वचा में अधिष्ठित होता है तब इसका प्रयोग करते हैं।

---

१. 'घृतेन वातं सगुडा विबन्धं पित्तं सिताढ्या मधुना कफं च।
वातास्रमुग्रं रुबुतैलमिश्रा शुण्ठ्यामवातं शमयेद् गुडूची॥' (ध. नि.)

तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में गुडूची-स्वरस देते हैं। इससे ज्वर दाह शान्त होते हैं, अग्नि बढ़ती है तथा दौर्बल्य दूर होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय में तथा रसायनकर्म में प्रयोग होता है।

प्रयोज्य अंग—काण्ड।

मात्रा—क्वाथ ५०-१०० मि० लि०; चूर्ण ३-६ ग्रा०, सत्त्व १-२ ग्रा०।

विशिष्ट योग—गुडूच्यादि चूर्ण, गुडूच्यादि क्वाथ, गुडूचीलौह, अमृतारिष्ट, गुडूचीतैल।

वक्तव्य—यथासंभव ताजी गुडूची का ही प्रयोग करना चाहिए। संग्रह करना हो तो वर्षा के पूर्व उसे छाया में सुखा कर रखना चाहिए।

× × ×

'गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी। संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याग्निदीपनी॥
दोषत्रयामतृड्दाहमेहकासांश्च पाण्डुताम्। कामलाकुष्ठवातास्रज्वरक्रिमिवमीर्हरेत्॥' (भा. प्र.)

'अमृता सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-श्लेष्मशोणितविबन्धप्रशमनानाम्।' (च.सू.२५)

'ज्ञेया गुडूची गुरुरुष्णवीर्या तिक्ता कषाया ज्वरनाशिनी च।
दाहार्त्तितृष्णावमिरक्तवातप्रमेहपाण्डुभ्रमहारिणी च॥' (रा. नि.)

'कन्दोद्भवा गुडूची च कटूष्णा संनिपातहा। विषघ्नी ज्वरभूतघ्नी वलीपलितनाशिनी॥' (ध. नि.)

अमृतायाः शतं चूर्णं वाससा परिशोधितम्। पृथक् षोडशभागाः स्युः गुडमाक्षिकसर्पिषाम्॥
यथाग्नि भक्षयेदेतन्नरो हितमिताशनः। नास्य कश्चिद् भवेद् व्याधिः न जरा पलितं न च॥' (भा. प्र.)

W. I., X, 251-252.
B. B. O., I, 18-19.
K. Raghunathan, D. Ay. M. thesis, B. H. U., 1968.

३४३. अश्वगन्धा

परिचय

गण—बल्य, बृंहणीय, मधुरस्कन्ध (च०)।

कुल—कण्टकारी-कुल (सोलेनेसी-Solanaceae)।

नाम—लै०-विथैनिया सॉम्निफेरा (Withania somnifra (Linn.) Dunal)।

सं-अश्वगंधा, वराहकर्णी, हि०-असगंध; बं०-अश्वगंधा; म०-आसंध, डोरगुंज; गु०-आसंध, घोड़ा आहन, घोड़ा आकुन; ता०-आमकुलांग; ते०-पनेरु; कन्न०-अश्वगंधी।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार रोमश **क्षुप** १–५ फुट ऊँचा होता है। शाखायें गोलाकार, चारों ओर फैली रहती हैं। **पत्र**–एकान्तर, २–४ इञ्च लंबे, लट्वाकार, श्वेतरोमश होते हैं। पुष्पों के पास पत्ते छोटे एवं अभिमुख होते हैं। **पुष्प**-पत्रकोणोद्‌भूत, पीताभ हरित, चिलम के आकार के गुच्छों में रहते हैं। **फल**–·२५–·३ इञ्च व्यास के, गोलाकार, रसभरी के सदृश कवच के भीतर तथा पकने पर लाल हो जाते हैं। **बीज**-छोटे, पीले, वृक्काकार, चिकने और चपटे होते हैं। **मूल**-ऊपर से धूसर, भीतर श्वेत, दृढ़, अंगुलिसदृश मोटे तथा १–१½ फुट तक लंबे होते हैं। कच्चे मूल से अश्व के सदृश गन्ध आती है इसलिए इसे 'अश्वगन्धा' कहते हैं (इसके सेवन से अश्व के समान उत्साह प्राप्त होता है इसलिए भी इसका नाम सार्थक है)। शरदृऋतु में पुष्प तथा बाद में फल आते हैं। बरसात में इसके बीज बोये जाते हैं तथा जाड़े में फसल निकाल ली जाती है।

जाति—यह देशभेद से पाँच प्रकार की होती है। भूमि तथा जलवायु के अन्तर से इसके स्वरूप में अन्तर आ जाता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में पश्चिमोत्तर भारत, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश तथा पंजाब और हिमालय में ५००० फीट की ऊंचाई तक पया जाता है। मध्यप्रदेश के मन्दसोर जिले की मनासा तहसील में इसकी सर्वाधिक खेती की जाती है जहाँ से प्रायः इसकी व्यापारिक आपूर्त्ति होती है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल से cuseohygrine, anahygrine, tropine, anaferine आदि १३ क्षाराभ निकाले गये हैं। कुल क्षाराभ ०·१३–०·३१% होता है। इसके अतिरिक्त, ग्लाइकोसाइड, विठानिआल, अम्ल, स्टार्च, शर्करा तथा एमिनो एसिड पाये जाते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—तिक्त, कटु, मधुर
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्कशामक है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, शूलप्रशमन तथा क्रमिघ्न है।
रक्तवहसंस्थान—यह रक्तभारशामक, रक्तशोधक और शोथहर है।
श्वसनसंस्थान—कफघ्न और श्वासहर है।
प्रजननसंस्थान—वाजीकरण तथा गर्भाशयशोथहर तथा योनिशूलहर है।
मूत्रवहसंस्थान—यह मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।
सात्मीकरण—बल्य, बृंहण, रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—गलगण्ड, ग्रन्थिशोथ आदि में इसके पत्र या मूल का लेप करते हैं। इसके मूल से सिद्ध तैल का अभ्यंग दौर्बल्य और वातव्याधि में करते हैं।
आभ्यन्तर-नाड़ीसंस्थान—मूर्च्छा, भ्रम, अनिद्रा आदि में प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—उदरविकार (शूल. विष्टम्भ आदि) तथा कृमि में देते हैं।
रक्तवहसंस्थान—रक्तभाराधिक्य, रक्तविकार एवं शोथ में दिया जाता है।
श्वसनसंस्थान—कास-श्वास में देते हैं। श्वास में असगंध का क्षार मधु एवं घृत के साथ देने का विधान है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा प्रदर एवं योनिशूल में देते हैं।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में प्रयुक्त होता है।
त्वचा—श्वित्र, कुष्ठ आदि में देते हैं।
सात्मीकरण—क्षय, शोष, विशेषतः बालशोष में यह अधिक लाभकर हैं।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—चूर्ण-३–६ ग्रा०; क्षार-१–२ ग्रा०
विशिष्ट योग—अश्वगंधादि चूर्ण, अश्वगंधारसायन, अश्वगंधाघृत, अश्वगंधारिष्ट।

× × × ×

'कंदिनी वाजिगंधा स्यात् क्षुपा पर्पोटिवत् फला। वनजा वृत्तपर्णी च कंदो वाजीकरः स्मृतः॥' (शि.)

'अश्वगन्धानिलश्लेष्मश्वित्रशोथक्षयापहा। बल्या रसायनी तिक्ता कषायोष्णातिशुक्रला॥' (भा. प्र.)

'पीताश्वगंधा पयसार्धमासं घृतेन तैलेन सुखाम्बुना वा।
कृशस्य पुष्टिं वपुषो विधत्ते बालस्य सस्यस्य यथाम्बुवृष्टिः॥' (च. द.)

शिशिरे योऽश्वगंधायाः कन्दचूर्णं पलोन्मितम्।
मासमत्ति समध्वाज्यं स वृद्धोऽपि भवेद्युवा॥' (रा. मा.)

'पादकल्केऽश्वगंधायाः क्षीरे दशगुणे पचेत्। घृतं पेयं कुमाराणां पुष्टिकृद्बलवर्धनम्॥' (च. द.)

W. I., X, 581–85.
C. K. Atal et al: pharmacognosy and phytochemistry of Withania somnifera (Linn.) Dunal (Aswagandha), C. C. R. I. M. & H., Monograph, New Delhi, 1975.

३४४. वृद्धदारुक

परिचय

कुल—त्रिवृत्-कुल (कॉन्वल्वुलेसी-Convolvulaceae)

नाम—लै०-आर्जिरिया सिपसिओजा (Argyreia speciosa Sweet.); सं०-वृद्धदारुक, हि०-विधारा, धावपत्ता, समुद्रशोष; बं०-बिजताड़क; म०-समुद्रशोक; गु०-समंदरशोष, वरधोरा; ता०-समुद्रशोक; ते०-समुद्रपेला।

स्वरूप—इसकी विस्तृत काष्ठीय आरोहिणी **लता** होती है। **कांड**-लगभग ½ इञ्च व्यास का होता है तथा नवीन शाखाओं पर रूई के सदृश श्वेत रोम होते हैं। **पत्र**-४-१२ इञ्च लंबे, अधिक चौड़े, लट्वाकार या ताम्बूलाकार होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ स्निग्ध तथा निचला पृष्ठ श्वेत तूलरोमश होता है। **पुष्प**-घंटाकृति होते हैं और इनके बाह्य दल सफेद तथा आभ्यन्तर दल बैंगनी या गुलाबी होते हैं। ये रात में खिलते हैं और इनसे सुगन्ध आती है। पुष्पदंड बहुत लंबा शाखायुक्त होता है जिसमें लट्वाकार-भालाकार, तीक्ष्णाग्र कोणपुष्प ½–१½ इञ्च लंबे होते हैं। **फल**-½ इञ्च व्यास के, लम्बगोल, कच्चे में हरे तथा पकने पर पीताभ धूसर होते हैं। पकने पर ये स्वयं फट जाते हैं और इनसे तीन धार वाले, सफेद-भूरे बीज निकलते हैं। वर्षा से शीतकाल तक पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

जाति—A. fulgens Choisy तथा A. malabarica Choisy इसकी अन्य प्रजातियों में हैं। दूसरी तीव्र रेचन है।

उत्पत्तिस्थान—यह सर्वत्र मिलता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कषायद्रव्य तथा अम्ल राल होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध	**रस**—कटु, तिक्त, कषाय
विपाक—मधुर	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह व्रणपाचन, दारण, शोधन और रोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, आमपाचन, अनुलोमन और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न और कण्ठ्य है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रजनन है तथा गर्भाशय के शोथ को दूर करता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—व्रणपाचन और दारण के लिए पत्र का रोमश पृष्ठ व्रणशोथ पर बांधते हैं। शोधन और रोपण के लिए ऊपरी चिकना पृष्ठ व्रण पर रखते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य तथा वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, विबन्ध, अर्श में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास एवं स्वरभेद में दिया जाता है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य तथा श्वेतप्रदर में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

सात्मीकरण—क्षय, शोष में दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०।

विशिष्ट योग—वृद्धदारुकसमचूर्ण।

× × × ×

'त्रिकोणकाण्डा सुबहुप्रतानां फलेषु पीता कुसुमेषु रक्ता।
पत्रैः सदुग्धैर्मृदुरोमवद्भिस्ताम्बूलकल्पैर्घनमूलकन्दैः ॥' (अ. सं.)
'वृद्धदारुः कषायोष्णः कटुस्तिक्तो रसायनः। वृष्यो वातामवातार्शःशोथमेहकफप्रणुत् ॥
शुक्रायुर्बलमेधाग्निस्वरकान्तिकरः सरः ।' (भा. प्र.)
'वृद्धदारुकमूलानि श्लक्ष्णचूर्णानि कारयेत्। शतावर्या रसेनैव सप्तवारांश्च भावयेत् ॥
माषद्वयं तु तच्चूर्णं सर्पिषा सह योजयेत्। मासमात्रोपयोगेन मतिमान् जायते नरः ॥
मेधावी स्मृतिमांश्चैव वलीपलितवर्जितः ।' (भै. र.)
'अश्वगंधा दशपला तन्मात्रो वृद्धदारुकः। चूर्णीकृत्योभयं विद्वान् घृतभाण्डे निधापयेत् ॥
कर्षैकं पयसा पीत्वा नारीभिर्नैव तृप्यति। अगत्वा प्रमदां भूयाद्वलीपलितवर्जितः॥'(शा.)

W. I., I, 116-17.

B. B. O., II, 615.

३४५. नागबला

परिचय

कुल—परुषक-कुल (Tiliaceae)।

नाम—लै०-ग्रीविया हिर्सुटा (Grewia hirsuta Vahl.), सं०-नागबला, गुडशर्करा, हि०-गुलशकरी, गुड़खण्डी; म०-गोवलि; ते०-जिबिलिके; ता०-तुविडु; उ०-कुलो।

स्वरूप—यह गुल्म १.५–३ फीट फुट ऊँचा होता है। **पत्र**—२–३ इञ्च लंबे, अनेक आकार के भालाकार से लट्वाकार तक, लंबाग्र, दन्तुर और रोमश होते हैं। प्रत्येक पत्र के अक्ष से २–३ **पुष्प** निकलते हैं जो पीतवर्ण, दबे हुए, ·२५–·४ इञ्च व्यास के होते हैं। ये विकसित होते समय श्वेताभ, फिर पीले और अन्त में भूरे रंग के हो जाते हैं। पुष्पकलिका अंडाकार होती है। **फल**—छोटे, पीले, चतुःकोष्ठीय होते हैं जो पकने पर फट कर चार भागों में विभक्त हो जाते हैं। पके फल मधुर स्वादिष्ट होते हैं और खाये जाते हैं। इन्हें 'शिकारी मेवा' भी कहते हैं। **बीज**-५–६ होते हैं। वर्षा में पुष्प–हेमन्त में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण, पथरीले, पार्वत्यप्रदेश में ४५०० फीट की ऊँचाई तक होता है। विशेषतः बिहार, विन्ध्यप्रदेश, राजस्थान, कोंकण आदि में मिलता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल   **रस**—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तस्तम्भन, वेदनास्थापन और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य और मेध्य है।
पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अम्लतानाशक तथा अनुलोमन है।
रक्तवहसंस्थान—यह हृद्य और रक्तपित्तशामक है।
श्वसनसंस्थान—यह कफनिःसारक हैं।
प्रजननसंस्थान—वृष्य और गर्भस्थापन है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।
तापक्रम—दाहप्रशमन और ज्वरघ्न है।
सात्मीकरण—यह रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, क्षत और व्रणों में इसके मूल और पत्र का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य, स्मृतिदौर्बल्य और वातव्याधि में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—कोष्ठगत वात, अम्लपित्त तथा विबन्ध में दिया जाता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग तथा रक्तपित्त में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास, उरःक्षत, यक्ष्मा और स्वरभेद में अति लाभकर है।
प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, रक्तप्रदर और गर्भपात में दिया जाता है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर विशेषतः उष्णाभिप्राय विषमज्वर में प्रयुक्त होता है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य में उपयोगी है।
प्रयोज्य अंग—मूल।
मात्रा—क्वाथ–५०–१०० मि० लि०; मूलत्वक् चूर्ण–३–६ ग्रा०।

× × ×

नागबला-रसायन (च. चि. १।२।११, १।४।६)
यवानीं च हरिद्रां च विडङ्गान्यम्लवेतसम्।
विदारीत्रिफलाभीरुश्रृङ्गाटीगुडशर्कराः॥ (सु. उ. ४२।७०)
B. B. O., I, 94.

२४६. नागदमन

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी—Liliaceae)

नाम—लै०–सैन्सविएरिया रॉक्सबर्गियाना (Sansevieria roxburghiana Schult. f.); सं०–नागदमन; हि०–मूर्वा (मूर्वा के प्रतिनिधिरूप में लिये जाने के कारण); उ०–मुर्गा; अं०–इण्डियन बेस्ट्रिंग हेम्प (Indian bowstring hemp)

स्वरूप—यह १–२ फीट ऊँचा एक क्षुप है जिसका मूलस्तम्भ प्रसरणशील होता है। **पत्र**–६–२५ की संख्या में मालावत्, रेखाकार, ¾–२ फीट लंबे, ½–१ इंच चौड़े, कृष्णाभ हरित, अनुप्रस्थ गहरे रंग की पट्टियों से युक्त होते हैं। **पुष्पध्वज**–१–२½ फीट लंबे होते हैं जिनमें श्वेत या हलके हरे रंग के पुष्प लगते हैं। पुष्प जून-जुलाई तथा फल दिसम्बर में होते हैं। पत्तियों से मजबूत रेशे निकलते हैं जिससे रस्सियाँ बनायी जाती हैं।

जाति—इसकी अन्य प्रजाति (S. hyacinthoides (Linn.) Druce) भी इस नाम से चलती हैं। यह दक्षिण भारत तथा श्रीलंका में होती है। इसकी पत्तियाँ कुछ चौड़ी तथा पुष्पव्यूह अधिक लम्बा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के पूर्वी समुद्रतट पर पश्चिम बंगाल से तमिलनाडु तक होता है।

गुण

गुण—स्निग्ध, पिच्छिल   **रस**—मधुर
विपाक—मधुर   **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—वातपित्तशामक है। कफसंशोधन है।

संस्थानिक कर्म-

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अनुलोमन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है। श्लैष्मिक विकारों में कफ को निकालने के लिए दिया जाता है।

संस्थानिक प्रयोग-

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध तथा अर्श में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा राजयक्ष्मा में लाभकर है। इन रोगों में अवलेह देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य दूर करने के लिए दिया जाता है।

प्रयोज्य अङ्ग—मूल।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

× × ×

विशेषो नागदमनो मधुरःशीतपिच्छिलः। वातपित्तापहो बल्यः ज्वरघ्नः कफशोधनः॥ कासे श्वासे मूत्रकृच्छ्रे दौर्बल्ये च प्रशस्यते। (स्व.)

W. I., IX, 206.

B. B. O., III, 1140.

उपविष

३४७. गुञ्जा

परिचय

गण—मूलविष (सु०), उपविष (भा० प्र०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी-Papilionatae)।

नाम—लै०-ऐब्रस प्रिकेटोरियस (Abrus precatorius Linn.); सं०-गुञ्जा, रक्तिका, काकणन्ती, हि०-रत्ती, घुंघची; बं०-कुँच; म०-गुञ्ज; गु०-चणोठी; ता०-गुन्दुमानि; ते०-गुरिगिञ्ज; मल०-कुन्नि; कन्न०-गुलुगुंजि; फा०-चश्मेखरोश; अं०-इण्डियन लाइकरिस रूट (Indian liquorice root.)

स्वरूप—इसकी अनेकशाखायुक्त गुल्मवत् **लता** होती है। **पत्र**-इमली के जैसे, समपक्षवत्, २-३ इञ्च लंबे होते हैं। **पत्रक**-संख्या में २०-४०; ३-७ इंच लंबे, चिकने होते हैं। **पुष्प**-१-३ इंच लंबी सघन मंजरियों में गुलाबी या नीले रंग के होते हैं। **शिम्बी**-१-१½ इञ्च लंबी, ¼-½ इञ्च चौड़ी होती है जिसमें ३-६ चमकीले रक्तवर्ण, कृष्णनेत्रयुक्त, कभी-कभी श्वेतवर्ण मटर के सदृश बीज होते हैं। मूल और पत्र में मुलेठी के सदृश मिठास होती है। शरद् में पुष्प आते हैं तथा शीतकाल में फल पकते हैं।

जाति—भावप्रकाश में गुञ्जा दो प्रकार की कही गई है। (१) श्वेत (२) रक्त।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र ३५०० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में मेदोविश्लेषक किण्वतत्त्व, हिमेग्लुटिनिन (Haemagglutinin), किंचित् युरिएज, राइसिन के समान कार्यकारी एब्रिन (Abrin) नामक विषाक्त अलब्युमिनयुक्त पदार्थ होते हैं। एब्रिन को अधस्त्वक् सूचीवेध द्वारा देने पर तीव्र विषाक्त क्रिया होती है किन्तु मुख द्वारा लेने पर उसका कोई विषाक्त प्रभाव नहीं होता। उबालने से भी इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। इनके अतिरिक्त, Abrine नामक क्षाराभ, Abralin नामक ग्लुकोसाइड, स्थिर तैल (६%) होते हैं। पत्र तथा मूल में ग्लिसराइजिन (Glycyrrhizin) होता है। बीजत्वक् में एक रक्तवर्ण रंजक द्रव्य (Abarnin) होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

मूल—मधुर और स्निग्ध होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—बीज कफवातशामक हैं। पत्र त्रिदोषहर विशेषतः वातपित्त-शामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीज कुष्ठघ्न, व्रणरोपण, वेदनास्थापन तथा क्लेश्य है। पत्र-शोथहर, वेदनास्थापन तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाडीसंस्थान का उत्तेजक और बल्य है। अधिक मात्रा में मादक है।

पाचनसंस्थान—पत्र स्नेहन हैं।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदयोत्तेजक है।

श्वसनसंस्थान—पत्र और मूल स्नेहन और कफनिःसारक हैं।

प्रजननसंस्थान—यह वाजीकरण है। इसके बीज गर्भनिरोधक भी हैं। मूल गर्भाशयोत्तेजक हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूल और पत्र मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बीज विष है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—बीजों का प्रयोग कफवातिक विकारों में करते हैं। पत्र और मूल का त्रिदोषज रोगों में प्रयोग होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोग, कुष्ठ, जीर्ण व्रण तथा खालित्य रोग में बीजों का लेप करते हैं। इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग वातव्याधि में करते हैं। पत्र व्रणशोथ तथा व्रणों में लेप किया जाता है। पत्र से सिद्ध तैल का अभ्यंग वातव्याधि में करते हैं। मुखपाक में उसके क्वाथ से गण्डूष करते हैं। शिरःशूल में बीजों के चूर्ण का नस्य लेते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वातव्याधि, पक्षाघात तथा ऊरुस्तम्भ में यह प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—पत्र और मूल का प्रयोग कास और स्वरभेद में मुलेठी के समान करते हैं। स्वरभेद में पत्तियों की गोलियाँ बनाकर चूसते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ इससे सिद्ध दुग्ध देते हैं। गर्भनिरोध के लिए ऋतुकाल में प्रतिदिन २ बार करके एक सप्ताह तक देते हैं। गर्भनिष्कासन के लिए इसका मूल प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूल और पत्र का प्रयोग मूत्रकृच्छ्र में करते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—बीज, मूल, पत्र।

मात्रा—बीजचूर्ण-६०-१८० मि० ग्रा०, मूल या पत्र चूर्ण-१-३ ग्रा०।

विशिष्ट योग—गुञ्जाभद्र रस।

विषाक्त प्रभाव—बीजचूर्ण अधिक मात्रा में लेने से वमन और रेचन होते हैं; मूत्राघात होता है तथा हृदयावसाद की स्थिति उत्पन्न होती है। क्षतों में प्रलेप से भी विषाक्त क्रिया होती है। मूल अधिक मात्रा में लेने से वामक होता है। मुखक्षत में मूल का लेप करने से विषाक्त प्रभाव करता है।

निवारण—चौलाई का रस चीनी मिला कर पीने से गुञ्जा का विष नष्ट होता है।

शोधन—गुञ्जा के बीजों को कांजी या गोदुग्ध में एक प्रहर तक स्वेदन करने से शुद्धि हो जाती है।[1]

× × ×

'गुञ्जावल्ली तु मधुरा चिंचापत्री सुशिम्बिका। बीजं कृष्णारुणं श्वेतं जायते सर्वभूमिषु॥'
(शि.)

'गुञ्जाद्वयं तु केश्यं स्यात्-वातपित्तज्वरापहम्। मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम्॥
नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्डूव्रणापहम्। कृमीन्द्रलुप्तकुष्ठानि रक्तवद् धवलापि च॥'
(भा. प्र.)

'गुञ्जा सोष्णा रसे तिक्ता कषाया कफपित्तहा।
चक्षुष्या शुक्रला केश्या त्वच्या रुच्या बलप्रदा॥
इन्द्रलुप्तहरा तीव्रा सविषा मदमोहकृत्। हन्ति रक्षोग्रहविषं कण्डूकुष्ठविषक्रिमीन्॥'
(कै. नि.)

'मूलं तु मधुरं तिक्तं मुखशोषहरं परम्। मुखपाकहरं पत्रं, सर्वं श्वेताभवं शुभम्॥
'गुंजाद्वयं च शीतोष्णं बीजं वान्तिकरं, शिफा।
शूलघ्नी विषकृत् पत्रं वश्ये श्वेता प्रशस्यते॥' (ध. नि.)

W. I., I, 2-3.
B. B. O., II, 259.

विषघ्न

३४८. शिरीष

परिचय

गण—विषघ्न, वेदनास्थापन, शिरोविरेचन, कषायस्कन्ध (च०); सालसारादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)।

उपकुल—बब्बूल-उपकुल (माइमोसायडी-Mimosoideae)।

नाम—लै०-ऐलबिज्जिया लिबेक (*Albizzia lebbeck* Benth.)। सं०-शिरीष, शुकप्रिय। हि०-सिरिस; बं०-शिरोष; म०-शिरस; गु०-सरसडो; पं०-शरीं; ता०-वेगिआइ; ते०-दिरासना; कन्न०-बागेमारा; मल०-वागा; अ०-सुल्तानुल् अश्जार।

---

[1] 'गुञ्जा कांजिकसंस्विन्ना प्रहरात् शुध्यति ध्रुवम्।' (र० र० स०)

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ५०-६० फुट ऊँचा प्रायः सड़कों के किनारे होता है। **त्र**-पक्षवत्, २-४ कभी-कभी ५ जोड़े पक्षों से युक्त होते हैं। पत्रदण्डक में ऊर्ध्वतम त्रों के नीचे तथा मूलभाग में ग्रन्थि होती है। पत्रकों में भी ऊपरी २-५ युग्मों के चे ग्रन्थि होती है। **पत्रक**-प्रायः ६-८ जोड़े, आयताकार, ¾-२¼ इञ्च लंबे तथा ा ·३५-१ इञ्च चौड़े होते हैं। **पुष्प**-पीताभ श्वेत, सुगन्धि और कोमल, २-४ इञ्च े पुष्पदण्डों पर, अक्षीय, १-३ की संख्या में एक साथ होते हैं। अन्तःकोश-ह्यकोश से दूना, बाहर निकला होता है। **शिम्बी**-½-१ फुट लंबी, १-२ इञ्च ड़ी, चपटी और कड़ी, रेखाकार-आयताकार होती हैं जिसमें ६-१० की संख्या में ार, चपटे, गोलाकार, शिवलिंगवत् चिह्नों से युक्त बीज होते हैं। शीतकाल में तयाँ झड़ जाती है। अप्रिल-जून में पुष्प और शीत में फल पकते हैं जो ग्रीष्म तक कते रहते हैं।

जाति—इसकी अनेक प्रजातियाँ मिलती है यथा A. odorotissima nth; A. lucida Benth. आदि जो शिरीष के नाम से चलती हैं। एक श्वेत रीष (कटभी या किणिही) होता है जो A. procera Benth. है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र तथा हिमालय में ४००० फीट की ऊँचाई होता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में टैनिन (७-११%) तथा सैपोनिन ा है। छाल से एक लाल भूरे रंग की गोंद निकलती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण
रस—कषाय, तिक्त, मधुर
विपाक—कटु
वीर्य—ईषद् उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। उष्ण होने से वात तथा कषायतिक्त होने से तथा कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, वर्ण्य, विषघ्न ोविरेचन तथा चक्षुष्य है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह स्तम्भन है। अधिक मात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—शिरोविरेचन और कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, गंडमाला आदि में बीजों का लेप करते हैं। वर्णविकार, चर्मविकार तथा व्रणों में इसका त्वचा का लेप करते हैं। दन्तदौर्बल्य में छाल के क्वाथ से गंडूष करते हैं। बीजों का चूर्ण नस्य के लिए प्रयुक्त होता है। नेत्ररोगों में विशेषतः रतौंधी में पत्रस्वरस नेत्र में डालते हैं। बीजों को घिस कर अंजन भी लगाते हैं। विषों में भी लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, विसर्प, शोथ, गंडमाला आदि में छाल का क्वाथ या बीजचूर्ण खिलाते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा प्रतिश्याय में इसका प्रयोग करते हैं। जीर्ण कफरोगों में बीजचूर्ण का नस्य देते हैं। श्वास में पुष्पस्वरस पिप्पलीचूर्ण और मधु के साथ देते हैं। इसकी छाल का अवलेह भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—बीजों का चूर्ण गोदुग्ध के साथ वाजीकरणार्थ तथा शुक्रदौर्बल्य में देते हैं। पुष्प भी शुक्रस्तम्भनार्थ देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ में बीजचूर्ण देते हैं।

सात्मीकरण—स्थावर और जांगम विषों में छाल का क्वाथ या बीजचूर्ण देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज, पत्र, पुष्प।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०, स्वरस-१०-२० मि० लि०, क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—महाशिरीष अगद, शिरीषारिष्ट।

'शिरीषो मधुरोऽनुष्णस्तिक्तश्च तुवरो लघुः। दोषशोथविसर्पघ्नः कासव्रणविषापहः॥' (भा. प्र.)

'तिक्तोष्णो विषहा वर्ण्यस्त्रिदोषशमनो लघुः। शिरीषःकुष्ठकण्डूघ्नस्त्वग्दोषश्वासकासहा॥' (कै. नि.)

'शिरीषो विषघ्नानाम् ।' (च. सू. २५)

'रसे शिरीषपुष्पस्य सप्ताहं मरिचं सितम्। भावितं सर्पदष्टानां नस्यं पानाञ्जने हितम्॥' (च. चि. २५)

W. I., I, 43.
B. B. O., II, 346.

३४९. निर्विषा

परिचय

कुल—वत्सनाभ-कुल (रैननकुलेसी-Ranunculaceae)।

नाम—लै०-डेल्फिनियम डेन्युडेटम (Delphinium denudatum Wall.);

सं०-निर्विषा, हि०-निर्विषी; ने०-नीलो विख; अ०-जद्वार; फा०-माहवरबीन।

स्वरूप—यह शाखाप्रशाखायुक्त २-३ फुट ऊँचा **क्षुप** है। मूलीय **पत्र**-धनिया के पत्तों की तरह, २-६ इञ्च व्यास के, वृत्ताकार, ५-९ पक्षाकार भागों में विभक्त होते हैं। काण्डीय पत्र थोड़े, ऊपरी त्रिधाविभक्त होते हैं। **पुष्प**-हलके नीले रंग के, लांगूलयुक्त, शाखायुक्त मंजरियों में होते हैं। **फल**-त्रिफलकीय, फूले हुए जिनमें बीज १-७ की संख्या में होते। **मूल**-१-१½ इञ्च लम्बे, शंक्वाकार, कृष्णाभ धूसर होते हैं। मुंह में रखने पर पहले मधुर और बाद में कटु-तिक्त मालूम होते हैं। मई-जुलाई में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं।

जाति—यूनानी वैद्यक में इसकी पांच जातियां बतलाई हैं जिनमें जद्वार खताई और जद्वार अकरबी मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में कश्मीर से कुमायूं तक ८-१२ हजार फीट की ऊँचाई पर होती है।

रासायनिक संघटन—इसमें डेल्फिनिन (Delphinine) तथा स्टैफिसैग्रिन (Staphisagrine) नामक दो क्षाराभ होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, लेखन, विषघ्न और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडियों के लिए बल्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, आमपाचन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण और आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—अश्मरीनाशन और मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—यह उत्तेजक और कटुपौष्टिक है। यह उत्तम विषघ्न है। सर्पविष, वत्सनाभविष, हृत्पत्री तथा मस्केरिन के विष का यह विशेष रूप से निवारक माना जाता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ, वर्णविकार, कुष्ठ तथा वेदना में इसका लेप करते हैं। दन्तशूल में इसे चबाते हैं। सांप, बिच्छू आदि के विष पर लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा विविध वातव्याधि (पक्षाघात, अर्दित, आक्षेपक आदि) में इसका प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आमदोष, कामला तथा उदररोग में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य तथा उपदंश आदि रक्तविकारों में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय तथा कास-श्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और अश्मरी में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—उत्तेजक और बल्य होने से यह अनेक रोगों में शक्ति की रक्षा के लिए प्रयुक्त होता है। सर्पविष, वत्सनाभविष, हृत्पत्रीविष आदि में यह दिया जाता है।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—·५-१ ग्रा०

× × ×

'निर्विषा कटुका सोष्णा कफवातास्रदोषनुत्। अनेकविषदोषघ्नी व्रणसंरोपणी च सा॥'
(रा. नि.)

F. I., I, 25.

३५०. छिलहिण्ट

परिचय

कुल—गुडूची-कुल (मेनिस्पर्मेसी–Menispermaceae)।

नाम—लै०-कॉक्युलस हिर्स्युटस (Cocculus hirsutus (Linn.) Diels); सं०-छिलहिण्ट, महामूल; पातालगरुड; हि०-पातालगरुड़ी, जलजमनी, बं०-हुमेर; म०-वासनवेल; गु०-पाताल गलोरी; वेवटी, ता०-कट्टुक्कोडि; ते०-दुसराइटिगे; कन्न०-दुसारी वल्ली।

स्वरूप—इसकी प्रसरणशील, रोमश **लता** पाठा के समान होती है। **पत्र**-मृदु, श्वेतरोमश, अनेक आकार-प्रकार के, नीचे के पत्ते बड़े, लट्वाकार-आयताकार ३ इञ्च लम्बे और २ इञ्च चौड़े तथा ऊपर की पत्तियां क्रमशः छोटी आयताकार होती हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, सूक्ष्म और हरिताभ होते हैं। पुंपुष्प-अक्षीय, छोटे

पुष्पदण्डों में, गुच्छों में तथा स्त्रीपुष्प—१-३ एक साथ होते हैं। **फल**—कच्चे में हरे और पकने पर काले बैंगनी रंग के होते हैं। **बीजाधार**—घोड़े के नाल के सदृश होते हैं। पुष्प-नवम्बर से अप्रिल तक तथा फल मार्च-मई में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें अनेक क्षाराभ होते हैं। पत्तों में म्युसिलेज होता है। पत्रस्वरस जल में डालने पर गाढ़ा थक्का (jelly) बन जाता है; इसी कारण इसे जलजमनी कहते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल **रस**—तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—विषघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात, तिक्त होने से पित्त और कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप विषघ्न, शामक और त्वग्दोषहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तभारशामक तथा रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल और मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—यह विषों तथा चर्मरोगों में लेप के रूप में दिया जाता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, विष्टम्भ तथा शूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभाराधिक्य तथा रक्तविकारों (उपदंश, आमवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रस्तम्भन और वाजीकरण के लिए इसका स्वरस पिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रदाह, मूत्रकृच्छ्र तथा पूयमेह में पत्र का स्वरस चीनी मिला कर देते हैं।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वरों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—सर्पविष में इसका मूल पीस कर पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०

× × × ×

'छिलहिण्टो महामूलः पातालगरुडाह्वयः।
छिलहिण्टः परं वृष्यः कफघ्नः पवनापहः॥' (भा. प्र.)

B. B. O., I, 20.
M. P. I, I, 265.

३५१. अङ्कोल

परिचय

कुल—अंकोल-कुल (एलैञ्जिएसी–Alangiaceae)।

नाम—लै०-एलेञ्जियम साल्विफोलियम (Alangium salvifolium (Linn. f.); Wang.); सं०-अंकोल, अंकोट, दीर्घकील (लम्बे कीलों वाला); ताम्रफल (ताम्रवर्ण फलवाला); गुप्तस्नेह (बीज और काष्ठ में स्नेह होने के कारण)। हि०-अंकोल, ढेरा; म० गु०-अंकोल; बं०-आंकोड़, बाघ आँकड़ा; ते०-अंकोलमु; ता०-एलाङ्गि; मलं०-ईरिजिल; कन्न०-अंकोल।

स्वरूप—इसका झाड़ीदार वृक्ष १०-२० फीट ऊँचा होता है। **छाल**-१ इञ्च मोटी, धूसरवर्ण होती है। **शाखायें**-श्वेत और तीक्ष्णाग्र कंटकों से युक्त होती हैं। **पत्र**-३-६ इञ्च लंबे, १-२ इञ्च चौड़े, आयताकार-भालाकार, रोमश होते हैं। **पुष्प**-अक्षीय, गुच्छों में, श्वेत और सुगन्धि होते हैं। अन्तदल-५-१० तथा पुंकेशर २०-३० होते हैं। **फल**-गोलाकार या अंडाकार, '२-'७५ इञ्च लंबा, कृष्णवर्ण, मांसल, शीर्षभाग पर बाह्यकोश से युक्त तथा सूखने पर पर्शुकी होते हैं। **बीज**-स्थूलावरण तथा पिच्छिल होते हैं। पुष्प मार्च-मई में और फल जून-जुलाई में लगते हैं। पुष्पित होने के समय वृक्ष प्रायः निष्पत्र रहता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के शुष्क प्रदेशों में होता है। दक्षिण भारत के जंगलों में अधिक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—इसकी छाल में एलेञ्जीन (Alangine) नामक एक तिक्त सत्त्व ०·८% पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सर
रस—तिक्त, कटु, कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण
प्रभाव—विषघ्न

कर्म

दोषकर्म—यह तिक्त, कटु एवं उष्ण होने से कफवातशामक तथा पित्तसंशोधन है। फल वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल वेदनास्थापन एवं व्रणरोपण है। छाल विषघ्न और शोथहर है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—स्निग्ध, उष्ण होने से यह वेदनास्थापन है।

पाचनसंस्थान—तीक्ष्ण और उष्ण होने से यह रेचन, शूलप्रशमन, कृमिघ्न और यकृदुत्तेजक है। अधिक मात्रा में देने पर वामक भी है।

रक्तवहसंस्थान—यह हृदय एवं रक्तवाहिनियों का प्रसार करता है जिससे रक्तभार कम होता है। ऐसा देखा गया है कि ऐलेञ्जिन सलफेट (Alangine sulphate) का सिरा में अन्तःक्षेप करने से रक्तभार ३०-४० मि० मी० शीघ्र कम हो जाता है किन्तु यह कमी केवल १-२ मिनट तक ही रहती है और फिर रक्तभार प्राकृत हो जाता है। यह कुष्ठघ्न और शोथहर भी है।

श्वसनसंस्थान—इसके प्रयोग से श्वसन अनियमित हो जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—यह तीक्ष्ण होने से मूत्रल है।

सात्मीकरण—इसका फल शीतल, बल्य और बृंहण है। त्वक् विषघ्न है विशेषतः जांगम विष (सर्प, मूषक, कुत्ते आदि) में उपयोगी है।

त्वचा—यह स्वेदजनन एवं त्वग्दोषहर है।

तापक्रम—यह ज्वरघ्न है तथा इसका फल दाहप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—इसकी छाल का प्रयोग कफवातविकारों में तथा फल का प्रयोग वातपैत्तिक विकारों में करते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वेदनाप्रधान रोगों तथा व्रण में इसका तैल लगाते हैं और चूहे, सांप, कुत्ते आदि के काटने पर दंशस्थान पर छाल का लेप करते हैं। इससे विष दूर हो जाता है और पीड़ा, शोथ आदि शान्त हो जाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन होने से सन्धिवात, नाडीशूल आदि वातविकारों में उपयोगी है।

पाचनसंस्थान—संशोधन होने के कारण जलोदर, अर्श तथा कृमि में इसका प्रयोग करते हैं। यह इपीकैकुआना का प्रतिनिधि माना जाता है।

रक्तवहसंस्थान—इसका प्रयोग रक्तभाराधिक्य तथा रक्तविकारों में करते हैं। शोथ में भी यह उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह में देने से मूत्र स्वच्छ आता है तथा वेदना शान्त होती है।

सात्मीकरण—मूषक, सर्प आदि के काटने पर इसकी छाल का क्वाथ पिलाते हैं। इसके फल का प्रयोग क्षय, रक्तपित्त आदि में करते हैं। अंकोलतैल का नस्य रसायन है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, फिरङ्ग आदि त्वग्दोषों में इसका प्रयोग किया जाता है।

तापक्रम—तिक्त और स्वेदजनन होने से ज्वर में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूलत्वक्,

मात्रा—चूर्ण-१-२ ग्रा०; ३-६ ग्रा० (वमन के लिए)

× × ×

'अकोलोऽङ्कुलिपत्रः स्यात् पादपो दृढमूलकः। शुभ्रपुष्पो ताम्रफलः कंटकी वनवासी च॥' (शि. द.)

'अङ्कोलः स्निग्धतीक्ष्णोष्णः कटुको वातनाशनः। कुक्कुराखुविषं हन्ति ग्रहजन्तुविषापहः॥
भूतहृद्विषहृच्चैव कण्ठशूलस्य शोधनः।' (ध. नि.)

'अङ्कोटो दीर्घकीलः स्यादंकोलश्च निकोचकः।
अङ्कोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः॥
रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहा। विसर्पकफपित्तास्रमूषिकाहिविषापहा॥
तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं बृंहणं गुरु। बल्यं विरेचनं वातपित्तदाहक्षयास्रजित्॥' (भा. प्र.)

'अङ्कोलः कटुकः स्निग्धो विषलूतादिदोषनुत्। कफानिलहरः सूतशुद्धिकृत् रेचनीयकः॥' (रा. नि.)

'अङ्कोलमूलकल्को वा बस्तमूत्रेण कल्कितः। पानालेपनयोः युक्तः सर्वाखुविषनाशनः॥' (अ. हृ.)

'नस्यं चांकोलतैलेन कुर्यान्मृत्युजरापहम्। निष्कार्धनिष्कं वर्षैकं जीवेद्वर्षशतत्रयम्॥ (र.र.)

W. I., I, 42.
B. B. O., II, 437.

रक्तस्तम्भन

३५२. प्रियंगु

परिचय

गण—मूत्रविरजनीय, पुरीषसंग्रहणीय (च०); प्रियंग्वादि, अञ्जनादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी-Verbenaceae)।

नाम—लै०-कैलिकार्पा मैक्रोफाइला (Callicarpa macrophylla Vahl.), सं०—प्रियंगु, फलिनी, कान्ता, गन्धफली, श्यामा, अंगनाप्रिया; हि०—प्रियंगु, डइया; बं०-मठारा; पं०-सुमली।

स्वरूप—इसका दृढ़ गुल्म ४–६ फीट ऊँचा होता है। शाखाओं पर सघन तूलरोम होते हैं जो नवीन भागों पर विशेष रूप से स्पष्ट होते हैं। **पत्र**–६–१० इञ्च लम्बे, अण्डाकार, कभी-कभी लट्वाकार-भालाकार, लंबाग्र, होते हैं। इनका ऊपरी पृष्ठ चिकना तथा निचला पृष्ठ तूलरोमश होता है। **पुष्प**–छोटे, गुलाबी रंग के, सघन, द्विधाविभक्त १ इंच लंबी और २ इंच व्यास की मंजरियों में पत्रकोण से निकलते हैं। **फल**–मांसल तथा श्वेतवर्ण, १२–१८ इञ्च व्यास का होता है। बाजार में इसकी सूखी कलियाँ मिलती हैं।

जाति—भावप्रकाश ने इसके दो भेद बतलाये हैं :—(१) प्रियंगु. (२) गन्धप्रियंगु। गन्धप्रियंगु में गन्ध अधिक होती है। यह तरुणी–कुल (रोजेसी–Rosaceae) का द्रव्य है। इसका लैटिन नाम प्रुनस महालेब (Prnnus mahaleb Linn.) है। इसे मराठी में गहुला; गुजराती में घरऊंथा; अरबी में महलिब कहते हैं। इसकी फलमज्जा हलके भूरे रंग की, सुगन्धि होती है और गन्धद्रव्यों में इसका प्रयोग होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालय की निचली पहाड़ियों तथा तराई में प्राप्त होता है। गन्धप्रियंगु बलूचिस्तान में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में सुगंन्धित तैल होता है। गन्धप्रियंगु में हायड्रोसायनिक अम्ल होता है।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष
रस—तिक्त, कषाय, मधुर,
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। विशेषकर वातपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म बाह्य—यह दाहप्रशमन, वेदनास्थापन तथा दुर्गन्धनाशन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनास्थापन है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, और स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।
मूत्रवहसंस्थान—मूत्रविरजनीय है।
त्वचा—त्वग्दोषहर है।
तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।
सात्मीकरण—कटुपौष्टिक तथा विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दाह, शिरःशूल, अतिस्वेद एवं दुर्गन्धि व्रणों में लेप करते हैं। आमवात में पत्तियों से सेंकते हैं।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—वेदनाप्रधान (आमवात, सन्धिवात आदि) रोगों में प्रयुक्त होता है।
पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, गुल्म, रक्तातीसार में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त तथा रक्तविकारों के लिए यह अत्युत्तम औषध है।
मूत्रवहसंस्थान—पैत्तिक प्रमेहों में उपयोगी है।
त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।
तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।
सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विष में प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—पुष्प
मात्रा—३–६ ग्रा०
विशिष्ट योग—प्रियंग्वादि तैल।

× × ×

'प्रियंगुः शीतला तिक्ता तुवरानिलपित्तहृत्। रक्तातीसारदौर्गन्ध्यस्वेददाहज्वरापहा॥
गुल्मतृड्विषमेहघ्नी तद्वद् गन्धप्रियंगुका।' (भा. प्र.)
'प्रियंगुः शीतला तिक्ता मोहदाहविनाशिनी। ज्वरवान्तिहरा रक्तमुद्रिक्तं च प्रशामयेत्॥' (ध. नि.)

B. B. O., II, 744.

३५३. नागकेशर

परिचय

गण—एलादि, प्रियंग्वादि, अञ्जनादि (सु०); चतुर्जात (भा०)।
कुल—नागकेशर–कुल (गट्टिफेरी–Guttiferae)।
नाम—लै०–मेसुआ फेरिया (Mesua ferrea Linn.), सं०–नागकेशर, नागपुष्प, चाम्पेय; हि०–पीला नागकेशर; बं०–नागेश्वर; म०–नागचांपा (वृक्ष), नागकेशर; गु०–पीलु नागकेशर; ता०–नांगु; कन्न०–नागकेशर; मल०–नंगा; ते०–नागचंपकमु; अ०–मिस्कुरुम्मान; फा०–नारेमुश्क; अं०–मेसुआ (Mesua)।

स्वरूप—इसका सदाहरित, सुन्दर और मध्यम प्रमाण का वृक्ष होता है। शाखायें कोमल तथा छाल रक्ताभ भूरी होती है जिससे पीतहरित निर्यास बबूल की गोंद के सदृश निकलता है। **पत्र**–२–६ इञ्च लंबे, १½–१¾ इञ्च चौड़े, भालाकार, चर्मवत् होते हैं। इनका ऊर्ध्वपृष्ठ स्निग्ध तथा हरित एवं अधःपृष्ठ श्वेताभ क्षोदयुक्त

होता है। पल्लव रक्तवर्ण होते हैं। पत्रकोणों से ३–४ इञ्च व्यास के श्वेत सुगन्धि **पुष्प**-एकल या २–३ एक साथ निकलते हैं जिनके पुंकेशर पीतवर्ण गुच्छों में होते हैं। **फल**-१–२ इञ्च लंबा, अंडाकार, काष्ठीय, स्थायी बाह्यकोश से युक्त होता है जिसके भीतर १–४ गहरे भूरे रंग के, १ इञ्च व्यास के बीज होते हैं। बीजमज्जा-मांसल तथा तैलयुक्त होती है। फल से एक निर्यास भी निकलता है। वसन्त में पुष्प और शरद् में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह विशेषतः, नेपाल, पूर्वेतर हिमालयप्रदेश, दक्षिणभारत, तथा अण्डमन में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—कच्चे फल में एक तैलीय राल होता है जिससे एक पीताभ, सुगन्धित तैल प्राप्त होता है। बीजमज्जा से ६०–७७% रक्ताभ या गहरे भूरे रंग का गाढ़ा तैल प्राप्त होता है। फलावरण में कषायद्रव्य होता है। केशर में दो तिक्त पदार्थ तथा एक पीत रंजक द्रव्य होते हैं। पुष्पों से एक रक्ताभ भूरे रंग का सुगंधित तैल प्राप्त होता है। बीजों में ऐक लैक्टोन (Mesuol) तथा एक फेनोलिक पदार्थ (Mesuone) पाये जाते हैं जिनमें जन्तुघ्न शक्ति होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण (ईषत्)

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजों का तैल वेदनास्थापन है। केशर दुर्गन्धनाशन, स्वेदापनयन तथा उत्तेजक है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, तृष्णानिग्रहण, छर्दिनिग्रहण, अर्शोघ्न, ग्राही तथा क्रिमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल सन्धिवात आदि में मालिश करते हैं।

नागकेशर का लेप दुर्गन्ध, अस्तिवेद तथा व्रणों पर करते हैं। क्लैब्य में इसका लेप शिश्न पर करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, उन्माद आदि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, तृष्णा, छर्दि, क्रिमि, अर्श तथा प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है। रक्तार्श का रक्त रोकने के लिए अतीव उपयोगी है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तपित्त तथा रक्तविकार में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, हिक्का, श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा रक्तप्रदर में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि त्वग्दोषों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुंकेशर।

मात्रा—चूर्ण-१–३ ग्रा०

× × ×

'नागपुष्पं कषायोष्णं रूक्षं लघ्वामपाचनम्। ज्वरकण्डूतृषास्वेदच्छर्दिहृल्लासनाशनम्॥
दौर्गन्ध्यकुष्ठवीसर्पकफपित्तविषापहम्।' (भा. प्र.)

'नागकेसरमल्पोष्णं लघु तिक्तं कफापहम्। बस्तिवातामयघ्नं च कण्ठशीर्षरुजापहम्॥'
(रा. नि.)

'केसरनवनीतशर्कराभ्यासात्। अर्शांस्यपयान्ति रक्तानि॥' (च. चि. १४)

W. I., IV, 349–52.

३५४. सुरपुन्नाग

परिचय

गण—एलादि (सु०)।

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लैं०-मैमिया लौंगिफोलिया (Mammea longifolia planch. & Triana.); सं०-सुरपुन्नाग, नमेरु, सुरपर्णिका; हि०-लाल नागकेशर; बं०-नागकेशर; म०-सुरंगी (वृक्ष), लाल नागकेशर; गु०-रातुं नागकेशर; ता०-नागकेशर; ते०-सरापुन्ना;

स्वरूप—इसका बड़ा वृक्ष होता है। **छाल**-रक्ताभ धूसर होती है। **पत्र**-५–६ इञ्च लंबे, २–२½ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, स्थूल चर्मवत् होते हैं। **पुष्प**-कलिका में गोलाकार, श्वेत या गुलाबी, सुगन्धित, सघन गुच्छों में होते हैं। **फल**-मौलिसिरी के सदृश, अंडाकार, १ इंच लम्बा होता है जिसमें १–४ बीज रहते हैं। पुष्प ग्रीष्म

में तथा फल वर्षा में पकते हैं। इसकी अविकसित पुष्पकलिका नागकेशर के नाम से बिकती है।

उत्पत्तिस्थान—दक्षिण कोंकण से मलाबार तक समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में होता है।

गुणकर्म

इसके गुणकर्म पुन्नाग के समान हैं।

× × ×

'पुन्नागः सुरपर्णिका सुगन्धिपुष्पयुक्ता दक्षिणापथे 'सुरपति' नाम्ना प्रसिद्धा।' (डल्हण)

नमेरुः सुरपुंनागः सुरेष्टः सुरपर्णिका।
सुरतुंगश्च पञ्चाह्वः पुंनागगुणसंयुतः॥ (रा. नि.)

W. I., VI, 252.

३५५. पुन्नाग

परिचय

कुल—नागकेशर-कुल (गट्टिफेरी-Guttiferae)।

नाम—लै०-कैलोफाइलम इनोफाइलम् (Colopfiyllum inophyllum Linn.); सं०-पुंनाग, तुंग; हि०-सुलतान चंपा; बं०-सुलतान चंपा, काठचाँपा, म०-उंडी, उंडल; ता०-पुन्नाइ; ते०-पौना; कन्न०-वुमा; मल०-पुन्ना; अं०-अलेक्जेण्ड्रियन लॉरेल (Alexandrian laurel)

स्वरूप—इसका चिरहरित २०-२५ फुट ऊँचा सुन्दर वृक्ष होता है। **पत्र**-अंडाकार, वटपत्र के सदृश, ४-८ इञ्च लंबे, ३-४ इञ्च चौड़े, दोनों ओर चमकीले होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण, सुगन्धित, ¾ इञ्च व्यास के, ४-६ इञ्च लम्बी मंजरियों में लगते हैं। बहिर्दल तथा अन्तर्दल ४-४, पुंकेशर अनेक, केशरसूत्र ४ गुच्छों में होते हैं। कुक्षिवृन्त पुंकेशरों से बहुत बड़े होते हैं। **फल**-गोल, चिकने, मांसल, १ इञ्च व्यास के, पकने पर पीतवर्ण होते हैं। बीजों से तैल निकाला जाता है जो प्रायः मन्दिरों में दीपक जलाने के काम आता है। वर्षा में पुष्प और बाद में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान-इसके वृक्ष दक्षिण भारत के समुद्रतट तथा बंगाल-उड़ीसा में होते हैं।

रासायनिक संघटन—बीजमज्जा से ५०-७३% हरे रंग का गाढ़ा तैल निकलता है। तैल को विदेशों में डोम्बा आयल (Domba oil) कहते हैं। छाल में ११.६% टैनिन होता है। छाल से एक पीताभ हरितवर्ण सुगन्धित निर्यास निकलता है जो ग्रामक और रेचक है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। तैल वातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—बीजतैल लेखन और वेदनास्थापन है। निर्यास व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—स्नेहन और मूत्रल है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजतैल आमवात, संधिवात तथा चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल का क्वाथ प्रवाहिका, रक्तातीसार में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में छाल का प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—बीजों का तैल मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह में खिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक्, बीज, तैल।

मात्रा—त्वक्क्वाथ-५०-१०० मि० लि०; तैल-२-५ बूंद

× × ×

'पुन्नागो मधुरः शीतः सुगंधिः पित्तनाशकृत्।' (रा. नि.)

W. I., II, 18-19.
F. I., I, 273.

३५६. पर्णबीज

परिचय

कुल—पर्णबीज-कुल (क्रैसुलेसी-Crassulaceae)।

नाम—लै०-ब्रायोफाइलम पिनाटम् (Bryophyllum pinnatum (Lam.) Kurz.); सं०-पर्णबीज, हि०-जख्मे हयात; बं०-कोप्पाता; गु०-घायमारी; ते०-सिमजमुड़ु।

स्वरूप—इसका बहुवर्षायु क्षुप चिकना, १-४ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-स्थूल मांसल, अखण्ड या त्रिखण्डीय, गोलदन्तुर होते हैं। **पुष्प**-बाह्यकोश १-१½ इंच

लंबा, बैंगनी हरा होता है। आभ्यन्तर कोश नीचे हरा, ऊपर रक्ताभ बैंगनी होता है। **फल**–स्थायी बाह्य एवं आभ्यन्तर कोशों में आवृत रहता है। **बीज**–छोटे, आयताकार-अंडाकार, चिकने, लंबाई में धारीदार होते हैं। इसकी पत्तियों के दन्तुर किनारों में कलिकायें सरलता से बनती हैं जिससे पत्तियाँ जमीन में गिरने से वहाँ नया क्षुप उत्पन्न हो जाता है। शीतकाल में पुष्प और ग्रीष्म में फल होते हैं।

वक्तव्य—कैलेन्ची जाति के क्षुप भी पर्णबीज के नाम से चलते हैं जिनमें कैलेन्ची लैसीनिएटा (Kalanchoe laciniata (Linn.) DC. तथा कैलेन्ची इण्टेग्रा (Kalanchoe integra (Medic) Kutze) प्रमुख हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में विशेषतः बंगाल में अधिक होता है।

रासायनिक संघटन—पत्तों में मैलिक, आइसोसाइट्रिक तथा साइट्रिक अम्ल होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय, अम्ल
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तस्कन्दन है। इससे सूक्ष्म धमनियों का संकोच होता है जिससे रक्तस्राव बन्द होता है। व्रणशोधन और रोपण भी है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—यह रक्तरोधक है तथा रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अभिघातजन्य शोथ, व्रण आदि में इसके पत्रकल्क का लेप देते हैं। क्षत में पत्रस्वरस देते हैं।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तप्रवाहिका, रक्तार्श तथा रक्तप्रदर में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पत्र।

मात्रा—स्वरस १०–२० मि० लि०।

× × × ×

पर्णबीजं कषायाम्लं मधुरं शीतमेव च। वातपित्तहरं रक्तस्तम्भनं व्रणरोपणम्॥ (स्व.)

W. I., I, 233.
F. I., II, 413.

३५७. आयापान

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)

नाम—लै०-युपेटोरियम् ट्रिप्लिनर्व (Eupatorium triplinerve Vahl.); सं०-अजापर्ण, हि० बं०-आयापान।

स्वरूप—इसका छोटा गुल्मजातीय सुगंधित **क्षुप** २–४ फुट ऊँचा होता है। काण्ड झुका होता है जिसके पर्वों से मूल निकले होते हैं। शाखायें रक्ताभ और किंचित् रोमश होती हैं। **पत्र**–२–३ इञ्च लंबे, ⅔ इंच चौड़े, भालाकार, रक्ताभ, अभिमुख क्रम में होती है। इनमें तीन स्पष्ट सिरायें होती हैं तथा पत्तियों को मसलने से तीक्ष्ण सुगंध आती है। **पुष्प**–नीलाभ मुण्डकों में होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—मूलतः यह अमेरिका के ब्राजिल प्रदेश का निवासी है। संप्रति सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पत्तियों से एक हलके हरे रंग का सुगंधि तैल (१·१४%) तथा आयापानिन (Ayapanin) और आयापिन (Ayapin) नामक दो स्फटिकीय तत्त्व होते है। इसके अतिरिक्त कैरोटिन तथा विटामिन सी होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक, व्रणशोधन, व्रणरोपण तथा विषघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा अधिक मात्रा में वामक और रेचन है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक तथा रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

त्वचा—स्वेदजनन है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, विशेषतः विषमज्वरप्रतिबन्धक तथा शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण—यह कटुपौष्टिक और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—रक्तस्राव, व्रण तथा विषों में इसकी पत्तियों का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, शूल में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, अवसाद, रक्तविकार तथा रक्तपित्त (रक्तार्श आदि) के लिए यह अतीव प्रशस्त औषध है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास में उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रक्तप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—रक्तमूत्रता तथा पैत्तिक प्रमेहों में लाभकर है।

त्वचा—चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में जाड़ा लगने के समय इसका फांट गरम-गरम पिलाते हैं। अमेरिका में पीतज्वर के लिए यह प्रसिद्ध औषध है।

सात्मीकरण—अल्प मात्रा में यह दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है। सर्पविष में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस-५-१०-मि०लि०।

× × × ×

अजापर्णं तु तुवरं तिक्तं वीर्योष्णमेव च। कफपित्तहरं हृद्यं ज्वरघ्नं रक्तरोधकम्॥ (स्व.)

W. I., II, 223.

३५८. झण्डु

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०-टैगेटस इरेक्टा (Tagetes erecta Linn.), सं०-झण्डु; हि०-गेंदा; बं०-गेंदा; मं०-झेंडु; गु०-गलगोटो; ते०-बाण्टिचेट्टु; ता०-तुलुक्कासमंदि; कन्न०-चण्डुमल्लिगे; मल०-चेण्डुमल्ली; फा०-गुलहजारा; अं०-ऐजटेक और अफ्रिकन मेरीगोल्ड (Aztec or African marigold)।

स्वरूप—इसका गुल्मजातीय रोमश **क्षुप** होता है। कांड और शाखायें कोण-युक्त तथा रोमश होती हैं। **पत्र**-एकान्तर, पक्षवत्, विभक्त, रोमश, उग्रगंधि, भाला-कार या आयताकार, दन्तुर होते हैं। **पुष्पमुंडक**-गहरे पीले या नारंगी रंग के, २-४ इञ्च व्यास के होते हैं। **बीज**-लंबे और कृष्णवर्ण होते हैं। शीतकाल के प्रारंभ में पुष्प लगते हैं।

जाति—पुष्प के वर्णभेद तथा आकृतिभेद से इसकी अनेक जातियाँ होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मूलतः मैक्सिको का निवासी है, संप्रति समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—ऊर्ध्वपातन द्वारा पौधे से एक उग्रगंधि तैल (Tagetes-

oil) प्राप्त होता है। पुष्प में अनेक रंजक द्रव्य होते हैं। बीजों में २४% प्रोटीन तथा २०% तैल होता है। अनेक क्षाराभों के भी संकेत मिले हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह रक्तरोधक तथा शोथहर है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक एवं रक्तरोधक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—क्षत, व्रण तथा शोथ में पुष्प एवं पत्र का लेप करते हैं। नाक से रक्त निकलने पर पत्रस्वरस का नस्य देते हैं। अन्य क्षतों से रक्त-स्राव को रोकने के लिए भी इसका प्रयोग होता है।

आभ्यन्तर-रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा रक्तपित्त (रक्तार्श, रक्तप्रदर आदि) में पुष्पस्वरस या कल्क घी में तल कर देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, पत्र।

मात्रा—स्वरस ५-१० मि० लि०।

× × × ×

'**झण्डुः कटुकषाया स्यात्तिक्ता शीता च वीर्यतः। कफपित्तप्रशमनं रक्तसांग्राहिकं परम्॥**' (स्व०)

W. I., X, 109-10.

३५९. शाक

परिचय

गण—सालसारादि (सु०)।

कुल—निर्गुण्डी-कुल (वर्बिनेसी–Verbenaceae)।

नाम—लै०-टेक्टोना ग्रैण्डिस (Tectona grandis Linn. f.)। सं०-शाक, स्थिरसार। हि०-सागौन, सागवान; बं०-सेगुन, म० गु०-सागवान; ता०-टेक्कू; ते०-टिकू; कन्न०-टेगा; मल-टेक्का; अं०-टीक (Teak)।

स्वरूप—इसका बड़ा **वृक्ष** १००-१५० फीट ऊँचा होता है। शाखायें चतुष्कोण, नलिकान्वित होती हैं। छाल सूत्रमय हलके भूरे या धूसर रंग की होती है। **पत्र**-बड़े, लगभग १-३ फीट लंबे; ½-१ फीट चौड़े, अंडाकार या अभिलट्वाकार,

चर्मवत्, खरस्पर्श, निचले पृष्ठ पर रोमश होते हैं। मुख्य पत्रसिरायें ८-१० जोड़ी होती हैं। पत्तों पर सूक्ष्म लाल ग्रन्थिल धब्बे होते हैं जो काले पड़ जाते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-अनेकशाखायुक्त, १-३ फुट लंबी होती है जिसमें श्वेतवर्ण, सुगन्धित, छोटे पुष्प लगते है। **फल**-छोटे, १०-१५ मि०मी० व्यास के, अनियमित गोलाकार, रोमाकीर्ण, अग्रभाग पर कुछ नुकीले, कठिन, चतुष्कोष्ठीय, हलके भूरे रंग के, फूले हुए बाह्यकोश से आवृत होते हैं। **बीज**-१-३, कभी-कभी ४, श्वेतवर्ण, लट्वाकार ४-८ मि. मी. लंबे होते हैं। अन्तःसार कठिन, दृढ और धूसरवर्ण होता है। वर्षा में पुष्प तथा शीतकाल में फल लगते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मध्यप्रदेश, उड़ीसा, बंगाल, दक्षिण भारत में विशेष होता है।

रासायनिक संघटन—सारभाग से अनेक कार्बनिक यौगिक प्राप्त किये गये हैं। इसके परिस्रवण से एक तैल (०.१५%) प्राप्त होता है जो पशुओं के व्रणों में तथा रंगने के काम में आता है। काष्ठ के कोटरों में कैलशियम फास्फेट, अमोनियम और मैगनीशियम फास्फेट तथा सिलिका संचित मिलते हैं। बीजों में एक स्थिर तैल होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय
विपाक—कटु
वीर्य—शीत

बीज स्निग्ध होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है। बीज वातशामक हैं।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—सार शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न तथा दाहप्रशमन है। पत्रस्वरस रक्तस्तम्भन है। बीजतैल केश्य और कण्डूघ्न है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—इसकी छाल पित्तशामक, स्तम्भन तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—पत्रस्वरस शोणितस्थापन तथा शोथहर है।

प्रजननसंस्थान—गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—बीज मूत्रजनन है। छाल मूत्रस्तम्भन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—मेदोहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपित्तज विकारों में प्रयुक्त होता है। बीज वातव्याधि में दिए जाते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सारचूर्ण शोथ, दाह, भल्लातक-विष तथा शिरःशूल में लेप करते हैं। बीजतैल खालित्य रोग तथा चर्मरोगों में लगाते हैं। पत्रस्वरस क्षतों में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अम्लपित्त, प्रवाहिका तथा कृमिरोग में इसकी छाल का क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तविकार तथा शोथ में पत्रस्वरस देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रदर तथा गर्भपात में इसका क्वाथ देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पुष्पों का शाक तथा छाल का क्वाथ प्रमेह में प्रयुक्त होता है। बीज मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ में अन्तःसार का क्वाथ देते हैं।

तापक्रम—दाह में छाल या सार का प्रयोग करते हैं।

सात्मीकरण—मेदोरोग में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—सार

मात्रा—५०-१०० मि० लि०; चूर्ण-३-६ ग्रा०

× × ×

'शाको भूमिरुहः पृष्ठपत्रोऽवरसुककर्कशः। महापत्रो रागगर्भो मंजरीकः सुदारुकः॥' (शी.)
'शाकः कषायः शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः। कुष्ठश्लेष्मानिलहरो गर्भसंधानस्थैर्यकृत्॥
'शाकः कषायः शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः। कुष्ठश्लेष्मानिलहरो गर्भसंधानस्थैर्यकृत्॥

'भूमिरुहस्तु शिशिरो रक्तपित्तप्रसादनः।' (भा. प्र.)
'शाकसाररसः प्रोक्तः पित्तदाहश्रमापहः। कफघ्नं मधुरं हृद्यं कषायं शाकवल्कलम्॥'
(रा॰ नि.)

W. I., X, 136-50.

३६०. रक्तनिर्यास

परिचय

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-डिमिनोरोप्स ड्रेको (Daemenorops draco Blume.); सं०-रक्तनिर्यास; हि०-खूनखराबा, हीरादोखी; म०-हिरादखण; गु०-हीरादखण; अ०-दम्मुल अख्वैनः फा०-खून सियावशाँ; अं०-ड्रेगन्स ब्लड (Dragon's Blood)।

स्वरूप—इसकी बहुवर्षायु कंटकित, आरोहिणी लता होती है। इसके फलों पर रक्तवर्ण रालीय स्राव जम जाता है। उसके फलों को रगड़ कर इकट्ठा करते हैं। यही खूनखराबा है।

उत्पत्तिस्थान—यह मलयेशिया में होता है। इसका भारतीय प्रतिनिधि D. kurzianus Hook. f. है जो अन्डमान द्वीपों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें राल के अतिरिक्त रंजक द्रव्य भी होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय
विपाक—कटु **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—रक्तस्तम्भन और व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—यह अत्युत्तम रक्तस्तम्भन और रक्तपित्तशामक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—सद्योव्रण तथा जीर्णव्रणों में इसका चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में इसका प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त, रक्तार्श, रक्तप्रदर, उरःक्षत आदि में यह अतीव उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—निर्यास।

मात्रा—१–३ ग्रा०

× × ×

ज्ञेयस्तु रक्तनिर्यासः कषायः रूक्षशीतलः।
कफपित्तहरो रक्तस्तम्भनो व्रणरोपणः॥ (स्व.)

W. I., III, 2-3.

३६१. कुकुन्दर

परिचय

कुल—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी–Compositae)।

नाम—लै०–ब्लुमिया लैसरा (Blumea lacera DC.); सं०–कुकुन्दर, ताम्रचूड़, कुक्कुरद्रु; हि०–कुकरौंधा; बं०–कुकसिम, कुकुरशोंगा; म०–कुकुरबन्दा; गु०–कोकरोंदा; बम्बई–भामवारदा; ता०–काट्टु मूलांगी; ते०–आदवी।

स्वरूप—यह १–२ फुट ऊँचा कर्पूरगन्धि **क्षुप** होता है। **पत्र**–अभिलट्वाकार-आयताकार, दन्तुर, निचले पत्र प्रायः कासनी के सदृश खण्डित, मांसल, रोमश और

उग्रगन्धि होते हैं। **पुष्पमुण्डक**–पीत, रोमश, ऊपरी शाखाओं के अग्रभाग पर होते हैं। **बीज**–छोटे, धूसर भूरे रंग के, किंचित् कोणीय होते हैं। क्षुप के ऊपरी कोमल भाग ताम्रवर्ण होते हैं। अतः इसे 'ताम्रचूड़' कहा है। शीतकाल के अन्त में पुष्प और फल लगते हैं।

जाति—इसकी अनेक प्रजातियाँ हैं जिनमें B. erientha DC., B. densiflora DC.; B. balsamifera DC. मुख्य हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में २ हजार फुट की ऊँचाई तक विशेषतः आर्द्र और परती भूमि में देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—इसमें कर्पूरयुक्त एक सुगन्धित तैल होता है।

गुण

गुण–लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**–तिक्त, कषाय
विपाक–कटु **वीर्य**–उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शिरोविरेचन, शोथहर, चक्षुष्य, रक्तस्तम्भन, कृमिघ्न तथा व्रणरोपण है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है। मूल अतिमात्रा में वामक है।

रक्तवहसंस्थान—यह शोणितस्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—इसका पत्रस्वरस तथा चूर्ण प्रतिश्याय, शिरःशूल में नस्य के रूप में प्रयुक्त होता है। शोथ में पत्तियों को गरम कर बाँधते हैं। नेत्राभिष्यन्द में पत्रस्वरस नेत्र में डालते हैं। बाह्य कृमियों को नष्ट करने के लिए इसका स्वरस लगाते हैं। क्षत तथा व्रणों में इसका स्वरस या कल्क लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—उदररोग, कृमि, यकृद्विकार तथा अर्श के लिए उत्तम औषध है। अर्श में अर्शाकुरों पर पत्रकल्क बाँधते हैं तथा पत्रकल्क में मरिच चूर्ण मिला कर गोलियाँ बना कर खिलाते हैं। मूल का प्रयोग भी करते हैं। मुखशोष में ताजा मूल मुख में रखते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तस्राव, रक्तविकार तथा शोथ में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—प्रतिश्याय, कास तथा श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—प्रदर में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—कुक्कुरविष में इसका मूल १० ग्रा० की मात्रा में पीस कर पिलाते हैं

प्रयोज्य अंग—मूल, पत्र।

मात्रा—स्वरस–१० मि० लि०, कल्क–३–६ ग्रा०

× × ×

'कुकुन्दरस्ताम्रचूडः सूक्ष्मपत्रो मृदुच्छदः। 'कुकुन्दरः कटुस्तिक्तो ज्वररक्तकफापहः॥ तन्मूलमार्द्रं निक्षिप्तं वदने मुखशोषहृत्॥' (भा. प्र.)

W. I., I, 198.

३९२. जलकुम्भी

परिचय

कुल—सूरण-कुल (एरेसी–Araceae)।

नाम—लैं०–पिस्टिया स्ट्रेटिओटस (Pistia stratiotes Linn.); सं०–जलकुम्भी, वारिपर्णी, हि०–जलकुम्भी; बं०–टोकापाना; म०–प्राशनी; ता०–आगमातमाराई; ते०–आनटेरी–टामार; अं०–ट्रापिकल डकवीड (Tropical duckweed)।

स्वरूप—यह एक मूलप्रसरी **क्षुप** है जो जलाशयों में होता है। **पत्र**–त्रिपत्रक, सघनरोमश; पत्रक ३–४ इञ्च लंबे, मांसल, अभिलट्वाकार होते हैं। पत्रकोश–हलका पीला या सफेद, १–१½ लम्बा, वक्रतः घंटिकाकार, बीच में संकुचित होता है। **पुष्प**–छोटे, अवृन्त, पुष्पध्वज पर होते हैं। **फल**–अंडाकार, हरा, शीर्ष पर स्थायी कुक्षिवृन्त से युक्त होता है। **बीज**–अंडाकार या आयताकार अनेक होते हैं। ग्रीष्म में पुष्प तथा शीतकाल में फल आते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत के तालाबों और गढ़ों में देखा जाता है।

रासायनिक संघटन—भस्म (Pana Salt) में पोटाशियम क्लोराइड और सल्फेट प्रचुर होते हैं। पत्तियों और काण्ड में आर्द्रता ९२·९, प्रोटीन १·४, कार्बोहाइड्रेट २·६, वसा ०·३, भस्म १·९, कैलशियम ०·२०, फास्फोरस ०·०६ प्रतिशत होता है। विटामिन ए, बी और सी भी प्रचुर होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष

रस—तिक्त, मधुर

विपाक—मधुर

वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध से वात, तिक्त, मधुर, शीत से पित्त तथा रूक्ष-तिक्त से कफ का शमन करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कृमिघ्न, कुष्ठघ्न, रक्तस्तम्भन तथा दाहप्रशमन है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह अनुलोमन एवं मृदुरेचन है।

रक्तवहसंस्थान—शोणितस्थापन है। इसकी भस्म शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बाह्य कृमि (खटमल आदि) को नष्ट करने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इसका स्वरस रक्तस्राव रोकने के लिए लगाते हैं। पत्रकल्क का लेप व्रण एवं दाह पर करते हैं। इसकी भस्म कण्डू, दद्रु आदि पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—विबन्ध तथा रक्तप्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार एवं रक्तपित्त में देते हैं। इसकी भस्म गोमूत्र के साथ गलगंड में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य एवं शोथ में दिया जाता है।

प्रयोज्य अङ्ग—पंचांग।

मात्रा—स्वरस–१०–२० मि.लि.

वक्तव्य—आजकल गढ़ों में बड़े स्मातनाल पत्र तथा नीले बैंगनी पुष्प वाला एक क्षुप बहुत दिखाई देता है। इसे कुछ लोग भ्रमवश जलकुंभी लेते हैं। किन्तु यह विदेशी पौधा (Eichhornia crassipes Solms.) है जो प्राचीन जलकुम्भी नहीं हो सकता।

× × ×

'वारिपर्णी हिमा तिक्ता लघ्वी स्वाद्वी सरा कटुः। दोषत्रयहरी रूक्षा शोणितज्वरशोषहृत्॥' (भा. प्र.)

'जलकुंभीकजं भस्म पक्वं गोमूत्रगालितम् । पिबेत् कोद्रवतक्राशी गलगंडोपशान्तये ॥'

(वृन्द)

W. I., VIII, 124.

रक्तप्रसादन

३६३. सारिवा

परिचय

गण—स्तन्यशोधन, पुरीषसंग्रहणीय, ज्वरहर, दाहप्रशमन, मधुरस्कन्ध (च०); सारिवादि, विदारिगंधादि, वल्लीपंचमूल (सु०) ।

कुल—अर्क-कुल (ऐस्क्लीपिएडेसी–Asclepiadaceae) ।

नाम—लै०–हेमिडेस्मस इण्डिकस (Hemidesmus indicus R. Br.) । सं०–सारिवा, उत्पलसारिवा, गोपवल्ली, हि०–वं०–अनन्तमूल, कपूरी (मूल से कपूर की तरह गंध होने से); म०–उपरसाल, उपलसरी; गु०–उपलसरी, कपूरी-मधुरी; ता०–नान्नारि; ते०–मुत्तवपुलगमु, कन्न०–सोगडे; मल०–नरुनिन्ति; अं०–इण्डियन सार्सापरिला (Indian sarsaparilla) ।

स्वरूप—इसकी पतली, क्षीरिणी आवर्त्तनी **लता** ५–१५ फुट लंबी होती है। काण्ड अनेक, कोणीय, पर्वों पर स्थूल होते हैं । **पत्र**–अभिमुख, दूर-दूर पर, विभिन्न आकार के, अनार की पत्ती के सदृश, अण्डाकार–आयताकार या रेखाकार–भालाकार, ह्रस्ववृन्त, १–४ इञ्च लंबे, ½–१½ इञ्च चौड़े होते हैं। पत्तियों का निचला पृष्ठ हलके रंग का श्वेताभ तथा ऊपरी पृष्ठ श्वेतरेखांकित होता है । **पुष्प**–पत्रकोणीय मञ्जरीक गुच्छों में बाहर हरिताभ और भीतर बैंगनी रंग के होते हैं । **फल**–पतले, शृङ्गाकार, दो-दो एक साथ किन्तु अपसारी, ४–५ इञ्च लंबे होते हैं । इसके भीतर सफेद रूई युक्त अनेक चपटे, काले बीज होते हैं । मूल और कांड ऊपर से रक्तवर्ण और भीतर श्वेत होते हैं । मूल स्थूल भूरे रंग का तथा आर्द्र मूल से कपूर की तरह गंध आती है ।

जाति—सारिवा दो प्रकार की होती है—(१) श्वेत और (२) कृष्ण । श्वेत सारिवा का ऊपर वर्णन किया गया है । कृष्णसारिवा का मूल कृष्णवर्ण होता है । संप्रति दो द्रव्य कृष्णसारिवा के नाम पर लिए जाते हैं :—(१) क्रिप्टोलेपिस बुकेनाना (Cryptolepis buchanana Roem & Schult.)—इसकी पत्तियाँ बड़ी, लंबी-चौड़ी जामुन की पत्ती के सदृश होती है और उनके तोड़ने से बहुत दूध निकलता है। इसे जम्बूपत्रा सारिवा भी कहते हैं। (२) इक्नोकार्पस फ्रुटिसेन्स (Ichnocarpus frutescens R. Br.) यह कुटजकुल की वनस्पति है। इसकी पत्तियाँ छोटी, अंडाकार, लंबगोल होती हैं। मूल में सुगंध नहीं होती। कृष्ण-सारिवा से जम्बूपत्रा सारिवा का ग्रहण करना चाहिए ।

उत्पत्तिस्थान—यह प्रायः समस्त भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में एक उड़नशील तैल (०.२२५%) होता है जिसका मुख्य घटक (८०%) P-Methoxy salicylic aldehyde है। इसीके कारण मूल में सुगंध होती है। इसके अतिरिक्त, B-sitoserol, a और B-amyrins, lupeool, tetracyclic triterpene alcohols, रालाम्ल, वसाम्ल, टैनिन, सैपोनिन, ग्लाइकोसाइड तथा एक केटोन होता है। I.P. के अनुसार इसमें २% से अधिक बाह्य कार्बनिक पदार्थ तथा ४% से अधिक भस्म नहीं होनी चाहिए। इसमें अलकोहल-विलेय तथा जलविलेय घटक क्रमशः १५ और १३.५ से कम नहीं होना चाहिए ।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। मधुरस्निग्ध होने से वात, शीत होने से पित्त तथा तिक्त होने से कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह दाहप्रशमन और शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—रोचन, दीपन, पाचन, अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक तथा शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है तथा स्तन्यशोधन और गर्भस्थापन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रजनन और मूत्रविरजनीय है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक योग-बाह्य—इसका रस नेत्राभिष्यन्द में डालते हैं। दाह तथा शोथ में लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अरुचि, अग्निमांद्य, प्रवाहिका, ग्रहणी में लाभकर है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार, वातरक्त, उपदंश, फिरंग, जीर्ण आमवात, श्लीपद तथा गण्डमाला में अतीव उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कासश्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य, स्तन्यविकार, प्रदर तथा गर्भस्राव आदि योनिव्यापद् में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र तथा पैत्तिक प्रमेहों में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, विस्फोट आदि चर्मरोगों में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, पांडु तथा शोथ में उपयोगी है। विषों में भी देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—फाण्ट–५०–१०० लि० लि०; कल्क–५–१० ग्रा०

वक्तव्य—यथासंभव अनन्तमूल का क्वाथ नहीं करना चाहिए।

विशिष्ट योग—सारिवादि क्वाथ, सारिवादि वटी, सारिवाद्यवलेह, सारिवाद्यासव।

× × ×

'सारिवा दाडिमीपत्रा श्वेतरेखांकितच्छदा।
दुग्धगर्भा शिंबिफला तूलिनी कृष्णवल्लरी॥' (शि.)

'सारिवा जम्बूपत्रा दुग्धगर्भा वल्ली स्वनामप्रसिद्धा कृष्णसारिवा···चन्दनगंधा।'(डल्हण)

सारिवायुगलं स्वादु स्निग्धं शुक्रकरं गुरु। अग्निमांद्यारुचिश्वासकासामविषनाशनम्॥
दोषत्रयास्रप्रदरज्वरातीसारनाशनम्। (भा. प्र.)

'सारिवे द्वे तु मधुरे पित्तवातास्रनाशने। कण्डूकुष्ठज्वरहरे मेहदुर्गन्धनाशने॥' (ध.नि.)

W. I., V, 33-34.

३६४. मञ्जिष्ठा

परिचय

गण—वर्ण्य, विषघ्न, ज्वरहर (च०); प्रियंग्वादि, पित्तसंशमन (सु०)।

कुल—मंजिष्ठा-कुल (रुबिएसी–Rubiaceae)।

नाम—लै०–रुबिया कॉर्डिफोलिया (Rubia cordifolia Linn); सं०–मञ्जिष्ठा, विकसा, योजनवल्ली, हि०–मंजीठ; बं०–मंजिष्ठा; गु०–मजीठ; ता०–मन्जिट्टी; ते०–ताम्रवल्ली; कन्न०–मञ्जुष्ठा; मल०–मंजेट्टी; अ०–फुव्व; फा०–रूनास; रोदक; अं०–इण्डियन मैडर (Indian madder)।

स्वरूप—यह अनेक-शाखाप्रशाखायुक्त, दूरव्यापी, आरोहिणी लता है। **काण्ड**–चतुष्कोणाकार, रक्ताभ होता है। **पत्र**–लट्वाकार, हृदयाकृति, तीक्ष्णाग्र, २–४ इञ्च लंबे, पत्रवृन्त–१–३ इञ्च लंबा, ऊर्ध्वतल पर खरस्पर्श तथा निम्न पृष्ठ पर रोमश होते हैं। पत्र ४ की संख्या में चक्रक में व्यवस्थित होते हैं जिनमें दो प्रायः बड़े होते हैं। पत्रमूल से ३–७ सिरायें बड़ी प्रमुख होती हैं। पुष्पमंजरी–अन्त्य, त्रिधाविभक्त, हृदयाकृति अवृन्त कोणपुष्पकों के अभिमुख रहती है। **पुष्प**–छोटे, पीताभ श्वेत, रोमश पञ्चावयव या चतुरवयव होते हैं। **फल**–१/८–१/६ इञ्च लंबे, गोलाकार, मांसल, बैंगनी या कृष्णवर्ण होते हैं जिनमें दो बीज होते हैं। शरद् ऋतु में पुष्प तत्पश्चात् फल लगते हैं। मूल रक्ताभ, लंबा और स्थूल होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत के समस्त पार्वत्य प्रदेशों में ८००० फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में रालयुक्त सत्त्वपदार्थ, गोंद, शर्करा, रंजक द्रव्य, तथा चूने के लवण होते हैं। रंजक द्रव्यों में पर्प्युरिन (Purpurin), ग्लुकोसाइड–मंजिष्ठिन (Manjistin) तथा इनके अतिरिक्त, जैन्थोपर्प्युरिन और स्युडोपर्प्युरिन भी होते हैं।

गुण

गुण—गुरु, रूक्ष **रस**—तिक्त, कषाय, मधुर

विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म–बाह्य—यह शोथहर, व्रणरोपण तथा कुष्ठघ्न है।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—इससे मस्तिष्क एवं नाडियों को शान्ति मिलती है। अधिक मात्रा में देने से मद और भ्रम होते हैं।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, स्तम्भन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—गर्भाशयोत्तेजक और आर्त्तवजनन हैं। स्तन्यशोधन भी है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—वर्ण्य, बल्य, रसायन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिकप्रयोग–बाह्य—शोथ, व्रण तथा चर्मरोगों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर–नाडीसंस्थान—यह मस्तिष्क के उद्वेगप्रधान रोगों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमान्द्य, आमदोष, अतिसार तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार में देते हैं।

श्वसनसंस्थान—स्वरभेद, कास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—कष्टार्त्तव, रजोरोध में उपयोगी है। प्रसव के बाद गर्भाशय-शोधन, ज्वरप्रतिषेध तथा स्तन्यशुद्धि के लिए इसका प्रयोग करते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में लाभकर है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर, विशेषतः जीर्णज्वर एवं प्रसूतिज्वर में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—वर्णविकार, दौर्बल्य तथा विषों में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ ५०-१०० मि० लि०; तो०; चूर्ण १-३ ग्रा०

विशिष्ट योग—मञ्जिष्ठादि क्वाथ, मञ्जिष्ठाद्यर्क।

× × ×

'मञ्जिष्ठा मधुरा तिक्ता कषाया स्वरवर्णकृत्। गुरुरुष्णा विषश्लेष्मशोथयोन्यक्षिकर्णरुक्। रक्तातीसारकुष्ठास्रवीसर्पव्रणमेहनुत्।' (भा प्र.)

'मञ्जिष्ठा मधुरा स्वादे कषायोष्णा गुरुस्तथा। कफोग्रव्रणमेहास्रविषनेत्रामयाञ्जयेत्॥' (ध. नि.)

'मंजिष्ठा कुष्ठवैस्वर्यशोथघ्नी मूत्रकृच्छ्रजित्।' (रा. व.)

'मंजिष्ठाचन्दनकषायं मञ्जिष्ठामेहिनं पाययेत्।' (सु. चि. ११)

F. I., III, 202.

W. I., IX, 82-83.

३६५. चोपचीनी

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिऐसी-Liliaceae)।

नाम—लै०-स्माइलेक्स चाइना (Smilax china Linn.); सं०-द्वीपान्तरवचा; हि०-चोपचीनी; बं०-तोपचीनी; म० गु०-चोपचीनी; ता०-परंगिचेक्काई; ते०-पिरंगिचेक्का; अ०-अस्लुस्सीनी; फा०-चोब्रचीनी; अं०-चायना रूट (China root)।

स्वरूप—इसकी आरोहिणी, विस्तृत, कण्टकित या निष्कण्टक **लता** होती है। **पत्र**-अंडाकार या गोलाकार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, श्वेतवर्ण होते हैं तथा **फल**-रक्तवर्ण होते हैं। **मूल**-स्थूल, भारी और रक्ताभ होता है। भारत में इसका प्रतिनिधि S. glabra Roxb.

जाति—इसका भारतीय प्रतिनिधि S. glabra Roxb. है। अन्य प्रजातियाँ

यथा S. lanceifolia Roxb; S. ovalifolia Roxb. (जंगली उशबा) आदि भी चोपचीनी नाम से व्यवहृत होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—इसका वासस्थान चीन और जापान है। इसका भारतीय प्रतिनिधि आसाम की पहाड़ियों में होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में टैनिन तथा राल, सिनकोनिन (Cinchonin), स्माइलेसिन (Smilacin), सैपोनिन, ग्लाइकोसाइड होते हैं। बीजों से ११% स्थिर तैल निकलता है। पत्र में रुटिन Rutin) होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह नाड़ीबल्य और वातहर है।

पाचनसंस्थान—दीपन, अनुलोमन और सारक है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है। इसकी विशिष्ट क्रिया रसग्रन्थि, त्वचा और स्नायुओं पर होती है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और शुक्रशोधन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन, कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—कटुपौष्टिक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह उन्माद, अपस्मार तथा विभिन्न वातव्याधियों (पक्षाघात, आमवात, सन्धिवात आदि) में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, आध्मान, शूल, विबन्ध तथा कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार विशेषतः उपदंश की द्वितीय और तृतीय अवस्था तथा इससे उत्पन्न उपद्रवों में प्रयुक्त होता है। शोथ, गंडमाला में भी देते हैं।

प्रजननसंस्थान—इसे दूध में उबाल कर वाजीकरणार्थ एवं शुक्रविकारों में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पूयमेह तथा उससे उत्पन्न संधिशोथ, संधिजाड्य आदि उपद्रवों में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर में उपयोगी है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०। क्वाथ की अपेक्षा चूर्ण अधिक लाभकर हैं।

विशिष्ट योग—चोपचीनीपाक।

× × × ×

'फिरंगदेशसंभूता चीनदेशेऽथ विश्रुता। नामतश्चोपचीनी स्यादश्वगंधासमा भवेत्॥
अश्वगन्धासमं पत्रमोषधिः ग्रन्थिसंयुता। वर्णतः पाटलाभा च।' (शि.)

'द्वीपान्तरवचा किंचित्तिक्तोष्णा वह्निदीप्तिकृत्। विबन्धाध्मानशूलघ्नी शकृन्मूत्रविशोधिनी॥
वातव्याधीनपस्मारमुन्मादं तनुवेदनाम्। व्यपोहति विशेषेण फिरंगामयनाशिनी॥'
(भा. प्र.)

'चोपचीनीभवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम्। फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥'
(भै. र.)

३६६. मुण्डी

परिचय

गण—रसायन (च०)।

नाम—भृङ्गराज-कुल (कम्पोजिटी-Compositae)।

कुल—लै०-स्फिरैन्थस इण्डिकस (Sphaeranthus indicus Linn.)। सं०-मुण्डी, श्रावणी; हि०-मुण्डी, गोरखमुण्डी; बं०-मुड़मुड़िया; म० गु०-गोरखमुण्डी; ता०-कोट्टाकरन्थाइ; ते०-वोड्डातारुपु; मल०-मिरंगनी; उ०-बुइकदम।

स्वरूप—यह लगभग १-३ फुट ऊँचा गन्धयुक्त **क्षुप** धान या रबी के खेतों में फैला हुआ होता है। **काण्ड**-गोलाकार, दन्तुरपक्षयुक्त होता है। **पत्र**-अवृन्त, रोमश, १-२ इञ्च लंबे, अभिलट्वाकार, दन्तुर होते हैं। **पुष्पमुण्डक**-अन्त्य, पत्राभिमुख, ·५-·७५ इञ्च लंबे, कदम्बपुष्प के समान, बैंगनी रंग के लगते हैं। शीतकाल में पुष्प और बाद में फल लगते हैं।

जाति—इसकी एक और जाति 'महाश्रावणी' या 'महामुण्डी' कहलाती है। इसका लैटिन नाम S. africans Linn. है। इसका क्षुप बड़ा होता है।

उत्पत्तिस्थान—यह ५ हजार फुट की उँचाई तक समस्त भारत में विशेषत आनूप प्रदेशों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें एक तिक्त क्षाराभ-स्फिरैन्थीन (Sphaeranthine) तथा एक ग्लुकोसाइड पाया जाता है। इससे एक रक्ताभ सुगन्धित तैल (०·०१-०·०२%) भी प्राप्त होता है जिसमें युजिनॉल, ऑसिमिन आदि घटक होते हैं। क्षुप से एक पीताभ हरित स्थिर तैल (३%) प्राप्त होता है। पुष्पमुण्डक में अलब्युमिन, एक तैल (५%), रिड्युसिंग शर्करा, टैनिन, खनिज द्रव्य, उड़नशील तैल (०·०७%) तथा ग्लुकोसाइड पाये गये हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष

रस—तिक्त, कटु

विपाक—कटु

वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मेध्य और नाड़ीबल्य है। वेदनास्थापन भी है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, अनुलोमन, यकृदुत्तेजक तथा कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृदयोत्तेजक, रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—स्वेदजनन, कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथवेदनायुक्त विकारों में इसका लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कदौर्बल्य, अपस्मार तथा वातव्याधि में देते हैं। शिर:शूल विशेषत: सूर्यावर्त्त और अर्धावभेदक में मरिच के साथ पीसकर स्वरस पीते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, शूल, यकृद्प्लीहावृद्धि, कामला, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य, रक्तविकार (वातरक्त, विस्फोट आदि), शोथ, श्लीपद, गंडमाला, अपची आदि में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—जीर्ण कास तथा श्वास में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—मूल का तैल बाजीकरणार्थ खिलाते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र, पूयमेह तथा प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प आदि में देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि.लि.; क्वाथ-५०-१०० मि. लि.

विशिष्ट योग—मुण्डी अर्क।

× × ×

विष्वक्मुण्डी सुगन्धि च कदम्बाभफला स्थिरा। तृणकांगुलिवतपत्रा–' (शि.)

'मुण्डी तिक्ता कटुः पाके वीर्योष्णा मधुरा लघुः। मेध्या गंडापचीकुष्ठकृमियोन्यर्त्तिपाण्डुनुत्॥
श्लीपदारुच्यपस्मारप्लीहमेदोगुदार्त्तिहृत्। महामुण्डी च तत्तुल्या गुणैरुक्ता महर्षिभिः॥
(भा. प्र.)

'मुण्डिका कटुतिक्ता स्यादनिलास्रविनाशिनी। अपचीध्नी ह्यपस्मारगण्डश्लीपदनाशिनी॥
(ध. नि.)

'पीत्वा मुण्डितिकोत्थं स्वरसं मरिचावचूर्णितं चोष्णम्।
भक्तादौ सप्ताहात् सूर्यावर्त्तार्धभेदकौ हन्यात्॥' (ग. नि.)

W. I., X, 4–5.
B. B. O., II, 496.

२६७. शिंशपा

परिचय

गण—आसवयोनिसार, कषायस्कन्ध (च); सालसारादि, मुष्ककादि (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-डैलबर्जिया सीसू (Dalbergia sissoo Roxb.); सं०-शिंशपा, कृष्णसारा, हि०-शीशम, शीशो; बं०-शिशू; म०-शिशव; गु०-सीसम, पं०-शरई; ता०-सिसु इट्टि; ते०-शिशुपा; कन्न०-बिरिडि; मल०-इरुविल; अं०-सिसू (Sissoo)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** १०० फुट तक ऊँचा तथा ८ फीट तक मोटा होता है। काण्डत्वक् धूसर या हलके भूरे रंग की, मोटी होती है जिससे लंबाई में छोटी-छोटी पर्तें छूटती रहती हैं। अन्तःकाष्ठ (सार) दृढ़, कठिन, सुनहले से कृष्णाभ भूरा तक होता है। पत्रवृन्त लम्बा और वक्र होता है जिसमें १-३ इञ्च लम्बे,

अंडाकार या लट्वाकार, ३-५ (प्रायः ५) **पत्रक** लगे रहते हैं। **पुष्प**—छोटे, पीताभ, २-३ इञ्च लम्बी, सघन, सघनरोमश, मंजरियों की शाखाओं पर लगे होते हैं। पुंकेशर ९ होते हैं। **फली**—चपटी, धूसरवर्ण, रोमश, १-४ इञ्च लम्बी, लगभग ⅓ इञ्च चौड़ी होती है जिसमें ⅓ इञ्च लम्बे, चपटे बीज, संख्या में १-३ (कभी-कभी ४) होते हैं। मार्च-अप्रिल में नये पल्लवों के साथ पुष्प निकलते हैं। फलियाँ अगले शीतकाल में पकती हैं।

इसकी पतली टहनियों को चबाया जाय तो श्वेत, पीत और अन्त में रक्त हो जाती हैं। पत्र चबाने से लुआब होता है।

जाति—इसकी एक प्रजाति D. latifolia Roxb. भी शिंशपा के नाम से प्रचलित है।

उत्पत्तिस्थान—हिमालय के निचले भाग में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—सारभाग से ५.३५% हलके भूरे रंग का स्थिर तैल निकलता है जो ठंढक से ठोस बन जाता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—कषाय, कटु, तिक्त
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह कुष्ठघ्न, कृमिघ्न और व्रणशोधन है। पत्र चक्षुष्य और रक्तस्तम्भन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—इसका मूल स्तम्भन, पत्र दीपन, अनुलोमन, स्तम्भन तथा सार कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—सार रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफघ्न है।

प्रजननसंस्थान—सार गर्भाशयसंकोचक और आर्त्तवजनन है। पत्र स्तम्भन है।

मूत्रवहसंस्थान—पत्र मूत्रल तथा मूत्रमार्ग का स्नेहन है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

तापक्रम—ज्वरघ्न और दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—सार लेखन तथा पत्र बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—कृमि, कुष्ठ आदि चर्मरोग तथा दुष्ट व्रणों में शोशम का तैल लगाते हैं। पत्रस्वरस नेत्ररोगों एवं क्षतों में देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—त्वक् का प्रयोग गृध्रसी आदि वातविकारों में करते हैं।

पाचनसंस्थान—मूल प्रवाहिका, अतिसार में; पत्र अग्निमांद्य, शूल, प्रवाहिका रक्तातिसार, वमन, रक्तार्श में तथा सारचूर्ण कृमिरोग में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—सारचूर्ण विविध रक्तविकार (फिरङ्ग, उपदंश, कण्डू, वातरक्त आदि) एवं शोथ में दिया जाता है।

श्वसनसंस्थान—हिक्का और श्वास में प्रयुक्त होता है।

प्रजननसंस्थान—सार रजोरोध, कष्टार्तव में तथा पत्रस्वरस रक्तप्रदर में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—पत्रस्वरस पूयमेह, लालामेह में देते हैं। वसामेह में सारकषाय देते हैं।

त्वचा—कुष्ठ, विसर्प, श्वित्र आदि चर्मरोगों में सारचूर्ण देते हैं।

तापक्रम—ज्वर में सारकषाय देते हैं। दाह में पत्रस्वरस दिया जाता है।

सात्मीकरण—सार मेदोरोग में तथा पत्रस्वरस पाण्डु में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पत्र, सार, त्वक्, मूल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०, चूर्ण-३-६ ग्रा०।

× × ×

'शिंशपा कृष्णसारा स्यात् वृत्तपत्राऽणुपुष्पका।
शिंबिफला गुच्छपुष्पा तद्वत् कपिलशिंशपा॥' (शि.)
शिंशपा पिच्छिला श्यामा कृष्णसारा च सा गुरुः।
कपिला सैव मुनिभिर्भस्मगर्भेति कीर्त्तिता॥'

'शिंशपा कटुका तिक्ता कषाया शोथहारिणी। उष्णवीर्या हरेन्मेदःकुष्ठश्वित्रवमिक्रिमीन्॥
बस्तिरुग्व्रणदाहास्रबलासान् गर्भपातिनी।' (भा. प्र.)

'कटूष्णं कण्डुदोषघ्नं बस्तिरोगविनाशनम्। शिंशपायुगलं वर्ण्यं हिक्काशोथविसर्पजित्॥'
(ध. नि.)

'शिंशपासारस्नेहास्तिक्तकटुकषाया दुष्टव्रणशोधनाः कृमिकफकुष्ठानिलहराश्च।'
(सु. सू. ४५)

'उदकाद् द्विगुणं क्षीरं शिंशपासारसंयुतम्। तत् क्षीरशेषं क्वथितं पेयं सर्वज्वरापहम्॥'
(सु. उ. ३९)

'वसामेहिनं शिंशपाकषायम्।' (सु. चि. ११)

W. I., III, 7–11.
B. B. C. II, 307.

३६८. सुरञ्जान

परिचय

कुल—रसोन-कुल (लिलिएसी–Liliaceae)।

नाम—लै०-कॉल्चिकम् ल्युटिअम् (Colchicum luteum Baker); हि० म० गु०-सुरंजान; क०-विरक्युम; अ०-असाबअ हुर्मुस (प्राचीन), अल्लहलाह (नवीन); फा०-सूरिंजान, जाफराने मर्गजारी; अं०-कॉल्चिकम (Colchicum)।

स्वरूप—इसका कन्द अंडाकार, गहरे भूरे रग का होता है। **पत्र**–थोड़े, फलकाल में ६-१२ इंच लंबे, ३/४-२/३ इञ्च चौड़े, गोलाग्र, पुष्पकाल में छोटे होते हैं। **पुष्प**-१-२, १-१/२ इञ्च व्यास के होते हैं। परिपुष्प से पुंकेशर छोटे तथा पुंकेशरसूत्र लंबे, पीले परागाशयों से छोटे होते हैं। कुक्षिवृन्त-परिपुष्प से बहुत बड़ा होता है। **फल**-१/२-१ इंच लंबा, फलक लंबे, मुड़े चंचुओं से युक्त होते हैं। **बीज**-२-३ मि० मी० व्यास के, अंडाकार या गोलाकार, भूरे-सफेद, तिक्त होते हैं। वसन्त में पुष्प निकलते हैं।

जाति—वर्ण और रस के भेद से हकीमों ने इसके तीन भेद किये हैं:—(१) श्वेत, (२) पीत और (३) कृष्ण। श्वेत सुरंजान रस में मधुर होता है अतः इसे सूरिंजाने शीरीं (मीठा मुरंजान) कहते हैं। पीत सुरंजान कुछ छोटा और तिक्त होता है, इसे सूरिंजाने तल्ख (कडुआ सुरंजान) कहते हैं। काला सुरंजान बिषाक्त होता है। हकीम लोग मीठा सुरंजान आभ्यन्तर प्रयोग में तथा कडुआ सुरंजान बाह्य प्रयोग में लाते हैं किन्तु आधुनिक चिकित्सा में कडुआ सुरंजान का ही आभ्यन्तर प्रयोग होता है क्योंकि यह अधिक वीर्यवान् है।

उत्पत्तिस्थान—कश्मीर, पंजाब, अफगानिस्तान आदि पश्चिमोत्तर हिमालयप्रदेश में २-९ हजार फीट की ऊंचाई तक सुरंजान होता है।

रासायनिक संघटन—सुरंजान में कॉल्चिकिन (Colchicine) नामक क्षार (०·२१-०·२५%) पाया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रचुर स्टार्च होता है।

सुरंजान की रसक्रिया से प्रस्तुत घनसत्त्व 'हरनतूतिया' के नाम से उत्तरभारत प्रसिद्ध है। यह गहरे भूरे रङ्ग का होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष
रस—तिक्त, कटु
विपाक—कटु
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर और वेदनास्थापन है। व्रणशोधन और रोपण हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—यह वातशामक है। बड़ी मात्रा में मादक और अवसादक है।

पाचनसंस्थान—यह दीपन, पित्तसारक, वामक एवं रेचक है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—आमविष का नाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—केसर और अंडे के साथ इसका लेप आमवात आदि शोथवेदनायुक्त विकारों में करते हैं। व्रणों में चूर्ण छिड़कते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—गृध्रसी, संधिवात आदि वातविकारों में देते हैं।

पाचनसंस्थान—उदररोग विशेषतः यकृत्प्लीहोदर में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त की यह प्रसिद्ध औषध है। अन्य रक्तविकारों में भी देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में प्रयुक्त होता है।

त्वचा—चर्मरोगों में उपयोगी है।

सात्मीकरण—आमवात आदि आमजन्य रोगों में इसका प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—कन्द।

मात्रा—चूर्ण (कड़ुआ) १२५–३७५ मि० ग्रा०, (मीठा) १–३ ग्रा०; सत्त्व-६०–१२० मि० ग्रा०।

विशिष्ट योग—सुरंजान-अवलेह

× × ×

सुरंजानं तु कटुकं तिक्तं वीर्योष्णमेव च।
कफवातहरं रक्तशोधनमामनाशनम्॥ (स्व.)

W. I., II, 307.
F. I., VI, 356.

३६९. खर्जूर

परिचय

गण—श्रमहर, विरेचनोपग, मधुरस्कन्ध, कषायस्कन्ध, फलासव (च०)।

कुल—नारिकेल-कुल (पामी-Palmae)।

नाम—लै०-फिनिक्स सिल्वेस्ट्रिस (Phoenix sylvestris Roxb.); सं०-खर्जूर; हि०-खजूर, बं०-खेजूर; म० गु०-खजूर; अ०-रुतंब: फा०-खुर्मा; अं०-डेट (Date)।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** ३०–५० फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**—सरल धूसरवर्ण, लगभग ३ फुट मोटा होता है जिस पर पत्रवृन्त के स्थायी मूलभाग लगे रहते हैं। **पत्र**-१०–१५ फुट लम्बा, धूसरहरित, मूलभाग में कुछ कंटकी, पक्षवत् होते हैं। पक्ष अनेक, रेखाकार, ६–१८ इञ्च लम्बे, लगभग १ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र, अभिमुख क्रम से स्थित होते हैं। **पुष्प**-एकलिंगी, अलग-अलग वृक्षों पर होते हैं। पुष्पध्वजों में छोटे, सुगन्धित पुष्प होते हैं। पुंपुष्प श्वेत और स्त्रीपुष्प हरिताभ होते हैं। फलित पुष्पध्वज ३ फीट लंबा होता है जिसपर १–१½ इञ्च लंबे, अंडाकार, नारंगी पीतवर्ण, (पकने पर रक्ताभ) फल लगते हैं। फल के भीतर एक कठिन बीज १'७ मि० मी० लंबा, दोनों सिरों पर गोलाग्र तथा गभीरपरिखायुक्त होता है। ग्रीष्म में पुष्प तथा बाद में फल लगते हैं। इसके वृक्ष से एक प्रकार का रस निकलता है उसे नीरा (खजूरी) कहते हैं। कुछ काल तक रखने से यह मद्य में परिणत हो जाता है। रस से गुड़ भी बनाया जाता है।

जाति—यह दो प्रकार का होता है। (१) खर्जूर, (२) पिंडखर्जूर। पिंडखर्जूर का फल बड़ा, मांसल होता है। पत्तियाँ अतितीक्ष्णाग्र होती है। इसका लैटिन नाम P. dactylifera Linn. है। इसी का फल सूखने पर 'छुहाड़ा' (गोस्तन खर्जूर) कहलाता है। इन्हीं तीनों को भावमिश्र ने 'खर्जूरत्रितय' कहा है भावप्रकाश ने सुलेमानी खजूर का भी उल्लेख किया है जो इसीका कोई भेद है। राजनिघण्टु में खर्जूरी, पिण्डखर्जूरी, राजखर्जूरी, मधुखर्जूरी, भूखर्जूरी ये भेद बतलाये गये हैं। भूखर्जूरी P. acaulis Roxb. या P. humilis Royle. है। P. paludosa Roxb. हिन्ताल है (बं. उ. में इसे हिताल कहते हैं)

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र होता है। पिण्डखर्जूर उत्तरी अफ्रिका, मिस्र, सीरिया और अरब का आदिवासी है। सम्प्रति पंजाब और सिन्धु में इसकी खेती की जाती है।

रासायनिक संघटन—फल में प्रोटीन १'२, वसा ०'४, कार्बोहाइड्रेट ३३'८, सूत्र ३'७, खनिज द्रव्य १'७, कैलशियम ०'०२२ तथा फास्फोरस ०'३८% होता है। नीरा में विटामिन बी और सी पर्याप्त होता है। पिण्डखर्जूर में इसकी अपेक्षा पोषक तत्त्व अधिक होते है। पके पिण्डखर्जूर में ८५% तक शर्करा होती है।

गुण

गुण—स्निग्ध, गुरु **रस**—मधुर
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका मूल वेदनास्थापन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबलदायक, मस्तिष्कशामक और वातहर है।

पाचनसंस्थान—यह स्नेहन, अनुलोमन और स्तम्भन है। अधिक खाने से विष्टम्भी है। पत्र कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य और रक्तपित्तशामक है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—श्रमहर, बल्य और बृंहण है। नीरा एवं गुड़ भी बल्य है।

वक्तव्य—ताजा नीरा बल्य, वृष्य और मूत्रल है। मद्य होने पर दीपन, पाचन और उत्तेजक होता है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—दन्तशूल में इसके मूल के क्वाथ से कुल्ला करते हैं या मूलचूर्ण लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मूर्च्छा, भ्रम, मदात्यय, मस्तिष्कदौर्बल्य तथा कटिशूल, गृध्रसी आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, छर्दि, कोष्ठगत वात तथा अतिसार में देते हैं। पत्रक्वाथ कृमि में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्दौर्बल्य और रक्तपित्त में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—उरःक्षत, कास, श्वास, हिक्का में खजूर की गुठली देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में लाभकर है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में देते हैं।

सात्मीकरण—थकावट, क्षय, शोथ में प्रयुक्त होता है। क्षयरोग में नीरा भी पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—फल, रस।

मात्रा—आवश्यकतानुसार।

× × × ×

'खर्जूरीत्रितयं शीतं मधुरं रसपाकयोः। स्निग्धं रुचिकरं हृद्यं क्षतक्षयहरं गुरु ॥
तर्पणं रक्तपित्तघ्नं पुष्टिविष्टम्भशुक्रदम्। कोष्ठमारुतहृद् बल्यं वांतिवातकफापहम् ॥
ज्वरातिसारक्षुत्तृष्णाकासश्वासनिवारकम्। मदमूर्च्छामरुत्पित्तमद्योद्भूतमदान्तकृत् ॥'
(भा. प्र.)

खर्जूरीतरुतोयं तु मदपित्तकरं भवेत्। वातश्लेष्महरं रुच्यं दीपनं बलशुक्रकृत् ॥'
(भा. प्र.)

'मधुरं बृंहणं वृष्यं खर्जूरं गुरु शीतलम्। क्षयेऽभिघाते दाहे च वातपित्ते च तद्धितम् ॥
(च. सू. २७)

'क्षतक्षयापहं हृद्यं शीतलं तर्पणं गुरु। रसे पाके च मधुरं खार्जूरं रक्तपित्तनुत् ॥
(सु. सू. ४६)

'दाहघ्नी मधुरास्रपित्तशमनी तृष्णार्त्तिदोषापहा,
शीता श्वासकफश्रमोदयहरा सन्तर्पणी पुष्टिदा।
वह्नेर्मान्द्यकरी गुरुर्विषहरा हृद्या च दत्ते बलं,
स्निग्धा वीर्यविवर्धनी च कथिता पिण्डाख्यखर्जूरिका ॥' (रा. नि.)

'घृतं खर्जूरमृद्वीकाशर्करासौद्रसंयुतम्। सपिप्पलीकं वैस्वर्यकासश्वासनिबर्हणम् ॥'
(च. चि. ८)

'खर्जूरमध्य मागध्यः···। मधुद्वितीयाः कर्त्तव्याः ते हिक्कासु विजानता ॥' (सु.उ.५०)

'क्वाथं खर्जूरपत्राणां सक्षौद्रमुषितं निशि।
पीत्वा निवारयत्याशु क्रिमिसंघमशेषतः ॥' (भै. र.)

W. I., VIII, 17–28.

३७०. मधूक

परिचय

कुल—मधूक-कुल (सैपोटेसी–Sapotaceae)।

नाम—लै०–मधूका इण्डिका (Madhuca indica J. F. Gmel.); सं०–मधूक, गुडपुष्प, हि०–महुवा, बं०–महुया, मउल; म०–मोहडा; गु०–महुडो; ता०–इल्लुपि; ते०–इप्पाचेट्टु; कन्न०–हिप्पे, मल०–इलुया; उ०–महुला; अं०–बटर ट्री (butter tree)।

स्वरूप—यह ४०–५० फीट ऊँचा **वृक्ष** होता है। **त्वक्**-कृष्णाभ धूसर, फटी हुई, अन्तःकाष्ठ रक्ताभ होता है। **पत्र**–५–६ इञ्च लंबे, १½–४½ इञ्च चौड़े, अंडाकार–आयताकार, चर्मवत्, १०–१२ सिराओं से युक्त, शाखाओं के अग्र पर समूहबद्ध होते हैं। **पुष्प**-पीताभ श्वेत, मांसल और रसमय, शाखाग्र के निकट गुच्छों में होते है बाह्यकोश–चर्मवत् होता है। **फल**-अंडाकार, १–२ इंच लंबा, कच्चे में हरा तथा पकने पर पीला या नारंगी हो जाता है। फल में १–४, गहरे भूरे रंग के, चमकीले; १–१½ इञ्च लंबे बीज होते हैं। ग्रीष्म के आरंभ में पुष्प आते हैं तथा वर्षा में फल पकते हैं। बीजों से तैल निकालते हैं तथा पुष्पों से देशी मद्य प्रस्तुत करते हैं।

जाति—एक प्रजाति जो जलीय प्रदेश में विशेषतः दक्षिण भारत में होती है

'जलमधूक' या 'मधूलक' कहलाती है। इसका लैटिन नाम B. longifolia (Koenig) Macb. है। व्यापार में दोनों प्रजातियाँ मिली-जुली चलती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह भारत में सर्वत्र ४ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—पुष्प में इक्षुशर्करा २.२%, आवर्त्तशर्करा ५२.६%, सेल्युलोज २.४%, अलब्युमिनायड २.२% भस्म तथा जल होते हैं। बीजों में ५० से ५५ प्रतिशत स्थिर तैल, वसा, कषायद्रव्य, सैपोनिन, अलब्युमिन, गोंद, स्टार्च पिच्छिल द्रव्य तथा भस्म होते हैं। भस्म में सिलिसक अम्ल, स्फुरकाम्ल तथा गंधकाम्ल, चूना, लौह, पोटाश और सोडा होते हैं। पुष्प में किण्वतत्त्व तथा किण्व भी होते हैं जिससे उसकी शर्करा शीघ्र मद्य में परिणत हो जाती है। पत्तियों में भी सैपोनिन होता है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध **रस**—मधुर, कषाय
विपाक—मधुर **वीर्य**—शीत

शुष्क पुष्प उष्ण होते हैं।

कर्म

दोषकर्म—यह वातपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका तैल वेदनास्थापन तथा कुष्ठघ्न है। पुष्पस्वरस स्नेहन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—तृष्णानिग्रहण, स्नेहन, अनुलोमन तथा स्तम्भन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्तशामक है, फल अहृद्य है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य और स्तन्यजनन है। बीजमज्जा आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह वातपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बीजों का तैल वातव्याधि तथा चर्मरोगों में लगाते हैं। पैत्तिक शिरोरोगों में मधूकस्वरस का नस्य देते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में सूखे महुए के पुष्पों का क्षीरपाक देते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, कोष्ठगत वात, अतिसार-ग्रहणी, में पुष्पस्वरस तथा त्वक्क्वाथ देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में ताजे पुष्पों का स्वरस देते हैं।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास और हिक्का में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में तथा स्तन्यवृद्धि के लिए प्रयुक्त होता है। बीजमज्जा की वर्त्ति रजोरोध में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में उपयोगी है।

तापक्रम—ज्वर और दाह में लाभकर है।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय और शोष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पुष्प, बीज, तैल।

मात्रा—पुष्पस्वरस-१०-२० मि० लि०, त्वक्क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—मधूकासव।

× × ×

'मधूकपुष्पं मधुरं शीतलं गुरु बृंहणम्। बलशुक्रकरं प्रोक्तं वातपित्तविनाशम् ॥'
फलं शीतं गुरु स्वादु शुक्रलं वातपित्तनुत्। अहृद्यं हन्ति तृष्णास्रदाहश्वासक्षतक्षयान् ॥'
(भा. प्र.)

'रक्तपित्तहराण्याहुर्गुरूणि मधुराणि च। बृंहणीयमहृद्यं च मधूककुसुमं गुरु ॥
वातपित्तोपशमनं फलं तेनोपदिश्यते।' (सु. सु. ४६)
'मधूकपुष्पस्वरसं शृतमर्धक्षयीकृतम्। क्षौद्रपादयुतं शीतं पूर्ववत् सन्निधापयेत् ॥
तं पिबन् ग्रहणीदोषान् जयेत् सर्वान् हिताशनः।' (च. चि. १६)
'सद्यश्च्युतं स्थूलमधूकपुष्पं संशोधितं केशरधूलिवर्जितम्।
संपाचितं शुभ्रसिताघृताभ्यां सजीरकं जीवनदं हि जीविनाम् ॥' (क्षे. कु.)

३७१. छत्रक

परिचय

कुल—छत्रक-कुल (एगेरिकेसी–Agaricaceae)

नाम—लै०-एगेरिकस कैम्पेस्ट्रिस (Agaricus campestris Linn.); सं०-छत्रक; हि०-खुमी, गुच्छी; म०-अलम्बे; गु०-बिलाडीनो टोप; खुम (क्षुम्प ?); ता०-नईककोडाई; ते०-कुक्कागोड्गु।

स्वरूप—यह एक छत्राकार छोटा क्षुप है जो बरसात में सड़े-गले पदार्थों पर उगता है। इसका मध्य दंड श्वेत, छोटा और ठोस होता है तथा शीर्ष या मध्य में एक मुद्रिका होती है। उष्णीय (cap) गोला, फिर उन्नतोदर और बाद में चपटा हो जाता है। श्वसनक (gills) प्रारंभ में श्वेत किन्तु बाद में गुलाबी, भूरे और काले हो जाते हैं। इसका साग खाते हैं।

जाति—इसकी अनेक जातियाँ होती हैं जिनमें कुछ विषाक्त और कुछ निर्विष होती हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह उत्तरी तथा पूर्वी भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—इसमें आर्द्रता ९५·२, प्रोटीन २·७४, कार्बोहाइड्रेट १·६, वसा ०·३६ भस्म ०·१५ प्र० श० होती है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध, पिच्छिल — **रस**—मधुर

विपाक—मधुर — **वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह वातपितशामक तथा कफवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-प्रजननसंस्थान—वाजीकरण है।

सात्मीकरण—बृंहण और बल्य है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—वातपैत्तिक रोगों में देते हैं।

संस्थानिक प्रयोग-प्रजननसंस्थान—शुक्रदौबल्य में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—क्षय, शोष में इसका क्षीरपाक कर देते हैं।

प्रयोज्य अंग—पञ्चांग।

मात्रा—आवश्यकतानुसार

वक्तव्य—पिच्छिलता के कारण अधिक सेवन करने से ये आमदोष तथा अत्यधिक उत्पन्न करते हैं। अतः समयोग से इसका सेवन करना चाहिए।

× × ×

'सर्पच्छत्रकवर्ज्यास्तु बह्व्योऽन्याश्छत्रजातयः।
शीताः पीनसकर्ण्यश्च मधुरा गुर्व्य एव च॥' (च. सू. २७)

W. I., IV, 84–85.

लेखन (कर्शन)

३७२. चिरबिल्व

परिचय

गण—लेखनीय, भेदनीय (च०) श्लेष्मसंशमन (सु०)।

कुल—चिरबिल्व-कुल (Ulmaceae)।

नाम—लै०-होलोप्टेलिया इण्टेग्रिफोलिया (Holoptelea integrifolia Planch.); सं०-चिरबिल्व, करञ्जी; हि०-चिलबिल; म०-बावली; ता०-आपा; ते०-नेविलि, कन्न०-नीलवाही, मल-आवल; उ०-घरञ्जी।

स्वरूप—इसका **वृक्ष** मध्यम प्रमाण का होता है। छाल में उभार तथा शाखायें श्वेताभ होती हैं। **पत्र**—१–८ इञ्च लम्बे, २–४ इञ्च चौड़े, अण्डाकार-लट्वाकार, लंबाग्र होते हैं। हरी पत्तियों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं तथा शुष्क पत्तियों के अधर पृष्ठ पर छोटे बिन्दुवत् उभार होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हरे-पीले, गुच्छों में होते हैं। **फल**—प्रायः वृत्ताकार, झिल्लीदार पंख से युक्त होता है। **बीज** चपटे होते हैं। वसन्त में पुष्प और बाद में फल आते हैं। पत्र तथा छाल में मसलने पर दुर्गन्ध होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत में २ हजार फीट की ऊँचाई तक में पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों से ३७·४% एक पीला तेल निकलता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष — **रस**—तिक्त, कषाय

विपाक—कटु — **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, अनुलोमन, पित्तसारक, भेदन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

त्वचा—कुष्ठघ्न है।

सात्मीकरण—लेखन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसकी छाल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, छर्दि, उदररोग, शूल, गुल्म, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकारों में देते हैं।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में उपयोगी है।

त्वचा—कुष्ठ आदि चर्मरोगों में प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—मेदोरोग में देते हैं।

प्रयोज्य अंग—त्वक् ।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०

× × ×

'करञ्जी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी । वीर्योष्णा वमिपित्तार्शः कृमिकुष्ठप्रमेहजित् ॥
(भा. प्र.)

W. I., V, 109.
B. B. O., iii, 847.

३७३. हैमवती

परिचय

गण—लेखनीय, मूलिनी (च०); मुस्तादि (सु०) ।

कुल—केशर-कुल (आइरिडेसी–Iridaceae) ।

नाम—लै०–आइरिस एनसाटा (Iris ensata Thunb.); सं०–हैमवती, पारसीक वचा; हि०–बालबच; म०–बालवेखंड; गु०–बालवज; क०–मजारपोश. मजारमुण्ड, अ०–ईरसा, सौसन; अं०–ओरिस रूट (Oris root)

स्वरूप—इसका छोटा **क्षुप** वचा के सदृश होता है। काण्ड छोटे, गुच्छों में या १½–२ फीट लंबा; **पत्र**–१½ फीट लंबे, ¼–½ इञ्च चौड़े होते हैं। **पत्रकोष**–३–४ इञ्च लंबे, एक से तीन में विभक्त, इसके फलक भालाकार, हरितवर्ण होते हैं। **पुष्प**–सवृन्त, नीलवर्ण या श्वेत, अण्डाशय १ इंच लंबा, बेलनाकार; **फल**–१½–३ इञ्च लंबा, ½–¾ इञ्च चौड़ा, ६ पर्शु की, चंचुयुक्त होते हैं। मूल लंबगोल, गाँठदार और सफेद होता है तथा उससे बनफशे की तरह सुगंध आती है।

जाति—इसकी एक अन्य प्रजाति I. nepalensis D. Don. भी हिमालय प्रदेश में होती है। एक विदेशी प्रजाति I. germanica Linn. का ईरान से आयात होता है किन्तु अब थोड़ा बहुत कश्मीर में उगाया जाता है।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिमी हिमालय में ५ से ९ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है। कश्मीर में यह प्रायः मुसलमानों की कब्रों पर देखने में आता है, अतः इसे मजारपोश (कब्र का फूल) या मजारमुण्ड (कब्र की जड़) कहते हैं।

रासायनिक संघटन—इसमें एक सुगन्धित तैल तथा रंजक द्रव्य होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—कटु, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह शोथहर, वेदनास्थापन, विषघ्न, व्रणशोधन और लेखन है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाडीसंस्थान का उत्तेजक और वातशामक है।

पाचनसंस्थान—दीपन, पाचन, पित्तसारक और अनुलोमन है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—आर्त्तवजनन है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—शीतप्रशमन है।

सात्मीकरण लेखन और विषघ्न है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातज विकारों मे प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—वृषणशोथ, गंडमाला, आमवात, जीर्ण व्रण, चर्मरोग, खालित्य एवं प्राणियों के दंशस्थान पर लगाते हैं।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—पक्षाघात, अर्दित आदि वातविकारों में प्रयुक्त होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, यकृत्प्लीहावृद्धि और उदरशूल में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तविकार तथा शोथ और गंडमाला में प्रयुक्त होता है।

श्वसनसंस्थान—प्रतिश्याय, कास, श्वास, फुफ्फुसशोथ, पार्श्वशूल में यह उपयोगी है।

प्रजननसंस्थान—रजोरोध, कष्टार्त्तव में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्राघात में देते हैं।

तापक्रम—शीतज्वर में लाभकर है।

सात्मीकरण—मेदोरोग और विषों में प्रयोग करते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—·५–१ ग्रा०

× × ×

'पारसीकवचा शुक्ला प्रोक्ता हैमवतीति सा। हैमवत्युदिता तद्वद्वातं हन्ति विशेषतः॥'
(भा. प्र.)

F. I., VI, 272.
W. I., V, 254–55.

अंगमर्दप्रशमन

३७४. शालपर्णी

परिचय

गण—अंगमर्दप्रशमन, बल्य, स्नेहोपग, श्वयथुहर, मधुरस्कंध (च०); विदारिगन्धादि, लघुपंचमूल (सु०) ।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae) ।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae) ।

नाम—लै०–डेस्मोडियम गैंगेटिकम् (Desmodium gangeticum DC.) सं०–शालपर्णी (शालवृक्ष के पत्तों के सदृश पत्र होने के कारण), विदारिगंधा, अंशुमती, हि०–सरिवन, बं०–शालपानि; म०–सालवण; गु०–शालवण; ते०–गीतनारम्; ता०–पुल्लादि; मल०–पुल्लाटि ।

स्वरूप—इसका छोटा क्षुप २–४ फुट ऊँचा होता है। **काण्ड**-किंचित् कोणयुक्त होता है। **पत्र**-शालपत्र के सदृश, भालाकार, आयताकार या लट्वाकार, एक पत्रकीय, ३–६ इञ्च लंबे, ½–२ इञ्च चौड़े, तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका निचला पृष्ठ फीके रंग का और रोमश होता है। **पुष्प**-बैंगनी या सफेद, छोटे, ६–१२ इञ्च लंबी अक्षीय या अन्त्य मंजरियों में रहते हैं। **शिम्बी**-पतली, चपटी, टेढ़ी, ६–८ संधियों की और वक्र रोमों से आवृत होती है जिससे यह कपड़ों में चिपक जाती है। प्रायः वर्ष भर, विशेषतः मई–जून में पुष्प-फल देखे जाते हैं।

वक्तव्य—अनेक पौधे शालपर्णी के नाम से व्यवहृत होते हैं। इनमें कुछ डेस्मोडियम की प्रजातियाँ हैं यथा D. polycarpum DC.। युरेरिया की प्रजाति यथा U. lagopoides DC. और U. hamosa Wall. को भी सालपानी कहते हैं। फ्लेमिञ्जिया जाति के कुछ पौधे यथा F. paniculata Wall, F. stricta Roxb. भी सालपानी नाम से प्रचलित हैं।

उत्पत्तिस्थान यह समस्त भारत में ५ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

रासायनिक संघटन—मूल में एक पीत राल, तैल, क्षाराभ तथा ६ प्रतिशत भस्म होती है।

गुण

गुण—गुरु, स्निग्ध
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है। स्निग्ध-उष्ण होने से वात, मधुर होने से पित्त तथा तिक्त होने से कफ को शान्त करता है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—यह नाडीबल्य है।

पाचनसंस्थान—दीपन, स्नेहन, अनुलोमन, स्तम्भन एवं कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, शोथहर और शोणितस्थापन है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न है।

सात्मीकरण—बल्य, बृंहण, रसायन और अङ्गमर्दप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—नाडीदौर्बल्य तथा वातव्याधि में देते हैं।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, कोष्ठवात, अर्श, अतिसार, वमन तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार तथा शोथ में उपयोगी है। हृदयशूल में शालपर्णी का क्षीरपाक कर प्रयोग करते हैं।

श्वसनसंस्थान—उरःक्षत, कास एवं यक्ष्मा में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में दिया जाता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र और प्रमेह में लाभकर है।

तापक्रम—विषमज्वर में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, क्षय, शोष एवं अङ्गमर्द में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—पञ्चाङ्ग।

मात्रा—क्वाथ ५०–१०० मि.लि.

विशिष्ट योग—शालपर्ण्यादि क्वाथ।

× × ×

'शालपर्णी स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा।
विदारिगन्धा दीर्घाङ्ग्रिर्दीर्घपत्रांशुमत्यपि ॥
शालपर्णी गुरुश्छर्दिज्वरश्वासातिसारजित्। शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी ॥'
तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासकृमिप्रणुत्।' (भा. प्र.)
'शालपर्णी रसे तिक्ता गुरूष्णा वातदोषजित्। विषमज्वरमेहार्शःशोथसंतापनाशिनी ॥'
(रा. नि.)

'विदारिगन्धा वृष्यसर्वदोषहराणाम्।' (च. सू. २५)

B. B. O., II, 276.

३७५. पृश्निपर्णी

परिचय

गण—अंगमर्दप्रशमन, संधानीय, शोथहर, मधुरस्कन्ध (च०), विदारिगंधादि, हरिद्रादि, लघुपंचमूल (सु०)।

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminosae)।

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)।

नाम—लै०-युरेरिया पिक्टा (Uraria picta Desv.); सं०-पृश्निपर्णी (पतली, लंबी पत्तियाँ), पृथक्पर्णी, कलशी, धावनी, गुहा, शृगालविन्ना (शृगाल-पुच्छवत् पुष्पमञ्जरी); चित्रपर्णी, अंघ्रिपर्णी; हि०-पिठवन; बं०-शंकरजटा; म०-पिठवण; गु०-पीठवण; ता०-कोलपोन्ना; ते०-कोल्कुपोन्ना।

स्वरूप—इसका छोटा **क्षुप** २-४ फुट ऊँचा होता है। पत्र संयुक्त, विभिन्न आकार के, नीचे के गोलाई लिए तथा ऊपर के लंबे होते हैं। **पत्रक**-४-६ (कभी-कभी ९), ३-६ इञ्च लंबे, रेखाकार होते हैं जिन पर सफेद रंग की चौड़ी धारियाँ होती हैं। **पुष्प**-छोटे, रक्तवर्ण या बैंगनी, ३-४ इञ्च लंबी सघन मंजरी में लगते हैं। फल आने पर ये मंजरियाँ शृगालपुच्छाकार मालूम होती है। **फली**-३-६ पर्वयुक्त, चिकनी प्रायः श्वेताभ होती है। **बीज**-वृक्काकार, पीताभ, १-१२ होते हैं। वर्षा में पुष्प और बाद में फल होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह समस्त भारत की शुष्क भूमि तथा खुले जंगलों में ६ हजार फीट की ऊँचाई तक होता है।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध
रस—मधुर, तिक्त
विपाक—मधुर
वीर्य—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषशामक है।

संस्थानिक कर्म-नाडीसंस्थान—नाडीबल्य और वातहर हैं।

पाचनसंस्थान—यह तृष्णाशामक, दीपन, अनुलोमन और ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—हृद्य, शोणितस्थापन और शोथहर है।

श्वसनसंस्थान—कफनिःसारक है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रल है।

तापक्रम—ज्वरघ्न, दाहप्रशमन है।

सात्मीकरण—बल्य, संधानीय और अङ्गमर्दप्रशमन है। विषघ्न भी है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-नाडीसंस्थान—वातव्याधि में प्रयोग करते हैं।

पाचनसंस्थान—तृष्णा, कोष्ठवात, रक्तातिसार, रक्तार्श तथा ग्रहणी में देते हैं।

रक्तवहसंस्थान—हृद्रोग, रक्तविकार, वातरक्त तथा शोथ में उपयोगी है।

श्वसनसंस्थान—कास, श्वास में लाभकर है।

प्रजननसंस्थान—शुक्रदौर्बल्य में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है।

तापक्रम—ज्वर तथा दाह में देते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य, शोष, अंगमर्द में प्रयुक्त होता है। सर्पविष में भी देते हैं। अस्थिभग्न में मांसरस से इसका मूलक्वाथ देते हैं।

प्रयोज्य अंग—मूल।

मात्रा—क्वाथ-५०-१०० मि० लि०।

विशिष्ट योग—दशमूलारिष्ट।

× × ×

'क्षुपा सशिंबा सत्पत्रा वर्षान्ते च भवेत्तु सा।
कटुस्वाद्वणुबीजा स्यात् लोके पीठवनी मता॥' (कै. नि.)

'पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यंघ्रिपर्णिका। क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनी गुहा॥
पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुरा सरा। हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारतृड्वमीः॥' (भा. प्र.)

'पृश्निपर्णी रसे स्वादुर्लघूष्णाऽस्त्रत्रिदोषजित्। कासश्वासप्रशमनी ज्वरतृड्दाहनाशिनी॥' (ध. नि.)

'पृश्निपर्णी सांग्राहिक-वातहर-दीपनीय-वृष्याणाम्'। (च. सू. २५)

'मूलं शृगालविन्नायाः पीत्वा मांसरसेन तु।
चूर्णीकृत्य त्रिसप्ताहादस्थिभग्नमपोहति॥' (भा. प्र.)

B. B. O., II, 267.

३७६. मेथिका

परिचय

गण—चतुर्बीज (भा० प्र०)

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी–Leguminoseae)

उपकुल—अपराजिता-उपकुल (पैपिलिओनेटी–Papilionatae)

नाम—लै०-ट्राइगोनेला फीनमग्रीकम (Trigonella foenum-graecum Linn.); सं०-मेथिका, मेथी, पीतबीजा; हि०-मेथी; ते०-मेंतिकूरा (क्षुप),

मेन्तुलु (बीज); ता०—वेन्दयम्; कन्न०—मेन्तिया; मल०—वेन्तियम्; अं०—फैनुग्रीक (Fenugreek)।

स्वरूप—इसका उग्रगन्धि किञ्चित् रोमश क्षुप १-२ फुट ऊँचा होता है। **पत्र**-पक्षवत्, त्रिपत्रक होते हैं। **पत्रक**-आयताकार-अभिभालाकार, किञ्चित् दन्तुर, गोलाग्र, $\frac{3}{4}$-१$\frac{1}{4}$ इञ्च लम्बे होते हैं। **पुष्प**-श्वेत या पीताभ, अवृन्त, १ या २ एक साथ, नये पत्रों के अक्ष में लगते हैं। **शिम्बी**-पहले सीधी, बाद में हँसुआकृति, ३-४ इञ्च लम्बी, पतले लम्बे चंचु से युक्त होती है। प्रत्येक शिम्बी में १०-२० पीताभ भूरे, आयताकार बीज होते हैं जिसके एक कोने में गहरा खात होता है। जनवरी-मार्च में पुष्प-फल लगते हैं।

जाति—व्यवहार में एक छोटी और दूसरी बड़ी जाति होती है। छोटी का उपयोग साग-सब्जी में तथा बड़ी, जिसे पंजाब में 'मेथा' कहते हैं, का उपयोग पशुओं के लिए चारे के रूप में होता है।

निघण्टुओं ने इसके ग्राम्य और वन्य भेद भी किये हैं। कृषि से प्राप्त ग्राम्य तथा स्वयंजात वन्य मेथिका है। वन्य मेथिका घोड़ों के लिए प्रशस्त बतलाई है जिसे धन्वन्तरिनिघण्टु में अहित्थ भी कहा गया है। यह वस्तुतः हिस्फित्थ है जो आयुर्वेद में 'अश्वबला' नाम से वर्णित है। इसका लै० नाम मेडिकागो सेटाइवा (Medicago sativa Linn.) है।

उत्पत्तिस्थान—यह पंजाब, कश्मीर में वन्य रूप में तथा भारत में प्रायः सर्वत्र उगाई जाती है। इसका मूलस्थान इथिओपिया कहा जाता है।

रासायनिक संघटन—बीजों में आर्द्रता १३·७, प्रोटीन २६·२, वसा ५·८, सूत्र ७·२, कार्बोहाइड्रेट ४४·१, भस्म ३·० प्रतिशत होते हैं। खनिजों में कैल्शियम फास्फरस, लौह, सोडियम तथा पोटाशियम होते हैं। अनेक विटामिन भी होते हैं। बीजों में एक दुर्गन्धि एवं तिक्त स्थिर तैल ६-८% तथा भूरे रङ्ग का उग्रगन्धि उड़नशील तैल स्वल्प परिमाण में होता है। पत्तियों में भी अनेक पोषक तत्त्व होते हैं।

गुण

गुण—लघु, स्निग्ध   **रस**—कटु
विपाक—कटु   **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—स्निग्ध, उष्ण होने से विशेषतः वातशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका लेप वेदनाहर तथा शोथनाशन है।
आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—नाड़ियों के लिए बलप्रद है।
पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन तथा शुलप्रशमन है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तपित्तकोपक है।
प्रजननसंस्थान—यह स्तन्यजनन है।
सात्मीकरण—बल्य एवं अंगमर्दप्रशमन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—विशेषतः वातिक विकारों में उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—पीडा, शोथ, विद्रधि आदि में इसे पीस कर गरम लेप लगाते हैं।

आभ्यन्तर—नाडीदौर्बल्य में प्रयोग होता है।

पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, कोष्ठगत वातवृद्धि तथा शूल में इसके चूर्ण का प्रयोग करते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में इसका प्रयोग वर्जित है।

प्रजननसंस्थान—प्रसव के बाद स्तन्यवृद्धि के लिए प्रसूता स्त्रियों को मेथी-मोदक खिलाते हैं।

सात्मीकरण—दौर्बल्य तथा उसके कारण समस्त शरीर में अंगमर्द होने पर इसे खिलाते हैं।

प्रयोज्य अङ्ग—पञ्चाङ्ग, बीज
मात्रा—बीजचूर्ण-१-३ ग्राम
विशिष्ट योग—मेथीमोदक

हरे पञ्चाङ्ग का प्रयोग सब्जियों में तथा बीजों का सब्जियों में छौंक देने के लिए करते हैं।

× × × ×

मेथिका कटुरुष्णा च रक्तपित्तप्रकोपनी।
अरोचकहरा दीप्तिकरी वातप्रणाशिनी॥ (ध. नि.)
मेथिका वातशमनी श्लेष्मघ्नी ज्वरनाशिनी।
ततः स्वल्पगुण वन्या वाजिनां सा तु पूजिता॥ (भा. प्र.)

W. I., X, 299-306.
B. B. O., II, 245,

व्रणरोहण

३७७. मांसरोहिणी

परिचय

गण—बल्य (च०), न्यग्रोधादि (सु०)।
कुल—निम्ब-कुल (मेलिएसी-Meliaceae)।
नाम—लै०-सॉयमिडा फेब्रिफ्युजा (*Soymida febrifuga* A. Juss)।

सं०-मांसरोहिणी, हि०-रोहण; बं०-रोहन; गु०-रोण, रोहणी; ता०-शेम्; ते०-सोन्दिा मानु; कन्न०-सुआनी मानु; अं०-इण्डियन रेड वुड (Indian red wood)।

स्वरूप—इसका वृक्ष ७०-८० फीट ऊँचा तथा ८-१० फीट मोटा होता है। **पत्र**-समपक्षवत्, ६-१८ इञ्च लम्बे, शाखाओं के अग्र पर समूहबद्ध होते हैं। **पत्रक**-३-६, १$\frac{1}{2}$-५ इञ्च लम्बे, $\frac{3}{4}$-२$\frac{1}{2}$ इञ्च चौड़े, अंडाकार या आयताकार, गोलाग्र, विषमाधार होते हैं। पत्रसिरायें-१०-१४ होती हैं। **पुष्प**-छोटे, उभयलिङ्गी, हरिताभ श्वेत, बड़ी अन्त्य मंजरियों में होते हैं। **फल**-मृदङ्गाकार, सेव के बराबर, भूरे कृष्णवर्ण होते हैं जिनके भीतर अनेक सपक्ष बीज होते हैं। छाल दृढ़, रक्तवर्ण होती है तथा क्षत करने से रक्त के सदृश स्राव निकलता है।

उत्पत्तिस्थान—यह पर्वतों पर तथा शुष्क वनों में देखा जाता है। विशेषतः पश्चिमोत्तर, मध्य एवं दक्षिण भारत में होता है।

रासायनिक संघटन—छाल में एक तिक्त रालीय पदार्थ, टैनिन (१७·४१%) होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—कषाय, कटु
विपाक—कटु　　**वीर्य**—शीत

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तशामक है।
संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और व्रणरोपण है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—स्तम्भन है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तस्तम्भन है।
तापक्रम—ज्वरघ्न विशेषतः विषमज्वरप्रतिबन्धक है।
सात्मीकरण—सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।
संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—शोथ में इसका लेप करते हैं। इसके क्वाथ से व्रणों का प्रक्षालन करते हैं। मुख एवं दन्त के रोगों में इससे गण्डूष करते हैं। प्रदर में इसकी उत्तरबस्ति देते हैं। फल व्रणों के सवर्णीकरण में भी प्रयुक्त होता है।
आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अतिसार, प्रवाहिका में प्रयुक्त होता है।
रक्तवहसंस्थान—रक्तपित्त में उपयोगी है।
तापक्रम—जीर्णज्वर तथा विषमज्वर में दिया जाता है। मलेरिया में इसकी छाल का काढ़ा २५ मि० लि० की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न, मांसक्षत तथा उरःक्षत आदि में प्रयुक्त होता है।
प्रयोज्य अंग—त्वक्।
मात्रा—चूर्ण ३-६ ग्रा०, क्वाथ २५-५० मि० लि०।
अहित प्रभाव—अधिक मात्रा में देने से भ्रम, संज्ञानाश, तन्द्रा आदि उपद्रव होते हैं।
निवारण—इसके निवारण के लिए स्निग्ध-मधुर वातशामक उपचार करना चाहिए।

× × × ×

'स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा। रसे पाके तु कटुका तुवरा शीतला च सा॥'
(भा. प्र.)

'सप्तरात्रं स्थितं क्षीरे छागले रोहिणीफलम्। तेनैव पिष्टं सुश्लक्ष्णं सवर्णकरणं हितम्॥'
(सु. चि. १)

W. I., IX, 571-72.
1. Sanjiva Rao: D. Ay. M. Thesis, B. H. U., 1966.

अस्थिसन्धानीय

३७८. अस्थिशृंखला

परिचय

कुल—द्राक्षा-कुल (वाइटेसी-Vitaceae)।
नाम—लै०-सिसस क्वैड्रङ्गुलेरिस (Cissus quadrangularis Linn.), सं०-अस्थिशृंखला, अस्थिसंहारी, वज्रवल्ली, हि०-हड़जोड़; बं०-हाड़जोड़ा; म०-कांडवेल; गु०-हाडसांकल; ता०-पिण्डयि; ते०-नल्लेरु; कन्न०-मंगरोली; अं०-एडिबुल-स्टेम्ड वाइन (Edible-stemmed vine)।
स्वरूप—इसकी पर्वयुक्त, लंबी, मांसल, आरोहिणी लता होती है। **काण्ड**-हरा, चतुष्कोण और बीच-बीच में पर्वयुक्त होता है (कुछ पर्वों पर एक तन्तु होता है) जिससे देखने में शृङ्खला (सांकल) के सदृश प्रतीत होता है। **पत्र**-थोड़े, हृदयाकृति, १-२$\frac{1}{2}$ इञ्च लम्बे, ह्रस्ववृन्त, कभी-कभी ३-५ भागों में विभक्त, दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-छोटे, हरिताभ श्वेतवर्ण, रोमश, छोटी मंजरियों में होते हैं। **फल**-गोल, रक्तवर्ण, रसयुक्त तथा मटर के बराबर, $\frac{1}{4}$ इञ्च व्यास के, एकबीजी होते हैं। पुष्प वर्षाऋतु में तथा फल शीतकाल में होता है। लता का एक पर्व जमीन में गाड़ने में पर लता उग आती है। श्रीलंका तथा दक्षिण भारत में इसके काण्ड का शाक बना कर खाते हैं।
उत्पत्तिस्थान—यह भारत के उष्ण प्रदेशों में होता है।
रासायनिक संघटन—इसके शुष्क पौधे में अद्रिता १३·१, प्रोटीन १२·८,

वसा १, सूत्र १५·६, कार्बोहाइड्रेट ३६·६, राख १८·२, मुसिलेज तथा पेक्टिन १·२ प्रतिशत होता है। विटामिन सी प्रचुर होता है। इसकी भस्म में सोडियम, पोटासियम, मैगनेशियम और कैल्सियम के कार्बोनेट एवं फास्फेट होते हैं। ताजे काण्ड में कैल्शियम आक्जलेट के स्फटिक होते हैं।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष　　**रस**—मधुर
विपाक—मधुर　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक और पित्तवर्धक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह स्तम्भन और संधानीय है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, पाचन, अनुलोमन और कृमिघ्न है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तशोधक और रक्तस्तम्भन है।

प्रजननसंस्थान—वृष्य है।

सात्मीकरण—सन्धानीय है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफवातिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—अस्थिभग्न, अभिघातज शोथ आदि में इसका लेप करते हैं या इससे सिद्ध तैल का अभ्यंग करते हैं। नाक से खून आने पर इसके स्वरस का नस्य लेते हैं। कर्णस्राव में इसका रस कान में देते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—अग्निमांद्य, अजीर्ण, अर्श तथा कृमि में प्रयुक्त होता है।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, फिरंग, उपदंश में तथा रक्तस्राव में देते हैं।

प्रजननसंस्थान—वाजीकरणार्थ तथा प्रदर में यह उपयोगी है।

सात्मीकरण—अस्थिभग्न में इसका स्वरस पिलाते हैं।

प्रयोज्य अंग—काण्ड।

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि. लि.।

विशिष्ट योग—अस्थिसंहारतैल।

× × ×

'अस्थिसंहारकः प्रोक्तो वातश्लेष्महरोऽस्थियुक्।
उष्णः सरः कृमिघ्नश्च दुर्नामघ्नोऽक्षिरोगहृत् ॥
रूक्षः स्वादुर्लघुर्वृष्यः पाचनः पित्तलः स्मृतः। भिषग्वरैर्यथानामफलं चापि प्रकीर्त्तितम् ॥
'काण्डं त्वग्विरहितमस्थिशृङ्खलायाः माषार्द्रद्विदलमकल्कुकं तदर्धम्।
संपिष्टं तदनु ततस्तिलस्य तैले संपक्वं वटकमतीव वातहारि ॥' (भा. प्र.)

'वज्रवल्ली सरा रूक्षा कृमिदुर्नामनाशिनी। दीपन्युष्णा विपाकेऽम्ला स्वाद्वी वृष्या बलप्रदा ॥
अस्थिसंधानजननी वातश्लेष्महरा लघुः।' (कै. नि.)
'अर्शसां तु विशेषेण हिता चैवाग्निदीपनी। चतुर्धारा काण्डवल्ली भूतोपद्रवकुष्ठहा ॥'
(नि. र.)

'सघृतेनास्थिसंहारम्……। संधियुक्तेऽस्थिभग्ने च पिबेत् क्षीरेण मानवः ॥' (च. द.)

W. I.. II, 184.
B. B. O., I 207.
K. N. udupa etal : J. I. M. A., 39 : 590–93, June, 1962.

शोषहर

३७९. रुदन्ती

परिचय

कुल—वरुण-कुल (कैपरिडेसी-Capparidaceae)।

नाम—लै०-कैपरिस मूनी (Capparis moonii Wight.); हि०-रुदन्ती;

स्वरूप—इसकी बड़ी काष्ठीय, कंटकित, आरोहिणी लता होती है। **पत्र**-३-६ इञ्च लंबे, १½-२½ इञ्च चौड़े, चर्मवत् होते हैं। **पुष्प**-श्वेत, अन्त्य मंजरियों में, ६-१२ पुष्प एक साथ होते हैं। **फल**-२-४ इञ्च व्यास के, धूसर या रक्तवर्ण, प्रायः गोलाकार या अभिलट्वाकार होते हैं जिनमें सेम के बीज के आकार एवं परिमाण के अनेक बीज होते हैं।

जाति—इसकी एक और प्रजाति C. roxburghii DC. इससे मिलती जुलती है।

उत्पत्तिस्थान—पश्चिम भारत में समुद्रतटवर्ती प्रदेशों में पाया जाता है।

गुण

गुण—लघु, तीक्ष्ण　　**रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु　　**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह रस से पित्त तथा वीर्य से कफवात का शमन करता है इस प्रकार त्रिदोषहर है।

संस्थानिक कर्म-आभ्यन्तर-श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर तथा शोषहर है।

सात्मीकरण—रसायन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थनिक प्रयोग-आभ्यन्तर—कास, श्वास तथा राजयक्ष्मा में उपयोगी है।

सात्मीकरण—यह क्षय, शोष में प्रयुक्त होता है।

प्रयोज्य अंग—फल

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०

× × ×

रसायनं च तज्ज्ञेयं जराव्याधिनाशनम्। यथाऽमृता रुदन्ती च गुग्गुलुश्च हरीतकी॥
(शा०)

ज्ञेया रुदन्ती शोषघ्नी तिक्तोष्णा तुवरा परम्। रसायनं त्रिदोषघ्नी राजयक्ष्मणि शस्यते॥
(स्व०)

F. I., I, 174.
M. P. I, 179.

३८०. वाकेरी

परिचय

कुल—शिम्बी-कुल (लेग्युमिनोसी-Leguminosae)

उपकुल—कंटकीकरंज-उपकुल (Caesalpinioidae)

नाम—लै०-सीललपिनिया डाइगिना (Caesalpinia digyna Rottl.); हि०-वाकेरी; बं०-उमुलकुट्टी, ते०-नुनेगच्चा; उ०-गिलो; अं०-टेरी (Teri)।

स्वरूप—इसका कंटकित गुल्म होता है। **पत्र**-½-¾ फीट लंबे; पत्रक-सघन, आयताकार, गोलाग्र, अवृन्त, ⅙-½ इञ्च लंबे होते हैं। **पुष्पमञ्जरी**-पत्र के बराबर या बड़ी होती है। पुंकेशर कुछ बाहर निकलते है। **फली**-आयताकार, चिकनी, १½-२ इञ्च लंबी, २-४ बीजयुक्त, बीच-बीच में संकुचित होती है।

उत्पत्तिस्थान—यह बंगाल, आसाम तथा अन्दमन में पाया जाता हैं।

रासायनिक संघटन—फलियों में टैनिन ५३.३-५९.६% होता है। बीजों में स्नेह २५.६, प्रोटीन १४.८ तथा स्टार्च ४१.१ प्रतिशत होता है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष	**रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु	**वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह त्रिदोषघ्न हैं।

संस्थानिक कर्म—श्वसनसंस्थान—यह कासहर, श्वासहर तथा क्षयघ्न है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—शोषहर है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह त्रिदोषज विकारों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-श्वसनसंस्थान—कास, श्वास तथा रागयक्ष्मा में प्रयुक्त होता है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेह में लाभकर है।

सात्मीकरण—शोष में उपयोगी है।

प्रयोज्य अंग—मूल

मात्रा—चूर्ण-३-६ ग्रा०

× × × ×

वाकेरी तु त्रिदोषघ्नी शोषघ्नी तुवरा परम्।
शस्यते गंडमालायां प्रमेहे राजयक्ष्मणि॥ (स्व.)

F. I., II, 256.
W. I., II, 4.

रक्तार्बुदनाशन (Anti-cancer)

३८१. सदंपुष्पा

परिचय

कुल—करवीर-कुल (एपोसाइनेसी-Apocynaceae)

नाम—लै०-लोचनेरा रोजिया (Lochnera rosea (Linn.) Reichb.); सं०-सदंपुष्पा; हि०-सदाबहार, सदासुहागिन; बं०-नयनतारा; म०-सदाफूल; ता०-सुदुकदु मल्लिकाई; ते०-बिलागन्नेरु; मल०-उशामलारी; पं०-रतनजोत; अं०-मैडागास्कर पेरिविंकल (Madagascar periwinkle)।

स्वरूप—इसका वर्षायु या बहुवर्षायु **क्षुप** १-३ फीट ऊँचा होता है। **पत्र**-अभिमुख, अण्डाकार या अभिलट्वाकार, चिकने होते हैं। **पुष्प**-१-२ इञ्च व्यास के, गुलाबी या श्वेत, २-३ एक साथ अक्ष में निकलते हैं। **फल**-बेलनाकार, अनेकबीज़ी होते हैं। पुष्प-फल बराबर दृष्टिगत होते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह मडागास्कर का मूल निवासी है किन्तु आजकल सर्वत्र पाया जाता है।

रासायनिक संघटन—पौधे के पञ्चाङ्ग विशेषतः मूलत्वक् में अनेक क्षाराभ पाये गये हैं जिनमें सर्पगन्धावर्ग के Ajmalicine, Serpentine, Reserpine हैं। इनके अतिरिक्त Lochnerin, Lochnericine, Virosine; Vindoline आदि ११ क्षाराभ और हैं। इनके अतिरिक्त मूलत्वक् में एक फेनोलिक राल (२%), d-camphor (०.०३%) होता है। पत्र में एक तैलीय राल, एक उड़नशील तैल, दो अलकोहल, दो ग्लाइकोसाइड, टैनिन, कैरोटिनॉयड, स्टिरॉल, उरसोलिक एसिड होते हैं। गुलाबी रंग के पुष्पों में एक ऐन्थोसायनिन होता है।

जाति—इसकी एक अन्य प्रजाति L. pusilla (Murr.) K. Schum. है जो पश्चिम हिमालय, बिहार-उड़ीसा तथा दक्षिण भारत में होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष **रस**—कषाय, तिक्त
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण
प्रभाव—रक्तार्बुदनाशन

कर्म

दोषकर्म—यह कफवातशामक है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—इसका प्रलेप विषघ्न तथा जन्तुघ्न है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—मस्तिष्कशामक है।

पाचनसंस्थान—दीपन, ग्राही है।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभारशामक है।

मूत्रवहसंस्थान—प्रमेहघ्न है।

सात्मीकरण—रक्तार्बुदनाशन है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—कफवातिक रोगों से विशेष उपयोगी है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—बिच्छू आदि के विष में इसका लेप करते हैं। व्रणों में भी इसका स्वरस पूयजनक जीवाणुओं को नष्ट करने के लिए दिया जाता है।

आभ्यन्तर-नाडीसंस्थान—अनिद्रा तथा मानसिक उद्वेग की शान्ति के लिए दिया जाता है।

पाचनसंस्थान—प्रवाहिका में पत्तियों को पीस कर उसका कल्क पिलाते हैं।

रक्तवहसंस्थान—रक्तभाराधिक्य में उपयोगी है।

मूत्रवहसंस्थान—मधुमेह के लिए दिया जाता है।

सात्मीकरण—रक्तार्बुद (कैंसर) में इसे उपयोगी पाया गया है।

प्रयोज्य अंग—पंचाङ्ग, मूल, पत्र

मात्रा—स्वरस-१०-२० मि० लि०; कल्क-१० ग्रा०

× × × ×

सद्पुष्पा कषाया स्यात् तिक्तोष्णा कफवातहृत्।
सौमनस्यायनी रक्तभाराधिक्यनिवारणी।
चित्तोद्वेगहरी ह्या रक्तार्बुदविनाशिनी॥ (स्व.)

W. I., VI, 162-63.
F. I., III, 640.
B. B. O., III, 563.

३८२. वनत्रपुषी

परिचय

कुल—दारुहरिद्रा-कुल (बर्बेरिडी-Berberidae)।

नाम—लै०-पोडोफाइलम हेक्सैन्ड्रम (Podophyllum hexandrum Royle); सं०-वनत्रपुषी, गिरिपर्पट; हि०-बनककड़ी, पापड़ा; म०-पटवेल; गु०-वेनिवेल; क०-वन-बाँगन; देववन-रिखपित्ता; अं-इण्डियन पोडोफाइलम (Indian Podohyllum)।

स्वरूप—यह एक छोटा क्षुप होता है। **काण्ड**-१-२ फीट ऊंचा, सरल, चिकना और मांसल होता है। **पत्र**-बहुत कुछ देखने में पपीते के सदृश, गोलाकार, पाणिवत्, लगभग ६-१० इञ्च व्यास के, ३-५ भागों में खण्डित दन्तुर होते हैं। **पुष्प**-श्वेतवर्ण या गुलाबी, कटोरीनुमा, एकल होते हैं। **फल**-अण्डाकार या आयताकार, १-२ इञ्च व्यास के, लाल रंग के, ककड़ी के सदृश होते हैं। **बीज**-अनेक, प्रायः ३०-५० होते हैं। फल खाये जाते हैं। मई-जुलाई में पुष्प तथा अगस्त-अक्तूबर तक फल लगते हैं। भौमिक काण्ड बहुवर्षायु, प्रसरणशील जिसमें अनेक मूल गोल कुछ चपटे, बाहर से रक्ताभ धूसर तथा भीतर से श्वेत या पाण्डु-धूसर वर्ण के होते हैं। गन्ध तीक्ष्ण और विशिष्ट होती है। क्षुप का वायवीय भाग प्रतिवर्ष शीतकाल में नष्ट हो जाता है। इसके अनेक भेद (varieties) मिलते हैं।

उत्पत्तिस्थान—यह हिमालयप्रदेश में कश्मीर, कांगड़ा, कुलू, चम्बा, शिमला तथा सिक्किम में १०-१५ हजार फीट की ऊंचाई पर छायायुक्त स्थानों में होता है।

रासायनिक संघटन—इसके मूल में पोडोफाइलिन (Podophyllin) नामक राल ७-१५ प्रतिशत होता है। पोडोफाइलिन में पोडोफाइलोटॉक्सिन, (Podophyllotoxin) मुख्य सक्रिय घटक है जो ३२-५४% होता है। इसके अतिरिक्त इससे अनेक यौगिक और ग्लुकोसाइड निकाले गये हैं। क्वर्सिटिन (८%), किम्फेरॉल, ऐस्ट्रेगलिन, एक सुगन्धित तैल (३·७%) तथा मोम (८·६%) पाया जाता है। पत्तियों में भी ७·८-९·७% रॉल होता है।

संग्रहविधि—मई में जब पौधा पुष्पित हो तो तब ३-५ वर्ष आयु के पौधों के मूल का संग्रह करते हैं। भौमिक काण्ड की अपेक्षा मूल में राल अधिक होती है।

गुण

गुण—लघु, रूक्ष, तीक्ष्ण **रस**—तिक्त, कटु
विपाक—कटु **वीर्य**—उष्ण

कर्म

दोषकर्म—यह कफपित्तहर है। विशेषतः पित्तशोधन है।

संस्थानिक कर्म-बाह्य—यह लेखन और क्षोभक है।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यह दीपन, यकृदुत्तेजक, पित्तसारक, विरेचन और कृमिघ्न है। यकृत् पर इसकी क्रिया कैलोमल के समान होती है। इससे यकृत् के पित्त का स्राव उतना नहीं बढ़ता किन्तु अन्त्र की परिसरण गति बढ़ने से उत्सृष्ट पित्त का शोषण नहीं हो पाता और वह अधिक मात्रा में पुरीष के साथ बाहर निकलता है। इस प्रकार परोक्ष पित्तसारक (Indirect cholagogue) है।

रक्तवहसंस्थान—यह रक्तशोधक होता है।

सात्मीकरण—रक्तार्बुदनाशक है।

प्रयोग

दोषप्रयोग—यह कफपैत्तिक रोगों में प्रयुक्त होता है।

संस्थानिक प्रयोग-बाह्य—चर्मरोगों में विशेषतः चर्मकील में इसके मूल का लेप करते हैं।

आभ्यन्तर-पाचनसंस्थान—यकृद्विकार, जीर्ण विबन्ध तथा गण्डूपद क्रिमि में इसका प्रयोग करते हैं। सामान्य जीर्ण विबन्ध में इसका सत्त्व १०–१५ मि० ग्रा० तथा क्रूर कोष्ठ के लिए या प्रतिहारिणी सिरा के अवरोध को दूर करने के लिए १५–३० मि० ग्रा० की मात्रा में देते हैं। साधारणतः यकृदुत्तेजक कर्म के लिए इसका प्रयोग २–३ मि० ग्रा० की मात्रा में करते हैं। इस मात्रा से रेचन भी नहीं होता।

रक्तवहसंस्थान—वातरक्त, आमवात, कुष्ठ आदि में यह प्रयुक्त होता है।

सात्मीकरण—रक्तार्बुद (कैंसर) में उपयोगी पाया गया है।

प्रयोज्य अंग—मूल, मूलसत्त्व (पोडोफाइलिन)।

मात्रा—मूलचूर्ण २५०–५०० मि० ग्रा०; सत्त्व–१५–६० मि० ग्रा०।

प्रयोग विधि—इससे पेट में मरोड़ होता है अतः इसके साथ वातहर सुगन्धि-द्रव्य मिला कर प्रयोग करना चाहिए।

अहित प्रभाव—अधिक प्रयोग से महास्रोत में क्षोभ और शोथ उत्पन्न होता है जिससे तीव्र वमन और अतिसार होता है तथा अन्त में मृत्यु हो जाती है।

निवारण—इसके निवारण के लिए स्निग्ध-मधुर-शीत द्रव्य (दूध, नींबू का शर्बत आदि) देना चाहिए।

× × × ×

वनत्रपुषिका तिक्ता तीक्ष्णोष्णा कटुका सरा।
पित्तसंशोधनी तीव्ररेचनी कृमिनाशिनी॥
रक्तार्बुदस्य कीलस्य नाशिनी रक्तशोधनी। (स्व.)

W. I., III, 170–74.
प्रियव्रत शर्मा : पोडोफाइलम, सचित्र आयुर्वेद, दिसम्बर, १९७५.

संस्कृत-हिन्दी
द्रव्यनामानुक्रमणी

अ

ब

भ

म

INDEX

LATIN AND ENGLISH NAMES OF DRUGS

B

C

द्रव्यगुण विज्ञान (सचित्र)

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

द्रव्यगुण विज्ञान का प्रथम भाग १९५५ में प्रकाशित हुआ था, पञ्चम भाग १९८१ में जुड़ा। बीच-बीच में इनका संशोधन-परिवर्धन भी किया जाता रहा। यह प्रसन्नता का विषय है कि आयुर्वेद-जगत् ने इसे अपनाया और विगत चार दशकों से देश-विदेश में द्रव्यगुण के पाठ्यग्रन्थ के रूप में यह प्रचलित है। इस ग्रन्थ का मौलिक अवदान यही है कि इसने आयुर्वेदीय द्रव्यगुण को एक नवीन वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया।

प्रत्येक भाग में वर्णित विषय वस्तु इस प्रकार है —

प्रथम भाग – इसमें द्रव्यों के विस्तृत वर्गीकरण के अतिरिक्त, द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्तों (रस, गुण, वीर्य, विपाक आदि) का सयुक्तिक विवेचन किया गया है। कल्प-खण्ड में भेषजकल्पों का भी वर्णन है।

द्वितीय भाग – इस भाग में संस्थानिक कर्मानुसार वर्गीकृत कर वानस्पतिक द्रव्यों का परिचय, गुण, कर्म, प्रयोग, मात्रा आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रत्येक वनौषधि के संस्कृत नाम तथा लैटिन नाम के अतिरिक्त क्षेत्रीय नाम भी दिये गये हैं।

तृतीय भाग – इसमें जान्तव और खनिज द्रव्यों के अतिरिक्त आहार में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

चतुर्थ भाग – इसमें दो खण्ड हैं – प्रथम खण्ड में वैदिक वनौषधियों का विवेचन है तथा द्वितीय खण्ड में आयुर्वेदीय द्रव्यगुण का इतिहास पहली बार नवीन एवं मौलिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

पञ्चम भाग – प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित अनेक द्रव्यों आज अज्ञात या संदिग्ध हो गये हैं। ऐसे द्रव्यों का इस भाग में विमर्श प्रस्तुत कर अनेक द्रव्यों के परिचय पर मौलिक प्रकाश डाला गया है।

Basic Concepts of Dravyaguṇa Vijñāna

Dr. A.N. Singh
Prof. S.D. Dubey

The oldest system of medicine *Āyurveda,* is a combination of science and philosophy that aspires for the perfect health and development (physical, mental, social and spiritual) of the individual and the society. The utility of this science consists in the maintenance of health in the healthy and quieting of diseases in the ailings. It is a science of longevity and perfect health which is based on sound fundamental principles which are the highest generalisation and have been formulated by various inductive methods and proved by deductive applications.

In the present book Authors have tried their best to present the basics of *Dravyaguṇa* in very elaborative and simple way so that all the parameters of *dravya* (related to drug actions) namely *Rasa, Guna, Vīrya, Vipāka, Karm* and *Prabhāva* etc. be easily understood along with brief description of pharmacy (*Kalpkhaṇḍa*) as it is believed to be a part of *Dravyaguṇa.* During description special attention has been given regarding references taken from the original texts in form of footnotes whereever necessary which will be very much beneficial in understanding the facts.

Further more, regarding identification of plants through their taxonomic approach an effort has been made to ascertain their identity (family wise). In addition to these a glossary related with specific identifying characteristics with top graphic representation in separate section will be proved helpful.

In view of above efforts this book will give a new guideline in understanding the basics of *Dravyaguṇa* and so *Āyurveda* as a whole to the students to serve the sufferings Via *Āyurveda,* the science of life and certainly the oldest system of medicine.